।।ओ३म्।।

200वीं महर्षि दयानन्द सरस्वती जयन्ती 1824-2024

वैदिक - रचनामञ्जरी - १

शास्त्र-तत्त्वार्थ-मीमांसा

(प्रथमभाग)

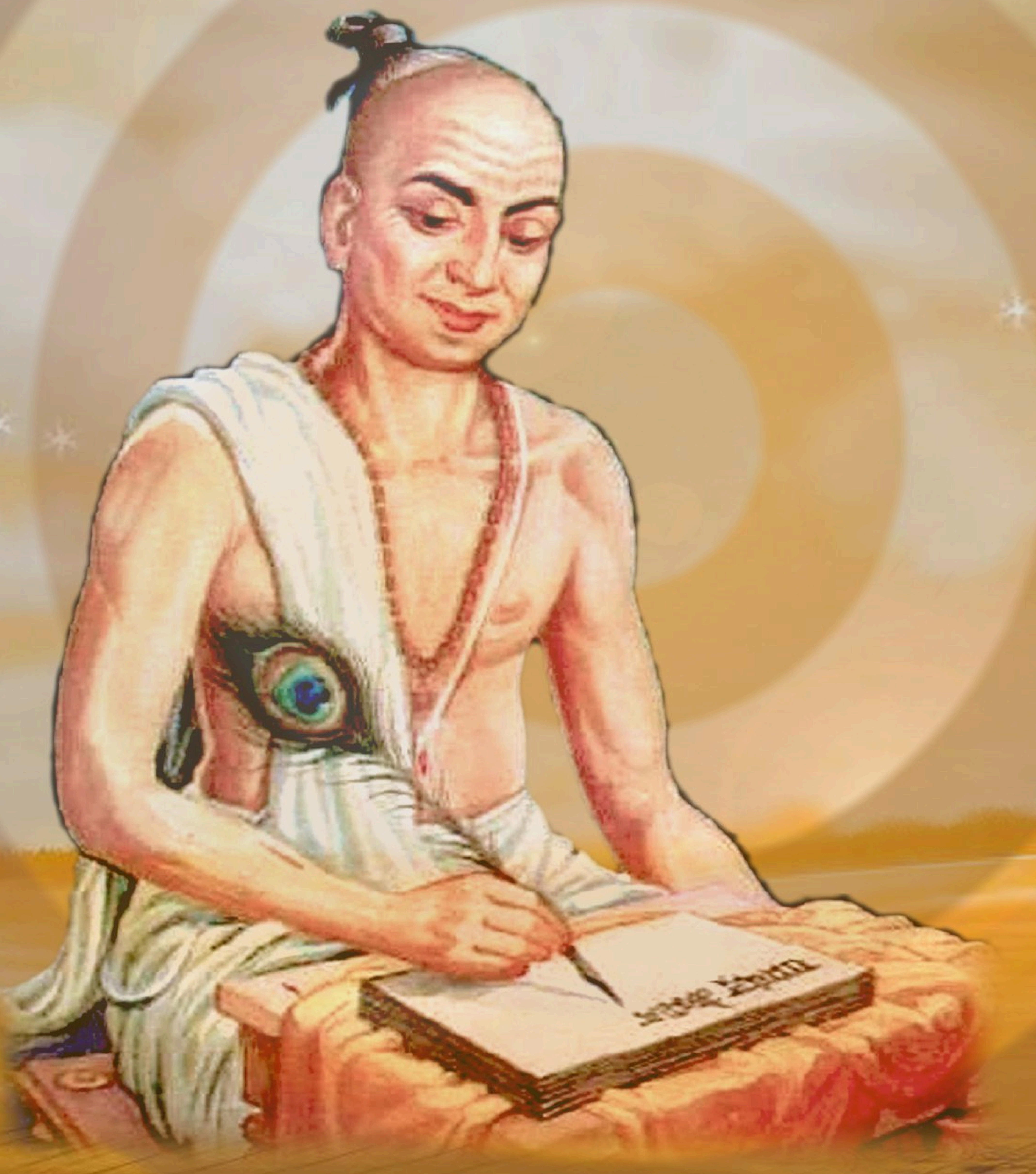

लेखक एवं सम्पादक

आचार्य उदयन मीमांसक

Shiva Shankar

शास्त्र-तत्त्वार्थ-मीमांसा
आचार्य उदयन मीमांसक

ओ३म्

वैदिक - रचनामञ्जरी –

शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा

(प्रथम भाग)

लेखक एवं सम्पादक

आचार्य उदयन मीमांसक

संस्थापक, अध्यक्ष, प्राचार्य

निगमनीडम्-वेदगुरुकुलम्

प्रकाशक

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७-२८, शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७
दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८
Email : order@parimalpublication.com

© लेखकाधीन
ISBN :
प्रथमसंस्करण : सन् २०२३
[महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वितीय जन्मशताब्दी संस्करण]
प्रतियाँ :– १०००

मूल्य —

अन्य प्राप्तिस्थान :
निगमनीडम्-वेदगुरुकुलम्
पिडिचेड़, गज्वेल, जिला – सिद्धिपेट
५०२२७८ – (तेलंगाणा), ६२८१२५०३७९
Email : nigamaneedam@gmail.com

अक्षर-संयोजक – आचार्य वेदमित्र, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य धर्मेन्द्र, ब्र ० आदित्य

मुद्रक : -

समर्पण

श्रद्धया हूयते हविः (ऋ० १०.१५१.१)

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः (मनु० २.२०१)

सृष्ट्यादि में मानवसमाज के कल्याण के लिए परब्रह्म वेदों का ज्ञान देता है, ठीक इसीप्रकार शिष्यों के कल्याण के लिए आचार्य प्राचीनकाल से परम्परया आगत वेदादि समस्त शास्त्रों का ज्ञान शिष्य को प्रदान करता है। इस सादृश्य से आचार्य ब्रह्म (परमेश्वर) का प्रतिरूपक ही होता है। ऐसे ब्रह्मस्वरूपक वेदादिशास्त्रज्ञाननिधि श्रद्धेय पूज्य गुरुवर **आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी** को श्रद्धा के साथ सुगन्धित-पुष्परूपी यह ग्रन्थ समर्पित किया जाता है।

आपका अनुचर
आचार्य उदयन मीमांसक

सत्यासत्य का ज्ञान

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ।।
(ऋ० ७.१०४.१२)

जिज्ञासु मनुष्य के लिए सत्य और असत्य दोनों अच्छी प्रकार जानने योग्य हैं, क्योंकि सत्य और असत्य दोनों परस्पर स्पर्द्धा करते हैं, विरोधी होते हैं। उन दोनों में जो सत्य है और अधिक ऋजु है, धर्मानुकूल है, वेदानुकूल है, उसकी ही उत्तम विद्वान् रक्षा करता है और असत्य को, वेदविरुद्ध को, अधर्म को नष्ट करता है।

ओ३म्

।। इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ।।

गुरुकुल-प्रभात-आश्रमः

भोला-झाल, टीकरी, मयराष्ट्रम्- २५०५०१ (उ.प्र.) दूरभाष:-08006702551

ईमेल - Gurukulprabhatashram@gmail.com वेब - http://prabhatashram.in

अधिक श्रावण, कृष्ण, द्वादशी, वि.सं.- २०८०

''शुभाशंसा''

मीमांसाशास्त्रतत्त्वानां मीमांसितमिहेक्ष्यते ।
पठन्तु विबुधास्सर्वे शङ्कापङ्कनिवृत्तये ।।१।।

विविधज्ञानसंयुक्ता विविधार्थसमीक्षिका ।
विविधान् वेदयत्यर्थान् मीमांसा तत्त्वदर्शिका ।।२।।

ग्रन्थेऽस्मिन् सर्वशास्त्राणां तदर्थानाञ्च निर्णयः ।
कथङ्कारं भवेन्नूनं तन्मीमांसेह विद्यते ।।३।।

यथा ह्युदयनाचार्यस्याख्यातः कुसुमाञ्जलिः।
प्रख्यातिमाप्नुयात्तद्वन्नन्वेष कुसुमाञ्जलिः।।४।।

नास्तिकानां हि संघानां यथा मानविमर्दने ।
तद्वच्छक्तो भवेदेष सत्सिद्धान्तस्य रक्षणे ।।५।।

शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा सम्यगालोडिता मया ।
आग्रहशून्यमीमांसा ग्रन्थेऽस्मिन् ग्रन्थिता परा ।।६।।

कृतानां भिन्नकालानां लेखानां संग्रहो ह्ययम् ।
मणिकाञ्चनसंयोगां शोभां संवर्धयिष्यते ।।७।।

येषां शास्त्रार्थतत्त्वानां प्रस्तुताऽत्र विवेचना ।
प्रमाणपूर्वकं तेषामुल्लेखोऽत्र प्रदर्श्यते ।।८।।

गुणानुरूपं हि नाम नामरूपं गुणस्तथा ।
शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसां दर्शयति पदे-पदे ।।९।।

विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती
कुलाधिपतिः
गुरुकुलप्रभाताश्रमः

रजि. नं. 1788/वर्ष 2015

दूरभाष: 9416315055
8954890130

।।ओ३म्।।

।। भर्गो देवस्य धीमहि ।।

आर्ष संवर्धन न्यास (नारनौल)

कार्यालय - आर्ष गुरूकुल, खानपुर
पत्रालय - मंढाणा, तहसील नारनौल, जिला महेन्द्रगढ़ (हरि.) पिन 123001

दिनांकः ०५.०९.२०२३

पुण्यप्रयासः

आचार्य उदयन मीमांसक इत्याख्यां धारयतां महापुरुषाणामनेकश–श्चित्राणि सहसैव मम पुरतः समायान्ति। आ विद्यार्थिकालादिमान् विद्वद्–वरेण्यान् अवलोकयन्नस्म्यहम् । एतेषां हि विद्यारसिकानां ज्ञानपिपासूनां परोपकारनिरतानां शान्तात्मनां धर्मात्मनामहर्निशं परोपकारपराणां वेदादि–शास्त्रविचारणे महत्तपस्तपस्यतां छात्रवत्सलानां –

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ।।

इति महर्षीणां श्रीमद्दयानन्दस्वामिनां महान्तं सन्देशमक्षरशश्चरितार्थयतां, "**सुदेवोऽसि वरुण॰**" इति वेदोक्तिं धारयतां, दाशतय्याः संहिताया दशममण्डलस्थस्य ज्ञानसूक्तस्य स्वरूपं स्वजीवनेन प्रदर्शयतां, सरस्वत्या गोदेव्या दोहनं श्रद्धापूरपूरितेन मनसा सततं कुर्वतां श्रद्धामेधावरुणेत्यादिकानां नैकेषां सूक्तानामर्थतत्त्वं पवित्रतपोमयजीवनेन प्रकटयतां यानि महान्ति चित्राणि मया विशेषतोऽवलोकितानि, तेषु कानिचित्सन्त्यन्यतमानि यान्यत्र प्रस्तूयन्ते –

वैदिकवाङ्मयमनारतमालोडन-विलोडनं कुर्वतां चित्राणि, शिक्षाशास्त्रं निरुक्तशास्त्रञ्चाधिकृत्य किञ्चिदद्भुतमिवाऽन्विष्य प्रकाशयतां चित्राणि, यदेभिर्ज्ञायते तद् विदुषां पुरतो दृढतया प्रस्तुवतां चित्राणि, सदैव सत्यस्य ग्रहणेऽसत्यस्य च त्यागे प्रवर्तमानानां चित्राणि , सततं वेदसमुद्रेऽवगाहनं कृत्वाऽऽत्मनो शुद्धिं सम्पादयतां चित्राणि, महर्षिणा दयानन्देन प्रदत्तया धिया वेदार्थचिन्तने निमज्जतां चित्राणि, वेदविद्याया यथार्थस्वरूपं बोधनेन तत्प्रतिष्ठापनेन चैव सर्वस्यापि जगतो मङ्गलं शिवं भद्रं कल्याणं वा भविष्यतीति निश्चितमतिं धारयतां चित्राणि, अस्तु।

केनचिदपि जनेन कस्याञ्चिदपि दिशि कृतः कश्चिद् विशिष्टः प्रयत्नो न जातुचिद् वैफल्यं गच्छतीति सिद्धान्तमिमं दृढमास्थायाहं निश्चिनोमि यदेतैरपि विहितः पुण्यप्रयासो नूनं लोकमङ्गलमात्ममङ्गलं च सम्पादयिष्यतीति सर्वसमर्थोऽन्तर्यामी भगवानेतेषां सदिच्छां पूरयेदिति कामयमानो विरमामि ।

विदुषां विधेयः

प्रद्युम्नः

आचार्यप्रद्युम्नः

डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री
(संस्कृत के प्रख्यात कवि व्यंग्यकार एवं कथा लेखक)
साहित्य- अकादमी पुरस्कार तथा राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त
पूर्व अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, फिरोज गांधी कॉलेज, रायबरेली

मो०: ०९४५१०७४१२३, ९१६१३४१५१३
बी-२९, आनन्द नगर (जेल रोड)
रायबरेली- २२९००१-(उ० प्र०)

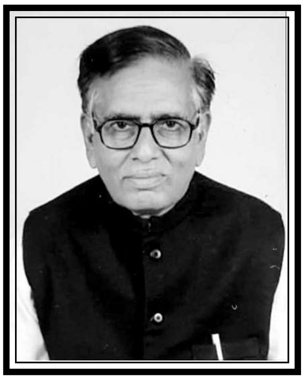

गहन चिन्तन

आचार्य उदयन जी मीमांसक द्वारा लिखित “ **शास्त्रतत्त्वार्थ-मीमांसा**” पुस्तक का साङ्गोपाङ्ग अवलोकन किया। आठ अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक के **सभी वर्ण्य विषय गहन चिन्तन से युक्त तथा बड़े ही परिश्रम पूर्वक अनुसन्धान करके लिखे गये हैं।** प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से ऐसे लेख प्रकाशित होते रहते हैं , जो किसी भी सामान्य पुस्तक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। किन्तु पुस्तक रूप में संगृहीत न होने से वे प्रायः चिरञ्जीवी नहीं हो पाते तथा अनेक सामान्य पाठकों को भी वे सुलभ नहीं हो पाते। इस दृष्टि से इस पुस्तक में प्रकाशित लेखों का एक अपना महत्त्व है। वेदविषयक प्रसिद्ध ‘वेदवाणी’ पत्रिका एवं अन्यान्य पत्रिकाओं में भी प्रकाशित लेखों का इस पुस्तक में अद्‌भूत संकलन है। श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की “वैदिक सिद्धान्त मीमांसा” नामक पुस्तक भी इसी प्रकार उनके महत्त्वपूर्ण वैदिक लेखों का संकलन प्रकाशित है। अतः **मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन में श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की अनुसन्धान-प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है।** पुस्तक के तृतीय अध्याय “ वेदाङ्गशिक्षातत्त्वार्थमीमांसा” मुझे अत्यन्त परिश्रम एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। शिक्षा विषय में कम ही अनुसन्धान हो पाया है तथा लेखन भी अत्यल्प है। इस दृष्टि से लेखक का प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय एवं स्तवनीय है। “ वेदवाणी ” पत्रिका में सम्भवतः १९६२-१९६३ में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था – “ संन्यासाश्रम का वेदों में विधान नहीं ”। इसके लेखक थे श्री पं० श्रुतिशील जी शर्मा तर्क शिरोमणि। श्री शर्मा जी तत्कालीन प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी के अनन्य सहयोगी तथा उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित “वैदिक धर्म” पत्रिका के सहायक सम्पादक भी थे। यह लेख उन दिनों बहुत चर्चित एवं विवादास्पद हुआ था। आचार्य उदयन जी मीमांसक ने इस पुस्तक के प्रथम अध्याय के बारहवें और तेरहवें लेख में इस विषय पर अत्यन्त प्रामाणिक विवेचन एवं समाधान प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय के प्रथम लेख “यास्कीय निर्वचन सिद्धान्त”भी मुझे रोचक एवं अनुसन्धानपूर्ण लगा। वैदिक विद्वान् प्रायः ज्योतिष विषयक चर्चाओं से दूर रहते हैं, परन्तु पुस्तक में लेखक ने “ वेदाङ्ग ज्योतिष” विषयक पृथक् अध्याय में अनेक शंकाओं का निराकरण करने का प्रयास किया है, अस्तु।

आचार्य उदयन जी मीमांसक के इस महत्वपूर्ण प्रकाशन से जहाँ वेदविद्या के अध्येताओं का लाभ होगा वहीं शास्त्रचर्चा के अनुसन्धित्सु पाठकों को भी प्रेरणा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

नानाशास्त्रपरायणो बहुविधः शास्त्रार्थसंवर्धकः,
पाणिन्यादिमुनीन् स्वचिन्तनधिया संस्मृत्य यास्कं तथा।
शिक्षाशास्त्रमिदं निरीक्ष्य निपुणं वेदाङ्गमेवं मुहुः,
श्रीमान् एष सुधीर्जयेद् उदयनस्तत्त्वार्थमीमांसकः ॥

डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री

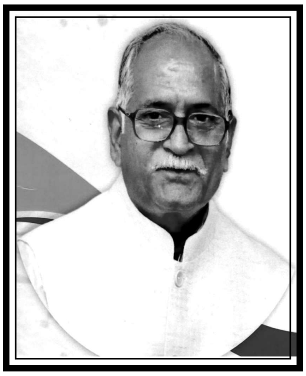

शुभाशंसनम्

आचार्य उदयन मीमांसक जी द्वारा विरचित 'शास्त्र-तत्त्वार्थ-मीमांसा' मेरे समक्ष उपस्थित है। आपका यह ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित अनेकविध लेखों का सङ्ग्रह है। इसमें आपने १-वैदिक छन्द, देवता, वैदिक वाङ्मय, वैदिक अर्थव्यवस्था , २-वेदाङ्ग निरुक्त, शिक्षा शास्त्र, ३- वेदाङ्ग कल्प, ज्योतिष आदि विषयों पर अनेक गम्भीर लेखों का सङ्कलन किया है ।

आचार्य जी अनेक विषयों के निष्णात विद्वान् हैं। इन लेखों से आपके वैदुष्य का परिचय मिलता है। आपके ये लेख किसी का अनुकरण नहीं हैं। अपितु इनमें सर्वत्र आपकी मौलिकता दृष्टिगोचर होती है । जैसे आपने व्याकरण, निरुक्त के अन्तर्गत शब्द सिद्धि के लिये जितने उपाय अपनाए गए हैं, उन सबका एक विशिष्ट वर्गीकरण के साथ सङ्कलन कर दिया है । आपने निरुक्त के उन ध्वनिनियमों का भी सङ्कलन किया है,जिनसे आधुनिक भाषाविज्ञान ने प्रेरणा पायी है। साथ ही उन अतिपरोक्षवृत्ति नियमों का भी, जिनकी सिद्धि के लिये अन्य उपायों से व्याख्या होनी है ।

आचार्यश्री मीमांसा के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। आपने मीमांसा के अनुसार देवतास्वरूप का कुशलता के साथ वर्णन किया है। आपने मीमांसा के दृष्टिकोण को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। अतः आपने यहाँ ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्य द्वारा प्रस्तुत खण्डन का उल्लेख नहीं किया है । आपका शिक्षाशास्त्र पर विशद अध्ययन है। इस पर आपके अनेक ग्रन्थ अलग से प्रकाशित हो चुके हैं।अतः ये लेख आपके अध्ययन की एक झलक प्रस्तुत करते हैं । **महाभाष्य के एक ज्योतिष विषयक प्रसङ्ग की व्याख्या पढ़ कर मजा आ गया। आपने 'षण्मुहूर्ताश्चराचराः' के अन्तर्गत बताया है कि ६ मुहूर्त कभी दिन में, कभी रात में किस प्रकार चर-अचर होते हैं । आपने गणना करके बताया है कि उत्तरायण और दक्षिणायन में ठीक ६ मुहूर्तों के कालखण्ड चर-अचर बनते हैं ।**

वास्तव में सही अध्ययन के लिये शास्त्रों का मर्म समझना आवश्यक होता है। यह कार्य अनेक शास्त्रों के विद्वान् ही कर सकते हैं। आचार्य जी इसी प्रकार के अधीती विद्वान् हैं। इसीलिये आपका यह लेख-सङ्ग्रह इतने उत्कृष्ट रूप में आ सका है। अतः इसके लिये मेरी अशेष मङ्गल कामनाएं । निश्चय ही यह ग्रन्थ विद्वानों में चर्चित एवं सत्कृत होगा ।

राष्ट्रपति सम्मानित

डॉ. सुद्युम्न आचार्य

डॉ० सुद्युम्न आचार्य
निदेशक – प्राच्य विद्या शोध संस्थान,
सतना (म० प्र०)

(१२.०८.२०२३)

॥ओ३म्॥

डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री
पूर्व अध्यक्ष- संस्कृत विभाग
रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, अमेठी -२२७४०५
पूर्व समन्वयक - संस्कृत विभाग
डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय

आवास- म० नं० १६२,चाणक्यपुरी
अमेठी - २२७४०५
चलभाष- ९४१५१८५५२१
व्हाट्सएप- ७३०३४७४३०१
ई-मेल- **abhimanyu.du@gmail.com**
दिनाङ्क- २३.०९.२०२३

प्ररोचना

साङ्गोपाङ्ग वेद वाङ्मय के प्रख्यात विद्वान् ''**आचार्य उदयन मीमांसक**'' जी की यह कृति '**शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा**' की पाण्डुलिपि का अध्ययन करने पर मैंने यह अनुभव किया कि **यह रचना वैदिकवाङ्मय के पारदृश्वा सुप्रथितकीर्ति पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी की कृति 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' की कोटि की है।** मेरा अन्तर्मन यह भी कहता है कि जिस प्रकार पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी अपने गुरु श्री पदवाक्यप्रमाणज्ञ पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के सर्वश्रेष्ठ शिष्य थे, उसी प्रकार **आचार्य उदयन जी भी अपने गुरु आचार्य विजयपाल विद्यावारिधि जी के सर्वश्रेष्ठ शिष्य हैं।** गुरु-शिष्य की यह परम्परा अनवच्छिन्न बनी रहे तथा भविष्य में भी पाणिनि-महाविद्यालय (गुरु विरजानन्द आश्रम) लाहौर, वाराणसी, बहालगढ़, रेवली (सोनीपत) तथा 'निगमनीडम्' (तेलंगाणा) से भी आगे बढ़कर देश के विभिन्न प्रान्तों में आर्षपाठविधि के केन्द्र स्थापित हो तथा इन विद्या-संस्थानों के सुप्रतिष्ठित स्नातक वेदविद्या के प्रचार-प्रसार में ''**तानि कल्पद् ब्रह्मचारी....तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नाता बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते।**''[अथर्ववेद, का० ११। प्र० २४। वर्ग १६। मन्त्र २६] इस आथर्वण श्रुति को चरितार्थ करें।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में १६ निबन्ध हैं। जिसमें प्रथम दोनों (१ तथा २) शोधनिबन्ध ऋषि तथा छन्द विषयक हैं। इन दोनों निबन्धों में **विवेचित विषय लेखक के परिश्रम के साथ ही उनकी ऊहा और उपज्ञा का द्योतक है।** यद्यपि वेदार्थ में ऋषि तथा छन्द की उपयोगिता को पूर्वसूरियों ने भी स्वीकार करते हुए विशद मीमांसा की है, परन्तु यहाँ लेखक ने अपनी एक नई दृष्टि दी है। जो विचारोत्तेजक के साथ-साथ शास्त्रार्थ को भी निमन्त्रित करता है। छन्द के विषय में उदयन जी के विवेचन से मेरी पूरी सहमति है तथापि ऋषि विषयक उनकी स्थापना मेरी दृष्टि में ऋषि दयानन्द की मान्यताओं को भी संगत करने की अपेक्षा रखती है। मीमांसा की दृष्टि में देवतास्वरूप तथा वेदार्थ के नियम में भारतीय भाषा-विज्ञान की दृष्टि विषयक निबन्ध के निकष सर्वथा प्रामाणिक हैं। ऋग्वेद का संवादसूक्त विषयक लेख 'विश्वामित्र नदी संवाद' के रहस्य को खोलता है। उपवेद की विस्तृत विवेचना के साथ वैदिक

वाङ्मय की विशालता का परिचायक संक्षिप्त-सरणि के रूप में प्रस्तुतीकरण पर्याप्त रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक है । **वेदकालीन पर्वपद्धति प्राचीन पर्व परम्परा का ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय निदर्शन प्रस्तुत करता है ।** द्वितीय अध्याय में **निघण्टु तथा निरुक्त विषयक उदयन जी का शोधपरक लेख वैदिक विद्या के हार्द को प्रकट करता है ।** प्रत्येक सरूप शब्द का अर्थ पृथक् - पृथक् है, विशेषतः वैदिक शब्दों का निरुक्त - निर्वचन से सरूप जैसे दीखनेवाले एक शब्द वस्तुतः एक नहीं हैं इस सिद्धान्त का निरूपण प्रामाणिकता के साथ किया है। **वैदिक 'शिक्षा' वेदाङ्ग के तो आचार्य उदयन जी प्रामाणिक विद्वान् हैं।** इसके सम्बन्ध में उनका लिखा पृथक् ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है । उदात्तादि स्वरों के सम्बन्ध में मधुसूदन ओझा तथा डॉ० विजयपाल प्रचेता की स्थापनाओं का खण्डन जहाँ प्रामाणिक है वहीं पूर्व शास्त्रीय परम्परा का पोषक भी है । ज्योतिष विषय से सम्बन्ध सभी लेख पूरी तरह वैज्ञानिक, ज्ञानवर्द्धक तथा रोचक हैं, साथ ही हमारी भारतीय ज्ञान परम्परा और स्वर्णिम इतिहास के स्वाभिमान को जगाने वाले समुज्ज्वल पृष्ठ हैं । **वस्तुतः इस ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय में विवेचित सभी विषय लेखक की अगाध विद्या, भारी परिश्रम और उनकी वैज्ञानिक शोधपरक दृष्टि के सुपरिचायक हैं।** बहुत काल के बाद वैदिक विषयों पर सर्वथा नवीन किन्तु प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं के आलोक में लिखे गये एक ग्रन्थरत्न को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है । विद्याविनयसम्पन्न कृतभूरिपरिश्रम रचनाकार को बहूनि वर्धापनानि ।

विदुषां विधेयः

(ज्वलन्त कुमार शास्त्री)

डॉ० ज्वलन्त कुमार शास्त्री
पूर्व संयोजक - संस्कृत विभाग
डॉ० राममनोहर लोहिया विश्वविद्यालय
फैजाबाद, अयोध्या
पूर्व संयोजक - संस्कृत विभाग
रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अमेठी (उ० प्र०)

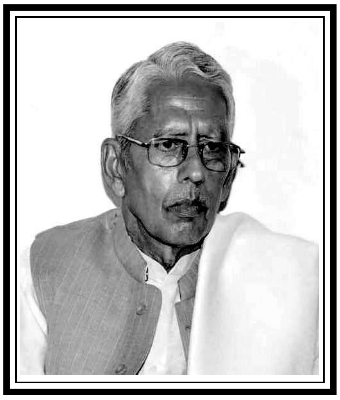

स्तुत्य प्रयास

''**आचार्य उदयन मीमांसक**'' जी के शोधपूर्ण प्रकाशित लेख '**शास्त्र - तत्त्वार्थ - मीमांसा**' नाम से ग्रन्थरूप में अवलोकन का अवसर मिला। कतिपय लेख पूर्व में ही 'वेदवाणी'आदि में दृष्टिगत हो चुके हैं।

वेद का सामान्य पाठक भी ऋषि-देवता आदि पदों को नाम्ना जानता है। विद्वान् लेखक ने ऋषि पद के –ब्रह्म/वेद/ मन्त्र प्रेरक/ देवता/ सर्वद्रष्टा परमात्मा/ अतीन्द्रिय विषय का द्रष्टा आदि अर्थ प्रतिपादित कर इन्हें - मुख्य,गौण, गौणतर, गौणतम रूप में स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है ।

देवता के सन्दर्भ में यास्कीय सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए मीमांसक मत सविस्तार वर्णित है । शब्द, अर्थ और सम्बन्ध तीनों को अपौरुषेय मानने के सिद्धान्त का महर्षि दयानन्द सरस्वती के देवता विषयक मत से तुलना किया जाना अपेक्षित प्रतीत होता है। **'शब्दों का भेदाभेद' तथा 'पशुयागमीमांसा' आदि प्रमाणबहुल लेख पाठकों के ज्ञान में वृद्धि करने वाले हैं ।**

लेख संकलन के कारण विषय का वैविध्य स्वाभाविक ही है । विद्वान् लेखक ने लेख की सीमाओं में रहते हुए विषय स्पष्टीकरण का स्तुत्य प्रयास किया है। निश्चय ही आर्यजगत् की बधाई के पात्र हैं।

दिनांक :- २५.०९.२०२३

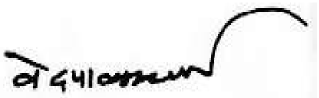

डॉ॰ वेदपाल
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
जे॰ बी॰ पी॰ जी॰ कॉलेज, बडौत (उ॰ प्र॰)
पूर्व अध्यक्ष– परोपकारिणी सभा
अजमेर

अनमोल रत्न

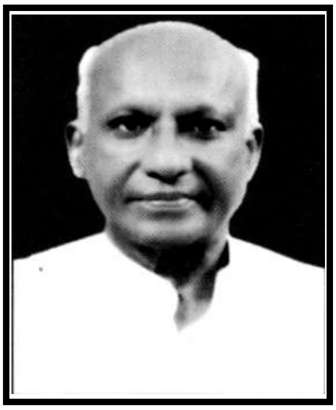

आचार्य उदयन मीमांसक कृत बहुप्रतीक्षित ग्रन्थ 'शास्त्र–तत्त्वार्थमीमांसा' उनके अध्ययन, चिन्तन और सारग्राह्यता का परिणाम है। इसमें उनकी विषयग्राह्यता पदे-पदे परिलक्षित है। ग्रन्थ के विवेच्य विषय गूढ, सारगर्भित एवं प्रतिपादनीय हैं।

आठ शीर्षकों व चवाँलीस विषयों में ग्रथित यह ग्रन्थ विविध शास्त्रीय व समीक्षणीय विषयों की समीक्षा प्रस्तुत करता है। निश्चय ही यह ग्रन्थ स्वाध्यायशील पाठकवर्ग के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ध्यातव्य है कि शब्दार्थ चिन्तक आचार्य उदयन मीमांसक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में शास्त्रीय विषयों का सूक्ष्म चिन्तन और उनका यथोचित प्रस्तुतीकरण भी किया है। चार सौ चौंसठ पृष्ठों में प्रस्तुत यह ग्रन्थ अपने आप में एक अनमोल रत्न है।

मैं इस कृतिकार की सारगर्भिता की प्रशंसा करता हूँ और हृदय पूर्वक उनके भावी लेखन की आशा करता हूँ। परमात्मा इन्हें दिनोदिन ऐसी ही रचनाओं की रचना करने की प्रेरणा देता रहे और ये एक यशस्वी लेखक के रूप में उभरें, ऐसी मेरी कामना है। इत्यलम् –

विदुषां वशंवदः
डॉ० विजयवीर विद्यालङ्कार
पूर्व प्राचार्य : पण्डित नरेन्द्र प्राच्य महाविद्यालय
पूर्व अधिष्ठाता : प्राच्य-भाषा-निकाय
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

पुरोनुवाक्य

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः (मनु० ४.१४७)– निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, धनादि का लोभ आदि को छोड़कर उत्साह, उमंग, जिज्ञासा आदि के साथ नित्य, निरन्तर, नियमितरूप से वेद का ही अध्ययन, मनन, चिन्तन करते रहना चाहिए, ऐसा मनु महाराज का आदेश है। यहाँ वेदाध्ययन का तात्पर्य अर्थ के साथ वेद का अध्ययन करना है, न कि केवल कण्ठस्थीकरण। कण्ठस्थीकरण से वेद की परम्परा सुरक्षित अवश्य होती है, अभी तक होती भी रही है। पर विना अर्थ के वेद की गरिमामयी महिमा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। अर्थ के विना केवल वेद के कण्ठस्थीकरण की निन्दा वेद और यास्क आदि आचार्यों ने की है।[1] वेदमन्त्र सार्थक एवं सोद्देश्यक हैं, ऐसा यास्कादि सभी आचार्यों का प्रबल पक्ष है। वेदमन्त्रों में निहित, निगूढ़ अर्थविज्ञान को जानने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर छह वेदाङ्ग, उपाङ्ग (दर्शनशास्त्रों) तक अध्ययन करना होता है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा भी है– **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति** (म०भा० पस्प०)।[2] यहाँ षडङ्गों का कथन उपाङ्गादियों का उपलक्षण है। साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन के साथ वेदों का अध्ययन किया जाय तो वेदमन्त्रों का अर्थ, भाव, तात्पर्य आदि का ज्ञान होता है– **भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति** (निरु० १.१६)। इसीलिए साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन की परम्परा प्राचीनकाल से चलती आ रही है। मध्यकाल में वैदिक परम्परा के उच्छिन्न होने से अध्ययन-अध्यापन की शास्त्रीय परम्परा में शैथिल्य आगया है। जिसके कारण आज शास्त्रीय अध्ययन में अनेकानेक विविध सन्देह उत्पन्न होते हैं, विसंगतियों का आभास होता है। समाधान के न मिलने पर शास्त्रों एवं आचार्यों की कटु आलोचना भी की जाती है। अतः ऐसे कठिन स्थानों व प्रसंगों का गम्भीरतया गहन अध्ययन करने की परम आवश्यकता है तथा धैर्य के साथ ऋषि-मुनियों के दृष्टिकोण को और वेदमन्त्रों के तात्पर्यार्थ को समझने की अत्यावश्यकता है।

इस ग्रन्थ में ग्रथित सभी लेख प्रायः शास्त्रीय विषयों के सन्दिग्ध स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए और विविध सन्देहों के समाधान के लिए लिखे गये हैं। ईश्वर के असीम अनुग्रह एवं गुरुजनों के अवर्णनीय आशीर्वाद से लेखक का लेखनकार्य सन् १९९५ से ही आरम्भ हो गया था। शास्त्रीय अध्ययन के काल से ही विचारणीय विषय जो-जो मेरे समक्ष उपस्थित होते गये और जिन पर मैं विचार करने या लिखने में समर्थ होता गया, उन-उन विषयों पर गहन अध्ययन एवं मनन कर प्रबल शास्त्रीयप्रमाणों एवं युक्तियों से विषयों का सम्यक्तया प्रतिपादन लेखों तथा ग्रन्थों के माध्यम से करता आ रहा हूँ।[3] यद्यपि मेरा यह प्रयत्न अत्यन्त अल्प है। इस ओर और अधिक विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता है। जिसकी ओर मैं पूरा सक्रिय हूँ, अस्तु। मेरे द्वारा लिखित शोधलेख वेदवाणी आदि प्रसिद्ध एवं शोधपूर्ण मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहें हैं। उन्हीं में से कुछ प्रमुख लेखों को विषयबद्ध कर ग्रन्थरूप दिया गया है। इन लेखों में कहीं-कहीं अत्यन्त स्वल्प परिवर्तन अर्थात् संशोधन व संवर्धन किया गया है। स्पष्टीकरण के लिए यह परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत हुआ है। ''संकल्प और सृष्टि की कालगणना'' (६.१;पृ० ३५९) लेख में अपेक्षित विवरण बढ़ाया गया है। मद्विरचित 'शिक्षाशास्त्रम्' की भूमिका को भी ''शिक्षातत्त्वार्थ का दर्शन''

१. द्रष्टव्य – ''शिक्षातत्त्वार्थ का दर्शन''(३.३) का लेख, पृ० २०२।

२. वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ (मनु० २.१६५)

३. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ (मनु० ४.२०)

(३.३) शीर्षक से इस ग्रन्थ में स्थान दिया गया है और 'निरुक्तनिर्वचनानि' ग्रन्थ की भूमिका को भी खण्डशः (२.१;२.२) इस ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। जिससे अधिकाधिक जिज्ञासु पाठक और शोधार्थी लाभान्वित हो सकें।

समालोचनात्मक कुछ लेखों में कुछ विद्वानों के मन्तव्यों पर समीक्षा की गयी है। व्यक्तिगतरूप से उनके साथ मेरा लेशमात्र भी वैमनस्य व द्वेषभाव नहीं है। कुछ विद्वानों के साथ तो मेरा परिचय भी नहीं है। पर विवेचनीय विषय के रूप में कोई विषय या पक्ष सामने उपस्थित होता है, तो उसका स्पष्टीकरण या समुचित शास्त्रीय पक्ष की स्थापना आवश्यक हो जाती है। **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** कथन के अनुसार यदि उन विद्वानों का मन्तव्य प्रकट नहीं होता, तो उन पर विचार या शोध कर कुछ लिखने का अवसर लेखक को नहीं मिलता और न ही उन विवादास्पद या सन्दिग्ध विषयों का कोई निर्णय उभरकर सबके सामने आपाता है। अतः वे विद्वान् भी मेरे इस लेखन कार्य में परोक्षतः सहयोगी ही रहें हैं। इसलिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस अष्टाध्यायी ग्रन्थ में ४३ लेख संगृहीत किये गये हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण अध्यायशः इसप्रकार है–

१. प्रथम अध्याय "वेदार्थतत्त्वमीमांसा" विषयक है। इसमें ग्रथित शोधलेखों का सार व विषय इसप्रकार है –

१.१. ऋषिमीमांसा (ऋषित्व का दर्शन) –

प्रत्येक वेदमन्त्र का ऋषि निश्चित होता है। वे ऋषिवाचक शब्द व्यक्तिविशेषों के वाचक हैं या यौगिक हैं? यदि यौगिक हैं, तो वे देवता के समान मन्त्रार्थ के लिए उपयोगी हैं या नहीं? इत्यादि विषय चिरकाल से विचारणीय (अनिर्णीत) रहें हैं। अतः इन विषयों पर इस शोधलेख में प्रामाणिक एवं निर्णायक वैदिक मन्तव्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस लेख में निर्णीत ऋषितत्त्व सायणादि वेदभाष्यकारों को भी ज्ञात नहीं था।

१.२. देवस्य पश्य काव्यम् –

वैदिक छन्द वेदार्थ में किसप्रकार उपयोगी हो सकते हैं? किस-किस छन्द से कौन-कौन से विषय प्रतिपादित हो सकते हैं? इत्यादि विषय इस लेख में सप्रमाण प्रतिपादित हैं। इस लेख का निष्कर्ष भी इदम्प्रथमतया प्रतिपादन किया गया है।

१.३. वैदिक छन्द एक विश्लेषण –

वैदिक छन्दों में अक्षर अभीष्ट संख्या की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक भी देखे जाते हैं। क्या यह कोई दोष है? इस दोष के परिहार केलिए मन्त्राक्षरों को न्यूनाधिक कर सकते हैं या नहीं? यदि कर सकते हैं तो क्या वह शास्त्रानुमोदित होगा? इत्यादि विषयों का गम्भीरता के साथ प्रामाणिक समाधान इस शोधलेख में दिया गया है।

१.४. मीमांसकों के मत में देवतास्वरूप –

वैदिक देवता मूर्त हैं या अमूर्त? इस विषय पर निरुक्त आदि शास्त्रों में विचार किया गया है। इस पर मीमांसकों का क्या मत है? यह इस लेख में निरूपित है।

१.५. वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम –

अर्थ के ग्रहण में प्रायः शब्द और उसका प्रसिद्ध व रूढ अर्थ का ग्रहण करते हैं। अर्थज्ञान में केवल शब्द ही साधन नहीं हैं, अपितु तदतिरिक्त अन्य साधन भी हैं, जिनके विना शब्दज्ञान अपूर्ण है और अनर्थकारी है। यह सब विषय सोदाहरण इस लेख में प्रदर्शित है।

१.६. नदीसूक्तम् – विश्वामित्र और नदियों का संवाद –

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। पर कुछ आधुनिक लोग रूढार्थ को लेकर मन्त्रों का अनर्थ करते हैं और वेद में इतिहास सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं। वेद के संवादसूक्तों से इतिहास स्पष्ट दीखता है, ऐसा उनका

मत है। पर वह मत वैदिक मान्यता से विरुद्ध है। इसे समझने केलिए प्रसिद्ध संवादसूक्त 'नदीसूक्त' पर यह शोधलेख पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

१.७. वैदिक अर्थव्यवस्था –

वैदिक काल में अर्थव्यवस्था का क्या स्वरूप रहा है। उसका उद्देश्य क्या है? इत्यादि विषय वेदों के प्रमाणों (मन्त्रों) के साथ सरलतया प्रतिपादित हैं।

१.८. वेद और उपवेद–

आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है या अथर्ववेद का? इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद देखा जाता है। पर इस शोधलेख में गवेषणापूर्वक एवं प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपवेद है और अर्थवेद ऋग्वेद का उपवेद है।

१.९. भगवत्प्रोक्त चिकित्साशास्त्र –

वेदों में विद्यमान आयुर्विज्ञान का स्वरूप साररूप में इस लेख में प्रतिपादित है।

१.१०. वैदिक वाङ्मय का परिचय –

वेदों की अनेकों शाखाएँ विद्यमान थीं। पर आज वे सब उपलब्ध नहीं हैं। कुछ शाखाएँ उपलब्ध होती हैं और कुछ का तो केवल नाम ही मिलता है। उन सभी उपलब्ध तथा अनुपलब्ध वैदिक वाङ्मय का परिचय छह सारणियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिससे सरलतया सभी नाम गृहीत हो सकें।

१.११. वैदिक संस्कृति –

संस्कृति किसे कहते हैं? उसका क्या स्वरूप है? क्या उद्देश्य है? उसकी क्या आवश्यकता है? इत्यादियों का स्पष्टीकरण वेदमन्त्रों के माध्यम से इस लेख में किया गया है। संस्कृति और सभ्यता में क्या अन्तर है? इसे भी पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है।

१.१२. वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम विषयक शंका-समाधान –

१.१३. वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की वैदिकता एवं प्राचीनता –

कुछ लोगों की मान्याता है कि वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों का विधान वेदों में नहीं, अतः ये दोनों ही आश्रम अवैदिक हैं। कुछ लोगों की मान्यता यह भी है कि– संन्यासाश्रम का प्रचलन बौद्धों से हुआ है। पर यह सब निराधार एवं भ्रामक मत है। ये दोनों आश्रम भी वैदिक एवं बौद्धों से अत्यन्त प्राचीन हैं, इस मत की स्थापना वेदादि शास्त्रों के प्रबल प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियों से इन दो शोधलेखों में की गयी है।

१.१४. दिन को सुदिन(शुभदिन) कैसे बनायें? –

आजकल शुभदिन और अशुभदिन को जानने की इच्छा कुछ अधिक ही है। परन्तु आज का मनुष्य अपने दिन को कैसे शुभ (कल्याणप्रद व सुखप्रद) बनाया जा सकता है, इसे नहीं जानता है। अतः वेदमन्त्रों से इस विषय को इस लेख में बताया गया है कि किन-किन शुभकर्मों से दिन को शुभदिन (सुदिन) बनाया जा सकता है। शुभकर्मों को छोड़कर शुभाशुभ के लिए प्रयास करना मूढ़ता व अज्ञानता ही होगी।

१.१५. वेदकालीन पर्वपद्धति –

सभी कार्यों से मुक्त होकर घर पर कुछ मिष्ठान्न आदि बनाकर खाना, विश्राम करना, खेल-कूद करना आदि-आदि को आजकल पर्व (त्योहार) मानते हैं। पर ऋषि-मुनियों के प्राचीनकाल में पर्व का क्या स्वरूप था? उसे मनाने का उद्देश्य क्या था? पर्वों को क्यों मनाना चाहिए? इनके क्या-क्या प्रयोजन हैं? इत्यादि जिज्ञासाओं के समाधान के लिए निरुक्त, वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर एक मौलिक एवं प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण इस शोधलेख में किया गया है।

१.१६. ऋतुचर्या–

हमारे आचार-व्यवहार, खान-पान आदि ऋतुओं के अनुकूल कैसे हों? इसे वेदमन्त्रों के माध्यम से संकेततः इस लेख में दिखाया गया है।

२. द्वितीय अध्याय ''वेदाङ्ग निरुक्त'' विषयक है– इसके अन्तर्गत पांच लेख संगृहीत हैं–

२.१. यास्कीय-निर्वचन-सिद्धान्त–

इस लेख में निरुक्त के परिचय के साथ यास्क के द्वारा प्रतिपादित निर्वचन के सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ में यास्क के द्वारा अप्रतिपादित सिद्धान्त, जो कि उन्हें अभीष्ट हैं, उनको भी सोदाहरण निरूपण किया गया है। प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति एवं अतिपरोक्षवृत्ति इन त्रिविध वृत्तियों का स्वरूप अनेकों उदाहरणों के साथ इस लेख से अधिगत होगा।

२.२. एक शब्द का अर्थ व निर्वचन एक ही हो सकता है–

इस लेख में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों से स्थापित किया गया है कि– 'यास्कीय अनेक निर्वचनों से उत्पन्न सरूप शब्द एक जैसा दीखने पर भी एक नहीं, अपितु अनेक हैं और एक (सरूप) शब्द का निर्वचन एक ही हो सकता है, अनेक नहीं।' इस निर्वचनसिद्धान्त के स्थापित होने से अनेकों भ्रम एवं आक्षेप स्वतः दूर हो जायेंगे।

२.३ शब्दों का भेदाभेद –

'किसी शब्द के अनेक निर्वचनों से निष्पन्न सरूप शब्द एक नहीं, अपितु अनेक हैं' ऐसा सिद्धान्त पूर्व लेख (२.२) में प्रतिपादित किया गया है। इस सिद्धान्त से सहमत न होते हुए वैदिक विद्वान् सम्मान्य श्री डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार जी (दिल्ली) ने अपने एक लेख में आपत्ति प्रकट की है। जो कि वेदवाणी के सितम्बर- २०२२ के अंक में प्रकाशित है। इसी लेख का स्पष्टीकरण व समाधान इस लेख में प्रतिपादित है।

२.४. शब्दव्युत्पत्ति के प्रकार : एक विश्लेषण –

निघण्टुशब्द घटि या घण धातु से सरलतया व्युत्पन्न हो सकता है, परन्तु आचार्य यास्क इन धातुओं से निर्वचन न दिखा कर गम्, हन् और हृ धातुओं से दिखाते हैं। यास्क की यह निष्पत्ति व्याकरण एवं शब्दशास्त्र से विपरीत है, ऐसा सम्मान्य विद्वान् श्री आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश जी आदि आक्षेप करते हैं। इसी आक्षेप का प्रामाणिक एवं शास्त्रीय समाधान इस लेख में प्रस्तुत है। शब्दव्युत्पत्तिविषयक एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त इस लेख में निरूपित है।

२.५. निघण्टोः समीक्षणम् –

निघण्टु की रचनाशैली का परिचय एवं उसका उद्देश्य, महत्व आदि का दिग्दर्शन इस संस्कृतलेख में किया गया है। चतुर्थाध्याय (पदकाण्ड) में पठित शब्दों के अर्थों का स्पष्टीकरण भी इस लेख में दिया गया है।

३. तृतीय अध्याय ''वेदाङ्गशिक्षातत्त्वार्थमीमांसा'' विषयक है– इसके अन्तर्गत निम्न लिखित विषयों का मौलिक एवं प्रामाणिक विवेचन किया गया है–

३.१. वैदिकशिक्षाशास्त्र–

महाभारतकार कहते हैं कि– ''**वेदात् षडङ्गान्युधृत्य०**'' (शान्ति०२८४.१९२)। शिक्षादि छह वेदाङ्गों का ज्ञान वेदों से ही निकाला गया है अर्थात् ग्रहण किया गया है। इस शोधलेख में यही निरूपित किया गया है कि शिक्षाशास्त्र के मूलतत्त्व किन-किन वेदमन्त्रों से ग्रहण किये गये हैं। शिक्षा के पारिभाषिक शब्द भी वेद से गृहीत हुए हैं। ''**सुदेवो असि०**'' (ऋ० ८.६९.१२) मन्त्रस्थ ''**सप्त सिन्धवः**'' का अर्थ शिक्षापरक ही समुचित घटित होता है और ''**त्रिंशद्धाम वि राजति०**''(ऋ० १०.१८९.३) मन्त्र के तीस धाम भी वाणी (शब्द) के उत्पत्तिस्थल हैं। इसप्रकार के अनेकों महत्वपूर्ण विषय वेदमन्त्रों के माध्यम से इस शोधलेख में प्रतिपादित हुए हैं।

३.२. अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों का परिचय –

इस लेख में अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है।

३.३. शिक्षातत्वार्थ का दर्शन –

यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं शोधपूर्ण है। इस लेख में शिक्षाशास्त्र के परिचय से लेकर प्रत्येक पारिभाषिक शब्द पर गहन विवेचन किया गया है। शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी सभी तत्त्वों का आमूलाग्र दर्शन (ज्ञान) ५० पृष्ठों के इस विस्तृत शोधलेख में पाठकों को अवश्य होगा।

३.४. शब्द का उद्भव और उसके क्रम की विसंगतियों का समाधान –

"**स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति, तदा.....**" (शिक्षा० ८.८) इस सूत्र को समझने में आपाततः व प्रथमतः अनेकों अवैज्ञानिक विसंगतियाँ दीखती हैं। जिनका समाधान सामान्यतया सरल नहीं है। अतः इस विषय पर इदम्प्रथमतया सुविस्तृत एवं युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत किया गया है।

३.५. वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त –

समान वायु एवं नाद से उत्पन्न होने वाले वर्णों में परस्पर भिन्नता कैसे आती है? क्यों आती है? और त्रिषष्टि(६३) वर्णों की वर्णमाला के प्रसिद्ध होने में क्या-क्या कारण हैं? ६३ वर्णों की वर्णमाला में ह्रस्वादि कालों को तो वर्णों के भेदक माने गये हैं, पर सानुनासिक, निरनुनासिक एवं उदात्तादि स्वरों को भेदक नहीं माने गये हैं, ऐसा क्यों? इत्यादि अनेकों गम्भीर प्रश्नों का अनुसन्धानात्मक तथा मौलिक समाधान इस शोधलेख में किया गया है।

३.६. यमानां स्वरूपं संख्या च –

३.७. यमविवेचन –

अयोगवाह के अन्तर्गत आगत यमों का स्वरूप, संख्या आदि विद्वत्समाज में विवादास्पद के विषय बने हुए थे। इस विषय में प्रथमवार सुविस्तृत विवेचन के साथ प्रबल प्रमाण एवं मौलिक युक्तियों से सन्तोषजनक समाधान व निर्णय प्रस्तुत किया गया है। इस शोधनिबन्ध में यमों का साङ्गोपाङ्ग गम्भीर अध्ययन किया गया है। साथ में तत्सम्बन्धी सम्भाव्य सभी आशङ्काओं को उठाकर उनका समाधान भी किया गया है। प्रसंगतः निबन्ध के आरम्भ में अयोगवाह का निर्वचन, स्वरूप आदि के विषय में भी परिपूर्णतया विचार किया गया है।

३.८. उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन –

उदात्तादि स्वरों के लक्षणों का विश्लेषणात्मक और सुविस्तृत व्याख्यान एवं "**कः पुनः प्रक्रमः उरः कण्ठः शिरः इति**"(म० भा० १.२.२९-३०) महाभाष्यकार के इस वाक्य का क्या तात्पर्य है? इसे शास्त्रीय दृष्टिकोण से शोधपरक, प्रामाणिक एवं मौलिक समाधान इस शोधलेख में दिया गया है।

३.९. उदात्तादि स्वरों का स्वभाव और उच्चारण का प्रकार –

उदात्त का लक्षण है– "**उच्चैरुदात्तः**"। परन्तु पारम्परिक उच्चारण में उच्चैस्त्व स्वरित में देखा जाता है। जिससे लक्षण में एवं उदात्त और स्वरित के उच्चारण में अनेकों संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह भी एक अविचारित व अनिर्णीत सन्दिग्ध विषय था। परन्तु इस पर भी लेखक ने प्रामाणिक समाधान या स्पष्टीकरण शास्त्रीय दृष्टिकोण से इस शोधलेख में प्रस्तुत किया है। एकश्रुति का अर्थ प्रायः उदात्त, अनुदात्त आदि के भेद रहित अर्थात् स्वर से रहित किया जाता है। इस भ्रामक मत का भी निराकरण इस लेख में प्रबल प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियों से किया गया है। साथ में यह भी सिद्ध किया गया है कि यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण स्वर-रहित करना शास्त्रविरुद्ध है।

३.१०. 'यज्ञ' का उच्चारण– 'यज्ञ' अथवा 'यग्ञ' है?–

यज्ञ आदि शब्दों में विद्यमान 'ज्ञ' वर्ण का उच्चारण कुछ लोग 'ज्ञ' के रूप में करते हैं तो कुछ लोग 'ग्ञ' के रूप में करते हैं। परन्तु इसमें शास्त्रीय दृष्टिकोण से कौनसा उच्चारण शुद्ध है? इसका निर्णय इस लघु लेख में किया गया है।

४. चतुर्थ अध्याय "वेदाङ्ग कल्प" विषयक है— इसके अन्तर्गत एतद् विषयक तीन लेख संगृहीत हैं–

४.१. पशुयागमीमांसा–

यज्ञ वेद और वैदिक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। परन्तु मध्यकाल में वेद के नाम पर यज्ञों में पशुओं का वध करना, उनके हृदयादि अवयवों से याग करना और हुतशेषभक्षण करना इत्यादि अवैदिक एवं घृणित कार्य प्रचलित करा कर पवित्र यागशालाओं को वधशाला बनाया गया, देवकार्य को आसुरीकार्य जैसा बनाया गया। जिसके परिणामस्वरूप में बौद्धादि नास्तिक मत प्रादुर्भूत हुए और उसके पश्चात् तो वेदविरुद्ध मत-सम्प्रदाय, पाखण्ड आदि की बाढ़ सी आगयी। इन सब अनर्थों के मूल कारणों में यागीय पशुबलि प्रमुख कारण रहा है। इसलिए वेदादियों में पशुयाग का उल्लेख है या नहीं? पशु का स्वरूप क्या है? उसके हृदयादि अवयवों का अवदान करना तथा याग करने का क्या तात्पर्य है? इत्यादि जटिल विषयों को जानना अत्यन्त अनिवार्य है। अतः इस पशुयाग का विवेचन एवं स्पष्टीकरण इस लेख में प्रबल शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों से किया गया है।

४.२. श्रौतकर्मकाण्ड का महत्व और महर्षि दयानन्द –

इस लेख में श्रौतसूत्रों में विहित दर्शपूर्णमास आदि इष्टियों तथा अग्निष्टोम आदि यागों के अध्ययन का महत्व, प्रयोजन एवं आवश्यकता आदि विषय प्रतिपादित हुए हैं। साथ में श्रौतकर्मकाण्ड के विषय में महर्षि दयानन्द की मान्यता को भी स्पष्टतया प्रकट किया गया है।

४.३. व्याकरण में श्रौतकर्मकाण्ड की उपयोगिता –

ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक एवं पूर्वमीमांसा दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय पूर्णतया श्रौतकर्मकाण्ड पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषद्, व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रों में भी प्रसंगतः श्रौत का विषय आ जाता है। इसका परिज्ञान न होने से सर्वत्र प्रायः यागविशेष, क्रियाविशेष, पात्रविशेष आदि शब्दों से काम चलाया जाता है। अर्थात् श्रौतकर्मकाण्ड का ज्ञान न होने से शास्त्रीय अध्ययन में प्रायः सर्वत्र अन्धकार व अज्ञान ही छाया रहता है। उदाहरण केलिए व्याकरण के अध्ययन में श्रौत का विषय कितना उपयोगी है? इसे इस आलेख में दिखाया गया है।

५. पञ्चम अध्याय "वेदाङ्ग व्याकरण"विषयक है— इसके अन्तर्गत ये दो लेख संगृहीत हैं–

५.१. यति और यतिबोध–

इस लेख में अष्टाध्यायी के कण्ठस्थीकरण के लिए उपयोगी सार्थक पदच्छेद एवं यति का विषय प्रतिपादित है। यद्यपि इसमें उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी के सूत्र ही प्रस्तुत किये गये हैं, पुनरपि इसमें प्रदर्शित नियम सार्वत्रिक हैं अर्थात् वेदसंहिता आदि ग्रन्थों के अध्ययन में भी उपयोगी हैं।

५.२. महाभाष्य का ज्योतिष विषयक एक प्रसंग –

इस लेख में "**षण्मुहुर्त्ताश्चराचराः। ते कदाचिद् अहर्गच्छन्ति, कदाचिद् रात्रिम्**" महाभाष्य (२.१.२८) के इस वाक्य का स्पष्टीकरण ज्योतिषग्रन्थों के आधार पर किया गया है। अन्यथा इस वाक्य का तात्पर्य व अर्थ अत्यन्त दुरूढ ही रहता है।

६. षष्ठ अध्याय 'वेदाङ्ग ज्योतिष' विषयक है।

इसके अन्तर्गत (६.१) **संकल्प और सृष्टि की कालगणना**, (६.२) **नववर्ष का हर्ष कब, कैसे और क्यों?** और (६.३) **यथार्थ नूतनसंवत्सर** लेखों को समाविष्ट किया गया है।

७. सप्तम अध्याय में (७.१) ''दर्शनशास्त्र : एक विवेचन'' शीर्षक लेख दिया गया है। जिसमें दर्शनशास्त्र का सामान्य परिचय तथा उसके विभाग की चर्चा की गयी है।

मीमांसादर्शन प्रमुखतया याग के विषयों का प्रतिपादन करता है। याग देवता के उद्देश्य से होता है। अतः मीमांसादर्शन में देवता एक विशेष महत्त्व रखता है। इसलिए 'मीमांसादर्शन के मत में देवता का स्वरूप' विषय पर भी एक गम्भीर दार्शनिक लेख लिखा गया है। जिसे 'वेदार्थ-तत्त्वमीमांसा' के अन्तगर्त (१.४) स्थान दिया गया है। पाठक वहीं देखें।

८. अष्टम अध्याय में ''आर्षविद्या का महत्व एवं आवश्यकता'' विषयक तीन लेख संगृहीत हैं –

८.१. विश्वव्यापी सभी समस्याओं का समाधान – वैदिकविद्याविधान : महर्षि देव दयानन्द का विज्ञापन।

८.२. वर्तमान में आर्षविद्या की आवश्यकता।

८.३. आर्षविद्या का स्वरूप और उसका परिरक्षण।

आशा करता हूँ कि यह लेखों का संग्रह वैदिक वाङ्मय के अध्ययन में संलग्न स्वाध्यायशीलों को, पठन-पाठन करने वाले मनीषियों एवं शोधार्थियों को लाभदायक होगा।

कृतज्ञता का ज्ञापन — सर्वप्रथम परमकृपालु परमपिता परमेश्वर को हृदय की गहराईयों से कोटि-कोटि प्रणाम समर्पित करता हूँ, जिनकी अपार अनुकम्पा मुझे शास्त्रीय अध्ययन, अध्यापन, गुरुकुल का सञ्चालन एवं लेखन आदि कार्यो में सतत प्राप्त होती रहती है। जब मैं शास्त्रीय गम्भीर विषयों पर अथवा जटिल समस्याओं के समाधान के हेतु चिन्तन करने या लिखने में लीन होता हूँ तो अनेकों बार अनुभव में आया है कि अपठित, अश्रुत, अविचारित, अनूह्य विषय, युक्तियाँ व तर्क स्वतः प्रवाहित होने लगते हैं, प्रमाण उपलब्ध होते जाते हैं, लिखने में आजाते हैं। ऐसे अवसरों के पश्चात् मैं अपने आपको आर्द्र हृदय से उस प्रभु को नमन किये विना नहीं रह पाता। ऐसी पंक्तियों के लेखन में तो मैं अपने को निमित्तमात्र लेखक समझता हूँ। उस परमगुरु को पुनः प्रणाम करता हुआ अनन्तानन्त कृतज्ञताएँ ज्ञापित करता हूँ। इसके पश्चात् जन्मदाता पूज्या माता श्रीमती स्वराज्यलक्ष्मी जी एवं पिताश्री स्व० लक्ष्मीनारायण जी को नमनपूर्वक धन्यवाद समर्पित करता हूँ। जिनकी सात्विकता, धार्मिकता, नैतिकता, धीरता, संघर्षशीलता आदि अनेकों गुण संस्कारों के रूप में मुझे आज भी सत्प्रेरित करते रहते हैं। इतोऽग्रे प्रातःस्मरणीय सम्पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी को विनम्रतापूर्वक हार्दिक कृतज्ञताएँ समर्पित करता हूँ। मुझ में जो कुछ भी योग्यताएँ हैं, वे सब इन्ही गुरुवर की असीम कृपा का परिणाम है। अभेद्य दुर्ग के समान विद्यमान विशाल वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र (शास्त्रों) में मुझ जैसे अकिञ्चन को प्रवेश ही नहीं कराया, अपितु उसमें स्वच्छन्दता से विहरने व रमने का पूर्ण सामर्थ्य भी प्रदान किया है। ऐसे आचार्यप्रवर को पुनः स्मरण करता हूँ, प्रणाम करता हूँ।

आर्यजगत् के गौरव, गणमान्य वैदिक विद्वानों ने अपना अमूल्य समय देकर इस बृहदाकारक ग्रन्थ का आमूलाग्र निरीक्षण कर अपना शुभाशंसन प्रदान किया है और इसका मूल्यांकन कर मेरा उत्साह वर्धन किया है। इन विद्वानों के द्वारा अभिव्यक्त भावों के प्रति शब्दों में कृतज्ञताएँ प्रकट करना कदाचित् अनुचित होगा। पुनरपि

अनन्यगत्या अनन्त पवित्र भावनाओं के साथ सीमित शब्दों में कृतज्ञताओं को ज्ञापित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ–

१. पूज्य स्वामी श्री विवेकानन्द सरस्वती जी (प्रभात-आश्रम मेरठ) का आशीर्वाद एवं प्रेमपूर्ण स्नेह हमें सदा प्राप्त होता रहता है । हमारे गुरुकुल 'निगमनीडम्' का शिलान्यास अप्रैल - २००४ में स्वामी जी के करकमलों से ही सुसम्पन्न हुआ था। तब से आज तक यह गुरुकुल उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। यज्ञशाला का उद्घाटन भी स्वामी जी के करकमलों से ही सम्पन्न हुआ था । स्वामी जी के तप, त्याग, विद्वत्ता आदियों से मैं अध्ययन काल से ही बहुत प्रभावित हूँ । मद्विरचित 'शिक्षाशास्त्रम्' ग्रन्थ पर भी आपने अपनी शुभकामनाएँ प्रदान की और प्रस्तुत ग्रन्थ पर भी श्लोकबद्ध 'शुभाशंसा' लिखकर कृपा की वृष्टि ही कर दी । इससे मैं अपने को एवं अपनी लेखनी को पूर्ण कृतकृत्य होने का अनुभव करता हूँ । इसके लिए मैं अनेकशः अनेकविध कृतज्ञताएँ ज्ञापित करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप की कृपावृष्टि एवं स्नेह हमें इसी प्रकार आगे प्राप्त होता रहेगा ।

२. समादरणीय आचार्य श्री प्रद्युम्न जी का मार्गदर्शन एवं स्नेह मुझे शास्त्रीय अध्ययन काल से ही प्राप्त हो रहा है । आपके व्याकरणादि शास्त्रीय पाण्डित्य से मैं बहुत ही प्रभावित हूँ । पारिभाषिक ग्रन्थ पर आपके द्वारा विरचित व्याख्या के प्रकाशन काल में उसका प्रूफ देखने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था । उस समय आपके द्वारा लिखे पत्र मेरे पास अब भी सुरक्षित हैं । आपके सरल, सहज एवं प्रेमपूर्ण सम्बोधन के शब्द जब भी मेरे स्मृतिपटल पर आते हैं तो मेरा हृदय गद्गद हो जाता है । अध्ययन,अध्यापन आदि अनेकों कार्यों में पूर्ण व्यस्त होने पर भी अपना अमूल्य समय निकाल कर आपने इस ग्रन्थ का निरीक्षण किया, परामर्श दिया और अपनी शुभकामनाएँ सम्प्रेषित की हैं, इसके लिए मैं बहुविध हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ और आशा करता हूँ आपका स्नेह इसी प्रकार आगे भी प्राप्त होता रहेगा ।

३. संस्कृत श्लोकों की संरचना में सिद्धहस्त, आशुकवि वैदिक विद्वान् सम्मान्य डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री जी (राष्ट्रिय पण्डित) के उद्बोधन, कवित्व का पाठ और व्यंग्य कथाओं के श्रवण आदि का सौभाग्य मुझे पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़ के अध्ययन काल से ही प्राप्त हुआ है । हमारे 'निगमनीडम् -वेदगुरुकुलम् ' में भी यथावकाश मध्य-मध्य में आकर हमें एवं विद्यार्थियों को संस्कृत के श्लोकों से उद्बोधन करते हुए उत्साहित करतेहैं और प्रेरित करते हैं। पढ़ने हेतु अपना संस्कृत का साहित्य भी विद्यार्थियों को प्रदान करते हैं।इसप्रकार आचार्यश्री पुत्र का वात्सल्य प्रदान करते हुए आर्शीवाद देते हैं, प्रेरित करते हैं तथा मार्गदर्शन भी करते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग निरीक्षण करके आपने जो शुभकामनाएँ और सम्मति प्रदान की है, वह मेरे शोधकार्य के उत्साह को द्विगुणित करने वाली है। आपके इस प्रोत्साहन के लिए अनेकानेक आभार अभिव्यक्त करता हूँ ।

४. राष्ट्रिय पण्डित, महावैयाकरण, दार्शनिक, प्राच्यभाषातत्त्ववेत्ता सम्मान्य आचार्य श्री सुद्युम्न जी के विद्वत्तापूर्ण उद्बोधन भी मुझे बहालगढ़ के अध्ययन के काल से ही सुनने का शुभावसर प्राप्त होते रहें हैं । आपके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से भी हम लाभान्वित हुए हैं। हमारे 'निगमनीडम् - वेदगुरुकुलम् ' में भी आपका शुभागमन अनेक बार हुआ है और यज्ञोपरान्त आपकी मधुर वाणी से वेदमन्त्रों के व्याख्यानों को सुनने का सौभाग्य हमें मिला है तथा एक बार तो लगभग एक सप्ताह पर्यन्त ज्योतिष सम्बन्धी गणित के अभ्यास के लिए 'लीलावती' के प्रमुख अंशों का अध्यापन कराकर हमारा ज्ञानवर्धन किया है । हमारे प्रति आपके स्नेह का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि आप अपने जीवनवृत्त (जीवन जैसा मैंने जिया) के लेखन में हमारे गुरुकुल का तथा मेरे नाम को स्मरण करना नहीं भूले । इसीप्रकार हमें आपका वात्सल्य का प्रेम प्राप्त होता रहे तथा आपकी विद्वत्ता से हम लाभान्वित होते रहें । आपने अपना अमूल्य समय निकाल कर इस ग्रन्थ का मूल्यांकन करते हुए अपनी मंगलकामनाप्रदान की है । इससे मैं कृतकृत्यता का अनुभव करता हूँ । इस के लिए आपको सहस्रशः हार्दिक कृतज्ञताएँ ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ ।

५. आर्यजगत् के प्रख्यात वैदिक विद्वान्,ओजस्वी वक्ता, 'वेद और वेदार्थ' आदि अनेकों प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणेता, विविध पत्रिकाओं के सम्पादक समादरणीय श्री डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री जी की विद्वत्ता से सम्पूर्ण आर्यजगत्,पौराणिक जगत् एवं विश्वविद्यालयों के जिज्ञासु लाभान्वित होते हैं। आप शास्त्रों के गम्भीर विद्वान् होते हुए भी स्वभावतः अत्यन्त सरल एवं सौम्य हैं। मुझे भी आपका अपार स्नेह प्राप्त होता है और जब भी आप से वार्ता होती है पूर्वमीमांसा जैसे ग्रन्थों की वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल व्याख्या करने का परामर्श तथा प्रेरणा देते हैं, उत्साहित करते हैं। मेरे इस ग्रन्थ का सम्पूर्णतया अवलोकन करके इसका मूल्यांकन करते हुए आपने जिन सद्भावों को अभिव्यक्त किया है, वे मुझे तथा इस ग्रन्थ को गौरवान्वित करते हैं, साथ में मेरे शोधकार्य को तीव्रगति प्रदान करने वाले हैं। इसके लिए मैं आपको हृदय की गहराईयों से आभार व्यक्त करता हूँ।

६. महर्षि दयानन्द सरस्वती के उत्तराधिकारिणी सभा 'परोपकारिणी सभा' के वरिष्ठ सदस्य एवं पूर्व अध्यक्ष, आर्यजगत् की प्रसिद्ध पत्रिका 'परोपकारी' के सम्पादक , गृह्यसूत्रों के आधिकारिक विद्वान् सम्मान्य श्री डॉ० वेदपाल जी एक गम्भीर वैदिक वैद्वान् एवं प्रामाणिक लेखक हैं। आप एक अन्ताराष्ट्रिय शोधपत्रिका का भी सम्पादन कर प्रकाशित करते हैं। आप अनेकों कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी इस ग्रन्थ का अवलोकन कर इसकी समीक्षा करते हुए सम्मति प्रदान की है।आप जैसे विद्वान् के अनुमोदन से यह ग्रन्थ अत्यन्त सुशोभित हुआ है। इसके लिए मैं अनेकशः धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

७. समादरणीय श्री डॉ० विजयवीर विद्यालङ्कार जी गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) के प्रतिष्ठित स्नातकों में से एक सुयोग्य स्नातक एवं वैदिक विद्वान् हैं। आप एक सिद्धहस्त कवि भी हैं। आपने यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों का सरल एवं सुमधुर कविता के माध्यम से भाष्य किया है। सामवेद के काव्यात्मक भाष्य में आप संलग्न हैं। आप निरन्तर वेदादि शास्त्रों के अध्ययन तथा चिन्तन-मनन में ही संलग्न रहते हैं। मेरे १० वीं कक्षा के अध्ययन के काल (सन् १९८५) में मुझे आर्यसमाज का परिचय हुआ था और सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों के अध्ययन का प्रबल प्रभाव पड़ा था। उस समय ''सः गच्छति, त्वं गच्छसि...'' आदि के रूप में संस्कृतशिक्षण का सर्वप्रथम शुभारम्भ आपके श्रीमुख से ही (करिनगर में) हुआ था। वे क्षण मेरे लिए असीम आनन्द के जनक थे। आप अनेकों कार्यों में व्यस्त होते हुए भी मेरे इस ग्रन्थ का सम्पूर्णतया अवलोकन कर जो सम्मति प्रदान की है, इसके लिए मैं आपको अनेकशः हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

सभी लेखों के टंकण (टाईपिंग) कार्य को मेरे पूर्व अन्तेवासी, निगमनीडम्-वेदगुरुकुलम् के सुयोग्य स्नातक वेदमित्र, विश्वनाथ, धर्मेन्द्र आदि ने पूर्ण मनोयोग से किया है और इसे ग्रन्थरूप दिया है। संशोधन (प्रूफ़रीडिंग) कार्य को सत्यश्रवा, विश्वश्रवा आदि ने बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया है। ये सभी स्नातक आर्षपाठविधि की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए, वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार आदि में अपना विशेष योगदान देते हुए अपने अमूल्य जीवन में पूर्ण सफलता को प्राप्त करें। इसके लिए इन्हें ईश्वर पूर्ण सामर्थ्य प्रदान करें, यही इनके लिए मेरे आशीर्भाव हैं। गुरुकुलीय अध्यापन कार्य में मेरे अत्यन्त सहयोगी श्री विद्याव्रत जी उपाध्याय के कार्य के साथ-साथ इस ग्रन्थ के संशोधन में पूर्ण मनोयोग से सहयोग किया है। इन्हें हार्दिक कृतज्ञताएँ प्रकट करता हूँ। वर्तमान में अध्ययनरत ब्र० सुरेश एवं ब्र० आदित्य ने भी इस ग्रन्थ के संशोधन और टंकण कार्य में अपना पूर्ण योगदान प्रदान किया है। इसके लिए इन्हें भी मेरे शुभाशीष हैं। परिमल पब्लिकेशन्स (दिल्ली) के कुशल सञ्चालक श्रीमान् परिमल जी ने उत्साह से इस ग्रन्थ को बहुत ही सुन्दररूप में प्रकाशित कर पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत किया है। ये भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

वेदानुयायी

१४.०१.२०२४

आचार्य उदयन मीमांसक

विषयानुक्रमणिका

समर्पण III
सम्मतियाँ V
पुरोनुवाक्य XIII
संक्षेप - विवरण.. XXIV

१. वेदार्थतत्त्वमीमांसा १–१३२
१.१. ऋषिमीमांसा (ऋषित्व का दर्शन) १
१.२. देवस्य पश्य काव्यम् (वेदार्थ में छन्द की उपयोगिता) ९
१.३. वैदिकछन्द : एक विश्लेषण (वैदिक छन्दों में परिवर्तन अशास्त्रीय है) ३२
१.४. मीमांसकों के मत में देवतास्वरूप ४१
१.५. वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम ५०
१.६. नदीसूक्तम्- विश्वामित्र और नदियों का संवाद ५६
१.७. वैदिक अर्थव्यवस्था ६८
१.८. वेद और उपवेद ७५
१.९. भगवत्प्रोक्त चिकित्साशास्त्र ८२
१.१०. वैदिक वाङ्मय का परिचय ८६
१.११. वैदिक संस्कृति ९८
१.१२. वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम विषयक शंका-समाधान १०२
१.१३. वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की वैदिकता एवं प्राचीनता ११०
१.१४. दिन को सुदिन (शुभदिन) कैसे बनायें? ११७
१.१५. वेदकालीन पर्वपद्धति १२१
१.१६. ऋतुचर्या १२९

२. वेदाङ्ग निरुक्त १३३–१८५
२.१. यास्कीय-निर्वचन-सिद्धान्त १३४
२.२. एक शब्द का अर्थ व निर्वचन एक ही हो सकता है १६५
२.३. शब्दों का भेदाभेद १७१
२.४. शब्दव्युत्पत्ति के प्रकार : एक विश्लेषण १७६
२.५. निघण्टोः समीक्षणम् १८२

३. वेदाङ्गशिक्षातत्त्वार्थमीमांसा १८६ – ३१७
३.१. वैदिक शिक्षाशास्त्र (वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्र की वेदमूलकता) १८७
३.२. अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों का परिचय १९८

३.३. शिक्षातत्वार्थ का दर्शन २०२
३.४. शब्द का उद्भव और उसके क्रम की विसंगतियों का समाधान २५०
३.५. वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त २५४
३.६. यमानां स्वरूपं संख्या च २६९
३.७. यमविवेचन २७३
३.८. उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन २९४
३.९. उदात्तादि स्वरों का स्वभाव और उच्चारण का प्रकार ३०७
३.१०. 'यज्ञ' का उच्चारण- 'यज्ञ' अथवा 'यग्ञ' है? ३१६

४. वेदाङ्गकल्प **३१८–३४५**
४.१. पशुयागमीमांसा ३१९
४.२. श्रौतकर्मकाण्ड का महत्व और महर्षि दयानन्द ३३२
४.३. व्याकरण में श्रौतकर्मकाण्ड की उपयोगिता ३३७

५. वेदाङ्ग व्याकरण **३४६–३५७**
५.१. यति और यतिबोध ३४७
५.२. महाभाष्य का ज्योतिष विषयक एक प्रसंग ३५४

६. वेदाङ्ग ज्योतिष **३५८–३७७**
६.१. संकल्प और सृष्टि की कालगणना ३५९
६.२. नववर्ष का हर्ष कब, कैसे और क्यों? ३६८
६.३. यथार्थ नूतनसंवत्सर ३७२

७. दर्शनशास्त्र **३७८–३८२**
७.१. दर्शनशास्त्र : एक परिचय ३७९

८. आर्षविद्या का महत्व एवं आवश्यकता **३८३–४००**
८.१. विश्वव्यापी सभी समस्याओं का समाधान –
वैदिकविद्याविधान : महर्षि देव दयानन्द का विज्ञापन ३८४
८.२. वर्तमान में आर्षविद्या की आवश्यकता ३९०
८.३. आर्षविद्या का स्वरूप और उसका परिरक्षण ३९४

९. उद्धृत प्रमाणों की वर्णानुक्रमसूची ४०१–४३६

संक्षेप - विवरण

अ०कु०	अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति
अ०चि०	अभिधानचिन्तामणि
अत्रि०	अत्रिसंहिता
अथर्व०	अथर्ववेद
अ०परि०	अथर्वपरिशिष्ट
अ०पु०	अग्निपुराण
अ०बृ०स०	अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका
अमर०	अमरकोष
अ०मां०शि०	अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा
अयो०	अयोध्याकाण्ड
अ०शि०	अमोघानन्दिनीशिक्षा
अष्टा०	अष्टाध्यायी
अष्टा०सं०	अष्टाङ्गसङ्ग्रह
अ०सं०	अहिर्बुध्न्यसंहिता
अ०हृ०सू०	अष्टांगहृदयसूत्र
आ०गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्र
आ०ब्रा०	आर्षेयब्राह्मण
आ०श्रौ०	आश्वलायनश्रौतसूत्र
आप०श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आरण्य०	आरण्यकाण्ड
आर्याभि०	आर्याभिविनय
आर्योद्देश्य०	आर्योद्देश्यरत्नमाला
उणादि०	उणादिकोष
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ०अनु०	ऋग्वेदानुक्रमणी
ऋ०त०	ऋक्तन्त्र
ऋ०प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य
ऋ०भा०भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऋ०भू०	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऋ०वि०	ऋग्विधान
ऋ०सर्वा०	ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऐ०आ०	ऐतरेय-आरण्यक
ऐ०ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
औ०स्मृ०	औशनसस्मृति
कठ०सं०	कठसंहिता
कठो०	कठोपनिषद्
कपि०सं०	कपिष्ठलकठसंहिता
का०	काशिका
का०अ०	काव्यालंकार
का०आ०	काव्यादर्श
का०धातु०	काशकृत्स्नधातुपाठ
का० ब्रा०	काठकब्राह्मणसंकलन
का०शत०ब्रा	काण्वशतपथब्राह्मण
का०शा०	काव्यालङ्कारशास्त्र
काश्य०	काश्यपसंहिता
का०श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
कां०सं०	काण्वसंहिता
का०सं०	काठकसंहिता
का०सू०	काव्यालङ्कारसूत्र
कुमा०	कुमारसम्भव
केनोप०	केनोपनिषद्
के०शि०	केशवशिक्षा
कै०उप०	कैवल्य-उपनिषद्
कौ०प०	कौशिकपद्धति
कौ०ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ०शि०	कौहलिशिक्षा
कौ०सू०	कौशिकसूत्र
क्षीर०	क्षीरतरङ्गिणी
ग०उप०	गर्भोपनिषद्
गो०ब्रा०	गोपथब्राह्मण
गौ०ध०	गौतमधर्मसूत्र
च०	चरक
च०अ०	चतुरध्यायिका
चर०	चरणव्यूह

चा०शि०	चारायणीयशिक्षा
चा०सू०	चाणक्यसूत्र
चि०	चिकित्साशास्त्र
छ०अ०	छन्दोनुशासन
छ०भा०	छन्दोविचितिभाष्यम्
छ०मी०	छन्दोमीमांसा
छ०वि०	छन्दोविचिति
छ०शा०	छन्दःशास्त्र
छां०उप०	छान्दोग्य-उपनिषद्
जा०उप०	जाबाल-उपनिषद्
जै०उ०ब्रा०	जैमिनीय-उपनिषद् ब्राह्मण
जै०न्या०वि०	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
जै०ब्रा०	जैमिनीयब्राह्मण
जै०व्या०	जैनेन्द्रव्याकरण
तं०वा०	तन्त्रवार्त्तिक
तां०ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मण
तां०म०ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तु०	तुलना
तै०आ०	तैत्तिरीय-आरण्यक
तै०उप०	तैत्तिरीय-उपनिषद्
तै०प्रा०	तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
त्रि०उप०	त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
त्रि०र०	त्रिभाष्यरत्न
द०उ०	दशपादी उणादिकोष
दया०	दयानन्द
दे०अ०ब्रा	देवताध्यायब्राह्मण
देव०	देवराजयज्वा
दै०ब्रा०	दैवतब्राह्मण
द्र०	द्रष्टव्य
द्रोण०	द्रोणपर्व
धातु०	धातुपाठ
ना०उप०	नादबिन्दूपनिषद्
नारा०उप०	नारायण-उपनिषद्
ना०शा०	नाट्यशास्त्र
ना०शि०	नारदीयशिक्षा
नि०	निर्वचन
निघं०	निघण्टु
निदान०	निदानस्थान
नि०नि०	निघण्टु-निर्वचन
निरु०	निरुक्त
नि०श्लो०वा०	निरुक्तश्लोकवार्त्तिक
नि०स०	निरुक्तसमुच्चय
नि०सि०	निर्वचन सिद्धान्त
नी०भा०	नीलकण्ठभाष्य
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्याय०	न्यायदर्शन
पं०उ०	पञ्चपादी उणादिकोष
पं०ब्रा०	पञ्चविंशब्राह्मण
पद०	पदमञ्जरी
प०पु०	पद्मपुराण
प०मं०	परमलघुमञ्जूषा
परि०	परिभाषाप्रकरण
पस्प०	पस्पशाह्निक
पा०गृह्य०	पारस्कर-गृह्यसूत्र
पाटी०	पाटीगणितसार
पाठा०	पाठान्तर
पारि०	पारिभाषिक
पा०श०	पारिभाषिक शब्द
पा०शि०	पाणिनीयशिक्षा
पारा०शि०	पाराशरशिक्षा
पि०सू०	पिङ्गलछन्दसूत्र
पुष्प०	पुष्पसूत्र
पू०मी०	पूर्वमीमांसा
पृ०	पृष्ठ
पै०सं०	पैप्पलादसंहिता
प्र०च०	प्रबोधचन्द्रोदय
प्र०भा०	प्रशस्तपादभाष्य
प्र०भे०	प्रस्थानभेद
प्र०श०	प्रत्यक्षशरीरम्
प्र०सू०	प्रतिज्ञासूत्र

प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषद्	मा० शि०	माण्डुकीशिक्षा
प्र०हृ०	प्रपञ्चहृदय	मा०सा०	मानसारम्
प्रा०प्र०	प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा	मी०न्या०प्र०	मीमांसान्यायप्रकाश
फिट्०	फिट्सूत्र	मीमांसा०	मीमांसादर्शन
बा०म०	बालमनोरमा	मी०शा०भा०	मीमांसा-शाबर-भाष्य
बाल०	बालकाण्ड	मु०उ०	मुण्डक-उपनिषद्
बृ०उप०	बृहदारण्यक-उपनिषद्	मे०को०	मेदिनीकोष
बृ०दे०	बृहद्देवता	मै०उ०	मैत्रायणी-उपनिषद्
बृ०या०स्मृ०	बृहद्-याज्ञवल्क्यस्मृति	मै०सं०	मैत्रायणी-संहिता
बृ०शे०	बृहच्छब्देन्दुशेखर	यजु०	यजुर्वेद
बौ०गृ०	बौधायन गृह्यसूत्र	यजु:प्रा०	यजु:प्रातिशाख्य
बौ०धर्म०	बौधायनधर्मसूत्र	या०शि०	याज्ञवल्क्यशिक्षा
बौ०श्रौ०	बौधायनश्रौतसूत्र	या०स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
ब्र०उप०	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	यु०मी०	युधिष्ठिर मीमांसक
ब्र०पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण	योग०	योगदर्शन
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र	रघु०	रघुवंश
ब्रह्म०	ब्रह्मकाण्ड	रामा०	रामायण
ब्रह्माण्ड०	ब्रह्माण्डपुराण	ल०मा०शि०	लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षा
भ०ना०शा०	भरतनाट्यशास्त्र	ल०व्या०स्मृ०	लघुव्यासस्मृति
भ०सु०	भर्तृहरिसुभाषित संग्रह	ल०शे०	लघुशब्देन्दुशेखर
भा०दी०	भाट्टदीपिका	ला०श्रौ०	लाट्यायन श्रौतसूत्र
भा०पु०	भागवतपुराण	लीला०	लीलावती
भा०प्र०	भाष्यरत्नप्रभा	लो०शि०	लोमशीशिक्षा
भा०सं०	भावप्रकाशसंहिता	व०उप०	वराहोपनिषद्
भा०सू०	भाषिकसूत्र	वन०	वनपर्व
म० च०	मनुष्यालयचन्द्रिका	व०शि०	वर्णोच्चारणशिक्षा
म०नि०	महानिर्वाणतन्त्र	वर्ण०शि०	वर्णरत्नप्रदीपशिक्षा
मनु०	मनुस्मृति	वा०	वार्त्तिक
म०पु०	मत्स्यपुराण	वाच०	वाचस्पत्यम्
म०ब्रा०	मन्त्रब्राह्मण	वा०ध०	वासिष्ठधर्मसूत्र
म०भा०/महा०	महाभारत	वा०प०	वाक्यपदीय
म०भा०	महाभाष्य	वा०पु०	वायुपुराण
माण्डू०	माण्डूक्य-उपनिषद्	वा०प्रा०	वाजसनेय प्रातिशाख्य
मा०ध०	मानवधर्मसूत्र	वा०भा०	वात्स्यायन भाष्य
मा०यजु०	माध्यन्दिनवाजसनेययजुर्वेद	वि०नी०	विदुरनीति
मा०शत०ब्रा०	माध्यन्दिनशतपथब्राह्मण	वि०पु०	विष्णुपुराण

वृ०र०	वृत्तरत्नाकर	श्वे०उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
वे०ज्यो०	वेदाङ्गज्योतिष	षो०शि०	षोडशश्लोकीशिक्षा
वेदा०	वेदान्तदर्शन	सं०उप०	संन्यासोपनिषद्
वे०सं०	वेणीसंहार	सं०उ०ब्रा०	संहितोपनिषद् ब्राह्मण
वे०सा०	वेदान्तसार	सं०क०	सरस्वतीकण्ठाभरण
वै०आ०	वैदिकाभरण	सं०का०	संकर्षकाण्ड
वै०को०	वैजयन्ती कोष	सं०र०	संगीतरत्नाकर
वै०द०	वैशेषिकदर्शन	सं०विधि०	संस्कारविधि
वै०ध०	वैखानसधर्मसूत्र	सत्यार्थ०	सत्यर्थप्रकाश
वै०भू०सा०	वैयाकरणभूषणसार	सर्व०सि०	सर्वदर्शन-सिद्धान्त-संग्रह
व्या०शि०	व्यासशिक्षा	सां०का०	सांख्यकारिका
श०कौ०	शब्दकौस्तुभ	सांख्य०	सांख्यदर्शन
शत०/शत०ब्रा०	शतपथब्राह्मण	सा०गौ०शि	सामवेदीया गौतमीशिक्षा
शब्द०	शब्दकल्पद्रुम	सा०द०	साहित्यदर्पण
शांख०आ०	शाङ्खायन आरण्यक	सा०भा०	सायणभाष्य
शांख०ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण	सा०/साम०	सामवेद
शां०भा०	शांकरभाष्य	सि०कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
शा०उप०	शाण्डिल्योपनिषद्	सि०शि०	सिद्धान्तशिरोमणि
शा०दी०	शास्त्रदीपिका	सु०	सुश्रुत्
शान्ति०	शान्तिपर्व	सुन्दर०	सुन्दरकाण्ड
शा०प०	शार्ङ्गधरपद्धति	सु०सं०	सुश्रुत् संहिता
शा०भा०	शाबरभाष्य	स्क०पु०	स्कन्दपुराण
शा०श्रौ०	शाङ्खायन श्रौतसूत्र	स्व०च०	स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका
शा०सं०	शार्ङ्गधरसंहिता	स्वमन्तव्या०	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश
शिक्षा	पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक)	ह०पु०	हरिवंशपुराण
शि०प्र०	शिक्षाप्रकाश	हलायुध०	हलायुधभट्टभाष्यम्
शु०नी०	शुक्रनीतिसार	हितो०	हितोपदेश
शै०शि०	शैशिरीय शिक्षा	हि०श्रौ०	हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र
श्लो०पा०शि०	श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा		

ग्राह्य वाणी

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरुगौरवात्। (या० शि० २३२)

केवल तर्क संगत बात को ही ग्रहण करना चाहिए, उसके कहने वाले गुरु के गौरव से नहीं।

प्रथम अध्याय

वेदार्थतत्त्वमीमांसा

१.१. ऋषि-मीमांसा (ऋषित्व का दर्शन)*

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्।[१]
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
(मै०उप० ६.२२, त्रि०उप० ४.१७, वि०पु० ६.४.६४)

ब्रह्म (ईश्वर) से साक्षात् उपदिष्ट होने से ज्ञान के आधारभूत शब्दमय वेदों के लिए भी ब्रह्मशब्द का प्रयोग होता है।[२] यद्यपि वेद साधन है और ब्रह्म साध्य है, पुनरपि शास्त्रों में कहीं-कहीं गौणरूप से साध्य-साधनों में अभेदत्व माना गया है।[३] इसीलिए उद्धृत श्लोक में वेद और ईश्वर दोनों के लिए ब्रह्मशब्द का प्रयोग किया गया है, पर विशेषणों से उनमें भेद भी किया गया है कि– शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म (परमेश्वर) दोनों ही जानने के योग्य हैं। जो शब्दब्रह्म (वेद) को समझने में निष्णात (कुशल) है, वही परब्रह्म के स्वरूप को समझने में एवं उसे प्राप्त करने में समर्थ होता है। परब्रह्म की प्राप्ति में प्रमुख साधन वेद है[४] और उस वेद को समझने के लिए ऋषि, छन्द, देवता और स्वर को समझना[५] प्राथमिकरूप से अनिवार्य है।[६] इनमें भी प्रमुखरूप से एवं सर्वप्रथम जानने योग्य ऋषितत्त्व ही है–

ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच्छन्दस्तु तदनन्तरम्।
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः॥ (बृ०दे० ८.१३८)

इसीलिए इस लेख में केवल ऋषिविषय की ही मीमांसा की जा रही है।

ऋषि शब्द का अर्थ कोषकारों के अनुसार वेद, वशिष्ठादि, दीधिति (प्रकाश, आभा, किरण) आदि हैं। तद्यथा–

ऋषिर्वेदे वशिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम् (मे०को० ३१.६)।
ऋषिस्तु वेदे भृग्वादौ ज्ञानवृद्धे दिगम्बरे (वै०को० ६.१.९)।

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर२०१८), आर्ष-ज्योति (अप्रैल-जुलाई २०२०) में प्रकाशित है।

१. द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परञ्च यत्......(ब्र०उप० १७, तु०वि० पु० ६.५.६५)।

२. देवत्तं ब्रह्म गायत (ऋ० ८.३२.२७,अपि च द्रष्टव्य- सायणभाष्य- ऋ० ८.३७.२७;१.३.५,६;१.४७.२); वेदो ब्रह्म (जै०उप० ब्रा० ४.२५.३); ब्रह्म वै मन्त्रः (शत०ब्रा० ७.१.१.५); ब्रह्म वा ऋक् (कौ०ब्रा० ७.१०)।

३. द्र० ''वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम''(१.५) शीर्षक लेख (पृ०५०)।

४. नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तै०ब्रा० ३.१२.९.७)।

५. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वार्च्छति गर्ते वा पात्यते मीयते पापीयान् भवति....तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात् (आ० ब्रा० १.१.६)। अपि च द्र० छा० उप० १.३.९। ऋषिछन्दो-दैवतादिज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्..... अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥ (बृ०दे० ८.१३५-१३६)। मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छति (ऋ०सर्वा०, परि० ३)। तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते (स्कन्दस्वामी, ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में)। [मन्त्रेषु त्रैस्वर्यम्] अर्थावबोधनार्थं भविष्यति (मी० शा० भा० ९.२.३१)। स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते (या०शि० २४)। आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च। वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥ अविदित्वा तु यः कुर्याद् यजनाध्ययनं जपम्। होममन्यच्च यत् किञ्चित् तस्य चाल्पं फलं भवेत्॥ (बृ० या०स्मृ० १.२७)।

६. जब दैवीभाषा संस्कृत मातृभाषा के रूप में विद्यमान थी, तब वेदार्थावबोध के लिए ऋषि आदि को प्राथमिकरूप से

ऋषिशब्द चेतनायुक्त वशिष्ठादि मनुष्यविशेषों के लिए प्रयुक्त होता है, यह तो सर्वविदित है। शब्दात्मक (अचेतन) वेद के लिए 'ऋषि' शब्द कैसे प्रयुक्त हुआ? यह विचारते हैं– यास्क मुनि के अनुसार द्रष्टा को ऋषि कहते हैं– "**ऋषिर्दर्शनात्**" (निरु० २.११)।[१] सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय रूपी सभी अवस्थाओं में समानरूप से सब कुछ देखने व जानने वाला होने से परमात्मा 'ऋषि', महर्षि' कहलाता है।[२] परमात्मा के लिए वेद (स्वयं ईश्वर) ने भी 'ऋषि' शब्द का प्रयोग किया है – "**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः**" (ऋ० १०.८१.१, यजु० १७.१७, तै०सं० ४.६.२१, मै०सं० २.१०.२, का०सं० १८.१)। इसलिए परमात्मा अद्वितीय[३] तथा आदि[४] ऋषि है। यही ऋषि शब्द का मुख्य अर्थ है।[५] ऋषि (परमात्मा) के द्वारा साक्षात् उपदिष्ट होने से और परमात्मा का दर्शन कराने से (दर्शनात्) वेद भी ऋषि पद का अर्थ है।[६] यह अर्थ भी हमें वेदों में प्राप्त होता है– "**ऋषिचोदनः**"(ऋ० ८.५१.३)= **ऋषीणां मन्त्राणां चोदनः प्रेरकः** (द्र०, सा० भा०)। इसी अर्थ में यही शब्द महाभारत में भी मिलता है– "**ऋषिचोदितम्**" (शान्ति० ११.१९)= **ऋषिणा मन्त्रेण बोधितम्** (नी० भा०)।[७] पाणिनि आदि व्याकरण के आचार्यों ने भी वेद के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग किया है– "**कर्तरि चर्षिदेवतयोः**" (अष्टा० ३.२.१८६)– **ऋषिः वेदमन्त्रः** (सि० कौ० ३१६७), **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (अष्टा० १.१.१६), **अप्लुतवदुपस्थिते** (अष्टा० ६.१.१२९)– उपस्थितोऽनार्ष इतिशब्दः। ऋषिः=वेदः, आर्षः=वैदिकः, अनार्षः=अवैदिकः। वेद के लिए 'ऋषि' शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ के सम्बन्धी होने से गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८]

देवताओं के लिए भी ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है । यथा– **अग्निर्ऋषिः** (ऋ० ९.६६.२०, यजु० २६.६, तै० आ० २.५.२)। **इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः** (ऋ० ८.१६.७) । **सोमो मीढ्वान् पवते गातुवित्तम ऋषिर्विप्रो विचक्षणः** (ऋ० ९.१०७.७) इत्यादि। इन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्दों से परमात्मा का ग्रहण करने पर[९] इन में भी ऋषिशब्द परमात्मा का ही वाचक होगा, उससे भिन्न अन्य देवताओं का नहीं।

ईश्वर के अनुग्रह से एवं वेदज्ञान की सहायता से जो व्यक्ति कठोर तप करके अलौकिक और ईश्वर, आत्मा आदि अतीन्द्रियविषयों को देखने अर्थात् जानने में समर्थ होता है, वह भी (दर्शनाद्) 'ऋषि' कहलाता है[१०],

---

जाना जाता था। पर आज प्राथमिकरूप से व्याकरण, निरुक्त आदि से सम्पुष्ट संस्कृतभाषा को जानना होगा।

१. तुलना– एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (निरु० ७.३)।

२. ऋषति ज्ञानाति ज्ञापयति गच्छति गमयति प्राप्नोति प्रापयतीति ऋषिः परमात्मा। ऋषिम् = अतीन्द्रियस्य कर्मफलस्य द्रष्टारम् (सायण, ऋ० ९.५४.१)। यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः (तै०आ० १०.१०.३)। यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः (श्वे०उप० ३.४)।

३. नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा (बृ०उप० ३.७.२३)।

४. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः० (ऋ० १.३१.१)। ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा (ऋ० ८.६.४१)।

५. "न तस्य प्रतिमा अस्ति०" (यजु० ३२.३) का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' है, "नासदासीन्नो सदासीत्०" (ऋ० १०.१२९) सूक्त का ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है, इत्यादि ऋषिवाची शब्दों से उक्त मत स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

६. ऋषिभिः=अतीन्द्रियार्थप्रकाशकैर्मन्त्रैः (सायण, ऋ० १.१८९.८)।

७. अपि च द्र० ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् (म०भा०, शान्ति २१७.२)।
ऋषिर्वेदः, स एव नारायणवाक्यत्वान्नारायणः (नी०भा०)।

८. यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोऽर्थो मुख्यः .....यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चाद् भावाज्जघनमिव भवतीति जघन्यः। गुणसम्बन्धाच्च गौण इति (मी०शा०भा० ३.२.१)।

९. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। (यजु० ३२.१; अपि च द्र० ऋ० १.१६४.४६,१०.११४.५, अथर्व० १३.४.३-४, निरु० ७.४-५)।

१०. तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणाम् ऋषित्वम् इति विज्ञायते (निरु० २.११, तु०

पर यह भी गौण प्रयोग ही है। क्योंकि मनुष्य की अधिकतम देखने (जानने) की शक्ति भी सीमित ही होती है, वह भी अपेक्षित व अभीष्ट कुछ अतीन्द्रिय विषयों को ही देखता है, न कि सब कुछ। इसलिए व्यापक अर्थ वाले शब्द का किसी सीमित अर्थ में प्रयुक्त होना ही गौणप्रयोग या भाक्तप्रयोग कहलाता है। कालान्तर में यही गौणप्रयोग प्रसिद्ध हो गया है और अतिव्याप्त भी होने लगा। इस अतिव्याप्ति का दिग्दर्शन हम आगे करायेंगे। मुख्यार्थ तो अदृश्य (ओझल) ही हो गया है।

तर्क अर्थात् ऊह को भी ऋषि माना गया है– ''**पुरस्ताद् मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति? तेभ्य एतं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्**'' (निरु० १३.१२)। ऋषियों की परम्परा के समाप्त होने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि ऐसी स्थिति में हमें वेदार्थ का बोध कराने वाले ऋषि कौन होंगे? तब देवताओं ने मनुष्यों को तर्क (ऊह, विवेचना, मीमांसा) रूपी ऋषि को प्रदान किया, यही ऋषि मन्त्रार्थविषयक चिन्तन एवं ऊहापोह (तर्क-वितर्क) कर वेदार्थ बतलायेगा। साथ में यह भी कहा गया है कि तर्क श्रुति के अनुकूल होना चाहिए, न कि श्रुतिविरुद्ध शुष्कतर्क– ''**मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः**'' (निरु० १३.१२)। इस तर्क के स्वरूप व लक्षण के विषय में न्यायदर्शनकार कहते हैं– ''**अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थमूहस्तर्कः**'' (न्याय० १.१.४०) अज्ञात विषय के तत्त्व (यथार्थता) को जानने के लिए प्रामाणिक एवं सहेतुक ऊह करना ही तर्क कहलाता है । ऐसे वेद के अविरुद्ध तर्क को भर्तृहरि ने भी चक्षु (दर्शक, ऋषि) कहा है – ''**वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्**'' (वा०प० १.१३५)।

यह तर्करूपी ऋषि अत्यन्त गौण अर्थ में है । यहाँ कोई अलौकिक या अतीन्द्रियविषय के प्रत्यक्षीकरण का कोई उल्लेख नहीं है। यह तो ऋषि-परम्परा के नष्ट होने पर वेदार्थ के बोध के लिए सुझाया गया एक उपायमात्र है। ऋषियों के अभाव में कोई भी वेदार्थ का त्याग न करें, वेदार्थ तक पहुंचने का पुरुषार्थ अवश्य करें, यही यास्काचार्य का अभिप्राय है। इसी प्रसंग में यास्क ने यह भी कहा है कि– ''**न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति**''(निरु० १३.१२)– जो प्रकरण के अनुकूल वेदशास्त्राविरुद्ध तर्क (विचार) कर नहीं सकता, शास्त्रीयाध्ययनरूपी तप जिसने नहीं किया, उसे वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। हाँ, जो प्रकरणानुकूल अर्थ का जानने वाला (तर्क ऋषि) है और जो बहुश्रुत अर्थात् अनेकों शास्त्रों में जिसने तप किया हो, ऐसा व्यक्ति वेदार्थ को जानने में प्रशस्त (सफल) होता है। ऐसे विद्वान् को बौधायन-गृह्यसूत्रकार ने भी 'ऋषि' उपाधि से विभूषित किया है– ''**चतुर्वेदाद् ऋषिः (इत्यभिधीयते)**'' (बौ०गृ० १.७.७)।[1] जो चारों वेदों को कण्ठस्थ कर अर्थ करने में कुशल व प्रशस्त हो वह विद्वान् (भी) ऋषि कहलाता है।[2] महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों में आगत ऋषिशब्द का प्रायः यही अर्थ किया है। यथा– **ऋषिम्**= वेदपारगाध्यापकम् (ऋ० १.११७.३), **ऋषिभिः**= मन्त्रार्थद्रष्टृभिः अध्यापकैस्तर्कैः (ऋ० १.१.२), **ऋषिः**=मन्त्रार्थद्रष्टा विद्वान्

तै०आ० २.९.१, शत०ब्रा० ६.१.१.१)। ऋषयः=अतीन्द्रियार्थस्य द्रष्टारः (सायणः, ऋ० १०.६२.५)। ऋषिः=यः परोक्षं पश्यति तम् ऋषिमाहुः (वेंकटमाधवः, ऋ० ९.९६.६, द्र० सायणोऽपि)। ऋषिम्=वेदमन्त्रार्थद्रष्टारं जितेन्द्रियतया शुभगुणानां सदैवोपदेष्टारं सकलविद्याप्रत्यक्षकारिणम् (दया०, ऋ० १.१०.११)। ऋषिस्तु ....ज्ञानवृद्धे (वै०को० ६.१.९)।

१. इससे पूर्व एवं पश्चात् के सूत्र भी बड़े ही महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यातव्य हैं– ''ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्राग् उपनयनाद् जात इत्यभिधीयते'' ।।१।। [महाभाष्यकार पतञ्जलि के शब्दों में वह 'जातिब्राह्मण' (२.२.६, ५.१.११५) अर्थात् उसकी जाति (वंश) ब्राह्मण है, वह स्वयं नहीं ।] उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिद् अधीत्य ब्राह्मणः (इत्यभिधीयते)।।२।। एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ।।३।। अङ्गाध्याय्यनूचानः ।।४।। कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ।।५।। सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ।।६।। चतुर्वेदाद् ऋषिः ।।७।। अत ऊर्ध्वं देवः (इत्यभिधीयते) ।।८।।

२. यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः (शत०ब्रा० ४.३.४.१९), एते वै विप्रा यद् ऋषयः (शत०ब्रा० १.४.२.७)।

विद्याप्रकाशकः (ऋ० १.६६.२), अध्यापकोऽध्येता वा (ऋ० १.१०६.६), **ऋषयः**=वेदार्थविदो विद्वांसः (ऋ० १.१६२.७) इत्यादि। अपि च द्रष्टव्य– यजुर्वेदभाष्य ३४.४९ आदि।

अभी तक हमने ऋषि के चार अर्थ देखें हैं – १. सर्वद्रष्टा परमात्मा, २. परमात्मा का दर्शन कराने वाला वेद, ३. अतीन्द्रिय विषय का द्रष्टा और ४. वेदार्थ का द्रष्टा विद्वान्। ये चारों अर्थ क्रमशः मुख्य, गौण, गौणतर और गौणतम हैं। इसे यहाँ विशेषतया ध्यान रखना चाहिए। अब हमारा प्रमुखतया विवेचनीय विषय यह है कि वेदमन्त्रों के ऊपर उल्लिखित ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों में से ऋषि का स्वरूप क्या है? ऊपर के चारों अर्थों में से किस अर्थ का ग्रहण करना चाहिए? इसके समाधान में सामान्यतया कहा जाता है कि– मन्त्रार्थ का दर्शन सर्वप्रथम जिस-जिस ऋषि को हुआ है और उस दृष्ट अर्थ को उन्होंने अन्यों को पढ़ाया है, उस-उस ऋषि का नाम स्मरण के हेतु उनके द्वारा दृष्ट मन्त्रों के साथ लिखा जाता है। इस मत में अनेकों बिन्दु विचारणीय हैं। यथा–

१. यदि मन्त्रों के साथ उल्लिखित ऋषियों ने ही सर्वप्रथम अर्थ का दर्शन किया है, उनसे पूर्व किसीने भी नहीं किया, तो अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा ऋषियों को साक्षात् परमात्मा से जो ऋग्वेदादि प्राप्त हुए हैं,[1] क्या उन्हें अर्थ रहित मन्त्र ही प्राप्त हुए थे ? यदि ऐसा है तो अर्थरहित मन्त्रों में वेदत्व (ज्ञानत्व) कैसे सम्भव है ? जिस उद्देश्य से परमात्मा ने वेदों का ज्ञान (?) दिया है, वह विना अर्थ के कैसे सिद्ध होगा? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है, विना अर्थ के तो शब्दत्व की ही हानि होगी।

२. यदि कोई कहे कि अग्नि आदि ऋषियों को अर्थ के साथ मन्त्र प्राप्त हुए थे, परन्तु उन्होंने किसी को पढ़ाया नहीं। यह तो सर्वथा ही असत्य है, क्योंकि यदि वे अन्यों को नहीं पढ़ाते, तो वेदों की परम्परा आगे कैसे चलती? यह भी मान्यता है कि उन्हीं अग्नि आदि चार ऋषियों से चारों वेदों का ज्ञान ब्रह्मा को प्राप्त हुआ था और ब्रह्मा ने अन्यों को पढ़ाया है, तो क्या ब्रह्मा को अर्थ रहित ही चार वेद पढ़ाये गये थे? और ब्रह्मा ने अन्यों को क्या अर्थहीन मन्त्रमात्र ही पढ़ाया था?

३. सभी प्रामाणिक आचार्य मानते हैं कि सर्गारम्भ में ऋषियों को जो वेद प्राप्त हुए हैं, वे 'सुप्तप्रबुद्धन्याय'[2] से अर्थ के साथ प्राप्त हुए हैं। पुनः यह कैसे उचित या सत्य हो सकता है कि मधुच्छन्दादि ऋषियों ने ही सर्वप्रथम मन्त्रार्थ का दर्शन किया है, उनसे पूर्व अन्य किसीने भी नहीं किया?

४. स्मरण हेतु केवल मधुच्छन्दा आदि नाम ही क्यों लिखे जा रहें हैं ? अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मा का स्मरण अनिवार्यतया क्यों नहीं किया जाता है ? इनका तो उल्लेख कहीं कहीं ग्रन्थों में ही हुआ है। क्या ये वेदनामों के साथ स्मरण के योग्य नहीं हैं? जब कि ये ऋषि वेदपरम्परा के मूल पुरुष हैं।

५. स्मरण हेतु मधुच्छन्दादि नामों का मन्त्रों के साथ संयोजन, क्या वे ऋषि स्वयं किये हैं या अन्यों ने किया है ? वे स्वयं ही अपने-अपने नामों को देवतादि के साथ संयुक्त किये हैं, ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के यश की कामनापरक प्रवृत्ति ऋषियों में नहीं देखी जाती है, वह भी वेदार्थदर्शन के काल में तो सर्वथा असम्भव है। यदि अन्यों के द्वारा संग्रह किया गया है, ऐसा माना जाय, तो और अधिक आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं– वे मधुच्छन्दादि मन्त्रद्रष्टा ऋषि क्या एक ही स्थान के निवासी और समकालीन थे ? जिससे संग्रहकार्य सरलतया सम्भव हो सका। या एक स्थानीय होते हुए भिन्न-भिन्न काल के थे ? या समकालीन होते हुए विभिन्न स्थानों के

१. यत्र ऋषयः प्रथमजाः ऋचः साम यजुर्मही (अथर्व० १०.७.१४), यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्० (अथर्व० १०.७.२०)।

२. प्रातः जागने पर जैसे हमें पूर्व दिन का ज्ञान व स्मरण बना रहता है, वैसे ही प्रलयान्त में अर्थात् सृष्टि के आदि में अग्नि आदि ऋषियों को अर्थ के साथ सभी मन्त्रों का स्मरण बना रहता है । इतने सुदीर्घ प्रलयकाल (४ अरब ३२ करोड़ वर्ष) तक स्मरण बना रहना, वह भी प्रलयावस्था में अर्थात् शरीरादि के अभाव की स्थिति में स्मृत होना तो परमात्मा की कृपा के विना सम्भव ही नहीं है।

निवासी थे ? सर्वथा एकान्त वनों में विद्यमान मन्त्रद्रष्टाओं के नामों का संग्रह किसने किया ? कैसे किया ? इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इतना महत्वपूर्ण विषय अवर्णित कैसे हो सकता है? वैदिक काल में नामसंग्रह का प्रयोजन व उद्देश्य भला क्या हो सकता है ? संग्रहकर्ता मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के समकालीन था या अनन्तर कालीन? संग्रहकर्ता एक ही था या अनेक ? संग्रहकार्य पूर्ण हुआ था या नहीं ? संग्रहकर्ता यदि पश्चाद्भावी है तो संग्रहकार्य को घूम-घूम कर प्रसिद्धि के आधार पर ही सम्पन्न किया होगा।

६.मधुच्छन्दादि वैदिक ऋषियों को व्यक्तिविशेषों (मन्त्रद्रष्टाओं) के नाम हैं, ऐसा मानने पर विभिन्न प्रकार के अनेकानेक प्रश्न भी उपस्थित होते हैं। यथा– कुछ मन्त्रों का ऋषि सर्प, कपिञ्जल, कपोत, सुपर्ण, गोधा, मत्स्य, नदी, पर्वत, बिन्दु आदि हैं। ये ऋषियों के नाम कैसे हो सकते हैं ? या सर्पादि मन्त्रद्रष्टा ऋषि कैसे हो सकते हैं? संवाद सूक्तों में ऋषि का मन्त्रप्रतिपाद्य देवता के साथ संवाद देखा जाता है, यह कैसे सम्भव है? इत्यादि प्रश्न विद्वत्समाज में बहुत चर्चित हैं। जिनका समाधान सम्भव नहीं है। लेखक की दृष्टि में यह सब सर्वथा उपेक्षणीय है। अब हम यथार्थ ऋषितत्त्व की ओर प्रस्थान करते हैं –

निरुक्तकार यास्कमुनि लिखते हैं– "**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति**" (निरु० ७.१)। इस वचन के आधार पर यह अवधारणा बना ली गयी है कि जिस कामना से ऋषि (व्यक्तिविशेष) जिस देवता में प्रतिपाद्यत्व को चाहता हुआ स्तुति करता है, उसे ही मन्त्र का देवता कहा जाता है। यहाँ ऋषि से व्यक्तिविशेष का ही ग्रहण किया जाता है, जिससे अनेकों असमाधेय संशय उत्पन्न होते हैं। पर यह गौण अर्थ है, यह पूर्व में कह चुके हैं। मुख्यार्थ के असम्भव होने पर ही गौण अर्थ का ग्रहण करना शास्त्रसम्मत है[1], पर मुख्यार्थ के सम्भव होने पर भी गौणार्थ का ग्रहण करना अन्याय्य, अनुचित ही माना जाता है।[2] इसीलिए महर्षि दयानन्द मुख्यार्थ का ही ग्रहण करते हुए निरुक्तवचन की व्याख्या इसप्रकार करते हैं– '**ऋषि=सर्वदृक् ईश्वर** जिसकी कामना करता हुआ = इस अर्थ का (मनुष्यों को) उपदेश करूँ, वह जिस देवता में अर्थ के स्वामित्व के उपदेश की इच्छा करता हुआ अर्थात् इस अर्थ का यह स्वामी होवे, ऐसा चाहता हुआ स्तुति करता है = उस अर्थ (पदार्थ) के गुणों का कथन करता है, वह मन्त्र उस देवता वाला होता है' (ऋ०भा०भू०, वेदविषय, संस्कृतभाग)। महर्षि की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि ऋषि से यहाँ सर्वद्रष्टा ईश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए। महर्षि ने अन्यत्र भी इसी अर्थ का संकेत भी किया है– "**ऋषिद्विषे=वेद-वेदविद् ईश्वर-विरोधिने दुष्टाय मनुष्याय**" (ऋ० १.३९.१०)। **ऋषिः=ज्ञाता (परमेश्वरः)** (यजु० १७.१७), **सर्वज्ञः (ईश्वरः)** (आर्याभि० २.३०)।

इस मुख्यार्थ के ऋषित्व को समझने के लिए एक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ– कोई व्यक्ति शाम के समय यह कहे कि 'पांच बज गया'। इस वचन का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ सम्भव हैं। जबकि सभी प्रसंगों में वचन (शब्दावली) समान है और शाब्दिक अर्थ भी समान है। अभिप्राय (प्रतिपाद्य) भिन्न-भिन्न है। यह अभिप्राय का भेद वक्ता की इच्छा (कामना) के भेद से हुआ है। इसलिए वक्ता ने किस प्रसंग में, किस उद्देश्य (प्रतिपाद्य) से, किस भाव की अभिव्यक्ति के लिए उस वचन का प्रयोग किया है? यह जानना प्राथमिकरूप से अत्यावश्यक है। अन्यथा वक्ता का अभीष्ट अर्थ गृहीत ही नहीं होगा। अभीष्ट अर्थ के ग्रहण के लिए वक्ता की इच्छा (कामना) को पहले जानना अनिवार्य है। उसके बाद तदनुकूल प्रतिपाद्य जानकर वचन का अर्थ किया जायेगा। ठीक इसीप्रकार ईश्वर के वचनों (मन्त्रों) के विभिन्न अर्थ सम्भव हैं, पर ईश्वर की इच्छा (कामना) किस अर्थ के प्रतिपादन में है, यह जानना प्राथमिकतया, प्रधानतया अनिवार्य है। बस, **ईश्वर की उसी इच्छा को ऋषि कहा**

१. मुख्यार्थता च न्याय्या, न लक्षणार्थता (मी०शा०भा० ३.२.२५)।

२. न हि मुख्यसम्भवे गौणग्रहणमर्हति (मी०शा०भा० ३.३.१६)।

गया है। इसी इच्छा को लौकिक भाषा में 'तात्पर्य' कहा जाता है – **''वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्''**। साथ ही यह भी वाक्यार्थ को समझने के उपायभूत प्रमुख घटकों में से एक है – **'आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य'**। **''तात्पर्यं चात्र ऐश्वर्यं, देवतामहर्षिलोकवृद्धपरम्परातोऽस्मदादिभिर्लब्धम्''** (प०म०, लक्षणानिरूपणम्) – यहाँ तात्पर्य से ईश्वर का ग्रहण करना चाहिए, जो देवता, ऋषि, लोक एवं वृद्धपरम्परा से हमें प्राप्त हुआ है। **वेदार्थ करने में सबसे पहले जानने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण विषय 'ऋषितत्त्व' ही है।[1] इसे जानने के पश्चात् तदनुकूल प्रतिपाद्य (देवता) का बोध होता है, उसके बाद वचन (मन्त्र) का अर्थ छन्द तथा स्वर आदि के आधार पर किया जायेगा।** इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने ऋषि आदियों को जाने विना वेदों को पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञकरना अर्थात् मन्त्रों का विनियोग करना पापकर्म माना है। यदि मधुच्छन्दादि व्यक्तिविशेषों के नाम होते तो वेदार्थ के लिए ऋषिज्ञान अनिवार्य नहीं होता, न ही उसके विना पढ़ना-पढ़ाना आदि पापजनक होता। नामों या व्यक्तियों को जाने विना भी वेदार्थ अक्षुण्ण रहता। पर यथार्थता उससे सर्वथा ही भिन्न है। मन्त्र के ऋषि (ईश्वरेच्छा) को जाने विना मन्त्रार्थ असम्भव है।[2] ईश्वरेच्छा को जानने के लिए तप करना होगा। इसके लिए वेदार्थ के जिज्ञासुओं से अनुरोध किया जाता है कि वे लेखक के लेख (१.५) ''वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम'' को एक बार अवश्य पढ़ें।[3] वेदमन्त्रों के ऋषि ईश्वर का अभिप्राय (कामना) विशेष है, ऐसा मानने पर व्यक्तिविशेषपक्ष में सम्भावित सभी आक्षेप व आशंकाएँ निर्मूल हो जातीं हैं। इसलिए वे सर्वथा उपेक्षणीय तथा त्याज्य हैं।

सूक्त व मन्त्रों के 'ऋषि' के अर्थग्रहण में मुख्यार्थ (सर्वद्रष्टा परमेश्वर की कामना विशेष) का ग्रहण करना चाहिए और मन्त्रों में आगत 'ऋषि' शब्द के अर्थग्रहण में वेद, मन्त्रद्रष्टा, वेदविद् विद्वान् आदि का ग्रहण करना चाहिए। सर्वत्र 'ऋषि' का अर्थ 'मन्त्रार्थद्रष्टा' ही लें, यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। सर्वत्र उस एक ही अर्थ के लेने से बहुतसी असमाधेय विसंगतियाँ आतीं हैं। प्रसंगतः ऋषिशब्द के विभिन्न अर्थों का ग्रहण करना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्यादि में ऐसा ही स्वीकार किया है। मन्त्रों में विश्वामित्र आदि ऋषिनामों के विषय में अधिक चर्चा न करते हुए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सभी वैदिक शब्द यौगिक हैं। इस विषय में वेद स्वयं कह रहा है कि– **''एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि''** (ऋ० ४.३.१६)। हे (अग्नेः वेधः) प्रगतिशील मेधाविन्! (तुभ्यम्) तेरे लिए (एता विश्वा) ये सभी (निण्या) नामरहित[4] अर्थात् रूढ़ शब्दों से रहित (वचांसि) वेदवचन व मन्त्र (नीथानि) कल्याण के मार्ग पर ले चलने वाले हैं। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रों में पठित ऋषिनाम यौगिक हैं, रूढ़ (व्यक्तिविशेषों के नाम) नहीं हैं। मन्त्र व सूक्तों के ऋषि ईश्वरेच्छा के द्योतक होने से वे भी यौगिक ही हैं। इसप्रकार **मन्त्रार्थ के बोधक होने से मन्त्र और अर्थ के समान ऋषि, देवता, छन्द एवं स्वर भी नित्य तथा सनातनतत्व हैं।** इनमें परिवर्तन सम्भव नहीं है। अनुक्रमणीकार आदि आचार्यों ने तो परम्परागत ऋषि, देवता, छन्द और स्वरादि को लक्षणों के साथ प्रकट

---

१. ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयात्० (बृ०दे० ८.१३८)। अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्। वक्ष्यन्त ऋषयस्तस्मात्० (वेंकटमाधव, ऋ० १.१.१)।

२. छान्दोग्योपनिषत्कार ऋषि भी ऋषिज्ञान को वेदार्थ में उपयोगी मानते हैं– ''यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवताभि-ष्टोष्यन् स्यात् , तां देवताम् उपधावेत्''(छां०उप० १.३.९) वह साम जिस ऋचा में हो, उस ऋचा को (उपधावेत्) विचारें। ऋग्विचार का प्रकार कैसा हो? उसे आगे कहते हैं कि – वह ऋचा जिस ऋषि का है और जिस देवता का है, उस ऋषि और देवता का विचार करना चाहिए। तभी स्तुति सम्भव है। स्तुति के लिए अर्थज्ञान आवश्यक है। स्पष्ट है कि स्तुति वा मन्त्रार्थ के लिए ऋषि एवं देवता पर विशेष विचार करना चाहिए।

३. द्रष्टव्य – इसी ग्रन्थ में पृष्ठ ५०-५५।

४. निण्यम्=निर्णामम् (निरु० २.१६), निर्नामधेयम् (सायणः, ऋ० १.३२.१०)।

किया है। जिससे अन्यों को (परम्पराविच्छिन्नों को) उन विषयों का बोध सरलतया हो सके।

अभिप्रायभेद से एक ही वाक्य का प्रसंगवश विभिन्न अर्थ होते हैं, इसे हमने सोदाहरण देख लिया है। वैसे ही ऋषि (ईश्वर की कामना) के भेद से एक ही देवताक मन्त्र का अर्थ भी भिन्न हो जाता है। इसके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है –

यो अ॒ग्निः क्र॑व्य॒वाह॑नः पि॒तॄन् यक्ष॑द् ऋता॒वृधः॑। प्रेदु॑ ह॒व्यानि॑ वोचति दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ॥

(ऋ० १०.१६.११, यजु० १९.६५)

यह मन्त्र ऋग्वेद और वाजसनेय माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है। यजुर्वेद में केवल 'क्रव्यवाहनः' के स्थान पर 'कव्यवाहनः' पाठ मिलता है। शेष पाठ दोनों वेदों में समान है। दोनों ही वेदों में मन्त्र का देवता 'अग्नि' ही है और छन्द भी 'अनुष्टुप्' ही है। पर ऋषि भिन्न-भिन्न है। ऋग्वेद में ऋषि ''यामायनो दमनः'' है और यजुर्वेद में ''शङ्खः'' है। 'यामायनो दमनः' का अर्थ है 'यमगति सम्बन्धी विनाश या विलीनीकरण'। 'शङ्खः' का अर्थ है 'शम् कल्याण (सुखविशेष) का खनन खोज करने वाला जिज्ञासु'। अब मन्त्रार्थ को देखते हैं–

ऋग्वेदीय मन्त्र का अर्थ इसप्रकार है –

(यः क्रव्यवाहनः अग्निः) जो शवमांस का वहन [पञ्चतत्त्वों में विलय] करने वाला अग्नि[1] [ईश्वर] है, (ऋतावृधः) यज्ञ को बढ़ाने वाला वह अग्नि (पितॄन्) पालक सूर्यरश्मि आदियों में (यक्षत् = यजेत्) शव के मांस आदियों को उनमें मिलाता है [संगतीकरण]। वही अग्नि [ईश्वर] (इद् उ) निश्चितरूप से (देवेभ्यः च पितृभ्यः आ = च[2]) दिव्य पदार्थों के लिए और सूर्यरश्मि आदियों के लिए अर्थात् उनकी शुचिता, पवित्रता बनाये रखने के लिए (हव्यानि) घृत, चन्दन, केसर, औषधि आदि हवनीय पदार्थों का ही विनियोग करें, अन्य प्रदूषण निमित्तक दूषित वस्तुओं[3] का नहीं, ऐसा परमात्मा (प्र वोचति) प्रकृष्टरूप से, विशेषरूप से उपदेश दे रहा है।

यजुर्वेदीय मन्त्र का अर्थ इसप्रकार है –

(यः) जो (कव्यवाहनः)[4] क्रान्तदर्शी ईश्वर के वेदोपदेशों का वहन, धारण करने वाला (अग्निः) अग्नि के समान विद्याओं में प्रकाश्यमान, गतिमान् तेजस्वी विद्यार्थी, जो कि (ऋतावृधः) सत्यज्ञान व वेदविद्या में वृद्ध, प्रखरमेधावी है, वह (पितॄन्) ज्ञान से सबका पालन व रक्षण करने वालों का (यक्षत्) सत्कार करता है [यज् = देवपूजा], उनकी संगति में रहता है [यज् = संगतीकरण], अपने को पूर्णतया समर्पण करता है [यज् = दान]। ऐसा जिज्ञासु छात्र (इत् उ) निश्चितरूप से (देवेभ्यः) ज्ञानदाता आचार्यों को और (पितृभ्यः) पिता आदि को (हव्यानि) ग्रहण के योग्य ज्ञान-विज्ञानों को (आ = आगत्य) उनके समीप आकर (प्र वोचति) अच्छी प्रकार सुनाता है या आचार्यों से प्राप्त ज्ञान को (आ=समन्तात्) सर्वत्र, सबको (प्र वोचति) विशेषरूप से उपदेश करता है। पहले आचार्य कव्यवाहन था अब शिष्य भी कव्यवाहन बन गया है। यही उसका शङ्खपन (कल्याणकारक ज्ञान की खोज) है।

यहाँ मन्त्र (वाक्य) के शब्द समान होने पर भी ऋषि (ईश्वर की इच्छा, कामना) के भेद से मन्त्रार्थ का

---

१. शव के मांस आदि का पंचतत्त्वों में विलीनीकरण पृथिवी (में गढ़ना), जल (में बहाना), वायु (में लटकाना) भी करते हैं। पर इन्हें 'क्रव्यवाहन' नहीं कहा जाता है, केवल 'अग्नि' को ही 'क्रव्यवाहन' कहा जाता है, क्योंकि यही सर्वोत्तम वाहन (विलीनीकरण का साधन) है– ''अथ येन (अग्निना) पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद्'' (शत० १.२.१.४)।

२. अस्मिन् (=समुच्चये) एवार्थे... इत्याकारः (निरु० १.४)।

३. जैसे आजकल मिट्टी का तैल, पेट्रोल, टायर आदि रब्बड़, कपड़े आदि का अन्त्येष्टि में प्रयोग करते हैं।

४. कव्यानि = कवेः क्रान्तदर्शिनः प्रभोः प्रशस्तानि उपदेशादीनि कर्माणि वहति वाहयति प्राप्नोति प्रापयति वा सः कव्यवाहनः।

भेद हो गया है। यजुर्वेद के मन्त्र में शङ्ख (विद्या के अन्वेषक) का विषय (देवता– अग्नि=प्रगतिशील विद्यार्थी) वर्णित हुआ है तो ऋग्वेद के मन्त्र में अन्त्येष्टि का विषय (अग्नि=परमात्मा के विलयीकरण के नियम) प्रतिपादित है। वैसे तो ऋग्वेद का वह सम्पूर्ण सूक्त (१०.१६) ही अन्त्येष्टि विषयक है। आदि के छह मन्त्र दीक्षित यजमान की मृत्यु होने पर शंसन में विनियुक्त हैं (द्र० आश्वलायनश्रौतसूत्र – ६.१०.१९) या अन्त्येष्टि में भी विनियुक्त किये जाते हैं। प्रकृत मन्त्र (१०.१६.११) स्वयं चातुर्मास्य के अन्तर्गत साकमेधपर्व के महापितृयज्ञ में विनियुक्त है। और इसी सूक्त के मन्त्र १३ एवं १४ तो अन्त्येष्टि के पश्चात् अस्थिचयन में विनियुक्त हैं। इसीलिए सम्पूर्ण सूक्त का ऋषि 'यामायन दमन' है और मन्त्र में उसी ऋषि के अनुकूल 'क्रव्यवाहनः' शब्द का प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद में विद्यान्वेषक (शङ्ख) का विषय होने से वहाँ मन्त्र में तदनुकूल 'कव्यवाहनः' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रार्थ में ऋषि भी महत्त्वपूर्ण भूमिका को निभाने वाला उपयोगी तत्त्व है। साथ में पुनरुक्त मन्त्रों के पाठभेद के कारण को अभिव्यक्त करने वाला भी है। पुनरुक्त मन्त्र प्रकरण के भेद से और ऋषि आदि के भेद से भिन्नार्थक होते हैं। परन्तु प्रायः वेदभाष्यकार पुनरागत मन्त्रों का प्रकरणादि के अनुकूल नया अर्थ न करके पूर्व में आगत स्थल को देखने का निर्देश करते हैं। जो कि अत्यन्त विघातक एवं दोषावह है।

वेदाध्ययन के त्याग से होने वाली हानियाँ

यन्ति वा आप एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युरेवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः॥ (शत० ब्रा० ११.५.७.१०)

नदियाँ निरन्तर चलती हैं, सूर्य समय पर उदित होता है, चन्द्रमा नियमित गति से चलता है, सभी नक्षत्र नियमित चलते हैं, ये सभी अपने नियमों (व्रतों) का उल्लङ्घन कभी नहीं करते, कभी भी नहीं रुकते। मान लिया कि ये देव कभी गति न करें, अपना कार्य न करें (तो उसका परिणाम कितना भयङ्कर दुःखद होगा)। उसी प्रकार का अनिष्ट ब्राह्मण (वेदविद् विद्वान्) उस दिन करता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता। इसलिए अनिष्ट के निवारण के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करें।

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ (मनु० ५.४)

वेदाध्ययन के त्यागने से, शास्त्रानुकूल सदाचार को छोड़ देने से, आलस्य और अन्नदोष के कारण मृत्यु विद्वानों को मारना चाहती है।

सन्न्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्।
वेदसन्न्यासतः शूद्रः तस्माद् वेदं न सन्न्यसेत्॥ (मनु० ६.९५)

बन्धन के हेतुभूत सभी लौकिक या काम्य कर्मों को त्याग दे, परन्तु वेद व वेद के स्वाध्याय को न त्यागे। क्योंकि इसके त्यागने से व्यक्ति शूद्रसम हो जाता है।

१.२. देवस्यं पश्य काव्यम्*
(वेदार्थ-मीमांसा)

'कवेरिदं कर्म वा काव्यम्' — कवि के द्वारा रचित व उसके उपदेश रूपी कर्म को काव्य कहते हैं। ईश्वर भी एक महान् एवं आद्य कवि (कवियों का कवि) है— **''गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनाम्''**(ऋ० २.२३.१)।[1] यह अजर, अमर, नित्य कवि (परमात्मा) अपने उपदेश रूपी कर्म (काव्य) के द्वारा सभी मनुष्यों की रक्षा चारों दिशाओं (सब प्रकार) से सदा करता रहता है — **''पश्चात् पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परिपाहि राजन्''**(ऋ० १०.८७.२१)। यहाँ स्पष्ट रूप से ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान (वेद) को काव्य कहा गया है और ईश्वर को कवि। इसीप्रकार अन्यत्र भी बहुत्र वेद के लिए 'काव्यम्' शब्द का प्रयोग हुआ है — **''काव्यं छन्दो०''**(यजु० १५.४)।[2] कविशब्द वेद के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। यथा — **''सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति''**(ऋ० १०.११४.५) — ज्ञान से परिपूर्ण करने वाले ज्ञानमय कवि (मन्त्र व वेद) स्तुतिरूपी वाणियों से एक ही ईश्वर को शिव, विष्णु, ब्रह्म, इन्द्र, मित्र आदि अनेकों नामों से वर्णन करते हैं। लोक में कवि[3] और काव्य अलग-अलग होते हैं, पर यहाँ वेद ही कवि है और काव्य भी हैं — **''एते वै कवयः यद् ऋषयः[4]''**(शत०ब्रा० १.४.२.८)।

काव्य का लक्षण — काव्यशास्त्र के लक्षणकार आचार्यों ने काव्य का लक्षण इसप्रकार किया है —

१. **गुणालङ्कारसङ्गतावदुष्टौ रसवच्छब्दार्थौ काव्यम्** (का०सू०१.४)।

२. **गुणालङ्काररीति[5]रसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम्** (वाग्भट्टः)।

३. **निर्दोषं गुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तिमद्वाक्यं काव्यम्** (पीयूषवर्षजयदेवः)।

४. **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** (सा०द०१.२)।

५. **रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्** (पण्डितराजजगन्नाथः)।

इत्यादि लक्षणों से लक्षित मुख्य काव्यत्व वेदों में ही घटित होता है। महाकवि भारवि ने प्रसंगान्तर से वेद के काव्यत्व की प्रशंसा इसप्रकार की है—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्,
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वगति निराकुलम्।
न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे,
अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम्॥

(किरातार्जुनीयम्— ११.३८.३९)

---

* यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१९ और मार्च २०२०) में खण्डशः प्रकाशित है।

१. अनन्तमव्ययं कविम् (तै०आ०१०.१.२)। कविर्मनीषी०(यजु०४०.८)।

२. त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः (शत० ब्रा० ८.५.२.४) [छन्दः = वेदः]। प्रत्नं नि पाति काव्यम् (ऋ० ९.६.८) [प्रत्नम् = पुरातनम्, प्राचीनम्]।

३. ये विद्वांसस्ते कवयः(यजु०१२.६७; शत०ब्रा०७.२.२.४)। शुश्रुवांसो हि कवयः (तै०ब्रा० ३.२.२.३)।

४. ऋषिः = वेदः

५. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टापदरचना रीतिः (का०सू० २.६—७)।

वेदरूपी काव्य विविध अलंकार, रस आदि से रमणीयार्थप्रतिपादक, स्वरादि से ओजस्वी, अर्थगाम्भीर्य से युक्त, अल्पशब्दों में अनल्पभावों को अभिव्यक्त करनेवाला, परस्पर साकाङ्क्ष पदों से युक्त अर्थात् निराकांक्ष पदों से रहित, अध्याहार्य पदों से रहित, सम्पूर्ण अर्थों का प्रतिपादक, संकुचितार्थक (रूढ़) पदावलि से विहीन, मीमांसा के न्यायों (अधिकरणों) से निर्णीत सारवाला अर्थात् निर्दुष्टार्थक वाक्यप्रबन्ध है, जिसकी प्रामाणिकता अन्यान्य शास्त्रों से नहीं, अपितु स्वतः है।

काव्य पद्यात्मक होता है, तो गद्यात्मक एवं गद्यपद्यात्मक वेदभागों का काव्य नाम कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि काव्य पद्य, गद्य तथा उभयविध भी होता है – "**गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम्**" (का०शा० १.८)। अतः ऋग्, यजु, साम और अथर्व सभी वेद काव्यपदवाच्य हैं। काव्य के काव्यत्व को समझने केलिए केवल शब्द-शब्दार्थ का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। उसके लिए उनसे अतिरिक्त शब्दचयनरूपी रीति, रस, अलंकार, स्वर, ध्वनि, छन्दादि का ज्ञान भी अनिवार्य है।[1] पर प्रस्तुत लेख केवल छन्दविषय तक ही सीमित है।

छन्द और शब्द के बीच में एक अविनाभाव (अटूट) सम्बन्ध है। भरतमुनि ने कहा भी है कि– "**छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्**" (ना०शा० १५.४२) छन्द रहित न कोई शब्द है, न ही शब्दरहित कोई छन्द है। यहाँ शब्द का तात्पर्य गद्य, पद्य व मिश्रित काव्य अभिप्रेत है। काव्य की गति लय, यति, रस, माधुर्य आदि पर आश्रित होती है। रस, माधुर्य आदि व्यञ्जनध्वनियों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि व्यञ्जन वर्णों से नादसौन्दर्य प्रकट होता है। स्वर (अच्) वर्णों (अक्षरों) से छन्दनिर्मित होते हैं, क्योंकि अचों का धर्म है – ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि। इन्हीं ह्रस्वादियों से छन्दों का निर्माण होता है। इसीलिए काव्यों में व्यञ्जन शरीर हैं, तो स्वर (अज्ध्वनियाँ) प्राण हैं। उस प्राणभूत स्वरों से उत्पन्न छन्द काव्य का जीवन (मूलभूत आधार) है। इसीलिए आचार्य दण्डी काव्य में छन्द के महत्व को बतलाते हुए कहते हैं कि काव्यरूपी विशाल एवं गहन सागर का पार करने के इच्छुक व्यक्ति को छन्दोविद्या (छन्दोज्ञान) नाव जैसा उपयोगी है –

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्॥ (का०आ० १.१२)

ऐतरेय ऋषि ने भी वाणी (छन्दोमय ज्ञान) की समुद्र से तुलना की है – "**वाग्वै समुद्रः, न वै वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते**" (ऐ०ब्रा० ५.१६)। ऐसे अक्षय समुद्रभूत वेदवाणी का तरण नावरूपी छन्दों से होता है– "**छन्दोंभिर्वै देवाः सुवर्गं लोकमायन्**" (तै०सं० ५.२.३.४), "**छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति**" (शत०ब्रा० ६.५.४.७)।

श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाकार ने भी वेदरूपी ब्रह्मलोक में विचरने (समझने) हेतु छन्द को वेदपुरुष के पाद माने हैं – "**छन्दः पादौ वेदस्य...तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते**" (४२)। पैरों के विना जिसप्रकार गति (गमन) सम्भव नहीं है, उसी प्रकार छन्दोज्ञान के विना वेदार्थ में गति (अवगति, बोध) सम्भव नहीं है अर्थात् वेदार्थावगति के लिए पैरों के समान छन्दोज्ञान प्राथमिकतया अनिवार्य है।

आचार्य शौनक ने भी कहा है कि –

"**ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच्छन्दस्तु तदनन्तरम्।**
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः॥" (बृ०दे० ८.१३८)

---

१. इसके लिए लेखक के लेख 'वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम' (१.५; पृ० ५०) और 'ऋषिमीमांसा' (१.१; पृ०१) भी द्रष्टव्य हैं।

मन्त्रार्थ जानने केलिए सर्वप्रथम उस मन्त्र के ऋषि को जानना होगा[1], उसके पश्चात् छन्द और देवता को जानकर उस मन्त्र का कर्मों में विनियोग करना चाहिए अर्थात् कर्म के माध्यम से आध्यात्मिक आदि अर्थों को जानना चाहिए।[2]

"नियमोऽयं जपे होमे ऋषिश्छन्दोऽथ दैवतम्।
अन्यथा चेत्प्रयुञ्जानस्तत्फलाद्धात्र हीयते।।
ऋषिच्छन्दोदैवतादि ज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम्।
तदाश्रित्य प्राणदृष्टिर्विपितात्रेति गम्यताम्।।
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं [3]योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः।।"

(बृ०दे० ८.१३४—१३६)।

अन्य आचार्यों के मन्तव्य भी इसीप्रकार के हैं —

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते पापीयान् भवति...तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्" (आ०ब्रा० १.१.६)। अपि च द्रष्टव्य— ऋ०सर्वा०, परि० ३)। इसी अभिमति के अनेकों आचार्यों के वचनों को ऋक्सर्वानुक्रणी के परि० २ के सूत्रभाष्य में षड्गुरुशिष्य ने उद्धृत किये हैं। वे वहीं द्रष्टव्य हैं।

छन्दःपद का अर्थ और निर्वचन —

१. **चन्देरादेश्च छः** (उणादि० ४.२२०)— **चन्दयत्याह्लादयति, चन्द्यतेऽनेनेति वा छन्दः** अर्थात् रमणीयार्थता से, काव्यत्व से आनन्दित करने वाले मन्त्रादि को 'छन्दः' कहा जाता है। यहाँ **'चदि आह्लादने दीप्तौ च'** (भ्वा०५६) धातु से छन्दः शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

२. **तान्यस्मा (प्रजापतये) अच्छदयंस्तानि यदस्मा अच्छदयँस्तस्माच्छन्दांसि** (शत० ब्रा० ८.५.२.१) उन्होंने प्रजापति को बलवान् या प्राणवान् किया, इसलिए इनको छन्द कहते हैं। इससे यह निर्वचन लक्षित होता है कि **"छदयन्ति बलवन्तं प्राणवन्तं वा कुर्वन्तीति[4] छन्दांसि"**। यहाँ छद अपवारणे (चुरादि० २६०) धातु से छन्दः शब्द निष्पन्न है।

३. **दे॒वा अ॑सुरान् ह॒त्वा मृ॒त्योर॑बिभयु॒स्ते छन्दा॑स्यपश्यं॒स्तानि॒ प्रावि॑शं॒स्तेभ्यो॒ यद्य॒दच्छ॒दय॒न्तेना॒त्मान॑मच्छादयन्त॒, तच्छन्द॒सां छन्द॒स्त्वम्** (मै०सं० ३.४.७; तु०— तै०सं० ५.६.६.१, जै०ब्रा० १.२८४, ऐ०ब्रा० २.१.६, छां०उप० १.४.२, निरु० ७.१२, ऐ०आ० २.१.६)। देवता असुरों को मारकर मृत्यु से डरने लगे, वे छन्दों (मन्त्रों) को अपने रक्षकों के रूप में देखकर, उनसे अपने आपको आच्छादित किया, यही (आच्छादन ही) छन्दस्त्व है।

इन निर्वचनों का तात्पर्य यह निकलता है कि — सतत वेदाध्ययन करते हुए, तद्विहित यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए दुःखकारक पापादि से दूर हों और परमात्मा की सन्निधि की ओर अग्रसर होते हुए आनन्दित

---

१. मन्त्रार्थ में ऋषि की उपयोगिता को जानने के लिए लेखक का 'ऋषि-मीमांसा' लेख (१.१,पृ० १) द्रष्टव्य है।
२. तद् यथेदं पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्ति— एवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति (शत० १.८.२.८)।
३. योगम् = प्रयोगम्।
४. चौरादिकस्य स्वार्थे णिजभावे मित्वार्थोऽयमनुवादः। अनेकार्थत्वाद् ऊर्जेरर्थे वृत्तिः। छदन्तं प्रयुङ्क्ते छन्दयति। बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीत्यर्थः। अन्यत्र छादयति। ...बलीभवति, प्राणीभवति अपवारयति वेत्यर्थः (सि०कौ०, धातु० ८१३)।

होना एवं मृत्युञ्जय बनना यही आत्मपथ का रक्षात्मक आच्छादन है, यही छन्दस्त्व है। वेदमन्त्रों का यही छन्दस्त्व शतपथब्राह्मण (१.१.४.१–४) में भिन्नरूप में वर्णित है। हम यहां उसका सारमात्र प्रस्तुत कर रहें हैं – ''यजमान (पुरोडाश के निर्माण हेतु) यज्ञ पूर्णता के लिए कृष्णमृग के चर्म (कृष्णाजिन) का ग्रहण करता है,'' क्योंकि यज्ञ देवों से दूर होकर कृष्णमृग बनकर विचरने लगा। देव उसे पहचान कर मृग के चर्म का ग्रहण किया। उसके जो काले वर्ण के लोम हैं, वे ऋचाओं के प्रतीक हैं, जो शुक्ल वर्ण के लोम हैं, वे साममन्त्रों के द्योतक हैं और जो बभ्रू व हरित वर्ण के लोम हैं, वे यजुर्मन्त्रों के सूचक हैं, अर्थात् कृष्णाजिन त्रयीविद्या का बोधक है और यह त्रयीविद्या ही यज्ञ है **(सैषा त्रयी विद्या यज्ञः)**। उसी में यज्ञ की सम्पूर्णता है, इसीलिए दीक्षाकाल में यजमान कृष्णाजिन का धारण करता है, अपने को उससे आच्छादित करता है। मानो वह त्रयीविद्या से अपने को आच्छादित किया है। उससे वह मृत्युभय से दूर होकर अमर होजाता है, 'शम्' को प्राप्त करता है। 'चर्म' के धारण से 'शर्मा' (सुखी) बन जाता है। त्रयीविद्या (ऋक्, यजुः, साम मन्त्र) रूपी आच्छादन के द्वारा मृत्युभय से दूर होकर आनन्द (शर्म) को प्राप्त होना ही मन्त्रों का छन्दस्त्व (छन्दःपन) है।

अभी तक हमने मन्त्रों के छन्दःसामान्य को देखा है। अब छन्दोविशेष की ओर प्रस्थान करते हैं। ''**अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः**'' (ऋ० १.१६४.२४)।[१] अक्षर (के संख्याभेद) से वेदवाणी (वेद के सभी मन्त्र) सात प्रकार से विभाजित (परिमापित) की जाती है। संख्याभेद के प्रकार को स्पष्ट करता हुआ अथर्ववेद कहता है कि– ''**सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि**'' (अथर्व० ८.९.१९) सात विभागों में विभक्त चारों वेदों के सभी मन्त्र चार-चार अक्षरों की वृद्धि से एक दूसरे पर आधारित होते हैं।[२] वे सात छन्द कौन-कौन से हैं– **गायत्र्युंष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै** (अथर्व० १९.२१.१)। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि –

> **अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव।**
> **अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥**
> **विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।**
> **विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश तेन चक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥**
>
> (ऋ० १०.१३०.४–५)

इन मन्त्रों में गायत्री आदि सात छन्दों के नाम और उनका अग्नि आदि देवताओं के साथ सायुज्य (सम्बन्ध) का भी स्पष्ट वर्णन है। पिंगल छन्दःसूत्र (३.६३) में भी इसी प्रकार के सम्बन्ध का वर्णन है। वह इस प्रकार है –

छन्द	अक्षर	देवता[३]	छन्द	अक्षर	देवता
गायत्री	२४	अग्नि	पंक्ति	४०	मित्रावरुण
उष्णिक्	२८	सविता	त्रिष्टुप्	४४	इन्द्र
अनुष्टुप्	३२	सोम	जगती	४८	विश्वेदेव
बृहती	३६	बृहस्पति			

१. सप्त हस्तासः (ऋ० ४.५८.३)= सप्त छन्दांसि (निरु० १३.७)। सप्त वाणीः = गायत्र्यादिसप्तछन्दोन्विताः वेदवाचः (दया०, ऋ० १.१६४.२४)। अभि वाणीर्ऋषीणां सप्त नूषत (ऋ० ९.१०३.३)= वेदों की सप्तविध वाणियाँ (छन्द) स्तुति करती हैं।

२. चतुरुत्तरैरेव छन्दोभिरेतव्यम् ॥ पशवो वै चतुरुत्तराणि छन्दांसि, पशुभिरेव तत् स्वर्गं लोकमाक्रममानयन्ति ॥ (तां०ब्रा० ४.४.५–६)।

३. तै०सं० ३.१.६.२-३ में इन्हीं छन्दों का देवताभेद से उल्लेख मिलता है।

यजुर्वेद (१४.१८–२०) में भी कुछ अन्य छन्दोनामों का लोक तथा देवता के सम्बन्ध के साथ निर्देश प्राप्त होता है –

छन्द	लोक	देवता[1]	छन्द	लोक	देवता
मा	पृथिवी	अग्नि	बृहती	मनः	आदित्य
प्रमा	अन्तरिक्ष	वात	अनुष्टुप्	कृषि	मरुत्
प्रतिमा	द्यौ	सूर्य	विराट्	हिरण्य	विश्वेदेव
अस्रीवय(उपमा)	समा	चन्द्रमा	गायत्री	गौ	बृहस्पति
पंक्ति	नक्षत्र	वसु	त्रिष्टुप्	अजा	इन्द्र
उष्णिक्	वाक्	रुद्र	जगती	अश्व	वरुण

छन्द, लोक एवं देवताओं का यह सम्बन्ध शतपथ ब्रह्मण (८.३.३.५–६) में भी इसीप्रकार प्रदर्शित है। वैदिक छन्द इनसे अतिरिक्त और भी हैं। उन सबके ज्ञान के लिए म०म०पं०श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक का 'वैदिक छन्दो मीमांसा' ग्रन्थ द्रष्टव्य है। गायत्री आदि छन्दों की उक्त अक्षरसंख्या नियत नहीं है, प्रायिक है। एक–दो अक्षर न्यून व अधिक होने पर भी छन्द वही माना जाता है, ऐसा ब्राह्मणकार आचार्यों ने निर्देश किया है– **न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्** (ऐ०ब्रा० १.६; २.३७); **न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति नो द्वाभ्याम्** (कौ०ब्रा०२७.१); **नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्यां न स्तोत्रियया स्तोमः** (शत० ब्रा० १२.२.३.३)। ऐसी स्थिति में छन्दोलक्षणकार आचार्य पिंगलादियों ने एक व्यवस्था दी है। जैसे गायत्री आदि छन्दों की निर्दिष्ट संख्या से एक संख्या न्यून होने पर छन्दोनाम में 'निचृत्' विशेषण जुड़ जाता है, यथा – २३ अक्षर का मन्त्र निचृत् गायत्री। दो अक्षर न्यून होने पर 'विराट्' विशेषण का प्रयोग होता है, यथा– २२ अक्षर का मन्त्र विराट् गायत्री। एक अक्षर अधिक होने पर 'भुरिक्' विशेषण लगाया जाता है, यथा– २५ अक्षर का मन्त्र 'भुरिक् गायत्री' संज्ञक होजाता है और दो अक्षर अधिक होने पर छन्दोनाम 'स्वराट्' विशेषण से विशिष्ट होजाता है, यथा– २६ अक्षर का मन्त्र 'स्वराट् गायत्री' संज्ञक हो जाता है, अस्तु।

किसी भी शास्त्र में उसका अपना विषय सम्पूर्णतया प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। हाँ अधिकतम विषय प्रतिपादित हो जाता है और वह अनुक्त विषय के ऊह के लिए अच्छा मार्गदर्शक भी होता है। जैसे कि व्याकरणशास्त्र में असमाहित वैदिक व लौकिक शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए पाणिनि ने व्यत्यय, बहुल, पृषोदरादि का विधान कर शास्त्रीय ऊह के लिए स्वतन्त्रता एवं व्यापकदृष्टि प्रदान की है। उसी प्रकार छन्दःशास्त्र में प्रतिपादित छन्दों के अतिरिक्त छन्द[2] या अपवादभूत मन्त्र भी प्राप्त होंगे, इतने मात्र से मन्त्रसंहिताओं को अव्यवस्थित, अनियत संग्रह है अथवा वे अशास्त्रीय हैं, ऐसी आशंका कदापि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रत्येक शास्त्रकार को अपने शास्त्र को गौरवदोष से बचाना और लाघवगुण से विभूषित करने का उद्देश्य सदा बना रहता है, जिससे कि जिज्ञासु लोग उत्साह से शास्त्रीयाध्ययन में संलग्न हों, कदापि शास्त्रों से विमुख न हों, अस्तु।

१. तुलना– मै०सं०२.१४।

२. असंख्येयप्रमाणानि वृत्तान्याहुरतो बुधाः(ना०शा० १५.५०)। भरतनाट्यशास्त्र में गायत्री छन्द के ६४ भेद, उष्णिक् के १२८ भेद, अनुष्टुप् के २५६ भेद, बृहती के ५१२ भेद, पंक्ति के १०२४, त्रिष्टुप् के २०४८ भेद, जगती के ४०९६ भेद, ...उत्कृति के ६,७१,०८,८६४ भेदों का वर्णन है (भ०ना०शा०१५.५२–७८)। सभी छन्द प्रयोग के अधीन हैं, क्योंकि सभी छन्द प्रयोग में नहीं आते हैं – ''प्रयोगजानि सर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि'' (भ०ना०शा०१५.५१)।

अब हम शब्दार्थ में छन्द की क्या उपयोगिता है? इस विषय पर विचार करते हैं। छन्द काव्य का एक अभिन्न एवं अनिवार्य अंग है और वह अर्थ के माध्यम से देवों (विद्वानों व दिव्यता के अभिलाषी आत्माओं) का संरक्षक है, ऐसा पूर्व में जाना जा चुका है अर्थात् अर्थाभिव्यक्ति के माध्यम से छन्द आध्यात्मिक पुरुषों का रक्षक व मार्गदर्शक होता है। वह किस प्रकार होता है? इसे समझने का प्रयास करते हैं। वेदमन्त्रों का अर्थ देवता के आधार पर करना चाहिए यह तो सर्वविदित है, पर **अग्नि आदि देवताओं का अर्थ अनेक व अनिश्चित हैं। उनमें से किसी एक अर्थ को सुनिश्चित करने के लिए ही ऋषि, छन्द, स्वर आदि का ज्ञान अनिवार्य होता है**, ऐसा पूर्वाचार्यों का मत है। ऋषि के विषय में हम पूर्व में 'ऋषिमीमांसा' लेख (पृ०१) लिख चुके हैं। अब अर्थविज्ञान में छन्दोविज्ञान की क्या उपयोगिता है? इसे समझने का प्रयास करते हैं।

१. गायत्री छन्द – गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं[१], ये तीन पाद तीन लोक, तीन सवन आदियों के द्योतक हैं[२], प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं और वे आठ अक्षर आठ वसुओं के प्रतीक हैं।[३] गायत्री के तीनों पादों में चौबीस अक्षर होते हैं, वे अक्षर संवत्सर के २४ अर्धमासों (पक्षों) के बोधक हैं। यह संवत्सर ओज, वीर्य, अन्नादि का प्रतीक है।[४] गायत्री छन्द पृथिवीलोक का प्रतिनिधि है।[५] गायत्री की उपासना करने वाला जीवात्मा श्येन (तीव्रगतिशील) होकर शीघ्र ही द्युलोक पहुँचकर वहां सोम (परमात्मा के आनन्दरस) को प्राप्त करता है।[६] इसीलिए गायत्री को ब्रह्म व ब्रह्मवर्चस् या तेज कहा गया है।[७] सोम के आहरण के कारण गायत्री छन्द को यज्ञ का मुख[८] एवं सभी छन्दों में मुख्य, शिरःस्थानीय और तेज कहा गया है[९] और वह अपने तेज से पापों का हनन करता है।[१०] इसी तेजस्विता के कारण गायत्री छन्द को अग्नि कहा गया है, या इसका देवता अग्नि माना गया है।[११] आर्षेय ब्राह्मणकार कहते हैं कि गायत्री छन्द का ऋषि पुष्कल है और देवता अग्नि है।[१२] पाप, अन्धकार आदि का नाश कर ब्रह्म एवं ब्रह्म के आनन्द रस (सोम) को प्राप्त कराने के कारण गायत्री छन्द को

---

१. त्रिपदा गायत्री (जै०ब्रा० ३.६, तां०ब्रा० १०.५.४)।

२. गायत्री वै प्रातःसवनं वहति, गायत्री माध्यन्दिनं सवनं, गायत्री तृतीयसवनं (जै०ब्रा० १.२८९)। इमे वै लोका गायत्री (तां० ब्रां० १५.१०.९)। अपि च (द्र०मै०सं० ४.६.४)।

३. अष्टौ वसंवोऽष्टाक्षंरा गायत्री (तै०सं० ३.४.९.६–७)। अष्टाक्षरा गायत्री (ऐ०ब्रा० २.१७)। बृहस्पतिंरष्टाक्षंरेण गायत्रीमुदंजयत् (तै०सं० १.७.११.१)।

४. चतुंर्विंशत्यक्षरा गायत्री (तै०सं० २.५.१०.३), चंतुर्विंशंतिर्गायत्र्यां अक्षंराणि, चंतुर्विंशतिस्संवत्सरंस्यार्धमासांः...ओंजो वैं वीर्यं ....भ्रांतृव्यस्य वृङ्क्ते, सं निंर्वीर्यः पंराभवति (का०सं० १०.७)। संवत्सरो वै गांयत्री (तै०सं० २.४.३.२)।

५. अयं वै (भूः)लोकोऽगायत्री (ऐ०आ० १.४.३, तां०ब्रा० ७.३.९)।

६. (का०सं० २१.४), (मै०सं० ४.१.१), (शत०ब्रा० ३.४.१.१२) आदि।

७. ब्रंह्म वैं गायत्रीं (मै०सं० ४.७.३, ऐ०ब्रा० ४.११)। ब्रह्मवर्चसं वै गांयत्री (तै०सं० २.५.१०.२, शत०ब्रा० ४.२.४.२०)।

८. यदेवादस्सोममाहरत्, तस्मात् गायत्री यज्ञमुखम्, तस्मात्तेजस्विता (का०सं० २३.१०)।

९. गायत्री छन्दसाम् (मुखम्), (तां०ब्रा० ६.१.६), मुखं गायत्री (छन्दसाम्) (जै०ब्रा० २.१३)। गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता, शिरः (शत०ब्रा० १०.३.२.१), गायत्रं वै व्रतस्य शिरः, तद्धि ब्रह्म (जै०ब्रा० २.४१५)।। गायत्री सर्वाणि छन्दांस्यपियन्ति (जै०ब्रा० १.२९०)। ज्योतिर्वै गायत्री (छन्दसाम्) (तां०ब्रा० १३.७.२), तानीमानि छन्दांस्यब्रुवन्नियं (गायत्री) वाव नः श्रेष्ठेयं वीर्यवत्तमा, या सोममाहार्षीत् (जै०ब्रा० १.२८९)। ज्येष्ठ्यं वै गायत्री (जै०ब्रा० २.३४६)।

१०. तेजो वै गायत्री, तमः पाप्मा रात्रिः, तेन तेजसा (गायत्र्या) तमः पाप्मानं (रात्रिं) तरन्ति (गो०ब्रा० २.५.३)।

११. गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता (शत०ब्रा० १०.३.२.१), अग्निर्हि गायत्री (जै०ब्रा० ३.१८४); अपि च (द्र०शत०ब्रा० १.८.२.१३)आदि।

१२. गायत्रं पौष्कलमाग्नेयम् (आ०ब्रा० १.१.१४)।

ब्राह्मण ही कह दिया गया है।[1] गायत्री वसुओं (ब्रह्मचारियों) की पत्नी (संरक्षिका) है।[2] यह गायत्री प्राणस्वरूपक है।[3]

ऋषियों के इन विचारों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि– यज्ञ एवं उसके अवयवभूत तीन सवन, तीनों लोक, आठ वसु एवं वसुब्रह्मचारी, संवत्सर के पक्ष (अर्धमास), ऋतु, मास, अहोरात्र आदि, अन्न, वीर्य, ओज आदि की प्राप्ति, आध्यात्मिक उच्चतम ज्ञान या प्रगति के उपाय[4], ब्राह्मण्य की प्राप्ति, ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति, पापादि की विमुखता, प्राणविद्या, अग्निविद्या, भूविज्ञान, प्राची दिशा का विज्ञान[5], वर्ष का आरम्भ अर्थात् वसन्त ऋतु का वर्णन, सोमविज्ञान, ब्रह्मलोक का ज्ञान, आत्मविज्ञान, ब्रह्मवर्चस्, ब्रह्मविद्या, स्तुति का प्रकार[6], देवासुरों का स्वरूप, वायुविज्ञान, मनोविज्ञान[7], सुवर्ण–विज्ञान[8], पशुसम्पदा की प्राप्ति[9], चक्षुर्ज्ञान व चाक्षुष्मत्व[10] इत्यादि विषयों के प्रतिपादन के लिए गायत्रीछन्द उपयुक्त है और गायत्रीछन्दस्क मन्त्रों के देवतावाचक अग्नि आदि पदों का अर्थ भी इन्हीं विषयों के अनुकूल कर मन्त्रार्थ जानना चाहिए। इतना ही नहीं, इन विषयों की प्राप्ति के लिए उस उस अर्थके अनुकूल गायत्रीछन्द वाले मन्त्रों का विनियोग व स्तुति कर अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं। यथा– "**गायत्रीषु स्तुवन्ति प्रतिष्ठायै ब्रह्मवर्चसाय**" (तां०ब्रा० १२.९.२३, १३.३.२५ आदि); "**गायत्रीषु पुरुषकामायोक्थानि प्रणयेयुः**" (तां०ब्रा० ८.१०.३) आदि। त्रिवृत्सोम, गायत्री छन्द, अग्निदेवता, ब्राह्मणमनुष्य और वसन्त-ऋतु ये सभी ब्रह्म के मुख से ही उत्पन्न हुए हैं[11], इसलिए इनमें परस्पर सम्बन्ध रहना स्वाभाविक है। पीछे हमने देखा था कि एक-दो अक्षर कम व अधिक होने पर भी छन्द का नाम वही बना रहता है, केवल विशेषण बदलते हैं। उस व्यवस्था के रहने पर भी कुछ विशेष परिस्थिति में छन्दोनिर्णय में संशय उत्पन्न होता है। यथा– २६ अक्षर के मन्त्र को गायत्री की अपेक्षा से दो अक्षर अधिक होने से उसका छन्द 'स्वराड् गायत्री' माना जाय? अथवा उष्णिक् की अपेक्षा से दो अक्षर कम होने से 'विराड् उष्णिक्' माना जाय? इस संशय का भी समाधान उक्त गायत्री के प्रतिपाद्यविषयों या वक्ष्यमाण उष्णिक् के प्रतिपाद्य विषयों के आधार पर हो सकता है– "**आदितः सन्दिग्धे, देवतादितश्च**" (पि० सू०–३.६१, ६२)।

२. उष्णिक् छन्द– उष्णिग् उत्स्नानात्, स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपि वा, उष्णीषिणो वेत्यौपमिकम् (दै०ब्रा० ३.४, निरु० ७.१२) उत्कृष्ट पवित्रता जिससे प्राप्त होता है, उसे उष्णिक् कहते हैं, जो छन्द अधिक प्रिय हो, वह भी उष्णिक् कहलाता है, अथवा जैसे पगड़ी शिर के चारों ओर लपेटी जाती है, उसी

---

१. गायत्रछन्दा वै ब्राह्मणः(तै०ब्रा० १.१.९.६); सौम्यो वै ब्राह्मणो देवतया गायत्रछन्दाः (मै०सं० १.९.५)।
२. गायत्री वसूनाम् (पत्नी) (मै०सं० १.९.२)।
३. प्राण एव गायत्री (जै०ब्रा० २.५८), यो वै स प्राणः, एषा सा गायत्री (शत०ब्रा० ७.५.१.२१)। प्राणो वै गायत्री (मै०सं० २.४.४)।
४. प्रेति च वा एति च गायत्र्यै रूपम् (जै०ब्रा० ३.१२)।
५. गायत्री वै प्राची दिक् (शत०ब्रा० ८.३.१.१२)।
६. गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः (दै०ब्रा० ३.२)।
७. मनो वै गायत्रम् (जै०ब्रा० ३.३०५)।
८. सुवर्णं गायत्रम् (शांखा०आ० ११.७)।
९. पशवो गायत्री (जै०ब्रा० २.३११), गायत्राः पशवः (तै०ब्रा० ३.२.१.१)।
१०. गायत्रं चक्षुः(तै०सं० ४.१.१०.५, मै०सं० २.७.८, का०सं० १६.८)।
११. सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति, स मुखत एव त्रिवृतमसृजत, तं गायत्रीछन्दोऽन्वसृज्यत, अग्निर्देवता ब्राह्मणो मनुष्यो वसन्त ऋतुस्तस्मात् त्रिवृत् स्तोमानां मुखं, गायत्री छन्दसां (मुखम्), अग्निर्देवतानां (मुखम्), ब्राह्मणो मनुष्याणां (मुखम्), वसन्त ऋतूनां (मुखम्)। ब्राह्मणो मुखेन वीर्यङ्करोति मुखतो हि सृष्टः (तां०ब्रा० ६.१.६)।

प्रकार गायत्री के आठ-आठ अक्षर के पादों में एक-एक अक्षर का आवेष्टन (वृद्धि) करने से ९×३=२७ अक्षर का उष्णिक् छन्द सम्पन्न होता है। उष्णिक् छन्द त्रिपाद् और चतुष्पाद् भी होता है। **"अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक्"** (कौ०ब्रा० २६.१., जै०ब्रा० १.३१) अर्थात् ७+७+७+७=२८ अक्षरों का उष्णिक् छन्द होता है।[1] २७ (सप्तविंशति) अक्षर का तात्पर्य हाथ और पैर की दस-दस अंगुलियाँ बीस होती हैं और शिर के दो—दो कान, चक्षु, नाक के छिद्र एवं एक मुख मिलाकर सात अवयव होते हैं, सब मिलाकर २७ होते हैं— **"दश हस्त्या अंगुलयो, दश पद्या, सप्त शीर्षन् प्राणाः तत् सप्तविंशतिः"** (जै०ब्रा० ३.३१९)। इनमें पुरुष (आत्मा) को मिलाने से अष्टाविंशति संख्या की पूर्ति होती है। इसीलिए **"औष्णिहो वै पुरुषः"** (ऐ०ब्रा० ४.३) कहा गया है अर्थात् पुरुषविज्ञान उष्णिक् छन्द का विषय है। पुरुष सप्ताश्व (या सप्तरश्मि, सप्तार्चि— प्रश्नो० ३.५) वाला होता है, वे अश्व हैं— दो आँख, दो श्रोत्र, दो कान और एक मुख। उष्णिक् छन्द के प्रत्येक पाद में विद्यमान सात-सात अक्षर इन्हीं के बोधक हैं और इनका विषय इस छन्द का प्रतिपाद्य है। उष्णिक् छन्द में चार पाद होने से पादसामान्य से इसे 'पशु' कहा गया है— **"पशवो वा उष्णिक्"** (तां०ब्रा० ८.१०.४, जै० ब्रा० १.२२९)। इस छन्द को देवपुरा भी कहा गया है— **"देवपुरा वा एषा यदुष्णिहः"** (जै० ब्रा० १.२२७)। इसे चक्षुस्थानीय एवं पूषादेवताक भी कहा गया है— **"उष्णिक् छन्दः तच्चक्षुः, पूषा देवता"** (मै० सं० २.१४; काठ० ३९.४)। पर अन्यत्र 'विश्वेदेव' देवता माना गाय है— **"विश्वे देवा देवतोष्णिहा छन्द आग्रयणस्य पात्रमसि"** (तै० सं० ३.१.६.३)। ऋक्प्रातिशाख्य (१७.२) में 'आदित्य' देवता माना गया। ऋ० १०.१३०.४ में एवं पिङ्गलछन्द (३.६३) आदि में सविता देवता माना गया है।[2] यह छन्द यजमान विषयक होता है— **"यजमानच्छन्दसमेषोष्णिक्"** (कौ०ब्रा०१७.२)।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि – आत्मादि की पवित्रता एवं प्रियता, मधुरता, वृद्धि, पशुसम्पदा, देवपुरी शरीर का विज्ञान, आत्मविज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, ज्ञानविज्ञान, पूषा, विश्वेदेवता, आदित्य, सविता देवताओं का वर्णन, द्युलोक का विज्ञान आदित्य और उसका रश्मिविज्ञान आदि विषयों के वर्णन के लिए उष्णिक् छन्द उपयोगी है।[3]

३. अनुष्टुप् छन्द— अनुष्टुप् छन्द ३२ अक्षर का होता है।[4] दक्षिणाग्नि भी ३२ अङ्गुल का होता है, इसीलिए अनुष्टुप् छन्दों से ही उसका निर्माण आदि कार्य होते हैं।[5] इस छन्द में आठ-आठ अक्षर के चार पाद होते हैं।[6] यह अष्टाक्षरत्व गायत्री का अनुकरण है।[7] अनुष्टुप् को वाग्रूप माना गया है।[8] वाग् (शब्द) नित्य है,

---

१. अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक् (कौ०ब्रा० २६.१, जै०ब्रा०१.३१)। यस्य सप्त ता उष्णिहम् (अभिसम्पद्यन्ते) (कौ०ब्रा०९.२)। यहाँ सात का तात्पर्य 'सप्तराशि' या 'सप्तरश्मि' है। सर्पणशील को सात कहते हैं, ऐसे सर्पणशील सात रश्मि ही पुत्र (संरक्षक) हैं जिसके, ऐसे आदित्य को 'सप्तपुत्र' कहते हैं – सप्तपुत्रम् = सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा (निरु० ४.२६)।

२. उष्णिक् छन्दः सविता देवता ग्रीवाः(शत० १०.३.२.२)।

३. उष्णिहम् = उष्णिहा प्रतिपादितम् [इन्द्रियम् = जीवस्य लिङ्गम्] (दया०, यजु० २८.२५)।

४. द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् (तै०सं० २.५.१०.३) ।

५. द्वात्रिंशदङ्गुलो भवति (दक्षिणाग्निः। अनुष्टुभा सम्मितोऽनुष्टुभा वीर्यं करोति, अनुष्टुभैव वीर्येण यजमानं समर्धयति (का०ब्रा०, अग्न्याधेयब्राह्मणम् -५)।

६. बृहस्पतिरष्टाक्षरयानुष्टुभमुदजयच्चतुर्धा ह्येतस्या अष्टा अष्टा अक्षराणि (मै०सं० १.११.१०)।

७. अनुष्टुबनुस्तोभनात् (दै०ब्रा० ३.७., अपि च द्र०निरु० ७.१२)।

८. अथानुष्टुप् वागेव सा... द्वयं वाचा करोति, अन्नं चैनयात्ति वदति च (जै०ब्रा० १.२५४), वागेवासौ प्रथमानुष्टुप् (कौ०ब्रा० १५.३), वागनुष्टुप् (मै०सं० ३.९.५)।

प्रजापति भी नित्य है। इन दोनों को उत्पत्ति की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए इसे प्रजापति देवताक माना गया है।[१] वाग्रूप अनुष्टुप् और प्राजापत्यात्मक सप्तदश दोनों (नित्य देवता) मिलकर चतुरुत्तर छन्दों का निर्माण किया है।[२] वागात्मक अनुष्टुप् छन्द से देवों ने असुरों को अवाक् किया है।[३] मनुष्यों ने अनुष्टुप् छन्द को अपनाया, इसीलिए अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ वाणी को बोल पाते हैं।[४] सभी देवों ने भी अनुष्टुप् छन्द का आश्रय लिया है।[५] अनुष्टुप् छन्द सत्यानृतात्मक भी है।[६] अनुष्टुप् कुहू (चान्द्रमास का अन्तिम दिन अमावास्या) है।[७] अनुष्टुप् छन्द आयु है और मित्र देवताक है।[८] यह सोम देवता का छन्द है।[९] अनुष्टुप् आज्य के आयतन हैं।[१०] यह छन्द उदीची दिशा है, शरद् ऋतु है, मित्रावरुण देवताक है, पुष्ट द्रविण है, वैराज साम है, एकविंशस्तोम आदि है।[११] यह क्षात्रधर्म का छन्द है।[१२] यह इक्कीस धाम वाला है।[१३] इस छन्द का माहत्म्य इससे अधिक क्या लिखें, यह तो सब कुछ है।[१४]

इन वचनों से विज्ञात होता है कि अनुष्टुप् छन्द का उपयोग यज्ञविज्ञान, वाग्विज्ञान, आसुरी शक्तियों का पराभव, देवत्व की रक्षा, शब्दार्थविज्ञान, सत्यासत्य का प्रतिपादन, चन्द्रमास का विज्ञान, आयु की सिद्धि, उदीची दिशा सम्बन्धी विज्ञान, शरद् ऋतु का विज्ञान, क्षात्रधर्म, जलविज्ञान[१५], भूविज्ञान[१६], प्राणविज्ञान[१७] आदि के प्रतिपादन के लिए किया जाता है।[१८] प्रतिष्ठा कामना की सिद्धि के लिए इसी छन्द का विनियोग किया जाता है।[१९]

४. बृहती छन्द– अथ बृहती (जै०ब्रा० १.२५४) अब बृहतीछन्द का वर्णन करते हैं। इस छन्द में ३६

---

१. प्राजापत्यमेतच्छन्दो यदनुष्टुप् (मै०सं० ३.६.५)। अनुष्टुब् वै प्रजापतेः स्वं छन्दः (का०सं० २३.२)।

२. द्रष्टव्य– सायण, तां०ब्रा० १०.२.४। अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां०ब्रा० ११.५.१७)।

३. अनुष्टुभा वै वाचा छन्दसा देवा असुरान् अवाचोऽवाघ्नन् (जै०ब्रा० १.२६१); (असुराणां) वाचम् अनुष्टुभा (देवा अवृञ्जत) (जै०ब्रा० १.९९)।

४. आनुष्टुभः पुरुषस्तस्मात् पुरुषः सर्वा वाचो वदति (मै०सं० ४.७.५)।

५. विश्वेदेवा अनुष्टुभं समभरन् (जै०उ०ब्रा० १.४.४.७); विश्वेषां देवानामनुष्टुप् (जै०ब्रा० २.१०१)।

६. सत्यानृते वा अनुष्टुप् (तै०ब्रा० १.७.१०.४)।

७. अनुष्टुप् कुहूः (तै०सं० ३.४.९.६), या कुहूः सानुष्टुप् (ऐ०ब्रा० ३.४७,४८)।

८. अनुष्टुप् छन्दस्तदायुर्मित्रो देवता (मै०सं० २.१३.१४)।

९. अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः (कौ०ब्रा० १५.२)।

१०. अनुष्टुबायतनानि ह्याज्यानि (ऐ०आ० १.१.२)।

११. उदीचि दिक् शरदृतुर्मित्रावरुणौ देवता पुष्टं द्रविणमनुष्टुप् छन्दो वैराजं सामैकविंशः स्तोमः, स उ त्रिणववर्तनिः पुराणा ऋषिस्तुर्यवाड् वयोऽभिभवोऽयानाम् (मै०सं० २.७.२०)। अनुष्टुबुदीची (दिक्) (शत०ब्रा० ८.३.१.१२), (तु०शत०ब्रा० ५.४.१.६)।

१२. क्षत्रं वा अनुष्टुप् (तै०ब्रा० ३.३.९.१)।

१३. एकविंशतिधाम्नी वा अनुष्टुप् (मै०सं० ४.७.६)।

१४. अनुष्टुबेव सर्वम् (गो०ब्रा० १.५.१५)।

१५. आपो वा अनुष्टुप् (कौ०ब्रा० २४.४)।

१६. इयं (पृथिवी) वानुष्टुप् (तां०ब्रा० ८.७.२, शत०ब्रा० १.३.२.१६)।

१७. प्राणा वा अनुष्टुप् (तै०सं० ५.३.८.२)।

१८. अनुष्टुभेन=अनुष्टुब्विहितार्थयुक्तेन (दया०, यजु० ११.११)। अनुष्टुभा = अनुष्टुप् मन्त्र द्वारा सिद्ध हुई विद्या से (दया०, यजु० १३.३४)।

१९. अनुष्टुभा प्रतिष्ठाकामस्य (परिदध्यात्) (तै०सं० ६.४.३.२)।

अक्षर होते हैं।[१] यह छन्द अपने दस अक्षरों से भूलोक को, अन्य दस अक्षरों से अन्तरिक्ष लोक को, अन्य दस अक्षरों से द्युलोक को, चार अक्षरों से दिशाओं को, दो अक्षरों से अहोरात्र को व्याप्त करता है, इस प्रकार अपने ३६ अक्षरों से सभी लोकों को व्याप्त करता है। इसीलिए इसका नाम बृहती है।[२] यह छन्द स्वर्गलोक में जाने के पश्चात्, लोकों में व्याप्त होने के पश्चात् ही इसका नाम बृहती हुआ, उससे पूर्व बृहती नाम का कोई छन्द नहीं था।[३] इसलिए बृहतीछन्द को ही स्वर्गलोक कहा जाता है।[४] इसमें प्रतिष्ठित होकर ही आदित्य तपता है।[५] नौ-नौ अक्षर के चार पादों से ३६ का भी बृहतीछन्द बनता है।[६] बृहस्पति देवता इस छन्द का पति होने से (बृहतां छन्दसां पतिः) बृहस्पतिः कहलाया है।[७] सूर्य को भी इस छन्द का देवता माना गया है।[८] इस छन्द का लोक अन्तरिक्ष है।[९] जिस प्रकार आत्मा शरीर के अंग, प्रत्यंगों से परिवृत है, उसी प्रकार यह बृहतीछन्द भी सभी छन्दों से परिवृत है। इसलिए यह छन्द सभी छन्दों में आत्मस्थानीय है।[१०] बृहती छन्दों पर अधिकाधिक सामगान गाये जाते हैं।[११] बृहतीछन्द के मन्त्रों से वषट्कार नहीं किया जाता अर्थात् याज्या के रूप में इनका विनियोग नहीं होता। जो इन छन्दों से वषट्कार करेगा, उसके पशु जलकर नष्ट होंगे। हाँ! बृहतीछन्दों से स्वराज्य की सिद्धि होती है।[१२]

इन वचनों का निष्कर्ष यह है— यह छन्द आत्मस्थानीय प्रमुख विषयों का प्रतिपादन करता है और यह छन्द तीनों लोकों में व्याप्त तत्त्वों के निरूपण में पूर्ण समर्थ है, त्रैलोक्य विज्ञान इन छन्दों की ऋचाओं में निहित है। स्वर्गलोक की कामना की सिद्धि व प्रकार इस छन्द में प्रतिपादित है।[१३] आदित्य व सूर्य का विज्ञान, बृहस्पति देवता के वर्ण्य विषय, अन्तरिक्षलोक विज्ञान या इन्द्र एवं वायु देवताओं का विज्ञान, सामगानविद्या, स्वराज्य की स्थापना, पशुसम्पदा,[१४] गो—अश्व—पशुओं का विज्ञान,[१५] अष्टैश्वर्यों की सिद्धि,[१६] संवत्सरविज्ञान,[१७] दिन—

---

१. ता वा एता बृहत्यो यत् षट्त्रिंशदक्षराः (तां०ब्रा० १६.११.१०)। षट्त्रिंशदक्षरा बृहती (तै०सं० २.५.१०.३)।

२. बृहत्यु ह वा इमान् सर्वान् लोकानक्षरैर्व्याप्नोति। दशभिरेवाक्षरैरिमं लोकं व्याप्नोति, दशभिरन्तरिक्षं, दशभिरमुं, चतुर्भिर्दिशो, द्वाभ्यामहोरात्रे (जै०ब्रा० २.११३, तुलना— ऐ०ब्रा० ४.२४, तां०ब्रा० ७.४.३)। बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः (दै०ब्रा० ३.११, द्र० निरु० ७.१२)।

३. ते (देवाः) ब्रुवन् स्वर्गं लोकं गत्वा बृहती वा इयमभूद्, ययेदं व्याप्नोति। तदेव बृहत्या बृहतीत्वम्। न ततः पुरा बृहती नाम छन्द आस (जै०ब्रा० १.१२०)।

४. बृहती स्वर्गो लोकः (जै०ब्रा० १.२९०, शत०ब्रा० १०.५.४.६)।

५. बृहत्यां वा असावादित्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति (गो०ब्रा० २.५.७)।

६. मित्रो नवाक्षरया बृहतीमुदजयच्चतुर्धा ३ ह्येतस्या नव नवाक्षराणि (मै०सं० १.११.१०)। यस्य नव ता बृहतीम् (अभिसम्पद्यन्ते) (कौ०ब्रा० ९.२)।

७. यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः (जै०उ०ब्रा० २.१.२.५)।

८. सूर्यो देवता बृहती छन्दः (तै०सं० ३.१.६.२-३)।

९. अयं मध्यमो (अन्तरिक्षलोकः) बृहती (तां०ब्रा० ७.३.९)।

१०. एष वै कृत्स्न आत्मा यद् बृहती...यथायमात्मा सर्वतः शरीरैः (अङ्गैः) परिवृत एवमेव बृहती सर्वतश्छन्दोभिः परिवृता। मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा, मध्यं छन्दसां बृहती (ऐ०आ० २.३.५)।

११. बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति (तां०ब्रा० ७.३.१६)।

१२. स्वाराज्यमेव बृहत्यभ्यसृज्यत, तस्मात् बृहत्या न वषट्कुर्वन्ति, यद् वषट्कुर्युः पशूनग्नौ प्रदध्युः (का०सं० ३४.७)। स्वराज्यं छन्दसां बृहती (तां०ब्रा० २४.६.३)। साम्राज्यं बृहत्यामेव (जै०ब्रा० २.११३)। तु० जै०ब्रा० २.९४।

१३. बृहत्या वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् (तां०ब्रा० १६.१२.७)।

१४. सा वा एषा पशव एव यद् बृहती (जै०ब्रा० १.१२०)।

१५. गोऽश्वमेव हि बृहती (कौ०ब्रा० ११.२)।

१६. श्रीर्वै बृहती (कौ०ब्रा० २८.७)। श्रीर्वै बृहज्ज्यैष्ठ्यम् (जै०ब्रा० २.९७)।

१७. बृहती हि संवत्सरः (शत०ब्रा० ६.४.२.१०)।

विषुवान् दिन आदि ज्योतिष के विषय,[१] ओज-वीर्य-पराक्रमादि विषय,[२] युद्ध की कुशलताएँ,[३] मनोविज्ञान,[४] वृष्टिविज्ञान,[५] आदि प्रमुख विषयों के प्रतिपादन के लिए बृहती छन्द अत्यन्त उपयोगी है।[६] इस छन्द का ऋषि भरद्वाज है।[७]

५. पंक्तिछन्द – यह छन्द ४० अक्षर का होता है[८] और यह पांच पादवाला होता है।[९] पांच-पांच अक्षर वाले चार पादों का अर्थात् २० अक्षर का भी पंक्तिछन्द होता है। जिसे अक्षरपंक्ति कहते हैं। अक्षरपंक्ति का देवता सविता है।[१०] पंक्तिछन्द की ऊर्ध्वा दिक् है[११], हेमन्त और शिशिर ऋतु हैं, बृहस्पति देवता है, फल द्रविण है, शाक्कर एवं रैवत सामगान हैं, त्रिणव स्तोम है, त्रयस्त्रिंशवर्तनि है, सुपर्ण ऋषि है।[१२] जो पांच पाद वाली, सप्तदश अक्षर वाली पंक्ति है वह सब यज्ञों से यजमान को स्वर्ग लोक में ले जाने वाली होती है।[१३] पंक्तिछन्द पुरुषविषयक एवं परमेष्ठी देवताक है।[१४] इसका देवता मरुत् भी है।[१५] प्रजापति देवता पंक्तिछन्दस्क है।[१६]

पंक्तिछन्द के द्वारा निरूपणीय विषय इस प्रकार हैं– यज्ञ[१७], यजमान[१८], स्वर्ग, ऊर्ध्व दिशा का विज्ञान, हेमन्त और शिशिर ऋतु, श्रोत्रविज्ञान[१९], अन्नविज्ञान[२०], पशुविज्ञान[२१], पुरुषविज्ञान[२२], ब्रह्मविज्ञान[२३], प्रतिष्ठा की प्राप्ति[२४] आदि।[२५] इस छन्द का अङ्गिरा[२६], बृहस्पति[२७], अग्नि, प्रजापति, यज्ञ, सविता, मरुत्, परमेष्ठी, विष्णु[२८] आदि देवताओं के साथ सम्बन्ध है।

---

१. का०सं० ६.८, तै०सं० ७.२.८.३, जै०ब्रा० २.३६, तां०ब्रा० ९.७.७ आदि।
२. ओजो वै वीर्यं बृहत् (का०सं० ३७.८)।
३. वर्ष्म वै बृहत् (जै०ब्रा० ३.२६१, तां०ब्रा० ११.९.४)।
४. मनो बृहती (शत०ब्रा० १०.३.१.१)।
५. जै०ब्रा० १.१४३।
६. बृहत्यै =बृहतीछन्दोऽर्थाय (दया०, यजु० २४.१३)।
७. भरद्वाजस्य वा एतदार्षेयं यद् बृहत् (जै०ब्रा० ३.२०,२२)।
८. चत्वारिंशदक्षरा पंक्तिः (कौ०ब्रा० १७.३, जै०ब्रा० १.३४)।
९. पञ्चपदा पंक्तिः (ऐ०ब्रा० ५.१८)।
१०. स॒वि॒ता पञ्चाक्षरया॒क्ष॒रप॑ङ्क्तिमु॒द॑जय॒द्, या॑३ह्यक्ष॑रप॑ङ्क्तिः सा प॒ङ्क्तिः, च॒तु॒र्धा॑३ह्येतस्याः॒ पञ्च॒ पञ्चा॒क्षरा॑णि (मै०सं० १.११.१०)।
११. पंक्तिरूर्ध्वा (दिक्) (शत०ब्रा० ८.३.१.१२)।
१२. मै०सं० २.७.२०।
१३. अथ यः पङ्क्तिः पञ्चपदां सप्तदशाक्षरां सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहन्तीं विद्यात् (गो०ब्रा० १.३.८)।
१४. प॒ङ्क्तिश्छन्द॑स्तत्पु॒रु॑षः पर॒मे॑ष्ठी दे॒व॑ता (मै०सं० २.१३.१४)।
१५. पंक्तिश्छन्दो मरुतो देवताष्ठीवन्तौ (शत०ब्रा० १०.३.२.१०)।
१६. पाङ्क्तः प्रजापतिः (का०सं० १२.५)।
१७. पाङ्क्तो॑ य॒ज्ञः (तै०सं० ५.२.३.६)।
१८. यज॑मानो॒ वै प॒ङ्क्तिः (मै०सं० ३.३.९)।
१९. श्रोत्रं पंक्तिः (शत०ब्रा० १०.३.१.१)।
२०. पंक्तिर्वा अन्नम् (ऐ०ब्रा० ६.२०), पांङ्क्तमन्नम् (जै०ब्रा० २.२१३)।
२१. पाङ्क्ताः प॒शवः (तै०सं० ३.१.५.१)।
२२. पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पंचधा विहितो लोमानि त्वङ् मांसमस्थि मज्जा (ऐ०ब्रा० २.१४, ६.२९)।
२३. ब्रह्म पाङ्क्तम् (शां०आ० ११.७)।
२४. प्रतिष्ठा वै पंक्तिः (कौ०ब्रा० ११.३)।
२५. पङ्क्त्यै = पङ्क्तिछन्दोऽर्थाय (दया०, यजु० २४.१३)।
२६. अङ्गि॑रोभिर्दे॒वेभि॑र्दे॒वत॑या पाङ्क्तेन त्वा छन्द॑सा युनज्मि हेमन्तशिशि॒राभ्या॑म् (तै०सं० ७.१.१८.२)।
२७. ऊ॒र्ध्वया॑ त्वा दि॒शा सा॑दया॒मि पाङ्क्ते॑न॒ छन्द॑सा॒ बृह॒स्पति॑ना दे॒वत॑या॒ऽग्नेः (तै०सं० ५.५.८.३)।
२८. मै०सं० १.९.२, का०सं० ९.१०, गो०ब्रा० २.२.९।

६. त्रिष्टुप् छन्द – अथ त्रिष्टुप् (जै०ब्रा० १.२५४) अब हम त्रिष्टुप् छन्द का प्रतिपादन करते हैं। इस छन्द में ४४ अक्षर होते हैं।[१] यह अक्षरपरिमिति 'ब्रह्मवर्चस'का द्योतक है।[२] इसके चार पाद होते हैं[३] और प्रत्येक पाद में ११-११ अक्षर होते हैं।[४] यह एकादश संख्या ११ रुद्रों[५] का प्रतीक है और वज्र[६], प्राण[७], प्रजापति[८] का भी द्योतक है। वैसे इस छन्द का देवता रुद्र[९], प्रजापति[१०], इन्द्र[११] हैं। यह क्षात्रधर्म का छन्द है।[१२] इस छन्द का ऋषि भरद्वाज है।[१३]

इस छन्द के द्वारा प्रतिपाद्य विषय इसप्रकार हैं– दक्षिणादिक्[१४], ग्रीष्म ऋतु[१५], द्युलोकविज्ञान[१६], अन्तरिक्षलोक[१७], वायुविद्या[१८], प्राणविद्या, आत्मविद्या, इन्द्रियविज्ञान, बल, वीर्य, पराक्रम आदि[१९], क्षात्रधर्म[२०], शास्त्रविद्या[२१], भूविज्ञान (शत०ब्रा० २.२.१.२०), पूर्णमासी[२२] आदि।[२३]

७. जगती छन्द – अथ जगती (जै०ब्रा० १.२५४) अब जगती छन्द का निरूपण किया जाता है। इसमें ४८ अक्षर होते हैं।[२४] इसमें बारह–बारह अक्षर के चार पाद होते हैं।[२५] यह द्वादशसंख्या बारह मास व आदित्य का द्योतक है।[२६] उक्त सप्त छन्दों में अधिकतम अक्षरवाला होने से इसका नाम जगती है।[२७] इस छन्द

---

१. चतु॑श्चत्वारिंशदक्षरा त्रि॒ष्टुग्(तै०सं० २.५.१०.४)।
२. ब्रह्म॑वर्च॒सं वै च॑तुश्चत्वा॒रिं॒शः(तै०सं० ५.३.५.१)।
३. चतु॑ष्पदा त्रि॒ष्टुप्(तै०सं० ३.२.९.१)।
४. चतु॒र्धा॑३ह्ये॒त॑स्या॒(त्रिष्टुभः) ए॑का॒दशैकादशा॒क्ष॑रा॒णि(मै०सं० १.११.१०)। द्र० ऐ०ब्रा० ३.१२।
५. एका॑दश रु॒द्रा एका॑दशाक्षरा त्रि॒ष्टुप्(तै०सं० ३.४.९.७)।
६. वज्र॑ एका॒द॒शि॒नी(तै०सं० ५.५.७.१)।
७. प्राणा वा ए॒कादशिनीः(काठ०सं० ३४.१)।
८. प्रजापतिर्ह्येकादशिनी (शत०ब्रा० १३.६.१.६)।
९. मै०सं० १.९.२, जै०ब्रा० १.३५, का०सं० ७.६, जै०उ०ब्रा० १.४.४.५।
१०. जै०ब्रा० १.६८, २.१०१।
११. जै०ब्रा० २.१०१। यदैन्द्रं तत् त्रिष्टुभो रूपम् (जै०ब्रा० ३.२०६), शत०ब्रा० ६.६.२.७।
१२. क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत्त्रिष्टुप् (कौ०ब्रा० १०.५), ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् (शत०ब्रा० १.३.५.५)।
१३. मै०सं० २.७.१९, का०सं० १६.१९।
१४. त्रिष्टुब्दक्षिणा (दिक्) (शत०ब्रा० ८.३.१.१२)।
१५. शत०ब्रा० ५.४.१.४।
१६. असावुत्तमः (द्युलोकः) त्रिष्टुप् (तां०ब्रा० ७.३.९)।
१७. त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः(कौ०ब्रा० ८.९)।
१८. त्रैष्टुभो हि वायुः(शत०ब्रा० ८.७.३.१२)। यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिस्त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षस्थानम् (गो०ब्रा० १.१.२९)।
१९. जै०ब्रा० १.१३२, कौ०ब्रा० ७.२, शत०ब्रा० ७.४.२.२७।
२०. त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः(तै०ब्रा० १.१.९.६)। द्र० जै०ब्रा० १.६८ तां०ब्रा० ६.१.८।
२१. ऐ०ब्रा० २.२, मै०सं० ३.२.१०।
२२. या राका सा त्रिष्टुप् (ऐ०ब्रा० ३.४.७), त्रि॒ष्टुग् रा॒का(तै०सं० ३.४.९.६)।
२३. त्रि॒ष्टुप्=एतच्छन्दोऽभिहितं विज्ञानम्(दया०, यजु० १०.११)।
२४. अ॒ष्टाच॑त्वारिंशदक्ष॒रा जग॑ती(तै०सं० २.५.१०.४)।
२५. चतु॒र्धा॑३ह्ये॒त॑स्या॒ (जगत्याः) द्वा॑द॒श द्वादशा॒क्ष॑रा॒णि(मै०सं० १.११.१०)।
२६. द्वाद॑शादि॒त्या द्वाद॑शाक्षरा॒ जग॑ती(तै०सं० ३.४.९.७)।
२७. जगती गततमं छन्दः(दै०ब्रा० ३.१७)।

का ऋषि जमदग्नि है[१] और देवता विश्वेदेव[२], मरुत्[३], आदित्य[४], प्रजापति, इन्द्र (जै०ब्रा० २.१०१) हैं। यह द्युलोक एवं भूलोक सम्बन्धी छन्द है।[५] यह सभी छन्दों में परिपुष्ट छन्द है।[६] इसीलिए इसमें उक्त सभी छन्द समाहित हो जाते हैं।[७] जगती छन्द से श्रोत्र और दिशा का सन्धान करना चाहिए।[८] इसी छन्द से होता का वरण होता है[९] तथा उपभृत् में आठ वार आज्य का ग्रहण किया जाता है।[१०]

विश्वेदेव, मरुत्, आदित्य, प्रजापति, इन्द्र देवताओं का प्रतिपाद्य का प्रतिपादन करना, जमदग्नि ऋषि की दृष्टि को प्रस्तुत करना, द्युलोक एवं भूलोकों का विज्ञान, श्रवणविज्ञान, प्रतीची (पश्चिम) दिशा का विज्ञान[११], सिनीवाली (अमावास्या) का विज्ञान[१२], यशःकामना की सिद्धि[१३], पशुसम्पदा की प्राप्ति[१४], वैश्य वर्ण के कर्तव्यों का प्रतिपादन[१५], स्त्रीपुरुषविज्ञान व प्रजननविज्ञान[१६], वृष्टिविज्ञान (वर्षा-ऋतु का विज्ञान)[१७], बल-वीर्य आदि का प्रतिपादन[१८] इत्यादि विषयों के प्रतिपादन के लिए जगती छन्द उपयोगी है।[१९] ऋक्प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक ने भी कहा है कि –

सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च, स्पर्शाश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वे।
शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत्, त्रिष्टुब्जगत्यौ समुपैति भक्त्या।। (ऋ०प्रा० १८.५९)

सब भूत, मन, गति, स्पर्श, गन्ध, सब रस, शब्द, रूप – ये सब भक्ति अर्थात् यथोचित अनुपात विशेष से या प्रसंगवश त्रिष्टुप् और जगती छन्दों को प्राप्त होते हैं। अर्थात् ऋग्वेद में इन दो छन्दों से उक्त विषय प्रसंगतः वर्णित होते हैं।

अभी तक गायत्री आदि सात छन्दों का स्वरूप और वेदार्थ में उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। वे 'पादाक्षरगणनानुसारी' छन्द हैं। परन्तु 'केवल अक्षरगणनानुसारी' छन्द भी होते हैं, जिनका स्वरूप और वेदार्थ में उनकी उपयोगिता विषय पर आगे विचारते हैं।

---

१. का०सं० १६.१९।
२. मै०सं० २.६.१०, तै०सं० १.७.११.२।
३. का०सं० १४.७, तै०सं० १.८.१३.१।
४. जै०उ०ब्रा० १.४.४.६।
५. असौ (द्यौः) जगती(जै०ब्रा० १.३३९), इयं (पृथिवी) वै जगती (शत०ब्रा० १२.८.२.२०)।
६. जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा(तां०ब्रा० २१.१०.९)।
७. जगती सर्वाणि छन्दांसि(शत०ब्रा० ६.२.१.३०)।
८. जगत्यां प्रस्तुतायां श्रोत्रेण दिशः संदध्यात्(जै०ब्रा० १.२७०)।
९. यद्धोतारं वृणीते जगतीं तद् वृणीते(मै०सं० ३.९.८, द्र० का०सं० २६.९)।
१०. यदष्टौ कृत्वा उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद् गृह्णाति(श०ब्रा० १.३.२.१६)।
११. जगती प्रतीची (दिक्) (शत०ब्रा० ८.३.१.१२)।
१२. तै०सं० ३.४.९.६, मै०सं० ४.३.५, ऐ०ब्रा० ३.४७, कठ०सं० १२.८।
१३. जगत्येव यशः(गो०ब्रा० १.५.१५)।
१४. पशवो जगती (मै०सं० ४.१.९), जागता वै पशवः (तै०सं० २.५.१०.२)। जगत्यैवास्मै(वैश्याय) पशून् परिगृह्णाति(तै०सं० २.५.१०.२)।
१५. जगती छन्दा वै वैश्यः(तै०ब्रा० १.१.९.७), वैश्यो जगतीछन्दः(जै०ब्रा० १.६९)।
१६. पुंसो वा एतद् रूपं यद् बृहती स्त्रियै जगती(जै०ब्रा० ३.२६१), प्रजननं जगती(जै०ब्रा० १.९३, ष०ब्रा० २.३)।
१७. शत०ब्रा० ५.४.१.५।
१८. कौ०ब्रा० ११.२, गो०ब्रा० २.५.५।
१९. जगती =एतच्छन्दोऽभिहितम् अर्थम्(दया०, यजु० १०.१२)। जगतीम् =एतच्छन्दोऽभिहितां नीतिम्(दया०,यजु० ९.३३)।

पादव्यवस्था की अपेक्षा न करते हुए केवल अक्षरों की गणना के आधार पर निर्धारित छन्द ही 'केवल अक्षरगणनानुसारी' कहलाते हैं। वे इसप्रकार हैं– १. दैवी, २. आसुरी, ३. प्राजापत्य और ४. आर्षी (प्रथम चतुष्क), ५. याजुषी, ६. साम्नी, ७. आर्ची और ८. ब्राह्मी (द्वितीय चतुष्क)। इनका सम्बन्ध गायत्री आदि सात छन्दों और अतिजगती आदि सात छन्दों के साथ होता है।[1] जिससे दैवी गायत्री, दैवी उष्णिक् आदि छन्दोनाम प्राप्त होते हैं। दैवी गायत्री एक अक्षर का होता है और एक-एक अक्षर की वृद्धि से दैवी उष्णिक् आदि छन्द निर्मित होते हैं। आसुरी गायत्री १५ अक्षर का होता है और एक-एक अक्षर न्यून (कम) होता हुआ आसुरी उष्णिक् आदि छन्द बनते हैं। प्राजापत्य गायत्री ८ अक्षर का होता है । इसके पश्चात् चार-चार अक्षरों की वृद्धि से प्राजापत्य उष्णिक् आदि छन्द ज्ञात होते हैं । प्रथम चतुष्क छन्दों में से आद्य तीन प्रकारों के छन्दों के योग से आर्षी गायत्री आदि छन्दों का परिज्ञान हो जाता है। इनका स्वरूप एवं अग्रिम द्वितीय चतुष्क छन्दों का भी स्वरूप तथा इनके वृद्धि-ह्रास के नियमों का बोध अनुपद प्रस्तुत प्रस्तार से पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा –

क्रमसंख्या	छन्दों के नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अतिजगती	शक्करी	अतिशक्करी	अष्टि	अत्यष्टि	धृति	अतिधृति	अक्षरों की वृद्धि व ह्रास
१	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	+ १
२	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	– १
३	प्राजापत्य	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	+ ४
४	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	५२	५६	६०	६४	६८	७२	७६	+ ४
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२								+ १
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४								+ २
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६								+ ३
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२								+ ६

द्वितीय चतुष्क में याजुषी गायत्री आदि में १-१ अक्षर की वृद्धि हुई, साम्नी गायत्री आदि में २-२ अक्षरों की वृद्धि, आर्ची गायत्री आदि में ३-३ अक्षरों की वृद्धि और ब्राह्मी गायत्री आदि में ६-६ अक्षरों की वृद्धि हुई है। याजुषी आदि तीन छन्दों का योग ही ब्राह्मी छन्दों का परिमाण है। इन छन्दों का वर्णन प्रतिपाद्य विषय के साथ अग्रिम याजुषमन्त्रों में हुआ–

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपादो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ॥३१॥ पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥३२॥ मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्रऽएकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥३३॥ वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण

1.इस सम्बन्ध के विषय में अनेक मत भेद हैं,जिनके लिए "वैदिक छन्दोमीमांसा"(यु० मी०) का अष्टम अध्याय द्रष्टव्य है।

पञ्चदशꣳस्तोममुदजयँस्तामुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥३४॥ (मा०यजु०९.३१ से ३४; का०सं०१०.४०-४३; तै०सं०१.७.११)।

इन मन्त्रों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण (५.२.२.१७) में की गई है। इन मन्त्रों में स्पष्टतया कहा गया है कि– अग्नि, अश्विनौ आदि देवताओं ने एकाक्षर, द्व्यक्षर आदि छन्दों से प्राण, द्विपद मनुष्य आदि को उत्कृष्टतया (पूर्णतया, अच्छी तरह) जीत लिया है, उन पर अधिकार प्राप्त किया है अर्थात् प्राणादि तत्त्वों को सम्यक्तया, पूर्णतया जान लिया है। इन चार मन्त्रों के भाव को निम्न प्रस्तार से सरलतया जान सकते हैं –

यजुः मन्त्र संख्या	अक्षर संख्या	देवता (कर्तृपदम्)	छन्द (साधनपदम्)	प्राप्तव्य ज्ञान (कर्मपदम्)	प्रयत्न (क्रियापदम्)
	१.	अग्निः	एकाक्षरेण (छन्दसा)	प्राणम्	उदजयत्
३१	२.	अश्विनौ	द्व्यक्षरेण	द्विपदः मनुष्यान्	उदजयताम्
	३.	विष्णुः	त्र्यक्षरेण	त्रीन् लोकान्	उदजयत्
	४.	सोमः	चतुरक्षरेण	चतुष्पदः पशून्	,,
	५.	पूषा	पञ्चाक्षरेण	पञ्चदिशः / पंक्तिम्$	,,
	६.	सविता/धाता$	षडक्षरेण	षड् ऋतून्	,,
३२	७.	मरुतः	सप्ताक्षरेण	सप्तग्राम्यान् पशून् / सप्तपदां शक्वरिम्$	उदजयन्
	८.	बृहस्पतिः	अष्टाक्षरेण	गायत्रीम्	उदजयत्
	९.	मित्रः	नवाक्षरेण	त्रिवृतं स्तोमम्	,,
३३	१०.	वरुणः	दशाक्षरेण	विराजम्	,,
	११.	इन्द्रः	एकादशाक्षरेण	त्रिष्टुभम्	,,
	१२.	विश्वे देवाः	द्वादशाक्षरेण	जगतीम्	उदजयन्
	१३.	वसवः	त्रयोदशाक्षरेण	त्रयोदशं स्तोमम्	,,
	१४.	रुद्राः	चतुर्दशाक्षरेण	चतुर्दशं स्तोमम्	,,
३४	१५.	आदित्याः	पञ्चदशाक्षरेण	पञ्चदशं स्तोमम्	,,
	१६.	अदितिः	षोडशाक्षरेण	षोडशं स्तोमम्	उदजयत्
	१७.	प्रजापतिः	सप्तदशाक्षरेण	सप्तदशं स्तोमम्	,,

यहाँ यह ध्यातव्य है कि महर्षि दयानन्द जी ने इन मन्त्रों के व्याख्यान में 'केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों' का ही ग्रहण किया है । अन्य भाष्यकारों ने छन्दोनामों का ग्रहण नहीं किया, केवल सामान्यरूप से मन्त्रानुसार एकाक्षर छन्द आदि के रूप में ही दिखाये हैं । अब हम एकाक्षर, द्व्यक्षर आदि के छन्द कौन-कौन से हैं, उन्हें यहाँ सरणी में दिखाते हैं –

$. यह तैत्तिरीयसंहिता का पाठ है।

अक्षर-संख्या	छन्दों के नाम				
१.	दैवी गायत्री *				
२.	दैवी उष्णिक् *	आसुरी अतिधृति			
३.	दैवी अनुष्टुप् *	आसुरी धृति			
४.	दैवी बृहती *	आसुरी अत्यष्टि			
५.	दैवी पंक्ति *	आसुरी अष्टि			
६.	दैवी त्रिष्टुप् *	आसुरी अतिशक्करी		याजुषी गायत्री	
७.	दैवी जगती *	आसुरी शक्करी		याजुषी उष्णिक्	
८.	दैवी अतिजगती	आसुरी अतिजगती	प्राजापत्य गायत्री	याजुषी अनुष्टुप् *	
९.	दैवी शक्करी	आसुरी जगती		याजुषी बृहती *	
१०.	दैवी अतिशक्करी	आसुरी त्रिष्टुप्		याजुषी पंक्ति *	
११.	दैवी अष्टि	आसुरी पंक्ति *		याजुषी त्रिष्टुप्	
१२.	दैवी अत्यष्टि	आसुरी बृहती	प्राजापत्य उष्णिक्	याजुषी जगती	साम्नी गायत्री *
१३.	दैवी धृति	आसुरी अनुष्टुप् *			
१४.	दैवी अतिधृति	आसुरी उष्णिक्			साम्नी उष्णिक् *
१५.		आसुरी गायत्री *			
१६.			प्राजापत्य अनुष्टुप्		साम्नी अनुष्टुप् *
१७.				निचृदार्ची@ गायत्री *	
१८.#				आर्ची गायत्री	साम्नी बृहती

यजुर्वेद (९.३१-३४) के वर्णनानुसार यह स्पष्ट ज्ञापित होता है कि छन्दाक्षरों की संख्या का उस-उस छन्द के द्वारा ज्ञातव्य (प्रतिपाद्य) विषय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे कि द्व्यक्षर छन्द से द्विपद मनुष्य, त्र्यक्षर से तीन लोक, चतुरक्षर से चतुष्पाद पशु इत्यादि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक छन्द का अक्षरपरिमाण तत्परिमाण (उस संख्या) वाले किसी विषय का सूचक होता है। उसी का आगे संकेत करने का प्रयास करते हैं। प्रसंगतः भिन्न-भिन्न अर्थों का ऊह हो सकता है। यहाँ तो केवल दिग्दर्शनमात्र किया जा रहा है।

मन्त्रों में यह कहा गया है कि अग्नि देवता ने एकाक्षर (दैवी गायत्री) छन्द से प्राण को जीता है अर्थात् पूर्णतया उसके स्वरूप और कार्यादि को जाना है। यहाँ प्राण से अन्तरिक्षलोकस्थ वायु को[1] लेते हैं तो अग्नि उसी

---

* इस चिह्न से चिह्नित नामों को स्वामी दयानन्द जी ने अपने भाष्य में ग्रहण किया है ।

@. केवल अक्षरगणनानुसारी छन्दों में १७ अक्षरों का कोई छन्द न होने से १८ अक्षरों के छन्द से एक अक्षर कम होने से निचृद् विशेषण के साथ उसे 'निचृदार्ची गायत्री' के रूप में स्वामी जी ने निर्देश किया है ।

#. अठारह अक्षरों से अधिक अक्षर वाले छन्दों का वर्णन प्रकृत याजुष मन्त्रों में न होने से इस सरणी में उन्हें नहीं दिखाया गया है।

१. अन्तरिक्षदे॒व॒त्यो॑ हि प्रा॒णः(तै०सं० ६.४.५.५)।

लोक का देवता विद्युत् का ग्रहण हो सकता है। यद्यपि कार्यभेद से प्राण अनेक हैं, पुनरपि यहाँ एकत्वविशिष्ट अर्थात् सामान्य (अभिन्न) प्राण का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि एकाक्षर छन्द के एकत्व से प्राण विशिष्ट है। प्राण उसको कहते हैं जो किसी पदार्थ या प्राणी के अस्तित्व का मूलभूत आधार है। मनुष्यादि सभी प्राणियों का जीवन प्राण पर ही निर्भर है[१], इसीलिए वायु प्राणियों के लिए प्राण है। वैसे ही राष्ट्र का प्राण प्रजा (गौणीवृत्ति से), शिशु का प्राण माता, शिष्य का प्राण गुरु, विद्वान् का प्राण विद्या, व्यापारी का प्राण धन। इसप्रकार प्राण के प्रसंगतः अनेक अर्थ हो सकते हैं। उसी के अनुकूल 'अग्नि' शब्द के अर्थ को जान लेना चाहिए। उसी प्रकार अश्विनदेवताओं ने दो अक्षर वाले (दैवी उष्णिक्, आसुरी अतिधृति) छन्द से दो पैरवाले मनुष्यों को अधिकृत किया है। विष्णु ने तीन अक्षरवाले (दैवी अनुष्टुप्, आसुरी धृति) छन्द से तीन (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु) लोकों को जीता है।[२] सोम ने चार अक्षर वाले (दैवी बृहती, आसुरी अत्यष्टि) छन्द से चार पैरवाले पशुओं को जाना, उत्तम बनाया है। पूषा ने पांच अक्षरवाले (दैवी पंक्ति, आसुरी अष्टि) छन्द से पाँच दिशाओं के विज्ञान को जाना है या उन्हें उत्कृष्ट बनाया है। सविता ने छह अक्षरवाले (दैवी त्रिष्टुप्, आसुरी अतिशक्करी, याजुषी गायत्री) छन्द से छह ऋतुओं को भलीभांति जाना है या उन्हें उत्तमोत्तम बनाया है। मरुतों ने सात अक्षरवाले (दैवी जगती, आसुरी शक्करी, याजुषी उष्णिक्) छन्द से सात ग्राम्य पशुओं को हृष्टपुष्ट बनाया है। पशुओं को इसप्रकार हृष्टपुष्ट करनेवाले मरुत् कहलाते हैं, ऐसा भी भाव ग्रहण कर सकते हैं। बृहस्पति ने आठ अक्षरवाले (दैवी अतिजगती, आसुरी अतिजगती, प्राजापत्य गायत्री, याजुषी अनुष्टुप्) छन्द से आठ अक्षर के पाद वाले गायत्री छन्द या उस छन्द के प्रतिपाद्य विषयों[३] को अपने अधिकार में किया है। मित्र ने नौ अक्षरवाले (दैवी शक्करी, आसुरी जगती, याजुषी बृहती) छन्द से त्रिवृत् स्तोम की प्रक्रिया को वा उसके महत्व को जाना है। स्तोम (स्तोत्र) सामगान का एक प्रक्रियाविशेष है। सामगान की आधारभूत ऋचाएँ तीन होती हैं। उनको क्रमभेद से तीन पर्यायों में गान करते हैं, जिसे त्रिवृत्स्तोम कहते हैं। जिसमें नौ ऋचाएँ मानी जाती हैं।[४] इसीप्रकार आगे के निर्दिष्ट विषयों को जानें।

'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक पं०रघुनन्दन शर्मा जी "०**प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्**"(यजु० ९.३४) मन्त्रांश से भिन्न प्रकार का निष्कर्ष निकालते हैं। जो कि शिक्षाशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, न कि छन्दःशास्त्र से। पाठकों के लाभार्थ व विचारार्थ अविकलरूप से उसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहें हैं –

" वैदिक वर्णमाला में मुख्यतः १७ अक्षर हैं । इन १७ में जितने अक्षर केवल प्रयत्न अर्थात् मुख और जिह्वा के इधर उधर हिलाने, सिकोड़ने और फैलाने से बोले जाते हैं और किसी विशेष स्थान से सम्बन्ध नहीं रखते, उन्हें 'स्वर' कहते हैं और जिनके उच्चारण में स्थान और प्रयत्न दोनों की सहायता लेनी पड़ती है, उन्हें 'व्यञ्जन' कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ और लृ स्वर हैं, क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब व्यञ्जन हैं और अनुस्वार तथा विसर्ग मध्यस्थ हैं। यही १७ अक्षर परस्पर के मिश्रण और संयोग से ६४ प्रकार के हो गये हैं। अ, अ, से आ और आ, अ से आ३

---

१. प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते (तै०आ० ८.३.१)।
प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च (शत०ब्रा० १४.९.२.१)। प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते (शत० १४.८.१४.२)।
प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः (शत० ६.१.२.१४)।

२. यहाँ तीन अक्षरों से तीन लोकों को जीतने का वर्णन है, पौराणिक कथा में वामन (विष्णु) द्वारा तीन पग (पाद,पद) से तीन लोकों को जीतने का वर्णन है।

३. पूर्व में प्रतिपादित गायत्री के प्रतिपाद्य विषयों को देखें (पृ० १४-१५)।

४. इन स्तोमों के परिचय के लिए रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित "श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय" पुस्तक (पृष्ठ१२५-१२७, १५८-१६२) को देखें।

प्लुत बना है। इसी तरह इ, उ, ऋ और लृ का भी विस्तार है।[1] ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से इनके तीन तीन रूप हो जाते हैं। इसलिए अ से लृ तक इनकी संख्या १५ है और ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३ और अं, अः मिलकर सब स्वरों की संख्या २५ होती है। इनमें अ, इ, उ, ऋ और लृ स्वतन्त्र हैं। परन्तु ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः मिश्रित हैं। अ और इ के मिश्रण से ए, आ और इ के मिश्रण से ऐ, अ और उ के मिश्रण से ओ तथा आ और ऊ के मिश्रण से औ बना है। इसी तरह अ और ं से अं तथा अ और ः से अः बना है। ञ, ण, न, ङ, म, ꣳ और ँ आदि समस्त सानुनासिक वर्ण अनुस्वार से और ह, स, श, ष आदि वर्ण विसर्गों से ही बने हैं। विसर्गों में 'अ' जोड़ने से 'ह' बन जाता है, ह अर्थात् विसर्गों का ही 'स' हो जाता है[2] और यही 'स' टवर्ग के साथ होने से 'ष' तथा चवर्ग के साथ होने से 'श' हो जाता है। क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प और ब में 'ह' जोड़ने से क्रम से ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ हो जाते हैं। इ-अ मिलकर 'य', ऋ-अ मिलकर 'र', लृ-अ मिलकर 'ल' और उ-अ मिलकर 'व' बना है। इसी तरह क-ष से 'क्ष', त-र से 'त्र' और ज-ञ से 'ज्ञ' भी बना है। इस प्रकार से २५ स्वर के, २५ वर्ग के और (य, व, र, ल, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ꣳ और ळ आदि) १३ स्फुट के मिलाकर ६३ अक्षर होते हैं। इन्हीं में एक अर्धचन्द्र शामिल करने से ६४ हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि **त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः** (श्लो० पा० शि० ३)। अर्थात् शम्भु परमात्मा के वैदिक मत के वर्ण ६३ या ६४ हैं" (वैदिकसम्पत्ति, अक्षरार्थ और लिपि– पृ० २५४)।

अस्तु प्रकृतमनुसरामः। यजुर्मन्त्रों (९.३१-३४) से यह स्पष्ट हो गया है कि छन्दोगत अक्षरसंख्याएँ उसके समान संख्या वाले किसी विषय के सूचक होती हैं।[3] इसी विषय का प्रतिपादक छान्दोग्योपनिषद् से सम्बद्ध एक रोचक प्रसंग वेदान्तदर्शन (१.१.२४-२७) में आता है। जो कि इस प्रकार है – "**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः**"(छां०उप० ३.१३.७)। इस द्युलोक से परे परमज्योति विश्व के ऊपर सर्वोत्तम लोक अर्थात् जिससे उत्तम व ऊपर अन्य कोई लोक नहीं है, उसमें प्रदीप्त हो रही है। वही ज्योति निश्चय से पुरुष के भीतर प्रदीप्त हो रही है। इस वचन में सन्देह उत्पन्न होता है कि यहाँ ज्योतिः शब्द से आदित्यादि की भौतिक ज्योति का ग्रहण है अथवा परमात्मा का ग्रहण है? लोक और वेद में प्रसिद्ध होने से आदित्यज्योति का ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन है। क्योंकि इस वचन में या इससे पूर्व के वचन या प्रकरण में परमात्मा का ग्रहण करने के लिए न तद्वाचक कोई ब्रह्मादि शब्द हैं और न ही उसके कोई लिङ्ग (असाधारण गुण, क्रियादि) का वर्णन है। जिससे परमात्मा का ग्रहण कर सकें। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि यहाँ ज्योतिः शब्द से ब्रह्म (परमात्मा) का ही ग्रहण है, क्योंकि इससे पूर्व के खण्ड (छां०३.१२) में और पश्चात् के खण्ड (छां० ३.१४) में ब्रह्म का वर्णन है। अतः मध्य के इस प्रकरण में या ज्योतिर्वचन में ब्रह्म का ही ग्रहण है। इस (३.१३) से पूर्व के खण्ड (३.१२) में तो ब्रह्म का वर्णन नहीं है, अपितु गायत्री छन्द का वर्णन है – "**गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च**"(छां०उप० ३.१२.१) आदि।

---

१. 'लृ' का जब ह्रस्व और प्लुत है, तब दीर्घ भी होना चाहिये। परन्तु संस्कृत साहित्य में वह कहीं भी नहीं पाया जाता, इसलिये उसकी गणना वर्णमाला में नहीं की जाती (रघुनन्दन शर्मा)।

२. मनः कामना = मनस्कामना (रघुनन्दन शर्मा)।

३. यह शैली अन्यत्र भी बहुत्र देखी जाती है। यथा – य एव एतस्मिन् मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः, एकं शिरः, एकमेतदक्षरं; भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्व एते अक्षरे; सुवरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्व एते अक्षरे... (बृ०उप० ५.५.३; अपि च द्र० ५.५.४)। शिर एक होता है, इसलिए उसका नाम भी एकाक्षर (भूः) है, बाहू दो होते हैं अतः उनका नाम भी द्व्यक्षरक (भुवः) है, प्रतिष्ठा (पैर) दो होते हैं, अत एव उनका नाम भी द्व्यक्षरक (सुवः) है। स्पष्ट है अक्षरों की संख्या से भी द्योत्य अर्थ होता है। **कोई भी वैदिक संज्ञा यदृच्छया नहीं रखी जाती है।**

सिद्धान्ती कहता है कि– ठीक है, पूर्वखण्ड में गायत्री का वर्णन है, पर गायत्री से २४ अक्षर वाला छन्दोविशेष का ग्रहण नहीं है, अपितु ब्रह्म (परमात्मा) का ही ग्रहण है। कैसे? **''ज्योतिश्चरणाभिधानात्''** (वेदा० १.१.२४) यहाँ (छां०उप० ३.१२.१-४ में) गायत्री के चार पादों का कथन है। वे हैं – 'भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय (मस्तिष्कगत स्थानविशेष)'। इन चार पादों के सादृश्य से ब्रह्म के भी चार पादों (पूर्ण ब्रह्म) का ग्रहण होता है। इसी चतुष्पाद् पूर्णब्रह्म की महिमा को दिखाने के लिए उपनिषत्कार ऋषि पुरुषसूक्त के मन्त्र को उद्धृत करते हैं– **''तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि''**(छां०उप० ३.१२.६; तुलना ऋ०१०.९०.३, यजु० ३१.३, अथर्व० १९.६.३) । ये सभी चराचर भूत ब्रह्म के एक पाद में विद्यमान हैं, शेष अमृतमय तीन पाद द्युलोक में हैं । पुरुषसूक्त में ब्रह्म (परमात्मा) का ही प्रतिपादन है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। यहाँ गायत्री के प्रकरण में इस मन्त्र को उद्धृत करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह महिमा गायत्री का नहीं, अपितु ब्रह्म की है। इतना ही नहीं इस उद्धरण के समनन्तर ही ऋषि स्पष्ट ही कहते हैं कि – **''यद्वै तद् ब्रह्म०''** यह वही ब्रह्म है, जो गायत्री द्वारा प्रतिपादित है। तभी तो यह कथन सत्य हो सकता है – **''गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च''**(छां०उप० ३.१२.१)। अन्यथा २४ अक्षरों में बद्ध गायत्री छन्द से ये सभी भूत कैसे निर्मित होते ? कदापि नहीं। अतः यहाँ ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि उसीसे जगत् की उत्पत्ति होती है[1]– **''न ह्यक्षरसंनिवेशनमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं सम्भवति। तस्माद्यद् गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते ।[2] यथा– 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छां०उप० ३.१४.१)'' (शांकरभाष्य, वेदान्त० १.१.२५)। इस प्रसंग का तात्पर्य यहाँ यह ग्राह्य है कि गायत्री (ब्रह्म) का उपासक भूतादि बाह्य पदार्थों (पादों) से क्रमशः अपने चित्त को हटाते हुए अन्त में अपनी आत्मा के अन्दर विद्यमान ब्रह्म (गायत्री) में ही चित्त को लगाना चाहिए। उपनिषद् के गूढभाव को वेदान्तकार कहते हैं – **''छन्दोऽभिधानान्नेति चेत् न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम्''** (१.१.२५)। गायत्री से अक्षरात्मक छन्द का ग्रहण करेंगे तो उसमें चित्त के अर्पण (ध्यान) का कथन सम्भव नहीं है। वह चित्तार्पण तो केवल ब्रह्म में ही सम्भव है।

गायत्री में तो तीन ही पाद (३×८=२४ अक्षर) होते हैं। इसका चतुष्पाद ब्रह्म के साथ सादृश्य कैसा है? गायत्री छन्द चतुष्पाद भी होता है।[3] प्रत्येक पाद में छह-छह अक्षर होते हैं (४×६=२४ अक्षर)। इस प्रकार गायत्री छन्द चार पाद वाला और प्रत्येक पाद छह अक्षरवाला होता है, ऐसा ऋचा (**तावानस्य महिमा०**छां०उप० ३.१२.६) ही कह रही है– **''सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनुक्तम्** (छां०उप० १.१२.५)। गायत्री के चार पाद ब्रह्म के चार पादों के उपलक्षक (द्योतक) हैं, यह स्पष्ट हो गया है। प्रत्येक पाद के ६-६ अक्षर (षड्विधात्व) किस-किस के उपलक्षक हैं ? इसका विवरण हमें माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म के वाचक ओम्पद की व्याख्या में मिलता है। जिसका सार इसप्रकार है– ब्रह्म के प्रथमपाद (ओंकार के प्रथमाक्षर अकार) की छह विधाएँ – १. जागरितस्थान, २. बहिःप्रज्ञ, ३. सप्तांग, ४. एकोनविंशतिमुख, ५. स्थूलभुक् और ६. वैश्वानर (माण्डू० ३)। ब्रह्म के द्वितीयपाद (द्वितीय अक्षर उकार) की छह विधाएँ– १. स्वप्नस्थान, २. अन्तःप्रज्ञ, ३. सप्तांग, ४. एकोनविंशतिमुख, ५. प्रविविक्तभुक् और ६. तैजस् (माण्डू० ४)। ब्रह्म के तृतीयपाद (तृतीयाक्षर मकार) की छह विधाएँ– १. सुषुप्तस्थान, २. प्रज्ञानघन (गूढप्रज्ञ), ३. एकीभूत (एकाङ्ग), ४. चेतोमुख, ५.

---

१. जन्माद्यस्य यतः(वेदान्त० १.१.२)।

२. यहाँ शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म में भेद को माना है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वचन में भी 'सर्वं इदं' से जगत् का ही ग्रहण करना चाहिए, न कि ब्रह्म।

३. द्र० वैदिक छन्दोमीमांसा – अ०९, पृ०१३३,१३७ ।

आनन्दभुक् और ६. प्राज्ञ (माण्डू० ५)। ब्रह्म के चतुर्थपाद (अमात्र)[१] की छह विधाएँ — १.अव्यपदेश्य, २. एकात्मप्रत्ययसार, ३. प्रपञ्चोपशम, ४. शान्त, ५. शिव और ६. अद्वैत (माण्डू० ७)। इसप्रकार चतुष्पाद एवं षड्विध पूर्ण ब्रह्म (गायत्री) का ग्रहण ही छान्दोग्यकार ऋषि को अभिप्रेत है।

शंकराचार्य अपने वेदान्तभाष्य में सुविस्तृतरूप से गायत्री से ब्रह्म का ग्रहण होता है, ऐसा प्रतिपादन कर अन्त में किसी पूर्वाचार्य के मत को भी उद्धृत करते हैं– " **अपर आह– साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामान्यात्। यथा– गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात् प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा – 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्य 'सैषा विराडन्नादी'** (छां०उप० ४.३.८) इति"(वेदा० १.१.२५)। गायत्री छन्द अपने पादों एवं अक्षरों से ब्रह्म का उपलक्षक अर्थात् परोक्षतः वाचक नहीं है, अपितु साक्षात् ब्रह्म का वाचक है। इसमें हेतु यह है कि ब्रह्म में एवं गायत्री में पादशः एवं अक्षरशः पूर्णतया संख्यासाम्यता है (इसे पूर्व में दिखा चुके हैं)। इसप्रकार संख्यादि साम्यता से तत्समसंख्याक अन्य विषय का अभिधान व ग्रहण करना केवल यहीं गायत्री प्रकरण में नहीं है, अपितु अन्यत्र (अन्य छन्दादियों में) भी इसीप्रकार देखा जाता है। जैसे कि– छान्दोग्य (४.३) में वर्णित है कि– " **तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु, प्राणः प्राणेषु**" (४.३.४) अर्थात् संवर्ग (लयस्थान)[२] दो ही हैं– १. अधिदेव में वायु है, क्योंकि अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल वायु में ही लीन होते हैं (४.३.१-२) और अध्यात्म (शरीर व इन्द्रियों) में प्राण है, क्योंकि वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन प्राण में ही लीन होते हैं (४.३.३)। इस प्रकार वायु और प्राण में क्रमशः अग्नि आदि और वागादि चार-चार के लीन होने से दोनों संवर्ग पांच-पांच के हो गये हैं। अर्थात् प्रलयावस्था में वायु एवं प्राण में उन चार-चारों का लय होता है और सर्गावस्था में उन्हीं दो से क्रमशः अग्न्यादि की तथा वागादि की उत्पत्ति होती है। ये दोनों पांच अधिदेव एवं पांच अध्यात्म तत्त्वों से युक्त संवर्ग (वायु और प्राण) अन्य-अन्य हैं। पर ये दोनों (वायु और प्राण) यथार्थतः एक ही (वायुस्वरूपक) होने से दोनों मिलकर दस हो जाते हैं। क्योंकि यह वायु सब (दस) का भक्षक (लयस्थान, संवर्ग) है। इसलिए इसे 'कृत' कहते हैं। यह कृतसंज्ञा द्यूतक्रीडा के सादृश्य से है। क्योंकि द्यूतक्रीडा में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि संज्ञक चार पासे होते हैं। जिनके अंक क्रमशः चार, तीन, दो, और एक होते हैं। कृत के जीत लेने पर विजेता को दस अंक मिलते हैं, क्योंकि चार में तीनादि का अन्तर्भाव होने से उनका योग (४+३+२+१=) दस हो जाता है। इसलिये वह कृत सब का भक्षक (अन्तर्भावक) है। इसी सादृश्य से दसों के भक्षक वायु को भी 'कृत' कहा गया है। प्रकृत प्रसंग में कृत से द्यूतविषय का ग्रहण न कर दसों का भक्षक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। जो-जो दसों का भक्षक (अन्नाद) होता है, वह-वह कृत व अन्नाद (भक्षक) होता है।[३] वायु अग्न्यादि दसों का भक्षक होने से 'कृत' कहलाया है। इसी संख्या की सादृश्यता से दस अक्षर के चार-चार पाद वाले विराट् छन्द[४] को अन्नादी कहा गया है– "**सैषा विराडन्नादी**"(छां०उप० ४.३.८)। अर्थात् संख्या सामान्य (सादृश्यता) से प्रायः तत्समान संख्या वाले अन्य विषयों का ग्रहण करना आर्षसम्प्रदाय है। इसलिए गायत्री से भी संख्यासादृश्य से ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा वेदान्त सूत्रों (१.१.२४-२७) का आशय है। यही आशय अर्थात् छन्दोगत अक्षर या पाद के संख्यासादृश्य से तत्समसंख्याक

---

१. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः.....शिवोऽद्वैत एवमोंकारः — माण्डू० १२।

२. संवर्जनात् संग्रहणात् संग्रसनाद् वा (वायुरेव) संवर्गः (शंकरः, छां०उप० ४.३.१)।

३. रावण दस दिशाओं (के भोग्य अन्न = राज्यादि) का विजेता होने से वह भी अन्न (भोग्यों) का भक्षक (अन्नाद) है। इसलिए 'दशानन' कहलाया है।

४. चतुर्धी३ह्येतस्याः (विराजः) दश दशाक्षराणि(मै०सं० १.११.१०)। दशाक्षरा विराट् (तै०सं० २.६.१.२)

तत्त्वों का परिशीलन कर तत्त्वों के ज्ञान को अधिकृत करना चाहिए। यही यजुर्मन्त्रों (९.३१-३४) का भी निगूढ अभिप्राय है।

अभी तक छन्दों के द्वारा प्रतिपादनीय विषयों का संकेततः वर्णन किया गया है। यहाँ एक संदेह उत्पन्न होता है कि– मन्त्र के वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करने वाले अग्नि आदि को देवता कहा जाता है और देवता वाचक अग्नि आदि शब्द ही मन्त्रप्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादक होते हैं, पुनः छन्द विषयों का प्रतिपादन कैसे करेंगे? इसका समाधान यह है कि **छन्द केवल अक्षर परिमाण से युक्त वाक्यविशेषमात्र नहीं है, अपितु देवता के अंगभूत उपदेवता हैं।** इसी को ऐतरेय ब्राह्मणकार (३.४७) **'देविका'** कहते हैं।[1] उनका कथन है कि– ''छन्द देवताओं के लिए हवियों का वहन करते हुए थक गये हैं, तो श्रमपरिहार केलिए याग के अन्त में 'देविकाओं' (छन्दों) के लिए भी हवियों का निर्वाप करें।'' जिसके लिए हवियों का निर्वाप किया जाता है या आहुति दी जाती है, वह देवता ही कहलाता है।[2] देविकाख्य छन्दों के लिए हवियों का उल्लेख है, तो छन्द देवता (उपदेवता) ही हुए हैं। अर्थात् इनका भी प्रतिपाद्य होता है, उसी का संकेत किया गया है। **अश्मा जागतम्** (शां०आ० ११.७) [अश्मा जगती छन्द का विषय है], **जागतं श्रोत्रम्**(मै०सं० ३.४.४), **जागताः पशवः** (मै०सं० ३.४.२), **जागतो वैश्यः**(ऐ०ब्रा०१.२८), **जागतो हि होता**(जै०ब्रा० १.३१८), **त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः**(तां०ब्रा० ६.२३) इत्यादि ताद्धित निर्देशों से स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि छन्दों का भी प्रतिपाद्य विषय होता है।

कामनाविशेष के लिए छन्दोविशेष का विधान किया गया है। यथा– **यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति** (मी० शा० भा० १.४.११.१७, तु० तै०सं० २.२.५.३)। ''**गायत्रचितं चिन्वीत ब्रह्मवर्चसकामस्य, त्रिष्टुप्चितं वीर्यकामस्य जगतीचितं पशुकामस्य**''**इत्येवमादीनां कामसंयोगात्त – तत्कामुकानामेव तत्तच्छन्दस्का ऋचोऽकामानां तदितरच्छन्दस्का एवेति व्यवस्था** (भास्कर भट्ट– संकर्षकाण्ड– २.१.३७)। इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि उस-उस कामना को सिद्ध करने का सामर्थ्य अथवा उस कामना का विषय उसी छन्द में सम्भव है, अन्य छन्द में नहीं। इसीलिए यज्ञादि में नियत छन्दस्क मन्त्रों के विनियोग की व्यवस्था की गयी है।[3] इतना ही नहीं छन्दों के परिवर्तन का निषेध भी किया हुआ।[4] यथा– बृहस्पतिसव में ''**गायत्रमेतदहर्भवति**'' ऐसा कहा गया है। तो वहाँ प्राप्त त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के अक्षरों का लोप करके गायत्री छन्द नहीं बनाना चाहिए, अपितु ऋग्वेद में पठित गायत्री ऋचाओं का ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मीमांसादर्शन (८.३.१२-३६) में निर्णय किया गया है। इसके कारण को बताते हुए शबरस्वामी लिखते हैं कि ''**अर्थाभिधानार्थश्च मन्त्रप्रयोगः**''(८.३.३६)। स्पष्ट है कि अभीष्टार्थ के प्रतिपादन का सामर्थ्य विशिष्ट छन्द में ही होता है। महर्षि दयानन्द ने भी यजुर्वेद (२१.१४) के भाष्य में इसका स्पष्ट संकेत दिया है– ''**अनुष्टुप्छन्दं इन्द्रियम् = ज्ञानादिव्यवहारसाधकम्**'' अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्तव्य ज्ञानादि व्यवहारों को जानने में अनुष्टुप् छन्द साधन है, उपयोगी है। यजुर्वेद भी कहता है कि– ''**शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यानुष्टुभं ऐडमैडान्मन्थी**'' (यजु० १३.५७) अनुष्टुप् छन्द शरद् ऋतु तथा तत्सम्बन्धी विषयों का व्याख्याता है और ऐडम्= इडा, वाक् सम्बन्ध का व्याख्याता है। (ऐडान्मन्थी) इसप्रकार अनुष्टुप् छन्द से वाग्विज्ञान को जानने से व्यक्ति

---

१. छन्दांसि वै देविकाः(तै०सं० ३.४.९.१; मै०सं० ४.३.५)। छन्दांसि देव्यः (शत०ब्रा० ९.५.१.३९)।

२. यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता, न सा यस्यै न गृह्यते(शत०ब्रा० ९.२.१.९)।

३. तद्यथा– ''वज्रस्त्रिष्टुप्। वज्रो यूपः। तस्मात् त्रिस्टुभा मिनोति'' (शत०ब्रा० ३.७.१.१५)। त्रिष्टुप् वज्र है, यूप भी वज्र है। इसीलिए त्रिष्टुप्छन्दस्क मन्त्र (यजु० ६.३) से यूप को अवट (खड्ढे) में खड़ा करता है।

४. छन्दपरिवर्तन के विहितस्थलों को छोड़ कर।

ज्ञान का मन्थन करने वाला (अनुसन्धाता, विशेषज्ञानी) बनता है।

अभी तक वैदिक छन्द के द्वारा किस-किस विषय का प्रतिपादन किया जा सकता है, इसका निरूपण किया गया है, इसकी पुष्टि लौकिक काव्य के लक्षणकार आचार्यों के वचनों से भी होती है। क्योंकि रुद्र, वीर, हास्य, करुण आदि रसों की अभिव्यक्ति किसी भी छन्द में व अलंकार में या स्वर में नहीं होती है। अभीष्ट रस की अभिव्यक्ति छन्दोविशेष, अलंकारविशेष, स्वरविशेष एवं ध्वनिविशेषों में ही होती है। यहाँ तक कि विशिष्ट अक्षरों की योजना भी रसानुकूल होनी चाहिए, ऐसा काव्यलक्षणकार आचार्यों की स्पष्ट अभिमति है। उदाहरण के लिए यहाँ भरतमुनि विरचित 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर हम इस विषय को प्रस्तुत कर रहें हैं। भरतमुनि १७ वें अध्याय में लिखते हैं कि– सभी प्रकार के काव्यों में भाव एवं रसों के अनुरूप ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों का प्रयोग करना चाहिए (११७)। किसी विषय के स्मरण में, असूया में, रोदन क्रियाओं में, वेदपाठ में प्लुत का प्रयोग करना चाहिए (११५)। स्मरण में 'आ' का, असूया में 'ऊ' का, रोदन में 'हा' का और वेदाध्ययन में 'ओम्' का उच्चारण करना चाहिए (११६)। बीभत्स तथा करुण रसों में गुरु अक्षरों वाली रचना हो, रुद्र एवं वीर रसों से करुण रस के वर्णन में भी यथाशक्य गुरु अक्षरों की रचना हो (१०८)। शृङ्गाररस में रूपक एवं दीपक अलंकार का और आर्यावृत्त तथा कोमल वृत्तों (छन्दों) का प्रयोग करना चाहिए (१०९)। वीररस में संयुक्त वर्णों का प्रयोग अधिक हो और उसमें अतिजगती एवं संकृति जैसे वृत्तों (छन्दों) का प्रयोग होना चाहिए (११०)। युद्ध तथा उपद्रव (संकट) के वर्णन में उत्कृति छन्द का और करुण रस में शक्करी एवं अतिधृति छन्दों की योजना करनी चाहिए (१११)। वीररस के लिए उपयुक्त छन्द रौद्ररस के लिए भी उपयोगी हैं। शेष रसों में अर्थानुकूल, यथोचित छन्दों का प्रयोग करना चाहिए (११२)।

अभीष्ट रस को प्रकट करने के लिए षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि एवं उदात्तादि स्वर भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इस विषय में भरतमुनि १९ वें अध्याय में लिखते हैं कि– "हास्य एवं शृंगार रसों में मध्यम एवं पञ्चम स्वर का और वीर, रुद्र तथा अद्भुत रसों में षड्ज तथा ऋषभ स्वरों का प्रयोग करना चाहिए (३८)। करुणरस में गान्धार तथा निषाद स्वर का और बीभत्स एवं भयानक रस में धैवत स्वर का प्रयोग होना चाहिए (३९)।[1] हास्य तथा शृंगार रसों में स्वरित तथा उदात्त स्वर का; वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसों में उदात्त एवं कम्पित स्वर का; करुण, वात्सल्य तथा भयानक रसों में अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित स्वरों का प्रयोग होना चाहिए (४३)।" इन स्वरों के उच्च, नीच, द्रुत, विलम्बित आदि छह अलंकार भी होते हैं। इनके विषय में भरतमुनि आगे लिखते हैं कि– "दूरस्थ व्यक्ति के सम्बोधन में, त्रास और बाध आदि में उच्च स्वर का; आक्षेप, युद्ध, कलह, विवाद, अमर्ष, छीनना, क्रोध, शौर्य, अहंकार, तेज, रूखा उत्तर, डांटना और रोना आदि में दीर्घ स्वर का; निर्वेद, ग्लानि, शंका, चिन्ता, औत्सुक्य, दीनता, व्याधि, तीव्रघाव, मूर्छा, मद और गूढार्थक शब्दों के प्रयोग में मन्द्रस्वर का; स्वाभाविक सम्भाषण, व्याधि, यात्रा के थकावट में, व्यक्ति के गिरने में, मूर्छित होने में नीच स्वर का; सान्त्वना, प्रिय के प्रस्ताव की अस्वीकृति, भय, शीतज्वर, त्रास, आवेग आदि में द्रुत स्वर का; शृंगार करुण, वितर्क, विचार, अमर्ष, असूया, अव्यक्तवाणी, लज्ञा, चिन्ता, तर्जन, आश्चर्य, दोषकथन, दीर्घरोग, पीड़ा आदि में विलम्बित स्वर का प्रयोग करना चाहिए (४५)"। इसी प्रकार छठे अध्याय (श्लोक ४४–४६) में रसों का वर्ण एवं देवता के साथ सम्बन्ध भी दिखाया गया है। जो कि इसप्रकार है–

---

१. द्र० भरतनाट्यशास्त्र २०.६।

रस		वर्ण		देवता
१. शृंगार	—	श्याम	—	विष्णु
२. रौद्र	—	रक्त	—	रुद्र
३. वीर	—	गौर	—	महेन्द्र
४. बीभत्स	—	नील	—	महाकाल
५. हास्य	—	श्वेत	—	प्रमथ
६. करुण	—	कपोत	—	यम
७. अद्‌भुत	—	पीत	—	ब्रह्मा
८. भयानक	—	कृष्ण	—	कालदेव

इत्यादि अनेकों विषयों के लिए जिज्ञासु नाट्यशास्त्र के साथ काव्यलक्षण ग्रन्थों का अवलोकन करें। क्योंकि वेद भी एक महाकाव्य है, काव्यों का काव्य है, आदि काव्य है। जब तक काव्यलक्षण अवगत नहीं होंगे, तब तक काव्य (वेद) का आत्मा बुद्धिगत नहीं होगा। वैदिक वाङ्मय में कृतभूरिपरिश्रम विद्वानों ने भी इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया, न ही दे रहें हैं। सम्मान्य स्व० श्री० वागीश्वर वेदालंकार जी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया, वेदकाव्य के वैदिक काव्यलक्षणों को मूर्तरूप देना आरम्भ किया और उन्होंने उस ग्रन्थ का नाम '**वैदिक साहित्य सौदामिनी**' रखा। परन्तु उनके दिवङ्गत होने से, दुर्भाग्य से वह ग्रन्थ अपूर्ण ही रह गया। उनके मस्तिष्क में सम्पूर्ण रूप क्या रहा होगा हमें ज्ञात नहीं है, वे विचार प्रकट होने से पूर्व ही कालगर्भ में विलीन हो गये हैं। संस्कृत के कवित्वगुण से सम्पन्न एवं वैदिकवाङ्मय के परिज्ञाता विद्वान् इस ओर विशेष ध्यान दें तो वैदिक परम्परा का महान् कार्य होगा। इस ओर वैदिक विद्वानों की उपेक्षादृष्टि के उल्लेख से ही वागीश्वर जी ने अपने ग्रन्थ का शुभारम्भ किया है—

सन्त्येके श्रुतिपाठमात्रजरठाः साहित्यविद्वेषिणो,
ये साहित्यपरायणाः सहृदयास्तेषां न वेदे गतिः।
एकस्मिन्नसति द्वयोरपि गुणाभिज्ञे श्रुतिः सीदति,
मर्मज्ञे पुरुषे द्वयोर्हि घटते योगो मणिस्वर्णयोः।।

अस्तु; छन्दादि वेदार्थ में किस प्रकार उपयोगी हो सकते हैं, इस विषय में मैंने इस लेख में संकेत मात्र ही किया है। इसमें और अधिक गम्भीर अध्ययन करने की महती आवश्यकता है।

रसवद्वाचा वदति य एवं वेद (तां०म०ब्रा० ५.७.३)।[1]

---

१. एवमर्थं यो वेद जानाति स वाचा रसवत् रसयुक्तमेव वदति वचनस्य सारवत्वेन ग्राह्या वाग्भवतीत्यर्थः— सायणस्तत्रैव।

१.३. वैदिक छन्द : एक विश्लेषण
(वैदिक छन्दों में परिवर्तन अशास्त्रीय है)*

वेद और वेदार्थ की परम्परा में वैदिक छन्दों का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में कहा भी गया है कि— "**छन्दः पादौ तु वेदस्य**" (पा०शि०४)। जैसे मनुष्यादि प्राणियों में पैरों के विना गति सम्भव नहीं है, वह जीवनभर पंगु होकर अनेकों दुःखों को भोगता है, वैसे ही पादभूत छन्दों के सम्पूर्ण ज्ञान के विना विद्वानों को वेदार्थ में गति (बोध) नहीं हो सकती है और वेदार्थावगति में पंगु होकर अनेकों कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए छन्दोज्ञान के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए आचार्य शौनक ने कहा है—

यश्छन्दसां वेद विशेषमेतं भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि।
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो यः स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम्।। (ऋ०प्रा० १८.६२)

जो विद्वान् छन्दों के इस विशेष महत्त्व को जानता है और त्रिष्टुप् एवं जगती सम्बन्धी भूतों तथा सब रूपों को[१] विशेषतया जानता है, वह इन छन्दों से स्वर्ग (वेदार्थ की विशेष सुखानुभूति) को प्राप्त करता है और अन्त में अमृतत्त्व (मोक्ष) को भी प्राप्त करता है। इसके व्याख्यान में उवट ने भी स्पष्ट लिखा है— "**स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वृद्धिकरं शुभम्। कीर्त्तिमृग्यं यशस्यं च छन्दसां ज्ञानमुच्यते**" (उवट, ऋ०प्रा० १८.६२)।

वैदिक छन्दों की विशेषता यह है कि ये अक्षरसंख्या के ऊपर आश्रित हैं— "**अक्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणी॑:**" (ऋ० १.१६४.२४)। अक्षर (के संख्याभेद) से वेदवाणी (वेद के सभी मन्त्र) सात प्रकार से विभाजित (परिमापित) की जाती है।[२] लक्षणकार आचार्यों ने भी कहा है—"**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**" (ऋ०सर्वा० २.६), **छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते** (अ०बृ०स०, पृ० १)। लौकिक छन्दों के समान प्रत्येक अक्षर के गुरु-लघु-भाव एवं पादों की नियत संख्या की अनिवार्यता वैदिक छन्दों में नहीं होती है। गायत्री आदि वैदिक छन्दों के अक्षरपरिमाणों की जानकारी के लिए= छन्दोविषयक ग्रन्थों का अवलोकन करें। वैदिक छन्द दो प्रकार के होते हैं— १. पादाक्षरगणनानुसारी, यथा— गायत्री आदि। २. केवल अक्षरगणनानुसारी[३], यथा—दैवी, आसुरी आदि। प्रथम प्रकारक छन्दों में पाद और पादस्थ अक्षरों की गणना देखी जाती है। द्वितीयप्रकारक छन्दों में पादव्यवस्था नहीं होती है, अपितु केवल अक्षरों से छन्दोनिर्णय होता है। परन्तु वैदिक छन्दों में पाद एवं अक्षरों की संख्या अनिवार्यतया नियत नहीं है, अपितु परिवर्तनशील है। अक्षरादि की संख्या न्यूनाधिक होने पर भी मन्त्र का छन्द वही माना जाता है— "**न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्** (ऐ०ब्रा० १.६; २.३७),

---

*. यह लेख वेदवाणी (फरवरी-मार्च २०२१) और आर्षज्योति (फरवरी-२०२१) में प्रकाशित है।

१. सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च, स्पर्शांश्च गन्धाश्च रसाश्च सर्वे।
शब्दाश्च रूपाणि च सर्वमेतत्, त्रिष्टुब्जगत्यौ समुपैति भक्त्या।। (ऋ०प्रा० १८.५९)

२. अ॒भि वाणी॒र्ऋषी॑णां स॒प्त नू॑षत (ऋ० ९.१०३.३)— वेदों की सप्तविध वाणियाँ (छन्द) स्तुति करती हैं।

३. पादव्यवस्था के विना केवलाक्षरगणनानुसारी सभी छन्दों के उदाहरण यजुर्वेद में मिलते हैं। कुछ उदाहरण सामवेद और अथर्ववेद में भी मिलते हैं। ऋग्वेद में इनका एक भी उदाहरण नहीं है।

न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति, नो द्वाभ्याम् (कौ० ब्रा०२७.१), **नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न द्वाभ्यां न स्तोत्रियया स्तोमः''** (शत० ब्रा०१२.२.३.३)।

पादव्यवस्था – वेद के मन्त्रों में नियत अक्षरों के समूह को पाद कहते हैं। पादव्यवस्था के विना अवसान का निर्णय नहीं होता है। फलतः अविराम उच्चारण नहीं हो पाता है और वेदार्थ में भी अनेकों कठिनाईयाँ व विसंगतियाँ उपस्थित होती हैं। साथ में छन्दोनिर्णय में अक्षरों के समान पादों का भी विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान है। परन्तु इसके लिए पादनिर्णय की विधि को जानना होगा और उस निर्णय में उपस्थित होने वाले सन्देहों के समाधानों को भी जानना होगा। ऋग्वेद में प्रायः सभी मन्त्र पादाक्षरगणनानुसारी छन्द अर्थात् नियताक्षर वाले पादों से निर्णीत छन्द ही विद्यामान हैं। अतः ऋक्प्रातिशाख्यकार ने सांगोपांग ऋग्वेदीय पादव्यवस्था का प्रतिपादन किया है। उसमें से इस लेख के लिए अपेक्षित विषय को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऋग्वेदीय मन्त्र एक पाद से लेकर आठ पाद वाले मिलते हैं और पाद ४ अक्षरों से आरम्भ होकर १६ अक्षरों तक एवं १८ अक्षर वाले उपलब्ध होते हैं। ऋक्प्रातिशाख्यकार ने चार प्रकार के पाद माने हैं—

पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षरदशाक्षरौ।
एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ॥ (ऋ० प्रा० १७.३७, ३८)

८ अक्षर का गायत्रपाद, १० अक्षर का वैराजपाद और ११ अक्षर का त्रैष्टुभपाद, १२ अक्षर का जागतपाद होते हैं। सभी छन्द प्रायः इन्हीं पादों में होते हैं। कुछ छन्द इनसे भिन्न प्रकार के पाद वाले होते हैं। पर वे सब इन्हीं के विकार हैं। ये चतुर्विध पाद उनकी प्रकृतियाँ हैं—

एतैश्छन्दांसि वर्तन्ते सर्वाण्यन्यैरतो ऽल्पशः।
एतद्विकारा एवान्ये सर्वे तु प्राकृताः समाः॥ (ऋ० प्रा० १७.४०)

ऋग्वेदीय मन्त्रों में लौकिक छन्दों के समान प्रत्येक अक्षर का वृत्त (गुरुलघुभाव) नियत नहीं होता है, अपितु उपान्त्य (अन्तिम से पूर्व के) अक्षर का वृत्त (गुरुलघुभाव) नियत होता है। वह नियम इसप्रकार है—

वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्।
गुर्वेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः॥ (ऋ० प्रा० १७.३९)

पूर्वोक्त चतुर्विध पादों में सबसे बड़े (जागत) पाद और सबसे छोटे (गायत्र) पाद का उपोत्तम (उपान्त्य) अक्षर लघु होता है। इसे 'लघुवृत्ति' कहते हैं। इसके उदाहरण क्रमशः इसप्रकार हैं— **''प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवः''** (ऋ० ९.६८.१) और **''अग्निमीळे पुरोहितम्''** (ऋ० १.१.१)। इन जागत तथा गायत्र पादों के उपोत्तम अक्षर क्रमशः **'न्द'** एवं **'हि'** लघु हैं। अवशिष्ट द्विविध (वैराज एवं त्रैष्टुभ) पादों का उपोत्तम अक्षर गुरु होता है। इसे 'दीर्घवृत्ति' कहते हैं। इसके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं— **''श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेः''** (ऋ० ७.२२.४), **''पिबा सोमम्भि यमुग्र तर्दः''** (ऋ० ६.१७.१)। इन १० अक्षर के वैराजपाद और ११ अक्षर के त्रैष्टुभपाद के उपान्त्य अक्षर क्रमशः **'स्या'** एवं **'त'** गुरु हैं। ऋचाओं (ऋग्वेद) में इसे छन्दों का **'वृत्त'** कहते हैं। यही वैदिक वृत्त (गुरुलघुभाव) लौकिक छन्दों में प्रत्येक अक्षर के लिए नियत होकर पूर्ण विकसित हुआ है। गुरुलघुभाव (वृत्त) से पादों का निर्णय होता है तथा निर्णीत पादों से छन्दों का निर्णय होता है। पादों का ज्ञान केवल वृत्त से ही नहीं होता है, अपितु अन्य हेतुओं से भी होता है। इनके विषय में आचार्य शौनक लिखते हैं— **''प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः''** (ऋ०प्रा० १७.२५)। अर्थात् प्रायः (बाहुल्य, अधिकार, प्रकरण), अर्थ (अन्वय) और वृत्त (गुरुलघुभाव) ये तीनों पादज्ञान के कारण हैं।

प्रायः से पादनिर्णय – किसी ऋचा के पाद का निर्णय करते समय यह ध्यान रखना होगा कि वह पाद जिस सूक्त में पठित है, उस सूक्त में किस प्रकार के पादों का बाहुल्य है और उस पाद से पूर्व किस प्रकार के पाद प्रयुक्त हुए हैं। उन्हीं के आधार पर अभीष्ट पाद के प्रकार या परिमाण का निर्णय किया जाता है। यही 'प्रायः' (प्रकरण) कहाता है। जैसे–

अस्मा इदु प्र भ॑रा तूतु॑जानो वृत्राय वज्र॒मीशा॑नः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि र॑दा तिरश्चे-ष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॑ ॥(ऋ० १.६१.१२)

इस ऋचा के तीसरे पाद में १० अक्षर होने से वैराज पाद की आशंका होती है, पर यह पाद त्रिष्टुप् के अधिकार में होने से इसे त्रैष्टुभपाद ही माना जाता है। त्रैष्टुभपाद के ११ अक्षरों की पूर्त्ति के लिए इस पाद में पठित '**पर्व**' शब्द को '**परुव**' के रूप में उच्चारण (संयुक्ताक्षरों में उ-अच् का व्यवधान) किया जाता है। वैराज एवं त्रैष्टुभ पादों का उपान्त्य अक्षर गुरु ही होता है, यहाँ उपान्त्याक्षर 'र' गुरु होने से वृत्त (गुरुलघुभाव) से वैराज या त्रैष्टुभ पाद का निर्णय नहीं हो सकता है, अधिकार (प्रायः) से ही होगा।

अर्थ से पादनिर्णय – अर्थ की समाप्ति जहाँ होती है, वहीं पाद की समाप्ति होती है। महर्षि जैमिनि ने भी कहा है कि– ''**तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था**'' (मीमांसा० २.१.३५)। तद्यथा–

यद॑ग्ने स्यामहं त्वं–त्वं वा॑ घा स्या अहम्। स्युष्टे॑ सत्या इ॒हाशिष॑ः॥ (ऋ० ८.४४.२३)

यह गायत्री छन्द का मन्त्र है। इसके प्रथम पाद में 'त्वम्' पद पर अर्थ की समाप्ति होने से 'त्वम्' को ही इस पाद का अन्त्य पद माना जाता है।

वृत्त से पादनिर्णय – वैदिक छन्दों में वृत्त का अर्थ पाद के उपोत्तम (उपान्त्य, अन्तिम से पूर्व के) अक्षर का गुरु या लघु होना है। उपान्त्य अक्षर के गुरुलघुभाव को देखकर अन्त्याक्षर पर पाद की समाप्ति होती है, इसप्रकार पाद के समापन का बोध सरलतया हो जाता है। तद्यथा–

अलाय्य॑स्य परशुर्न॑नाश तम्–आ प॑वस्व देव सोम।
आखुं चि॑देव दे॑व सोम॥ (ऋ० ९.६७.३०)

इस मन्त्र का छन्द पुर उष्णिक् है। आद्य पाद में ११ अक्षर हैं। ११ अक्षर वाले त्रैष्टुभपाद का उपान्त्याक्षर नियम से गुरु होता है। पर यहाँ उपान्त्याक्षर (श) लघु है। अतः यहाँ लघुवृत्ति है। १२ अक्षर वाले जागतपाद लघुवृत्ति वाला होता है। इसलिए यहाँ 'अलाय्यस्य' पद में इकार का व्यवधान कर अर्थात् 'अलायियस्य' के रूप में उच्चारण कर १२ अक्षर बनाये जाते हैं। इसप्रकार यहाँ वृत्त (उपान्त्य के लघु अक्षर) से ही जागतपाद का निर्णय हुआ है। जागतपाद के निर्णय से 'पुर उष्णिक्' छन्द का निर्णय होता है।

बलाबल – प्रायः, अर्थ और वृत्तों से पादों का निर्णय होने पर भी कहीं-कहीं असमञ्जस की स्थिति आती है। किन्हीं पादों में प्रायः-अर्थ, अर्थ-वृत्त एवं वृत्त-प्रायः आदि एकाधिक हेतु एकसाथ उपस्थित हो जाते हैं, जिससे पादनिर्णय नहीं हो पाता है। ऐसे सन्देह की निवृत्ति के लिए आचार्य शौनक कहते हैं– ''**विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम्**'' (ऋ०प्रा० १७.२६)। एक से अधिक विशेषों (भेदक हेतुओं) के एकसाथ उपस्थित होने पर पूर्व-पूर्व को प्रबल (प्रथम प्रवृत्त) समझना चाहिए और पर-पर को निर्बल।

१. प्रायः (अधिकार) और अर्थ में बलाबल – ''**ऊर्ध्वो वाज॑स्य सनि॑ता यदञ्जिभि॑र्वा-घद्भि॑र्वि॒ह्वया॑महे**'' (ऋ० १.३६.१३)। मन्त्र का यह उत्तरार्ध बृहती छन्द के सूक्त में पठित है। अधिकार (प्रायः) से ज्ञात होता है कि इसका पाद १२ अक्षर का होना चाहिए अर्थात् इसके आद्य पाद (मन्त्र का तृतीय पाद) का समापन '**अञ्जिभिः**' पद से होता है। पाद का अर्थ '**सनिता**' पद पर समाप्त होने से अर्थतः वहीं पाद का

समापन होना चाहिए। इसप्रकार की सन्दिग्ध स्थिति में अर्थ की अपेक्षा प्रायः (अधिकार) प्रबल होने से **'अञ्जिभिः'** पर ही पाद का समापन माना जाता है। जिससे यह 'पथ्या बृहती छन्द' बन जाता है। यह उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य के उवटभाष्यानुसार है । पं० दामोदर सातवळेकर जी ने तो अपनी ऋग्वेदसंहिता में 'सनिता' पर तृतीयपाद को समाप्त कर चतुर्थपाद में १२ अक्षर माने हैं। जिससे यह 'उपरिष्टाद् बृहती' छन्द हो जाता है। अतः यहाँ कोई अन्य उदाहरण अन्वेषणीय है। यहाँ तो केवल पादव्यवस्था के नियमों को उपस्थित करना ही अभीष्ट है।

२. प्रायः और वृत्त में बलाबल— "**प्रत्यंग्रभीष्मु नृतंमस्य नृणाम्**" (ऋ० ५.३०.१२)। यह पाद त्रिष्टुप् के अधिकार (प्रायः) में है और इसमें ११ अक्षर भी हैं। त्रैष्टुभपाद का उपान्त्याक्षर गुरु होता है। परन्तु यहाँ उपान्त्याक्षर (नृ) लघु है। यदि व्यवहित (प्रतियग्रभीष्म) कर पाद को १२ अक्षर वाला बना दिया जाता है तो, वह जागतपाद बनेगा और जागतपाद का उपान्त्याक्षर लघु ही होता है। अब यहाँ सन्देह उत्पन्न होता है कि प्रायः से इसे त्रैष्टुभपाद माना जाय या वृत्त (गुरुलघुभाव) से जागतपाद माना जाय। वृत्त की अपेक्षा प्रायः बलवान् होने से इसे ११ अक्षर वाला त्रैष्टुभपाद ही माना जायेगा, न कि जागतपाद और न ही व्यवधान (प्रतियग्रभीष्म) का ऊह (विकार) होगा।

३. अर्थ और वृत्त में बलाबल— अर्थ के विवरण में एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया था— "**यदंग्ने स्यामहं त्वम्०**" (ऋ० ८.४४.२३)। अर्थ की दृष्टि से इस गायत्रपाद का अन्तिम पद 'त्वम्' है। परन्तु इसका उपान्त्य अक्षर (हं) गुरु है। जबकि गायत्रपाद का उपान्त्य अक्षर लघु होता है। यदि इस पाद का अन्तिम पद 'अहं' को मानते हैं, तो उपान्त्य अक्षर (म) लघु हो जाता है और गायत्रपाद का लघुत्व भी सार्थक होता है। अब क्या करें? वृत्त की अपेक्षा अर्थ प्रबल होने से अर्थतः 'त्वम्' को ही पाद का अन्त्य पद मानना चाहिए।

४. स्वर का प्रबलतमत्त्व — प्रायः, अर्थ और वृत्त के समान स्वर (=अनुदात्त, सर्वानुदात्त) भी पादों का निर्णायक होता है। आचार्य शौनक लिखते हैं— "**अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम्**" (ऋ० प्रा० १७.२७)। पाद के आदि में '<u>उ</u>' को छोड़कर अन्य कोई अनुदात्त (सर्वानुदात्त) वाला पद ऋग्वेद में नहीं आता है।[1] इसके अपवादभूत स्थलों को दिखाते हुए शौनक आगे लिखते हैं— "**पादादावनुदात्तं तु यदन्यत् तदिहोदितम्**" (ऋ०प्रा० १७.२८)। इसके आगे सूत्र २९ से ३५ तक ऋग्वेदीय पादों के आदि में आने वाले ('<u>उ</u>' से भिन्न) सर्वानुदात्त पदों का परिगणन इसप्रकार किया है—

१. वश ऋषि के सूक्त में '**<u>इयक्षसि</u>**' (ऋ० ८.४६.१७) पद।
२. "**अभीष्टे**" से प्रारम्भ होने वाली तीन ऋचाओं (ऋ० ४.१०.४—६) में न-पूर्ववाले पद सर्वानुदात्त हैं— "**(न) <u>स्तनयन्ति</u>**", "**(न) <u>रोचत</u> <u>उपाके</u>**", "**(न) <u>रोचत</u> <u>स्वधावः</u>**"
३. मधुच्छन्दा ऋषि के सूक्त में '**<u>ऋतावृधौ</u>**' (ऋ० १.२.८) पद।
४. स्तोमशब्द परक '**<u>अधायि</u>**' (ऋ० ७.३४.१४) पद।
५. ऋतशब्द परक '**<u>स्रिधत्</u>**' (ऋ० ७.३४.१७) पद।
६. '**<u>हुवे</u> <u>तुराणाम्</u>**' (ऋ० ७.५६.१०) में आद्य '<u>हुवे</u>' पद।
७. '**<u>तृपन्</u> मरुतः०**' (ऋ० ७.५६.१०) में '**<u>मरुतः</u>**' पद।

---

१. यह मत पाणिनि को भी अभीष्ट है— "पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ" (अष्टा० ८.१.१६—१८) आदि।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में 'इयक्षसि' आदि को और 'उ' को छोड़कर अन्य कोई भी सर्वानुदात्त पद पाद के आरम्भ में नहीं आता है। इस निष्कर्ष के तात्पर्य को व्याख्याकार उवट कहते हैं कि— **'अयमपि पादान्तज्ञाने हेतुरेव सर्वहेतुभ्यो बलवत्तमः'** (उवट, ऋ० प्रा० १७.२७)। स्वरविषयक यह नियम भी पादान्त के ज्ञान में हेतु ही है और यह प्रायः (अधिकार) आदि तीनों हेतुओं से बलवान् है अर्थात् यह सबका बाधक है। तद्यथा—

क्षत्राय॑ त्वमव॑सि न त्वम् आविथ शचीपत० (ऋ० ८.३७.६)।

यह मन्त्र ८-८ अक्षरों के गायत्रपादों वाले (पथ्यापङ्क्ति) छन्द के प्रकरण (प्रायः) में पठित है। इसमें प्रथम पाद (८ अक्षरों) के बाद और द्वितीय पाद के आरम्भ में सानुदात्त 'त्वम्' पद आया है। अतः यह उक्त सर्वापवादभूत स्वरनियम के विपरीत है। इसलिए 'त्वम्' पद पर प्रथम पाद का समापन करना चाहिए। परन्तु ऐसा करने से प्रायः (प्रकरण) के विपरीत हो जायेगा। क्योंकि इससे प्रथम पाद ९ अक्षर का होगा और द्वितीय पाद ७ अक्षर का होगा। साथ में यह भी दोष दीखता है कि— गायत्रपाद का उपान्त्य अक्षर लघु होता है। 'न' को पाद का अन्त्य पद मानने पर उपान्त्य अक्षर (सि) लघु रहता है। परन्तु 'त्वम्' को पादान्त पद मानने पर उपान्त्य अक्षर (न) गुरु हो जाता है। अतः त्वमन्त पाद 'वृत्त' से भी विरुद्ध हो रहा है। 'अर्थ (अन्वय)' की दृष्टि से 'न त्वम्' दोनों ही पद द्वितीय पाद से सम्बद्ध हैं, न कि प्रथम पाद के साथ।[1] इसप्रकार 'त्वम्' पद को आद्य पाद का अन्तिम पद मानने से 'प्रायः' आदि तीनों हेतुओं से विरुद्ध हो रहा है, पुनरपि प्रबलतम स्वरनियम से सब हेतुओं को बाधकर 'त्वम्' पद पर ही प्रथम पाद का समापन किया जाता है।

यहाँ यह भी नियम विशेषतया ध्यातव्य है कि पादों का विभाग सदा पदान्त में ही होना चाहिए, न कि पदों के मध्य में—

पदाभेदेन पादानां विभागोऽभिसमीक्ष्य तु।
छन्दसां सम्पदं तां तां यां यां मन्यते पादतः॥ (ऋ० प्रा० १७.२४)

"माध्य॑न्दिनस्य सव॑नस्य वृत्रहन्ननेद्य ०" (ऋ० ८.३७.१—६)।

यह मन्त्र ८-८ अक्षरों (गायत्रपाद) के प्रकरण (प्रायः) में पठित है। ८ अक्षरों का पादविभाग यहाँ तभी होगा, जब 'सवनस्य' पद को 'सवन। स्य' के रूप में विभाग करेंगे। परन्तु यह विभाग **'पदाभेदेन'** नियम के विपरीत होने से प्रकरण को त्यागकर 'सवनस्य' इस पदान्त पर ही पाद का समापन करना चाहिए। अतः **पादों के विभाग के लिए कभी भी पदों का विभाग नहीं करना चाहिए।**

ऋग्वेदीय पादव्यवस्था के नियमों को संक्षेप से समझने के पश्चात् अब मुख्य विचारणीय विषय की ओर प्रस्थान करते हैं। छन्द या पादों में एक-दो अक्षरों के न्यून होने पर उनकी पूर्त्ति के उपायों का वर्णन करते हुए आचार्य शौनक ने लिखा है कि—

व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः॥[2] (ऋ० प्रा० १७.२२—२३)

प्रश्लिष्ट (=दीर्घ, गुण एवं वृद्धि) सन्धि और अभिनिहित (=पूर्वरूप) सन्धियों को यहाँ एकाक्षरीभाव (=एकादेश) कहा गया है। पादों में (एक या दो) अक्षरों की न्यूनता होने पर छन्द की सम्पत्ति (पूर्ति) के लिए

---

१. (क्षत्राय त्वम् अवसि) तू इन्द्र बल के लिए जगत् की रक्षा करता है, पर (न त्वम् आविथ) तू स्वयं किसीसे रक्षित नहीं होता है।

२. व्यूहैः सम्पत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम् (ऋ०प्रा० ८.४०)।

एकाक्षरीभाव के स्वरों का व्यूहन (सन्धिविच्छेद) करें। संयोग के अन्त में अन्तस्थ (क्षैप्र) वर्ण हो, ऐसे संयोगों में अन्तस्थ वर्ण[1] के सदृश अज्वर्णों से संयोगों को व्यवहित कर अक्षरों की पूर्ति कर सकते हैं। स्पष्टता के लिए इनके कुछ उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

व्यूह— व्यूह (सन्धिविच्छेद) से छन्द की अभीष्ट अक्षरसंख्या की पूर्ति का उदाहरण इसप्रकार है— "**सास्माकेभिरेतरी न शूषैः**" (ऋ० ६.१२.४)। यह पाद त्रिष्टुप् छन्द का है। अतः इसमें ११ अक्षर होने चाहिए, परन्तु इसमें १० ही अक्षर हैं। इसलिए व्यूहन कर 'स अस्माकेभिः' पढ़ा जाता है। जिससे त्रैष्टुभपाद के ११ अक्षरों की पूर्ति हो जाती है। "**स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव**" (ऋ० १.१.९)— यह मन्त्र गायत्रीछन्दस्क है। अतः इसके पादों में ८-८ अक्षर होने चाहिए। परन्तु इसके द्वितीय पाद में ७ ही अक्षर हैं। इसलिए अभिनिहित (पूर्वरूप) सन्धि का विच्छेद (सूनवे अग्ने) कर अक्षरों की पूर्ति की जाती है। ऐसे ही गुणसन्धि, वृद्धिसन्धियों में भी समझना चाहिए।

व्यवाय— व्यवाय (अन्तस्थ वर्णों के सदृश अचों से व्यवहित) के उदाहरणों को हम पहले उपस्थित कर चुके हैं।[2] अतः अन्य उदाहरणों को विस्तार के भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहें हैं। यहाँ विशेषतया ध्यातव्य है कि— यह व्यूह और व्यवाय सर्वत्र नहीं किया जाता है, अपितु केवल अक्षरों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। साथ में यह भी ध्यातव्य है कि एक मन्त्र या पाद में अनेक व्यूह या व्यवाय की सम्भावना होने पर भी यदि एक अक्षर की अपेक्षा हो तो, एक ही बार व्यूहादि किया जायेगा, वह भी सर्वप्रथम अवसर पर ही किया जाता है। जैसे— "**एतायामोपगव्यन्त इन्द्रम्**" (ऋ० १.३३.१) में 'आ+इत+आयाम+उप' के रूप में व्यूह (विच्छेद) सम्भव होने पर भी केवल एक ही (प्रथम) स्थान पर व्यूह (आ+इतायामोप) कर १० अक्षर के पाद को ११ अक्षर के उच्चारण से त्रैष्टुभपाद बनाया जाता है। ऐसे ही व्यवाय में भी समझना चाहिए।

ऋक्प्रातिशाख्यकार के इस व्यूह और व्यवाय के विधान से बहुत बड़ी भ्रामक स्थिति उपस्थित होती है। वह यह है कि—क्या ऋग्वेदीय मन्त्रों में जहाँ-जहाँ अक्षरों की न्यूनता है, वहाँ-वहाँ इसप्रकार का व्यूह या व्यवाय करके अक्षरसंख्या की पूर्ति करनी चाहिए? उपलब्ध पारम्परिक या प्राचीनतम ऋक्संहिता क्या केवल लिखने के लिए है, उच्चारण के लिए नहीं है? उच्चारण या पठन-पाठन के लिए तो उक्त प्रकार से व्यूहनादि करके एक संशोधित संहिता को मुद्रित करने की आवश्यकता है। इसप्रकार की भ्रामकस्थिति के कारण ही पं० शिवनारायण शास्त्री जी (भिवानी, हरियाणा) ऋग्वेद का संशोधन कर अन्यूनाक्षरक छन्दों से युक्त ऋग्वेदसंहिता को मुद्रित करने के प्रयास में हैं। क्या यह प्रयास उचित (प्रामाणिक) है? इसप्रकार की संहिता क्या ऋक्प्रातिशाख्यकार आदि आचार्यों को अभीष्ट है? इत्यादि का विवेचन हम आगे प्रस्तुत करते हैं।

व्यूह और व्यवाय के विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि छन्द या पादों में विद्यमान अक्षरों की न्यूनता अनिवार्यतया पूरणीय है। अक्षरों की पूर्ति यदि ऋङ्मन्त्रों के लिए अनिवार्य है तो जिन छन्दों में एक या दो अक्षरों की अधिकता है, वहाँ भी तो अधिक अक्षरों का लोप या सन्धि करके उन्हें सम बनाया जाता। क्योंकि किसी भी स्थिति में छन्दों की नियत अक्षरसंख्या को बनाये रखना है। ऐसी स्थिति में केवल न्यूनाक्षरों पर ही विवशता क्यों दिखायी जा रही है? आचार्य शौनक अधिकाक्षरों पर मौन क्यों हैं? इससे ज्ञापित होता है कि ऋङ्मन्त्रों

---

१. यहाँ केवल य् और व् अन्तस्थों का ही ग्रहण अभीष्ट है, न कि र् एवं ल् अन्तस्थों का। तत्सदृश अचों के साथ य् और व् अन्तस्थों का (व्यवहित) रूप इस प्रकार बनता है— इय् और उव्।

२. 'अस्मा इदु प्र०'(ऋ० १.६१.१२) मन्त्र में 'पर्व' का व्यवहित रूप 'परुव' है। 'अलाय्यस्य०'(ऋ० ९.६७.३०) का व्यवायरूप 'अलायियस्य' है। इसी प्रकार 'सूर्याय'(ऋ०१.१२३.३) का 'सूरियाय' और 'अन्वेति' (ऋ० १.१२४.३) का 'अनुवेति' आदि व्यवाय के रूप हैं।

में अक्षरों की पूर्ति करना नितान्त अनिवार्य नियम नहीं है।

ऋक्संहिता में न्यूनाक्षरों की पूर्ति करने से अनेकों शास्त्रीय दोष भी उपस्थित होंगे, जिनका समाधान असम्भव है। वे दोष इस प्रकार हैं—

१. वैदिक छन्दों में नियत संख्या से अक्षरों के न्यूनाधिक होने पर छन्दोविद् सभी आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से एकमत होते हुए इसप्रकार की व्यवस्था को स्थापित किया है कि— छन्दों में नियत संख्या से एक अक्षर के न्यून या अधिक होने से उन छन्दों का नाम क्रमशः निचृद् गायत्री आदि और भुरिक् गायत्री आदि होंगे तथा दो अक्षरों के न्यून या अधिक होने पर उन छन्दों का नाम क्रमशः विराड् गायत्री आदि और स्वराड् गायत्री आदि होंगे। ऋक्संहिता में यदि न्यूनाक्षरों की पूर्ति की जाती है तो आचार्यों के उक्त व्यवस्था सम्बन्धी सभी वचन ही व्यर्थ हो जायेंगे। उनके वचन अप्रामाणिक या विसंगत (प्रलापमात्र) होंगे।[1] शिवनारायण शास्त्री जिन आचार्यों के नियमों से ऋक्संहिता का तथाकथित शुद्धीकरण कर रहें हैं, वे आचार्य ही अप्रामाणिक सिद्ध हो रहें हैं और ऋक्संहिता के मूल में प्रक्षेपरूपी घृणित कार्य भी हो रहा है। वह प्रक्षेप भी अशास्त्रीय है। अतः यह कार्य अत्यन्त पापजनक है।

२. जिन शब्दों की व्युत्पत्ति पृषोदरादि, बहुल, छान्दस आदि को माने विना सरलतया हो सकती है, वह व्युत्पत्ति उनमें व्यवाय करने के पश्चात् नहीं हो सकती है। उनकी व्युत्पत्ति के लिए अनेकों छान्दस कार्य मानने होंगे। जैसे 'सूर्यः' के पाठ को 'सूरियः' करने पर उसे छान्दसरूप मानना होगा। साथ में यह सन्देह भी उत्पन्न होगा कि 'सूरियः' शब्द सूर्यशब्द का छान्दसरूप है या सूरि (=विद्वान्, प्रेरक, स्तोता) का? इसके अर्थ में भी सन्देह होगा कि 'सूरियः' से सूर्य- अर्थ का ग्रहण होगा या सूरि का? क्या करें? इसी प्रकार 'सुवीरियम्' से **'सुवीर्यम्'** (ऋ० १.१२७.११) का अर्थ कैसे होगा? इसकी व्युत्पत्ति कैसे होगी? **मर्त्यम्** (ऋ० १.१२९.३)— मर्तियम् आदि में भी उक्त दोष जानने चाहिए। **अन्वैति** (ऋ० १.१२४.३) इस क्रियापद में अनुपूर्वक इण् गतौ (अदा० ३८) धातु स्पष्ट है और यह व्युत्पत्ति मन्त्रार्थ के अनुकूल भी है। परन्तु इसमें व्यवाय करने से जो 'अनु-वेति' रूप सिद्ध होता है, उसमें तो अनुपूर्वक वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (अदा० ४१) धातु का भ्रम होता है। अथवा अन्य विद् (वेत्ति) आदि धातुओं के छान्दसरूप का भ्रम होता है। धातुओं के भ्रम से अर्थ का भ्रम होता ही है।

३. व्यूह (सन्धिविच्छेद) में व्यवाय के समान व्युत्पत्तिविषयक दोष भले ही न हों, पर संहितात्त्व की हानि तो होगी। जो कि एक जघन्य अपराध के समान पापमय कार्य है। संहितापाठ को और तत्स्थ शब्दों के मूलस्वरूप, स्वर आदि को समझने के लिए पदपाठ किया गया है। परन्तु इससे संहितात्त्व की हानि होती है, इसीलिए बाद में क्रमपाठ आदि का निर्माण हुआ है। क्रमपाठ से पदों के मूलरूप का बोध होता है और संहितापाठ का स्वरूप भी सुरक्षित रहता है। और साथ में पदों से संहिता के निर्माण की शिक्षा, पद एवं वाक्यों के स्वरभेद का ज्ञान भी होता है। लिखने का तात्पर्य यह है कि क्रमपाठकार आदि भी संहितापाठ की सुरक्षा

१. पतञ्जलि ने पाणिनि के कुछ सूत्रों का योगविभाग करके व्याख्यान किया है। कात्यायन ने कुछ उपसंख्यान किया है। कुछ लोग अष्टाध्यायी को योगविभाग करके और कुछ उपसंख्यानों को सूत्रों में मिलाकर छापते हैं। ऐसी स्थिति में योगविभागों का कथन और उपसंख्यान सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं एवं मूल अष्टाध्यायी में प्रक्षेप रूपी धृष्टता भी होती है। यही स्थिति छन्दों के उक्त निचृद् आदि नियमों पर घटित होती है।

के लिए अनेकों उपाय किये हैं। पारम्परिक वेदपाठी ब्राह्मण भी बड़े तप से संहितापाठ की रक्षा आजतक करते आ रहें हैं। पदपाठ, क्रमपाठ आदि में भी व्यूह या व्यवाय रूपी विकृतियाँ नहीं की गयी हैं। यास्क, वररुचि आदि प्राचीन आचार्य, सायण से लेकर दयानन्द पर्यन्त वेदभाष्यकार और अर्वाचीन वेदव्याख्याता आदि सभी विद्वानों ने ऋक्संहिता के यथापाठ को मानकर ही भाष्य किये हैं। इतना ही नहीं श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में ऋङ्मन्त्रों का विनियोग विभिन्न यज्ञों में, संस्कारों में किया गया है। परन्तु किसी भी विनियोजक आदि आचार्य ने व्यूहादि विकृतियों का उल्लेख तक नहीं किया है। श्रौतयागों में ऋग्वेदीय होता आदि ऋत्विजों के द्वारा भिन्न-भिन्न शस्त्रपाठादि में प्रायः सम्पूर्ण ऋग्वेद का विनियोग या पाठ किया जाता है और यह विनियोग उच्चारण से सम्बन्धी ही है। पुनरपि उनमें यह विकार नहीं किया गया है। स्पष्ट है सम्प्रति उपलब्ध ऋक्संहिता केवल लेखन के लिए ही नहीं है, अपितु उच्चारण के लिए भी है। मीमांसादर्शन में श्रौतयाग सम्बन्धी सभी सम्भावित आशंकाओं पर तर्कयुक्त विचारकर अनेक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। उसमें विनियोग, उच्चारण, गान आदि विषयों पर भी गम्भीर विचार किये गये हैं। परन्तु सम्पूर्ण मीमांसादर्शन में एवं मीमांसासम्प्रदाय के किसी भी ग्रन्थ में व्यूहादि विकारों का गन्धमात्र भी उल्लिखित नहीं है। ऋङ्मन्त्र उपनिषद्, ब्राह्मण आदि अन्य शास्त्रों में जहाँ-कहीं भी उद्धृत हैं, सर्वत्र निर्विकार ही देखे जाते हैं। पुनरपि शिवनारायण शास्त्री द्वारा उपलब्ध ऋक्संहिता को अशुद्ध मानना और व्यूहादियों से ऋक्संहिता को विकृत करना उनका दुस्साहसमात्र है। **संहिताग्रन्थों को विकृत करना अक्षम्य अपराध है।** ऐसे पापकर्म के लिए उद्यत होना किसी भी विद्वान् को शोभनीय नहीं है।

आशंका— संहितापाठ में व्यूह और व्यवाय का करना यदि वैदिक परम्परा के विरुद्ध है, किसी भी आचार्य को अभीष्ट नहीं है और परम्परा का उच्छेदक होने से पापमय कार्य है, तो आचार्य शौनक ने इसका विधान ही क्यों किया है? किसी आचार्य का अनुकरण करना अशास्त्रीय कैसे हो सकता है?

समाधान— पहले ही बता चुकें हैं कि आचार्य शौनक को भी व्यूहादि अभीष्ट नहीं है। वैदिक छन्दों में अक्षरों की नियत संख्या को किसी भी स्थिति में स्थिर रखना कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यदि होता, तो निचृत्, भुरिक् आदि का विधान व्यर्थ होता है, इत्यादि पहले ही सहेतु लिख चुके हैं। निचृत्, भुरिक्, विराट् एवं स्वराट् आदि की व्यवस्था से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सभी आचार्य संहितापाठ को यथावत् रखना चाहते हैं, उसमें किसी भी प्रकार का विकार करना नहीं चाहते हैं। ऋक्प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक ने तो सामवेद के गानविद्या के नियमों को ध्यान में रख कर व्यूहादि विकारों का कथन किया है। क्योंकि **गान में न्यूनाधिक अक्षरों से कार्य चल नहीं सकता है। वहाँ तो अनिवार्यतया अपेक्षित अक्षरों की पूर्ति करनी ही पड़ती है।** इसलिए गान में अनेकों विकार किये जाते हैं। उस विकार कार्य में ऋग्वेदीय पादव्यवस्था विकृत न हो और गान के अनुकूल कुछ नियमों को आचार्य ने संकेततः प्रदर्शित किया है। जिससे यह ज्ञात हो सके कि ऐसी-ऐसी स्थिति में गान के लिए व्यूह, व्यवाय आदि कर सकते हैं, पर किसी भी परिस्थिति में ऋग्वेदीय पादव्यवस्था को न बिगाड़ें। गायकों के लिए यह मार्गप्रदर्शनमात्र है। इसीलिए जिन छन्दों में अपेक्षित या नियत संख्या से अक्षर अधिक हों, वहाँ किसप्रकार के विकार करने हैं, उसे साम के प्रातिशाख्यकारों के लिए छोड़ दिया है। अतः उस विषय में स्वयं मौन हो गये हैं।

यजुः और अथर्व के मन्त्रों पर सामगान नहीं किया जाता है। अतः इन वेदों के प्रातिशाख्यकारों को व्यूहादि विकारों की आवश्यकता नहीं हुई, इसीलिए उन्होंने अपने-अपने प्रातिशाख्यों में व्यूहादि का विधान नहीं

किया। परन्तु ऋङ्मन्त्रों पर तो सामगान होता है[1] और गान के लिए विकार अनिवार्य है। गान के विकारों के कारण मूल ऋङ्मन्त्र विकृत न हों, इसके लिए आचार्य शौनक को विवश होकर व्यूहादियों का विधान करना पड़ा। यजुः एवं अथर्व के छन्दों में भी अक्षरों की न्यूनाधिकता है। पुनरपि उन वेदों के आचार्यों ने व्यूहादि का विधान नहीं किया है। इसप्रकार अन्य प्रातिशाख्यों में व्यूहादियों का उल्लेख न होने से यह भी स्पष्ट ज्ञापित होता है कि ये व्यूहादि गानविषयक ही हैं।

आशंका— यहाँ स्वाभाविकतया एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि यदि व्यूहादि केवल सामगान सम्बन्धी हैं, तो उनका वर्णन ऋक्प्रातिशाख्यकार कैसे कर सकते हैं? सभी प्रातिशाख्यकार अपनी-अपनी शाखा के विषयों का ही प्रतिपादन करते हैं, न कि अन्य शाखाओं के विषयों का। ऐसी स्थिति में शौनक के व्यूहादि कथनों को सामगान सम्बन्धी विकार मानना उचित नहीं है।

समाधान— कभी-कभी कृपालु आचार्य अपनी शाखावाले शिष्यों के ज्ञानवर्धन के लिए अन्य शाखा सम्बन्धी विषयों का भी वर्णन संक्षेप से या संकेतमात्र से कर देते हैं। जैसे, आरम्भ में हम कह चुके हैं कि— पादव्यवस्था के विना केवलाक्षरगणनानुसारी छन्द भी होते हैं। वे हैं— दैवी, आसुरी, प्राजापत्य आदि। इन सभी छन्दों के मन्त्र यजुर्वेद में ही उपलब्ध होते हैं। सामवेद और अथर्ववेद में कुछ छन्दों के मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद में तो एक भी मन्त्र नहीं है। पुनरपि ऋक्प्रातिशाख्य में इन छन्दों का स्वरूप प्रतिपादित है (ऋ० प्रा० १६.१—१४)। ऐसे ही मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा इन प्राग्गायत्री छन्दों के मन्त्र एवं तृतीय सप्तक कृति, प्रकृति, आकृति आदि छन्दों के मन्त्र भी ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होते हैं। पुनरपि आचार्य ने ऋक्प्रातिशाख्य में इनका विधान (क्रमशः १७.१९—२०; १६.८९,९०,९२ में) किया है। ठीक इसीप्रकार आचार्य शौनक ने सामगान सम्बन्धी विचारों का संकेतमात्र किया है। वह भी निरुद्देश्य नहीं किया है। साम का गायकवृन्द विकार करते हुए कहीं ऋग्वेदीय मन्त्रों का विकार करने में प्रवृत्त न हों, इस आशंका से उन्होंने गान के लिए उपयोगी व्यूहादि का विधान कर ज्ञापित किया है कि किसी भी स्थिति में ऋङ्मन्त्र विकृत नहीं होने चाहिए।

यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि जिन ऋचाओं पर सामगान किया जाता है, उन्हें योनिमन्त्र (प्रकृतिभूत मन्त्र) कहते हैं।[2] सामगान के मन्त्र विकृतमन्त्र हैं। अर्थात् योनिमन्त्र सर्वथा अविकृत ही होते हैं। यदि इनमें भी व्यूह, व्यवाय आदि विकार किये जाते हैं, तो इनका योनित्व (प्रकृतित्व) ही नष्ट हो जायेगा। गान के आधारभूत योनिमन्त्रों का समुदाय ही सामवेदसंहिता है। इसमें भी व्यूहादि विकार किये हुए नहीं होते हैं। पुनरपि शिवनारायण शास्त्री जी द्वारा ऋङ्मन्त्रों का विकार किया जाना उनकी अपरिपक्वता का परिचायक है। अतः आशा करता हूँ श्री शास्त्री जी पूर्वाग्रहों से रहित होकर अपने मन्तव्यों पर गम्भीरता से पुनर्विचार करेंगे और अपने मन्तव्यों का परिमार्जन कर विकृत ऋक्संहिता को मुद्रित करने के अपने प्रयासों को त्यागेंगे। अन्यथा वैकृत ऋक्संहिता को प्रकाशित करने से पूर्व अपने विचारों को सभी विद्वानों के सामने प्रमाणित करें।

---

१. ऋचि साम गायति (शत० ८.१.३.३)। ऋच्यध्यूढं साम गायति (छां०उप० १.६.१)।
२. योनिः साम्नामाधारभूता प्रथमा ऋक् (सायणः, जै० न्या० वि० ९.२.१, वर्णकम्— २)।

१.४. मीमांसकों के मत में देवतास्वरूप*

वेदार्थावगति में देवता, ऋषि, स्वर और छन्द अत्यन्त उपयोगी हैं, ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है।[1] इनमें भी देवता का विषय सर्वाधिक उपयोगी है। निरुक्त का उत्तरषट्क इसी विषय को अधिकृत कर बनाया गया है। इससे भी इसकी प्रधानता द्योतित होती है। इस विषय का उपक्रम करते हुए यास्कमुनि ने लिखा है कि— "**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति**" (निरु० ७.१)। इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए अन्य आचार्यों ने भी कहा है— "**या तेनोच्यते सा देवता**"(ऋ०सर्वा० २.५)। यहीं पर षड्गुरुशिष्य लिखते हैं — "**तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता**"। "**अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति। प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः ।।**"(बृ०दे० १.६) इत्यादि वक्यों से एक ही तात्पर्य ज्ञात होता है कि मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को ही देवता कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रार्थबोध के लिए देवता का सर्वांगीण ज्ञान अनिवार्य है। अतः यहाँ तदेकदेशभूत 'देवता का स्वरूप' विषय को लक्षित कर मीमांसकों का मत प्रस्तुत किया जा रहा है।

देवतास्वरूपविषयक विचार निरुक्तकार यास्क ने भी किया है— "**पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ...अपुरुषविधाः स्युरित्येकम्.... अपि वोभयविधाः स्युः**" (निरु० ७.६,७)। मीमांसा के अ० ९, पा०१, अधि०४ में भी देवता स्वरूप के द्विविधत्व पर विचार किया गया है। क्योंकि मीमांसकों के अनुसार '**यजेत**' पद का सैद्धान्तिक अर्थ इस प्रकार होता है— 'याग (त्याग) के द्वारा [2]स्वर्गादि इष्ट फल को सिद्ध करें।'और शुद्धयाज्ञिक अर्थात् सामान्य लौकिक दृष्टि से अर्थ करने वालों[3] के अनुसार अर्थ होता है कि याग अर्थात् देवपूजा[4] से स्वर्गादि अभीष्ट फल सिद्ध करें'। प्रथम पक्ष में देवता अपुरुषविध हैं तथा द्वितीय पक्ष में पुरुषविध(विग्रहवती) हैं। यहाँ पहले द्वितीय पक्ष को दिखलाते हैं।

देवपूजा (याग) में देव (देवता) प्रधान होते हैं और पूजा गौण।[5] जैसे लोक में अतिथि की परिचर्या में अतिथि मुख्य और भोजनादि गौण रूप से देखा जाता है।[6] यहाँ भी याग (त्याग) देवता का भोजन ही है। क्योंकि भोज्य द्रव्य देवता के लिए दिया जाता है एवं देवता उन्हें खाते भी हैं। जैसे "**अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य**" (ऋ० १०.११६.७)— हे इन्द्र ! सामने उपस्थित हवि को खाओ और सोम को पिओ। "**विश्वा सनानि जठरेषु धत्त**"(ऋ० १.९५.१०) सभी अन्नों को उदर में रखो अर्थात् खाओ। "**एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि**

---

*. यह लेख वेदवाणी नवम्बर २००३ के **वैदिक देवताङ्क** में अंशतः और अगस्त, सितम्बर २०१८ में सम्पूर्ण प्रकाशित है।

१. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन०(आ०ब्रा० १.१० में और निरुक्त की दुर्गाचार्यवृत्ति के आरम्भ में उद्धृत) अपि च द्र० ऋक्सर्वानुक्रमणी। तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्(निरु० ४.२५)। (मन्त्रेषु त्रैस्वर्यम्) अर्थावबोधनार्थं भविष्यति(मी० शा०भा० ९.२.३१) इत्यादि।

२. प्रीतिर्हि स्वर्गः(मी०शा०भा० ४.३.१५), अपि च द्र०- तत्रैव ६.१.१-३।

३. य आलोचनमात्रेण मन्त्रार्थवादान् पश्यन्ति०(मी०शा०भा० ९.१.९)।

४. यागो नाम देवपूजा(मी०शा०भा०९.१.६)। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु(धातु० १.७२०)।

५. देवतां प्रति गुणभुते द्रव्यकर्मणी(मी०शा०भा० ९.१.६)।

६. देवता वा प्रयोजयेद् अतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात्(मीमांसा० ९.१.६)।

त्रिंशतम् '' (ऋ० ८.७७.४)— एक ही श्वास में तीस सोम के ग्रहों को पिओ, इत्यादि। यदि देवता खाते हैं तो उनके सामने स्थापित हवि क्षीण होनी चाहिए, ऐसी शंका भी यहाँ नहीं करनी चाहिए। क्योंकि देवताओं के लिए प्रदत्त हवि नीरस होती है, अतः देवता मधुमक्खियों के तुल्य अन्नरसभोजी हैं, न कि अन्नभोजी।[१] इस प्रकार भोज्य हवियों को ग्रहण कर देवता प्रसन्न होते हैं। तद्यथा — ''**आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति**'' (मै०सं० १.४.६)— आहुतियों से ही हुताद देवों को तृप्त करता है और वे तृप्त देव यज्ञकर्त्ता को अन्न एवं बल देते हैं। अपि च ''**तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति**'' (तै०सं० २.५.४.३)— पूजा से तृप्त इन्द्र यष्टा को प्रजा से तथा पशुओं से तृप्त करता है।[२]

यदि यहाँ कोई कहे कि यदि देवता किन्हीं द्रव्यों का स्वामी हो तो आराधन से तृप्त होकर आराधक को फल दें। परन्तु देवताओं का स्वत्व देखा नहीं जाता है, ऐसा नहीं कह सकते। यतो हि उनका स्वत्त्व भी देखा जाता है।[३] यथा— **इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्। इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः**'' (ऋ० १०.८९.१०), **ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः** (ऋ० ७.३२.२२)। यहाँ कहा गया है कि इन्द्र द्युलोक का, पृथिवी लोक का, जलों का, पर्वतों और मेघों का, भूतों का, यष्टाओं का स्वामी है और इन्द्र ही योग है (= अप्राप्त की प्राप्ति) तथा क्षेम है (= प्राप्त की रक्षा) के लिए आहवनीय है। इन्द्र ही इस चेतन जगत् का तथा जड़ जगत् का स्वामी है। इन सभी वचनों से स्पष्ट है कि आकारवान् पुरुषों के समान देवताओं का भी व्यवहार किया जाता है। इतना ही नहीं देवों के आकृतिविशेषों का उल्लेख भी मिलता है। जैसे— ''**जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्**''(ऋ० १०.४७.१)— हे इन्द्र! हम तेरे दाहिने हाथ को पकड़ते हैं। इसी प्रकार वह इन्द्र मुट्ठी वाला है (ऋ० ३.३०.५), पिङ्गल नेत्रवाला ,दीर्घ ग्रीवा वाला, वपोदर, सुबाहु है (ऋ० ८.१७.८)। ऐसा ही यम दण्डहस्त है, वरुण पाशहस्त है, इन्द्र वज्रहस्त है इत्यादि लिङ्ग देखे जाते हैं।[४] उक्त वचनों से ज्ञात होता है कि इन्द्रादि देवता विग्रहवान् (पुरुषविध) हैं और पूजादि से इन्हें तृप्त कर स्वर्गादि अभीष्ट सिद्ध किये जाते हैं। इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए सभी मीमांसक आचार्य[५] अपने मत को स्थापित करते हैं कि देवता विग्रहवान् (पुरुषविध) नहीं हैं अपितु देवता अपुरुषविध, शब्दात्मक हैं अर्थात् शब्द ही देवता है।

अब पूर्वोक्त पक्षद्वय में मीमांसकों के सैद्धान्तिक पक्ष को दिखाते हैं। पहले तो यहां यह ध्यातव्य है कि यहाँ (वैदिक कर्मकाण्ड में) लोकवत् व्यवहार देखा नहीं जाता है।[६] यहाँ तो ''**भूतं भव्यायोपदिश्यते**''[७] न्याय के अनुसार सिद्ध वस्तु साध्य के लिए होती है। यहाँ द्रव्य और देवता सिद्ध हैं[८], अपूर्व[९] साध्य है। अतः देवता

---

१. अन्नरसभोजिनी देवता मधुकरीवद् अवगम्यते। कथम्? देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवति। (मी०शा०भा० ९.१.९)

२. अपि च द्र०— ऋ० २.२६.३, तै०सं० २.३.१४।

३. आर्थपत्याच्च (मीमांसा० ९.१.७)।

४. यमं दण्डहस्तमालिखन्ति, कथयन्ति च। तथा वरुणं पाशहस्तम्, इन्द्रं वज्रहस्तम्। (मी०शा०भा० ९.१.६)। वज्रहस्तम् (ऋ० ७.३२.३,४); हस्ते वज्रं भरति (ऋ० २.१६.२)

५. कुतूहलवृत्तिकार श्री वासुदेवदीक्षित को छोड़कर। इनके विचारों को सविवेचन पृथक् लेख में प्रस्तुत किया जायेगा। इस लेख में भी अन्तिम परिच्छेद में संक्षिप्त व सामान्य समाधान लिखा गया है।

६. न लोकवदिह भवितव्यम्। (मी०शा०भा० ९.१.९)।

७. मी०शा०भा० १०.१.१०; १०.८.१६।

८. द्रव्यदेवते तु सिद्धत्वेन विध्यनर्हे (जै०न्या०वि० ९.१.४)।

९. जो कर्म से जन्य होकर फलोत्पत्ति तक विद्यमान रहता हो और उस फल का जनक भी हो, उसे अपूर्व (अदृष्ट) कहते हैं।

अपूर्व के साध्यार्थ होने से गौण तथा साध्य अपूर्व प्रधान है।[१] जो फल देता है वही प्रधान होता है।[२] फलजनक तो अपूर्व ही है[३], न कि देवता। और जो " **यागो नाम देवपूजा** " से कथित देवता प्राधान्य है वह उद्देश्य मात्र है। अर्थात् देवतोद्देश्यक द्रव्यत्याग से स्वर्गादि फल सिद्ध करें, यही अर्थ लक्षित होता है। अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है।[४] जो अतिथि की प्रधानता है, वह तो अतिथि की प्रीति का विधान होने से है। जैसे कि स्मृतियों में कहा गया है कि "**अतिथिर्येन सन्तुष्टस्तथा कुर्यात् प्रयत्नतः**"अर्थात् अतिथि जिन दान, भोजनादि से सन्तुष्ट होता हो, वैसा करें। यहाँ अतिथि की प्रीति विषयक परिचर्या का विधान स्पष्ट है। इस प्रकार देवताओं की प्रीति का विधान नहीं है। अतः दृष्टान्त विषम है।[५] दृष्टान्त को विषम न भी मानें, तो भी अतिथि प्रधान नहीं बन सकता। क्योंकि तृप्त अतिथि पूजक को कोई फल नहीं देता, यतोहि वह स्वर्गादि फलों का स्वामी नहीं है। अतः पूजा से सन्तर्प्यमाण अतिथिगुणक भोजन से ही फल उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि भोजनादि परिचर्या ही प्रधान है, न कि अतिथि।[६] अतः इस दृष्टान्त से देवता की गौणता सिद्ध होती है, न कि प्रधानता।

और जो यह कहा है कि "**ज॒गृ॒भ्मा ते॒ दक्षि॑णमिन्द्र॒ हस्त॑म्**" यहाँ हस्तग्रहण कथन से इन्द्र देवता पुरुषविध है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ इन्द्रहस्त की सत्ता का कथन नहीं है, अपितु हस्तग्रहण का उल्लेख है। विना हस्त के उसका ग्रहण सम्भव नहीं है, यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि हस्त होता तो हस्तग्रहण का प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। वह कभी नहीं होता और न ही इसमें कोई अन्य प्रमाण है। वह वचन हस्तग्रहण का प्रत्यक्षानुभव किये हुये व्यक्ति का है, यह भी नहीं कह सकते। यतोहि ऐसा मानने पर वेद का आदिमत्ता दोष (ऐतिहासिक दोष) आयेगा।[७] जो इन्द्रादि देवता को पुरुषविध (विग्रहवान्) मानता है, उसके पक्ष में उक्त वचन इन्द्र के सम्बोधन के लिए है, ऐसा मानना पड़ेगा। इन्द्र के सम्बुद्ध होने पर ही अनुवचन "**ज॒गृ॒भ्मा ते॒ दक्षि॑णमिन्द्र॒ हस्त॑म्**" का कथन उपपन्न हो पायेगा। परन्तु इन्द्र सम्बुद्ध हुआ है, यही किसी प्रकार से जाना नहीं जाता। अतः उक्त वचन को असम्बद्ध मानना होगा अथवा स्तुतिपरक। स्तुति मानने से उसका अर्थ होगा कि— हमने तुम्हारा हाथ पकड़ा है अर्थात् हम तेरे आश्रित हैं, तू हमारा सहारा है। इस स्तुति का प्रयोजन यह है कि हमें इन्द्र देवता वाले मन्त्र से कर्म करना चाहिए, ऐसा बोध होता है। ऐसा ही शबर स्वामी ने उल्लिखित मुष्टि आदि अवयवों के कथन को भी स्तुतिपरक माना है। यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि— हस्त,मुष्टि आदि अवयवों के होने पर ही उनकी महत्वादि रूप स्तुति हो सकती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जिन जड़ पदार्थों में पुरुषविध अवयव कभी सम्भव ही नहीं है, उसकी भी स्तुति देखी जाती है। जैसे कि "**ए॒ते व॑दन्ति श॒तव॑त् स॒हस्र॑वद् अ॒भिक्र॑न्दन्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑। वि॒ष्ट्वी ग्रावा॑णः सु॒कृतः॑ सु॒कृ॒त्यया॑ होतु॑श्चि॒त्पूर्वे॑ ह॒वि॒रद्य॑माशत**"(ऋ० १०.९४.२) अर्थात् ये सोम कूटते हुए पत्थर सैकड़ों और सहस्रों के समान शब्द करते हैं। अपने हरे मुख से सोम पीने वालों

---

१. अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः(मीमांसा० ९.१.९), गुणत्वेन देवताश्रुतिः(मी० ८.१.३४), यथा द्रव्यस्य विधेयं प्रति गुणत्वं तथा देवताया अपि(जै०न्या०वि० ९.१.४)। कर्मणि गुणभूता देवता(मी०शा०भा० १२.४.३)।

२. यद्धि फलं ददाति, तत्प्रयोजकम्।(मी०शा०भा० ९.१.९)। अपि च द्र० मी०शा०भा० ८.१.३४।

३. का तर्हि फलस्य गतिः। अपूर्वमिति वदामः। तच्च श्रुत्या श्रुतार्थापत्या वा प्रतीयमानत्वाच्छाब्दमिति तस्य फलप्रदत्वमुचितम् (जै०न्या०वि० ९.१.४)।

४. 'यज देवपूजायाम्' इति स्मरणगम्यन्तु प्राधान्यमप्युद्देश्यत्वमात्रनिबन्धमित्यविरोधः(कुतूहलवृत्तिः ९.१.७)।

५. कर्मणि देवताप्रीतिविधानस्याभावोऽतो विषमो दृष्टान्तः(सुबोधिनीवृत्तिः ९.१.१०)।

६. न ह्यतिथिः प्रीयमाणोऽपि पूजयित्रे फलं ददाति, नाप्यतिथिरीष्टे स्वर्गादिफलस्य। तस्मात् पूजासन्तर्प्यमाणातिथिगुणभोजनादेव फलमित्यतिथिदृष्टान्तोऽप्यनुगुण एव। तस्मात् देवता गुणभुतैव।(कुतूहलवृत्तिः ९.१.८)।

७. आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत(मी०शा०भा० ९.१.९,४४)।

को बुलाते हैं। यह इनका कर्म होता है। होता से पूर्व ही खाने योग्य हवि को ये पाषाण खाते हैं। इसीप्रकार ऋ०१०.७५.९ आदि में भी जड़ वस्तुओं में चेतनवत् स्तुति देखी जाती है। अतः चेतनवत् स्तुतिमात्र से देवताओं का पुरुषविधत्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिए देवताओं की न कोई जाति है[1] और न ही वे प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं।[2]

इस प्रकार शबर स्वामी अनेकों युक्तियों से देवताओं को अपुरुषविध सिद्ध कर अन्त में कहते हैं कि **''यदपि स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्भुङ्क्त इति। तदविग्रहत्वेन प्रत्युक्तम्।''** (शा०भा० ९.१.९) अर्थात् जो यह कहा गया है कि स्मृति वचनों से, व्यवहार से और वैदिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि देवता खाते हैं। यह विषय तो देवताओं के अविग्रहत्व से ही प्रत्याख्यात हो गया है और देवताओं के अन्नरसभोजित्व के विषय में कहते हैं कि हवि का नीरसत्व देवताओं को खाने (रसग्रहण करने) से नहीं, अपितु वायु के संयोग से है। देवता अन्नरसभोजी हैं — इसमें कोई प्रमाण भी नहीं और न ही प्रत्यक्ष है, जैसे मधुकरियों में प्रत्यक्ष है। इसलिए देवता भक्षक नहीं है।[3] और जो **''इन्द्रो दिव ईशे ''** आदि के द्वारा देवताओं का जो स्वामित्व कहा गया है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से भाक्तप्रयोग है।[4] जैसे कि देवग्राम, देवक्षेत्रम् आदि प्रयोग हैं। जो जिसका स्वत्व होता है, वह उसका विनियोग करता है। परन्तु देवता किसी द्रव्यादि का विनियोग करते हुए प्रत्यक्ष देखे नहीं जाते। अर्थात् वे धन, स्वर्गादि के स्वामी नहीं हैं। अतः देवताओं को तृप्त करने हेतु न पूजादि परिचर्या की आवश्यकता[5] है और न ही वे स्वर्गादि फल दे सकते हैं।[6] अतः स्वर्गादि फल तो अपूर्व से ही सिद्ध होते हैं। यहाँ यह शङ्का भी नहीं की जा सकती है कि 'वचनप्रामाण्य से ही देवताओं का स्वामित्व जाना जाता है, जिस कारण लोग अपने धनादि को देवताओं को भेंट में देते हैं और जाना जाता है कि प्रदत्त धनादि देवता का ही है।' क्योंकि प्रत्यक्ष से जाना जाता है कि प्रदत्त धनादि द्रव्य देवता का नहीं होता अपितु पूजारियों का होता है और इस प्रत्यक्ष को कोई बाधित नहीं कर सकता।[7] अतः किसी भी प्रकार से देवताओं का विग्रहत्व सिद्ध नहीं होता।[8] इस प्रकार शबर स्वामी आदि सभी मीमांसकों ने अनेकों प्रबलतम युक्तियों तथा प्रमाणों से देवताओं के विग्रहत्व का निराकरण कर मीमांसा शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष 'अपुरुषविधत्व' का निरूपण किया है। अब एक और जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि देवता अपुरुषविध तो हैं, परन्तु वे किं रूपक हैं? इस विषय में मीमांसकों का मानना है कि देवता शब्दात्मक हैं। अब आगे इसी का निरूपण करते हैं।

देवता का निर्देश **'आग्नेयम्, ऐन्द्रम्'** आदि तद्धितान्त शब्दों से, **'अग्नये, इन्द्राय'** आदि चतुर्थ्यन्तों

---

१. न देवता नाम जात्या काचित्(मी०शा०भा० ९.२.६०)।
२. न हि वयमिन्द्ररूपं प्रत्यक्षमुपलभामहे।(मी०शा०भा० ९.२.३८)।
३. न च मधुकरीवदन्नरसभोजिन्यो देवता इति प्रमाणमस्ति। मधुकरीषु प्रत्यक्षम्। न च तद्वद्देवतायाम्। तस्मान्न भुङ्क्ते देवतेति। यदुक्तं देवतायै हविः प्रत्तं नीरसं भवतीति। नैष दोषः। वातोपहतं नीरसं भवतीति। शीतभूतञ्च (मी०शा०भा० ९.१.६)। न च परिगृहीतं देवतयेति किञ्चन प्रमाणमस्ति।(मी०शा०भा० ३.३.४४)।
४. तत्प्रत्यक्षामनीशानां देवतामुपलभ्याध्यवस्यामो भाक्त एष शब्दः इति।(मी०शा०भा० ९.१.९)।
५. न च देवता फलेन सम्बध्नाति, या तदर्थं परिचर्येति।(मी०शा०भा० ९.१.९)। एवं तावदपूर्वमङ्गीकृत्यैव देवताप्रसादस्य प्रयोजकत्वं निराकृतम्।(भा०दी० ९.१, अधि० ४)।
६. तस्मान्न सम्प्रयच्छन्ति।(मी०शा०भा० ९.१.९)।
७. देवतापरिचारकाणां तु ततो भूतिर्भवति, देवतामुद्दिश्य यत्त्यक्तम्......प्रत्यक्षात् प्रमाणाद् देवतापरिचारकाणामभिप्राय इत्यवगम्यते। स न शक्यो बाधितुम्।(मी०शा०भा० ९.१.९)।
८. अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः।(भा०दी० ९.१, अधि०४)।

से अथवा मन्त्रलिङ्गों से किया जाता है। इनमें मन्त्रलिङ्ग अत्यन्त दुर्बल है।[1] आग्नेयम् आदि तद्धितान्तों का अर्थ है– अग्नि आदि देवता है जिस द्रव्य का, वह द्रव्य आग्नेयम् आदि कहलाता है। इसी को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो द्रव्य अग्नि आदि देवता के लिए होता है, वह द्रव्य आग्नेयम् आदि कहलाता है। यही तादर्थ्य रूप अर्थ अग्नये आदि चतुर्थ्यन्त शब्दों में भी स्पष्टतया द्योतित होता है। अर्थात् तद्धितान्त एवं चतुर्थ्यन्त उभयविध शब्दों में तादर्थ्य अर्थ निहित है।[2] इसलिए शबर स्वामी लिखते है **"यस्य यां प्रति तादर्थ्यम्, सा तस्य देवता"** (मी०शा०भा० ९.२.६०)। जिसका जिसके प्रति तादर्थ्य होता है अर्थात् जो द्रव्य जिस देवता के लिए होता है वह उस द्रव्य का देवता होता है। अर्थात् जो पुरोडाशादि द्रव्य जिस अग्नि, इन्द्र आदि के लिए होते हैं, वे अग्नि, इन्द्र आदि उस पुरोडाशादि द्रव्य के देवता कहे जाते हैं।[3] तो यहाँ यह सन्देह होता है कि क्या जो ये अग्नि आदि शब्द हैं, वे ही पुरोडाशादि के देवता हैं ? अथवा इनका जो अर्थ आग आदि हैं, वे देवता हैं ? या तदधिष्ठाता शक्तिविशेष देवता हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध 'संकर्षकाण्ड' के **"यस्यै देवतायै वषट् कुर्यात् तां ध्यायेद्"** (४.३.९) सूत्र की व्याख्या में देवस्वामी लिखते हैं – "यहाँ ध्यान देवता का हो या शब्द का ? रूपवान् देवताओं का होना चाहिए। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि **'कान्तां ध्यायन्नास्ते देवदत्तः'** कहने पर रूपवती कान्ता का ही ध्यान होता है, न कि अरूपवती (अविग्रहवती) का। वैसे ही यहाँ भी विग्रहवान् देवताओं का ध्यान होना चाहिए।[4] इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए आगे लिखते हैं कि "देवता सम्बन्धी शब्द का ही ध्यान करना चाहिए, श्रुतिवाक्य से सम्बन्धित होने से। 'आग्नेयम्, ऐन्द्रम्' आदि तद्धितान्तों में तद्धित का अर्थ देवतारूपी प्रातिपदिक (अग्नि, इन्द्र आदि शब्द) का ही ग्रहण होता है, न कि उनके अर्थों का और शब्द का बोध पहले होने से मुख्य है तथा अर्थ का बोध पश्चात् होने से गौण (निर्बल) है। अतः यहाँ शब्द का ही ध्यान विहित है, न कि तच्छब्दगम्य अर्थ (देवता के रूप) का"।[5] इसलिए शब्द मात्र ही देवता है।[6]

सर्वतन्त्र सिद्धान्त यह है कि शब्द नित्य है, अर्थ नित्य और उसका सम्बन्ध भी नित्य है।[7] इस सिद्धान्त को स्वीकारते हुए मीमांसकाचार्य यह भी कहते हैं कि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध तीनों अपौरुषेय भी हैं। देवता (ईश्वर व ब्रह्म) भी नित्य है और वह किसी पुरुष की रचना न होने से अपौरुषेय भी है। इसप्रकार शब्द एवं देवता में साद्धर्म्य होने से **"ताद्धर्म्यात् ताच्छब्यम्"** (म०भा० ४.१.४८) नियम के अनुसार 'शब्द' भी देवतापदवाच्य है। उपनिषदों में भी देखा जाता है कि ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है और ओम् शब्द भी ब्रह्म है–**"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः"**(प्रश्नो० ५.२), **"एतद्वै परं चापरं च ब्रह्म यदोमित्येतदक्षरम्"** (मै०उ० ६.५)। इन वचनों से भी स्पष्ट है कि शब्द (ओंकार) और उसका अर्थ (ब्रह्म) दोनों ही देवता हैं। क्योंकि

---

१. तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते। देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं च परं परम्।।(त०वा० २.२.२३)।

२. तद्धितनिर्देशेन वा देवता चोद्यते, चतुर्थ्यन्तनिर्देशेन वा। तत्र हि तादर्थ्यं गम्यते।(मी०शा०भा० ९.२.६०;१०.१.१४)।

३. या यस्य श्रूयते सा तस्य देवता(मी०शा०भा० ९.४.३२)।

४. यस्यै......ध्यायेदिति देवताविषयं ध्यानं उत शब्दविषयमिति। किं प्राप्तम्? रूपध्यानमिति। यथा लोके कान्तां ध्यायन्नास्ते देवदत्त इत्यादौ वचसि विग्रहस्यैव ध्येयता। तथाऽत्रापि(सं०का० ४.३.९)।

५. देवतासम्बन्धिनः शब्दस्यैव ध्येयत्वं, श्रुतिसमवायात्। आग्नेयम्, ऐन्द्रम् इत्यादौ श्रुत्यैव देवताप्रातिपदिकस्यैव तद्धितेन ध्येयत्वम्, नार्थे। मुख्यत्वाच्च। मुख्यश्च प्राथम्याच्छब्दो जघन्यश्चार्थः पश्चाद्भावात्। किञ्च शब्दे कर्मस्याभावाद् अर्थे कार्यं विज्ञायते। सम्भवति चेह शब्दे ध्यानम्। तस्मात् शब्दविषयमेवेदं ध्यानमिति।(सं०का० ४.३.९)

६. शब्दमात्रं देवता(भा०दी० ९.१, अधि० ४)।

७. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे(म०भा०, पस्पशा०)।

दानादि देवतात्व दोनों में विद्यमान हैं। शब्द भी अर्थ का प्रकाश करता है, ज्ञान प्रदान करता है। नित्यत्वादि देवतासाधर्म्य से शब्द को देवता मानने से यह भी सिद्ध होता है कि मीमांसक नित्यत्वादि गुणयुक्त देवता (ईश्वर) के अस्तित्व को स्वीकारते हैं।[१] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शब्द के दो स्वरूप हैं — १. वर्णात्मक (ध्वन्यात्मक), २. अर्थात्मक। दोनों में अभेद (नित्य) सम्बन्ध है। वैदिक शब्दों (वेदमन्त्रों) का प्रतिपाद्य अर्थ देवता होता है अर्थात् शब्द और देवता (अर्थ) अभिन्न हैं, अतः शब्द भी देवता है। इस रूप में यह मत केवल मीमांसकों का ही नहीं है, अपितु शब्द, अर्थ और समबन्ध को नित्य मानने वाले सभी दार्शनिक आचार्यों का है। छान्दोग्योपनिषद् में तो वर्ण भी देवता के रूप में वर्णित है— "**सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः(इन्द्ररूपाः), सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मनः (प्रजापतिरूपाः), सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मनः (मृत्युदेवताभूताः).... सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति, सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति, सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति** (छां०उप० २.२२.३,५)।"

शब्दात्मक देवता पर विचार करते हुए शबरस्वामी ने १०.४.२३ के सूत्रभाष्य में बड़े ही रोचक विचारों को प्रस्तुत किया है। उस प्रसंग का सार इसप्रकार है—

देवता किसे कहते हैं? कुछ लोग कहते हैं कि इतिहास, पुराण आदि में वर्णित एवं स्वर्ग में रहने वाले अग्नि आदि देवता हैं। इस मत को स्वीकारने से "**मासो देवता, संवत्सरो देवता**" आदि कालवाची शब्दों का देवतात्व सिद्ध नहीं होता और अहरादि एवं शार्दुलादियों का भी देवतात्व सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसलिए यह मत अव्याप्तदोष से दूषित है। यदि ऐसा है तो दूसरा मत यह है कि मन्त्र एवं ब्राह्मण में वर्णित "**अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता, चन्द्रमा देवता**" आदि देवता हैं। इस मत में भी उक्त अव्याप्त दोष स्थित होता है। अन्त में शबरस्वामी कहते हैं कि "**तस्मात् सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः**" (१०.४.२३)— सूक्तों में वर्णित एवं जिनके उद्देश्य से हवियाँ प्रदान की जाती हैं, त्यागी जाती हैं, वे देवता हैं। जैसे अग्नि, अग्नीषोम आदि देवता हैं। यहाँ पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये अग्नि आदि शब्द देवता हैं या उनका अर्थ देवता है? यदि अर्थ देवता होता तो अग्निशब्द का जो अर्थ (आग आदि) है, वही अर्थ शुचि, पावक, धूमकेतु, कृशानु, वैश्वानर, शाण्डिल्य आदि अग्नि के पर्यायवाचियों का भी है, तो अग्निशब्द के स्थान पर शुचि आदि का भी प्रयोग सम्भव है। जो कि विधिवाक्य में विहित नहीं है, न ही वे शब्द विनियुक्त मन्त्रों (सूक्तों) में वर्णित हैं। अतः यह एक श्रुतिविरुद्धरूपी महान् दोष है।[२] इसलिए देवता का स्वरूप (देवतावाची शब्द का अर्थ) यज्ञ का साधन नहीं हो सकता। कौनसा देवता यज्ञ का साधन भूत है? हवि के साथ सम्बद्ध शब्द।[३] जो कि विधिवाक्यगत है और उसी का मन्त्रत्व है, अतः हवियों के त्यागादियों में विधिविहित अग्नि आदि शब्दों को ही देवता मानते हुए उन्हीं

---

१. "होतव्यमग्निहोत्रं न होतव्यमिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः"(मी०शा०भा० ५.३.२४) ब्रह्मवादी (ब्रह्मजिज्ञासु) लोग विचार कर रहे हैं कि पवमानादि इष्टियों से असंस्कृत अर्थात् आहितमात्र अग्नि में अग्निहोत्र करना चाहिए कि नहीं? अन्तिम निर्णय है कि नहीं करना चाहिए अर्थात् संस्कृत अग्नि में ही अग्निहोत्र करना चाहिए। इस वचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मवादी कर्मकाण्ड का समर्थन करते हैं क्योंकि कर्मकाण्ड का लक्ष्य ब्रह्म (ईश्वर) है और मीमांसक निरीश्वरवादी नहीं है अपितु ब्रह्मवादी हैं। इसका विस्तृतनिरूपण पृथक् लेख में किया जायेगा।

२. मीमांसकों का सिद्धान्त यह है कि— श्रुत व विहित कर्म के त्यागने में जितना दोष होता है उतना ही दोष अश्रुत व अविहित कर्म के करने में भी होता है— "**य एव हि श्रुतस्यर्थस्योत्सर्गे दोषः स एवाश्रुतकल्पनायाम्**" (मी०शा०भा० १०.७.३९ आदि)।

३. देवतायाश्च यज्ञसाधनभावो न रूपेण भवति। केन तर्हि? सम्बन्धिना शब्देन(मी०शा०भा० १०.४.२३)। न त्वत्राग्निशब्दोऽर्थ-प्रत्यायनार्थमुच्चार्यते(तत्रैव)।

शब्दों का उच्चारण करना चाहिए[१], न कि शुचि आदि पर्यायवाची शब्दों का। इससे मूर्त्त, अमूर्त्त, चेतन एवं अचेतन आदि का देवतात्व श्रुति से सिद्ध होता है।[२]

यहाँ और एक विषय विचारणीय है कि – अनेक यागों में देवताओं का उल्लेख गुणों (विशेषणों) के साथ हुआ है, जैसे कि– "**अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये**" आदि। यदि शब्द के अर्थ (देवता के स्वरूप) को देवता मानें तो, जो अग्नि देवता है, वही पवमान, पावक, शुचि आदि है, तो पुनः उन गुणों के कथन की क्या आवश्यकता है? कुछ नहीं। अतः त्यागादि में निर्गुण (विशेषण रहित) देवताओं का ही उच्चारण करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्षी का तर्क है। इस पूर्वपक्ष का निवारण करते हुए सिद्धान्ताचार्य कहते हैं कि– शब्द के अर्थ (देवता के स्वरूप) का यज्ञ में साधनभाव है ही नहीं, यह पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं। शब्द का ही हवि के साथ सम्बन्ध है, यह साक्षात् श्रुति द्वारा प्रतिपादित है। इसलिए शब्द (देवता) के विशेषणों का भी त्यागादि में उच्चारण करना चाहिए,[३] अन्यथा श्रुति में गुण का निर्देश अनर्थक होगा (द्र० मी०शा०भा० १०.४.२६-२९)। शब्द को देवता मानने पर ही अग्नि के स्थान पर शुचि आदि शब्दों के प्रतिनिधित्व का वारण सम्भव है, अन्यथा नहीं (द्र० मी०शा०भा० ६.३.१८)। यहाँ विशेषतया ध्यातव्य विषय है कि 'शब्द' मात्र को देवता मानने की यह मीमांसकों की मान्यता कर्मकाण्ड तक ही सीमित है, कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के लिए बनायी गयी मान्यता है, अतः शब्द को देवता कहना एक गौण कथन है।

श्रौतयागों में पुरोडाशादि हव्य द्रव्यों के यागों (त्यागों) में अनिवार्यतया पुनः पुनः आवृत्त होने वाले प्रमुख मन्त्रांशों के अक्षरों के योग को भी 'प्रजापति' देवता माना गया है। यथा– "**आ श्रा॑वयेति चतु॑रक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतु॑रक्षरम्, यजेति द्व्य॑क्षरम्, ये यजा॑मह इति पञ्चा॑क्षरम्, द्व्यक्षरो व॑षट्कारः, एष वै स॑प्तदशः प्रजाप॑तिर्यज्ञमन्वाय॑त्त इति**" (तै०सं० १.६.११.१; मी० शा०भा० १०.८.९)। गवामयन नामक सत्रविशेष के उपान्त्य (अन्तिम दिन से पूर्व) दिन में महाव्रत नामक एक विशेष याग होता है, जो कि अग्निष्टोम संस्थाक है। इसके प्रातःसवन में विनियुक्त प्रउग-शस्त्र की व्यख्या के प्रसंग में ऐतरेयारण्यककार लिखते हैं कि "**पञ्चविंश आत्मा पञ्चविंशः प्रजापतिः**" (ऐ०आ० १.१.४) अर्थात् आत्मा (पुरुष) और प्रजापति दोनों ही पञ्चविंश हैं। यहाँ पञ्चविंश संख्या की स्तुति की गयी है। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि "**आत्मा पुरुषो यजमानः, प्रजापतिः स्रष्टा चतुर्मुखः**" (वहीं)। यहाँ सायण ने प्रजापति का अर्थ चतुर्मुखी स्रष्टा ब्रह्मा अर्थ किया है। कर्मकाण्ड के प्रबल समर्थक एवं मीमांसा के न्यायों को बार-बार उद्धृत करने वाले सायण ने अपनी पौराणिक मान्यता को कर्मकाण्ड में प्रविष्ट किया है। यह एक जघन्य अपराध है और कर्मकाण्ड के नियमों के विपरीत एवं मीमांसादर्शनके सिद्धान्तों की अवहेलना है। क्योंकि मीमांसकों (कर्मकाण्डियों) के मत में देवता पुरुषविध (विग्रहवान्) नहीं है, अपितु शब्दात्मक है, यह सप्रमाण निरूपण कर चुके हैं। सायण ने अपने वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों के भाष्यों में भी अनेक स्थानों पर इसीप्रकार की भूलें की हैं।

निरूपित देवताविषयक मीमांसकों के इस मत को यास्क आदि ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है। यथा– "**कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे** (निरु० १.२) अर्थात् कर्म की सम्पन्नता (सार्थकता) वाला मन्त्र वेद में देवता शब्द से कहा जाता है" (पं०भगवद्दत्त जी का भाष्य)। महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के

---

१. विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना(मीमांसा० १०.४.२३)। शब्द एव हविषा सम्बध्यते....यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते, सा देवता(मी०शा०भा०तत्रैव)।

२. एवं मूर्त्तानाममूर्तानां चेतनानामचेतनानां श्रुत्या किञ्चिदर्थं प्रति तादर्थ्येन संकल्पनीयानां देवतात्वं भविष्यति...यस्या वाचकं शब्दमुद्दिश्य स्मृत्वा वा हविस्त्यक्ष्यामीति संकल्पः क्रियते, सा देवता भवति तत्र(मी०भा०भा० १०.४.२३)।

३. प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात्(मीमांसा० १०.४.२६)।

वेदविषयविचार प्रकरण में उद्धृत निरुक्तवचन का अर्थ करते हैं— "**कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः सम्पन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवता शब्देन गृह्यते।**" स्पष्ट है कि कर्मकाण्ड में देवता शब्द से मन्त्रों का ग्रहण होता है। वहीं पर स्वामी जी "**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता**" (यजुः० १४.२०) को उद्धृत कर लिखते हैं — "कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्रादि छन्द (मन्त्र) हैं, वे ही देवता कहाते हैं....... इसमें यह कारण है कि जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। मन्त्रों का देवता नाम इसलिए है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है"[1](ऋ०भा०भू० ४)। म०म०पं०श्री युधिष्ठिर मीमांसक भी मीमांसा के स्वहिन्दीभाष्य में लिखते हैं "ब्राह्मणग्रन्थों में देवता का निर्देश करके जब किसी मन्त्र का विनियोग करते हैं, तब तत्तद् लिङ्ग वाला मन्त्र ही उन्हें (ब्राह्मणकारों को) अभिप्रेत होता है, न कि केवल देवता वाचक पदमात्र"(पृ०२३४९)। इन वचनों से कर्मकाण्ड के विचारक मीमांसकों का मत स्पष्ट है कि देवता शब्द से तत्तद् देवताक वा तत्तद् लिङ्गी मन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं। मीमांसकों के द्वारा शब्द (मन्त्र) मात्र को देवता मानने के कारण यह प्रतीत होता है कि पूर्वमीमांसादर्शन की प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती है।[2] क्योंकि वे सृष्टि को अनादि और अनन्त अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय रहित मानते हैं तथा कर्मफल कर्मजन्य अपूर्व से ही निष्पन्नता मानते हैं। इतनी मान्यता से उनकी कर्मकाण्ड-प्रक्रिया की आपूर्त्ति हो जाती है। अतः वे ईश्वर के वाणीभूत वैदिक शब्दों (मन्त्रों) को ही देवता मानते हैं।[3] इसलिए '**शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्दाह तदस्माकं प्रमाणम्**' इत्यादि उक्तियाँ मीमांसा के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

---

१. देवो......दीपनाद्वा द्योतनाद्वा० (निरु० ७.१५)।

२. इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मीमांसाशास्त्र निरीश्वरवादी है। ईश्वर का प्रतिपादन विषय उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का होने से, इस विषय को छोड़कर कर्ममात्र का निरूपण किया जाता है। पूर्वोत्तरमीमांसाद्वय समानतन्त्र (एक ही शास्त्र) के रूप में प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं— "**तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम् (मीमांसाशास्त्रम्)**" (प्रपञ्चहृदयम् पृ०३८)। किसी शास्त्र में कोई विषय वर्णित न होने मात्र से वह विषय उस शास्त्र में अमान्य हो, यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है, वह उस शास्त्र में अनपेक्षित भी हो सकता है। जैसे— न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में पूर्वमीमांसा में प्रतिपादित श्रौत-कर्मकाण्ड वर्णित नहीं है, इतने मात्र से उन दर्शनकारों को श्रौतकर्मकाण्ड अनभिप्रेत है, अमान्य है ऐसा नहीं कह सकते। यदि कोई ऐसा कहें तो वह उनकी अनभिज्ञता का द्योतक होगा। साथ में यहाँ विशेषतया ध्यातव्य व विचारणीय विषय है कि— 'कर्मजन्य अपूर्व ही कर्मफल प्रदान करता है' मीमांसकों के इस सिद्धान्त से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे सिद्धान्ततः चेतन स्वरूप ईश्वर को स्वीकारते हैं। क्योंकि अपूर्व कोई चेतन पदार्थ तो है नहीं, वह यथाकाल यथापरिमाण और यथोचितरूप से कैसे फल देता है? फल देने के यथोचित समय आदि का विवेक वह कैसे करेगा? फल देने तक अपूर्व अपने अस्तित्व को कैसे बचाया रखेगा? इत्यादि विषयों पर गम्भीरतया विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है — मीमांसकों के मत में चेतनस्वरूप ईश्वर मान्य (अङ्गीकृत) है। वही उक्त व्यवस्था करता है। परन्तु मीमांसा की प्रक्रिया में कर्म, कर्मफल और अपूर्व को ही प्रधानता देते हुए इन्हीं का कथन किया है एवं इन्हीं में अपने दार्शनिक सिद्धान्त को समाहित किया है। अपूर्व (कर्माशय) की उत्पत्ति और उससे फल की उत्पत्ति तथा फलोत्पत्ति तक उसकी रक्षा आदि की व्यवस्था एवं व्यवस्थापक का प्रतिपादन अन्य दर्शनों का विषय होने से अपनी प्रक्रिया में उसे उपेक्षित किया गया है। प्रत्येक दर्शन या शास्त्र के सिद्धान्त अपनी-अपनी मर्यादा (प्रक्रिया) के अन्दर ही प्रतिपादित होते हैं। वही प्रत्येक शास्त्र की मौलिकता कहाती है ; अस्तु। वैसे कर्मकाण्ड का मूल उद्देश्य अध्यात्म अर्थात् आत्मा और परमात्मा को जानना ही होता है। अतः मीमांसादर्शन को निरीश्वरवादी कहना सर्वथा अनुचित एवं अशास्त्रीय है।

३. इसीलिए 'अग्निमीळे०' आदि मन्त्रों में 'वह्निमीळे' आदि विकार (ऊह) नहीं किया जाता। क्योंकि शब्द भेद से देवता भेद हो जाता है (द्र०मीमांसा० १०.४.१२.२३)।

यहाँ यह भी विशेषतः ध्यातव्य है कि देवता को शब्दात्मक मानना ही मीमांसकों का वैशिष्ट्य है, न कि अपुरुषविधत्व। अपुरुषविधत्व तो वैदिक और सनातन सिद्धान्त है। "**ईशा वास्यं०**", "**स पर्यगाच्छुक्र०**(यजु०४०.१,८) आदि मन्त्रों में प्रतिपादित विभु परमात्मा का "**न तस्य प्रतिमा अस्ति०**"(यजु०३२.३) में पुरुषविधत्व (विग्रहवत्त्व) का निषेध किया गया है और उसी विग्रह रहित विभु ईश्वर को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।[1] यह भी साक्षात् श्रुति का कथन है। अतः वेद से ही स्पष्टतया सिद्ध है — इन्द्रादि भी विग्रह रहित (अपुरुषविध) हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (१.२.६) में भी स्पष्ट कहा गया है– "**तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं यज इत्येकैकं देवम्। एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः॥**" अर्थात् जो यह कहते हैं कि अमुक देवता का याग करो, अमुक देवता का याग करो, ऐसा एक-एक देवता के याग को पृथक्-पृथक् कहते हैं, वह इसी (एक अखण्ड ब्रह्म) की विसृष्टि है, व्यष्टिरूप है। निश्चय ही सभी देव यह (ब्रह्म, ईश्वर) ही है।

आचरण से ही फल की प्राप्ति

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ (मनु० १.१०९)

आचारण-रहित व्यक्ति वेदाध्ययन का फल प्राप्त नहीं कर पाता है। हाँ, आचरण से युक्त व्यक्ति वेदाध्ययन के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ (कठो० १.२.२४)

जिसने दुराचार का त्याग नहीं किया, जो अशान्त है, जो सावधान नहीं है, जिसके मन में शान्ति नहीं है, वह उत्तम वेदज्ञान के द्वारा भी उस ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ज्ञान के साथ आचरण भी अवश्य करना चाहिए।

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १.१६४.४६
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥ ऋ० १०.११४.५ ॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२.१॥
स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।
सोअग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥ (अथर्व० १३.४. ३-४)॥
महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥(निरु० ७.४,अपि च द्र० निरु० ७.५)।

१.५ वेदार्थ और भाषाविज्ञानके शाश्वत नियम *

मनुष्यमात्रके कल्याणकेलिए सृष्टिके आदिमें ईश्वर केद्वारा प्रदत्त ज्ञान ही वेद है। आरम्भमें वेदका अर्थ साक्षात् वेदसे ही समझलिया करते थे अर्थात् आरम्भिक उन महामानवोंकी मातृभाषा वेदभाषा (देवभाषा) ही थी। मातृभाषामें किसी भी विषयको समझनेमें सरलता, सहजता व स्वाभाविकता रहती है, विशेष व्याख्या वा उपायोंकी आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु जैसे-जैसे आध्यात्मिकतामें न्यूनता और भौतिकतामें आकर्षण बढ़ता गया, सात्विकताकी अपेक्षा रजोगुणादिकी वृद्धि होती गयी तो बौद्धिक सामर्थ्यमें भी न्यूनता आयी और कालप्रवाहवश भाषामें भी स्वाभाविक परिवर्तन होता गया। परिणामतः कालान्तरमें वेदार्थ न समझपानेकेकारण वेदार्थकी प्रक्रियाएँ वा उपायोंका सर्जन हुआ। इन्हीं प्रयत्नोंमें पदपाठ, याज्ञिक - प्रक्रिया, आख्यान, ब्राह्मणग्रन्थ और वेदाङ्गादिका सर्जन हुआ। परन्तु याज्ञिकप्रक्रिया आदिको समझनेमें भी लोगोंने अज्ञानवश व स्वार्थवश अक्षम्य भूलें की हैं। क्योंकि साध्यभूत वेद एवं साधनभूत शास्त्रादि शब्दमय हैं। विना शब्दके कुछ भी सिद्ध नहीं होता[१]—

"**तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः**" (वा०प० १.११९)

शब्दोंसे अर्थोंको जाना जाता है[२], यह सत्य है। परन्तु अर्थबोधमें केवल शब्दके स्वरूपमात्रको साधन समझना भयंकर भूल है— "**रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते**" (वा०प० १.१३५)। शब्दके स्वरूपमात्रसे यदि अर्थ किया जाय तो अर्थ अनर्थ हो जायेगा।[३] यथा— "**पिता दुहितुर्गर्भमाधात्**" (ऋ० १.१६४.३३) आदि। 'शब्द, अर्थ एवं इनका परस्पर सम्बन्ध' यह विषय एक सुविशाल क्षेत्रका है।[४] इसे सीमित साधनों वा सामर्थ्योंसे समझ नहीं सकते। शब्दके यथोचित अर्थका बोध लोकव्यवहारसे ही सम्भव है— "**शब्दार्थस्य परिज्ञाने लोक एव हि कारणम्**"[५] (नि०श्लो० १.१.७१)। यहाँ लोकशब्दका तात्पर्य अर्थबोधमें मातृभाषाके रूपमें प्रचलित भाषा (शब्दज्ञान) है। जिसप्रकार मातृभाषा अथवा उस जैसी अधिकारवाली भाषासे जो अर्थबोध होता है, वह अन्य उपायोंसे सम्भव नहीं है। इसीलिए अर्थबोधमें लोकव्यवहारकी प्रामाणिकताको सभी आचार्योंने नतमस्तक (मौन) होकर, विना कुछ तर्क किये ही स्वीकारा है।

शब्दस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कारण व साधन भी हैं, जिनसे अर्थबोध होता है। यथा—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१६), आर्ष-ज्योति (फरवरी २०१७), वैदिक पथ (सितम्बर २०१७) और आर्यसमाज टाण्डा, अम्बेडकर नगर (उ०प्र०) की शताब्दोत्तर रजत जयन्ती की स्मारिका (ज्ञानसुधा, २०१६) में प्रकाशित है।

१. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। (वा०प० १.१२४)
इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। (का०आ० १.४)

२. अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्। (वा०प० १.१३)

३. अर्थवादाः स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनमलभमाना लक्षणया क्रतोः प्राशस्त्यं प्रतिपादयन्ति, स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात् (मी०न्या०प्र० खण्ड— ५; शाब्दीभावना)।

४. महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः..... (म०भा० पस्पशा०)।

५. शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयं न स्वयमीश्महे (शा०दी०, पृ०१२२), यथालोकं च शब्दार्थावधारणं न यथेच्छम् (शा०दी०, पृ०१२७)।

व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन[१], लोक(वृद्ध) व्यवहार, वाक्यशेष (प्रकरण), विवृति (व्याख्या) और प्रसिद्ध पद की समीपता से शक्तिग्रह अर्थात् शब्दार्थका बोध होता है।

चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद् भवति– तत्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्याद् इति (म०भा० ४.१.४८)। **सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधन-आधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गंगा-शाटक-अन्न-पुरुषेष्वतद्भावे तदुपचारः** (न्याय० २.२.६)। **अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति, पदार्थानां शक्तिवैचित्र्यम्** (प्रदीपः, म०भा० १.१.२२)।

महाभाष्यकार एवं न्यायदर्शनकारने ऊपरके वचनोंमें बताया कि किन परिस्थितियोंमें शब्द अपने अर्थको छोड़कर विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं। उन परिस्थितियों वा कारणोंको देखें–

१. ''**यष्टिकां भोजय, यष्टीः प्रवेशय**'' इत्यादि वचनोंमें यष्टिशब्दका अर्थ लाठी अभिप्रेत नहीं है, अपितु लाठीके साथ घूमने वाला ब्राह्मण या ब्रह्मचारी आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। इसे साहचर्यनियम कहते हैं– ''**तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्यम्**''। आजकल हम सुनते हैं– ''ए आटो, ए रिक्शा'' इत्यादि। यहाँ भी आटो आदि शब्दोंका अर्थ 'आटो' आदि न होकर आटोको चलानेवाला व्यक्ति होता है।

२. ''**मञ्चाः क्रोशन्ति**'' इसका अर्थ 'मञ्च चिल्ला रहें हैं' नहीं है, अपितु 'मञ्चस्थ पुरुष चिल्ला (बोल) रहें हैं' है। यहाँ आधेयमें आधारत्वका आरोप किया गया है। ''**अग्निं चिनोति, अग्निमारोहन्ति, अग्निं प्रोक्षति**'' इत्यादिमें अग्निशब्दसे अग्निका आधारभूत स्थण्डिल अर्थ लिया जाता है। यहाँ आधारमें आधेयत्वका आरोप किया गया है। इसप्रकार आधाराधेयोंमें अभेद का व्यवहार (पर्यायत्व) ब्राह्मणग्रन्थोंमें बहुत्र देखा जाता है। इस नियमको ''**तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्**'' जानना चाहिए।

३. **आयुर्वै घृतम्** (तै०सं० २.३.२.२) इसका अर्थ यह नहीं है कि 'घी ही आयु है'। इसका अर्थ है– 'आयु की प्राप्तिकेलिए घीका भक्षण कारण है, निमित्त है'।[२] यहाँ कार्यकारणमें अभेद व्यवहार है। इसीप्रकार ''**यज्ञो वा आयुः** (तां०ब्रा० ६.४.४), **प्राणो वा आयुः** (ऐ०ब्रा० २.३८), **आयुर्वै गायत्रम्**'' (जै० ब्रा० १.२९२), **अन्नमु वाऽआयुः** (शत०ब्रा०९.२.३.१६) आदिमें जानना चाहिए। इस नियमको ''**तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्**'' कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण हमें इन वचनोंसे मिलता है– **अमृतमायुः** (शत०ब्रा० ३.८.२.२७)= **अमृतेनैवाऽऽयुरात्मन् धत्ते** (तै०ब्रा० ३.३.४.३), **प्रजापतिर्यज्ञः** (ऐ०ब्रा० २.१७) = **प्रजापतिर्यज्ञमसृजत** (ऐ०ब्रा० ७.१९)।

४. ''**गङ्गायां गावश्चरन्ति**'' इसका अर्थ यह नहीं है कि गंगा(नदी)में गौवें चर रहीं हैं, अपितु इसका अर्थ यह है कि गंगाके अतिसपीपस्थ देशमें गौवें चर रहीं हैं। अर्थात् गंगाके अतिनिकट स्थानको भी गंगा ही कहा जाता है। यहां 'गंगायाम्'का प्रयोग न करके 'गंगायाः समीपे' शब्दोंका प्रयोग करने पर उक्त अभीष्ट अर्थ (अतिनिकट) व्यक्त नहीं हो सकता। क्योंकि समीप शब्द सापेक्षिक है। नदीसे २० कि.मी.के दूरस्थ गांवको भी ९० कि.मी.के गांवकी अपेक्षा नदीके समीपस्थ ही कहा जाता है। इसलिए''**तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम्**'' नियम स्वीकृत हो गया है।

५. ''**अग्निर्माणवकः, सिंहो बालकः**'' इत्यादिमें अग्नि, सिंह आदि शब्दोंका अर्थ 'आग', 'शेर' आदि न लेकर 'अग्नि जैसा तेजस्वी, सिंह जैसा पराक्रमी बालक' अर्थ लिया जाता है। इस नियमको ''**ताद्धर्म्यात्**

---

१. आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः (न्याय० २.१.५२)।

२. अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा... आयुर्घृतम्, आयुषो निमित्तमिति गम्यते (म०भा० १.१.५९)।

ताच्छब्द्यम्''[१] अथवा ''**तत्सादृश्यात् ताच्छब्द्यम्**''[२] कहते हैं। यहां उपमान एवं उपमेयमें एकार्थता(पर्यायत्व)का आरोप किया गया है।

इन नियमोंके अतिरिक्त औपलक्षण[३] और औपचारिक प्रयोग, अवयवोंमें समुदायका कथन[४], समुदायमें अवयवका कथन[५], अन्यतरव्यपदेश[६], तत्सम्बन्धात् ताच्छब्द्यम्[७], तद्विषयत्वात् ताच्छब्द्यम्, विद्यमानकी अविवक्षा[८], अविद्यमानकी विवक्षा[९], भेदमें अभेद, अभेदमें भेदका व्यवहार इसप्रकारके और भी अनेकों गौण प्रयोग भाषाओंमें देखे जाते हैं। लेखकी मर्यादाको ध्यानमें रखते हुए हम सबका विवरण प्रस्तुत नहीं कर रहें हैं। उदाहरण मात्र प्रस्तुत किये गये हैं। यहां विशेषरूपसे ध्यातव्य विषय यह है कि किसी अभीष्ट विशेष अर्थको अभिव्यक्त करनेमें केवल शब्दका स्वरूपमात्र समर्थ नहीं होता, अर्थबोधमें शब्दस्वरूपके अतिरिक्त और भी बहुतसे अन्य कारण हैं। काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे तो रस, अलंकार, ध्वनि[१०] आदि भी अर्थविशेषके बोधक हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें तो उक्त प्रकारके गौण(भाक्त)प्रयोग प्रचुरमात्रामें प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए निरुक्तकार यास्कने कहा कि— ''**बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि**'' (निरु० ७.२४)। हमने ऊपर (संख्या— २,३,५ में) ब्राह्मणग्रन्थोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं। ब्राह्मणोंमें साध्य-साधनोंमें भी अभेदार्थ माना गया है। यथा— **श्रोत्रेण हि ब्रह्म श्रृणोति** (ऐ०ब्रा० २.४०)= **श्रोत्रं वै ब्रह्म** (ऐ०ब्रा० २.४०)। इसके अनुसार ''**शब्दब्रह्म**'' का अर्थ ''**शब्देन ब्रह्म ज्ञायते**'' जानना चाहिए। परन्तु विद्वज्जनोंने प्रायः शब्दको ही ब्रह्म समझनेकी बड़ी भूल की है।[११] इसीप्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें विशेषणविशेष्यभाव आदिमें भी पर्यायत्व (समानार्थता) प्रदर्शित है। उन सन्दर्भोंको समझनेमें अत्यन्त सावधानताकी आवश्यकता है। अन्यथा अनर्थ ही अनर्थ दृग्गोचर होगा और अनर्थ ही फैलेगा। एतदर्थ एक सन्दर्भ प्रस्तुत करता हूँ — ''**अहं ब्रह्मास्मि**'' (बृ०उप० १.४.१०) का अर्थ ऊपरके विवरण (संख्या- १,२,४,५)के अनुसार मुक्त जीवात्मा ब्रह्मके सहचारी होनेसे, ब्रह्मस्थ होनेसे, ब्रह्मके अत्यन्तसमीपस्थ होनेसे और ब्रह्मके धर्मसे संयुक्त होनेसे अपनेको कह रहा है कि ''मैं ब्रह्म हूँ''। इस गौण कथनके अभिप्रायको न समझकर लोगोंने अद्वैतका महल खड़ा कर दिया। कोई व्यक्ति यह कहें कि 'हम दोनों मित्र एक ही हैं,' इससे वे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। भाषाके नियमों(शैलियों)को न समझकर केवल शब्दस्वरूपसे अर्थ निकालकर बहुत व्यापक भ्रमजाल फैलाया गया है। भाषातत्त्वके नियमोंको सर्वाङ्गीणतया विचार किये विना शाब्दिक अर्थ करनेके दुष्परिणामकेलिए यह एक ज्वलन्त उदाहरण है, अस्तु।

---

१. विष्णुर्वै यज्ञः(ऐ०ब्रा० ३.१४)।

२. इस नियमके अनुसार यास्कने अनेकों शब्दोंकी व्याख्या की है। यथा— ''तत्प्रकृतीतरत् (अपि पर्व), सन्धिसामान्यात्'' (निरु० १.२०)।

३. जैसे— काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्। यहाँ काकशब्द कौवेके साथ बिल्ली, कुत्ता आदि अर्थोंका भी बोधक है।

४. समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। यथा— घृतं भुक्तं ... (म०भा० पस्प०)।

५. आढ्यमिदं नगरम्।

६. देवदत्तस्य पुत्रः, देवदत्तायाः पुत्रः।

७. अवकीर्यते इत्यवकरः= अन्नमलम्। तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि तथा (=अवकरः) उच्यते (का० ६.१.१४८)।

८. सतोऽप्यविवक्षा भवति। तद्यथा— अनुदरा कन्या (म०भा० १.४.२४)।

९. असतश्च विवक्षा भवति— समुद्रः कुण्डिका, विन्ध्यो वर्धितकमिति (म०भा० १.४.२४)।

१०. काव्यस्यात्मा ध्वनिः (ध्वन्यालोकः १.१)।

११. 'नेदं यदिदमुपासते' (केनोप०१.४,७) में कहा गया है कि वाणी एवं श्रोत्रका विषयभूत शब्द ब्रह्म (परमात्मा) नहीं हो सकता। शब्द आकाश का गुण है, गुण गुणी (ब्रह्म) कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। पुनरपि भ्रमित लोगोंने भ्रमको फैलाया है। अर्थबोधमें शब्दके स्वरूपमात्रको ग्रहण करनेका यह दुष्परिणाम है।

प्रसंगानुकूल विवेकके विना अर्थ कैसे अनर्थ हो जाता है, देखें—

केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे केशव त्वं कथं गतः॥

शब्दोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि यह श्लोक महाभारतका है। क्योंकि इसमें केशव, द्रोण और कौरव शब्द आये हैं। परन्तु इसका महाभारतकी कहानीसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोकका सामान्य शाब्दिक अर्थ इसप्रकार है— 'गिरे (मरे) हुए केशव(कृष्ण)को देखकर द्रोण प्रसन्न हुआ और सभी कौरव रोने लगे कि हे केशव! आप कैसे चले (मर) गये हैं?' इस शाब्दिक अर्थ पर विचार करने पर बहुत कुछ विसंगतियाँ हैं। क्योंकि कृष्णकी मृत्यु द्रोणके बाद हुई, न कि द्रोणसे पूर्व और कृष्णकी मृत्यु तो कौरवोंकेलिए प्रसन्नताका विषय है, न कि शोकका, वैसे ही द्रोणकेलिए शोकका विषय है, न कि प्रसन्नताका। पर यहाँ तो विपरीत कथन दीखता है, जो कि सम्भव नहीं है। अतः विवेकी पुरुष विचारकर सामान्य अर्थ(अनर्थ)को त्याग यथार्थको जाननेका प्रयास करता है। इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

(के शवं पतितं) पानीमें गिरे हुए शवको देखकर **(द्रोणः)** मगरमच्छ प्रसन्न हुआ और **(कौरवाः)** कौवें चिल्लाने लगे कि **(के शव)** हे शव! तुम पानीमें क्यों चला (गिर) गया है।

इस अर्थको जानकर सभी लोग कविकी कुशलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे और वाह-वाह करने लगेंगे। इसप्रकारकी कविताओं (कूटकाव्यों) में शाब्दिक अर्थ महान् अनर्थकारी होता है और उससे कविका रस (भाव) लुप्त हो जाता है। कहा भी गया है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु वाच्येष्वभिधैव दोषः सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥

जिन वचनों (पद्यों) में वक्रोक्तियां विद्यमान हों, वहाँ शाब्दिक अर्थका बोध (अर्थात् लक्षितार्थ=यथार्थ) परमानन्दकारी होता है और शाब्दिक अर्थ दोषकारी (दुःखकरी, नीरस) हो जाता है। क्योंकि वहाँ कवियोंकी भावना शाब्दिक अर्थसे अन्य ही होती है।

ऐसी ही शैली वेदके मन्त्रोंमें एवं ब्राह्मणके वचनों में भी बहुत्र दीखती है। ऐसी शैलीको लक्षितकर कहा गया है कि — "**परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः**"।[1] ये नियम व इसप्रकारकी शैलियाँ केवल संस्कृतभाषामें या शास्त्रोंमें ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है। प्रचलित सभी भाषाओंमें ये नियम प्राप्त होते हैं। हमने ऊपर लौकिक दृष्टान्त भी दिये हैं। एक अन्य प्रकारके नियमको ज्ञापित करनेकेलिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक गैर हिन्दी भाषी अभी-अभी हिन्दी सीख रहा है और उसे सिखाया गया है कि 'खाना' शब्दका अर्थ होता है 'किसी खाद्य वस्तुकी भक्षणक्रिया'। जब वह बाजारमें गया तो भिन्न-भिन्न प्रसंगोंमें सुना कि— 'धोखा खाया, ठोकर खाया, चख्मा खाया, चक्कर खाया, डांट खाया, दिमाग खाया, पिटाई खायी' इत्यादि शब्दोंको सुना तो वह चक्कर खा गया। 'खाना' शब्दका जो अर्थ उसने सीखा वह उन प्रसंगोंमें एक जगह भी नहीं लगता और उन प्रसंगोंमें 'खाना' शब्दके जो अर्थ हैं, वे न किन्हीं कोषग्रन्थोंमें मिलेंगे, न ही किसी व्याकरणशास्त्रादिसे निरूपित हो सकते हैं। वे तो केवल लोक व्यवहारसे ही प्रसंगतः जानने योग्य हैं। इसीलिए नियम बना— "**अनेकार्था धातवः**"। कुछ लोग इस नियमको केवल संस्कृत भाषाकेलिए ही मानते हुए इसका मजाक उड़ाते हैं। वस्तुतः वे स्वयं ही उपहासके योग्य हैं। क्योंकि यह नियम सार्वत्रिक है अर्थात् सभी भाषाओंमें देखनेको मिलता है।

इस चर्चाका निष्कर्ष यह है कि शब्दार्थका बोध केवल शब्दस्वरूपसे नहीं होसकता, यथार्थबोधकेलिए शब्दस्वरूपसे भिन्न बहुतसे अर्थबोधकोंको जानना होता है। प्रसंग भेदसे अर्थभेद हो जाता है। वह तो भाषा पर

---

१. तुलना— "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" (निरु० १०.१०,४६)।

मातृभाषाके समान पूर्ण अधिकार प्राप्त होने पर ही हो सकता है– **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (बोधनाय)।'भाई और बहन' इसका अर्थ घरमें एवं सभामें अलग-अलग है। 'सिस्टर'का अर्थ घरमें, हास्पतालमें और चर्चमें भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए वक्ताके पूर्ण आशयको जाननेकेलिए वक्ताकी भाषा पर पूर्ण अधिकार होना अनिवार्य है।

इस विस्तृत भूमिकाके पश्चात् वेदार्थकी ओर प्रस्थान करते हैं। वेदोंको भी समझनेकेलिए वेदकी भाषा पर मातृभाषाके समान परिपूर्ण अधिकार होना चाहिए, वक्ता (परमात्मा) के अन्तःस्थित अभिप्रायको हृदयंगम करनेकेलिए परमात्माका सान्निध्य भी होना अनिवार्य है[१] अर्थात् वेदार्थके जिज्ञासुको देश, काल आदिकी परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर, लोककी भाषा व व्यवहारोंसे अतीत होकर सर्गारम्भके ऋषियोंके युगमें पहुँचना होगा, ऋषि बनना होगा।[२] तभी वेदोंका वास्तविक अर्थ स्वाभाविकतया स्वतः प्रत्यक्ष होगा।[३] इसकेलिए पाणिनीय व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्ग एवं अन्य ऋषिकृत वैदिक वाङ्मय मार्गमात्र प्रशस्त करते हैं। कोई भी शास्त्र भाषाके नियमोंको पूर्णतः बान्ध नहीं सकता।[४] प्रत्येक शास्त्रकी एक सीमा होती है। अतः वे केवल मार्गदर्शक हो सकते हैं। उनसे वेदोंका अर्थ सम्पूर्णतया समझ नहीं सकते।

शब्दशास्त्रके पारंगत कुछ विद्वानोंने केवल शब्दस्वरूपके आधार पर वेदभाष्य किये हैं। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वेद केवल यज्ञोंकेलिए ही प्रवृत्त हुए हैं[५], वेद केवल याज्ञिकों (ब्राह्मणों) की पोथियां मात्र हैं, अन्योंकेलिए निरुपयोगी हैं। वेदोंमें पशुबलि, मांसभक्षण, सुरापान, पवित्र यज्ञमण्डपमें व्यभिचार, यन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, इतिहास, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, भूत-प्रेत आदि-आदि विषय वर्णित व विहित हैं, ऐसा समझने लगे। वेदार्थकी इस दुर्गतिको छिन्न-भिन्न कर महर्षि दयानन्दने वेदोंको वेदोंसे समझा, समाधिस्थ होकर ईश्वरसे समझा और वेदोंसे सभी शास्त्रोंको परखा, वेदानुकूल शास्त्रोंको स्वीकारा और वेदविरुद्ध शास्त्रों वा शास्त्रांशोंका खण्डन किया। महर्षि दयानन्दके अतिरिक्त सभी भाष्यकारोंने शास्त्रोंसे वेदोंको समझा वा परखा। महर्षि कृत भाष्य और अन्योंके भाष्योंमें यही भेद है।

प्रत्येक चीजको जानने वा मापने का पैमाना एक ही नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न होता है। टेबल आदिको फीटसे मापते हैं तो कपड़ेको मीटरसे मापते। सड़कोंको कि०मी०में मापते हैं। परिमाण जितना-जितना बढ़ता जाता है, पैमाना भी बढ़ता जाता है। अतिदूरमें विद्यमान ग्रहनक्षत्रोंकी दूरी कि०मी० आदिमें माप नहीं सकते। उसकेलिए प्रकाशवर्ष है। यदि कोई ग्रहनक्षत्रोंकी दूरीको भी फीट आदिमें मापने लगे तो उसे बालबुद्धि ही कहा जाएगा। वह तो केवल खेल मात्र होगा। उसीप्रकार सामान्य लौकिक संस्कृत साहित्यको समझनेकेलिए सामान्य लौकिक कोष निर्मित हैं। उनसे वेदोंको समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई ऐसा प्रयास करता है तो, वह बालकोंका खेल सदृश होगा अर्थात् मूर्खतापूर्ण प्रयास होगा। वेदोंको समझनेकेलिए ब्राह्मणकार एवं यास्क आदि ऋषियोंने कुछ मार्गदर्शन (विशिष्ट पैमानोंका निर्देश) किया है। पर आश्चर्य है कि उन बड़े पैमानोंको भी कुछ विद्वान् लौकिक कोषोंसे मापते हैं, परखते हैं, जिनका मूल्य ब्राह्मण एवं निरुक्तके सामने नगण्य है। जैसे कि–

---

१. ब्रह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन् (तै०आ० २.९.२)। किसी भी अर्थको समझनेकेलिए भाषाका सामानाधिकरण्य, बौद्धिक योग्यताका सामानाधिकरण्य, भावात्मक सामानाधिकरण्य आदि अत्यन्त आवश्यक हैं।

२. न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा (निरु० १३.१२)। न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् (बृ०दे० ८.१२९)।

३. तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु(=अपौरुषेयो नित्यो वेदार्थः)अभ्यानर्षत्, त ऋषयोऽभवन्। तदृषीणामृषित्वमिति (ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो निर्वचनम्) विज्ञायते (निरु० २.११)।

४. वाच्यवाचकसम्बन्धो नाचार्यैरुपदिश्यते (तं०वा. मीमांसा० ३.४.४)।

५. दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् (मनु० १.२३) इत्यादि वचनोंमें यज्ञशब्दका अर्थ शाब्दिक व स्थूल अर्थका ग्रहण कर लोगों ने बड़ा अनर्थ फैलाया है।

"(यास्ककृत) गौ शब्दके गव्य अर्थका समर्थन शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् कोषोंसे नहीं होता, परन्तु डॉ० सूर्यकान्तके वैदिक कोषसे उपर्युक्त अर्थकी अवश्य पुष्टि होजाती है।" यास्कने 'निर्ऋति' शब्दके दो निर्वचन प्रस्तुत (निरु०२.७) किये हैं, एक पृथिवी-परक दूसरा पाप-परक है। इस सन्दर्भकी व्याख्या करते हुए एक निरुक्तके भाष्यकार लिखते हैं कि— "(यास्ककृत) निर्ऋतिके उपर्युक्त दोनों अर्थोंमेंसे प्रथम अर्थका समर्थन कोशों (वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुम, हलायुधकोश, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी) से नहीं हो पाता है। सभी कोशोंमें विघटन, विनाश, विपत्ति, पाप, दुर्भाग्य, अलक्ष्मी, अधर्मभार्या, अधर्मकन्या, मूलानक्षत्र आदि अर्थोंका वाचक निर्ऋतिको बताया है।" अर्थात् इन कोषोंमें निऋतिको पृथिवी वाचक नहीं बताया है। यह व्याख्या वा सोच कितनी निम्नस्तरकी है, इस एक झलकसे स्वतः अनुमान हो जाता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे व्याख्याता अपनेको बड़े अनुसन्धाता मानते हैं और यास्कके दोषों (दोषाभासों) को उद्भासित कर गौरवान्वित होना चाहते हैं, अस्तु। तप, त्यागादिके विना केवल नकल की प्रवृत्तिसे वेदों पर लेखनी चलानेका दुष्परिणाम यही होता है।

ब्राह्मणकार, निरुक्तकार आदि ऋषि एवं आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्दने वेदको समझनेकेलिए बहुतसे सूत्र व मार्गदर्शन प्रस्तुत किये हैं। उसी शैलीमें चिन्तन-मनन करनेकी आवश्यकता है। उसकेलिए इस लेखमें केवल संकेतमात्र प्रदर्शित किया गया है।

"**वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्**" (वा०प० १.१३५)

श्रुतिमात्रसे वेदार्थको जाननेमें असमर्थ लोगोंकेलिए वेद और शास्त्रोंसे अविरुद्ध तर्क ही वेदार्थका बोधक (दर्शक) होने से चक्षु (मार्गदर्शक) है। यास्कमुनिने भी इस तर्करूपी चक्षु (ऋषि) का उल्लेख किया है।[१] इसी वेदशास्त्राविरोधी ऋषित्व को प्राप्त करके महर्षि दयानन्दने वेदोपदेशकालिक आर्षभाष्यको सर्वजन हितकेलिए कठोर तप एवं साधनासे प्रस्तुत किया है।

विवेकमणि की सुरक्षा

आत्मन्निच्छसि हन्त ! शाश्वतपुरीमार्गे विहर्त्तुं यदि,
भ्रातः ! संयमवर्मणा कुरु तदा, रक्षाविधिं सर्वतः।
नो चेदिन्द्रियतस्करैस्तव हठात्तीक्ष्णाग्रभूरि स्फुरच्-
चिन्ताभल्लशतैर्विभिद्य मनसो, ग्राह्यो विवेको मणिः ॥

हे भोले आत्मन् ! यदि तू उस सनातन आध्यात्मिक मार्ग में विचरना चाहता है, तो हे भाई ! मन और इन्द्रियों के नियन्त्रणरूपी कवच से अपनी रक्षा का सब ओर से प्रबन्ध कर ले, अन्यथा इन्द्रियरूपी तस्कर चिन्तारूपी तीखे, चिलचिलाते सैकड़ों भालों से तुम्हारे मन को भेदकर तुम्हारे मन की विवेकरूपी मणि को जबर्दस्ती हर ले जायेंगे।

१. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्— को न ऋषिर्भविष्यतीति? तेभ्य एतं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् (निरु०१३.१२)।

१.६. नदीसूक्तम्ः विश्वामित्र और नदियों का संवाद*

परमकारुणिक परमेश्वर ने मानव-रचना से पूर्व समस्त जड़ जगत्, वनस्पतियों[१] एवं पशुपक्षियों का निर्माण किया था।[२] जिस-जिस पदार्थ में जो-जो गुणधर्म रचे हैं उन सकल ज्ञानों[३] को वेदवाणी[४] के माध्यम से कल्पादि[५] में ही पवित्रतम चार ऋषियों के अन्तःकरण में[६] प्रकाशित किया था। अपने ज्ञानरूपी वेद में कालत्रय[७] के सम्पूर्ण ज्ञान को मानों माला में मणियों के समान ग्रथित किया[८]। इसके कर्ता के सर्वज्ञ एवं नित्य परमेश्वर[९] होने के कारण वह भी नित्य[१०] एवं अपार ज्ञान का भण्डार है।[११] न इसके समान वा अधिक और अन्य कोई ज्ञान होने की सम्भावना ही नहीं है।[१२] समस्त धर्मों का मूल[१३] एवं मनुष्यमात्र[१४] के लिये यह सनातन मार्गदर्शक ग्रन्थ है।[१५] यह एक अत्यन्त विलक्षण बुद्धि के द्वारा निर्मित[१६] होने के कारण परम प्रामाणिक ग्रन्थ है।[१७] एतदर्थ अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। सूर्य की भान्ति स्वतः प्रमाणित है।[१८] और यह ज्ञान सार्वकालिक[१९] होने के कारण मनुष्य को सदा सर्वदा उपलब्ध होता रहता है। मानव भी इसका आलस्य एवं प्रमादादि से रहित होकर अभ्यास करता है। ऐसा आदेश भी है।[२०] फलतः इहलोक में कीर्तिमान् होकर परलोक में परमानन्द को भी पा लेता है।[२१] इस अभीष्ट की प्राप्त्यर्थ वेदानुकूल आचरण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[२२] अतः केवल वेदोक्त को ही सत्य माना जाता है।[२३] तद्विरुद्ध असत्य, अधर्म तथा अप्रामाणिक

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर १९९८) में प्रकाशित है।

१. या ओषधीः पूर्वाः जाताः० (ऋ० १०.९७.१)।

२. ऋ० १०.१९०.१-३। ३. सर्वज्ञानमयो हि सः (मनु० २.७)। ४. यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः (अथर्व० ४.३५.६)। ५. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् (ऋ० १०.७१.१) ; ब्रह्मैव प्रथममसृजत् त्रयीमेव विद्याम् (शत० ६.१.१.८)। ६. ऋषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० १०.७१.३); द्र शत०ब्रा० ११.५.८; मनु० १.२३; मी०शा०भा० ३.३.२। ७. भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति (मनु० १२.९७)। यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् (ऋ०भा०भू० पठनपाठनविधि)। ८.चतस्रः संहिताश्चक्रे सूत्रे मणिगणा इव। (भा०पु० १२.६)। ९. ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि (ऋ० १०.५४.६); ब्रह्मकृतो विपश्चिते पनस्यवे (सा० १०२५) ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म न हीदृशस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञाद् (ईश्वराद्) अन्यतःसम्भवोऽस्ति (वेदान्त० १.१.३-शाङ्करभाष्यम्)। १०. वाचा विरूप नित्यया (ऋ० ८.७५.६) अत एव च नित्यत्वम् (ब्र०सूत्र० १.३.९.१९)। एवं य एव वेदा अस्मिन् कल्पे त एव कल्पान्तरे (ब्र०सू०, भामती० १.१.३०); अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् (वा०प० १.१३५); प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या०(वा०पु० ६१.७५)। ११. अशक्यञ्चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः (मनु० १२.९४)। १२. नास्ति वेदात् परं शास्त्रम् (अत्रि० १५०)। १३. वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनु० २.६) । १४. सुमतिं विश्वजन्याम्० (ऋ० ७.१००.२), अपि च द्र० यजु० २६.२। १५.वेद चक्षुः सनातनम् (मनु० १२.९४)। १६. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वै०द० ६.१.१)। १७. धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु० २.१३)। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वै०द० १.१.३)। वेदाः प्रमाणं लोकानाम् (म०भा०, शान्ति० २७०.१)। १८. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् (सांख्य० ५.५१)। १९. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्व० १०.८.३२)।

२०. वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः (मनु० ४.१४७)।

२१. वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते (मनु० १२.१०२)। श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवाः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् (मनु० २.९)। श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् (मनु० १२.८६)।

२२. नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।(यजु० ३१.१८)। २३. यद्वेदेष्वभिहितं तत्सत्यम् (मै०उप० ७.१०)।

माना जाता है।[1] अस्तु।

उक्त महिमा से मण्डित वेद में विविध प्रकार के मन्त्र अक्षीलक्षित होते हैं।[2] वे इस प्रकार हैं— स्तुति, प्रशंसा, निन्दा, संशय, परिदेवन, स्पृहा, आशिस्, दम्भ, याचना, प्रश्न, प्रैष, प्रवल्हिका, नियोग, अनुयोग, श्लाघा, विलाप, वृत्तान्तकथन, वार्त्तालाप, पवित्र आख्यान, कामना, नमस्कार, प्रतिरोध, संङ्कल्प, प्रलाप, उत्तर, प्रतिषेध, उपदेश, प्रमाद, अपह्नव, आमन्त्रण, संक्षोभ, शापात्मक[3] आदि। प्रकृत लेख में लेखक केवल वार्तालाप अर्थात् संवादात्मक मन्त्रों का ही अनुसरण करता है। ऋग्वेद एवं निरुक्तादि के परिशीलन से कतिपय संवादात्मक सूक्त उपलब्ध होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं—

१. मारुतैन्द्र संवाद— ऋ० १.१६५; ऋ० सर्वा० (११.८); बृ०दे०(४.४४-५५)।

२. लोपामुद्रा और अगस्त्य का संवाद[4] — ऋ० १.१७९; ऋ०सर्वा० १२.४४; बृ०दे० ४.५७ - ६१।

३. विश्वामित्र और नदियों का संवाद— ऋ० ३.३३; नि०२.२४; नि० श्लो० (२.७.२०-६६) ऋ० सर्वा० १८.४; ऋ०वि० (२.४-९); बृ०दे०४.१०५-१०८।

४. ऐन्द्रसूक्तम् सपुत्र वसिष्ठ और अगस्त्य का इन्द्र के साथ संवाद— ऋ० ७.३३;ऋ० सर्वा० ३५.१४, बृ० दे० ५.१४९-१६४।

५. यम-यमी सूक्तम्— ऋ० १०.१०; अथर्व० १८.१.१-६; नि० ४.२०, ६.२८, ११.३४; ऋ०सर्वा० ५४.५।।

६. इन्द्र और वसुक्र का संवाद— ऋ० १०.२८; ऋ०सर्वा० ५५,११; बृ०दे० ७.२९।।

७. अग्नि और देवों (भ्राताओं) का संवाद— ऋ० १०.५१-५३; ऋ० सर्वा० ५७.८-११; बृ०दे० ७.६१-८१।

८. पुरुरवस् एवं ऊर्वशी का संवाद—ऋ० १०.९५; ऋ०सर्वा० ६१.१; ब०दे० ७.१४७-१५२; श०ब्रा० ११.५.१।

साम्प्रतिक लेख में हम केवल विश्वामित्र और नदियों के संवाद की ओर अग्रसर होते हैं। इस सूक्त में तेरह मन्त्र हैं जिनमें से चार मन्त्र निरुक्त में भी व्याख्यात हैं— प्रथम मन्त्र नि० ९.३९ में,पञ्चम, षष्ठ, दशम मन्त्र नि०२.२५, २६, २७ में। इस सूक्त का द्रष्टा विश्वामित्र है और देवता (प्रतिपाद्य विषय) नदियाँ हैं। यहाँ विश्वामित्र ऋषि विशेष का एवं भौगोलिक नदी विशेषों का वर्णन होने से इतिहास की झलक दिखाई देती है। जो कि नित्य वेद में सम्भव नहीं है। दूसरा विषय यह है कि ऋषि का नाम मन्त्रों में आ जाता तो यौगिक प्रक्रिया के अनुसार संवाद संभव हो सकता था। पर मन्त्रों से बाह्य विषयक ऋषि का मन्त्रगत विषय के साथ सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं है। लेकिन निरुक्तकारादि सभी मुक्त कण्ठ से ऋषि-देवता का सम्बन्ध दिखा रहे हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण विषय प्रकाशित होता है। वह यह है कि मन्त्रद्रष्टाओं के रूप में लिखित ऋषिवाची सभी नाम यौगिक हैं और वे देवता के साथ सम्बन्धित होकर मन्त्रार्थ-प्रत्यायन में सहायक हैं।[5] अन्यथा विश्वामित्र तथा

---

१. विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् असति ह्यनुमानम् (मीमांसा० १.३.३)।

२. मन्त्रा नानाप्रकाराः स्युर्दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः (बृ०दे० १.३४)।

३. द्र०बृहद्देवता (१.३५-४०)।

४. इस संवाद में एक ब्रह्मचारी (शिष्य) भी सम्मिलित है।

५. तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते (स्कन्द, ऋ०भाष्यभूमिका)। यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा (आर्षेयब्रा०, दुर्ग के द्वारा निरुक्तभाष्यारम्भ में उद्धृत)। मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छति(ऋ०सर्वा०परि० ३, प्रारम्भ में)। अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्याप-येज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः(बृ०दे० ८.१३६;अपि च द्र० १३४,१३५)। मन्त्र के ऋषि और देवता के परिज्ञान के विना मन्त्र का अर्थ करना दुस्तर है। ऐसा सभी प्राचीन वेदज्ञ मानते हैं (चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, निरु० भाष्य, पृ० ३८७)।।

नदियों का सम्बन्ध (संवाद) सिद्ध नहीं हो सकता और न ही निरुक्तकार को 'विश्वामित्र' ऋषिवाची नाम का निर्वचन करने की कोई आवश्यकता ही पड़ती है। ऋषियों के जो भी नाम हैं वे उनके मन्त्रद्रष्टृत्व रूप कर्मों के कारण उपाधिभूत हैं। उनके वास्तविक नाम नहीं हैं। यह सिद्धान्त भली-भांति यहाँ निरूपित होता है। बृहद्देवता (१.२२-३३)में कहा भी गया है कि वैदिक व्यक्तियों अथवा अन्य लोगों के नाम नाना कर्मों के आधार पर रखे जाते हैं। इन नामों को उपाधिभूत मानने पर अनेक समस्याओं का समाधान भी होता है और महर्षि दयानन्द जी के ऋषिविषयक सिद्धान्तों की भी कोई हानि नहीं होती अपितु अक्षुण्ण ही रहते हैं। यद्यपि यह विषय अनुसन्धान पूर्वक पृथक् से मीमांसनीय है[1] पुनरपि अतिसंक्षेप में दिङ्निर्देश करना प्रसङ्गविरोध न होगा। निरुक्तकार ने यहाँ मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र की निरुक्ति की है और अन्यत्र भी अनेकों स्थानों पर ऋषि नामों का निर्वचन किया है। तद्यथा– ऋ० १.१०५ का ऋषि 'त्रित' है और उसका निर्वचन करते हैं – "**त्रितः तीर्णतमो मेधया**"(निरु० ४.६)। वैसे ही ऋ० १०.१०.२,४ - ८,१०,१२,१४ का ऋषि 'यम' है और मन्त्र १,३,५ - ७,११,१३ की ऋषिका 'यमी' है। "**यमो यमी वा यच्छतीति सतः**"(निरु० १०.१९)। ऋ० १०.८६.२१ का ऋषि 'वृषाकपि' है। "**अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति**" (निरु० १२.२७)। अपि च द्रष्टव्य भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, भारद्वाज(निरु० ३.१७), अथर्वा(निरु० ११.१८)। "**नामास्य (वसिष्ठस्य) गुणतो जज्ञे वसतेः श्रैष्ठ्यकर्मणः**" (बृ०दे० ५.१५६)। यह शैली नामविशेष के लिये आवश्यक नहीं है, प्रत्युत नामसामान्य के निर्देश के लिये है। यह शैली लोक में भी देखी जा सकती है– "**विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्मात् व्यास इति स्मृतः**"(म०भा० आदि० ६४.१३०)। 'भट्टिकाव्य' (१.१४) के 'केकयी' शब्द की व्याख्या करते हुये 'डॉ० श्री गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी' लिखते हैं कि "**केकयाः (तन्नामजनपदः) ईदृशास्तादृशा इति स्वदेशं बहु प्रशंसति स्मेति तदाख्येयं जाता।**"[2] ऋष्यादि नामों का विषय निम्न स्थलों से और भी अधिक प्रस्फुट होता है। ब्रह्मसूत्र (१.३.२८) के शाङ्करभाष्य में ये उद्धृत हैं–

"**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥**
(म०भा०शान्ति० २३२.२४)

"**नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥**
सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥"
(मनु० १.२२)

ब्रह्मसूत्र (१.३.३०) के शाङ्कर भाष्य से–

"**तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥**
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भवा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥"

मन्त्रों मे आगत नदी, पर्वत, देशादि के वाचकों को भी उक्त श्लोकों के आधार पर यौगिक ही हैं ऐसा समझ लेना चाहिये। वेद के सभी शब्द यौगिक हैं– ऐसा वैयाकरण शाकटायन एवं यास्क आदि का मत है।[3] पर

---

१. ऋषिविषयक यथार्थ सिद्धान्त का निरूपण प्रथम लेख "ऋषिमीमांसा" (१.१) में किया गया है। वही सर्वमान्य सिद्धान्त है।

२. केकयान् आचष्टे इति विग्रहे 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि केकयिधातोः 'अच इः' इति उणादिसूत्रेण इप्रत्ययः। णेरनिटि इति णिलोपे 'कृदकारादक्तिनः' इति ङीषि केकयी शब्दसिद्धिः"(तत्रैव)।

३. तत्र नामाख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च(निरु० १.१२), नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च

गार्ग्याचार्य कुछ शब्दों को रूढ़ भी मानते हैं।[१] पाणिन्यादि वैयाकरणों का भी मत वैसा ही है।[२]

वैदिक शब्दों को यौगिक मानने पर समस्त शङ्काओं का निराकरण होता है। एतदर्थ एक उदाहरण पर्याप्त है। 'वैयाकरण-भूषण-सार'(१.२१) की व्याख्या में "**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानाम्०**"(मीमांसा ३.३.१४) की व्याख्या करते हुए 'प्रभा' टीकाकार लिखते हैं कि "समाख्या यौगिकः शब्दः। प्रकृतिप्रत्ययरूपयोगात्= अवयवादर्थप्रकाशकः। ..ज्योतिःष्टोमयागे सोमरसो भक्षणीयो नवेति संशयः, तत्र 'प्रैतुहोतुश्चमसः' 'प्रब्रह्मणः' 'प्रोद्गातृणाम्''प्रयजमानस्य प्रयन्तु सदस्यान्' इति श्रुत्या होत्रादिना सह चमसस्य सम्बन्धमात्रं प्रतीयते, न तु सोमभक्षणमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तसूत्रम्—'चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वम्' इति। होत्रादेः चमसे यः सम्बन्धः स भक्षणनिमित्तक एव, कुतः? समाख्यानात् = चमसो यज्ञपात्रम्, यौगिकत्वात्। तथाहि- चमधातुर्भक्षणार्थः, चमु अदने इत्युक्तेः। तस्मात् चमति = भक्षयत्यस्मिन्निति अधिकरणे औणादिकोऽसच्प्रत्ययः। एवञ्च सोमस्य भक्षणाभावे होतुश्चमस इति सम्बन्धो नोपपद्येतेति समाख्यया सोमस्य भक्षणमावश्यकमिति निर्णीतम्" (पृ० १३६)। इसके विपरीत वैदिक शब्दों को रूढ़ मानने पर "**पिता दुहितुर्गर्भमाधात्**"(ऋ० १.१६४.३३) इत्यादि अनेकों स्थानों पर महती समस्या उत्पन्न होगी। अतः यौगिक पक्ष ही साधीयान् है। इस प्रकार ऋषिवाची (विश्वामित्र) नाम और मन्त्रों में आगत नदीवाची विपाट्, शुतुद्री आदि शब्द सभी यौगिक हैं ऐसा प्रतिपादन कर यहाँ अनित्य इतिहास का सम्यक्तया वारण किया गया है। अब सूक्त की ओर प्रस्थान करते हैं।

निघण्टु (१.१३) में ३७ नदी वाचक शब्द पठित हैं।[३] नदियों का गौणरूप से अन्यदैवत मन्त्रों में तो प्रयोग बहुत है पर प्राधान्येन अर्थात् जिन मन्त्रों का नदीमात्र देवता हो ऐसे मन्त्र अतिन्यून ही हैं।[४] ऋ० ३.३३ १-१३ मन्त्रों का देवता नदी है। महर्षि दयानन्द ने इस सूक्त का ऋषि- विश्वामित्र और देवता-नदियां मानी हैं। पर सायण का विचार है कि—"अत्र चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीदशमीनां नदीवाक्यत्वात् नद्य एव ऋषयः। शिष्टानां विश्वामित्रवाक्यत्वात् स एव ऋषिः।"[५] सो मन्त्र ४,६,८,१० का देवता विश्वामित्र होगा और शेषों का देवता नदियां होंगी।[६] अपवादमन्त्र ६,७ का देवता इन्द्र है।[७] ऐसा ही मत सर्वानुक्रमणीकार आदि का भी है। पर ध्यातव्य है निरुक्तकार ने तो इस सम्पूर्ण सूक्त को नदी देवता मानकर ही उद्धृत किया है। क्योंकि इस सूक्त के चार मन्त्र निरुक्त में उल्लिखित हैं। जिनमें से दो मन्त्र (१,५) विश्वामित्र के वचन हैं और शेष दो मन्त्र (६,१०) नदियों के वचन हैं। इन सभी का प्रधान देवता नदी मानकर ही उद्धृत किया गया है।

तोकम्(म०भा०३.३.१)। नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः(नि०स०१.१, पृष्ठ ३)।

१. सर्वाणीति गार्ग्यः(निरु० १.१२)।

२. वैयाकरणानां चैके(निरु० १.१२)।

३. नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत् (निरु० २.२४)।

४. प्रायो नैघण्टुकस्त्वासां प्रयोगोऽन्यपरत्वतः। क्वचित् प्राधान्यतश्चैव०(नि०श्लो० २.७.२२)।

५. यहां सायण ने शिष्टों में अन्यतम सप्तम मन्त्र को विश्वामित्र का वचन माना है। जबकि अष्टम मन्त्र के भाष्यारम्भ में लिखते हैं कि "नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः" अर्थात् मन्त्र ६ और ७ दोनों से इन्द्र-स्तुति करके अब प्रत्युत्तर दे रहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मन्त्र ७ को भी नदी का वचन मान रहें हैं। जो आपस में विरोधाभास प्रतीत होता है।

६. यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता (ऋ०सर्वा०, परि० २.४,५)। संवादेषु च सर्वेषु स ऋषिर्यस्य वाक्यं तत्। आत्मस्तवेषु य ऋषिर्देवता स एवोच्यते। तेन वाक्येन यः प्रतिपाद्यते स स्याद्देवता।। षड्गुरुशिष्य— ऋ०सर्वा० ११.८।

७. मन्त्र—६ में इन्द्र और सविता तथा मन्त्र ७— में इन्द्र परिकीर्तित है(द्र० बृ०दे० ४.१०९)।

इस सूक्त में विश्वामित्र और नदियों का पारस्परिक संवाद का वर्णन है। जिसका वर्णन निरुक्तादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्रकृत सूक्त का निदानभूत[१] ऐतिह्य इसप्रकार मिलता है— पुरा काल में पिजवान का पुत्र पैजवन सुदास् राजा हुआ था। ऋषि विश्वामित्र उस राजा का पुरोहित बना था। पौरोहित्य से अर्जित धन लेकर अश्वों से युक्त रथ वाले[२] वह ऋषि विपाट् और शुतुद्री नदियों के सङ्गम[३] पर आये और उनके साथ शिष्य व सैनिकादि भी थे।[४] अतिवेग से प्रवाहित होने वाली एवं जल से परिपूर्ण नदियों को पार करने के इच्छुक ऋषि ने उनकी स्तुति की है। जिससे कि वे स्वल्पोदक वाली हो जावे तथा विश्वामित्रादि की रक्षा करने वाली हो जावे। क्योंकि कहा भी गया है कि—

नमः स्रवद्भ्य इत्येतद् यो नित्यं हि समाचरेत्। तं नद्यः स्रोतसः पान्ति स्वं पुत्रमिव मातरः॥
भयं चास्य न विद्येत नदीतीरचरेष्वपि। जलचरेभ्यो भूतेभ्यश्शीतोष्णैर्न च बाध्यते॥

(ऋ०वि० २.५, ६)

और वह स्तुति कभी एकवचन से संयुक्त मन्त्र से[५], कभी द्विवचन (मन्त्र १,२,३,१३—उत्तरार्ध) व बहुवचन (मन्त्र ५,९,११,१२,१३) से संयुक्त मन्त्रों से की है। जब ऋषि ने द्विवद् मन्त्रों से स्तुति की तो प्रत्युत्तर भी दो नदियों से ही प्राप्त किया (मन्त्र ४) और जब बहुवद् मन्त्रों से सम्बोधित किया तो उत्तर भी बहुत नदियों से मिला (मन्त्र ६, ८, १०)। प्रथम तीन मन्त्रों से दो महानदियों को विश्वामित्र ने सम्बोधित किया कि—

१. पर्वतों के समीप वा गोद से समुद्र की कामना करती हुई विपाट् और शुतुद्री ये दो नदियां जल से परिपूर्ण होकर ठीक वैसे ही प्रवाहित हो रहीं थी जैसे अश्वशाला से विमुक्त घोड़ा एवं घोड़ी परस्पर स्पर्धा करती हुई वा प्रेम करती हुई और जैसे बैल एवं गौ लिलिक्षया बछड़े की ओर अतिवेग से दौड़ रहीं है।

२. जैसे रथी और सारथी अपने गम्य देश की ओर वेग से जाते हैं वैसे ही हे नदियों! तुम दोनों इन्द्र से प्रेरित होकर उसकी अनुज्ञा की याचना करती हुई, परस्पर सङ्गत होती हुई तथा तरङ्गों से परिसर प्रान्तों को सन्तृप्त करती हुई और सुशोभित होती हुई समुद्र की ओर जा रहीं हो।

३. मातृवत् भलीभांति पालन करनेवाली तुझ शुतुद्री नदी को मैं विश्वामित्र प्राप्त हो गया हूँ। महती सौभाग्यवती तुझ विपाश् नदी को हम लोग प्राप्त हो गये हैं और जैसे (दो) गौवें अपने बछड़े को जिह्वा से चाटने की इच्छा से दौड़ पड़ती हैं वैसे ही एक गम्यस्थान समुद्र को सम्यक्तया जाती हुई तुम दोनों को मैं प्राप्त हो गया हूँ।

---

१. नि=निश्चयो दीयतेऽनेनेति निदानम् अथवा प्राग्रूपं येन लक्ष्यते इति वा। 'निदानं त्वादिकारणम्' अमर० १.५.२८।

२. 'अश्वों से......वाले' का सङ्केत मन्त्र ९ एवं १० से मिलता है।

३. इन दो नदियों के सङ्गम का उल्लेख इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में भी है—"अन्या वामन्यामप्येति"। यह मन्त्र द्विवद् होने के कारण दो नदियों के सङ्गम का वर्णन है और ये दो नदियाँ प्रधानभूत होने के कारण निरुक्तकार ने भी इन्ही के सङ्गम का वर्णन किया है— "विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ"। पर सङ्गम अनेक नदियों का समझना चाहिये — 'विपाट्छुतुद्र्यौ इतराभिः सिन्ध्वादिभिर्नदीभिः सम्भिन्ने एकीभूते इत्यर्थः" (दुर्गः)।

४. विश्वामित्र अकेले नहीं प्रत्युत अपने अनुयायियों के साथ आये थे। ऐसा संकेत सूक्त में भी है— **'विपाशम् ...अगन्म'** मन्त्र-३।

५. यद्यपि निरुक्तादि में द्विवद् और बहुवद् मन्त्रों का ही वर्णन है— 'गाधा भवतेत्यपि द्विवद् अपि बहुवद्' (नि० २.२४)। पर बृहद्देवता में एकवद् का भी उल्लेख है— 'प्रवादास्तत्र दृश्यन्ते द्विवद्बहुवदेकवत्' (४.१०७)। परन्तु कोई भी सम्पूर्ण मन्त्र एकवचन से युक्त नहीं है। हाँ मन्त्रांश अवश्य हैं। तद्यथा— 'मातृतमां **सिन्धुम्**' (स्रवन्तीं शुतुद्रीम्) अच्छा अयासम् (मन्त्र ३)। 'उर्वी सुभगां **विपाशमगन्म**' (मन्त्र ३)। 'कुशिकस्य सूनुः' (अहम्) बृहती मनीषावस्यु**र्सिन्धुम**च्छा प्राह्वे (मन्त्र ५)।

नदियाँ स्वल्प जलवाली हो जावें इस आशय से इन तीन ऋचाओं से विश्वामित्र ने उनकी स्तुति की और अपने आगमन की सूचना भी दे दी है। तब वे दो नदियाँ (विपाट् और शुतुद्री) उत्तर देती हैं कि–

४. [हे विश्वामित्र !] इस जल से खेती आदि को तृप्त करती हुई, इन्द्रदेव के द्वारा संकेतित स्थान समुद्र को लक्षित करके हम (दोनों)[1] जा रहीं हैं और प्रवाह में प्रवृत्त हमारा पुरुषार्थ निवर्त्तन के लिए नहीं है। किस इच्छा से यह ब्राह्मण हम नदियों का आह्वान कर रहा है?

'पूर्णां तितीर्षुः सरितं रमध्वमिति संस्मरेत्' (ऋग्विधान २.७) अर्थात् जल से पूर्ण नदियों को तैरने के इच्छुक 'रमध्वम्' इस [अग्रिम] मन्त्र से स्तुति करें, उसे स्मरण करें। अतः विश्वामित्र पुनः नदियों को सम्बोधित करते हैं कि–

५. जल से परिपूर्ण हे नदियों ! सोमसम्पादक(तुम्हें पार करके सोम का सम्पादन करूँगा, अतः) मेरे वचनों, स्तुतियों के लिए अपनी वेगगतियों से मुहूर्तभर शान्त हो जाओ। (सामान्य परिचय से नदियों के न सुनने की अवस्था को देखकर अपने विशेष परिचय को कहते हैं कि– कुशिक राजा का पुत्र मैं महती स्तुति से आत्मरक्षा की चाह से तुझ सिन्धु (= शुतुद्री) नदी को सम्यक्तया पुकारता हूँ।

६. पुनः नदियाँ प्रत्युत्तर देती हैं कि– हे विश्वामित्र ! जलों को अपने अन्दर समाहित कर चारों दिशाओं में विद्यमान वृत्र (मेघ) का वज्रबाहु इन्द्र ने हनन किया। इस प्रकार हमें उन्होंने खोदा और सुपाणि प्रेरक देव ने हमें ले आया (समुद्र में मिलाने हेतु)। ऐसे पराक्रमी इन्द्र की अनुज्ञा में हम जलों से पूरित होकर जा रही हैं। आपके वचनों से हम उपरत नहीं होंगीं। [यहां इन्द्रस्तुति है]।

७. जो इस इन्द्र ने जल से प्रेरणार्थ मेघ का छेदन किया, ऐसे छेदनरूप कर्म का जो उस इन्द्र का सामर्थ्य है वह सदा प्रशंसनीय है। उस इन्द्र ने चारों ओर स्थित जल के प्रतिबन्धक असुर मेघों को वज्र से मारा। उससे स्थान (समुद्र) की इच्छा करते हुये जल जा रहे हैं। [यहां भी इन्द्रस्तुति है]।

८. स्तुति करने वाले हे विश्वामित्र! तुम हमें प्राप्त होकर जो संवादात्मक वाणी का प्रयोग कर रहे हो, उससे हमारा निराकरण मत करो। यतोहि आगे के याज्ञिक युग व दिनों में संवादात्मक वाणी से हमारी सेवा करो। सम्प्रति उक्तिप्रत्युक्तिरूप संवाद से पुरुषों में हमारा तिरस्कार व दिनों में अपमान मत करो। तुझे नमस्कार हो।

९. अब पुनः ऋषि नदियों को सम्बोधित करते हैं– हे बहन तुल्य नदियों ! मेरे स्तुतिवचनों को साधुतया सुनो कि मैं शकट और रथ से अतिदूर से तुम्हारे समीप आया हूँ। अतः तुम लोग नम्र हो जाओ और सरलता से पार करने योग्य बन जाओ। शकटादि के अक्षभाग से न्यूनपरिणाम वाली हो जाओ।

१०. पहले नदियाँ ऋषि के वचनों का प्रत्याख्यान कर चुकी थीं। अब उनके अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए कहतीं हैं कि– हे स्तुति कर्ता ऋषे! आपके वचनों को हम सुनती हैं। क्योंकि आप अतिदूर से आये हैं। आप शकट और रथ से चले जाइये। हम ठीक वैसे ही नीचे को हो जाती हैं जैसे अपनी सन्तान को दूध पिलाने की इच्छा से माता और पतिदेव के परिष्वजन के लिए नवोढा स्त्री लज्जा से झुक जाती है।

११. इस ऋचा से विश्वामित्र उत्तर देते है कि– हे नदियों! यदि हमारा तैरना तुम्हें स्वीकार्य है तो भरतकुलज मेरे अनुयायी तुम्हें पार करें। जलों को तैरने व पार करने की इच्छा करते हुये तुम्हारे द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के द्वारा प्रेरित भरतों का समूह पार कर चले जायें। यतोहि गमन के लिए प्रवृत्त उनका उद्योग पहिले ही तुम्हें अनुज्ञात है। मैं तो यज्ञार्ह तुम्हारी सुमति का सर्वथा सम्भजन करता हूँ।

१२. उस पार भूमि की इच्छा के करते हुए सभी भरतकुलज नदियों को तैर लिए वा पार किये हैं। ब्राह्मण

'यदङ्ग त्वा (त्वां नदीम्)' (मन्त्र ११)।

१. वयम् = द्वयोर्बहुवचनं पूजार्थम् इति सायणः।

विश्वामित्र नदियों की सुमति का सम्भजन किया कि उत्तम रीति से निर्मित, जलों को प्रवाहित करनेवाली तुम उत्तम नदियाँ अन्न को उत्पन्न करती हुईं कृषकों को विशेषतया सन्तृप्त करो और नहरों को जलों से पूरित करो तथा समुद्र की ओर शीघ्र प्रवाहित हो जाओ।

१३. हे नदियों जैसे जुए में लगे कील और उसमें जुते हुये बैलों में स्थित रस्सी जुए से ऊपर रहती हैं वैसे ही तुम्हारी तरङ्गें भी ऊपर-ऊपर चलती हैं। हे आप! तुम उन तरङ्गों को त्याग दो अर्थात् ऐसी गति करो जिससे कि जल हमें स्पर्श न कर सके। तुम दोनों (विपाट् और शुतुद्री) पाप रहित हो। अतः तुम कल्याणकारिणियाँ किसी के द्वारा भी अतिरस्करणीय हो। रथों की समृद्धि कराओ। ऐसी स्तुति कर उनसे अनुज्ञात विश्वामित्र उस पार चले गये।

इस सूक्त में वर्णित संवाद के स्वरूप का अवलोकन कर यथार्थता की ओर चलते हैं। इस सूक्त की अस्पष्टता वा अनित्य इतिहास की प्रतीति का कारण ये शब्द हैं— विश्वामित्रः, पैजवनः, सुदाः, कुशिकस्य सूनुः, रथ एवं अनस्, नदी, सिन्धुः, समुद्रः, वक्षणा, विपाट् और शुतुद्री। अतः इसके नैर्वचनिक शब्दबोध्य के बोध से तथ्य के समीप में पहुंचा जा सकता है।

१. **विश्वामित्र**— इस सूक्त का द्रष्टा (ऋषि) विश्वामित्र है। पर जैसे कि कहा जा चुका है कि यह कोई ऋषिविशेष वाची नहीं है प्रत्युत ऋषिसामान्य वाची है। ऋषिविशेषार्थ निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन महामुनि यास्क इसकी निरुक्ति करते हैं— "**विश्वामित्रः सर्वमित्रः**"(निरु० २.२४)। अर्थात् जो सबका मित्र है व सब जिसके मित्र हैं वह "विश्वामित्र' कहा जाता है।[1] और वह है कौन? इसका स्पष्टीकरण निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी करते हैं कि— "**विश्वामित्रः सर्वमित्रो भगवानादित्यः**"(२.२७)। स्पष्ट है यहाँ विश्वामित्र से आदित्य (सूर्य) का ही ग्रहण है। यह स्कन्द की अपनी कोई कल्पना मात्र नहीं है। ऋ० ३.५३.९ में भी स्पष्ट रूप से आदित्य को विश्मामित्र कहा गया है और उसका कारण भी बताया गया है कि **(यन्महानृषिर्देवजा देवजूतो नृचक्षा विश्वामित्र इन्द्रः)** बड़प्पनरूप परिमाण से सब पदार्थों से बड़ा, तत्त्वों का द्रष्टा व कर्त्ता, द्योतमान किरणों का जनयिता अथवा किरणों में उत्पन्न होने वाला और उन किरणों से प्रेरित, मनुष्यों को कर्मों में प्रवृत्त कराने हारा, अत्यन्त ऐश्वर्य का करनेवाला विश्वामित्र [सब का मित्र आदित्य अपने] **(कुशिकेभिः)** किरणों से[2] **[सुन्धुम् अर्णवम्]** नदी और समुद्र को **(अस्तभ्नात्)** आकर्षित वा धारण करता है और **(सुदासमवहत्)** कल्याणकारी वायु का वहन करता है। इस प्रकार वह आदित्य सबका **(अप्रियायत)** मित्र हो जाता है।[3] इससे यह प्रस्फुटित होता है कि नदी (जल) आदि सब पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करने का जो गुण आदित्य का है उसे ही विश्वामित्र कहते हैं। इस विद्या को इस सूक्त से जानने वाला द्रष्टा (ऋषि) भी विश्वामित्र है। इस उपाधिभूत नाम से ऋषि का स्मरण भी होता है और जिस निमित्त से उसे यह नाम प्राप्त हुआ, उससे मन्त्रार्थ जानने में सहायता भी मिलती है।

२. **पैजवन सुदास्**— इस शब्द का अर्थ है पिजवन का पुत्र सुदास्— "**पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः**"(निरु० २.२४)। पिजवन कौन है? "**पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वामिश्रीभावगतिर्वा**" (निरु०२.२४)— स्पर्धा के योग्य गति अथवा अन्य वेगवानों के द्वारा अमिश्रितगति अर्थात् अतिशीघ्रता से युक्त गति ही पिजवन है।[4] और इस पिजवन (वेग) का पुत्र है सुदास् (वायु)। 'सुदास्' नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति (राजा) भी हुआ

---

१. विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद (ऐ० ब्रा० ६.२०)। विश्वामित्राय=विश्वं सर्वं जगन्मित्रं यस्य तस्मै (दया०, ऋ० ३.५३.७)। सर्वस्यैव हि स मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रमिति विश्वामित्रः (दुर्गः, निरु० २.२४)।

२. कुष्णन्त्याकर्षन्तीति कुशिकास्तैः।

३. तुलना— महर्षि दयानन्द भाष्य(ऋ० ३.५३.९) ।

४. तस्य हि स्पर्धार्हो जवो वेगः। अथवा— न तस्य मिश्रीभूतपूर्वा गतिरन्यैर्वेगवद्भिरतिशैघ्र्यात् (दुर्गः)। पिजवनः= सम्पदा

है। अतः यहाँ उस व्यक्तिविशेष के इतिहास का भ्रम नहीं होना चाहिये। अन्यथा वेद-नित्यत्व की हानि होगी। यहाँ व्यक्तिविशेष का आख्यान नहीं है क्योंकि वेद में अन्यत्र (ऋ०१.१८५.९)''**सुदास्तराय**'' ऐसा तरप्प्रत्ययान्त सुदास् का प्रयोग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सुदास्' विशेषणवाची है, न कि व्यक्तिवाची। अत एव यास्क मुनि को कहना पड़ा कि '**सुदाः कल्याणदानः**'(निरु०२.२४)। अर्थात् जो नित्य अत्यधिक सुन्दर कल्याणतमदान सुपात्रों को देता है वह सुदास् है।[१] इस प्रकार विशेषणवाची मानकर कल्याणतमदाता वायु सुदास् हुआ है। जो कि वेग (पिजवन) से उत्पन्न होता है। अतः 'पैजवन सुदास्' का अर्थ हुआ 'वायु'। इस नैर्वचनिक अर्थ से जो भी सात्विक दानी राजा, यजमान आदि सत्पुरुष होंगे, वे भी सुदास् कहलायेंगे।[२] महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार क्षमाशील पुरुष भी पिजवन है और उसका पुत्र पैजवन है।[३] इस सुदास् शब्द से विश्वामित्र का परिचय भी मिलता है। जो निम्न प्रकार है—

३. **विश्वामित्र का पौरोहित्य**— ''**विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव**'' (निरु० २.२४) अर्थात् विश्वामित्र पैजवन सुदास का पुरोहित बना। जैसे कि लिखा गया है कि विश्वामित्र आदित्य है और सुदास् वायु है। इससे यही ज्ञात होता है कि आदित्य (विश्वामित्र) वेग से उत्पन्न वायु (पैजवन सुदास्) का पुरोहित बना है। ऐतरेय ब्राह्मण में आदित्य को पुरोहित कहा भी गया है— ''**आदित्यो वाव पुरोहितः**'' (ऐ० ब्रा० ८.२७)। पुरोहित किसे कहते हैं? यजमान लोग जिसको पहले धारण करते हैं व चयन करते हैं उसे पुरोहित कहते हैं।[४] और पुरोहित यजमान का हितसाधक एवं सर्वसुख-साधनों के सम्पादयिता होता है।[५] विना पुरोहित (विश्वामित्र आदित्य) के यजमान (सुदास् = वायु, राजा, यज्ञकर्त्ता) के कार्य वा इष्ट-सिद्धि नहीं होती। अतः पुरोहित का चयन यजमान को अनिवार्य है।[६] अर्थात् सुदास् वायु (यजमान) अपने कल्याणदानरूपी कार्य को विना विश्वामित्र (आदित्य-पुरोहित) के सम्पन्न नहीं कर सकता है। उसके कार्य का सम्पादक आदित्य ही है। इतना ही नहीं सुदास् के अस्तित्व का आधार भी आदित्य है। क्योंकि सुदास् (वायु) पिजवन (वेग)[७] का पुत्र है। और पिजवन (वेग) का प्रेरक वा कारण विश्वामित्र (आदित्य वा अग्नि)[८] ही होता है। विश्वामित्र का पौरोहित्य कार्य यही है कि पैजवन सुदास् को अस्तित्व में लाना और उसके कार्य (कल्याण-दानत्व) में सहायक होना है। इस पैजवन सुदास् के दान की स्तुति ऋ०७.१८.२२-२५ में की गयी है।

४. **कुशिक**— कुशिक शब्द से भी विश्वामित्र का परिचय मिलता है। यतोहि वह कुशिक का पुत्र

जवस्य शैघ्र्येण च स्पर्धनीयजवः। अथवा न मिश्रीभावो गतेः। अतिशयवतः शैघ्र्यात् तस्य, न केनचित् सह गतः पूर्वम् (स्कन्द स्वामी)।

१. तस्य हि नित्यमेव प्रशस्तं दानं भवति (दुर्गः)। सुष्ठु पात्रेभ्यो ददाति (स्कन्दः)। सुदासे=यः सुष्ठु ददाति तस्मै (दया०, ऋ० ७.२५.३)

२. सुदासम्=शोभना दासाः दातारः सेवका वा यस्य तम् (सत्पुरुषम्) (दया०, ऋ०७.१९.३)। सुष्ठु दातारं सेवकं वा [जनम्] (दया०, ऋ० ७.३३.३)। श्रेष्ठा दासाः सेवका दानानि वा यस्य सः (प्रजाजनः) (दया०, ऋ० ७.३२.१०) उत्तमविद्यादानः [राजा] (दया०, ऋ० ७.१८.२५)।

३. पैजवनस्य=क्षमाशीलस्य पुत्रस्य, क्षमाशीलाज्जातस्य पुत्रस्य (ऋ० ७.१८.२३,२५)।

४. पुरोहितः पुर एनं दधति (निरु० २.१२)। यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति सः (दया०, यजु० ११.८१)।

५. पुरोहितः=सर्वेषां हितसाधकः (दया०, ऋ० ३.११.१)। पुरस्ताद्धितकारी (दया०, यजु०३३.४०)। सर्वसाधनसुखसम्पादयिता (दया०, ऋ० १.४४.१०)।

६. तुलना—''न हि वा अपुरोहितस्य राज्ञः देवा अन्नमदन्ति; तस्माद्राजा यक्षमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत' (ऐ०ब्रा० ८.२४)

७. महर्षि दयानन्द ने भी 'पिजवन' का अर्थ 'वेग' किया है— ''पैजवनस्य=वेगयुक्तस्य' (ऋ० ७.१८.२२)।

८. अग्निर्वा पुरोहितः(ऐ०ब्रा० ८.२७)।

है।[1] यह कुशिक कौन है? इसका समाधान निरुक्तकार देते हैं— ''**क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयति कर्मणः**''(निरु०२.२५)। अर्थात् शब्दार्थवाले 'क्रुश्' धातु से अथवा प्रकाशार्थक 'क्रंश्' धातु से कुशिकशब्द बना है। अतः अर्थ होगा जो नित्य सत्योपदेशादि धर्मों का उपदेश वा प्रेरणा देता है वह 'कुशिक' कहलाता है[2] और जो सब को प्रकाशित करता है वह भी 'कुशिक' कहा जाता है। यास्क तीसरा अर्थ यह भी करते हैं कि ''**साधुविक्रोशयितार्थानाम्**''(निरु०२.२५)। अर्थात् जो साधुजन ब्राह्मणों में अर्थों (धनों) का दाता है[3], वह भी कुशिक है। जब कुशिक शब्द का अर्थ धर्ममार्ग का उपदेशक वा प्रेरक और सत्पात्र ब्राह्मणों को दान देने वाला होगा तब विश्वामित्र का अर्थ व्यक्ति सामान्य पुरोहित होगा और जब कुशिक का अर्थ प्रकाश होगा तब विश्वामित्र का अर्थ आदित्य होगा।

यहां स्कन्दस्वामी और अधिक स्पष्ट करते हैं कि उषा का जो प्रकाश है वह कुशिक है और उसका पुत्र[4] विश्वामित्र है।[5] इस नैर्वचनिक अर्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां व्यक्ति विशेषों का कथन नहीं है। कोई कहे कि यहाँ यास्क के ''**कुशिको राजा बभूव**''(निरु०२.२५) इस वचन में भौतकालिक क्रिया से अनित्य इतिहास प्रतीत होता है। इसका उत्तर यह होगा कि यहां यास्क ने इतिहास को मानने वाले के पक्ष को दिखाया है। अपने पक्ष में तो निर्वचन कर दिये हैं। ऐतिहासिक पक्ष में भी नित्य इतिहास ही समझ लेना चाहिये। अन्यथा नदियों के साथ संवाद संभव ही नहीं है। यदि यह यास्क का पक्ष मान भी लें तब भी कोई अनिष्ट की आपत्ति नहीं होती है। क्योंकि यहां 'बभूव' का अर्थ भूतकाल ही हो यह कोई अनिवार्य नहीं है, वर्तमान काल भी हो सकता है। यह शैली निरुक्त में अन्यत्र भी देखी जाती है। तद्यथा— ''**ऋषिः कुत्सो भवति** (निरु०३.११), **नोधा ऋषिर्भवति (निरु०४.१६), च्यवन ऋषिर्भवति** (निरु०४.१९)। ''अतः ''**कुशिको राजा बभूव**'' का अर्थ ''**कुशिको राजा भवति**'' होगा। अर्थात् जो ब्राह्मणों को दान देनेवाला राजा होगा वह 'कुशिक' कहा जायेगा। अथवा यह भी कहा जा सकता है— यास्क ने जो नैर्वचनिक अर्थ दिखाये हैं, उनके अनुसार जो अन्वर्थक राजा हुआ हो और उसका नाम 'कुशिक' पड़ गया हो। जिस को यास्क ने अपने ग्रन्थ में स्मरण किया हो। क्योंकि सभी नाम वेद से ही ग्रहण किये गये हैं, ऐसा कहा जा चुका है।

५. रथ और अनस्— रथ शब्द पृथिवी-जल-आकाशादिगमन प्रसङ्गों में, मरुतेन्द्राश्विन्यादि देवता-प्रसङ्गों में एवं अन्य प्रसङ्गों में भी प्रयुक्त हुआ है। अतः बहुत्र बहुधार्थ में दृष्ट इस शब्द की निरुक्ति यास्क इस प्रकार करते हैं— ''**रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा**''(निरु०९.११)। अर्थात् जो चलता है वा स्थिर रहता है या रमणीयता से विद्यमान रहता है वह रथ कहलाता है। इस निर्वचन के आधार पर महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इस शब्द के काष्ठमय यान विशेष रथ[6], विमान[6], नाव[6], विद्वान्[7], संसार[8], सूर्य[9], किरण[10], ज्ञान[11], विद्या[12], व्यवहार[13], शरीर[14], जगत्[15] आदि

१.'कुशिकस्य सूनुः' ऋ० ३.३३.५। ध्यातव्य है— ऐतिहासिक विश्वामित्र कुशिक का पुत्र नहीं अपितु पौत्र है और गाधि का पुत्र है। द्र०— महाभाष्य ४.१.१०४।

२. स हि साध्वेव क्रियतामिति नित्यकालमेव क्रोशयति (दुर्गः)।

३. साधुषु ब्राह्मणेषु विक्रोशयिता अर्थानां दातेत्यर्थः (दुर्गः)।

४. जड़ पदार्थों में भी माता, पिता, पुत्रादि का व्यवहार वेद में देखा जा सकता है। जैसे कि द्र०— ऋ०१.१६४.३३, १०.७२.४ तथा च 'सूर्या' [उषा] सूर्यस्य पत्नी (निरु०१२.७) ; 'सूर्यस्य दुहिता [उषा] ऋ० ३.५३.१५

५. क्रंशतेरौषसः प्रकाशः कुशिकः। कुशिकस्य प्रकाशस्य सुनूरहमादित्यः, तस्य पुत्रस्थानीय इत्यर्थः। [स्कन्दः २.२७]

६. ऋ०१.११२.२; ५.७५.१; ६.४७.२७, यजु०१७.३७। ७. यजु०२९.५४।

८. ऋ०१.७०.४। ९. ऋ० ६.४४.२४। १०. ऋ० ६.६३.५।

११.ऋ०१.८२.४। १२.यजु० ८.३३। १३. ऋ० ६.४९.५।

१४.ऋ० ६.४७.१९। १५.ऋ० ६.५५.६।

अनेक अर्थ किये हैं। दुर्गाचार्य ने 'योद्धा' अर्थ भी किया है।[१] वेद ने रथ को सुखप्रदवाचीशब्द का विशेषण भी जोड़ा दिया है।[२] अस्तु। 'अनस्' शब्द का अर्थ सामान्यरूप से 'शकट' है, पर नैर्वचनिक विशेषार्थ तो यह है कि– **अनो वायुरनितेः, अपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव। अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरम्। अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः। उपजीवन्त्येनत्**'' (निरु०११.४७)। यहां पर धातु और उपमादि से दर्शित अर्थ से स्पष्ट है कि 'अनस्' का अर्थ 'वायु' है। महर्षि दयानन्द ने भी ऐसा ही अर्थ किया है – ''**अनः = शकटमिव**'' (ऋ० ४.३०.११) इन कथनों से रथ और अनस् के स्वरूप का परिचय भली-भांति मिलता है। प्रकृत प्रकरण में विश्वामित्र रथों तथा शकटों के साथ नदियों के सङ्गम पर आया है– ''**ययौ वो दूरादनसा रथेन**''(ऋ०३.३३.९)। जब 'विश्वामित्र' का अर्थ राजा, पुरोहितादि होगा तब 'रथ' का अर्थ रमणीय एवं सुखप्रद यानविशेष होगा और 'अनस्' का अर्थ शकट। जब 'विश्वामित्र' का अर्थ आदित्य होगा तब 'रथ' का अर्थ किरण[३] होगा अथवा स्वयं आदित्य भी हो सकता है– ''**रथः रमणीयः सुखकर आदित्यः**''।[४] और अनस् का अर्थ वायु है। आदित्य के स्तम्भक तत्त्व वा शक्ति विश्वामित्र है। वह शक्ति शकटतुल्य वायु के द्वारा तथा किरण वा आदित्यरूपी रथ के द्वारा दूर से अर्थात् सौर मण्डल से आकर नदियों के सङ्गम को प्राप्त हो गयी है। यही अभिप्राय इस सूक्त के नवम एवं दशम मन्त्रों में जान लेना चाहिये।

६. ''**नद्यादयः**''– नदीवाची शब्दों के दर्शनमात्र से भौगोलिक इतिहास का भ्रम नहीं होना चाहिये। यतोहि यास्क इनका निर्वचन करते हैं। तद्यथा ''**नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः**'' (निरु०२.२४)। महर्षि दयानन्द ने भी ऋ०५.४५.२ पर इसी प्रकार का निर्वचन दिखाया है। जो निरन्तर अव्यक्त शब्द करती हुई चलती है वह नदी कहलाती है और ये नदियाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में प्रवाहित होती हैं। जैसे कि वेद ने कहा कि – '' **प्र सुप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः**''(ऋ०१०.७५.१)।[५] औपमिक अर्थ को दिखाते हुए महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में नदी के समान विद्यमान विद्वान्[६], शूरजन[७] आदि अर्थ भी किये हैं। अध्यात्म में नदियों का अर्थ 'नाड़ियाँ' हैं।[८] 'सिन्धु' शब्द निघण्टु के नदीवाचियों में पठित है। ''**सिन्धुः स्यन्दनात्**'' (निरु०९.२६) अर्थात् जो नदी विस्तृत[९] होकर अतिवेग[१०] से प्रवाहित होती है वह 'सिन्धु' है। अध्यात्मादि में इस शब्द के परमात्मा[११], सभाध्यक्ष[१२], शत्रु[१३] आदि अर्थ भी हैं। नदीवाचकों में समुद्रशब्द भी है। यह पृथिव्यादिस्थ जलमय सागर का भी सूचक है। अतः यास्कमुनि इसकी निरुक्ति करते हैं – ''**समुद्रः**

१. स्थिरः सन् रथ इत्युक्तः। तत्र हि स्थिरः सुप्रतिष्ठितो योद्धा भवति (निरु० ९.११)।
२. सुखं रथम् (ऋ० १०.७५.९, निरु० ७.७, ऋ० ९.११२.४, निरु० ९.२)
३. रमणीयं किरणम् (दया. ऋ० ६.६३.५)।
४. रमणीयं सूर्यलोकम् (दया०, ऋ० ६.४४.२४)।
५. ता नद्यः सप्त सप्त भूत्वा त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रेधा त्रिप्रकारं चक्रमुः प्रावहन् (सायणः, ऋ०१०.७५.१।
६. सरितामिव वर्तमानानां विदुषीणाम् (दया०, ऋ० ३.३३.१२)।
७. नदी इव वर्त्तमानौ [शूरजनौ] (दया०, ऋ० १.१३५.९)।
८. नदीभिः = सरिद्भिरिव नाडीभिः (दया०, ऋ० ५.४१.१९)। विशेष द्र० ऋ०भा०भू०प्रामाण्या०।
९. सिन्धुः = विस्तीर्णा नदी (दया०, ऋ० १.९२.११)।
१०. प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा (ऋ० १०.७५.१)। प्रावहन् सृत्वरीणामासां मध्ये सिन्धुरेतन्नामिका नदी ओजसा स्वबलेन अति सर्वा अपि नदीरतिक्रम्य प्रवहतीति शेषः (सायणः)।
११. सिन्धुः = यः स्यन्दते प्रस्रवति सुखानि स परमात्मा (दया०, ऋ० १.११.६)
१२. सिन्धु = स्यन्दते प्रस्रवति सुखानि समुद्र इव गम्भीरस्तम् [सभाध्यक्षम्] (दया०, ऋ० १.११.६)।
१३. सिन्धवः = समुद्रनदीवत् कठिनाऽवगाहाः शत्रवः (दया०, ऋ० १.६१.११)।

कस्मात्?समुद्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्ते ऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा''(नि० २.१०)। आधिभौतिक में इसके द्युलोक[१], अन्तरिक्ष[२], वायु[३], जल[४], मेघ[५] एवं सागर[६] आदि, आध्यात्मिक में ईश्वर[७] अर्थ है। 'वक्षणा' शब्द भी नदीवाचकों में पठित है। **'वहन्ति जलानि यास्ताः (नद्यः)'**(दया०,ऋ० १.३२.१), **'वक्षणा वक्षन्ति क्रुध्यन्तीव हि ता वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्यः।.......प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा'** (देव०, नि०नि० १.१३.९)। नद्यभिधेयक 'विपाट्' का निर्वचन इस प्रकार है– **'विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते'** (निरु० ९.२६)। इस नैर्वचनिक अर्थ का अनुकरण कर स्वामी दयानन्द ने नदी[८], विदूषी[९] तथा मार्ग[१०] अर्थ भी किया है। इस प्रकार अपर शब्द 'शुतुद्री' का भी निर्वचन किया है कि– **'शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा'** (निरु० ९.२६)

उपर्युक्त नैर्वचनिक विवेचन से इस सूक्त का अधिकांश भाग स्पष्ट हो जाता है और इतिहासादि भ्रमों का निराकरण भी। यहां पर आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिकादि विज्ञान की प्रतीति भी होती है। विस्तरभिया इस सूक्त के सभी मन्त्रों का उक्त विविधार्थ में सङ्गति लगाकर नहीं दिखा रहे हैं। तदर्थ जिज्ञासुवृन्द महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं श्री पं० जयदेव जी शर्मा के वेदभाष्य का तथा श्री प्रियरत्न जी आर्ष कृत ''वेद में इतिहास नहीं'' का अवलोकन करें।

इस सूक्त में आत्मा-परमात्मा, आचार्या(उपदेशिका)– शिष्याओं, पति-पत्नी, राजा-प्रजा एवं सेनापति-सेना आदि के पारस्परिक सम्बन्धों तथा कर्तव्य कर्मों का वर्णन है। जिसे उक्त भाष्यों में देखा जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने अपने 'चतुर्वेद-विषय-सूची' में इस सूक्त का विषय बताया है कि प्रारम्भिक पांच मन्त्रों में 'पदार्थविद्या' और शेष मन्त्रों में 'शिल्पविद्या' है। जो कि इन मन्त्रों में स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे कि– **उर्मिभिः पिन्वमाने** (मन्त्र २) 'उर्मिभिस्तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेशं सन्तर्पयन्त्यौ' (सायणः)। ''पयसा पिन्वमानाः (मन्त्र ४)– पयसा सन्तर्पयन्त्यः'(सा०)। अर्थात् नदियाँ अपने जल से परिसरप्रदेश खेती आदि को सन्तृप्त करती हुई चलती हैं अर्थात् राजा वा उनके हितैषी पुरोहित (शिल्पी) अपनी प्रजा के सर्वविधसुखवृद्ध्यर्थ एवं अन्नादि की उत्पत्त्यर्थ नदियों तथा नहरों का निर्माण करायें और उन नहरों में सम्यक्तया जल के जाने का प्रबन्ध कर सभी को उचित लाभ पहुंचाना चाहिये। मन्त्र– १२ का भाष्य करते हुए सायण इसी को स्पष्टतया बताते हैं कि **''यूयं तु यथा पूर्वमिषयन्तीः कुल्यादिद्वारान्नं कुर्वाणा......... यूयं वक्षणाः कृत्रिमसरितः कुल्याः प्रपिन्वध्वं प्रकर्षेण तर्पयतम् आपृणध्वं ताः सर्वतः पूरयत च शीभं शीघ्रं यात गच्छत च।''** इस प्रकार इन नदियों के द्वारा जीवों की रक्षा होती है अथवा जीवों के द्वारा तीरादि का निर्माण कर इनकी रक्षा की जाती है। इसीलिये इनका नाम 'अवनयः' है– **''अवन्ति जगत् स्वोदकेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादिनिर्माणेन '** (देव०, नि०नि०१.१३.१)। ये नदियाँ माता के समान सबकी रक्षा करने वाली होती हैं। अत एव इनका नाम 'मातरः' भी है – **'मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा'** (वही १.१३.३६)। इतना ही नहीं इन नदियों के एक तीर से अपर तीर तक सभी जनों के एवं रथ, शकटादि के आने-जाने के लिए पुल का भी निर्माण कराना चाहिए – **''सुपाराः**

---

१. शत०ब्रा० ९.४.२.५।　　२. दया०, ऋ० १.११६.४।
३. यजु० ३८.७; शत० १४.२.२.२; जै०उ० १.२५.४।
४. गो०ब्रा० पू० १.७।　　५. दया०, ऋ० ६.६९.६. यजु० ३३.२।
६. दया०, ऋ० १.५६.१।　　७. दया०, यजु० ५.३३; १७.९९; १८.५५।
८. ऋ० ३.३३.१।　　९. ऋ० ३.३३.३।
१०. ऋ० ४.३०.११।

रथादीनां तीरात् सुखेनावरोहणारोहणे यथा स्यातां तथा शोभन रोधसश्च भवत''(सायणः, मन्त्र– ९)। इस प्रकार इस सूक्त में 'शिल्पविद्या' है। विश्वामित्र एवं उनका पौरोहित्य, सुदासादि शब्दों के विचार के समय 'पदार्थविद्या' का दिङ्निर्देश किया गया है। लिखित विवेचन से अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सूक्त में आलङ्कारिक वर्णन के माध्यम से उक्त विद्याद्वय है, न कि विश्वामित्र ऋषिविशेष का नदीविशेषों के साथ सम्भाषण है।

स्वाध्याय के लाभ (१)

यः पा॑वमा॒नीर॒ध्येत्यृषि॑भि॒ः सम्भृ॑तं॒ रस॑म् ।
सर्व॒ं स पू॒तम॑श्नाति स्वदि॒तं मा॑त॒रिश्व॑ना ॥
पा॒व॒मा॒नीर्यो अ॒ध्येत्यृषि॑भि॒ः सम्भृ॑तं॒ रस॑म् ।
तस्मै॒ सर॑स्वती दुहे क्षी॒रं स॒र्पिर्मधू॑द॒कम् ॥ (ऋ० ९.६७.३१-३२)
यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ (मनु० २.१०७)

जो व्यक्ति मेघों के समान सुखों को वर्षाने वाले प्रभू की कल्याणी वाणी वेद के स्वाध्याय को शुद्ध-पवित्र होकर, एकाग्रचित्त होकर, विधिपूर्वक नियमित करताहै, तो यह स्वाध्याय ऋषियों के द्वारा प्राप्त किये हुए मधुररस-ज्ञानरस,मुक्ति के आनन्द का रस तथा संसारसुख की साधन सामग्री– दूध, घृत, मधु और जल आदि को प्राप्त कराता है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (मनु० २.२८)

वेदादि सत्यशास्त्रों के स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करने से, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रतों के अनुष्ठान से, वेदोक्त ज्ञान-कर्म-उपासना के आचरण से, दर्शपूर्णमास आदि इष्टि, सोमयाग (अग्निष्टोम) आदि यज्ञ, अग्निहोत्र आदि पांच महायज्ञों को करने से मानव का यह शरीर ब्रह्ममय, ईश्वरमय बन जाता है ।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ (मनु० ४.२०)

पुरुष जैसे-जैसे शास्त्रों को पढ़ता है, चिन्तन-मनन करता जाता है, वैसे-वैसे शास्त्रों के मर्मों व तत्त्वों को जानता जाता है और उसके ज्ञान-विज्ञान प्रदीप्त होते हैं, प्रामाणिक होते हैं, प्रसिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

(द्र० पृ० ७४)

१.७. वैदिक-अर्थव्यवस्था *

जब मानव की सृष्टि हुई तब उसे सर्वप्रथम भोजन के रूप में फल-मूल और कन्दों की एवं पानी के लिए नदियों की आवश्यकता हुई होगी, तत्पश्चात् दूध, दूरदेश-गमन, भार-वहन, कृषि आदियों की आवश्यकता हुई होगी। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है' के कथनानुसार उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव को दूध के लिए गाय आदि की, दूरदेशगमन के लिए अश्वादि की, भारवहन के लिए गर्दभादि की, कृषि के लिए बैल और भूमि आदि की अपेक्षा हुई होगी। इस प्रकार भोजन आदि की सम्पूर्त्ति के लिए मानव को जिन वृक्ष, वनस्पति, पशु आदियों की आवश्यकता हुई थी, वे ही आदि काल से मानव की सम्पत्तियाँ हुई। जो अधिक साधन-सम्पन्न हुए, वे ही अधिक धनवान् कहलाते रहे। अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति किन साधनों से, किस प्रकार होगी, इसका बोध मानव को वैदिक परम्परा के अनुसार वेद से ही हुआ था।[1] अतः पश्वादि धन (अर्थ) का उल्लेख भी वेद में विद्यमान है। यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्र की भांति एक व्यवस्थित अर्थव्यवस्था वेद में नहीं है, पुनरपि अर्थशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने वालों के लिए वेद में कोई कम सामग्री नहीं है। एतद्विषयक सामग्री का दिग्दर्शन इस लेख में किया जा रहा है।

अर्थशास्त्र एक पृथक् विषय होता हुआ भी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत आता है। क्योंकि 'धर्म' एक व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि आते हैं। सभी आचार्य एवं नीतिकारों ने अर्थादि पर धर्म के अंकुश को माना है। जिसके विना अर्थ, काम आदि में सम्भावित दुष्परिणामों के लिए आधुनिक समाज एक ज्वलन्त उदाहरण है, अस्तु। अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) का अंग होता हुआ भी इसकी विशेषता यह है कि यह एक उपवेद भी है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मानव के कल्याणार्थ वेदों में उपदिष्ट आयुर्वेदादि विषयों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्राथमिक विषय 'अर्थ' ही है। अर्थ (धन) एक प्राथमिक आवश्यक वस्तु होने से मानव को इस की सर्वाधिक कामना होना स्वाभाविक है। इस प्रकार अर्थ की कामना करने वाले मनुष्य के लिए वेदों में **वसुयुः** (ऋ० ५.२९.१५), **रायस्कामः** (ऋ० ७.३२.३), **द्रविणस्युः** (ऋ० ६.१६.३४), **रयीयन्** (ऋ० ३.६२.२), **धनयन्** (ऋ० १.७१.३) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कामना के अनुकूल अर्थ की प्राप्ति आदि विषयों को जानने वाले अर्थशास्त्रियों के लिए **रयिवित्** (ऋ० ३.७.३), **वसुवित्** (ऋ० १.१८.२) आदि शब्द वेदों में देखे जाते हैं। उनमें भी जो विशेषज्ञ हैं उनके लिए **वसुवित्तमः** (ऋ० १.४५.७) आदि शब्द प्रयुक्त हुये हैं। धनवानों के लिए **वसुपतिः** (ऋ० ७.४५.३), **रयिपतिः** (ऋ० २.९.४), **रेक्णस्वती** (ऋ० १०.६३.१६), **रयिमान्** (यजु० ३.४०), **भगवन्तः** (ऋ० ७.४१.५), **वित्तधम्** (यजु० ३०.११) आदि शब्द देखे जाते हैं और अपेक्षाकृत अधिक धनवालों के लिए **वसुधातमः** (यजु० २७.१५), **रयिन्तमः** (ऋ० ६.४४.१) आदि शब्द प्रयुक्त हैं। धन की रक्षा करने वाले कोषाध्यक्ष (खजांचि) के लिए **रायस्पोषवनिं** (यजु० ६.३) आदि शब्द प्रयुक्त हुये हैं तो धन के उपभोक्ताओं के लिए **रायस्पोषम्** (यजु० ३.२०)

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१०) में प्रकाशित है।

१. भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति (मनु०१२.९७)। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है(दया०)। यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् (दया०, ऋ० भा० भू० पठनपाठन०)।

आदि शब्द आते हैं।

धन की परिभाषा बताते हुये आचार्यों ने कहा है कि– कौड़ी से लेकर रत्नपर्यन्त व्यवहार की वस्तुओं की संज्ञा '**द्रव्य**' है। पशु ,धान्य और वस्त्र से लेकर तृणपर्यन्त की संज्ञा '**धन**' है।[1] वेद की भाषा में कहना हो तो जिससे मनुष्य अपने अभीष्ट सुख, धर्म, यश आदि को प्राप्त करता है अथवा जिसमें सुख, धर्म, यश आदि को प्राप्त कराने का सामर्थ्य है, उसे वेद **धन**[२], **वसु**[३], **भगः**[४], **राधः**[५], **वेदः**[६], **रयिः**[७], **भोजनम्**[८], **तना**[९], **ब्रह्म**[१०] आदि नामों से प्रकट करता है। जो परोपकारादि भावनाओं से अथवा मांगे जाने पर दूसरों को दिया जाता है, वह धन वेद की भाषा में **रयिः**[११], **मघम्**[१२], **मीव्ढुम्**[१३] आदि नामों को धारण करता है। जिसे मनुष्य अपने जीवन यापन के लिए प्राप्त करता है अथवा जिससे जीवन चलता है वह धन **अर्थः**[१४], **द्रविणम्**[१५], **वित्तम्**[१६] आदि कहलाता है। जो कदापि स्थिर नहीं रहता, किसी एक के स्वामित्व में नहीं रह सकता, सदा गतिशील है, वह (धन) वेद में **श्वात्रम्**[१७] कहलाता है। मनुष्य के मरने के बाद जो उसके साथ न जाकर मृत व्यक्ति के पुत्रादि उत्तराधिकारियों के पास ही रहता है, वह धन वैदिक भाषा में **रेक्णः**[१८] कहलाता है। धन के पर्यायवाची शब्दों के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के जीवन का मूल आधार धन (अर्थ) है। इसके विना अनेकों दुःख, अपमान आदि का सामना करते हुए मनुष्य पतित हो जाता है। फलतः पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। कहा भी गया है कि– **''बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'' (पञ्चतन्त्र)**। इन पापकर्मों से बचने के लिए ही मनुष्य को न्यायार्जित अर्थ की अपेक्षा होती है। क्योंकि धन ही मनुष्यों को पापों से बचाता है, इसीलिए वह धन वेदों में **क्षत्रम्**[१९], **वृत्रम्**[२०] आदि नामों से भी व्यवहृत होता है।

---

१. शुक्रनीतिः २.३३७-३३८।
२. धनं कस्मात्? धिनोतीति सतः (निरु० ३.९)।
३. वस्ते आच्छादयति तिरोभावयति दारिद्र्यम् (देव०, नि० नि० २.१०.१५), सुखेषु वसन्ति येन तद्धनं [वसु] (दया०, ऋ० १.१०.६), वसु आदि अग्रिम सभी शब्द धन के ही पर्यायवाची शब्द हैं (द्र०निघण्टु २.१०)।
४. भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः (देव०, नि० नि० २.१०.१०), भजते सुखानि येन (तद् धनं) भगः (दया० ऋ० १.१४.३)।
५. राध्नुवन्ति साधयन्ति एतेन धर्मादीन् पुरुषार्थान् इति [राधः] (स्कन्दः ४.४), राध्नुवन्ति सम्यक् निर्वर्तयन्ति सुखानि येभ्यः साधनेभ्यस्तानि धनानि (दया०, यजु० ३.१३)।
६. विन्दन्त्येतत् लभ्यते वानेन धर्मादिः (देव०, नि० नि० २.१०.४), विन्दति सुखानि येन तद्धनं (दया०, ऋ० १.८१.९)।
७. [रीयते] गम्यते प्राप्यते पुण्येन, गच्छन्त्यनेन तृप्तिं भोगसाधनत्वात् यशो वादत्ते (देव०, नि० नि० २.१०.८)।
८. भुज्यते तद्वद्भिः भुज्यन्तेऽनेन विषया इति वा पाल्यतेऽनेन वा (देव०, नि० नि० २.१०.१८)।
९. तनोति विस्तारयति त्रिवर्गसाधनं हि धनम् (देव०, नि० नि० २.१०.१९)।
१०. वर्धन्तेऽनेन धर्मादयः बृंहकं वा भोगानाम् (देव०, नि० नि० २.१०.२४)।
११. रयिरिति धननाम, रातेर्दानकर्मणः (निरु० ४.१७),(रीयते) दीयतेऽर्थिभ्य इति (देव०, नि० नि० २.१०.८)।
१२. मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः (निरु० १.७),[मंह्यते]दीयतेऽर्थिभ्यः (देव०, नि० नि० २.१०.१)।
१३. [मिह्यते] सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृभिः (देव०, नि० नि० २.१०.११)।
१४. अर्थः अर्त्तेः (निरु० १.१८)।
१५. धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति (निरु० ८.१), द्रूयन्ते प्राप्यन्ते यानि तानि द्रविणानि (दया०, ऋ० १.१५.७)।
१६. वित्तमूलमर्थः (चाण०सू० ९०)।
१७. आशु अतति, आशु गच्छति चञ्चलं हि धनं (देव०, नि० नि० २.१०.६)।
१८. रेक्ण इति धननाम रिच्यते प्रयतः (निरु० ३.२), रिच्यत अवतिष्ठते प्रयतः म्रियमाणस्य धनं धनिना सह न म्रियत इत्यर्थः (देव०, नि० नि० २.१०.२)।
१९. क्षतात् पापात् त्रायते (देव०, नि० नि० २.१०.९), क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् (शत० १३.२.२.१७)।
२०. आच्छादयति दारिद्र्यं, आच्छाद्यते वा राजतः करादिभयात् (देव०, नि० नि० २.१०.२७)।

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मनुष्य पाप एवं अधर्म आदि से बच कर धर्म, सुख, शान्ति, यश आदि को प्राप्त करने के लिए अर्थ की कामना करता है। पर यह कामना तभी पूर्ण हो सकती है, जब अर्थ (धन) धर्मपूर्वक न्यायार्जित हो, अधर्मपूर्वक न हो। कहा भी गया है कि– **इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि** (ऋ० २.२१.६)– हे परमात्मन् ! आप हमारे लिए श्रेष्ठ, उत्तम अर्थात् धर्मज धन धारण कीजिए या करायिए, **अ॒स्मासु॑ भ॒द्रा द्रवि॑णानि धत्त** (अथर्व० ७.८२.१)। इतना ही नहीं अथर्व० ७.११५ सूक्त के चारों मन्त्रों में धर्मज धन की कामना के साथ-साथ अधर्मज धन के नाश की भी प्रार्थना की गयी है।[1] अधर्मज धनका सोदाहरण उल्लेख करते हुए वेद ने मानव को सचेत भी किया है– **अ॒क्षैर्मा दी॑व्यः कृ॒षिमित् कृ॑षस्व वि॒त्ते र॑मस्व ब॒हुमन्य॑मानः** (ऋ० १०.३४.१३) पाशों से जुआँ खेल कर धन मत कमा, खेती कर, खेती के पुरुषार्थ से जो कुछ धन मिलता है, उसी से संतृप्त हो जाओ, अपने को धन्य मानो। क्योंकि मन्त्र आगे कहता है कि ऐसे धन से पत्नी आदि सम्पूर्ण परिवार सुरक्षित और प्रसन्न रहेगा। अधर्मज धन का कारण बताते हुए अथर्ववेद भी कहता है– **पुन॑र्मघेष्वव॒द्यानि॒ भूरि॑** (अ० ५.११.७) धर्म का त्याग कर पुनः पुनः धन को चाहने वाला अर्थात् अधिक धन चाहने वाला असत्य और अधर्म रूपी पाप करता है। अतः मनुष्य को धर्म का त्याग कर केवल धन की कामना नहीं करनी चाहिए। जिससे समाज में गरीबी आदि न बढ़ने पावें –'**मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः**'(अ० ५.११.७)। **न॑ पा॑पत्वा॑य॑ रंसिषम्** (साम० ३१०)= मैं अपने धनादि साधनों को पाप कर्मों के लिए विनियोग (प्रयोग) न करूँ।

अर्थार्जन के उपाय – धन कमाने के उपायों का उल्लेख भी वेद में मिलते हैं। जिनमें प्रमुख हैं– कृषि, धान्य, पशु, वन-संरक्षण, शिल्प, व्यापार, उद्योग, खनिज, कर आदि।

कृषि– कृषि के लिए सर्वप्रथम व प्रमुख आधार पृथिवी है (अथर्व० १२.१.३-४)। यही पृथिवी मानव के जीवन को त्रिकाल में उज्वल बनाने वाली है– **सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य॒ पत्नी॑** (अथर्व० १२.१.१)। वेदों में भूमि के त्रिविध[2] प्रकार देखे जाते हैं –१. **उर्वरा**[3](उपजाऊ भूमि) २. **इरिण**(अनउपजाऊ भूमि) ३. **शष्य** (चरागाह भूमि)। ऋग्वेद (१.१२७.६) में उर्वरा भूमि के लिए **अप्नस्वती** और अनुर्वरा के लिए **आर्तना** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जिनके लिए शतपथकार ने कृष्ट एवं अकृष्ट शब्दों का प्रयोग किया है (शत० ७.२.४.१७)। भूमि को अत्यधिक सशक्त बनाने के लिए तथा घृत के समान बलयुक्त अन्न को उत्पन्न करने के लिए खेती में घृत और मधु का भी सिंचन करने का उल्लेख मिलता है– **घृ॒तेन॒ सीता॒ मधु॑ना॒ सम॑क्ता**० (अथर्व० ३.१७.९)। कृषि करने वाले किसान के लिए **की॒नाशा॑**(अथर्व० ३.१७.५), **कार्षी॑वणा** (अथर्व० ६.११६.१) आदि शब्द प्रयुक्त हुए है। अथर्व० के ३.१७ सूक्त में सीरा, लाङ्गल (हल), फाला, युगा आदि कृषि के साधनों का भी स्पष्टतया वर्णन देखा जाता है। इतना ही नहीं छह या आठ बैलों से युक्त हलों से जोतने का भी वर्णन वेदों में है –**इ॒मं यव॑मष्टायो॒गैः ष॑ड्यो॒गेभि॑रचर्कृषुः** (अ० ६.९१.१), **ष॒ड्यो॒गं सीर॒मनु**० (अ० ८.९.१६), **षड्ग॒वेन॑ कृषति**(तै०सं० ५.२.५.२)। शतपथ ब्राह्मण में तो ६,१२,२४ बैलों तक हल में जोडने का उल्लेख है।[4] इस उल्लेख से हलों और उनके सम्बन्धी अन्य उपकरणों के स्वरूप का बोध स्वतः हो जाता है। कृषि के लिए जल की भी आवश्यकता होती है। अतः वेद में सिञ्चाई के उपायों का भी वर्णन मिलता है (ऋ० १०.९९.४,१०.१०१.३-७)। गड्ढे, कुएँ आदि के जल के

१. प्रप॑ते॒तः पा॑पि लक्ष्मि नश्ये॒तः प्रामु॒तः॑ पत०(१), या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूरजु॑ष्टाभि॒चस्कन्द---अ॒न्यत्रा॒स्मत् ----तामि॒तो धा॒०(२), ता॒सां पापि॑ष्ठा॒ निरि॒तः प्र हि॑ण्मः शि॒वा अ॒स्मभ्य॑ं जातवेदो॒ निय॑च्छ(३), रम॑न्तां॒ पुण्या॑ ल॒क्ष्मीर्याः पा॒पीस्ता अ॑नीनशम्(४)।
२. यजु० १६.३३,४२,४३।
३. यथा॒ बीज॑मु॒र्वरा॑यां कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति (अथर्व० १०.६.३३)।
४. षड्गवं भवति द्वादशगवं वा चतुर्विंशतिगवं वा (शत० ७.२.२.६), अपि च द्र का० सं० १५.२, ऋ० ८.६.४८, १०.१०१.४।

लिए **खनित्रिमा** और वर्षादि के जल के लिए **स्वयंजा**, **वार्षिकीः** आदि शब्द प्रयुक्त हुए है।[१] इस प्रकार वेदों में कृषि सम्बन्धित अन्य विषयों यथा— नहरों, उपयुक्त ऋतुओं, बीज, कटाई, खाद(**शकन्**,**करीष**), कृषि-संरक्षण के उपाय, कृषि-नाशक कृमि, कीट आदि के नाश का उल्लेख मिलता है। यहाँ इतना ही तात्पर्य ग्राह्य है कि कृषि से अन्नादि अर्थ की व्यवस्था कैसे करनी चाहिए, इसका उल्लेख वेदों में विद्यमान है (ऋ० ४.५७.१-८)।

धान्य— वेदों में विभिन्न प्रकार के धान्यों के नाम और उनके भेद भी देखे जाते हैं। यथा— धान के लिए **व्रीहि** शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग तो है ही, साथ में उनके भेद भी देखे जाते हैं। छोटे परिमाण के धान के लिए **व्रीहि** और बड़े परिमाणों के लिए **महाव्रीहि**[२] शब्द देखा जाता है। तैत्तिरिय संहिता(१.८.१०) में **आशुव्रीही** (साठी), **कृष्णव्रीहि**, **महाव्रीहि** का भी उल्लेख है। यजुर्वेद(१८.१२) में तो एक ही मन्त्र में **व्रीहि**, **यव**, **माष**, **तिल**, **मुद्‌ग**, **खल्व**, **प्रियंगु**, **श्यामाक**, **नीवार**, **गोधूम**, **मसूर** आदि का वर्णन है। अथर्ववेद (१९.५०.४) में तो बहुत ही हल्केपन के धान्यविशेष(श्यामाक) का उल्लेख है, जो कि पककर गिरते ही हवा में उड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त **उपवाक**=**इन्द्रयव**(यजु० १.५.१९.२२),**खल्व**=चना(यजु० १८.१२, अ० २.३१.१) आदि का वर्णन मिलता है।

पशु— सर्गारम्भ में दूध, भार-वहन, कृषि, यज्ञ, दक्षिणा, युद्ध आदि के लिए मानव को पशुओं की आवश्यकता हुई थी, इसी कारण मानव का इनके साथ सम्बन्ध हुआ और उनका पालन पोषण होता रहा। फलतः पशु भी सम्पत्ति का रूप धारण कर लिया था।[३]

पशुओं का पालन करने वाले के लिए **पशुप** (ऋ० १.११४.९:१४४,६आदि), **गोप**(ऋ० १.१६४,२१ आदि), **गोपाल** (यजु० ३०.११), **गोप्तृ** (अ० १०.१०.५), **गोपीठ** (ऋ० ५.६५.६) आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। गायों के रहने के स्थान वा चरने के स्थान के लिए **गोष्ठ** शब्द आता है(यजु० ३.२१, ऋ० १.१९१.४, अ० ३.१४.१,५)। पशुओं का वर्गीकरण— (१) **उभयदन्त्** (जैसे मनुष्य, अश्व, गर्दभ आदि) और **अन्यतोदन्त्** (जैसे गौ, भेड़, बकरी आदि) के रूप में किया गया मिलता है।[४] अन्य प्रकार के वर्गीकरण भी मिलते हैं। यथा (२) **हस्तादानाः** (हाथ से पकड़ने वाले— जैसे मनुष्य, बन्दर आदि), **मुखादानाः** (मुख से पकड़ने वाले पक्षी आदि),[५] (३) **द्विपाद्** एवं **चतुष्पाद्**[६], (४) **वायव्य**, **आरण्य**, **ग्राम्य**(पालतू)[७], (५)**एकशफ**(एक खुरवाला जैसे-अश्व, गर्दभ आदि), **क्षुद्र**(छोटे, जैसे— भेड़, बकरी, बैल आदि)।[८] इस प्रकार वेदों में पशु, पक्षी[९], सरीसृप,[१०] जलीय प्राणी आदि का नामतः उल्लेख बहुत्र मिलता है।

वनसंरक्षण – आरण्य पशुओं एवं पक्षियों की रक्षा के लिए, प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए, पर्यावरण की

---

१. या आपो॑ दि॒व्या उ॒त वा॒ स्रव॑न्ति ख॒नित्रि॑मा उ॒त वा॒ स्व॒यंजा (ऋ० ७.४९.२), शं नः॑ ख॒नि॒त्रि॒मा॒ आप॒ः.... शि॒वा नः॑ सन्तु वार्षि॑कीः (अ० १.६.४)।

२. सूक्ष्मबीजरूपा व्रीह्यः प्रौढबीज रूपा महाव्रीहयः(ऐ०ब्रा०, सा०भा० ३९.२)।

३. पशवो वसु(शत०ब्रा० ३.७.१३, अपि च द्र० ११.८.१.३)।

४. ऋ० १०.९०.१०, तै०सं० २.२.६.३, मै०सं० १.८.१, अथर्व० ५.३१.३।

५. मै०सं० ४.५.७; तै०सं० ६.४.५.७।

६. ऋ० ३.६२.१४, अथर्व० ३.३४.१ आदि।

७. ऋ० १०.९०.८, अथर्व० ३.३१.३, मै०सं० ३.२.३, यजु० ३१.६ इत्यादि।

८. तै०सं० ४.३.१०.२, यजु० १४.३०।

९. यजु० २४.१-४०।

१०. ऋ० १०.१६२.३, अथर्व० १९.४८.३।

रक्षार्थ, तपस्वियों के निवासार्थ, राज्य की सुरक्षा इत्यादि अनेकों प्रयोजनों के लिए वन की रक्षा करने का उल्लेख भी वेदों में अनेकत्र मिलता है। वनों के रक्षक के लिए– **वनप** (यजु० ३०.१९) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

शिल्प तथा उद्योग– अर्थव्यवस्था में कृषि आदि के समान 'शिल्प' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अतः वेदों में विविध शिल्प-विज्ञान का भी वर्णन किया गया है। शिल्प के अन्दर अलंकार, सजावट, किसी वस्तु का प्रतिरूप बनाना, नृत्य, गीत, वाद्य कला आदि आते हैं।[1] इनके अतिरिक्त तक्षा, रथकार, स्वर्णकार, मणिकार, लोहकार, तन्तुवाय, कुम्भकार, चर्मकार आदि के कार्य भी शिल्प कार्य में गृहीत होते हैं। तथा गृह में स्त्रियों वा पुरुषों द्वारा किये जाने वाले लघु-उद्योग भी शिल्प-कार्य ही माने जाते हैं, यथा बुनना, रंगना, सीलना आदि। वेदों में इन सभी प्रकार के शिल्पकार्यों तथा छोटे-बड़े उद्योगों का भी उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है।

तक्षा एवं रथकार– तक्षा(बढ़ई) के द्वारा कृषि सम्बन्धित हल, शकट, रथ, घरों में उपयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। तक्षा के तक्षण कार्य को वेदों में '**त्वष्टा देवता**' सम्बन्धी माना गया है। ऋग्वेद में आता है कि **त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष**० (ऋ० १.३२.२) अर्थात् त्वष्टा ने इन्द्र को गरजने वाला वज्र बनाकर दिया था। तक्षा और रथकार का कार्य काष्ठ – उद्योग ही है, पुनरपि रथकार का सम्बन्ध राजसभा से होने के कारण इनका परिगणन पृथक् किया जाता है। इसमें हेतु यह भी है कि रथकार को सामान्य काष्ठमय रथ बनाना ही नहीं अपितु उसे चर्म, सुवर्ण आदि से अलंकृत करना होता था। (ऋ० ३.६१.२) में अमर्त्य अर्थात् चर्मादि से सुदृढ़ किया हुआ और चन्द्रमा जैसी सुवर्णादि की दीप्ति से युक्त रथ का वर्णन है।[2] इस प्रकार तक्षा एवं रथकार के बनाये जाने वाले शकटों, रथों और उनके अवयवों तथा उनके द्वारा निर्मित अन्य वस्तुओं का भी नामतः वर्णन वेदों में मिलता है।

स्वर्णकार, मणिकार, लोहकार– ये सब धातु-उद्योग के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें वेद में **कर्मार** (ऋ० १०.७२.२, अ० ३.५.६) कहा गया है। यजुर्वेद में छः धातुओं का उल्लेख है– **हिर॑ण्यञ्च॒ मेऽय॑श्च मे श्या॒मञ्च॑ मे लो॒हञ्च॒ मे॒ सीस॑ञ्च॒ मे॒ त्रपु॑ च मे**० (यजु० १८.१३)। स्वर्ण के लिए और उससे निर्मित आभूषणों के लिए '**हिरण्य**' शब्द प्रयुक्त होता है।[3] गले के आभूषणों के लिए '**निष्कग्रीव**'(ऋ० ५.१९.३, अ० ५.१७.१४), '**निष्ककण्ठ**'(ऐ०ब्रा० ८.२२) और कान के आभूषणों के लिए '**कर्णशोभन**'(ऋ० ८.७८.३), '**हिरण्यकर्ण**'(ऋ० १.१२२.१४) आदि शब्द देखने को मिलते हैं। यहाँ तक कि स्वर्णपात्रों का भी उल्लेख मिलता है– '**हिरण्यपात्रम्**' (तै०सं० ५.७.१.३)। ऋग्वेद में वक्ष्यःस्थल पर कान्तियुक्त स्वर्णमय आभूषणों को धारण करने का उल्लेख है।[4] यजुर्वेद (३०.७) में मणिकार का उल्लेख है। इनका कार्य है स्वर्ण के आभूषणों में मणियों को लगाना या केवल मणियों का हार बनाना। मणियों को धारण करने का भी उल्लेख वेद में मिलता है (अ० २.४.१ आदि), ऋग्वेद में तो स्पष्टतया '**मणिग्रीवः**' (१.११२.१४) शब्द मिलता है, जो कि गले में मणि-धारण किये हुए व्यक्ति का विशेषण है। इसी प्रकार लोहकार के कार्यों एवं उनके द्वारा बनाये जाने वाले वस्तुओं (कवच, बाण, अस्त्र-शस्त्र आदि) का भी अनेकत्र उल्लेख मिलता है।

तन्तुवाय(जुलाह)– वस्त्र बुनने वालों को वेदों में '**वासोवाय**' (ऋ० १०.२६.३) कहा गया है। वस्त्रों के प्रयोजन, स्वरूप तथा प्रकारों को बताते हुए अथर्ववेद(८.२.१६) कहता है कि वस्त्र स्वास्थ्य के लिए पहनना चाहिए और वे भी रूक्ष, कठोर स्पर्श वाले न हों अर्थात् मृदु हों। द्विविध वस्त्रों का उल्लेख भी इस मन्त्र में है–

१. आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि(ऐ०ब्रा० ६.२७), आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि(गो०ब्रा० ६.७),यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् (छां०उप० २.१.५), त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रमिति(कौ०ब्रा० २९.५)।

२. अमर्त्या---मरणधर्मरहिता, चन्द्ररथा=सुवर्णमयरथोपेता(सायणः तत्रैव)।

३. ऋ० १.४३.५, ३.३४.९, अथर्व० २.३६.७, ५.२८.६।

४. वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः-----धिरे (=दधिरे) (ऋ० १.१६६.१०)।

१. **नीवी**(भीतरी वस्त्र), २. **परिधान**(बाह्य वस्त्र)। इनके अतिरिक्त तृतीय प्रकार के वस्त्र का उल्लेख भी अन्यत्र मिलता है जो कि '**अधीवास**'[१] (ऊपरी वस्त्र, उत्तरीय) शब्द से उल्लिखित है। विशेष रूप से अलंकृत सुन्दर वस्त्रों के लिए '**पेशन**'[२] (ऋ० १०.१.६) विशेषण प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद(६.२९.६) में '**सुरभि**' शब्द से सुगन्धित सुन्दर वस्त्रों का भी वर्णन है।[३] अथर्व० (१८.४.३१) में '**वसानस्तार्प्यम्**' से रेशमी या तृण विशेष से निर्मित वस्त्रों का उल्लेख है। इस प्रकार सुन्दर, मृदु वस्त्रों का बुनना, उन्हें रंगना, स्वर्ण आदि रेशों से अलंकृत करना[४] ये सभी कार्य घरों में स्त्रियाँ ही करतीं थीं – '**वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्**' (अ० १४.२.५१)।[५] इससे ज्ञात होता है कि अर्थ के विकास में स्त्रियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इतना ही नहीं वस्त्रों को बुनने के यन्त्रों एवं उनके साधनों का भी उल्लेख वेद में मिलता है। यथा– **तसर** =ढरकी (ऋ० १०.१३०.२),**मयूख** =खूंटी जिसमें धागे फैलाये जाते हैं। (ऋ० ७.९९.३,तै०सं० २.३.१.५), **तन्तु** =लम्बाई में फैलाये गये धागे (अ० २९.२.५१), **ओतु** =चौड़ाई में बुने जानेवाले धागे (ऋ० ६.९.२, तै०सं० ६.१.१.१)। **वेमन**= करघा (यजु० १९.८३) आदि।

कुम्भकार– मृदुद्योगी के रूप में '**कुलाल**' का नाम आता है (यजु० १६.२७, तै०सं० ४.५.४.२) उसके द्वारा निर्मित गृहोपयोगी एवं याज्ञिक पात्रों के लिए '**कुलालकृत्**' (मै०सं० १.८.३), **कौलालम्** (यजु० ३०.७) शब्द आते हैं। घड़े के लिए **कुम्भ** (ऋ० १०.८९.७, यजु० १९.८७ आदि) शब्द प्रयुक्त हैं।

चर्मकार– इस उद्योगी के लिए वेद में '**चर्मम्न**' शब्द आता है।[६] यह व्यक्ति मृत पशुओं के चर्म से (प्रायः आरण्य पशुओं के ही चर्म से) प्रत्यञ्चा, लगाम, रस्सी, चाबुक, जूते, थैले, वस्त्र, वाद्ययन्त्र आदि बनाता है। ऋग्वेद(१.८५.५) में चर्म को पानी में भिगोने का उल्लेख भी है। मृग और अज के चर्म के लिए '**अजिन**' शब्द आता है। अथर्ववेद (५.२१.७) में अजिन से मढ़ी हुई दुन्दुभि का उल्लेख है– '**दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च**'।

आर्थिक विकास के आधारभूत वर्णित उद्योगों के अतिरिक्त और भी छोटे-बड़े उद्योगों का उल्लेख वेदों में देखा जाता है। यथा यजुर्वेद (३०.७) में कुलाल, मणिकार, कर्मार के साथ-साथ **इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जुसर्ग**(रस्सी को बनाने वाला) का वर्णन किया गया है। **यन्त्री** (यजु० १४.२२), **यन्त्रेण** (यजु० १८.३७) **खनिता**= खोदने वाला (अ० ४.६.८), **दार्वाहार** (यजु० ३०.१२), **मलग** = धोबी (अ० १२.३.२१), **वासःपल्पूली** = धोबी(यजु० ३०.१२) इस प्रकार अनेकों लघु उद्योगों का संकेत वेदों में मिलता है। इनके अतिरिक्त राजकीय आय के स्रोतों (जैसे– शुल्क [कर] और उसकी मात्रा, युद्धों का आय आदि) का एवं पैतृक सम्पत्ति का, दाय भाग का वितरण, उसमें पुत्री का भागत्व आदि अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन हमें वेदों में मिलता है।

विनिमय– व्यापार का माध्यम द्रव्य- विनिमय ही प्रमुखतया दीखता है अर्थात् अपनी किसी वस्तु को दूसरे को देकर उसके बदले में तत्समान मूल्य का आवश्यक वस्तु को लेना। यह व्यवहार यजुर्वेद में स्पष्टतया दीखता है– **देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते** (यजु० ३.५०)। व्यापार करने वाले व्यक्ति (वैश्य) के लिए **वणिक्** (ऋ० १.११२.११,५.४५.६), **पणि** (ऋ० १.३३.३)

---

१. ऋ० १.१४०.९, १६२.१६; १०.५.४।
२. अंग्रेजी का 'फैशन' शब्द संभवतः इसी का विकार होगा।
३. अन्यत्र 'सुवसनानि'(ऋ० ९.९७.५०) शब्द से उल्लिखित है।
४. पेशस्कारी =कढ़ाई का काम करने वाली(यजु० ३०.९)।
५. अपि च द्र०– उषासानक्ता वय्येव रण्विते, तन्तुं ततं संवयन्ती(ऋ० २.३.६)।
६. यश्चर्म विज्ञानं म्नात्यभ्यस्यति (दया०, यजु० ३०.१५)।

आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। वंशपरम्परा (पिता आदि) से आगत व्यपार को करने वाले पुत्रादि को **वाणिजः** (यजु० ३०.१७) कहा गया है। व्यापार में खरीदने के लिए **'क्रय'** (यजु० ८.५५,तै०सं० ३.१.२.१,अ० ३.१५.२), बेचने के लिए **'विक्रय'** (अ०३.१५.४), **अपक्रीत** (अ०४.७.६,८.७.११) आदि शब्द मिलते हैं। साथ में व्यापार की प्रचुरता के लिए नाव आदि यातायात के साधनों का भी उल्लेख कम नहीं है (ऋ० १.२५.७ आदि)। इनके अतिरिक्त ऋणों के लेन-देन के विषय का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है (अ० ६.११७.१-३,११९.१)।

(पृ० ६७ का शेष)

स्वाध्याय के लाभ (२)

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ (मनु० ११.२४५)

प्रतिदिन वेद का अधिक से अधिक अध्ययन करना, पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, सहिष्णुता, क्षमा करना, ये सभी क्रियाएँ बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाओं या दुःसंस्कारों को भी नष्ट कर देती हैं।

यथैधस्तेजसां वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदविद् ॥ (मनु० ११.२४६)

जैसे अग्नि अपने तेज से समीप आये काष्ठ आदि को तत्काल जला देती है, वैसे ही वेद का विद्वान् वेदज्ञानरूपी अग्नि से सभी पापभावों को जला देता है ।

अथातः स्वाध्यायप्रशंसा । प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनो- ऽहरहरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः । प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपक्तिम् । लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ।
(शत० ब्रा० ११.५.७.१)

अब स्वाध्याय की प्रशंसा, यथार्थ लाभों का वर्णन करते हैं। १.स्वाध्यायशील व्यक्ति को पढ़ना और पढ़ाना प्रिय लगते हैं। तथा २. उसका मन एकाग्र हो जाता है। ३. वह पराधीन नहीं होता। ४. वह प्रतिदिन अपने लक्ष्यों को सिद्ध करता जाता है। ५. सुखपूर्वक सोता है। ६. वह अपना उत्तम चिकित्सक बन जाता है, अपने आत्मा के हित व कल्याण को सिद्ध करने वाला बन जाता है। ७. इन्द्रियों का संयम, परमात्मा की अभिमुखता, ज्ञान की वृद्धि, यश और लोकव्यवहार में निर्विघ्नता, ये वैशिष्ट्य उसको प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान की वृद्धि से उसे ये चार प्रयोजन भी प्राप्त होते हैं – १. पवित्र ब्राह्मणत्व, २. शास्त्रानुकूल आचरण, ३. यश, ४. लोकसुधार की भावना। लोक का सुधार करता हुआ उस ब्राह्मण(स्वाध्यायशील ब्रह्मनिष्ठ)व्यक्ति को लोक से ये चार प्रयोजन मिलते हैं– १. लोग उसका सत्कार करते हैं, २. दान देते हैं, ३. सब प्रकार के कष्टों से बचाते हैं, ४. उसे अवध्य, अहिंस्य मानते हैं।

(द्र० पृ० ११६)

१.८. वेद और उपवेद*

विश्व के इतिहास में वेद का गरिमामय सर्वोच्च स्थान है। मानव मात्र के कल्याण हेतु सृष्टि के आदि में सृष्टिकर्ता परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही वेद है। जो कि मानव के लिए अपेक्षित सभी विद्याओं से ओत-प्रोत है— **सर्वज्ञानमयो हि सः** (मनु० २.७)। वेदों में विद्यमान उन सभी विद्याओं को ऋषि-मुनियों ने साक्षात्कार कर उन्हें विभिन्न शास्त्रों के रूप में मानव समाज के सामने प्रस्तुत किया है। जिससे वैदिक वाङ्मय का विस्तार होता गया। विश्व के किसी भी देश में इतना सुविशाल साहित्य नहीं है जितना भारत में है। यह भारत के लिए अत्यन्त गर्व का विषय है। वेदों के पश्चात् शाखा ग्रन्थों का स्थान आता है। उसके पश्चात् उपवेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, वेदोपाङ्ग (दर्शनशास्त्र) आदि का स्थान क्रमशः आता है। 'उपवेद' शब्द से ज्ञात होता है कि ये वेदों के अत्यन्त समीप हैं। यह सामीप्यता विषय की दृष्टि से ही हो सकती है। अर्थात् **वेदों में प्रतिपादित प्रमुख वा प्रधान विषय को विशेष रूप से प्रस्तुत करने वाले स्वतन्त्र शास्त्रों को ही उपवेद कहते हैं।** इस प्रकार एक-एक वेद में प्रतिपादित प्रमुख विषय को प्रस्तुत करने वाले उपवेद चार हैं— अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। वेदों में संकेतित वा संक्षिप्तरूप से प्रतिपादित विषय को विस्तृतरूप से एवं व्यवस्थितरूप से समझने के लिए ये चारों उपवेद अत्यन्त सहायक हैं। जैसे आदि शंकराचार्य लिखते हैं कि—

अङ्गोपाङ्गोपवेदाः स्युर्वेदस्यैवोपकारकाः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामाश्रयाः स्युश्च षोडश।। [१] (सर्व०सि० १.२)

छह वेदाङ्ग, छह उपाङ्ग और चार उपवेद ये सभी सोलह शास्त्र वेदार्थ को जानने में उपकारक हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्षों के साधक भी हैं।

वे उपवेद कौन-कौन से हैं और उसमें कौन - कौन सा विषय प्रतिपादित है, इसे भी वे आगे प्रकट करते हुए लिखते हैं—

आयुर्वेदोऽर्थवेदश्च धनुर्वेदस्तथैव च।
गान्धर्ववेदश्चेत्येवमुपवेदाश्चतुर्विधाः।। (वहीं— १.५)

आयुर्वेद, अर्थवेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद नाम से उपवेद चार प्रकार के हैं।

हेतुर्लिङ्गौषधस्कन्धैरायुरारोग्यदर्शकः।
आयुर्वेदो ह्यनुष्ठेयः सर्वेषां तेन बोध्यते।। (वहीं— १.१२)

आयुर्वेद रोगों के कारण, चिह्न एवं औषध्यादियों का वर्णन करते हुए आयु तथा स्वास्थ्य का बोधक शास्त्र है, इसमें उपदिष्ट नियम सभी को पालन करना चाहिए।

अर्थवेदोऽन्नपानादिप्रदानमुखतत्परः।
दक्षिणाज्यपुरोडाशचरुसम्पादनादिभिः।।
तत्पालनाच्चतुर्वर्गपुरुषार्थप्रसाधकः। (वहीं — १.१३-१४)

अर्थवेद अन्नपानादि व्यवस्थाओं को बतलाने वाला है और दक्षिणा, आज्य (घी), पुरोडाश, चरु आदि

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१७) में प्रकाशित है।

१ 'स्युश्चतुर्दश' इति क्वचित्कः पाठः।

से सम्पन्न होने वाले यज्ञयागादियों के अनुष्ठान द्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी पुरुषार्थचतुष्टय का साधक है।

धनुर्वेदो भवत्यत्र परिपन्थिनिरासकः।। (वहीं–१.१४)

धनुर्वेद शत्रुओं को पराजित करने के सभी उपायों को बतलाने वाला शास्त्र है।

सप्तस्वरप्रयोगो हि सामगान्धर्ववेदयोः।
समेतो लौकिकयोगो वैदिकस्योपकारकः।। (वहीं–१.१५)

सामवेद और गान्धर्ववेद में सात स्वरों का प्रयोग प्रतिपादित है। साथ में लौकिक स्वरों का भी समावेश है। ये सभी विषय वेदार्थ के उपकारक हैं।

अङ्गोपाङ्गोपवेदानामेवं वेदैकविशेषता। (वहीं–१.१६)

इसप्रकार अङ्ग, उपाङ्ग एवं उपवेद ये सभी शास्त्र वेदों के आश्रय हैं।

भगवान् वात्स्यायन न्यायदर्शन का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि – "**य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम् इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यम्**" (न्याय० २.१.६८)। अर्थात् जो आप्त (प्रामाणिक) ऋषि-मुनियों ने ईश्वरप्रदत्त वेदमन्त्रों का अर्थ जाना और उसे अन्य लोगों को प्रदान किया (पढ़ाया) है, वे ही (उसीप्रकार के) आप्त पुरुष आयुर्वेद, अर्थवेद, धनुर्वेद तथा गान्धर्ववेदों के प्रवक्ता हैं। इसलिए आयुर्वेदादि प्रामाणिक हैं, यह लोकानुभव से सिद्ध है। इस अनुभव से अननुभूत वेदज्ञान को भी प्रामाणिक मानना चाहिए।

अभी तक हमने देखा कि चारों उपवेद वेदमूलक हैं, वेदों से गृहीत हैं, वेदों में प्रतिपादित प्रमुख विषय के विस्तारक हैं और वे प्रामाणिक भी हैं। अब हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि किस वेद से कौनसा उपवेद निकला अथवा चारों उपवेदों का सम्बन्ध किस-किस वेद के साथ है। भरतमुनि अपने नाट्यशास्त्र के आधार एवं उस विषय के आद्य प्रवक्ता के विषय में लिखते हैं –

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।। (ना०शा० १.१७-१८)

नाट्यशास्त्र के प्रथम अंग संवाद को ऋग्वेद से, द्वितीय अंग संगीत को सामवेद से, तृतीय अंग अभिनयों को यजुर्वेद से और चतुर्थ अंग रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया है।

संगीत अर्थात् गान्धर्ववेद के विषय को सामवेद से लिया गया है अर्थात् गान्धर्ववेद का सम्बन्ध सामवेद से है।[1] यजुर्वेद यज्ञप्रधान वेद है, यह सर्वविदित ही है। यज्ञ प्रतीत्य (जानने योग्य) को जनाने वाली प्रतीकात्मक (अभिनयात्मक) क्रियाएँ ही हैं। किस क्रिया (प्रतीक) से क्या जानना है, कैसे जानना है, यही यज्ञों (यजुर्वेद) का उद्देश्य होता है। नाटकों में भी एक-एक पात्र के अभिनय से कोई एक महत्त्वपूर्ण विषय जानने योग्य होता है। इस अभिव्यक्तीकरण को नाट्यशास्त्र ने यजुर्वेद से लिया है। अथर्ववेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस का प्रधान विषय आयुर्वेद है। आयुर्वेद में रोगों के उपशमन के लिए उपयुक्त औषधीय रसों का ग्रहण कर चिकित्सा की जाती है। उसीप्रकार अभीष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त (आलंकारिक) रसों का चयन करना नाट्यशास्त्र ने आयुर्वेद से सीखा है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र वेद एवं उपवेदों से सम्बद्ध होकर निर्मित हुआ है। भरतमुनि के

१. सामवेदादिदं गीतं सञ्जग्राह पितामहः (सं०र० १.२५)

वचन से स्पष्ट है गान्धर्ववेद[1] का सम्बन्ध सामवेद से है और आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

यजुर्वेद में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त के यागों का वर्णन है। इसके साथ धनुर्वेद का सम्बन्ध कैसे हो गया ? इसे विचारते हैं– माध्यन्दिनीय वाजसनेय शुक्लयजुर्वेद के ९वें और १०वें अध्यायों में क्रमशः वाजपेय[2] एवं राजसूय यागों के मन्त्र हैं। २२से २५वें अध्याय तक तथा २९वें अध्याय में अश्वमेध प्रकरण है। इन सात अध्यायों में प्रतिपादित वाजपेय आदि याग क्षत्रियों (राजाओं) से सम्बन्धित हैं। इन अध्यायों में केवल इन यागों से सम्बन्धित विशिष्ट मन्त्र ही पठित हैं। इनकी प्रकृति (सामान्य) याग अग्निष्टोम है, जो कि यजुर्वेद के चौथे अध्याय से लेकर ८वें अध्याय के ३२वें मन्त्र तक वर्णित है। इनयागों में बहुत-सी इष्टियाँ भी होती हैं। उन इष्टियों की प्रकृतिभूत इष्टि दर्शपूर्णमासेष्टि है, जो कि आरम्भिक दो अध्यायों में प्रतिपादित है। सभी सोमसंस्थाओं में प्रवर्ग्य नामक एक विशेष क्रिया होती है, जिसके मन्त्र ३६वें से लेकर ३९वें तक के अध्यायों में पठित हैं। इस प्रकार सात क्षात्रधर्म के अध्यायों के साथ ११ अध्याय सामान्य याग के मन्त्र मिलकर वाजपेय आदि याग सम्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो यजुर्वेद में कोई एक विषय अधिकतया व प्रधानतया प्रतिपादित है तो वह क्षत्रियविषयक याग हैं। अत एव तैत्तिरीय ब्राह्मण में यजुर्वेद को क्षत्रियों का मूल कहा गया है– ''**यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्** (तै०ब्रा० ३.१२.९.२)। इस विषय का स्पष्ट संकेत हमें अथर्ववेद में भी मिलता है–'**ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्**''(अथर्व० ७.५४.२) ऋक्, साम और यजुओं से प्रार्थनीय व प्राप्तव्य विषय क्रमशः हविः, ओज और बल हैं। इसीलिए उसीके अनुबन्धित व उपोद्‌बलक धनुर्विद्या को यजुर्वेद से ग्रहणकर अलग से 'धनुर्वेद' बनाया गया है। शुक्राचार्य ने धनुर्वेद का लक्षण इस प्रकार किया है–

युद्धशस्त्रास्त्रव्यूहादिरचनाकुशलो भवेत्।
यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः॥ (शु०नी० ४.३.३६)

जिसके ज्ञान से मनुष्य युद्ध करने, शस्त्र - अस्त्र के संचालन में और व्यूहरचना आदि में कुशलता प्राप्त करता है, उसे यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' कहते हैं।

अर्थवेद का विषय बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत व्यापार, पशुपालन, कृषि, राज्यव्यवस्था के विभिन्न आयाम (राजनीति, दण्डनीति, युद्धनीति आदि), सभी आश्रम एवं वर्णों के धर्मादि विषय सम्मिलित होते हैं। अन्य उपवेद आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद के विषय व उनके विभाग भी आंशिकरूप से अर्थ के स्रोत होने से 'अर्थवेद' के अन्तर्गत आते हैं। ये सभी विषय सम्मिलितरूप से ऋग्वेद में प्रतिपादित होने से अर्थवेद ऋग्वेद का उपवेद माना गया है। शुक्राचार्य अर्थवेद व अर्थशास्त्र का लक्षण इसप्रकार करते हैं–

श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तादिशासनम्।
सयुक्त्यर्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते॥ (शु०नी० ४.३.५४)

जिसमें वेद और स्मृति के अनुकूल राजनीति का उपदेश हो एवं धर्मपूर्वक धनार्जन के उपाय वर्णित हों, उसे 'अर्थशास्त्र' कहते हैं।

---

१. गान्धर्ववेद का लक्षण –
स्वरैरुदात्तादिधर्मैस्तन्त्रीकण्ठोत्थितैः सदा।
सतालैर्गानविज्ञानं गान्धर्वो वेद एव सः॥ (शु०नी० ४.३.३७)
जिसके द्वारा उदात्तादि स्वरों का तथा वीणा और कण्ठ से निकले हुए निषादादि स्वरो में ताल के साथ गाने का ज्ञान होता है, उसे 'गान्धर्ववेद' कहते हैं।

२. स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः(तै०ब्रा० १.३.२.३) ; स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त (गो०ब्रा० १.५.८); सम्राड् वाजपेयेन (इष्ट्वा भवति)(शत० ब्रा० ५.१.१.१३); स्वाराज्यं गच्छति (=प्राप्नोति) य एतेन (वाजपेयेन) यजते (मै०सं० १.११.५); वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (मी० शा०भा० उद्‌धृतम् ४.१.१४.३३)।

यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' है और सामवेद का उपवेद 'गान्धर्ववेद' है, इसमें किसी का मतभेद नहीं है। पर ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के उपवेदों के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मतानुसार ऋग्वेद का उपवेद अर्थवेद है और अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। दूसरे मतानुसार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है तो अथर्ववेद का अर्थवेद। किसी एक वेद के उपवेद का निर्णय हो जाय तो दूसरे का उपवेद अपने आप पारिशेष्यन्याय से सिद्ध हो जायेगा। यद्यपि प्रायः सभी विषय सभी वेदों में प्राप्त होते हैं, पुनरपि प्राधान्य व आधिक्यता के आधार पर निर्णय किया जाता है।[1] वेदों का अध्ययन करने वाले सभी विद्वानों की दृढ़मति है कि आयुर्वेद के साङ्गोपाङ्ग सभी विषय ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक हैं। अथर्ववेद के ७३० सूक्तों में से १४४ सूक्त आयुर्वेदविषयक हैं और अन्य सूक्तों के मन्त्रों में भी आयुर्वेद के विषय वर्णित हैं। इस आधिक्य के उल्लंघन करने में कोई विशेष व प्रबल हेतु के न होने से यही निश्चय होता है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपवेद है। इसकी पुष्टि निम्न प्रबल प्रमाणों से भी होती है—

१. तत्र चेत् प्रष्टारः स्युश्चतुर्णाम् ऋक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः? ...... कस्माद् आयुर्वेदः? उच्यते – चतुर्णाम् ऋक्सामयजुरथर्ववेदानाम् आत्मनोऽथर्ववेदेऽस्य भक्तिः। वेदो ह्यथर्वा० (च० सूत्र० ३०.८-९)।

आयुर्वेदविद् विद्वान् ऋग्वेदादि चारों वेदों में से किसे अपना वेद मानते ? किस वेद से आयुर्वेद निकला ? ऐसा कोई पूछें तो इसका उत्तर यही है कि चारों वेदों में से आयुर्वेद की अपनी भक्ति (रुचि व आस्था) अथर्ववेद में ही है। आयुर्वेद का अपना वेद अथर्ववेद ही है। यहां स्पष्टरूप से ऋग्वेदादि के निराकरण का संकेत करते हुए अथर्ववेद को ही अपना मूलस्रोतभूत वेद माना गया है अर्थात् आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपवेद है। इसप्रकार के अन्य प्रमाणों को भी देखें—

२. इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य० (सु०सं०, सूत्र० १.६)

३. विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्।।
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान्। (भा०सं० १.५,५८)

४. आयुषः पालकं वेदमुपवेदमथर्वणः।
कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषैः।।
गतमष्टाङ्गतां पुण्यं बुबुधे यं पितामहः। (अष्टा०सं०, सूत्र० १.१०,११)

५. भो भिषक्! आयुः किम्?......कतमं च वेदं श्रयति? कथं चोत्पन्नः? इत्याह— अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्....कं च वेदं श्रयति? अथर्ववेदमित्याह, तत्र हि रक्षाबलिहोमशान्ति......... प्रतिकर्मविधानमुद्दिष्टं विशेषेण तद्वदायुर्वेदे, तस्मादथर्ववेदं श्रयति। (काश्य०, विमानस्थानम् – १.१०)।

जिन चरकादि ग्रन्थों को सभी आचार्य मुक्तकण्ठ से प्रामाणिक मानते हैं, वे ग्रन्थ स्वयं ही स्पष्टशब्दों में सहेतु कह रहें हैं कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। इस विषय में अथर्ववेदादि क्या कहते हैं , उसे भी देखते हैं—

अथर्ववेद में मुख्यरूप से अथवा प्रधानरूप से आयुर्वेद उपदिष्ट होने से इसे भिषग्वेद या भैषज्यवेद भी कहा जाता है। यथा—

---

१. भवति हि प्रायोवृत्त्या तद्बुद्धिः (मी०शा०भा० ९.४.५०)। ब्राह्मणग्राम, मल्लग्राम आदि शब्द भी प्रायोवृत्ति के ही उदाहरण हैं।

१. **यज्ञं ब्रूमो यजमानम् ऋचः सामानि भेषजा। यजूंषि०**(अथर्व० ११.६.१४)

२. **भेषजं वा आथर्वणानि, भेषजमेवैतत् करोति** (तां० ब्रा० १२.९.१०)

३. **भेषजं वै देवानामथर्वाणः, भेषज्यायैवारिष्ट्यै** (तां०ब्रा० १६.१०.१०)

४. **येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्** (गो० ब्रा० १.३.४)।

अपि च द्रष्टव्य– आ०श्रौ० १०.७.३, शा०श्रौ० १६.२.९ आदि।

५. ऋक्प्रातिशाख्यकार ने अथर्ववेद को 'सुभेषजवेद' कहा है– " **सर्वा दाशतयीष्वेताः**" (ऋ० प्राति० १६.८७) = एता अतिजगत्यादयः सर्वाः (छन्दांसि) दाशतयीषु (= ऋग्वेदस्य ऋक्षु) विद्यन्ते (उवटस्तत्रैव)। "**उत्तरास्तु सुभेषजे**" (ऋ०प्रा० १६.८८) = उत्तरा या वक्ष्यन्ते ताः (= कृतिः, प्रकृतिः, आकृतिः, विकृतिः, संकृतिः, अभिकृतिः, उत्कृतिः) सुभेषजे ऋषौ (= वेदे, अथर्ववेदे इति भावः)[1] द्रष्टव्याः (उवटस्तत्रैव)।

६. **तत्र ऋग्वेदस्यार्थशास्त्रमुपवेदः......ब्रह्मवेदस्य** (= अथर्ववेदस्य) **आयुर्वेदोपवेदः** (अ०परि० ४९,चरणव्यूहः– १.३)

७. अथर्ववेदीय कौशिकगृह्यसूत्र के चौथे अध्याय में पूरा आयुर्वेद का ही विषय प्रतिपादित है – **अथ भैषज्यानि** (४.२५.१)

८. अथर्ववेद के लिए 'छन्दः' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। यथा–

८.१. **ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह**(अथर्व० ११.७.२४)

८.२. **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।।(यजु० ३१.७) इत्यादि।

निरुक्तकार यास्क छन्द का निर्वचन करते हैं– "**छन्दांसि छादनात्** " (१.१२)। इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि– अथर्ववेद शरीरादि की रक्षा (छादन) के लिए विविधप्रकार के अनेकों औषध्यादि उपायों को विशेषतया बतलाता है, इसीलिए इस वेद का नाम 'छन्दः' है। अथर्ववेद के लिए भेषजवेद, भैषज्यवेद, सुभेषजवेद, छन्द आदि जो नाम प्रचलित हुए हैं, इससे भी सुस्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का ही उपवेद है।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है, इसके सिद्ध होने के पश्चात् अर्थवेद स्वतः ऋग्वेद का उपवेद सिद्ध हो जाता है और यह सर्वथा उचित भी है। क्योंकि अर्थवेद विस्तृत विषयवाला है, इसे पहले लिख चुके हैं। अर्थवेद के सभी विषय ऋग्वेद में स्पष्टतया निरूपित भी हैं। इसीलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्य वर्ण व उसके धर्म को ऋग्वेद से उत्पन्न (गृहीत) माना गया है – " **ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः**" (तै०ब्रा० ३.१२.९.२)। जबकि अर्थवेद के सभी विषय अथर्ववेद में निरूपित नहीं हैं। अतः सुतरां स्पष्ट है कि अर्थवेद ऋग्वेद का ही उपवेद है। ऋग्वेद में जो आयुर्वेद का वर्णन है, उसे अर्थवेद के अन्तर्गत एक विभाग के रूप में जानना चाहिए। अतः यह वर्णन आंशिक है, गौण है। साहित्य में गौण कथन बहुत्र होता है, पर वह सिद्धान्त नहीं बन सकता। यथा – '**ताम्** (धनुर्विद्याम्) **एव सरहस्यां वच्मि ते हिताय गोब्राह्मणसाधुवेदरक्षणाय च यजुर्वेदाथर्वसम्मितां संहिताम्**" (वासिष्ठी धनुर्वेदसंहिता– आद्यवचन) अर्थात् तुम्हारे हित के लिए और गाय, ब्राह्मण, साधु एवं वेद की रक्षा के लिए मैं यजुर्वेद और अथर्ववेद से गृहीत व ज्ञात धनुर्वेद का प्रवचन करता हूँ। इस कथनमात्र से धनुर्वेद को अथर्ववेद के उपवेद के रूप में मान्यता नहीं दे सकते, जबकि अथर्ववेद के लिए 'क्षत्रवेद' नाम

---

१. ऋ०प्राति० के हिन्दीभाष्यकार डॉ. वीरेन्द्र कुमार वर्मा जी ने 'सुभेषज ऋषि के सूक्तों में' ऐसा अर्थ किया है । वह अपभाष्य है, क्योंकि चारों वेदों में सुभेषज ऋषि का न कोई सूक्त है और न ही कोई मन्त्र है ।

भी प्रयुक्त होता है। सभी उपवेदों के विषय सभी वेदों में मिलते हैं।[१] पुनरपि प्राधान्य व आधिक्य के आधार पर निर्णय होता है। स्वामी दयानन्द जी आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद मानते हुए[२] भी आयुर्वेद का मूल यजुर्वेद से दिखाते हैं – **सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः०** (यजु० ६.२२) इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति .... एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति (ऋ० भा०भू०, वैद्यक०)। स्वामी जी के इस उद्धरण व कथन से आयुर्वेद को यजुर्वेद का उपवेद नहीं माना जा सकता। प्रसंगानुकूल गौणमुख्यों का ध्यान रखना होगा।

अब हम दूसरे पक्ष को भी देखते हैं, जिसमें आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है–

१. तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्ति– ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदः, यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदः। अथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः स्कन्दो वा।
(शौनकीय-चरणव्यूहः, अथर्ववेदखण्डः)।

२. सर्वेषामेव वेदानामुपवेदा भवन्ति–ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदः........... अथर्ववेदस्य स्थापत्यवेद[३] उपवेद इत्याह भगवान् कात्यायनः (कात्यायनीय-चरणव्यूहः, अथर्ववेदखण्डः)

३. महाभारत के व्याख्याकार नीलकण्ठ भी वेदों के क्रमानुसार उपवेदों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि– **"उपवेदः–आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चार्थशास्त्रकम्"** (सभापर्व० ११.३३)

४. इसी प्रकार वेदों के क्रमानुसार उपवेदों के प्रतिपादन की शैली 'प्रपञ्चहृदयम्' (पृष्ठ– ३४)[४] और 'प्रस्थानभेद' (पृष्ठ – ९५)[४] ग्रन्थों में भी देखा जाता है।

५. विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्यौषधिहेतुतः।
यस्मिन् ऋग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः।। (शु० नी०: ४.३.३५)

चरणव्यूह आदि ग्रन्थों के वचनानुसार आयुर्वेद ऋग्वेद के उपवेद के रूप में प्रचलित हो गया। इसके पश्चात् कर्णपरम्परा से ही बहुत से अर्वाचीन आचार्य भी इसी मत का उल्लेख करते आ रहें हैं। पर इस मत के पोषक उक्त ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिकभूत आयुर्वेद एवं अथर्ववेद के अन्तःसाक्षी के सामने बहुत ही निर्बल हैं। अतः इस विषय में ये चरणव्यूह आदि ग्रन्थ अनादरणीय हैं।

उपवेदों का साहित्य

१. अर्थवेद का साहित्य– बार्हस्पत्यसूत्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शिल्पशास्त्र, रत्नदीपिका–रत्नशास्त्र आदि।

२. धनुर्वेद का साहित्य– धनुर्वेदसंहिता, वासिष्ठी धनुर्वेदसंहिता, औशनसधनुर्वेद, त्र्यम्बकधनुर्वेद, पौरस्त्यधनुर्वेद, नीतिप्रकाशिका, बृहद् विमानशास्त्र (भरद्वाज), अश्वशास्त्र(नकुलविरचित), सूपकारशास्त्र, चतुषष्टिकलाशास्त्र आदि।

३. गान्धर्ववेद का साहित्य– नाट्यशास्त्र (भरतमुनि), संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गरदेव), संगीतसारसंग्रह आदि।

४. आयुर्वेद का साहित्य– चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, शार्ङ्गधरसंहिता, माधवनिदान,

१. ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
विचिन्त्य तेषामर्थं चैवायुर्वेदं चकार सः। (ब्र०पु० १.१६.९)
२. ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं (संस्कारविधिः, वेदारम्भ)।
३. स्थापत्यवेद का परिचय आगे दिया जायेगा, जिससे ज्ञात हो जायेगा कि वह कितना प्रामाणिक है।
४. ये पृष्ठ संख्याएँ, 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' से प्रकाशित उक्त ग्रन्थों की हैं।

अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह, हारीतसंहिता, भेलसंहिता, भावप्रकाश, कामशास्त्र[1] आदि।

स्थापत्यवेद का परिचय एवं साहित्य— आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद मानने वाले आचार्य प्रायः 'स्थापत्यवेद' (अर्थवेद) को अथर्ववेद का उपवेद माना है। इसके अर्थ को जानने के लिए 'स्थपति' शब्द का अर्थ जानना होगा। जो कि इस प्रकार है—

''**स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षकसंज्ञश्च वर्धकिः क्रमशः स्वोचितकर्माणि दक्षा ग्राह्यास्ते कारवश्च-तुर्धेति।। सर्वशास्त्रविहितक्रियापटुः सर्वदावहितमानसः शुचिः धार्मिको विगतमत्सरादिको यः स च स्थपतिस्तु सत्यवाक्** (म० च० १.११ - १२) अर्थात् जो व्यक्ति सभी शास्त्रों में निष्णात हो, धार्मिक, सत्यवक्ता, त्रिविधशुद्धियुक्त, ईर्ष्याद्विषादि से रहित और सभी कलाओं में कुशल हो वह स्थपति कहलाता है। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा उपदिष्ट विद्या व ग्रन्थों को ही 'स्थापत्यवेद' कहते हैं। **स्थपतिः प्रकृतिः प्रोक्तः स्थापको जीवमिष्यते**''(मानसारम्— ७०.२)— प्रकृति स्थपति कहलाती है, जीव स्थापक कहलाता है। इसके अनुसार प्रकृति सम्बन्धित विषयों को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ स्थापत्यवेद के अन्तर्गत आते हैं। सामान्यतया स्थापत्यवेद वास्तुशास्त्र के रूपमें जाना जाता है। इसका साहित्य इस प्रकार है—

१. समराङ्गणसूत्रधारा (भोजदेव, अध्याय — ८३)।
२. मानसारम् (मानसार मुनि, अध्याय— ७०)।
३. मयमतम् (अध्याय— ३६, वास्तुशास्त्र)।
४. कश्यपशिल्पशास्त्रम् (पटल — ९२)।
५. वास्तुविद्या (विश्वकर्मा, अध्याय— १८)।
६. मनुष्यालयचन्द्रिका (अध्याय— ७)।
७. वास्तुसूत्रोपनिषद् (प्रपाठक— ६)।
८. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्।
९. चिन्त्यागम आदि सभी आगमशास्त्र।

स्थापत्यवेद के अन्तर्गत स्वीकृत सभी ग्रन्थ वेदविरुद्धसिद्धान्तों के स्थापक होने से और पुराणों के मतों के प्रतिपादक होने से अमान्य एवं अप्रामाणिक हैं। इन्हें अवैदिक व पौराणिक लोगों ने स्थापत्यवेद के नाम से उपवेद के रूप में प्रचारित किये हैं। जैसे कि पुराण, महाभारत, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि ग्रन्थों को पञ्चमवेद के रूप में प्रचारित किया है।

गोपथब्राह्मण (१.१.१०) में १. सर्पवेद, २. पिशाचवेद, ३. असुरवेद, ४. इतिहासवेद और ५. पुराणवेदों का उल्लेख आता है। कुछ लोग इन्हें उपवेद के रूप में वर्णन करते हैं। पर उपवेद के रूप में इन नामों का उल्लेख किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में न होने से तथा उपवेद पांच हैं, ऐसा कहीं वर्णन न होने से उनकी बात सर्वथा उपेक्षणीय है।

---

१. कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गतमेव, तत्रैव सुश्रुतेन वाजीकरणाख्यकामशास्त्राभिधानात् । तत्र वात्स्यायनेन पञ्चाध्याय्यात्मकं कामशास्त्रं प्रणीतम् । तस्य च विषयवैराग्यमेव प्रयोजनम्, शास्त्रोद्दीपितमार्गेणापि विषयभोगे दुःखमात्रपर्यवसानात् । चिकित्साशास्त्रस्य रोगतत्साधनरोगनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम् (प्र० भे०, पृ० ९५)

१.९. भगवत्प्रोक्त चिकित्साशास्त्र*

सृष्ट्युत्पत्ति के पश्चात् भगवान् ने मनुष्य के कल्याणार्थ वेदों का उपदेश किया था। मानवसमाज के लिए वेदज्ञान बहुत बड़ा वरदान है। उसमें भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त समन्वयात्मक अनेकविध उपदेश एवं मार्गदर्शन उपदिष्ट हैं। सृष्टि के रहस्य और उपयोगिता, जीव का स्वरूप एवं कर्तव्य, ईश्वर का स्वरूप तथा ईश्वरप्राप्ति के उपाय आदि-आदि विभिन्न विषय वेदों में उपदिष्ट हैं। मनुष्य के लिए आवश्यक सभी विषय वेदों में प्रतिपादित हैं। उनमें से एक विषय है आयुर्वेद। मनुष्य को अपने जीवनयापन में एवं मोक्षसाधना में शारीरिक बाधाएँ (अस्वस्थता, व्याधियाँ) विघ्न के रूप में उपस्थित होती हैं। जिनका निवारण मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है। इस आवश्यकता की पूर्ति सर्वप्रथम वेदों से ही हुई है। अर्थात् मनुष्यसमाज को चिकित्सा का बोध सर्वप्रथम वेदों से ही हुआ था, इसमें किसी प्रकार के सन्देह का अवसर ही नहीं है। वेदों में विधिवत् चिकित्साशास्त्र वा आयुर्वेद का विज्ञान भले ही विद्यमान न हो, पुनरपि चिकित्साशास्त्र सम्बन्धित विषयों का उल्लेख कोई कम नहीं है। महर्षि दयानन्द भी वेदों में प्रतिपादित विविध कलाओं वा विज्ञानों में चिकित्साविज्ञान को भी मानते थे– "**वैद्यकशास्त्रमूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ...... यत्र यत्र ते मन्त्रा सन्ति, तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः**" (यजु०भाष्य ६.२२)।

चारों वेदों में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्वस्थता के निमित्त उपयुक्त बहुत से विषय प्रसंगतः प्रतिपादित देखे जाते हैं। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अपेक्षाकृत यह विषय अधिक प्रतिपादित हुआ। ऋग्वेद तो विविध विज्ञानों का एक आकर ग्रन्थ है। उनमें से एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आयुर्वेद है। पुनरपि ऋग्वेद की अपेक्षा से अथर्ववेद में यह चिकित्साविज्ञान सर्वाधिक प्रतिपादित हुआ है। मानवसमाज के व्यावहारिक विविध विधाओं व विषयों को अथर्ववेद सबसे अधिक प्रस्तुत करता है। इन्हीं में से एक प्रधानभूत विषय है चिकित्साविज्ञान (आयुर्वेद)।

इस चिकित्साविज्ञान की प्राधान्यता के कारण अथर्ववेद भिषग्वेद के नाम से जाना जाता है और अनेकत्र वैसा वर्णित भी हुआ है। स्वयं अथर्ववेद में ही वर्णन मिलता है कि– "**ऋचः सामानि भेषजा यजूंषि**" (अथर्व०११.६.१४)। यहाँ स्पष्टरूप से अथर्व के स्थान पर भेषज शब्द का प्रयोग किया गया है। ताण्ड्यब्राह्मण में भी नामतः स्पष्ट किया गया है कि अथर्ववेद भिषग्वेद है– "**भेषजं वा अथर्वाणि**" (तां०ब्रा० १२.९.१०)। "**यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म**" (गो०ब्रा० १.३-४)– यहाँ अथर्ववेद भिषग्वेद एवं ब्रह्मवेद के रूप में वर्णित है । इसलिए आयुर्वेद के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है– "**तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः?..... कस्मादायुर्वेदः?..... एवमुच्यते चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदेऽस्य भक्तिः। वेदो ह्यथर्वा दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह। चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते। वेदञ्चोपदिश्यायुर्वाच्यम्**" (च०सूत्रस्थान–३०.९)। आयुर्वेद के विषय में यदि कोई यह पूछें कि ऋग्वेदादि चारों वेदों में से आयुर्वेद को जानने वाले विद्वान् किस वेद का उपदेश करते हैं?.....और उस वेद में आयुर्वेद का उपदेश किस उद्देश्य से किया गया है?...... समाधान यह है कि ऋग्वेदादि चारों वेदों में से

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०१५) में प्रकाशित है।

आयुर्वेद विषयक भक्ति (आस्था,विभाग) अथर्ववेद में है। अथर्ववेद में स्वस्त्ययन, बलि, मङ्गल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवासादि के प्रतिपादक मन्त्र होने से अथर्ववेद में चिकित्साशास्त्र उपदिष्ट है। अथर्ववेद में इस चिकित्साशास्त्र का उपदेश तो आयु के हित के लिए किया गया है। अतः इस वेद का उपदेश कर पुनः (विधिवत्) आयुर्वेदशास्त्र का उपदेश करना चाहिए। सुश्रुत्कार ने भी इसी की पुष्टि करते हुए कहा कि– **''इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य''** (सूत्रस्थान १.६)। इन वचनों से सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। इसमें कारण यह भी है कि एक आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादन करने योग्य सभी विषय प्रायः अथर्ववेद में प्रतिपादित हैं। उनमें से कुछ विषयों का दिग्दर्शन मात्र यहां किया जा रहा है–

मनुष्य सर्वप्रथम एवं सर्वाधिक आतंकित व भयभीत होता है मृत्यु से। अतः वह मृत्यु से दूर रहने, दीर्घायु बनने तथा मृत्युञ्जय बनने हेतु उसकी हार्दिक प्रबल इच्छा रहती है। इसके लिए अथर्ववेद कहता है– **''प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके''** (अथर्व० ८.१.१) हे आयुष्काम पुरुष ! तुम्हारे प्राण, अपान इस शरीर में रमण करते रहें और सूर्य के अंश से उत्पन्न इस अमृतमय लोक में अर्थात् पृथिवी पर तुम अपने प्राणों के साथ विद्यमान रहो। **''अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन''** (ऋ० १०.१८.४) यदि सौ वर्षों से पूर्व मृत्यु तुम्हारे समीप में आजावें तो उसके मध्य में उसे रोकने के लिए पर्वत (जैसे महान् उपाय) को खड़ा कर दो। ऋग्वेद के १०.१८ वें सूक्त में और अथर्ववेद के ३.११,८.१,८.२ इत्यादि सूक्तों में मृत्यु को दूर रखने, भगाने, सौ वर्षों से पूर्व आने वाली अकाल मृत्यु को जीतने एवं दीर्घायु बनने की प्रेरणाएँ वा अनेक उपाय बताये गये हैं। दीर्घायु ही नहीं मृत्युञ्जय बनने हेतु उपायों को बताते हुए अथर्ववेद ने ब्रह्मचर्य सूक्त (११.५) को प्रस्तुत किया है। मृत्यु को जीतने वा दीर्घायु बनने में विघ्नकारी आधियों, व्याधियों को दूर करने हेतु दैवी चिकित्सा (प्राकृतिक चिकित्सा) एवं औषधीय चिकित्सा का भी वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है।

उक्त चिकित्सा के निमित्त अनुभवी वैद्यों की आवश्यकता होती है। अतः वेदों में वैद्यों के लक्षण और कर्तव्यों का भी कोई कम उल्लेख नहीं है।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीवचातनः॥ (ऋ० १०.९७.६)

जैसे राजा अपनी राजसमिति (सभा) में बैठता है, वैसे ही जहाँ पर चारों ओर विषैले क्रिमियों के एवं रोगों के नाशक औषधियाँ विद्यमान हों और उनके बीच विद्यमान वह विप्र (अनुभवी) भिषक् (वैद्य) कहलाता है।

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः॥ (अथर्व० २.९.५)

जो दूसरे वैद्यों के साथ मिलकर औषधियों से रोगी का सर्वविध कल्याण करता है वही सर्वोत्तम एवं पवित्र वैद्य कहलाता है। इस प्रकार के श्रेष्ठ वैद्यों की विद्वत्ता का वर्णन करता हुआ वेद कहता है कि– **यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः। तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि॥** (अथर्व० ८.७.२६)– मनुष्य और वैद्य लोग जितनी औषधियों को जानते हैं, उन विश्वभर के सभी औषधियों को तुम्हारे (रोगी के) लिए संग्रह करके लाता हूँ। औषधियों का संग्रह करना ही पर्याप्त नहीं है, वेद कहता है उनमें विद्यमान गुणों को भी वैद्य जानता है (अथर्व० ८.७.१८) और औषधियों के तत्त्वों अर्थात् गुण धर्मों को जानकर कुशल वैद्य चमत्कारी औषधियों का निर्माण करते हैं, जिनसे पुरुष ही नहीं पशुओं की भी चिकित्सा होती है– **''त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम''** (अथर्व० ५.२९.१)। वैद्यों की चिकित्सा की महिमा वा मरणासन्न रोगी के प्रति कुशल वैद्य के आश्वस्तपूर्ण शब्दों को देखें– **''सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः''** (अथर्व० ८.२.२४) हे अरिष्ट! तू मेरी चिकित्सा में नहीं मरेगा, नहीं मरेगा, मत डर।

व्याधियों की चिकित्सा दो प्रकार से करने का उल्लेख वेदों में मिलता है। १. दैवी चिकित्सा (प्राकृतिक चिकित्सा) एवं २. औषधीय चिकित्सा।

१. दैवी चिकित्सा (प्राकृतिक चिकित्सा)– इस चिकित्सा में प्राथमिक स्तर पर भोजन की शुद्धता, सात्विकता एवं हितकारी, सुपाच्य भोजन एवं संयम का वर्तना आदि आते हैं (द्र० अथर्व० ८.२.१९; ५.२९.६-८)। तत्पश्चात् प्रतिदिन नियमितरूप से आसन, व्यायामादि अनिवार्यता से करना होगा। बाल्यावस्था एवं युवावस्था में व्यायामादि के द्वारा शरीर को इतना सुदृढ़ बनाया जाय कि आगे शारीरिक व्याधियों का सामना न करने पड़े। वेद कहता है– **"एह्यश्मा॑नमा ति॒ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः। कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रद॑ः श॒तम्"** (अथर्व० २.१३.४)– हे (बालक)! आओ, इस पत्थर पर खड़े हो जाओ और इस पत्थर के समान ही अपने शरीर को कठोर बनाओ। सभी देव तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्रदान करें। तत्पश्चात् प्रतिदिन घर में नियमितरूप से यज्ञ (हवन) कर अपने को निरोगी बनाने का स्पष्ट उल्लेख वेदों में मिलता है। यथा– यज्ञोपयोगी सामग्री में अश्वत्थ, दर्भ, वीरुध, सोम, व्रीहि, यव आदि भेषजों का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि वे अमृत हवियां हैं (अथर्व० ८.७.२०)। इसप्रकार की अमृत हवियों से जिस घर में यज्ञ होगा वहाँ रोग मनुष्यों का हनन कैसे कर सकते हैं? अर्थात् कदापि नहीं कर सकते– **"क॒थं ह॒ तत्र॒ त्वं ह॑नो॒ यस्य॑ कृ॒ण्मो ह॒विर्गृ॒हे"** (अथर्व० ७.७६.५)। अमृतमय औषधियों को घृत के साथ प्रज्वलित अग्नि में होम करने पर घर में विद्यमान सभी प्रकार की रोगोत्पादक विषैली क्रिमियाँ दग्ध हो जाती हैं (अथर्व० ६.३२.१)। इतना ही नहीं वैद्यलोगों को भी राजयक्ष्मा जैसे भयंकर रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को यज्ञीय चिकित्सा से रोग मुक्त करना चाहिए, इसका भी उल्लेख वेद में मिलता है (अथर्व० ३.११.१,३)।

सूर्य चिकित्सा– वेदों में अनेकत्र सूर्य चिकित्सा भी देखी जाती है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय सूर्यकिरणों का सेवन करने से अनेक प्रकार के रोगोत्पादक दृष्ट एवं अदृष्ट क्रिमियों का नाश हो जाता है (अथर्व० २.३२.१, ५.२३.६; ऋ० १.१९१.८)। सूर्यकिरणों के सेवन से हृदयरोग एवं पाण्डुरोगों में भी विशेषलाभ होता है (अथर्व० १.२२.४,१; ऋ० १.५०.११)। अपचरोगियों को सूर्य एवं चन्द्रमा के किरणों का सेवन करना चाहिए (अथर्व० ६.८३.१)।

जल चिकित्सा– जल (पानी) निश्चितरूप से सभी प्राणियों के जीवन का मूल आधार है ही, साथ में यह एक दिव्य एवं श्रेष्ठ औषधि भी है (अथर्व० ८.७.३)। इसमें समस्त औषधीय गुण विद्यमान हैं (अथर्व० ३.७.५; ऋ० १.२३.२०)। इतना ही नहीं जल अमृत तुल्य भी है (ऋ० १.२३.१९)। वर्षा का जल साक्षात् औषधि तो है ही, परोक्ष रूप से समस्त औषधियों का उत्पादक भी है। अपने दिव्यगुणों को सभी औषधियों में भर देता है (अथर्व० ८.२.२२)। अथर्व० १९.२ के सूक्त में वर्णित पांचों मन्त्रों में हिमालय का जल, नदी का जल, मरुस्थल का जल, अनूपदेश का जल, खोदने पर निकला जल अर्थात् कुआँ, वापी आदि का जल, विना खोदे हाथ से निकाला गया जल, वर्षा का जल, स्रोतों का जल इत्यादि विविध प्रकार के जलों का वर्णन है। इनका यथोचित विधि से सेवन, स्नान, मालिश, गीली पट्टी आदि से चिकित्सा करना कल्याणकारी बताया गया है। इसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत अग्निचिकित्सा (अथर्व० १०.४.२; ५.२९ आदि), वायुचिकित्सा (ऋ० २.३३.१३ आदि) इत्यादियों का वर्णन मिलता है।

औषधीय चिकित्सा– परमकृपालु परमेश्वर ने चेतन सृष्टि को उत्पन्न करने से पूर्व ही उपयुक्त सभी औषधियों को उत्पन्न किया था– **"या ओष॑धीः पूर्वा॑ जा॒ता दे॒वेभ्य॑स्त्रियु॒गं पु॒रा"** (ऋ० १०.९७.१)। उन सभी औषधियों में विभिन्न प्रकार के गुणों को भर दिया। उन औषधियों एवं उनके गुणों का वर्णन हमें ऋ० १०.९७ और अथर्व० ८.७ के सूक्तों में मिलता है। अन्यत्र भी बहुत्र पृथक्-पृथक् मन्त्रों में भी प्रसंगतः इनका उल्लेख मिलता है। औषधियों का भूमिज (अथर्व० ८.७.१६) और जलज (**उ॒दका॑त्मन॒ ओष॑धयः**–अथर्व० ८.७.९) के रूप में

विभाग किया गया है। इन औषधियों एवं उनके गुणों को जानकर वैद्यलोग औषधियों का निर्माण किया करते हैं "**कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः**" (अथर्व० ८.२.५) मैं (वैद्य) इस रोगी के लिए औषधि का निर्माण कर रहा हूँ, इसलिए हे मृत्यो! तुम इसका वध मत कर। इसी प्रकार वैद्यों के द्वारा औषधि निर्माण का उल्लेख अथर्व० ८.६.३ और २.३.१ में भी मिलता है। वैद्यों के अनुभवीय चिकित्साज्ञान के कारण उनकी विश्वसनीयता का प्रभाव रोगियों पर इतना पड़ता था कि वैद्य द्वारा औषधि हाथ में रखते ही रोगी का रोग भाग जाता था— "**यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा**"(ऋ० १०.९७.११)। इसीप्रकार गाय के दूध, गोबर, गोमूत्र, गो-पञ्चगव्य आदि से की जाने वाली चिकित्सा का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इन औषधियों का ज्ञान केवल वैद्यों को ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों को भी रहता है (अथर्व० ८.७.२४-२५)। वैद्यलोग केवल औषधियों से ही नहीं अपितु हस्तस्पर्श से भी उपचार किया करते हैं —"**अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि**"(अथर्व० ४.१३.७)। निरोगता को प्रदान करने वाले इन दो हाथों से तुम्हारा (रोगी का) स्पर्श करता हूँ। ऐसे वैद्यों के हाथों को भगवान्, भगवत्तर, विश्वभेषज और शिवाभिमर्शन (=मंगलवर्धक) कहा गया है (अथर्व० ४.१३.६)।

वेदों में विभिन्न प्रकार के क्षेत्रिय (इस शरीर में चिकित्सा न करने योग्य) रोगों और उनका उपचार (अथर्व० २.८.२, ३.७.६, ४.१८.७ आदि) का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के ज्वरों का वर्णन है। यथा— शोषक ज्वर (१.१२.३), शीतज्वर (५.२२.१०), वातज ज्वर (१.१२.३), पैत्तिक ज्वर (५.२२.१०) और ५.२२.१३ में तो तीसरे, चौथे दिन आने वाले ज्वर का, सतत रहने वाला, शारदिक, वार्षिक, ग्रैष्म आदि ऋतु सम्बन्धी ज्वरों का प्रतिपादन है। कुष्ठरोग के तीन नाम (अथर्व० १९.३९.२) और इसीप्रकार कास (खांसी) (१.१२.३, ५.२२.१०, ६.१०५.१-३ आदि), अपचित् (६.२५.१-३ आदि), हरिमा (पाण्डुरोग) (ऋ० १.५०.११-१२, अथर्व० १.२२.१-४) इत्यादि विभिन्न प्रकार के रोगों का वर्णन मिलता है। चारों वेदों में मानव शरीर के १२० से अधिक अङ्गों एवं प्रत्यङ्गों का नामतः वर्णन मिलता है। अथर्व० के १०.२ के सूक्त में अधिकांश शरीरावयव परिगणित हैं। केवल मनुष्यों के शरीरावयवों का ही नहीं, अपितु गायों के अवयवों का भी स्पष्ट वर्णन हमें अथर्ववेद में मिलता है (९.७.१-२६; १०.९.१३-२४)। इसप्रकार के इन संकेतों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मानव को वेद के माध्यम से शरीरविज्ञान एवं चिकित्साविज्ञान सम्पूर्णतया प्रदान किया था।

स्वाध्याय की महत्ता

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ॥ (मनु ०१२.३१)

निरन्तर वेदाध्ययन, तप, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म का अनुष्ठान, आत्मा-परमात्मा का चिन्तन ये सभी सात्त्विक गुणों के लक्षण हैं।

१.१०. वैदिक वाङ्मय का परिचय

१. ऋग्वेद-वाङ्मय-परिचय [१]

शाखा (संहिता)	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य/ शिक्षा	अनुक्रमणी/ लक्षणग्रन्थ
१. मुद्गलशाखा २. गालवशाखा ३. शालीयशाखा ४. वात्स्यशाखा **५.शैशिरिशाखा** } **शाकलशाखा*** (शाकल्य/ शाकलक/ शाकलेयक) ६. बौध्यशाखा ७. अग्निमाठर शाखा ८. पराशरशाखा ९. जातूकर्ण्य शाखा } बाष्कल शाखा **१०. आश्वलायन शाखा** ११. शांखायन शाखा १२. कौषीतकि शाखा १३.महाकौषीतकिशाखा १४. शाम्बव्यशाखा } **शांखायन शाखा** (शांख्यायनी/ महानाम्नी/ मौद्गली) १५. माण्डूकेय शाखा (माण्डूक / माण्डूकायन) १६. बह्वृचशाखा १७. पैङ्ग्यशाखा १८. उद्दालक/ गोतम/आरुणशाखा १९. शतबलाक्षशाखा २०. गज/हास्तिक शाखा २१-२३. बाष्कलि भारद्वाज की शाखाएँ २४. ऐतरेय शाखा २५. वासिष्ठ शाखा २६. सुलभ शाखा २७. शौनक शाखा २८. यास्क शाखा (देवी० पु०– ७.१३)	**१. ऐतरेय** **२. कौषीतकि** **३. शांखायन** ४. पैङ्गि (पैङ्ग्य,पैङ्गायनि) ५. तलवकार ६. बह्वृच ७. आश्वलायन ८. गालव	**१. ऐतरेय** **२. कौषीतकि** **३. शांखायन**	**१. ऐतरेय** **२. कौषीतकि** **३. बाष्कल मन्त्रोप.** ४. शाकल **५. नादबिन्दु** **६. आत्मप्रबोध** **७. निर्वाण** **८. मुद्गल** **९. अक्ष-मालिका** **१०. त्रिपुरा** **११. सौभाग्य** **१२. बह्वृच** इन सबका शान्तिपाठ "वाङ्मे मनसि" है (द्र०मुक्तिकोप०-१)	**प्राति०** **१. ऋग्वेद प्राति०** २. आश्वलायन० ३. बाष्कल ४. शांखायन शिक्षा **१.स्वराङ्कुशशिक्षा** **२. षोडशश्लोकी०** **३.शैशिरीय शिक्षा** ४. शमान शिक्षा ५. स्वरव्यञ्जन-शिक्षा	**१. ऋक्सर्वानु०** **२. छन्दःसंख्या** **३. ऋग्वेदानु०** **४. आर्षानु०** **५. छन्दोऽनु०** ६. देवतानु० **७. अनुवाकानु०** **८. सूक्तानु०** **९. पादानु०/ पादविधान** **१०. ऋग्विधान** **११. बृहद्देवता** **१२. गलितप्रदीप** १३. ऋक्पद-वर्णानु० **१४. खिलानु०** **१५. नीतिमञ्जरी**
	* उपलब्ध वाङ्मय स्थूलाक्षरों (बोल्ड) में है।				

१. यह लेख वेदवाणी (दिसम्बर २०००) में प्रकाशित है ।

कल्पसूत्र						विशेष-विवरण
श्रौतसूत्र	गृह्यसूत्र	धर्मसूत्र	शुल्बसूत्र	पितृमेधसूत्र	प्रवरसूत्र	
१.आश्वलायन २.कौषीतकि ३.शांखायन	**१.आश्वलायन** **२.शांखायन** **३.कौषीतकि** ४. शाम्बव्य ५. शौनक ६. भारवीय ७. शाकल्य ८. पैङ्गि ९. पाराशर १०.बह्वृच ११. ऐतरेय	१.वासिष्ठ	X	१. आश्वलायन २. कौषीतकि ३. शांखायन	१.आश्वलायन	**पर्याय-** ऋक्संहिता, ऋग्वेदसंहिता शाकलसंहिता, शाकलशाखा, आर्ष-संहिता, आर्षी संहिता, दशतय, दाशतय, दशतयी, दाशतयी **परिमाण-** मण्डल-१०, अष्टक-८, अध्याय-६४, अनुवाक-८५, सूक्त-१०२८/ १०१७, वर्ग-२०२४, शब्द-१,५३,८३६, अक्षर-४,३२,००० **मन्त्र-संख्या के विविध मत-** १. शौनक - अनुवाकानुक्रमणी - १०,५८० छन्दःसंग्रहश्लोकानुसार - १०,४०२/१०, ४०९ गायत्री आदि गणनानुसार-१०,१४२ २. ऋक्सर्वानु० के टीकाकार जगन्नाथ - १०,५५२ ३. वेंकटमाधव - १०,४०२/१०,४८० ४. सायण - १०,००० से कुछ अधिक ५. स्वामी दयानन्द - १०,५८९/१०,५२१ ६. पं० शिवशंकर - १०,४०२ ७. चरणव्यूह का टीकाकार महीदास } १०,४७२ / १०,५५२ ८. सत्यव्रत सामश्रमी - १०,५५२ ९. पं० हरिप्रसाद वैदिकमुनि - १०,४४० १०. मैकडानल - १०,५६९/१०,४४२ ११. ब्रह्माण्डपु०/वायुपुराण - ८,६३५ १२. उपलब्ध संहिता - १०,४४० **शैशिरिशाखा का परिमाण-** अनुवाक-८५, सूक्त-१०१७, वर्ग-२००६, मन्त्र१०,४१७ **सम्पूर्णशाखायें**-म०भाष्य/षड्गुरुशिष्य/ प्रपञ्चहृदय / कूर्मपुराण—२० स्कन्दपु०/आनन्द संहिता/सनातन धर्मोद्धार—२४, चरणव्यूह— ५ **ऋषि-** अग्नि, **देवता-** अग्नि, **लोक-** पृथिवी, **ऋत्विक्-** होता, **उपवेद-** अर्थर्वेद, **उपनिषद्**—१२

२. शुक्लयजुर्वेद - वाङ्मय - परिचय

शाखा (संहिता)		ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य/ शिक्षा	अनुक्रमणी/ लक्षणग्रन्थ
१. जाबाल २. गौधेय **३. काण्व** **४.माध्यन्दिन** ५. शापीय ६. तापनीय ७. कापाल ८. पौण्ड्रवत्स ९. आवटिक १०.परमावटिक ११. पाराशरीय १२. वैरेय / वैधेय १३. वैनेय १४. औध / औधेय १५. गालव १६. वैजव १७.कात्यायनीय (जाबाल के २६ भेद) १. उत्कल २. मैथिल ३. शवर्य ४. कौशील ५. तंतिल ६. बर्हिशील ७. खेटव ८. डोभिल ९. गोभिल १०. गौरव ११. सौभर १२. जृम्भक १३. पौण्ड्रक १४. हरित १५. शैण्डक १६. रोहिण १७. माभर १८. लैंगव	१९. माण्डव २०. भारव २१. चौभग २२. टौनक २३. हिरण्यश्रृंग २४. कारुण्वेय २५. धूम्राक्ष २६. कापिल (गालव के २४ भेद) १. काण २. कुब्ज ३. सारस्वत ४. अंगज ५. वंगज ६. भृंगज / भृंग ७. यावन / योवन ८. शैवज ९. पालीभद्र १०. नैलव ११. वैतानल १२. जनीश्रव १३. भद्रक १४. सौभर १५. कुथीश्रव १६. बौध्यक / बोधक १७. पांचलज १८. ऊर्ध्वाङ्गज १९. कुशेन्द्रव २०. पुष्करणीय २१. जयत्रवार २२. ऊर्ध्वरेतस् / जयन्त्रव २३. कथस / काथस २४. पालाशनीय / पलसी	**१. माध्यन्दिन- शतपथ ब्रा०** (वाजसनेय ब्रा०) **२. काण्व शतपथ ब्रा०** ३. जाबालब्रा० ४. तुम्बुरुब्रा० ५. कंकतिब्रा०	**१.बृहदारण्यक** (माध्यन्दिन) **२.बृहदारण्यक** (काण्व)	**१. ईशावास्य / ईश** (माध्यन्दिन+काण्व) **२. बृहदारण्यक** (माध्य०+काण्व) **३. जाबाल** **४. हंस** **५. परमहंस** **६. सुबल** **७. मन्त्रिका** **८. निरालम्ब** **९.त्रिशिखीब्राह्मण** **१०. मण्डल ब्राह्मण** **११. अद्वयतारक** **१२. पैङ्गल** **१३. भिक्षुक** **१४. तुरीयातीत** **१५. अध्यात्म** **१६. तारसार** **१७. याज्ञवल्क्य** **१८. शाट्यायनी** **१९. मुक्तिका** पूर्णमदः मन्त्र इन सब का शान्तिपाठ है। (द्र० मुक्तिको०-१)	प्राति० **१.वाजसनेयी/ शुक्लयजुः०** **२.प्रतिज्ञासूत्र** **३.भाषिकसूत्र** **शिक्षा—** **१.याज्ञवल्क्य०** **२.वासिष्ठी** **३.कात्यायनी** **४.पाराशरी** **५.माण्डव्य०** **६.अमोघा- नन्दिनी** **७.लघुअमोघा- नन्दिनी** **८.माध्यन्दिनी** **९.लघुमाध्यन्दिनी** **१०.वर्णरत्न- प्रदीपिका** **११. केशवी** **१२.पद्यात्मिका केशवी** **१३.हस्तस्वर- प्रक्रिया** **१४.अवसान- निर्णय** **१५.स्वरभक्ति- लक्षणपरिशिष्ट** **१६.क्रमसन्धान** **१७.मनःस्वार** **१८.यजुर्विधान** **१९.स्वराष्टक** **२०.क्रमकारिका** **२१.मल्लशर्मकृता** **२२.विलंघ्यंशिक्षा**	**१.सर्वानुक्रम** **(वाजसनेयि)/ सर्वानुक्रमसूत्र/ सर्वानुक्रमणी** **२.काण्वानुक्रम— सूत्र** **३. अनुवाक- संख्या/ ०सूत्र/ ०अनुक्रमणी/ ०अध्याय**

कल्पसूत्र						विशेष-विवरण
श्रौतसूत्र	गृह्यसूत्र	धर्मसूत्र	शुल्बसूत्र	पितृमेधसूत्र	प्रवरसूत्र	
१. कात्यायन २. वैजपाय	१. कात्यायन (कातीय, पारस्कर)	१. हारीत २. शङ्ख	१. कात्यायन	१. कात्यायन	१. कात्यायन	**पर्याय-** यजु:संहिता, यजुर्वेदसंहिता, वाजसनेयसंहिता, वाजसनेययजु:संहिता, वाजसनेय यजुर्वेदसंहिता, शुक्लयजु:संहिता, शुक्लयजुर्वेदसंहिता,माध्यन्दिनसंहिता,माध्यन्दिन—यजु:संहिता, वाजसनेय-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेद-संहिता। **काण्व-संहिता —** **परिमाण -** अध्याय - ४०, अनुवाक -३२८ मन्त्र - २०८६ **माध्यन्दिन —** **परिमाण** अध्याय -४०, अनुवाक-३०३ **मन्त्रों व कण्डिकाओं का विविध मत -** स्वामी दयानन्द, यजु:कल्पतरु - १९७५ पं० सातवलेकर - १४०० शिवशंकर काव्यतीर्थ-१९७४ वासिष्ठीशिक्षा- १४६७ /२८२३/ २८१८ **संम्पूर्णशाखायें -** म.भाष्य, षड्गुरुशिष्य - १०१ सनातनधर्मोद्धार - ९८ चरणव्यूह - ८६ दिव्यावादन (बौद्धग्रन्थ) - १०५ **उपवेद** - धनुर्वेद **ऋषि** - वायु **देवता** - वायु **लोक** - अन्तरिक्ष **ऋत्विक्** - अध्वर्यु **उपनिषद्** - १०९/ १९

३. कृष्णयजुर्वेद - वाङ्मय - परिचय

शाखा (संहिता)		ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य/ शिक्षा	अनुक्रमणी / लक्षणग्रन्थ
१. औख्य २. खाण्डिकेय	(खाण्डिकेय के ५ भेद) १. आपस्तम्ब २. बौधायन ३. सत्याषाढ़ ४. हिरण्यकेश ५. शाट्यायन विद्वानों का मत है कि उपलब्ध तैत्तिरीय-संहिता आपस्तम्ब-संहिता है। जिसे तैत्तिरीय शाखा वालों ने अपनाया है। अतः यह सम्प्रति तैत्तिरीयसंहिता के नाम से मिलती है।	१. तैत्तिरीय २. खाण्डिकेय ३. औखेय	१. तैत्तिरीय	१. तैत्तिरीय २. ब्रह्म ३. कैवल्य ४. गर्भ ५. नारायण ६. अमृतनाद ७. कालाग्निरुद्र ८. क्षुरिका ९. सर्वसार १०. शुकरहस्य ११. तेजोबिन्दु १२. ध्यानबिन्दु १३. ब्रह्मविद्या १४. योगतत्व १५. दक्षिणामूर्ति १६. स्कन्द १७. शारीरिक १८. योगशिक्षा १९. एकाक्षर २०. अक्षि २१. अवधूत २२. रुद्रहृदय २३. योगकुण्डलिनी २४. पञ्चब्रह्म २५. प्राणाग्निहोत्र २६. कलिसंतरण २७. सरस्वतीरहस्य "सह नाववतु" मन्त्र इन सबका शान्तिपाठ है (द्र० मुक्तिको०१)	प्राति० १. तैत्तिरीयप्राति० व कृष्णयजुःप्राति० शिक्षा — १. भारद्वाज/ संहिता २. व्यास ३. शम्भु ४. कौहलीय ५. सर्वसम्मत ६. आरण्य ७. सिद्धान्त ८. बैधायन ९. वाल्मीकी १०. हारीत ११. वासिष्ठ १२. कालनिर्णय १३. पारि	१. काण्डानुक्रम व काण्डानुक्रमणिका

कल्पसूत्र						विशेष-विवरण
श्रौतसूत्र	गृह्यसूत्र	धर्मसूत्र	शुल्बसूत्र	पितृमेधसूत्र	प्रवरसूत्र	
१.बौधायन २.भारद्वाज ३.आपस्तम्ब ४.हिरण्य-केशी ५.वाधूल ६.वैखानस् ७.आग्नि-वेश्य ८.लौगाक्षि ९.सत्याषाढ १०. मैत्री (मैत्रायणी)	१.बौधायन २.भारद्वाज ३.आपस्तम्ब ४.हिरण्यकेशी ५.वैखानस् ६.आग्निवेश्य ७.कपिष्ठल-कठ ८.शाण्डिल्य ९.माविल	१.बौधायन २. भारद्वाज ३.आपस्तम्ब ४.हिरण्यकेशी ५.वैखानस् ६.विष्णु / वैष्णव	१.बौधायन २.आपस्तम्ब ३. हिरण्यकेशी ४. सत्यापाढा ५. वाधूल ६. मशक ७. वैखानस्	१.बौधायन २.भारद्वाज ३.आपस्तम्ब ४.हिरण्यकेशी ५.वैखानस् ६.आग्निवेश्य ७.सत्याषाढ ८.तैत्तिरीय	१.बौधायन २.आपस्तम्ब ३.सत्याषाढ	पर्याय— कृष्णयजुःसंहिता, कृष्णयजुर्वेदसंहिता, तैत्तिरीययजुःसंहिता, तैत्तिरीययजुर्वेदसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, तित्तिरिसंहिता परिमाण— काण्ड-७, प्रपाठक / प्रश्न - ४४ अनुवाक - ६५१/६३१ मन्त्र - २,१९८/१०१८ शब्द - १९,२९० अक्षर - २,५३,८६८ उपलब्ध तैत्तिरीय-संहिता का पाठ सारस्वत पाठ है। सम्पूर्ण उपनिषद् - ३२ (कृ० य० २७ + च० य०. ५)

४. चरकयजुर्वेद-वाङ्मय-परिचय

(यह चरक-यजुर्वेद कृष्ण-यजुर्वेद के अन्तर्गत ही माना जाता है)

शाखा (संहिता)		ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य/ शिक्षा	अनुक्रमणी / लक्षणग्रन्थ
१. आलम्बि २. कलिङ्ग ३. कमल ४. ऋचाभ ५. आरुणि ६. ताण्ड्य ७. श्यामायन **८. कठ** ९. कलापी (कठ के १३ भेद) १. पिञ्जुलकठ २. औदलकठ ३. सपिच्छलकठ ४. मुद्गलकठ ५. श्रृंगलकठ ६. सौभरकठ ७. मौरसकठ ८. चुचुकठ ९. योगकठ १०. हपिलकठ ११. दौसलकठ १२. घोषकठ १३. जृम्भकठ (कठ के अन्य१२भेद) १. चरक २. आह्वरक ३. भ्राजिष्ठलकठ ४. प्राच्यकठ **५. कपिष्ठलकठ** ६. वारायणीय ७. चारायणीय ८. श्वेत / श्वेतरी ९. श्वेताश्वतर १०. औपमन्यव ११. पाताण्डिनेय	**१२. मैत्रायणीय** (इन्हीं में किन्हीं के निम्न नामान्तर मिलते हैं) १. आष्ठलकठ २.वार्त्तान्तवेय/ वार्तलवेय/वार्त्तलव ३.श्वेततर/श्वेततरानी (मैत्रायणीय के ७ भेद) १. मानव २. वाराह ३. दुन्दुभ ४. ऐकेय / चैकेय/ छागलेय ५. हारिद्रवीय ६. श्याम/ शाम ७. श्यामायनीय/ शामायनीय (हारिद्रवीय के ५ भेद) १. आसुरि २. गार्ग्य ३. शार्कराक्ष्य ४. मार्ग ५.वासवीय (कलापी के ४ भेद) १. हारिद्रवीय २. छागली ३. तौम्बुरुवी ४. औलुपी	१. चरक २. श्वेताश्वतर ३. काठक/ शताध्ययन ४. मैत्रायणी ५. हारिद्रविक ६. आह्वरक ७. छागलेय	१. मैत्रायणीय	१. मैत्रायणीय २. कठ ३. श्वेताश्वतर ४. कठ रुद्र ५. वराह (इन सबका शान्तिपाठ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु है) (द्र. मुक्तिको.१)	प्राति० १. मैत्रायणीय २. चारायणीय शिक्षा १. चारायणीय-शिक्षा	१. चारायणीया-नुक्रमणिका/ मन्त्रार्षाध्याय

कल्पसूत्र						विशेष-विवरण
श्रौतसूत्र	गृह्यसूत्र	धर्मसूत्र	शुल्बसूत्र	पितृमेधसूत्र	प्रवरसूत्र	
१. वाराह २. मानव ३. काठक ४. लागल	१. वाराह २. मानव ३. काठक ४. लौगाक्षि ५. चरक ६. चारायणीय	X	१. मैत्रायणी २. मानव ३. वाराह	१. मानव २. काठक	१. वाराह २. मानव	**पर्याय** - चरकसंहिता, चरकयजुःसंहिता, चरकयजुर्वेदसंहिता, चरकाध्वर्युसंहिता, (द्र०- वायु पु० ६१, १२-२४, ब्रह्म पु०, ३५, १५-१७, विष्णु पु०, ५.१ - १८) **कठ-पर्याय** - कठसंहिता, कठयजुःसंहिता, कठकयजुर्वेदसंहिता, काठकसंहिता, काठकयजुः—संहिता **परिमाण** - स्थानक-१८, मन्त्र - २६४ इस संहिता में तीन विभाग हैं - १. इठिमिका, २. माध्यमिका, ३.ओरिमिका **मैत्रायणी - पर्याय** - मैत्रायणसंहिता, मैत्रायणीयसंहिता, मैत्रायणीययजुःसंहिता, मै०यजुर्वेदसंहिता **परिमाण**- काण्ड -४, प्रपाठक-५४, मन्त्र-६५४ इसके चार विभाग हैं - १. प्रथम, २. मध्यम, ३. उपरि, ४. खल **कपिष्ठलकठ** - यह खण्डित रूप में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ, अष्टकों के साथ उपलब्ध है। इसमें संपूर्ण अष्टक आठ थे।

५. सामवेद - वाङ्मय - परिचय

शाखा (संहिता)		ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य/ शिक्षा	अनुक्रमणी / लक्षणग्रन्थ
१. आसुरायण २. वासुरायण ३. वार्त्तान्तिवेय ४. प्राञ्जल ५. ऋग्वैनविध ६. प्राचीनयोग्य ७. ज्ञानयोग्य ८. राणायन	राणायन के ९ भेद १. राणायन २. शाट्यायन ३. सात्वल ४. खल्वल ५. महाखल्वल ६. लांगल ७. कौथुम ८. गौतम ९. जैमिनीय	१. ताण्ड्य/ पञ्चविंश/ प्रौढ,महाब्रा० २. षड्विंश ३. मन्त्रब्रा० (छन्दोग्य, उपनिषद् ब्रा०) ४. दैवत / देवताध्याय ५. आर्षेय ६. सामविधान ७. संहितोपनिषद् ८. वंश ९. जैमिनीय / तलवकार १०. जैमिनीयार्षेय ११. जैमिनीयो पनिषद् ब्रा० १२. भाल्लवि १३. कालबवि १४. रौरुकि १५. शाट्यायन १६. माषशरावि १७. काणेय	१. छान्दोग्य २. तलवकार (जैमिनीयो - पनिषद्)	१. केन २. छान्दोग्य ३. आरुणिक ४. मैत्रायणी ५. मैत्रेयी ६. वज्रसूचिका ७. योगचूडामणि ८. वासुदेव ९. महद् १०. संन्यास ११. अव्यक्त १२. कुण्डिका १३. सावित्री १४. रुद्राक्षजाबाल १५. जाबालदर्शन १६. जाबाली "आप्यायन्तु ममाङ्गानि" यह मन्त्र इन सबका शान्तिपाठ है। (द्र० मुक्तिको०-१)	प्राति०- १. ऋक्तन्त्र २. लघु-ऋक्तन्त्र ३. सामतन्त्र ४. अक्षरतन्त्र ५. पुष्पसूत्र/ फुल्लसूत्र शिक्षा- १. गौतमी / संयोगश्रृंखला २. लोमशी ३. नारदीय	१. सामसर्वानु० २. नैगेयशाखानु० ३.सामवेदार्षेयदीप ४. कल्पानुपदसूत्रम् ५. उपग्रन्थसूत्र ६. अनुपदसूत्र ७. निदानसूत्र ८. उपनिदानसूत्र ९. ताण्ड्यलक्षणम् १०. धातुलक्षणम् ११. पञ्चविधसूत्र १२. मात्रालक्षण १३. स्तोभानुसंहार १४. गायत्र-विधानसूत्र १५. अनुस्तोत्र

कल्पसूत्र						विशेष-विवरण
श्रौतसूत्र	गृह्यसूत्र	धर्मसूत्र	शुल्बसूत्र	पितृमेधसूत्र	प्रवरसूत्र	
१. क्षुद्रकल्प २. मशक (आर्षेय) ३. लाट्यायन ४. द्राह्यायण ५. जैमिनीय ६. खादिर	१. गोभिल २. खादिर ३. द्राह्यायण ४. कौथुम ५. जैमिनीय ६. गौतम ७. छान्दोग्य	१.गौतम २. सुमन्तु (?) वेद - विशेष के सम्बन्ध से अनिर्धारित धर्मसूत्र - १. देवल २. पैठीनस् ३. कश्यप ४. बृहस्पति	X	१. गौतम	X	**पर्याय** - सामवेद, सामवेदसंहिता, सामसंहिता **परिमाण** -१८२४/१८९३/१८०८/१५४९ **कौथुमशाखा - पर्याय** - कौथुमशाखा, कौथुमीशाखा, कौथुमसंहिता, कौथुमीसंहिता, कौथुमी-शाखा - संहिता, कौथुमीसामवेद-संहिता **परिमाण** - गान ऋचायें १. ग्रामगेयगान - ११९८ - ५८५ (वेयगान) आरण्यगान - २९०/२९६ ६५ ऊहगान - ९३६ ऊह्यगान - २०९ (रहस्य गान) ------ सम्पूर्ण गान - २६३३/ २६३९ २. **पूर्वार्चिक** - प्रपाठक - ६, अर्ध -१२, दशति-६४, मन्त्र - ६५० **उत्तरार्चिक** - प्रपाठक - ९, अर्ध-२२, अध्याय-२१, खण्ड-१२०/१२१, सूक्त-४००, मन्त्र - १२२५, सम्पूर्ण मन्त्र - ६५० +१२२५ = १८७५ सामवेदस्थ ऋग्वेदीय मन्त्र - १७७१ ऋग्वेद में अनुपलब्ध साममन्त्र - १०४ पुनरुक्त मन्त्र - २६९/२६७ **जैमिनीयशाखा** **पर्याय** - जैमिनीयशाखा, जैमिनीयसंहिता, जैमिनीय - सामवेद - संहिता। **परिमाण - गान - ऋचायें** १.ग्रामगेयगान - १२३२ - ५८७ आरण्यगान - २९१ ऊहगान - १८०२ ऊह्य(रहस्य)गान- ३५६ ३६८१ २. खण्ड - ५९, मन्त्र - ७२३ **सम्पूर्णशाखायें** १०००/१०८०/१०६५/१६/१३ उपलब्ध -३ **उपवेद** - गन्धर्ववेद , **उपनिषद्** - १०००/१६ **ऋषि** - आदित्य **देवता** - सूर्य **लोक** - द्यौ **ऋत्विक्** - उद्गाता **अष्ट सामविकार** - १. विकार, २. विश्लेष ३. विकर्षण, ४. अभ्यास, ५. विराम, ६. स्तोभ ७. आगम, ८. लोप.

स्तोभत्रय - १. वर्णस्तोभ, २. पदस्तोभ, ३. वाक्यस्तोभ ।

साम के ५(७) विभाग (भक्ति)- १. प्रस्ताव, २. उद्गीथ, ३. प्रतिहार, ४. उपद्रव, ५. निधन, (६. हिङ्कार, ७. आदि-ओंकार)।

गान के ७ पर्व-१, गायत्र, २. आग्नेय, ३. ऐन्द्र, ४. पावमान, ५. अर्क - द्वन्द्व - व्रत, ६. शक्रिय ७. महानाम्नी।

नौ प्रकार के स्तोम-१. त्रिवृत् २. पञ्चदश ३. सप्तदश ४. एकविंश ५. त्रिणव (सप्तविंश) ६. त्रयस्त्रिंश ७. चतुर्विशं ८. चतुश्चत्वारिंश ९. अष्टचत्वारिंश। इन नौ स्तोमों में २८ विष्टुतियां होती हैं। जिनकी सख्या क्रमशः इस प्रकार है - १+३+७+४+२+५+१+३+२=२८

दस प्रमुख साम- १. गायत्र २. रथन्तर, ३. बृहत् ४. वामदेव्य ५. वैरूप ६. वैराज ७. शाक्वर ८. रैवत ९. यज्ञायज्ञीय १०. राजन् ।

६. अथर्ववेद - वाङ्मय - परिचय

शाखा (संहिता)		ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	प्रातिशाख्य / शिक्षा	अनुक्रमणी / लक्षणग्रन्थ
इस शाखा के विविध नामान्तर मिलते हैं। जो निम्न प्रकार हैं-		**१. गोपथ** २. आरुणेय ३. सौलभ ४. शैलाली ५. पाराशर ६. रहस्याम्नाय ७. निरुक्तब्रा० ८. अन्वाख्यान	X	१. प्रश्न २. मुण्डक ३. माण्डूक्य ४. अथर्वशिरस् ५. अथर्वशिखा ६. बृहज्जाबाल ७. नृसिंहतापिनी ८. नारदपरिव्राजक ९. सीता १०. शरभ ११. त्रिपाद् विभूति महानारायण १२. रामरहस्य १३. रामतापिनी १४. शाण्डिल्य १५. परमहंस - परिव्राजक १६. अन्नपूर्णा १७. सूर्या १८. आत्मा १९. पाशुपत २०. परब्रह्म २१. त्रिपुरातापिनी २२. देवी २३. भावना २४. भस्म जाबाल २५. गणपति २६. महावाक्य २७. गोपालतापिनी २८. कृष्ण २९. हयग्रीव ३०. दत्तात्रेय ३१. गरुड ''भद्रं कर्णेभिः'' मन्त्र इन सब का शान्तिपाठ है। (द्र० मुक्तिको० १)	प्राति० - १. चतुरध्यायिका २. अथर्ववेदप्राति० शिक्षा - १. माण्डूकी	१. बृहत्सर्वानु - क्रमणिका २. दन्त्योष्ठ्यविधि ३. पञ्चपटलिका
I **१. पैप्पलाद** २. स्तौद/तौद ३. मौद **४. शौनकीय** ५. जाजाल ६. जलद ७. ब्रह्मवद ८. देवदर्श ९. चारणवैद्य II **१. पिप्पल** **२. शौनक** ३. दामोद ४. तौत्तायन ५. जाबाल ६. कुनखी ७. ब्रह्मदाबल/ ब्रह्मपलाश ८. देवदर्शी ९. चारणविद्य III **१. पैप्पल** २. दान्त ३. प्रदान्त ४. स्तौत/स्नात ५. सौत्न/औत ६. ब्रह्मदापलाशा/ ब्रह्मदाबल **७. शौनकी** ८. देवदर्शी ९. चरणविद्य	IV **१. पैप्पलाद** २. योद ३. तोद ४. मोद ५. दायढ ६. ब्रह्मपद **७. शौनक** ८. अङ्गिरस ९. देवर्षि					

कल्पसूत्र						
श्रौतसूत्र	**गृह्यसूत्र**	**धर्मसूत्र**	**शुल्बसूत्र**	**पितृमेधसूत्र**	**प्रवरसूत्र**	**विशेष-विवरण**
१. वैतान (वितानकल्प, अथर्वसूत्र) २. कौशिक (संहिताकल्प, संहिताविधि) ३. नक्षत्रकल्प ४. आंगिरस् (अभिचार-कल्प, विधान कल्प) ५. शान्तिकल्प	**१. कौशिक**	X	X	**१. कौशिक**	X	**पर्याय-** अथर्ववेद, अथर्ववेदसंहिता, अथर्वसंहिता, आथर्वणवेद, ब्रह्मवेद, भृग्वङ्गिरोवेद, अथर्वाङ्गिरोवेद, क्षत्रवेद, छन्दांसि, छन्दोह, भिषग्वेद **परिमाण-** काण्ड-२०, सूक्त- ७५९/७३१/७३६ मन्त्र -५९७७/५९३७ **सम्पूर्ण शाखायें-** म० भाष्य , चरणव्यूह - ९ सनातनधर्मोद्धार - १२ **उपवेद** - आयुर्वेद, (अङ्गिरोवेद, सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद, पुराणवेद) **उपनिषद्-** ५०/३१ **ऋषि-** अंगिरा **देवता** - अग्नि **लोक** - पृथिवी **ऋत्विक्** - ब्रह्मा अथर्ववेद के ७२ परिशिष्ट हैं। जिनमें से ४८ वाँ परिशिष्ट है - **कौत्सव्यनिरुक्त-निघण्टु**। यह सम्प्रति उपलब्ध है। किन्हीं का मत है कि प्रारम्भिक दस काण्ड ही अथर्ववेद है। शेष दस काण्ड अङ्गिरोवेद के हैं। जो कि अथर्ववेद के परिशिष्ट के रूप मे गृहीत होता था। कालान्तर में (सायण से पूर्व ही) वह परिशिष्ट वेद के साथ मिलकर अथर्ववेद के नाम से गृहीत होने लगा।

१.११. वैदिक संस्कृति*

संस्कृति और मानव– सम्पूर्ण सृष्टि अर्थात् जड़सृष्टि एवं चेतनसृष्टि का कर्ता ईश्वर है। यही अधिकतम मनुष्यों का मान्य सिद्धान्त है। इसमें भले ही कुछ लोग ईश्वर के स्वरूप तथा नाम के विषय में वैमत्य रखते हों, पर सभी अपने को ईश्वर का पुत्र मानते हैं और ईश्वर को अपना पिता मानते हैं। वेदों में भी अनेकत्र आत्म-परमात्मा के बीच में पिता-पुत्र के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा– "**विश्वेऽअमृतस्य पुत्राः**" (यजु०११.५)– सम्पूर्ण मानव अमृतस्वरूप परमात्मा के पुत्र हैं। आचार्य यास्क ने भी कहा है कि "**आर्य ईश्वरपुत्रः**" (निरु० ६.२६) जो ईश्वर का पुत्र होगा वह अवश्य ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र एवं निर्मल होगा।[1] पर वह अपने स्वार्थों के कारण अनृत आदि के द्वारा अपवित्र तथा मलिन हो जाता है। कहा भी है –"**अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति**" (शत० ब्रा० १.१.१.१)। यहाँ अनृतशब्द अमेध्यत्व के कारणीभूत सभी अवगुणों का उपलक्षक है। महर्षि दयानन्द ने भी कहा है– "**मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है**"(सत्यार्थ० भूमिका)। इसप्रकार एक स्वच्छ, निर्मल आत्मा स्वार्थ, अज्ञान आदि के कारण मानवता से पतित हो जाता है। इस प्रकार के पतन से मानव पतित न होकर अपनी मानवता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए वेद मनुष्य को उपदेश देता है– "**मनुर्भव**"(ऋ०१०.५३.६)। इस प्रकार के उपदेश केवल मनुष्य को ही दिया जाता है। यतोहि परमात्मा के द्वारा बनायी गयी प्रतिवस्तु में एवं पशु-पक्षियों में ईश्वरदत्त गुणधर्म अक्षुण्ण रहते हैं। पर स्वतन्त्रता के कारण मानव में उत्थान-पतन सम्भव हैं। मनुष्य का सदा उत्थान ही हो, पतन न हो– "**उद्यानं ते पुरुष नावयानम्०**", "**उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था०**" (अथर्व० ८.१.६,४)। इसके लिए मनुष्य को विशेष पुरुषार्थ, तप एवं धैर्य के साथ सतत विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। बस, **अपनी मानवता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए और आत्मोत्थान के निमित्त जो साधन हैं वा साधना है, वही संस्कृति है।**

संस्कृतिशब्द का अर्थ– 'संस्कृति' का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है– **सम्=सम्यक् कृतिः= करणं संस्कृतिः, समित्येकीभूय[2] युगपत् समं वा कृतिः संस्कृतिः, समन्तात् कृतिः संस्कृतिः, संस्क्रियते मानवोऽनयेति संस्कृतिः** अर्थात् उत्तम श्रेष्ठ भावनाओं से युक्त व्यवहार, केवल स्वहित के लिए न होकर सर्वभूतहितयुक्त चेष्टायें, जो कि सर्वकाल में एवं सर्वदेशों में (विपत्ति एवं सम्पत्ति आदि सभी दशाओं में) कर्तव्य हैं, जिनसे मानव वा मानव समाज शुद्ध, पवित्र हो जाता है अर्थात् अपनी मलिनता का प्रक्षालन करता है, वह संस्कृति है। जिससे आत्मोत्थान की सिद्धि एवं समाज की शान्ति प्रतिष्ठित होती है, वह संस्कृति कहलाती है। सम्-उपसर्ग 'सत्य' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः '**सत्यकृतिः संस्कृतिः**' भी कह सकते हैं। जो सनातन सत्यव्यवहार है अर्थात् जो व्यवहार देश, काल, जाति आदि से आबद्ध नहीं है, वह 'संस्कृति' कहलाता है। इसलिए वेद भी कहता है कि "**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा**"(यजु० ७.१४)[3]– शान्ति, शक्ति, अभ्युदय आदि

---

*. यह लेख वेदवाणी (नवम्बर २०११) में प्रकाशित है।

१. सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या(अथर्व० ३.३०.१) हे मनुष्यो! मैं (परमात्मा) तुम सब को सहृदयवाले, समान चित्तवाले और परस्पर द्वेषभाव से रहित करता हूँ। अतः तुम सब परस्पर अत्यन्तप्रीति युक्त रहो।

२. संगच्छध्वम्, संवदध्वम् इत्यादिषु यथा सम्-शब्दः एकीभूयार्थे प्रयुक्तस्तथैवात्राप्यवगन्तव्यम्।

३. तु० मैत्रायणीसंहिता– १.३.१२।

सम्पूर्ण उन्नत अवस्थाओं को (प्रथमा) विस्तार करने वाली, प्राप्त कराने वाली ही संस्कृति है, जो कि देश, काल, जाति आदि भेदों से अतीत होकर समस्त मनुष्यों द्वारा वरणीय है। 'संस्कृति' शब्द में सम्-उपसर्ग एवं कृधातु के बीच में भूषणार्थक[1] सुट्-आगम हुआ है— "**सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे**" (अष्टा० ६.१.१३७)। अतः हम कह सकते हैं कि **जिसमें अनेकों दिव्यगुण समाये हुए हैं, जिससे युक्त होकर मनुष्य दिव्यगुणों से विभूषित होता है, वह संस्कृति कहलाती है।**

संस्कृति का स्वरूप— संस्कृति के अर्थज्ञान से ही उसके स्वरूप का भी बोध संकेततः हो जाता है, पुनरपि स्पष्टतार्थ वर्णन करते हैं। संस्कृति में यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि— ये आठों योगाङ्ग समाविष्ट हो जाते हैं। वैसे ही वैदिक आश्रम व्यवस्था (ब्रह्मचर्य-गुरुकुलीय जीवन, आदर्श, नियम आदि, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) एवं वर्णव्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) भी संस्कृति के प्रधान अंग हैं। धर्मशब्द यद्यपि एक सुविशाल व्यापक अर्थ का वाचक है, पुनरपि मानव से सम्बद्ध धर्म भी संस्कृति के अन्तर्भूत हो जाता है। यज्ञ, याग, संस्कार, आयुर्वेद(औषधविज्ञान, चिकित्साविज्ञान), शिक्षा, राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषिविज्ञान, उद्योग आदि भी संस्कृति से बाहर नहीं हैं। इन सब के प्रतिपादक वेदादि शास्त्र भी संस्कृति के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

संस्कृति वैयक्तिक और सामाजिक रूप से द्विविध होती है। वैयक्तिक भी बाह्य एवं आन्तरिक होती है। बाह्यसंस्कृति में आचार-व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि आ जाते हैं, जो कि सभ्यता के नाम से जानी जाती हैं।[2] आन्तरिक संस्कृति में आसुरी वृत्तियों, पाशविक प्रवृत्तियों को नष्ट कर मानवता का विकास करना, आत्मिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों को प्रवृद्ध करना आदि आ जाते हैं। सामाजिक संस्कृति में वर्णाश्रमधर्म, शिक्षा, राजनीति आदि समाविष्ट होते हैं। इसे हम ऐसा भी मान सकते हैं कि संस्कृति शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, नैतिक, धार्मिक आदि विषयक होती है।

संस्कृति का दिग्दर्शन— पूर्व शीर्षक में लिखित संस्कृति के अन्तर्भूत सभी बिन्दुओं पर सर्वाङ्गीण विचार किया जाना यहाँ सम्भव नहीं हैं। अतः यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र किया जा रहा है— **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** (यजु० ३६.१८)।। **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति** (यजु० ४०.६, अपि च द्र० ४०.७) ।। **अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्** (शा० प० २७३, पञ्चतन्त्र ५.३८, हितो० १.७२)।। इन वचनों में एक दूसरे को समझने, आत्मा का सर्वभूतात्मा के रूप में विकास एवं मानवता की पूर्णता वा पराकाष्ठा झलकती है। ये वचन उद्घोष कर रहें हैं कि व्यक्ति अपने स्वार्थों को त्यागकर, वासनाओं को विनष्ट कर प्राणिमात्र का कल्याण करना ही संस्कृति है। "**अद्य मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य**(अथर्व० ८.४.१५) अर्थात् यदि मैं किसी व्यक्ति को पीड़ा देने वाला बनूँ या किसी मनुष्य की मृत्यु का कारण बनूँ तो आज ही, अभी ही मर जाऊँ। इस वचन से स्पष्ट है पाशविक और आसुरीवृत्तियों से ऊपर उठना ही मानव की संस्कृति है। **समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः** (अथर्व०३.३०.६) ।। **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ।। समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः**

---

१. जहाँ भूषणार्थ नहीं होता, वहाँ प्रायः सुडागम नहीं होता। तद्यथा समक्रन्=समकुर्वन् (ऋ० ३.३५.८), संक्रियमाणे=निर्वर्त्यमाने (रामा० ३.५३.५), संक्रियताम्=निर्मीयताम् (महा०वन० १००.१०) आदि।

२. साम्प्रतिक तथाकथित सभ्यता असांस्कृतिक होने से असभ्यता ही कहने योग्य है।

समानेन वो हविषा जुहोमि।। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति (ऋ० १०.१९१.२-४)।। इन मन्त्रों में उच्च आदर्शयुक्त सद्व्यवहार रूपी सामाजिक संस्कृति प्रस्फुटित होती है। **ऋतस्य पथा प्रेत** (यजु० ७.४५), **ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति** (अथर्व० १८.४.३), **मन्त्रश्रुत्यं चरामसि** (ऋ० १०.१३४.७)। इन वचनों में सत्य, सनातन, वैदिक मार्ग का अनुकरण करने का उपदेश है, साथ में सत्यान्वेषी सुकृत् ऋषि-मुनि, विद्वान् आदि के मार्ग का अनुगमन करने का विधान है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है कि **"यद् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि"** (शत० ७.२.१.४), **"यद्यद् आचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"** (गीता० ३.२१)। इसप्रकार ज्ञात होता है कि वेद और ऋषि-मुनि आदि देवों (श्रेष्ठों) का अनुगमन करना ही संस्कृति है।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि (अथर्व० १.३४.२)।। इस मन्त्र में परिवार, समाज, बन्धु, मित्र आदि में शान्ति को स्थापित करने वाली संस्कृति का उल्लेख है। **अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर। मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ** (ऋ० ८.३३.१९)।। इस मन्त्र में स्त्रीविषयक उच्च्य संस्कृति का उल्लेख है। जिसके अभाव में आज का समाज एक भयानक परिस्थिति में खड़ा है। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय एवं नीतिग्रन्थ वैदिक संस्कृति से ओतप्रोत हैं।

संस्कृति और सभ्यता— ये दोनों शब्द व्यवहार में कहीं-कहीं पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त देखे जातें हैं, पर दोनों में पर्याप्त अर्थभेद है। अतः इनके प्रयोग में सावधानता की अपेक्षा है। इनका भेद इस प्रकार है—

संस्कृति	सभ्यता
यह आन्तरिक है।	यह बाह्य है।
यह आध्यात्मिक है।	यह भौतिक है।
यह स्वाभाविक है।	यह कृत्रिम है।
यह निष्कामकर्म है।	यह सकामकर्म है।
यह सात्विक गुणोत्पादक है।	यह राजसिक या तामसिक गुणोत्पादक है।
यह त्याग का प्रतीक है।	यह भोग का प्रतीक है।
यह जीव को अन्तर्मुख करने वाली है।	यह जीव को प्रकृति की ओर अग्रसर करने वाली है।
यह वैयक्तिक एवं सामाजिक है।	यह केवल सामाजिक है।
यह परोपकार की भावना को उत्पन्न करती है।	यह स्वार्थ की भावना को उत्पन्न करती है।
यह देश, काल और जाति से आबद्ध नहीं है।	यह देश, काल और जाति से आबद्ध होती है।
इससे पाशविक एवं आसुरी भाव नष्ट होते हैं।	इससे पाशविक एवं आसुरी भाव उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं।
यह चिरस्थायी है।	यह अस्थिर और अनित्य है।
सांस्कृतिक व्यक्ति संस्कारित होता है।	सभ्य व्यक्ति संस्कारित हो, यह अनिवार्य नहीं है।
सांस्कृतिक व्यक्ति नैतिक एवं धार्मिक होता है।	सभ्य व्यक्ति नैतिक एवं धार्मिक हो, यह अनिवार्य नहीं है।

संस्कृति अभेद्य है— यह विशेषतया ध्यातव्य विषय है कि संस्कृति विशेषणों से विशेष्य व भेद्य नहीं है। वह तो पूरे मानव समाज के लिए, सम्पूर्ण विश्व के लिए धर्म के समान एक ही है और वह विश्ववारा है। क्योंकि संस्कृति का मूल वेद है और वेद के उत्पत्ति-काल में न देश का विभाग था, न ही जाति का भेद। जैसे वेद सर्वकालिक एवं सार्वभौम हैं, वैसे ही उसमें प्रतिपादित संस्कृति तथा धर्म भी सर्वकालिक, सर्वदेशीय

और सर्वजनीन हैं। अतः संस्कृति के साथ भारतीय, पाश्चात्य आदि देशबोधक विशेषण एवं हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई, सिख, आर्य, द्राविड़, मंगोल, निग्रो, यहूदी आदि विशेषणों का प्रयोग उचित नहीं है। वेद तो सम्पूर्ण विश्व एवं मानव समाज का सर्वविध कल्याण चाहने वाला है, उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं हो सकता। अन्यथा ईश्वर पक्षपाती सिद्ध होगा। अतः संस्कृति संस्कृति ही है। हाँ यदि विशेषणों का प्रयोग करना ही है तो '**वैदिक संस्कृति**', अथवा '**मानव संस्कृति**' के रूप में कर सकते हैं।

संस्कृति की आवश्यकता और प्रयोजन— संस्कार और संस्कृति से संस्कृत प्राणी ही मानव कहा जाता है, अतः मानव को मानवता की रक्षा के लिए अर्थात् अपने को मानव कहलवाने वा सिद्ध करने के लिए संस्कृति की अत्यन्त आवश्यकता है। यद्यपि आज का मानव भौतिक रूप से अतिशयपूर्ण भौतिक उन्नति प्राप्त कर अपने को अत्यधिक गौरवशाली तथा सभ्य मान रहा है। पर यथार्थता उसके विपरीत ही है। यह भौतिक उन्नति संस्कृतिहीन मनुष्य के हाथों में वैसे ही दृग्गोचर हो रही है, जैसे कि विवेकहीन बन्दर के हाथों में परमाणुबम। अतः इस भौतिक उन्नति की प्रसन्नता व गर्व तभी होगा, जब यह समाज संस्कृति से युक्त हो।[1] आज समाज में अशान्ति, निर्धनता, अन्याय, अधर्म, शोषण, अत्याचार, अनाचार, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, देश की बौद्धिक परतन्त्रता आदि जो समस्यायें हैं, वे सब संस्कृति से भ्रष्ट होने के कारण ही हैं। अतः इन समस्याओं का समाधान वैदिक संस्कृति को अपनाने में ही है। अन्य सब उपाय वा समाधान वैसे ही निष्फल हैं, जैसे पत्तों के सिञ्चन से वृक्षों की रक्षा।

आर्यों का स्वभाव

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ।।
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ।।

(महा० भा०, उद्यो० ३३.११२,११३)

जो शान्त हुई वैर की आग को पुनः प्रज्वलित नहीं करता, अहंकार नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता और मेरी दुर्गति हो रही है, ऐसा विचार कर अनुचित कार्य नहीं करता, उसको आर्यलोग श्रेष्ठ आर्यशील कहते हैं।

जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुषों में आर्यशीलवान् कहलाता है ।

१. महाविघातक ए.के. ४७ राईफल की खोज करने वाले 'माईकेल कलष्किनिकोव' को तब बड़ी निराशा हुई, जब आतंकवादियों के द्वारा उसका दुरुपयोग होने लगा। तत्परिणामतः उन्होंने जो कहा वह प्रत्येक मनुष्य को विशेषतया वैज्ञानिकों को ध्यान देने योग्य है। उनका कथन था कि ''यदि मैं किसानों के उपयोग में आने वाले किसी अच्छे यन्त्र का आविष्कार करता तो मुझे ज्यादा सन्तुष्टि होती।''

१.१२. वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम विषयक शंका-समाधान *

वैदिकों को वेद परम प्रमाण है। वेद जो कहता है वही प्रामाणिक है, वैदिक है, मान्य है अन्यथा वह अप्रामाणिक है, अवैदिक है, अमान्य है। परन्तु इस मान्यता के साथ वेद की वर्णन-शैलियों पर गौर करना होगा और उन्हें जानना भी होगा। केवल किसी एक शैली के आधार पर किसी विषय को अवैदिक व अप्रामाणिक कहना शीघ्रता वा अज्ञता होगी। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के विषय में कुछ ऐसा ही दीखता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ का नामतः जैसा स्पष्ट उल्लेख वेद में मिलता है, वैसा वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का उल्लेख नहीं मिलता। इतने मात्र से इन्हें अवैदिक कहना उचित न होगा। वैसे तो आश्रम शब्द भी वेदों में नहीं मिलता।[1] तो क्या आश्रम व्यवस्था को ही अवैदिक माना जाय? कदापि नहीं। बौधायन-धर्मसूत्र में कहा गया है कि— "**आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मपूतो भवतीति विज्ञायते**" (बौ०धर्म०सू० २.१०.१५) अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते हुए पुरुष ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, ऐसा वेदों में कहा गया है। वेदों में कहीं भी आश्रम शब्द ही उपलब्ध नहीं होता, पुनरपि कहा जा रहा है कि आश्रम की व्यवस्था वेदों में उक्त है। इससे स्पष्ट है कि आश्रमों का अस्तित्व वेदों में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में संकेतित है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक विषय के प्रतिपादक शब्द वेदों में विद्यमान हों। क्योंकि केवल श्रुति मात्र ही प्रमाण नहीं है, अपितु लिङ्गादि भी प्रमाण हैं, मान्य हैं— "**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये ०**" (मीमांसा० ३.३.१४)। केवल श्रुति को ही प्रामाणिक माना जाय, लिङ्गादि को नहीं, तो पाणिनि के सूत्रों में प्रतिपादित बहुत से महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों (परिभाषा आदि) को भी अप्रामाणिक मानना होगा। जो कि इङ्गित, चेष्टित मात्र हैं, शब्द-प्रतिपादित नहीं हैं। सो कदापि सम्भव नहीं है।

वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक माना जाता है और उसमें आध्यात्मिक, योग, दर्शन, व्याकरण, निरुक्त, सृष्टिविज्ञान, परमाणु विज्ञान आदि अनेक विद्याएँ विद्यमान हैं, ऐसा माना जाता है। तो क्या वे सब (सत्य) विद्याएँ नामतः स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं वा संकेतित हैं? वेद रहस्यमय हैं, इनमें अधिकांश विषय परोक्षतः गूढरूप से प्रतिपादित हैं, संकेतित हैं, ऐसा सभी विद्वानों की मान्यता है, पुनरपि केवल वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के विषय में उन शब्दों को ढूँढने का आग्रह क्यों किया जाता है? यदि प्रत्येक विषय वेदों में शब्दशः प्रतिपादित हो, तो पुनः ब्राह्मण, निरुक्त, व्याकरणादि शास्त्रों की आवश्यकता ही क्या है? वेद के शब्द रूढि नहीं हैं, अपितु यौगिक हैं, इस सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है ? अस्तु। यथार्थता यह है कि ये दोनों ही शब्द अर्वाचीन हैं, अतः

---

*. यह लेख दयानन्दसन्देश (जून २००३), वेदवाणी (जनवरी - फरवरी २००८), स्वस्ति पन्था (जून-जुलाई २०१५), आर्ष ज्योति (जून २०१५), तपोभूमि (सितम्बर - नवम्बर २०१५) में प्रकाशित है।

१. आश्रम शब्द संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में नहीं मिलता। वह उपनिषद्, धर्मसूत्र, वेदांग आदि सूत्रग्रन्थों में एवं स्मृति आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। संहिताओं में श्रम-धातु का प्रचुर प्रयोग है तथा तज्जन्य श्रमः, श्रमेण, श्रमात्, श्रमस्य आदि शब्द भी प्रयुक्त हैं। उपसर्ग द्योतक हैं, वाचक नहीं है; ऐसा आचार्यों का मान्य सिद्धान्त है। अतः श्रम्-धातु तथा श्रमः आदि शब्दों में और आश्रम शब्द में कोई अर्थ भेद नहीं है। अर्थात् वेदों में आश्रम शब्द प्रयुक्त है। परन्तु लोक में जिस रूढ्यर्थ में आश्रम शब्द प्रयुक्त है, उस अर्थ में तो वेद में अप्रयुक्त ही है।

वेद में मिल नहीं सकते। कहा भी गया है– ''**अवधूताश्रमो देवि कलौ संन्यास उच्यते**'' (म०नि० ८.२२१)। यहाँ यह भी ज्ञात होता है कि संन्यास शब्द कलियुग से ही प्रचलित हुआ है। अतः उससे पूर्वकालिक साहित्य में संन्यास शब्द के स्थान पर परिव्राट्, यति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संन्यास एवं वानप्रस्थ शब्द नवीन होते हुए भी इन आश्रमों का अस्तित्व, कर्तव्य, नियम, धर्म आदि तो वेदों में उपलब्ध होते हैं।[1] इतना ही नहीं संन्यास के समानार्थक यति, मुनि, तुरीय (यजु.१८.३) शब्द[2] एवं वानप्रस्थ के वाचक मुनि, तपः आदि शब्द वेदों में मिलते ही हैं; उन्हीं से इनकी वैदिकता सिद्ध होती है।

इन दोनों आश्रमों की अवैदिकता की पुष्टि में एक प्रबलतम प्रमाण के रूप में मन्त्र उपस्थित किया जाता है कि ''**(इहैव स्तम्)** हे वर-वधू ! तुम दोनों यहाँ [गृहाश्रम में] ही रहो, **(मा वि यौष्टम्)** कभी वियुक्त मत होओ, **(स्वस्तकौ)**उत्तम घर वाले तुम दोनों **(क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ)** पुत्र, पौत्र आदि के साथ खेलते हुए, प्रसन्न होते हुए, **(विश्वमायुर्व्यश्नुतम्)** पूर्ण [सारी] आयु को प्राप्त करो (अथर्व० १४.१.२२; ऋ० १०.८५.४२)। अथर्व० १४.२.६४ में भी यही भाव निहित है।

इन मन्त्रों को देखने से एक स्वाभाविक सन्देह वा आक्षेप उठता है कि सारी आयु अर्थात् विवाह से लेकर आजीवन गृहस्थाश्रम में ही रहना है, वानप्रस्थ एवं संन्यास की दीक्षा नहीं लेनी है। अर्थात् ये दोनों ही आश्रम अवैदिक हैं, वेदविरुद्ध हैं। यह आक्षेप ''विश्वमायुः'' के कारण ही उठता है, नहीं-नहीं उसके अर्थ-एकदेश से। क्योंकि यह सर्वसम्मत मत है कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त की कालावधि को आयु कहा जाता है। अतः यहाँ आक्षेप यह उठना चाहिए कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त का काल गृहाश्रम की अवधि है और आयुशब्द के साथ सर्वशब्दार्थक विश्वशब्द के प्रयोग से यह भी ज्ञापित होता है कि आजन्म-मरण की कालावधि में गृहाश्रम के अतिरिक्त अन्य ब्रह्मचर्याश्रम आदि को कोई अवकाश ही नहीं है। अतः शेष तीनों आश्रम अवैदिक हैं। परन्तु ऐसा समझना सर्वथा अविवेकता होगी। यतोहि विवाहार्थ ब्रह्मचर्याश्रम नितान्त आवश्यक ही नहीं अपितु वेदों में स्पष्टरूप से विहित भी है। अतः इसका अपलाप किया नहीं जा सकता। अत एव 'विश्वमायुः' के अर्थ को संकुचित (= विवाह से मृत्यु पर्यन्त सारी आयु) कर उक्त आक्षेप किया जाता है। तो आक्षेपकर्त्ताओं को भी यह संकुचित अर्थ अभीष्ट ही है। जब अर्थ का संकोच स्वीकृत हो गया तो उसे और भी अधिक संकुचित किया जा सकता है। क्योंकि वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों की भी विधियाँ वेदादि शास्त्रों में मिलती हैं। उनका भी अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः 'विश्वमायुः' का अर्थ गृहाश्रम की कालावधि सम्बन्धित सारी आयु ही करना चाहिए। यही अर्थ आर्ष परम्परा के अनुकूल है। अब आगे विश्व व सर्व शब्दों के संकुचित अर्थ का औचित्य निरूपित किया जाता है।

सर्व व विश्व शब्दों को समझने में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। अन्यथा महान् अनर्थ घटित हो सकते हैं। क्योंकि ये शब्द सोपाधिक व प्राकरणिक हैं। महर्षि जैमिनि मुनि ने कहा भी है– ''**सर्वत्वमाधिकारिकम्**'' (मीमांसा० १.२.१६) अर्थात् (सर्वत्वम्) सर्वपन, सम्पूर्णता (आधिकारिकम्) औपचारिक, प्राकरणिक है। जैसे– ''**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति**'' (तै०ब्रा० ३.८.१०.५) अर्थात् पूर्णाहुति से सभी कामनाओं को प्राप्त करता है। इससे शेष यागों की अननुष्ठान आपत्ति आवेगी। जैसे कि प्रकृत प्रसंग में 'विश्वमायु' के कारण अग्रिम आश्रमों का अभाव हो रहा है। इस दोष के परिहार के लिए उक्त सूत्र से कहा गया है कि यहाँ सर्वशब्द प्राकरणिक है अर्थात् प्रकृत क्रतुसाध्य फल पूर्णाहुति के विना प्राप्त नहीं होता। ऐसा कहकर पूर्णाहुति की स्तुति की गई है और वह वाक्य ''**पूर्णाहुत्या जुहोति**'' (तै०ब्रा० ३.८.१०.५) का शेषभूत वाक्य है, न कि विधि वाक्य। स्पष्टता के लिए और

---

१. एतदर्थ लेखक का ''वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की वैदिकता एवं प्राचीनता'' (१.१३ ; पृ० ११०)शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

२. अर्वाचीन साहित्य में संन्यासाश्रम के लिए मोक्षाश्रम (वि०पु० ३.९.३३), ब्रह्माश्रम (प०पु० स्वर्गखण्ड ५९.४), योगाश्रम (रघुवंश), भिक्षु-आश्रम, परमाश्रम, अवधूताश्रम, अत्याश्रम (श्वे०उप० ६.२१) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

एक उदाहरण देता हूँ– "**सर्वः ओदनो भुक्तः, सर्वे ब्राह्मणा भुक्तवन्तः**" (मी०शा०भा० ३.५.१०) अर्थात् 'सारा चावल खाया गया, सभी ब्राह्मणों ने भोजन कर लिया है'। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं होता है कि संसार भर का सारा चावल खाया गया और संसार के सारे ब्राह्मणों ने भोजन कर लिया। यदि कोई ऐसा ही अर्थ समझता है तो उसे बालबुद्धि ही कहा जायेगा। इससे स्पष्ट है कि असर्व में सर्वशब्द का प्रयोग प्राकरणिक है– "**असर्वेषु सर्ववचनमधिकृतापेक्षम्**" (शा०भा० १.२.१६)।

सर्वशब्द का व्यापक अर्थ कारणान्तरों से कैसे-कैसे संकुचित किया जाता है, एतदर्थ अन्य एक प्रसंग प्रस्तुत करता हूँ। राजाओं के लिए विहित 'विश्वजित्' याग में कहा गया है कि "**विश्वजिति सर्वस्वं ददाति**" (द्र० आप०श्रौ० १७.२६.१२,१३) अर्थात् विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करें। तो यहां सन्देह होता है कि क्या अपना सर्वस्व अर्थात् माता-पिता आदि आत्मीय जन, भूमि (सम्पूर्ण राज्य), घोड़े, शूद्रादि सेवक और भूत एवं भविष्यत् का सम्पूर्ण ऐश्वर्य का दान करना चाहिए ? इसका समाधान मीमांसादर्शन (६.७.१ से २० तक) में किया गया है कि माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भूमि, घोड़े, सेवक आदि नहीं देने चाहिए, वही देने चाहिए जो दक्षिणा काल में विद्यमान है–"**दक्षिणाकाले यत् स्वं तत् प्रतीयेत तद्दानसंयोगात्**" (सूत्र ७)। कोई (कृपण यजमान) दक्षिणाकाल में एक ही गाय[1] को रखकर न देने लग जाय, इसके लिए आगे फिर कहा कि ११२ गाय[1] अथवा उससे अधिक देवें। जिसके पास ११२ गायें नहीं हैं, उसे विश्वजित् याग करने का अधिकार ही नहीं है (सूत्र-१९)। यहाँ अनेकों कारणों से सर्वस्व दान को ११२ गाय तक सीमित कर दिया गया है। वैसे ही प्रकृत प्रसंग में "विश्वमायुः" का अर्थ ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की कालावधि को छोड़कर अवशिष्ट अर्थात् २५ वर्ष की अवस्था से ५० वें वर्ष तक (यह एक सामान्य कथन है,न्यूनाधिक हो सकता है) ही लेना चाहिए। सो प्रकृत मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए–

हे वर-वधू। तुम दोनों का इस गृहाश्रम में वियोग न होवे और गृहाश्रम की जो अधिकृत, नियत आयु (कालावधि)है, उसमें तुम्हारी मृत्यु (वियोग) न हो अर्थात् गृहाश्रम की सम्पूर्ण आयु (काल)को प्राप्त करो। इस मन्त्र का सामान्यतया जो शाब्दिक अर्थ सभी लोग करते हैं, उसी का आदर करते हुए उक्त समाधान दिया गया है। परन्तु इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द कृत अर्थ (सं०विधि के गृहाश्रम०मन्त्र-२)भी द्रष्टव्य है। वहाँ स्पष्ट ही लिखा गया है कि विवाह में कृत प्रतिज्ञा में तत्पर रहो, उस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ और ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हुए अपनी सम्पूर्ण आयु (१०० वर्ष) को प्राप्त करो। न कि यह लिखा गया है कि इसी गृहस्थाश्रम में रहो, इस आश्रम से वियुक्त मत होओ और इसी आश्रम में सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करो। विवाह में कृत प्रतिज्ञा का भी स्पष्टीकरण अनुपद ही लिखा जाएगा।

आक्षेप-गृहस्थाश्रम को त्यागकर वानप्रस्थादि को यदि स्वीकार करना है तो निम्न पंक्तियों की संगति कैसे लगेगी ? अथवा निम्न पंक्तियों से सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम को त्यागना नहीं चाहिए अर्थात् वानप्रस्थ आदि की दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। वे पंक्तियाँ हैं– पाणिग्रहण (प्रतिज्ञाविधि) का तृतीय मन्त्र "**ममेयमस्तु**"(अथर्व० १४.१.५२)कहता है कि "**मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्**" इसका अर्थ महर्षि दयानन्द लिखते हैं–"तू मुझ पति के साथ सौ शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक जीवन धारण कर....हे भद्रवीर।...आप (पति) मेरे (पत्नी के) साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिए" (सं०विधिः)। वैसे ही अरुन्धती-दर्शन के पश्चात् ध्रुवीभाव-आशंसन के द्वितीय मन्त्र "**ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा०**" (पा०गृह्य० १.८.१९)के भाष्य में स्वामी जी लिखते हैं कि " हे स्वामिन्।...सदा के लिए मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा....मुझ पत्नी के साथ....सौ वर्ष पर्यन्त

१. द्वादशशतदक्षिणा आदि शब्दों से केवल गायों का ही ग्रहण होता है, अश्व, व्रीहि आदि का नहीं (द्र० मीमांसा० १०.३.३९-४९)।

जीविये, तथा हे वरातने पत्नी।....तू मुझ पति के साथ....सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर'' (सं० विधि०)। गृहाश्रम प्रकरण के मन्त्र-६ (आरोह तल्पं०)के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं—''(इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रह कर....।''

समाधान— इसका समाधान देने से पूर्व यह जानना चाहूँगा कि मान लिया यदि हमने इन पंक्तियों की संगति नहीं लगा पाये तो क्या वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन दो आश्रमों की पुष्टि में जो वचन मिलते हैं, वे सब के सब अप्रामाणिक हैं? क्या महर्षि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का वह आदर्शभूत संवाद, ब्रह्मतत्त्वबोधक संवाद व्यर्थ का वार्तालाप (गप्प) मात्र है? जिसमें संन्यास लेने का स्पष्ट उल्लेख है। सं०विधि० के वानप्रस्थ एवं संन्यास प्रकरण में **''अत्र प्रमाणानि''** कहकर जिन मन्त्रों को उद्धृत कर महर्षि ने उनका जो अर्थ किया है, क्या वह प्रमादजन्य है? स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में तथा अन्य ग्रन्थों में पचासों जगह इन दोनों आश्रमों वा धर्मों का उल्लेख किया है, क्या वे सब प्रलाप मात्र हैं? क्या महर्षि के कथनों में परस्पर विरोध है?

उद्धृत वचनों में सन्देहजनक शब्द तीन हैं— १. सदा, २. ध्रुव (=दृढ़ रहना), ३. सौ वर्ष तक मिलकर रहना। अब इन पर क्रमशः विचार करते हैं। 'सदा' शब्द 'सर्व' शब्द से बनता है— **सर्वस्मिन् काले=सर्वदा, सदा**[१]। और सर्वशब्द प्राकरणिक है, प्रासङ्गिक है, यह पहले ही विस्तृतरूप से लिख चुका हूँ। प्रकृत प्रसंग के लिए भी पुनः एक उदाहरण उद्धृत करता हूँ— **'सः सदा हसति, सः सदा जल्पति'** अर्थात् वह सदा हँसता है, वह सदा बातें (गप्प) करता रहता है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि, वह सदा=अनादि काल से अनन्त काल तक अथवा जीवन भर अहर्निश हँसता ही रहता है, बोलता ही रहता है; खाना, पीना, सोना आदि नहीं करता। अपितु अपेक्षाकृत अधिक हँसता है, अधिक बोलता है, यही उसका अर्थ है। वैसे ही प्रकृत प्रसंग में भी 'सदा' का अर्थ अनाद्यनन्तकाल तक अथवा यावज्जीवन (मिलकर रहना) नहीं है, अपितु गार्हस्थ्य जीवन (काल) में वर-वधुओं का वियोग न हो, मिलकर रहने का दृढ़ संकल्प दोनों में हो।

ध्रुव (=स्थिर, दृढ़) शब्द विषयक सन्देह का समाधान उसी प्रसंग के प्रथम मन्त्र में ही है। मन्त्र है— **''ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे**.....(म०ब्रा० १.३.७)। क्या इस मन्त्र का अर्थ यही है कि द्यौ, पृथिवी, सम्पूर्ण जगत् और ये पर्वत सभी ध्रुव अर्थात् अनादि काल से अनन्त काल तक ऐसे ही स्थिर वा दृढ़ रहते हैं, वैसे ही तुम दोनों वर-वधू स्थिर रहो। जहाँ तक समझता हूँ, पाठकों का समाधान नहीं में ही रहेगा। तो इसका तात्पर्य यह है— जैसे द्यौ आदि का प्रलय (नाश) होने तक अपने अस्तित्व में स्थिर, ध्रुव रहते हैं, अपने नियमों से विचलित नहीं होते हैं, वैसे ही तुम (वर-वधू) भी अपने गार्हस्थ्य जीवन में, प्रतिज्ञा में स्थिर रहो, कृत प्रतिज्ञाओं से विचलित मत होना। यहाँ स्वामी जी के ये शब्द विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं— **''ये प्रत्यक्ष पहाड़ अपनी स्थिति में स्थिर हैं .....॥......वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उलटे विरोध में न चलें''**(सं०विधि०)।

सौ वर्ष तक मिलकर रहने की संगति के विषय में कुछ कहने से पूर्व मैं यह जानना चाहूँगा कि विवाह के समय तक वधू-वरों का लगभग २०-२५ वर्ष (आयु का एक प्रथम चरण) बीत चुके होते हैं। फिर यहाँ आक्षेपकर्त्ता सौ वर्ष की संगति कैसे लगायेंगे? वस्तुतः यहाँ **''तक्रकौण्डिन्यन्याय''** से सारी विसंगतियाँ दूर हो जायेंगी। अर्थात् **'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, कौण्डिन्याय तु तक्रं दीयताम्'**— सभी ब्राह्मणों को भोजन में दही परोसा जाय, परन्तु कौण्डिन्य ब्राह्मण को छाछ दिया जाय। पहिले सामान्यरूप से दधि-परिवेषण की विधि है और बाद में तक्र-परिवेषण की विशेषविधि। तो विशेषविधि द्वारा सामान्यविधि बाधित हो जाती है। इसी को व्याकरण की भाषा में कहा जाता है उत्सर्ग (सामान्यविधि) अपवाद (विशेषविधि) के द्वारा बाधित होता है अर्थात्

१. सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा, सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (अष्टा० ५.३.१५,६)।

अपवाद के कार्यक्षेत्र को छोड़कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।[1] वैसे ही यहाँ 'सौ वर्ष तक मिलकर रहना' यह उत्सर्गविधि है, जो कि वक्ष्यमाण वानप्रस्थ एवं संन्यास की अपवादविधि से बाधित हो जाती है। अर्थात् सौ वर्ष का कथन अग्रिम आश्रमों के कालावधि को छोड़कर अवशिष्ट गार्हस्थ्य काल को ही लक्षित करता है। इस सम्पूर्ण समाधान का आशय यही है कि स्वामी जी के उद्धृत वचनों का तात्पर्य गार्हस्थ्य जीवन व गृहाश्रम की मर्यादा में ही है। उन वचनों का वाचनिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अन्यथा महर्षि के कथनों में परस्पर विरोधदोष अपरिहार्य हो जायेगा।

आक्षेप— संन्यास की दीक्षापद्धति बौद्धों से आई है, अतः यह आश्रम अवैदिक है।

समाधान— पहिले तो यहाँ यह जानना चाहूँगा कि इस आक्षेप का तात्पर्य क्या बाह्यचिह्न अर्थात् शिखाच्छेदन, यज्ञोपवीत का त्याग, काषायवस्त्रधारण आदि बौद्धों से आये हैं, यह है? अथवा यह आश्रम बौद्धों से पूर्व नहीं था, नूतनतया उन्हीं से प्रारम्भ हुआ? यदि आक्षेपकर्ताओं को पहिला तात्पर्य अभिप्रेत है तो यह एक सर्वथा गलत धारणा है। क्योंकि इन आश्रमों का प्रधानतया अन्तःसाधना से सम्बन्ध है, न कि बाह्यचिह्नों से। वे तो केवल तत्तदाश्रमों के द्योतक मात्र हैं। भागवतपुराण में कहा भी गया है—

''मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः।।'' (११.१८.१७)

अर्थात् वाणी, देह और मन का क्रमशः मौन, अनिच्छा और प्राणायाम ही दण्ड (डण्डा) हैं। दण्डरूप मौनादि जिसके पास नहीं हैं, वह बाँस के दण्डधारणमात्र से संन्यासी नहीं होता है।

यदि द्वितीय तात्पर्य अभिप्रेत है तो निम्न प्रश्नों का उत्तर देना होगा— १. आश्रमों को गृहस्थ व वानप्रस्थ तक ही सीमित करने में क्या प्रमाण है? २. 'आश्रम दो वा तीन ही हैं' ऐसा कहीं उल्लेख है? ३. चतुर्थाश्रम बौद्धों से ही प्रारम्भ हुआ है, उससे पूर्व नहीं था, इसमें क्या प्रमाण है? ४. क्या बुद्ध के समय से ही प्रारम्भ हुआ या बाद में? ५. यदि बाद में हुआ तो कब से? ६. बुद्ध के जन्मे लगभग ढाई हजार वर्ष हुए, उससे बहुत पूर्वकाल से ही प्रचलित ब्राह्मण एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में उपलब्ध स्पष्ट वचन क्या असत्य हैं? अथवा ७. ब्राह्मणादि ग्रन्थ बुद्ध के बाद के हैं?

इस आक्षेप के समाधानार्थ मैं यहाँ उन प्रमाणों को प्रस्तुत करता हूँ, जो बुद्ध से पर्याप्त प्राचीन हैं।

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा (महा०शान्ति० २३८.१४)।
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयत् (महा०शान्ति० २६५.४५)।

यहाँ 'ऋषयः' के 'यतयः' विशेषण से प्रकृत आक्षेप तो परिहृत होता ही है, साथ में 'कोई भी ऋषि संन्यासी नहीं था' इसका भी परिहार हो जाता है। ऐसे ही महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रसंग (बृ०उप० २.४.१;४.५.२) से भी दोनों आक्षेपों का समाधान जानना चाहिए। ''**तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः। अभिचक्राम वैदेही परिव्राजकरूपधृत्।। श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टि-कमण्डलू। परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत्।।**'' (रामा०, अरण्य० ४६.२,३)। ये सीतापहरण प्रसंग के श्लोक हैं। यहाँ स्पष्टरूप से रावण के बहूदक संन्यासी[2] के रूप में आने का वर्णन है। जिसमें काषायवस्त्रों का

१. न चापवादविषये उत्सर्गोऽभिनिविशते। पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः। प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते। (पारि० ५५-५७)

२. तथा च परिव्राजकाश्चतुर्विधाः—कुटीचका बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र स्वपुत्रगृहे भिक्षां चरन्तस्त्रिदण्डिनः कुटीचकाः। बहूदकास्तु त्रिदण्डिनः शिक्यजलपवित्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायधराः तीर्थान्यटन्तो भैक्षं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसास्तु एकदण्डिनः शिखावर्जं यज्ञोपवीतधराः शिक्यकमण्डलुपाणयो ग्रामैकरात्रवासिनः कृच्छ्रचान्द्रायणपराः।

भी उल्लेख है। रामायण के काल में भी संन्यासाश्रम का प्रचलन था, तभी तो रावण उसी वेष में आया और सीता को भी संन्यासी का भ्रम हो गया। फलतः सीता ने संन्यासी (रावण) को अन्दर बुलाकर[1] ब्राह्मणवद् पाद्य, अर्घ्य आदि से आतिथ्य किया था (द्र० वहीं– ४६.३४,३५)।

आक्षेप– संन्यासाश्रम का अन्तर्भाव वानप्रस्थ के अन्तर्गत ही हो सकता है। क्योंकि संन्यासी के जो भी धर्म, नियम, कर्तव्यादि होते हैं, वे सब वानप्रस्थी को भी करना पड़ता है। अतः संन्यासाश्रम को एक पृथक् आश्रम मानने की आवश्कता ही नहीं है।

समाधान– धर्मसूत्रों एवं स्मृतिग्रन्थों में इन दोनों आश्रमों के लिए प्रायः समान धर्म, नियमादि का विधान किया गया है। इसीलिए बौधायन-धर्मसूत्र के भाष्यकार गोविन्दस्वामी के मन में भी उक्त आशंका उत्पन्न हुई थी– "**वानप्रस्थसंन्यासभेदः किमर्थमाचार्यकृत इति असावेव द्रष्टव्यः** (बौ०धर्म० ३.३.१४-१७)। परन्तु साम्यता के कारण संन्यासाश्रम का ही अभाव क्यों मानें? यह क्यों न मानें कि दोनों आश्रमों की समानता को देखते हुए लोगों ने गृहस्थ से सीधा अन्त्याश्रम को ही स्वीकार किया करते थे, वानप्रस्थी नहीं बना करते थे? कहा भी गया है कि जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो, उसी दिन गृहस्थ से सीधा संन्यासी बन जावें–"**यद् अहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा** (तु० जा०उप० ४, अपि च द्र० मनु० ६.३९)। अतः संन्यासाश्रम के अभाव में जो साम्यता का हेतु दिया गया है, वह हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास मात्र है। यथार्थता यह है कि दोनों आश्रमों के नियमादि में अत्यधिक साम्यता होते हुए भी दोनों में मौलिक भेद भी हैं, जिनके कारण से दोनों को पृथक्-पृथक् आश्रम मानना ही पड़ता है। वे भेद इस प्रकार हैं– १. वानप्रस्थी साथ में अपनी स्त्री को रख सकता है, परन्तु संन्यासी नहीं रख सकता। २. वानप्रस्थी गृह्य एवं श्रौत अग्नियों को रखकर सभी प्रकार के यज्ञ, याग करता है, पर संन्यासी सभी अग्नियों को आत्मा में समारोपित करता है अर्थात् बाह्य अग्नियों और यज्ञों का सर्वथा त्याग करता है। ३. वानप्रस्थी शिखी एवं यज्ञोपवीती होता है, परन्तु संन्यासी उनका भी त्याग करता है। ४. वानप्रस्थी वन में स्थिर निवास बना कर एक ही स्थान में रह सकता है तो संन्यासी एक स्थान पर नहीं रह सकता (वर्षाकालादि अपवादों को छोड़कर) इत्यादि।

आक्षेप– वेदभाष्यों के आधार पर संन्यासाश्रम को वैदिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि महर्षि दयानन्द के भाष्य के अनुसार संन्यासाश्रम वैदिक सिद्ध हो भी जाता है, तो जो उनके भाष्य को प्रामाणिक नहीं मानता और केवल सायणभाष्य को प्रामाणिक मानता हो, उसकी संन्तुष्टि कैसे होगी कि वेदों में संन्यासाश्रम का विधान है?

समाधान– मैं भी प्रश्न करना चाहता हूँ कि जो लोग सायण को प्रामाणिक नहीं मानते और केवल दयानन्द को ही प्रामाणिक मानते हैं, उन्हें यह सन्तुष्टि कैसे होगी कि वेदों में संन्यासाश्रम का विधान नहीं है? भाष्यों पर आधृत न होने की बात करते हुए भी पुनः सायण भाष्य पर केन्द्रित होना अज्ञता का द्योतक है। अतः प्रश्न ही निरर्थक है।

आक्षेप– सायण ने अपने वेदादि भाष्यों में कहीं भी यति शब्द का अर्थ संन्यासी नहीं किया। अपितु **नियन्ता** (ऋ० ८.६.१८), **दाता** (ऋ० ७.१३.१), **अयष्टा जन** (ऋ० ८.३.९), **मेघ** (ऋ० १०.७२.७), **ऋत्विक्** (ऋ० ९.७१.७) आदि अर्थ किये हैं। इतना ही नहीं अनेकत्र तो उन्होंने एक जाति विशेष को यति माना है। जैसे– **यतीन्=एतत्संज्ञकान् यज्ञविरोधिजनान्** (तां०ब्रा० १३.४.१७)। अतः वेदादि में आगत यति शब्द का अर्थ

परमहंसास्त्वेकदण्डधरा मुण्डा अयज्ञोपवीतिनः त्यक्तसर्वकर्माण आत्मानिष्ठा इति। (भा०प्र०; वेदान्त० ३.४.१८)। अपि च द्रष्टव्यम्–वै०ध० १.९; अ०पु० १६१.१८; स्क०पु० वैष्णवखण्ड २३.२०। संन्यासः षड्विधो भवति....सं०उप० २.१३)।

१. वाल्मीकिरामायण के किसी भी संस्करण में लक्ष्मणरेखा का वर्णन नहीं है। अतः वह एक मिथ्या प्रचलन मात्र है।

संन्यासी नहीं है अर्थात् संन्यासाश्रम अवैदिक है।

समाधान– सायणादि भाष्यों के कारण ही लोगों की यह धारणा बन गयी थी कि वेद केवल यज्ञ के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, उनका यज्ञ से भिन्न अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। अत एव विदेशियों ने कहा था कि वेद गड़रियों के गीत हैं। पुनरपि आश्चर्य है कि भारतीय वेदविद्वान् वेद को छोड़कर सायण के शब्दों से संन्यासाश्रम को अवैदिक सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। उन सायण-भक्त वेदमनीषियों के लिए मैं यहाँ उसी सायण के शब्दों से यह सिद्ध करता हूँ कि संन्यासाश्रम वैदिक है और उसमें सायण की भी अभिमति है।

यति शब्द का अर्थ संन्यासी न करने मात्र से यह कैसे सिद्ध होता है कि सायण संन्यासाश्रम को नहीं मानते थे? उन्होंने कहीं भी इस आश्रम का निषेध किया हो वा इसे अवैदिक घोषित किया हो तो विद्वद्वृन्द बताने का कष्ट करें। उनके भाष्यों में तो संन्यासाश्रम का अस्तित्व स्पष्ट रूप से दीखता है। परन्तु लोगों को अन्धानुकरण को छोड़कर निष्पक्षभाव से विचार करना होगा, देखना होगा। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः।

पांच अपराधों के कारण देवताओं ने इन्द्र को यज्ञों में आना प्रतिषिद्ध कर सोमपान का वर्जन किया था (द्र० ऐ०ब्रा० ७.२८)। उन्हीं अपराधों में से एक अपराध है कि इन्द्र ने यतियों को मारकर, उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर, भेड़ियों, जंगली कुत्तों को खिला दिया था। यही प्रसंग बहुत्र आता है। उनमें से कुछ स्थल सायण भाष्य के साथ उपस्थित किये जा रहें हैं–

१. **इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्** (तै०सं० ६.२.७.५)।

२. **वेदविरुद्धनियमोपेतान् यतीन्** (तां०ब्रा० ८.१.४)।

३. **(यतीन्=) कर्मविरोधिजनान् सालावृकीपुत्रेभ्यः इन्द्रो दत्तवान्** (तां०ब्रा० १४.११.२८)।

४. **(यतीन्=) ज्योतिष्टोमाद्यकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमानान् ब्राह्मणान् सालावृकेभ्यः=अरण्यश्वभ्यः प्रायच्छत्** (तां०ब्रा० १८.१.९)।

५. **(यतीन्=) यतिवेषधरानसुराञ्शस्त्रेण छित्त्वा....** (ऐ०ब्रा० ७.२८)।

६. **परमहंस्यरूपं (पारमहंस्यरूपं) चतुर्थाश्रमं प्राप्तानां येषां यतीनां मुखे ब्रह्मात्मप्रतिपादको वेदान्तशब्दो नास्ति तान् यतीनिन्द्र आरण्येभ्यः श्वभ्यः प्रायच्छत् .... तथा च स्मर्यते ''नित्यकर्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विना। वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः'' इति।। ....वेदान्तश्रवणवाञ्छां विना नित्यकर्मपरित्यक्तवतां भवतामपीदृशीगतिरिति दर्शयितुं वेदिसमीपे[1] [सालावृकैः] भक्षणम्** (तै०सं० २.४.९.२)।

७. **केचन यतयः सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा कदाचिदपि स्वमुखे वेदान्तशब्दोच्चारणरहिताः काष्ठदण्डमात्रधारिणो विवेकज्ञानरहिता यत्र तत्रान्नं भक्षयन्तो नरकयोग्या वर्तन्ते । तथा चान्यत् श्रूयते ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी सः (संन्यासी) उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन संन्यासी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकानिति। सालावृका अरण्यश्वानः, तेषामपत्यभूता बालकाः श्वानः सालवृकेयास्तेभ्यस्तान् यतीन् इन्द्रो मारणार्थं प्रायच्छत्। ते च यतयो वेदान्तशब्दरहिता इत्येतदर्थमिन्द्रवाक्यरूपेण कौशीतकिनश्चामनन्ति । अत्युन्मुखान् यतीन् सालावृकेयेभ्यः प्रायच्छदिति । तथादत्तवन्तं तमिन्द्रं अश्लीला निन्दारूपा काचिद् वागभ्यवदत् । इन्द्रो ब्रह्महत्यां कृतवानित्येवं निन्दा लोके सर्वत्र प्रसूता। ततः स इन्द्रः स्वयमशुद्धोऽस्मीत्यमन्यत । सोऽशुद्धिपरिहारोपायं वेदेष्वपि स्थिते शुद्धाशुद्धीयनामके द्वे सामनी अपश्यत् । ताभ्यां सामभ्यां सर्वः शुद्धोभूतः** (तां०ब्रा० १९.४.७)।

---

१. इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्, तान् दक्षिणतः उत्तरवेद्या आदन् (तै०सं० ६.२.७.५)।

इन्द्र द्वारा यतियों का मारा जाना आदि एक आख्यान मात्र है। इसके अभिप्राय का स्पष्टीकरण सायण ने तै०तं०२.४.९.२ पर दिया है और ताण्ड्य ने तो इस आख्यान को शुद्धाशुद्धीय साम का प्रशंसात्मक माना है। उद्धृत वचनों से सायण का मत विस्पष्ट है कि जो कालाक्षर भैंस बराबर हो, निरक्षरभट्टाचार्य हो, भोजनभट्ट हो और पवित्र ब्रह्मसंस्थ ज्ञानवान् संन्यासियों का वेषधारण कर लोगों को ठगता हो, झूठा संन्यासी बनकर वैदिक कर्म-धर्मों को छोड़ दिया हो और आलसी बनकर यज्ञों को त्यागना ही नहीं, अपितु यज्ञों का विरोध भी करता हो, ऐसी आसुरीप्रवृत्तिवाला यति है। नहीं-नहीं वह तो यतिवेषधारी मात्र है। यथार्थ में संन्यासाश्रम के धर्मों का पूर्ण निष्ठा एवं श्रद्धा से पालन करने वाले, ज्ञानरूपी दण्डधारी, सच्चे संन्यासी विद्यमान होने पर ही उनके नकल करने वाले तथाकथित संन्यासियों (यतिवेषधारियों) का कथन सम्भव होगा, अन्यथा नहीं। जैसे कि रामायण के रावण प्रसंग पर लिख चुका हूँ। **'चतुर्थाश्रमं प्राप्तानां येषां यतीनां मुखे'** यहाँ क्या यति का अर्थ संन्यासी किया नहीं गया है? तां०ब्रा० १९.४.७ के उद्धरण में भी स्पष्टरूप से यति का अर्थ संन्यासी ही माना गया है। अब कोई विचार करें— सायण ने कहाँ लिखा है कि यति का मतलब इन्द्रविरोधी संगठन है वा कोई जाति विशेष है। सायण ने तो इन वचनों में मुक्तकण्ठ से सच्चे संन्यासाश्रम को स्वीकारा है और साथ में झूठे संन्यासियों को लताड़ा भी है। पुनरपि कोई सायण को संन्यासाश्रम का विरोधी बतावें और उनके भाष्य के आधार पर संन्यास आश्रम को अवैदिक कह दें तो उनके लिए ''**अन्धेन नीयमानो यथान्धः**'' के अतिरिक्त और कुछ कहने को शेष नहीं रहता।

पापकर्म बुद्धि को नष्ट करता है

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥

(महा० भा०, उद्योग० ३५. ६१,६२)

मनुष्य प्रशंसित व्रतों को धारण करता हुआ पापकर्म कभी न करे। क्योंकि वार-वार किया जाता हुआ पाप बुद्धि को नष्ट कर देता है। नष्टबुद्धि मनुष्य पुनः सदा पापकर्म में ही प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत पुनः पुनः किया जाता हुआ पुण्यकर्म बुद्धि को बढ़ाता है।

अविद्या का स्वरूप

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः।
संसारतरुसम्भूतिबीजमेतद् द्विधा स्थितम्॥ (वि०पु० ६.७.११)

संसार-वृक्ष की बीजभूता यह अविद्या दो प्रकार की है— ''अनात्मा में आत्मबुद्धि और जो अपना नहीं है,उसे अपना मानना''।

१.१३. वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की वैदिकता एवं प्राचीनता*

मानवजीवन एक यात्रा है। यह यात्रा है भवसागर से तरने की। यात्रा सदा ही अपने मूल निवास स्थान से प्रारम्भ होकर पुनः वहीं समाप्त होती है। इस प्रवास काल में व्यक्ति को अनेक प्रकार की असुविधाएँ और कष्ट सहन करने पड़ते हैं तथा पर्याप्त परिश्रम भी करना पड़ता है। पुनरपि यह यात्रा व प्रवास कुछ ही दिनों का है, प्रवास को समाप्त कर पुनः अपने घर पहुँचना ही है, ऐसा समझकर व्यक्ति प्रवास-काल के कष्टों को सहर्ष सह लेता है। यात्रा जितनी योजनाबद्ध होगी, उतनी ही सुख एवं शान्ति युक्त होगी। मानव-जीवन की यात्रा भी अनेक दुःखों, विघ्नों एवं कष्टों से युक्त है और इसकी परिपूर्णता के लिए आ = समन्तात् अर्थात् सर्वविध श्रम=परिश्रम, पुरुषार्थ की आवश्यकता है। बस इसी यात्रा विशेष की परिपूर्णता के लिए, सफलता के लिए योजनाबद्ध व्यवस्था ही आश्रमव्यवस्था है। मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा को पृथिवी-लोक से प्रारम्भ कर अन्तरिक्ष-लोक में पहुँचता है, अन्तरिक्ष-लोक से द्युलोक में पहुँचता है और वहाँ से स्वर्लोक में पहुँचकर वहाँ स्व-स्थान की नित्य एवं शाश्वत आनन्दानुभूति प्राप्त करता हुआ स्व-जीवन-यात्रा को समाप्त कर लेता है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (यजु० १७.६७)

अतः मानवों की यह यात्रा चार पड़ावों से युक्त है। वे पड़ाव हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। यही आश्रम-व्यवस्था वैदिक काल में लोक-व्यवस्था के नाम से व्यवहृत होती थी। जो कि मन्वादि के काल से आश्रम-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नाम मात्र ही अर्वाचीन है, न कि व्यवस्था। अब हम संक्षिप्त में यह दिखलाते हैं कि इस आश्रम-व्यवस्था (लोक-व्यवस्था) का उल्लेख वेद में अन्यत्र कहाँ-कहाँ है।

वेद कहता है— "**प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना**" (साम० ५१) व्यक्ति को ब्रह्मचर्य जीवन में दैवोदास अर्थात् देवों = माता, पिता, आचार्य और विद्वानों का दास, सेवक बनना चाहिए। जिससे वह अपने ब्रह्मचर्याश्रम में आयु, विद्या, यश और सर्वविध बल प्राप्त कर सके। आगे वेद भगवान् कहता है कि अग्निः = अग्रणी अर्थात् गृहस्थाश्रम में अपने शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दृष्टि से अग्रसर हो, अधिक से अधिक विकसित हो और साथ में लौकिक जीवन-यात्रा की आनन्दानुभूति प्राप्त करें। मन्त्र का आगे का कथन है— देवः= व्यक्ति को वानप्रस्थाश्रम में अपनी जीवन-यात्रा को एक क्रीडा समझें। क्रीडा में जैसे सभी कष्टों, चोटों को हँसते हुए सहन किये जाते हैं, वैसे ही अपनी जीवन-यात्रा के तृतीय पड़ाव में सभी कष्टों को क्रीडांग समझकर सहर्ष तपोमय जीवन बिताना चाहिए, साधना-स्वाध्याय करना चाहिए, जिससे दिव्यत्व प्राप्त हो। ऋचा का अन्तिम उपदेश है— **प्रमज्मना इन्द्रो न** = व्यक्ति को ब्रह्म में लीन होकर, ब्रह्माश्रमी, तुरीयाश्रमी बनकर इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् प्रभु के तुल्य आनन्दानुभूति, नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहिए।

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ॥ (साम० ७३)

*. यह लेख दयानन्दसन्देश (अक्तूबर २००३), वेदवाणी (नवम्बर २००७), तपोभूमि (अक्तूबर - नवम्बर २०१५) में प्रकाशित है।

(समिधा) तीनों लोकों की प्रतिनिधि रूप समिधाओं से ब्रह्मचारी (अग्निः) ज्ञानाग्नि के रूप में (अबोधि) उद्बुद्ध किया गया है। गृहस्थी को (प्रति-आयतीम्-उषासम्) प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में अर्थात् प्रतिदिन (जनानाम्) अपनी सन्तानादि बन्धु-मित्रों और अन्य तीन आश्रमियों का (धेनुमिव) धेनु की भांति निस्स्वार्थ भावना से एवं पूर्ण प्रीति-युक्त होकर पालन-पोषण करना चाहिए। इस कर्त्तव्य पालन के पश्चात् उसी गृहस्थ के मोह माया में नहीं रहना चाहिए, अपितु (यह्वाः इव) पक्षियों के समान (वयाम्) शाखा को, घर को (प्र उज्जिहानाः) त्याग कर वनस्थ होना चाहिए। उस वानप्रस्थाश्रम में तप से राक्षसी वृत्तियों का नाश कर[1], स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि को, विवेक को प्रदीप्त करके संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। उस उत्तमाश्रम में (भानवः) सूर्य के समान ज्ञान-ज्योतिष्मान् संन्यासी (नाकम् अच्छ प्र सस्रते) मोक्ष की ओर अग्रसर होते हैं और तत्तुल्य ही निरन्तर परिभ्रमण करते हुए लोक-कल्याण के लिए अज्ञानान्धकार का नाश करते हैं।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥ (अथर्व० ११.५.१६)

(आचार्यः ब्रह्मचारी) आचार्य ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्याश्रमी होता है। (प्रजापतिः ब्रह्मचारी) प्रजापालक आदर्श गृहस्थ भी ब्रह्मचर्य व्रतों का पालन करने वाला होता है। (प्रजापतिः विराजति) वह आदर्श गृहस्थ तेजस्वी वानप्रस्थ बनता है और वह (विराट्) तेजस्वी वानप्रस्थ (वशी इन्द्रः) इन्द्रियों को सम्पूर्ण रूप से स्वाधीन कर चुका हुआ अर्थात् पापभावनाओं को नितान्त समाप्त कर चुका हुआ यति=संन्यासी (अभवद्) होता है।

यहाँ चारों आश्रमों के उल्लेख के साथ-साथ यह भी उपदिष्ट है कि चारों आश्रमों में भोग-विलासों को त्यागकर आदर्श ब्रह्मचर्यव्रतों का पालन करना चाहिए, जिससे अपनी और समाज की उन्नति होती है।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः ......(यजु० १९.६७)॥

इस मन्त्र से 'देहलीदीप' के समान दो विषय प्रकाशित होते हैं। एक तो श्राद्ध (पितृयज्ञ) जीवितों का होता है, न कि मृतकों का। दूसरा वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की वैदिकता। इस मन्त्र में कहा गया है कि 'जो पितर यहाँ हैं और जो पितर यहाँ नहीं हैं, उनमें (अविद्यमान पितरों में) भी जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम नहीं जानते हैं। हे जातवेदः! आप उन सब को जानते हैं और वे भी आपको जानते हैं।' इस मन्त्र के आशय को समझने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि श्राद्ध किन पितरों का होता है? पिता, दादा और परदादा इन तीन पितरों का ही श्राद्ध करने का विधान सर्वत्र मिलता है। इन तीनों का ही विधान करने से एवं आगे के पितरों का विधान न होने से भी ज्ञात होता है कि श्राद्ध जीवितों का ही होता है, न कि मृतकों का। यतोहि एक व्यक्ति के जीवन काल (१००वर्ष की आयु) में प्रायः उक्त तीन पितर ही जीवित रह सकते हैं, अधिक नहीं। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः। उन तीन पितरों में पिता गृहस्थाश्रम में, दादा वानप्रस्थाश्रम में एवं परदादा संन्यासाश्रम में रहते हैं। अब मन्त्रार्थ को समझें— जो पितादि पितर यहाँ घर में (गृहाश्रम में) विद्यमान हैं और जो पितर (दादा एवं परदादा) यहाँ (घर पर) वर्तमान नहीं हैं अर्थात् वानप्रस्थी तथा संन्यासी बन गये हैं। उनमें भी जिन्हें=वानप्रस्थी (दादा) पितरों को हम जानते हैं, क्योंकि वे एक स्थिर स्थान पर रहते हुए साधना करते हैं और जिन्हें=संन्यासी (परदादा) पितरों को हम नहीं जानते हैं, क्योंकि वे परिव्राट् हैं। हे जातवेदः!---। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'जो पितर यहाँ हैं और जो यहाँ नहीं हैं, उनमें भी जिन्हें हम जानते हैं' ये बातें जीवित पितरों में ही घटेंगी, न कि मृतकों में। अतः आगे की बात 'जो यहाँ नहीं हैं,जिन्हें हम नहीं जानते'को मृतकों में घटाना परस्पर विरोध होगा, इसलिए इसका भी अर्थ जीवित

१. तपसा रक्षसो दहः(साम०१०६)।

पितर (संन्यासी) परक करना ही उचित है, जैसे कि ऊपर दिखाया गया है।[1]

"पञ्चजनाः" शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क लिखते हैं कि– **"गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः"** (निरु० ३.७)। यहाँ पञ्चजनाः से चार वर्णों एवं निर्वर्ण निषाद का ग्रहण किया है। ऐसा ही चार आश्रमों तथा निराश्रमी (आश्रम धर्म का पालन न करने वाले) का भी ग्रहण किया है। गां=वेदवाणीं धारयतीति गन्धर्वो ब्रह्मचारी– वेद ज्ञान को प्राप्त करने वाला ब्रह्मचारी ही गन्धर्व है। ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य ही वेदविद्या की प्राप्ति है। पितरः = वानप्रस्थी, वृद्ध ज्ञानी पुरुष। देवाः = भौतिक जगत् से विरक्त होकर दिव्य लोक में विचरण करने वाले संन्यासी। असुरः = असून् प्राणान् राति ददातीति असुरो गृहस्थी– प्राणदाता, जन्मदाता गृहस्थी ही असुर कहलाता है। रक्षः– रहसि परोक्षे क्षिणोति नाशयति तिरस्करोति आश्रमधर्मं यः स रक्षः अर्थात् जो प्रत्यक्षतः समाज की व्यवस्था के अनुसार किसी न किसी आश्रम में तो रहता है, पर परोक्षतः उन आश्रमधर्मों का पालन नहीं करता, उपेक्षा करता, नाश करता है, वह राक्षस कहलाता है। इस प्रकार 'पञ्चजनाः' के अन्तर्गत सभी वर्णों एवं आश्रमों को मानकर यास्क ने इन्हें वैदिक सिद्ध कर दिया है। क्योंकि ऋ० १०.५३.४ और ८.६३.७ में 'पञ्चजनाः' शब्द प्रयुक्त है। अतः उन दो मन्त्रों में चार वर्णों एवं आश्रमों का उल्लेख है। साथ में यह भी ज्ञापित होता है कि यास्क के समय तक वर्णाश्रमधर्मों का पालन होता रहा है।

प्राग्नये॑ विश्व॒शुचे॑ धिय॒न्धे॑ऽसु॒र॒घ्ने मन्म॑ धी॒तिं भ॑रध्वम्।
भरे॑ ह॒विर्न ब॒र्हिषि॑ प्रीणा॒नो वै॑श्वान॒राय॒ यत॑ये मती॒नाम्॥ (ऋ० ७.१३.१)

हे मनुष्यों (मतीनाम्) मनुष्यों के बीच (वैश्वानराय) सब मनुष्यों के नायक (विश्वशुचे) सब को शुद्ध करने वाले (धियन्धे) बुद्धि को धारण करने हारे (असुरघ्ने) दुष्ट कर्मकारियों को मारने व तिरस्कार करनेवाले (अग्नये) अग्नि के तुल्य विद्यादि शुभ गुणों से प्रकाशमान (यतये) यत्न करने वाले संन्यासी के लिए (मन्म) विज्ञान और (धीतिम्) धर्म की धारणा को तुम लोग (प्र भरध्वम्) धारण वा पोषण करो, जैसे (बर्हिषि) सभा में (प्रीणानः) प्रसन्न हुआ राजा (भरे) संग्राम में (हविः) भोगने वा देने योग्य अन्न को धारण करता है (अपि च द्रष्टव्य– ऋ० ७.१३.१-३, ७.१४.१-३ महर्षि दयानन्द भाष्य)।

इ॑न्द्रः ....ज॑घा॑न वृ॑त्रं॑ यति॑र्न॑ (साम० ९५४)

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (यतिः न) संन्यासी के समान[2] (वृत्रं जघान) उपासकों में विद्यमान अज्ञानान्धकार एवं पाप[3] वासनाओं को नष्ट करता है।

यहाँ स्पष्ट रूप से संन्यासी का एवं उसके कर्तव्य कर्मों का उल्लेख है कि वह स्वयं इन्द्रियों का दमन करने वाला यति बनें, लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणाओं का त्याग करना चाहिए और समाज में व्याप्त कदाचार, पाप भावनाओं तथा अज्ञानान्धकार रूपी बादलों को सूर्य की भांति छिन्न-भिन्न कर देने चाहिए अर्थात् संन्यासी को साधना से अपना आत्मोत्थान करते हुए निस्स्वार्थ भावना से लोकोपकार में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए।

---

१. मन्त्र का जैसा अर्थ किया गया है, उसके अनुसार यह मानना होगा कि एक व्यक्ति के बहुत से पिता, बहुत से दादा आदि होते हैं। क्योंकि मन्त्र में 'ये....पितरः' बहुवचन है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यतोहि यह प्रश्न मृत-पितर परक अर्थ करने पर भी उठेगा। अतः यह किसी एक पक्ष का दोष नहीं है। वस्तुतः उस बहुवचन का तात्पर्य केवल पिता, दादा आदि में ही नहीं है, अपितु माता आदि में भी है– पिता मात्रा (अष्टा० १.२.७०)। अथवा एकवचन वा द्विवचन में भी बहुवचन का प्रयोग प्रसिद्ध ही है। अथवा– छान्दसप्रयोग जानना चाहिए।

२. असुरघ्ने........यतये (ऋ० ७.१३.१)।

३. पाप्मा वै वृत्रः (शत०ब्रा० ११.१.५.७)।

य इन्द्रः यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः।
ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ (ऋ० ८.६.१८)

हे इन्द्र, परमात्मन् ! जो यति=संन्यासी हैं और जो भृगु=तेजस्वी, तपस्वी संन्यासी हैं, वे सब आपकी स्तुति करते हैं। हे ईश्वर ! मेरी भी स्तुति सुनो।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला (ऋ० १०.१३६.२)

मुनि=वनाश्रमी लोग वायुभक्षक होते हैं और पीतवर्ण के वस्त्र पहनते हैं।

इस मन्त्र में वानप्रस्थियों का उल्लेख ही नहीं, अपितु उनके रंगीन पीत वस्त्रों तक का उल्लेख है।

मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः(ऋ० १०.१३६.४)

मुनि=वानप्रस्थी लोग सभी देवों का मित्र और सत्कर्म करने वाले होते हैं।

अभी तक हमने इन दोनों आश्रमों की वैदिकता की पुष्टि में निदर्शनार्थ कुछ सार्थ मन्त्र उपस्थित किये हैं। ऐसे और भी अनेकों मन्त्र हैं, जिनसे इनकी वैदिकता सिद्ध होती है। उद्धृत मन्त्रों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जब ये मन्त्र मानव-समाज को प्राप्त हुए थे, तभी से इन आश्रमों का अस्तित्त्व था। इतना ही नहीं जब ऋषि लोग मन्त्रों का दर्शन कर रहे थे, उस समय तक इन दो आश्रमों का भी अच्छा प्रचलन हो गया था। क्योंकि कुछ मन्त्रों का द्रष्टा वैखानस ऋषि हैं।[१] वानप्रस्थियों को ही प्राचीन (वैदिक) काल में वैखानस कहते थे।[२] इन वैखानसों के नियम व व्रतों का उल्लेख जिस ग्रन्थ में हो, वह वैखानसशास्त्र कहलाता है।[३] और इनकी स्वस्थता की कामना से गाया गया साम भी 'वैखानससाम' कहलाता है।[४] वानप्रस्थियों को वैखानस इसलिए कहते हैं कि वे आकर्षणीय, सुन्दर हिरण्मयपात्र से ढके हुए परमात्मा का विशेषरूप से खनन, खोज, अन्वेषण करते हैं।[५]

उपरि वचनों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में इन दोनों आश्रमों का अस्तित्त्व ही नहीं, अपितु प्रचलन भी था। यही परम्परा आगे भी चलती रही है। इसके दिग्दर्शन के लिए कुछ निदर्शन मात्र यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

"वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां भोजनं ददौ" (रामा० आरण्य० १२.२७) एवं च सीता के अपहरण के लिए रावण एक (बहूदक) संन्यासी की वेश-भूषा में आया था (रामा० आरण्य०४६.२,३)। इससे स्पष्ट है कि

---

१. शतं वैखानसाः—ऋ० ९.६६, साम० ६२७,६५७-५९, १३१०-१२, १४६८-७०,१५१८-२०; वम्रो वैखानसः—ऋ० १०.९९; प्रजापतिर्वैखानसः—यजु० १९.३८; वैखानसः—यजु० ८.३८, ३५.१७। अथ ह वै वैखानसा इत्यृषिका इन्द्रस्य प्रिया आसुः (जै०ब्रा० ३.१९०)।

२. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः (गौ०ध० १.३.२)। बृहत्पराशर (अध्याय—११)में वानप्रस्थों के चार भेद गिनाये गये हैं— वैखानस, उदुम्बर, वालखिल्य एवं वनवासी। वानप्रस्थोऽपि चतुर्विधः वैखानसः औदुम्बरो वालखिल्यः फेनपश्चेति (भा०प्र०, वेदान्त० ३.४.१८)। शंकराचार्य ने भी इसे वैखानस ही माना है (वेदान्त० ३.४.२०)। वैखानस्= a Brahman in the third stage of his life, anchorite, hermit (Vanaprastha)—Monier Williams. कालिदास ने शाकुन्तल (१.२७) में कण्व ऋषि की पर्णकुटी में रहती हुई शकुन्तला के जीवन को 'वैखानस-व्रत' कहा है।

३. वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः(बौ०ध०सू० २.६.१६)।

४. वैखानसा वा ऋषय इन्द्रस्य प्रिया आसंस्तान् रहस्युर्देवमलिम्लुङ् मुनिमरणेऽमारयत्.....(इन्द्रः) तान् (मृतान् वैखानसानृषीन्) एतेन (वैखानसाख्येन) साम्ना समैरयत् (= पुनः प्राणैस्तान् समयोजयदिति सायणः) तद्वाव स तर्ह्यकामयत कामसनि साम वैखानसं काममेवैतेनावरुन्धे(तां०ब्रा० १४.४.७) ०तदिन्द्रो ह वै विखानाः, स यदिन्द्र एतत्सामापश्यत्तस्माद् वैखानसमित्याख्यायते (जै०ब्रा० ३.१९०)।

५. विखननाद् वैखानसः (निरु० ३.१७)। विविधं खननाद् वेदार्थवस्तूनां वैखानसः(स्कन्दमाहेश्वर; निरु० ३.१७)। विखनसं ब्रह्माणं वेत्ति तपसा इति वैखानसो वानप्रस्थः (शब्द-कल्पद्रुम); विशेषेण खन्यते यः स विखनस् ब्रह्म। ब्रह्म विशेष यत्नों से ही खोदा जाता है, ढूँढा जाता है, क्योंकि वह हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है।

रामायण के काल में वानप्रस्थाश्रम एवं यष्टि, कमण्डलु, काषायवस्त्रों के धारण के रूप संन्यासाश्रम की प्रसिद्धि थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में आगत याज्ञवल्क्य का प्रसंग प्रसिद्ध ही है कि ऋषि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि– "मैं इस गृहाश्रम को छोड़कर संन्यासाश्रम में जाने वाला हूँ" (**उद्यास्यन् प्रव्रजिष्यन्**– बृ०उ० २.४.१; ४.५.२)। अपि च "**एतमेव प्रव्रजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति** (बृ०उ० ४.४.२२)। राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरु को राजा बनाकर स्वयं वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण किया था (म०भा०आदि० ८६.१; अपि च द्र० आदिपर्व ८६.१२-१७; ७५,५८)। श्रीकृष्ण के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी स्त्री सत्यभामा आदियों ने वन में जाकर वानप्रस्थ जीवन बिताया था (म०भा० मौशलपर्व ७.७४)। वैसे ही पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त सत्यवती अपनी दो पुत्रवधुओं के साथ वन में जाकर तपोमय जीवन बिताती रही है अर्थात् वानप्रस्थदीक्षा ली थी। युद्ध के उपरान्त राजा धृतराष्ट्र भी अपनी स्त्री गान्धारी के साथ वनाश्रम में रहने लगे थे। "यथा– **ब्राह्मणाः परिव्राजका ब्रह्मचारिणश्च निर्गच्छन्तीति** ...."(मी०शा०भा० १२.४.१), **धर्मभेदात् संज्ञाव्यवस्था। यथा–ब्राह्मणः परिव्राट्, वानप्रस्थः**" (मी०शा०भा० ८.२.२४)। यहाँ स्पष्ट रूप से शबर स्वामी ने नामतः इन दोनों आश्रमों का उल्लेख किया है और परिव्राट् आदि संज्ञाविशेष धर्मभेद के कारण से हैं, ऐसा कहकर गृहाश्रमधर्म के पश्चात् अग्रिम आश्रमधर्मों को स्वीकार करने की परम्परा को भी द्योतित किया है।

"**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप**[१] **एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः----सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति**"(छां०उप० २.२३.१)। यहाँ क्रमशः गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य एवं संन्यास आश्रमों का वर्णन है। साथ ही आश्रमधर्मों का प्रयोजन अमृतत्व की प्राप्ति भी बतायी गयी है। वेदान्तसूत्रकार ने पूर्वपक्ष (३.४.१८) का निराकरण कर वानप्रस्थादि आश्रमान्तर अनुष्ठेय हैं, ऐसा लिखा है "**अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः**" (३.४.१९)।

शतपथब्राह्मण (१३.६.१.१;१३.६.२.२०) में कहा गया है– सब भूतों का अतिक्रमण करके सबसे ऊपर स्थित होने (मोक्ष) की कामना से किये जाने वाले पुरुषमेध याग[२] के अनन्तर उत्सृष्ट यष्टा पुरुष आत्मा में अग्नियों का समारोपण और सूर्य का उपस्थान कर अरण्य में चले जावें=संन्यास लेवें।[३]

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्य परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्।। (श्वे०उप० ६.२१)

अर्थात् तप के प्रभाव से और देवों के प्रसाद से विद्वान् श्वेताश्वतर ने अत्याश्रमी=श्रेष्ठाश्रमी संन्यासियों को ऋषिसंघ से सेवित परम पवित्र ब्रह्म का उपदेश भलीभांति किया है। यहाँ भी संन्यासियों का वर्णन है और उन्हें अत्याश्रमी, श्रेष्ठाश्रमी, उत्तमाश्रमी[४] कहा गया है। इस आश्रम को उत्तमाश्रम इसलिये कहा गया कि तीन आश्रमों की अपेक्षा इसी आश्रम में मोक्ष के लिये अधिक प्रयत्न करने का अवसर मिलता है। अत एव संन्यासी को 'यति' कहा जाता है।[५] इसीलिए इस आश्रम को मोक्षाश्रम,[६] योगाश्रम,[७] परमाश्रम,[८] अवधूताश्रम[९] ब्रह्माश्रम इत्यादि

१. यहाँ सर्वत्र 'तपः' शब्द से वानप्रस्थाश्रम अभिप्रेत है—"तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात्" (शांकर-भाष्यम्-वेदान्त० ३.४.२०)।

२. पुरुषमेध में यजुर्वेद के अध्याय ३०,३१ विनियुक्त हैं। ३१ वें अध्याय के विषय में उव्वट ने लिखा है— "पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः पुरुषो देवताऽनुष्टुपृछन्द अन्त्यः त्रिष्टुप् मोक्षे विनियोगः।"

३. तत्पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एव (महीधरः, यजु० ३०.२२)। द्र० का०श्रौ० २१.१.१,१२,१७।

४. अतिशयित आश्रम अत्याश्रमः, सोऽस्ति येषां ते अत्याश्रमिणः, तेभ्यः।

५. [मोक्षार्थ विशेषतः] यततेऽसौ यतिः, नियमधारी संन्यासी वा (महर्षि दयानन्द, उणादि० ४.११९)। यतये=यतमानाय संन्यासिने (दया०, ऋ० ७.१३.१)।

६. द्र० विष्णुपुराण ३.९.३२; तत्त्वमुक्ताकलापः, जीवसरः—३६ इत्यादि।

७. रघुवंश १.८।

८. पद्मपुराण १५.३५७ आदि।

९. महानिर्वाणतन्त्र ८.२२१।

नाम हैं।

अब आश्रमधर्मानुष्ठान का प्रयोजन बताता हूँ। क्योंकि "**प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**" अर्थात् किसी भी कर्म में प्रयोजन के बिना मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मुण्डकोप० ३.२.६, नारा०उप० १२.३, कैवल्योप०३)

जो वेदान्त विज्ञान से जीवन के लक्ष्य को निश्चितरूप से जान गये हैं, जो संसार में संन्यास (वैराग्य) और योग से यति हो गये हैं, जो शुद्धान्तःकरण वाले हैं, वे परान्तकाल में सभी बन्धनों से मुक्त होकर परम अमृत को प्राप्त करते हैं। यहाँ स्पष्ट है– परम तपोमयरूप सभी आश्रम धर्मों का यथावत् पालन करते हुए मुक्ति व परम-अमृत को प्राप्त करें। अतः आश्रमधर्मों का प्रयोजन मोक्ष है। यही प्रयोजन बौधायनधर्मसूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है–"**आत्मानमात्मनः आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मपूतो भवतीति विज्ञायते। पञ्च वा एतेऽग्नयः**[1] **आत्मस्थाः। आत्मन्येव जुहोति। स एष आत्मयज्ञ आत्मनिष्ठ आत्मश्रेष्ठः आत्मानं क्षेमं नयतीति विज्ञायते। एवंव्रतः ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापतिः**" (बौ०ध०सू० २.१०.१५,४७-४९,७१)। तथा च "**अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोहि भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति**"(जा०उप० ५)। महर्षि दयानन्द ने भी कहा है–"**गृहाश्रमाधीना एव सर्व आश्रमास्ते वेदोक्त-सद्व्यवहारेण सेविताः सन्तोऽभ्युदयनिःश्रेयससुखसम्पत्तये भवन्त्येव०**" (यजु० ८.३ का भाष्य)। यहाँ महर्षि ने विस्पष्ट शब्दों में चारों आश्रमों का प्रयोजन अभ्युदय-निःश्रेयस की प्राप्ति बतायी ही है, साथ में सभी आश्रमों को वेदोक्त अर्थात् वैदिक भी माना है। ऐसे ही स्वामी जी ने अनेकत्र लिखा है। अब यहाँ यह भी विचार करना अनावश्यक नहीं है कि ये आश्रम-धर्म मोक्ष के साक्षात् प्रयोजक (साधक) हैं व परम्परया? इसका समाधान तत्वमुक्ताकलापकार श्री वेदान्तदेशिक देते हैं–

स्वान्तध्वान्तप्रसूतं दुरितमपनुदन् योगिनः सत्वशुद्ध्यैः।
सर्वो वर्णादिधर्मः शमदममुखवत् सन्निपत्योपकारी॥ (जीवसरः ३३)

योगियों के शम, दम और वैराग्यादि के समान सभी वर्णाश्रमधर्म स्वान्तःकरण के तम वा अज्ञान से उत्पन्न दुरित=अशुद्धि का निवारक होने से अन्तःकरण के नैर्मल्य द्वारा मुक्ति के सन्निपत्योपकारक हैं अर्थात् मोक्ष के साक्षात् साधनभूत तत्त्वज्ञान[2] के निष्पादक हैं।[3] स्पष्ट है कि मनुष्यमात्र का परमलक्ष्यभूत मोक्ष का जनक तत्त्वज्ञान ही इन वर्णाश्रमधर्मों का प्रयोजन है। अतः ये धर्म सभी आत्मा के शुभेच्छुकों व मुमुक्षुओं के द्वारा अवश्य ही अनुष्ठेय हैं, अनुसरणीय हैं। इसीलिए श्री वेदान्तदेशिक ने जीवसर के श्लोक ३८ में इन वर्णाश्रमों को नित्यकर्म माना है। अर्थात् वे अवश्य ही कर्तव्य हैं, अन्य कोई विकल्प नहीं हैं। जैसे– सन्ध्या, अग्निहोत्रादि। अतः ये वर्णाश्रमधर्म सभी वेदभक्तों, आस्तिकों के द्वारा अनुष्ठेय हैं। इनके अननुष्ठान से, त्याग से जो हानियाँ व प्रत्यवाय होता है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं है, भुगता हुआ समाज सबके सामने प्रत्यक्ष है। पुनरपि भागवत के कुछ शब्द दोहराना चाहता हूँ।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः। स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥

---

१. पांच अग्नियाँ ये हैं– गार्हपत्य, अन्वाहार्य, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य।

२. तरति शोकमात्मवित् (छां०उप० ७.१.३), ब्रह्मविद् आप्नोति परम् (तै०उप० २.१.१)। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

३. फल वा अदृष्ट को साक्षात् निष्पन्न करने वाला साधन आरादुपकारक कहाता है और उस आरादुपकारक साधन के स्वरूप को सिद्ध करने वाले जो साधन हैं, उन्हें सन्निपत्योपकारक कहते हैं।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजः। अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः।
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्॥ अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥''

(भा०पु० ११.१७.५६-५८)

जो व्यक्ति पुत्र, वित्त और लोक के एषणाओं से युक्त है, जो घर, स्त्री, आदि में ममत्व रखने वाला है, वह मूढ इस संसार में बन्ध जाता है। अहो ! मेरे विना मेरे ये वृद्ध माता-पिता, पत्नी, पुत्र, पौत्रादि अनाथ, दीन और दुःखित हो जायेगें, ये लोग कैसे जियेगें मेरे विना। इस प्रकार उनका ध्यान करता हुआ, अतृप्त, गेहाशापाशाबद्ध वह मूढधी मरकर घोर अन्धकार में गिर जाता है। अस्तु, इस संसार को प्राचीन वैदिक संस्कृति की ओर कभी न कभी लौटना ही पड़ेगा। इसमें कोई संशय ही नहीं है।

(पृ० ७४ का शेष)

स्वाध्याय के लाभ (३)

अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः ....यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति। त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यम्, य एवं विद्वानहरह स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। (शत०ब्रा० ११.५.६.३)

स्वाध्याय भी ब्रह्मयज्ञ है।....धन से परिपूर्ण पृथिवी का दान देने पर जितने लोक जीते जा सकते हैं, स्वध्यायशील व्यक्ति उनसे तिगुने या उससे भी अधिक लोकों को जीत लेता है। साथ ही अक्षयलोक (ब्रह्मलोक) को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

अति ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते। गच्छति ब्रह्मणः सात्मताम्। (शत०ब्रा० ११.५.६.९)

स्वाध्यायरूपी ब्रह्मयज्ञ का निरन्तर अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है और [परान्तकाल तक] ईश्वर के समान मुक्त रहता है।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ (मनु० ४.१४८-१४९)

निरन्तर वेद का स्वाध्याय करने, अन्ततः एवं बाह्यतः शुद्ध रहने, तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से मनुष्य अपने पूर्वजन्म को जान लेता है। यह पूर्वजन्म को जान लेना ही पुनर्मृत्यु से मुक्ति को पाना है। पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ पुनः नित्य वेद का ही अभ्यास करता है। इस वेदाभ्यास से अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

१.१४. दिन को सुदिन (शुभदिन) कैसे बनायें* ?

प्रत्येक मनुष्य सदा ही शुभ एवं सुखद परिणामों को चाहता है। पर आज का मनुष्य शुभ परिणामों को प्राप्त करने हेतु करणीय कर्मों से सर्वथा अनभिज्ञ है। तत्परिणामतः वार, तिथि, मुहूर्त, नक्षत्र, ग्रह, राशि आदि में से कुछ को शुभ एवं कुछ को अशुभ मानता है और इन्हीं के कारण शुभ-अशुभ वा सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसी मान्यता रखता है। यह सब पौराणिक युग में लिखित फलित ज्योतिष के ग्रन्थों का दुष्प्रभाव है। जो कि सर्वथा कल्पित, निराधार, अविवेक पूर्ण है। ईश्वर ने यह सृष्टि जीव के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिए अर्थात् मनुष्य के कल्याण के लिए ही बनायी है (द्र०योग० २.१८)। तब तो इसकी प्रत्येक वस्तु मनुष्य के लिए हितकारी वा शुभ ही होगा। अब शुभ-अशुभ, हित-अहित आदि तो मनुष्य के विवेक और कर्मों पर निर्भर हो जाता है। यदि कोई ग्रह, वार, तिथि आदि में से कुछ को अशुभ मानता है तो वह दोष उन ग्रहादि का नहीं अपितु ईश्वर पर जाता है। क्योंकि उनका निर्माता ईश्वर है। फलित ज्योतिष (?) को मानने वाले लोग यह विचार कर नहीं पा रहें हैं कि उनकी वह आस्था ईश्वर की कर्म-व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती है। शराब, मांस के व्यापारी भी अपने-अपने दुकानों में अपने-अपने इष्ट देवी-देवताओं के चित्र लगाते हैं और प्रतिदिन उनकी पूजा भी करते हैं। साथ में प्रत्येक कार्य को शुभ-अशुभ का विचार कर व पण्डितों से पूछकर ही करते हैं। अपने घर व दुकान आदि को वास्तुविदों (?) के परामर्श से ही बनाते हैं, यहाँ तक कि अपने मांसादि व्यापार के प्रारम्भ के लिए भी शुभमुहूर्त (?) निकाल कर ही आरम्भ करते हैं। तो क्या उतने से ही उन व्यक्तियों का कल्याण होगा? क्या उन्हें शुभ वा सुखद परिणाम मिलेंगे? उन व्यापारों के मुहूर्त निकालने वाले पण्डित व ग्रन्थ मान्य वा प्रामाणिक कहने योग्य हैं? क्या यह सब ईश्वर पर अनास्था नहीं है? अज्ञान नहीं हैं? स्पष्ट है यह सब केवल अपने अज्ञान वा अविवेकता को कुछ काल तक छिपाकर सन्तुष्ट होने का गोरखधन्धा मात्र है। किसी कवि ने इसी मर्म को बड़े सरल और तात्त्विक शब्दों में कहा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति मानवाः॥

मनुष्य पुण्य कर्मों के फलों (सुखों) को तो बहुत चाहता है, पर पुण्यकर्म करने के लिए उत्सुक नहीं रहता। पापकर्मों के फलों (दुःखों) को तो कभी नहीं चाहता, पर पापकर्म करने के लिए सदा उद्यत रहता है। इस संसार में फैले हुए अज्ञान, पाखण्ड, पौराणिकता, फलित ज्योतिष आदि का मूल कारण यही है।

वेद और आर्षग्रन्थों का दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है। जो कि त्रैकालिक सत्य है। वेद का सिद्धान्त है कि शुभ-अशुभ, भाग्य आदि सभी मनुष्य के हाथ में हैं अर्थात् उसके कर्मों के आधीन हैं— **कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः** (अथर्व० ७.५०.८)। मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक दिन को शुभदिन व सुदिन कैसे बनायें, अपने जीवन को सुख-शान्तियों से परिपूर्ण कैसे बनावें? इसे वेदमन्त्रों के माध्यम से देखें और जानें—

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥ (ऋ० ३.८.५)

*. यह लेख दयानन्द सन्देश (जुलाई २०१४), स्वस्तिपन्था (जुलाई २०१४), वेदवाणी (अक्टूबर २०१४), तपोभूमि (अक्टूबर २०१४), सत्यार्थ सौरभ (अप्रैल २०१५) में प्रकाशित है।

(जातः)वेदज्ञान को प्राप्त किये हुए द्विज (अह्नां सुदिनत्वे जायते) अपने कुल, समाज, देश, धर्म आदि के सुदिनत्व अर्थात् समुन्नति के लिए समर्थ होता है और वह (अर्यः विदथे सम्+आ+वर्धमानः) अपने इन्द्रियों का स्वामी बनकर ज्ञानयज्ञ में, ज्ञान के प्रचार-प्रसार में भली-भांति अग्रसर होता रहता है, अथवा (सन्मर्ये विदथे आ+वर्धमानः) विद्वानों की ज्ञानगोष्ठियों में प्रशंसनीय होता है। तथा वह (विप्रः देवयाः वाचम् उदियर्ति) विद्वान् ईश्वर का यजन अर्थात् ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए वेदवाणी का उपदेश करता है। इस प्रकार वे (धीराः अपसः मनीषा पुनन्ति) मेधावी, पुरुषार्थी पुरुष अपनी बुद्धि, प्रतिभा से सब मनुष्यों को पवित्र करते हैं।

''उन्हीं का (दिन) सुदिन होता है जो विद्या और उत्तम शिक्षा का संग्रह कर विद्वान् होते हैं। जैसे शूरवीर पुरुष दुष्टों को जीत के धनादि ऐश्वर्य के साथ सब ओर से बढ़ते हैं, वैसे ही विद्या से विद्वान् (अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान, यश आदि के साथ सब ओर से) बढ़ते हैं''(महर्षि दयानन्द– ऋ० ३.८.५)।

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।। (ऋ० ३.२३.४)

प्रभु कहते हैं कि हे जीव! (त्वा पृथिव्याः वरे निदधे) तुझे इस पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ स्थान पर अर्थात् सर्वोत्तम शरीर में स्थापित किया हूँ। (इळायाः पदे निदधे) गरिमामय वेदज्ञान प्राप्त करने योग्य शरीर में प्रतिष्ठित किया हूँ तथा (अह्नां सुदिनत्वे निदधे) तुम्हारे जीवन के दिनों में माता, पिता, आचार्य, गुरु व विद्वानों की संगति वाले शुभदिन अर्थात् शुभ अवसर प्रदान किया हूँ। (अग्ने दृषद्वत्यां मानुषे आपयायां सरस्वत्यां रेवत् दिदीहि) हे प्रगतिशील जीव ! तू इस पत्थर के सदृश सुदृढ़ शरीर में रहते हुए प्रभु की प्राप्ति के लिए उपासना में एवं वेदज्ञान की दीप्ति में स्थिर रहकर, तू ऐश्वर्यवान् होकर प्रकाशित हो जाओ।

उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः।
यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वा३सु दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम्।। (ऋ० ४.३७.१)

हे (ऋभुक्षाः वाजाः देवाः) महद् मेधा सम्पन्न विद्वानों! आप लोग (नः अध्वरम् उपयात) हमारे यज्ञ में उपस्थित हों और (देवयानैः पथिभिः) अलौकिक आनन्द को प्राप्त कराने वाले दिव्यमार्ग के द्वारा हमारी जीवन यात्रा को प्रशस्त कीजिये।हे (रेण्वाः मनुषः) रमणीय मनीषियों! आप लोग (अह्नाम् सुदिनेषु) संवत्सर के सामान्य दिनों में आने वाले विशिष्ट पर्व दिनों में या उन पर्वीय यज्ञों में उपस्थित होकर (आसु विक्षु यथा यज्ञं दधिध्वे) इन प्रजाओं में यथार्थ यज्ञ को अर्थात् ईर्ष्या, द्वेषादि दोषों से रहित परस्पर दान, संगति, प्रीति आदि व्यवहारों को प्रचलित कराईए अर्थात् इन पवित्र कर्मों से ही दिन शुभदिन हो सकते हैं; अन्यथा नहीं।

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्।। (ऋ० २.२१.६)

(इन्द्र) हे प्रभो! आप (अस्मे) हमें (श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि) शुद्ध, पवित्र अन्नादि धन प्रदान कीजिए। (दक्षस्य चित्तिम्) कुशल व्यक्तियों का सामर्थ्य व ज्ञान हमें प्राप्त कराईए। (सुभगत्वम्) उत्तम ऐश्वर्य (रयीणां पोषम्) ऐश्वर्यों की वृद्धि (तनूनाम् अरिष्टिम्) शरीर की निरोगता और (वाचःस्वाद्मानम्) वाणी की मधुरता या जीभ के लिए शुद्ध, सात्विक एवं स्वादिष्ट भोजन प्रदान कर (अह्नां सुदिनत्वम्) हमारे जीवन के प्रत्येक दिन को शुभदिन बनाईए।

जीवन की चरितार्थता अर्थात् हमारे प्रत्येक दिन को शुभ, सार्थक बनाने के लिए धनाद्यैश्वर्यों की पवित्रता, सत्कार्यों में कुशलता और प्रीति, परोपकार, दान, यज्ञादि पवित्र कार्यों के अनुष्ठान के निमित्त ऐश्वर्य की वृद्धि, शरीर की स्वस्थता, मधुरवाणी अथवा शुद्ध-सात्विक भोजन होना अनिवार्य है। तभी हमारा दिन सुदिन होगा।

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन् यादुषासः।। (ऋ० ७.८८.४)

(वरुणः वसिष्ठं नावि ह आधात्) वरणीय आचार्य उनके आधीन वसने वाले ब्रह्मचारी शिष्य को भवसागर से पार उतारने वाली वेदज्ञान रूपी नौका में अवश्य स्थापित करें। वह स्वयं (स्वपाः महोभिः वसिष्ठं ऋषिं चकार) उत्तम कर्मशील, सदाचारी होकर बड़े-बड़े गुणों से उत्तम ब्रह्मचारी को मन्त्रार्थ के दर्शन करने में समर्थ विद्वान् बनावें। (विप्रः अह्नां सुदिनत्वे यात् द्यावा नु यात् उषासः नु स्तोतारं ततनन्) मेधावी आचार्य दिनों को शुभ, मङ्गलकारी बनाने के लिए आये दिनों एवं आयी रातों में भी अध्ययनशील शिष्य को और अधिक ज्ञानवान् बनावें अर्थात् ज्ञानार्जन से ही मनुष्य के दिन उज्वल हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

इमां मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रति हर्या घृताचीम्।
वर्ष्मन् पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या।। (ऋ० १०.७०.१)

ईश्वर उपदेश दे रहे हैं कि (अग्ने! मे इमां समिधं जुषस्व) हे प्रगतिशील जीव! तू मेरी इस वेदज्ञान के रूप में दी गयी ज्ञानदीप्ति को प्रीति एवं श्रद्धा पूर्वक ग्रहण कर। (इडस्पदे घृताचीम् प्रतिहर्य) वेदज्ञान की प्राप्ति के निमित्त तू अपने अन्तःकरण में व्याप्त मोहादि अज्ञानों को नष्ट कर। (सुक्रतो! पृथिव्याः वर्ष्मन् अह्नां सुदिनत्वे देवयज्या ऊर्ध्वो भव) हे उत्तम प्रज्ञा वा उत्तम कर्मवाले जीव! तू इस धरातल पर अपने जीवन के दिनों को सुदिन व दिव्य बनाने के लिए देवयज्ञ, व्रत-तप पुरुषार्थ आदि के द्वारा जागृत हो जाओ, अज्ञान में व सोने में ही मत रहना। सोने वाले व अज्ञानियों के दिन कभी सुदिन नहीं हो सकते।

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः।। (ऋ० १०.३९.१२)

हे(अश्विना) सुशिक्षित जितेन्द्रिय स्त्रीपुरुषों! (वाम् यं रथम् ऋभवः चक्रुः) तुम दोनों के जिस दिव्य रथ को ऋभुलोग [ऋभु तीन हैं—१.ऋभु अर्थात् सत्यज्ञान से परिपूर्ण व्यक्ति २.विभ्वन्=व्यापक हृदयवान् व विशाल मन-मस्तिष्क वाला व्यक्ति, ३.वाज= जिसका शरीर सम्पूर्णरूप से शक्तिशाली हो, इन तीन गुणों से युक्त विद्वान् लोग] उपदेश करते हैं (तेन मनसः जवीयसा आयातम्) मन के बल से चलायमान उस रथ से मोक्षप्राप्ति के निमित्त आ जाओ, सन्नद्ध हो जाओ (यस्य योगे दिवः दुहिता जायते) जिससे सम्बन्ध होने पर इसमें तत्त्वज्ञान का पूरण करने वाली वेदवाणी आविर्भूत हो जाती है। तब (विवस्वतः उभे अहनी सुदिने) सूर्य के कारण उत्पन्न दोनों रात-दिन अर्थात् प्रत्येक दिन तुम्हारे लिए शुभ दिन ही होते हैं, सुख, शान्ति और आनन्द को लाने वाले होते हैं।

त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन् मानुषासः।
यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति।। (ऋ० ७.११.२)

हे(अग्ने) ईश्वर! (हविष्मन्तः मानुषासः दूत्याय सदम् इत् अजिरं त्वाम् ईडते) सतत यज्ञ करने वाला मननशील मनुष्य दूत कर्म के लिए अर्थात् ज्ञान का सन्देश प्राप्त करने के लिए सदा ही पवित्र एवं उन्नति कराने वाले तुम्हारी उपसना करते हैं। (यस्य बर्हिः देवैः आसदः) जिसके आसन पर अर्थात् निर्मल अन्तःकरण में आप देवों के साथ विराजमान होते हैं (अस्मै अहानि सुदिना भवन्ति) ऐसे व्यक्ति के लिए सभी दिन शुभ (आह्लादक) दिन ही होते हैं।

स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत्।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो वि दुरो अभि द्यौत्।। (ऋ० ४.४.६)

(यविष्ठ) हमारी बुराइयों को दूर कर अच्छाईयों को मिलानेवाले हे प्रभो! (य ईवते ब्रह्मणे गातुम् ऐरत्) जो जगत् को संचालन करने वाली शक्ति के स्वामी महान् परमेश्वर को प्राप्त करने के मार्ग को उपदेश करता

है (स ते सुमतिं जानाति) वह तेरी उत्तम ज्ञान को जानता है। (अस्मै विश्वानि सुदिनानि) ऐसे विद्वान् के लिए उसके सभी दिन शुभ दिन ही होते हैं और उसको (रायः द्युम्नानि) सर्वविध ऐश्वर्य एवं यश वा ज्ञान की प्रतिभा प्राप्त होती है। (अर्यः दुरः वि अभिद्यौत्) इन्द्रियों का स्वामी होता हुआ सब इन्द्रिय द्वारों को विशिष्टरूप से प्रदीप्त करने वाला होता है।

सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानुर्यस्त्वा नित्येन हविषा य उक्थैः।
पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः।।(ऋ० ४.४.७)

हे(अग्ने) परमेश्वर! (यः नित्येन हविषा य उक्थैः त्वा स्वे आयुषि दुरोणे पिप्रीषति) जो प्रतिनित्य यज्ञ की हवियों के द्वारा और स्तुतियों के द्वारा आपको अपने जीवन में एवं शरीररूप घर में प्रसन्न करने का यत्न करता है (स इत् सुभगः सुदानुः अस्तु) वही बड़े सौभाग्यशाली तथा उत्तम दानशील हो। (अस्मै विश्वा इत् सुदिना) उसके ही सब दिन सुखकारक एवं शुभदिन होते हैं। (सा इष्टिः असद्) उसके ही यज्ञ सफल होते हैं।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।। (ऋ० ५.६०.५)

(एते अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः भ्रातरः सौभगाय सं वावृधुः) ये मनुष्य परस्पर छोटे-बड़े, उच्च-नीच आदि भेदों से रहित होकर भाइयों के समान एक-दूसरे का भरण पोषण करते हुए सौभाग्य अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए मिलकर आगे बढ़ें, उन्नति को प्राप्त करें। इस के लिए प्रत्येक व्यक्ति (पिता) आवश्यक कर्तव्यों का पालन करने वाला (युवा) स्वस्थ एवं बलशाली (स्वपा) (सु+अपाः) उत्तम कर्मों को करता हुआ अपने परिजनों की रक्षा करता हुआ (रुद्रः) बाह्य एवं आन्तरिक सभी विघ्नों एवं आसुरीभावों को नष्ट करने वाला (मरुद्भ्यः) इन वायु के समान बलवान् एवं पुरुषार्थियों के लिए (पृश्निः सुदुघा) सूर्य, आकाश, पृथिवी और पुष्टिकारक दूधादि पदार्थों को देने वाली गौवें होवें (एषां सुदिना) ऐसे व्यक्तियों के अर्थात् कर्तव्य निष्ठ व्यक्तियों के ही दिन सुदिन होते हैं।

अभी तक हमने वेदमन्त्रों के माध्यम से जाना कि **वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक स्तर पर मानसिक एवं आत्मिक सुख-शान्ति को प्राप्त करने की साधना में ही शुभत्व निहित है।** शुभकर्मों के विना शुभ परिणामों अर्थात् सुखों को चाहने वालों को उद्दिष्ट कर उपनिषत्कार कहते हैं कि–

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।। (श्वे०उप०६.२०)

सत्कर्मों को न करने वाले, मोक्षमार्ग पर न चलने वाले को सुख वा शुभ प्राप्त होना वैसा ही असम्भव है, जैसे कि आकाश को चर्म, चटाई आदि के समान गोल-गोल लपेटना असम्भव है।

१.१५. वेदकालीन पर्वपद्धति*

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।। (वि०पु० २.३.२४)

विद्वान् लोग भारत की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इस भारतभूभाग में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं, क्योंकि यह देश लौकिक और पारलौकिक अर्थात् मोक्ष के सुख व आनन्द को प्राप्त कराने वाला है। अतः इस दिव्यता के कारण भाग्यशाली पुरुष पुनः पुनः इसी देश में जन्म लेना चाहते हैं।

महर्षि दयानन्द भी कहते हैं कि **"यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है"**। (सत्यार्थ० ११समु०)

भारतदेश की इस गरिमा का कारण है वेद और वैदिक परम्परा। परमात्मा ने भोग और अपवर्ग के उद्देश्य से ही इस सृष्टि की रचना की थी (द्र० योग० २.१८)। इस उद्देश्य की पूर्ति वेदज्ञान से होती है। वेद और वैदिक वाङ्मय में भोग और मोक्ष का समन्वयात्मक मार्ग प्रदर्शित है। जिसका अनुकरण इस देश में सृष्टि के आदिकाल से किया जाता रहा है और अब भी किया जाता है। उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए मानव जीवन की पद्धतियाँ, नियम, आचार, व्यवहार, कर्तव्य आदि का निर्धारण किया गया था। वही निर्धारण धर्म एवं संस्कृति के अन्तर्गत आता है। जो कि विश्व के सभी मानवों के लिए सदा ही समान रहता है। कहा भी गया है कि **"सा प्र॑थ॒मा संस्कृ॑तिर्वि॒श्ववा॑रा"**(यजु० ७.१४)। वह वैदिक संस्कृति मानवमात्र के लिए प्राथमिकतया वरणीय है, अनुकरणीय है। क्योंकि वह मानवसमाज के उद्देश्य व लक्ष्य से सम्बद्ध है। अत एव इस संस्कृति से संस्कृत मानवसमाज के सभी क्रियाकलाप वेद एवं वैदिक परम्परा से ओत-प्रोत रहते हैं। यहां तक कि नित्य एवं नैमित्तक कर्म जैसे- जागना, सोना, खाना, स्नान करना, संध्या-यज्ञ करना आदि भी वेदमन्त्रों के साथ ही किये जाते हैं। इस देश में कोई भी क्रिया हो, चाहे वह सामान्य या विशेष वेदमन्त्रों के विना, ईश्वर के स्मरण के विना नहीं की जाती। अर्थात् प्रत्येक भारतीय की जीवनपद्धति, चाहे वह व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो या सामाजिक हो, मनुष्य के लक्ष्य के साथ सदा सम्बद्ध रहती है। यही वैदिक संस्कृति व परम्परा की विशेषता है।

भारतीय मानव समाज की सामान्य जीवनशैली भी वैदिक संस्कृति से अनुस्यूत रहती ही है, साथ में कभी-कभी विशेष सन्दर्भों व विशिष्ट दिनों पर कुछ विशेष आयोजन भी किये जाते हैं, हर्षोल्लास मनाया जाता है जिसे 'पर्व' कहते हैं। इस पर्व के विषय में हमें सर्वांगीणतया जानना होगा कि यथार्थ में पर्व किसे कहते हैं? पर्व का स्वरूप क्या है? उसे कैसे मनाना चाहिए? उसका उद्देश्य क्या है? उससे मानव को व्यक्तिगतरूप से एवं सामाजिकरूप से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? क्या इसे मनाना अनिवार्य है? इत्यादि। इन विषयों को जानने से पूर्व हमें पर्व शब्द का अर्थ जानना अनिवार्य है। क्योंकि यह एक संस्कृत शब्द है। संस्कृत भाषा की विशेषता यही है कि उसके प्रत्येक शब्द में गूढ़ आशय व भाव छिपे रहते हैं। जो कि उस शब्द के विश्लेषण से ही ज्ञात होते हैं। सामान्यतया कोशकारों के अनुसार पर्व-शब्द के ये अर्थ हैं— १. तिथिविशेष (यथा- अमावास्या, पूर्णिमा, प्रतिपद्, चतुर्दशी, अष्टमी आदि), २. सन्धिकाल (यथा- सन्ध्याकाल, अमावास्या-पूर्णिमाओं की सन्धि अर्थात् प्रतिपद् , उत्तरायाणसन्धि-संक्रान्ति आदि), ३. तिथिविशेषों एवं सन्धिकालों में किये जाने वाले यज्ञ, ४. सन्धि,

*. यह लेख आर्य-संसार (जून २०१४), वेदवाणी (जुलाई - अगस्त २०१४), तपोभूमि (जुलाई-सितम्बर २०१४), दयानन्द स्मृति प्रकाश (मई - जून २०१५), वैदिक पथ (जनवरी २०१६) में प्रकाशित है।

गांठ, जोड़ (यथा-बांस के गांठ, हड्डियों की सन्धि, पहाड़ों का जोड़– **पर्वाणि सन्ति यस्य सः पर्वतः**[1]– पहाड़ों की शृंखला), ५. ग्रन्थभाग (यथा– आदिपर्व, सभापर्व आदि), ६. अवयव, अंग, ७.अंश, भाग, खण्ड, ८. जीने की सीढ़ी, ९.उत्सव, त्यौहार, हर्ष का अवसर, १०. विषुवत् (वर्षारम्भ), ११. लक्षणभेद और १२. प्रस्ताव।

वेद, ब्राह्मणग्रन्थ आदि वैदिक वाङ्मय में तो 'पर्व' शब्द तिथिविशेष, सन्धिकाल[2] एवं उनमें किये जाने वाले यज्ञों तथा हड्डियों के जोड़ों[3] के अर्थों में अधिकतया प्रयुक्त हुआ है। वेद के सभी शब्द यौगिक होते हैं, न कि रूढ वा योगरूढ, ऐसा प्राचीन आचार्यों का निर्णीत सिद्धान्त है। अतः पर्वशब्द के यौगिक अर्थ को भी देखना होगा, जो कि निम्न प्रकार है–

''**१.पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा, २.अर्धमासपर्व –देवानस्मिन् प्रीणन्तीति, ३.तत्प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात्**'' (निरु० १.२०)

महर्षि यास्क ने यहाँ पर्वशब्द के तीन प्रकार के निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। उनमें प्रथम प्रकार के निर्वचन से ज्ञात होता है कि पर्वशब्द 'पॄ पालनपूरणयोः' (क्र्यादि०१८),'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' (क्र्या०२) धातुओं से बनता है। महर्षि दयानन्द ने ''**पिपर्तीति पर्व,ग्रन्थिर्वा**''(उणा०४.११४) के रूप में निर्वचन प्रस्तुत कर 'पॄ पालनपूरणयोः'(जुहोत्यादि०४) धातु से पर्व शब्द को निष्पन्न किया है। इन धातुओं से निष्पन्न पर्व शब्द का अर्थ होगा कि '**जिससे वा जिसमें कर्तव्य कर्मों का पालन किया जाता है अथवा किसी का पालन-पोषण किया जाता है और अपने में शुभगुण आदि की न्यूनताओं को पूर्ण किया जाता है अर्थात् अधिकाधिक शुभगुणादि का धारण किया जाता है, उसे पर्व कहते हैं तथा जिससे व जिसमें सभी व्यक्ति परस्पर एक दूसरे को संतृप्त करते हैं, संतुष्ट करते हैं और एक दूसरे से मिलने की कामना करते हैं, एक दूसरे की शुभकामनाओं को चाहते हैं, उसे पर्व कहते हैं।**' जैसे कि वेद में वर्णन मिलता है कि– ''**पर्वाणि सख्याय विव्ये**''(ऋ०४.२२.२) पर्व परस्पर की मित्रता के लिये एवं ईश्वर के साथ सख्यभाव के लिये मनाये जाते हैं।

निघण्टु (३.२०) में 'पृणाति' (पॄ) धातु दानार्थों में पठित है।[4] इस धातु की व्याख्या करते हुए आचार्य स्कन्दस्वामी कहते हैं कि ''**दीयते हि तत्र पितृदेवमनुष्येभ्यः**'' (निरु० १.२०) अर्थात् **जिस अवसर पर माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी आदि जीवित पितरों को प्रीतिकर भोजन, वस्त्र, औषधि आदि आवश्यक वस्तुओं को प्रदान कर सेवा से उन्हें प्रसन्न किया जाता है और विद्वान् आदि देवों को भोजन, वस्त्रादि के साथ दान-दक्षिणा से सत्कार किया जाता है तथा अपने सेवक, नौकर, बन्धु, मित्र आदि को भी यथायोग्य दान दिया जाता है, उसे पर्व कहते हैं।**

अब यास्क के द्वितीय प्रकार के निर्वचन पर विचार करते हैं। ''**अर्धमासपर्व**''– मास के अर्धभाग अर्थात् अमावास्या एवं पूर्णिमा को 'पर्व' कहते हैं। क्योंकि ये दोनों मास के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की सन्धियाँ हैं। इन सन्धिकालों में वातावरण में परिवर्तन हो रहा होता है। जिसका प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं अपितु पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियों पर एवं वृक्ष, वनस्पति, ओषधि, नदी, समुद्र, आदि पर भी पड़ता है। इन अवसरों पर सामान्य दैनिक अग्निहोत्रों से भिन्न कुछ विशिष्ट यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है। जिसे अमावास्या पर किये

१. पर्ववान् पर्वतः (निरु०१,२०)।

२. तस्य (संवत्सरस्य) एतानि पर्वाणि - अहोरात्रयोः सन्धी, पौर्णमासी अमावास्या च, (वसन्तादीनि) ऋतुमुखानि (शत० ब्रा० १.६.३.३५., तु० बृ०उप०१.१.१)। अर्धमासाः पर्वाणि (तै०सं० ७.५.२५.१, अपि च द्र० ऋ०१.९४.४, यजु०२४.४३, का० श्रौ०२३.६.४, शां० श्रौ० ३.२.१, मनु० ६.९ आदि)।

३. गात्राणि पर्वशः अङ्गानि सन्धितः (दया०, यजु०२३.४२)।

४. पृणातेः पर्वशब्दः, पृणातिश्च दाने प्रसिद्धः (मी०शा०भा० ९.२.५३)।

जाने वाले यज्ञ को 'दर्शेष्टि' तथा पूर्णिमा पर किये जाने वाले यज्ञ को 'पूर्णमासेष्टि' कहते हैं। साहचर्यनियम से इन यज्ञों को भी 'पर्व' कहा जाता है। नियम यह है कि **''तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्यम्''** (द्र० म०भा० ४.१.४८, न्याय० २.२.६१)। जैसे **''यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते''** – किसी ने किसी से कहा कि 'लाठी को भोजन कराओ' तो यहाँ 'यष्टिका' शब्द से लाठी अर्थ न लेकर सदा लाठी के साथ रहने वाले ब्राह्मण का ग्रहण कर उसको खिलाया जाता है। वैसे ही प्रकृत प्रसंग में अमावास्या एवं पूर्णिमा पर्वों पर अवश्यरूप से किये जाने वाले यज्ञों (इष्टियों) को भी 'पर्व' कहा जाता है। चातुर्मास्य यज्ञों (वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय इष्टियों) के लिए भी पर्व शब्द का प्रयोग हुआ है (द्र० का०श्रौ० ५.२.१३,२२.७.१; शा०श्रौ० १४.५.६; आ०श्रौ० ९.२.२आदि)। इनका नाम 'पर्व' इसलिए भी है कि इन पर्व यज्ञों में हवियों के द्वारा देवों को तृप्त किया जाता है– **''देवान् अस्मिन् प्रीणन्तीति [पर्व]**(निरुक्त)।'' तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है कि **''अ॒र्धमा॒से दे॒वा इ॒ज्यन्ते''** (तै०सं० २.५.६.६) – मास के अर्धभागों (अमावास्या एवं पूर्णिमा के पर्वों) पर देवताओं को तृप्त करने के लिए यज्ञ किये जाते हैं।[1] देवताओं की तृप्ति यज्ञ की आहुतियों (हवियों) द्वारा ही होती है– **''आ॑हु॒तिभि॑रे॒व॑ दे॒वा॑न् हु॒ता॑द॑: प्रीणा॒ति''** (मै०सं० १.४.६.)। यहाँ 'देव' का तात्पर्य वायु, अग्नि, सूर्य, जल, पृथिवी, आकाशादि हैं।[2] यज्ञों के द्वारा इन भौतिक देवों का प्रदूषण व दोष नष्ट होकर शुद्ध बन जाते हैं। यही इन देवों की सन्तुष्टि है। ईर्ष्या, द्वेषादि मानसिक दोषों से रहित होने पर ही मनुष्य सन्तुष्ट रह सकता है और दूसरों को सन्तुष्ट कर सकता है। वैसे ही इन देवों की सन्तुष्टि (निर्मलता) से सकाल में यथोचित वर्षा होकर सभी प्राणियों को महान् लाभ पहुँचता है। कहा भी गया है कि **''इतः प्रदानाद्धि देवा जीवन्त्यमुतः प्रदानात् मनुष्याः। नेत ऊर्ध्वा आहुतयोऽगच्छन्, नामुतोऽर्वाची वृष्टिः प्रादीयत''**[3] (जै०ब्रा० ३.२१६) अर्थात् इस पृथिवीलोक से यज्ञों के माध्यम से हवियों को अन्तरिक्ष लोक में पहुँचाने से देव जीवित रहते हैं, निर्मल होते हैं और अन्तरिक्ष लोक से देवों के द्वारा वर्षा कराने से मनुष्य आदि प्राणी जीवित रहते हैं। यदि यज्ञों का अनुष्ठान नहीं हुआ तो वृष्टि भी नहीं होगी। यही है देवों के संन्तोष का प्रयोजन। एक ओर देवों की सन्तुष्टि है, तो दूसरी ओर मनुष्य आदि की संतृप्ति।[4] **यही है प्राचीन पर्व का स्वरूप, यथार्थ पर्व** (=देवों का तर्पण और उनसे मनुष्यों के द्वारा वृष्टि की कामना करना– **प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च**)। यह वैदिक पर्वपद्धति कितनी अद्भुत है, आनन्ददायक है, आह्लादकर है? यह सुधी पाठक विचार करें।

इन यज्ञों के द्वारा (वैदिक पर्वपद्धति से) भौतिक देव और मनुष्यादि सभी प्राणी भी सन्तुष्ट हुए। इतना ही नहीं इन यज्ञों में अन्य प्रकार के अर्थात् चेतन देव भी प्रसन्न हो जाते हैं, वे हैं मनुष्य देव। जैसे कि वर्णन है– **''आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणान् शुश्रुवुषोऽनूचानान्''** (शत० २.२.२.६) याज्ञिक लोग आहुतियों के द्वारा भौतिक देवों को प्रसन्न करते हैं तथा दक्षिणादि के द्वारा साङ्गोपाङ्ग

१. दे॒वेभ्यो॑ऽर्धमा॒से व॑षट्कुर्वन्ति (अथर्व० ८.१०.३.६)।

२. अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॒र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ (यजु० १४.२०)।

३. इतः प्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निवृष्टिं वनुते, स एतैः स्तोकैरेतान् स्तोकान् वनुते, त एते स्तोका वर्षन्ति (मा०शत० ब्रा० ३.८.२.२२)।

४. यत् प्रा॒णा ऋ॒तावाग॑तेऽभि॒क्रन्द॒त्योष॑धीः।
सर्वं॑ त॒दा प्र मो॑दते॒ यत्किं च॒ भूम्या॒मधि॑ ॥
य॒दा प्रा॒णो अ॒भ्यव॑र्षीद् व॒र्षेण॑ पृथि॒वीं म॒हीम्।
प॒शव॒स्तत् प्र मो॑दन्ते॒ महो॒ वै नो॑ भविष्यति॥ (अथर्व० ११.४.४-५)

वेदों का अध्ययन किये हुए तत्त्वज्ञानी मनुष्यदेवों को भी प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार के पर्वयज्ञों से जड़ जगत् में एवं चेतन जगत् में सर्वत्र पर्व ही पर्व (आनन्द ही आनन्द) मनाया जाता है। इस प्रकार जो पर्व को मनाता है अर्थात् चेतनाचेतन जगत् में सर्वत्र प्रसन्नता, प्रीति, संतृप्ति को फैलाता है वह याज्ञिक स्वयं भी अवश्य देव बन जाता है, दिव्यता को प्राप्त कर लेता है, एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करने वाला हो जाता है— **"यः[एवं] पृणाति स ह देवेषु गच्छति"**[१] (ऋ० १.१२५.५)। अत एव महर्षि मनु ने इन पर्वयज्ञों को अवश्यरूप से करने का आदेश दिया है—

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन् पर्व पौर्णमासं च योगतः॥ (मनु० ६.९)

पूर्वोक्त विधि के अनुसार दैनिक यज्ञ, पञ्चमहायज्ञों को और अमावास्या, पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जाने वाले विशिष्ट पर्वयज्ञों को न छोड़ते हुए सभी यज्ञों को निष्ठापूर्वक किया करें।

दिन के पर्वों (प्रातः,सायम् की सन्धियों पर), मास के पर्वों एवं ऋतुओं के पर्वों पर अवश्य ही यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए, यज्ञमय जीवन व्यतीत करते हुए दिव्यता को प्राप्त करने हेतु इन यज्ञों में कुछ विशिष्ट नियम भी निर्धारित किये गये हैं, जिन्हें व्रत कहा जाता है। जैसे मौन रहना या नियमित बोलना, स्वाध्याय करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, ओंकार का जप और उपवास करना या नियमित भोजन ही करना (पयोव्रत, दधिव्रत, आमिक्षाव्रत, यवागूव्रत आदि), भोगविलासादि की ओर आकर्षित न होकर भूमि पर सोना, शृंगार आदि न करना इत्यादि अनेक व्रतों का विधान किया गया है। जो कि उन पार्वणिक यज्ञों में अनिवार्य है—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतस्सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ (मनु० ३.४५)

...जब ऋतुदान देना हो (स्त्री-पुरुषों के समागम का समय आवे), तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी (आदि पर्व) आवे, उसको छोड़ देवें। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें (दया०, संस्कारविधि, गर्भाधान०)।

इस प्रकार के निषेधों का तात्पर्य पर्वदिनों में यज्ञों का ही अनुष्ठान होना चाहिए, अन्य भौतिक सुखादि की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इतना ही नहीं धर्मशास्त्रों में इन पर्वदिनों को वेदादि शास्त्रों को पढ़ने वा पढ़ाने वालों के लिए अनध्ययन घोषित किया गया। इसका भी अभिप्राय यही है कि वेदादि को पढ़ने-पढ़ाने वाले भी इन पर्वदिनों में यज्ञादि को त्यागकर प्रतिदिन के समान अपने कार्यों में ही संलग्न न रहें, अपितु पार्वण यज्ञों को अवश्य करें। इसप्रकार की अनिवार्यता में गुरु-शिष्यों को पठन-पाठन बन्द कर अनुष्ठान की तैयारियों एवं अनुष्ठान में ही संलग्न रहना पड़ता था। अनध्ययन का तात्पर्य अवकाश, छुट्टी अर्थात् सभी कार्यों से मुक्त होकर आराम करना नहीं है। यह तो अनार्यों, आलसियों का लक्षण है। प्राचीन काल में अनध्ययन सोद्देश्य था। पर आजकल तो रविवार को अवकाश दिन घोषित कर आराम का दिन बना दिया गया। रविवार का अवकाश दिन तो ईसाईयों के लिए सोद्देश्य है और वे ही लोग इसे अवकाश के रूप में मनाते आये हैं। क्योंकि वे उस दिन अपने व्यक्तिगत सभी कार्यों को बन्द कर ईसामसीह की आराधना करने हेतु चर्च में जाते हैं। उस दिन कोई भी ईसाई चर्च में न जाकर अपने व्यापारादि निजी कार्यों में न लगा रहे, इस के लिए उन्होंने रविवार को अवकाश दिन घोषित किया। उनकी मान्यता है कि ईसा ने छः दिन काम कर सातवें दिन में (रविवार को) विश्राम किया था। उसी दिन ईसा आशीष देता है (द्र० तौरेतयात्रा— Exodus—पर्व० २०।आ० ८.११, अपि च द्र०सत्यार्थप्रकाश-

---

१. दिव्यत्वमधिगच्छतीत्यर्थः।

१३)। तो उनके लिए रविवार का अवकाश सोद्देश्य है। पर हम वैदिक (भारतीय) अपने पर्वदिनों (अनध्ययन दिनों के कर्तव्यों) को तो भूले ही नहीं, अपितु ईसाईयों का अन्धानुकरण करते जा रहे हैं, यह तो धिक्कार के योग्य है। यहां प्रमुख ध्यातव्य विषय तो यह है कि सात दिनों (सप्ताह) का विभाग अशास्त्रीय एवं निर्हेतुक है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं है। सर्वत्र संवत्सर के विभाग के रूप में अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि (दिन) आदि का ही वर्णन मिलता है। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः, अब हम प्रकृत प्रसंग की चर्चा करते हैं।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से हमने जान लिया था कि पर्वदिनों में विशिष्ट यज्ञों का आयोजन किया जाता था, तथा कुछ विशिष्ट नियमों, व्रतों का पालन किया जाता था और उसके लिये भौतिक कार्यों को त्यागा जाता था। पर्वदिनों में व्रताचरण अनिवार्य होने के कारण कालान्तर में साहचर्यनियम से पर्व एवं व्रत समानार्थक बन गये। दुर्भाग्यवशात् जब वैदिक परम्परा नष्ट होकर पौराणिकता प्रबल हुई, तब अनेकानेक अवैदिक, अशास्त्रीय व्रत एवं पर्वों का प्रचलन हुआ। आजकल जो पर्व (उत्सव) मनाये जाते हैं, उनमें अधिकांश पर्व इसी युग की देन हैं। वैदिक वा आर्षयुग में इनकी कोई ऐतिहासिकता नहीं दीखती। पुराण एवं निर्णयसिन्धु, हेमाद्रि, कृत्यरत्नाकर आदि-आदि अनेक अवैदिक ग्रन्थों में जिन व्रतों वा पर्वों (उत्सवों) का वर्णन है, उनकी सूची ही इतनी लम्बी है कि वह एक ग्रन्थरूप धारण कर लिया है (द्र० धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ.पी.वी.काणे, भाग—४,पृ०९६-२३७)।

यथार्थ में व्रतों व पर्वों का मूल उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपनी आत्मिक उन्नति करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें। उसकी साधना वा पद्धति अष्टांग योग के रूप में योगदर्शन में विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। उसमें यम (= अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), एवं नियम (= शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का जाति, देश, काल, समय के भेदों से रहित होकर पालन करने को महाव्रत कहा गया है— **''जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्''** (योग०२.३१) । **मनुष्य में अज्ञान, आलस्य, प्रमादादि के कारण स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न होते हैं। अतः उनसे दूर कर मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित करना ही पर्वों (उत्सवों) का प्रधान उद्देश्य है।** यहाँ प्रसंगतः यह बतलाना भी अनावश्यक प्रतीत नहीं होता कि उपवास का वैदिक या यथार्थ स्वरूप क्या है?

उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम्॥ (व०उप०२.३९)

जीवात्मा का परमात्मा के समीप वास करना वा उसके लिए प्रयत्न करना ही उपवास (महाव्रत) कहा जाता है, न कि भोजन बन्द कर शरीर को सुखाना। वह तो उपवास शब्द का अर्थ ही नहीं है। आजकल तो उपवास शब्द उपहास्य बन कर रह गया। उपवास के नाम से दुगुना खाया जाता है, अस्तु।

पर्वों के विशेष सन्दर्भों पर अवैदिक अर्थात् पौराणिक व्रतों के आचरण से वैदिक परम्परा नष्ट हो जाती है। यह एक अक्षम्य अपराध है, पाप है। अत एव हमें वेद आदेश देता है कि-**''स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम्''** (यजु०१३.४३) अर्थात् वह जिज्ञासु, मुमुक्षु पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वों में अनुष्ठीयमान यज्ञों के द्वारा और प्रत्येक ऋतुओं में किये जाने वाले यज्ञ वा ऋतुचर्या (ऋत्वनुकूल व्यवहार) के द्वारा शक्तिशाली होता हुआ वेदवाणी की अविच्छिन्न परम्परा का विघात न करें अथवा यज्ञों में गाय आदि पशुओं की बलि न दें। तात्पर्य है कि हमें वेदविरुद्ध नहीं चलना चाहिए । पुनः पर्वों पर हमें क्या करना चाहिए? पर्वों को हमें कैसे मनाना चाहिए? इसमें भी हमें वेद मार्गदर्शन करता है— **''भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम्''**(ऋ०१.९४.४) हे ईश्वर! हम आपकी प्राप्ति के लिए अपने अन्तरात्मा में

ज्ञानरूपी इध्म (समिधा) को धारण करेंगे, प्रदीप्त करेंगे। इसके लिए हम (पर्वणा-पर्वणा) प्रत्येक पर्व पर आपका ही स्मरण करते हुए, आपकी ही उपासना (=उपवास रूपी व्रत) करते हुए हवियाँ प्रदान करें अर्थात् यज्ञ—याग करें। यह है पर्वों को मनाने की प्राचीनतम वैदिक पद्धति। वेद अन्यत्र कहता है कि— "**समा॑नृधे॒ पर्व॑भिर्वावृधा॒नः**"(ऋ० १०.७९.७) उपासक जीव अपने में सद्गुणों को पूर्ण कर उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए अपने जीवन को पूर्ण करता है, चरितार्थ करता है। यही मानव का धर्म भी है। जैसे कि कहा गया है— "**त्रयो धर्मस्कन्धाः— यज्ञोऽध्ययनं दानमिति**"(छां०उप० २.२३.१) अर्थात् धर्म के तीन आधार हैं। उनमें प्रथम आधार है— १.यज्ञ, २.वेदों का स्वाध्याय और ३.दान । ये तीनों ही पर्वों (उत्सवों) पर किये जाते थे । "**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**"(वै०द० १.१.२)— जिससे इहलौकिक सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म है। इस प्रकार प्राचीन वैदिक पर्व पूर्णतया धर्ममय थे।

अब हम निरुक्त के तीसरे निर्वचन की ओर प्रस्थान करते हैं। "**तत्प्रकृतीरत् (अपि पर्व), सन्धिसामान्यात्**" अर्थात् जिस प्रकार मासादि सन्धियों को पर्व कहा गया है, वैसे ही अन्य वस्तुओं की सन्धियों को भी 'पर्व' कहा जाता है। जैसे हड्डियों की सन्धियाँ (जोड़), बांस की गांठ, पहाड़ों के जोड़ आदि। इस अर्थ को महर्षि दयानन्द ने भी प्रकट किया— "**पिपर्तीति पर्व, ग्रन्थिर्वा**" (उणादि० ४.११४)। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस अर्थ के वैदिक प्रयोगों को भी हम यहाँ दिखाते हैं— "**निर्म॒ज्ञानं॒ न पर्व॑णो जभार**" (ऋ०१०.६८.९) अज्ञान की ग्रन्थी (गांठ) रूप बन्धन में लिप्त जीव को (ईश्वर) मुक्त करें। "**प्र पर्वा॑णि जातवेदः शृणीहि**" (ऋ० १०.८७.५, अथर्व० ८.३.४) ज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानमय ग्रन्थियों को नष्ट करें । इस अज्ञानरूप पर्वत को तोड़ने का प्रकार व विधि दूसरे निर्वचन की व्याख्या में दिखा चुके हैं और अग्रिम पंक्तियों में भी वेदमन्त्रों के माध्यम से हम उस विधि को पुनः दिखायेंगे। महर्षि यास्क ने पर्व शब्द के अपने निर्वचन से हमें बोध कराया कि यथार्थतः पर्व किसे कहते हैं? पर्व को कैसे मनाना चाहिए, पर्व को मनाने का स्वरूप क्या है? उसका उद्देश्य क्या है? इत्यादि।

संवत्सर शब्द में ही याज्ञिक एवं आध्यात्मिक अर्थ समाहित हैं। संवत्सर शब्द "सर्व+त्सर" शब्दों से बनता है।[१] त्सर छद्मगतौ (भ्वा० ३७३) धातु का अर्थ है कि— गुप्तरूप से चुपचाप जाना, पहुँचना, प्राप्त करना। जो अज्ञात रूप से सर्वत्र एवं सब में व्याप्त हो जाता है, वही संवत्सर कहलाता है। सम्पूर्वक वस-निवासे (भ्वा० ७३१) धातु से औणादिक 'सरन्' (चित्) प्रत्यय होकर भी संवत्सर शब्द बनता है। जिसमें सभी ऋतु संगठित होकर क्रमविशेष में वसते हैं वही संवत्सर कहलाता है। संवत्सर वसंत ऋतु से आरम्भ होता है। वेद कहते हैं कि वसंत ऋतु आज्य (घी) के समान है — "**व॒स॒न्तोअ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽइ॒ध्म श॒रद्ध॒विः**" (ऋ० १०.९०.६, यजु० ३१.१४, अथर्व० १९.६.१०)। आज्य एक मधुर एवं स्निग्ध (स्नेह युक्त) पदार्थ है। वसंत ऋतु में भी सर्वत्र हरित रूपी स्नेह दृग्गोचर होता है। ग्रीष्म ऋतु के समान कहीं भी शुष्कता दिखाई नहीं देती। वैसे ही मनुष्यों में भी माधुर्य, प्रेम, स्नेह रूपी आज्य व्याप्त हो जाय तो वह मानवीय वसंत ऋतु है, मानवीय संवत्सर का आरम्भ है। ऐसे दिव्य गुण से मनुष्य सभी के हृदयों में गुप्तरूप से प्रवेश कर जाता है और उनमें वस जाता है। ऐसे स्निग्ध आज्य से ही देवताओं ने अर्थात् दिव्यगुणयुक्त स्नेही महापुरुष सभी कामनाओं को जीता है और अमरत्व को प्राप्त किया है।[२] इध्म (समिधा) अग्निप्रधान है । इसीलिए वह ग्रीष्म ऋतु का प्रतीक है। शरद् ऋतु में अन्न पक जाता है। उस पके हुए नये अन्न से यज्ञों में हवियां (आहुतियां) दी जाती हैं, अत एव शरद् ऋतु हवि का प्रतिनिधि

१. संवत्सरो अभवत्, सर्वत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति (शत० ११.१.६.१२)।
२. आज्येन वै देवाः सर्वान् कामान् अजयन्, सर्वममृतत्वात् (कौ० ब्रा० १४.१)।

है। परोपकार की भावना, सभी प्राणियों के प्रति मित्रदृष्टि रखना अर्थात् स्नेह रूपी आज्य से सभी को प्रसन्न करना, आनन्दित करना ही वैयक्तिक संवत्सर का वसंत ऋतु है। अपने में और समाज में व्याप्त सभी दुरितों को, आसुरी भावों को इध्म (समिधा) के समान भस्म करना ही ग्रीष्म ऋतु है। यह एक महान् तप है। ऐसे तप से परितप्त होकर व्यक्ति का परिपक्व होना ही, जीवन की सार्थकता ही शरद् ऋतु है। यही यथार्थ सांवत्सर यज्ञ है, पार्वण यज्ञ है।

संवत्सर भर अर्थात् प्रत्येक पर्व (ऋतुसन्धियों) पर यज्ञ-यागों का अनुष्ठान करते हुए, उन द्रव्य यज्ञों के साथ-साथ याज्ञिक पुरुष अपने आन्तरिक (आध्यात्मिक) यज्ञ का भी अनुष्ठान करें। उस आध्यात्मिक यज्ञ का अनुष्ठान कैसे करें? यह वेद के ही शब्दों में देखें—

वसन्तेनऽऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः।। (यजु० २१.२३)

जो वसन्त ऋतु के समान अपने जीवन में ज्ञान-विज्ञान के पुष्पों को विकसित कर सदा नव-नूतनत्व को, सद्गुणों को धारण कर दिव्यता को प्राप्त कर लेते हैं और अपने ही अन्तरात्मा के चिन्तन में वसते हैं अर्थात् अपने जीवन में वसन्त ऋतु को लाते हैं, ऐसे वसु ब्रह्मचारी व प्रथम कक्ष के विद्वान् लोग तीनों कालों में प्रशंसित होते हैं। अपने पराक्रम एवं तेज से जीवात्मा में ज्ञानरूपी हवि तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ग्रीष्मेण ऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यशसा बलं हविरिन्द्रे वयो दधुः।। (यजु० २१.२४)

जो ग्रीष्म ऋतु के सूर्यसदृश अपने प्रचण्ड ज्ञान के प्रताप से आन्तरिक मलों को भस्म कर देते हैं और ज्ञान, शान्ति एवं आनन्दरूपी रस को ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् अपने जीवन में ग्रीष्म ऋतु को लाते हैं, ऐसे दिव्यता को प्राप्त किये हुए रुद्रगण अर्थात् अपने आसुरीभावों को सन्तप्त करने वाले रुद्र ब्रह्मचारी व मध्यम कक्ष के विद्वान् लोग पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों एवं पांच प्राणों को स्वाधीन करने में प्रशस्त होते हैं तथा महान् यश, बल, जीवन रूपी हवियों (ग्रहण करने योग्यों) को अपने में धारण करते हैं।

वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः ।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ।। (यजु० २१.२५)

जो वर्षा ऋतु के समान सञ्चित ज्ञान को सभी मनुष्यों में बरसाते हैं और उनके अज्ञान को, कष्टों को दूर कर आनन्दित करते हैं अर्थात् जो अपने में वर्षा ऋतु को लाते हैं, ऐसे आदित्य देव अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी व उत्तम विद्वज्जन स्तुति करने योग्य सूक्ष्मशरीर (५ ज्ञानेन्द्रिय+५कर्मेन्द्रिय+५प्राण+मन+बुद्धि) में प्रशस्त होते हैं तथा विभिन्न रूपवाले व स्वभाव वाले प्रजा से एवं ओज से अपने में श्रेष्ठ जीवन को धारण करते हैं।

शारदेन ऋतुना देवाऽएकविंशऽऋभव स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियं हविरिन्द्रे वयो दधुः।। (यजु० २१.२६)

जैसे शरद् ऋतु वर्षा ऋतु के मेघों को छिन्न-भिन्न कर आकाशादि को निर्मल बनाता है, जल को शुद्ध करता, अन्न और फलों की वृद्धि करता है, वैसे ही ऋभव देव अर्थात् ज्ञानज्योति से प्रदीप्त अन्तःकरणवाले (**ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा**— निरु० ११.१६) मेधावी जन वा ऋतु में ही रमने वाले विद्वान् २१ तत्वों (संवत्सर के १२ मास, ६ ऋतु एवं ३ लोक— द्र० ऐ०ब्रा० १.३०, श०ब्रा० १.३.५.११) को जानकर लोगो में व्याप्त मेघरूपी आसुरीभावों को विनष्ट कर उनमें ज्ञानज्योति को प्रदीप्त कर उनके अन्तःकरण को पवित्र बनाते हैं और उन्हें सुख शान्ति से परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार अपने जीवन में शरद् ऋतु को लाने वाले वे विद्वान् जनता में अत्यन्त प्रशंसित होते हैं तथा विशेषरूप से प्रकाशित ऐश्वर्य को एवं ग्रहण करने योग्य दीर्घ जीवन को प्राप्त होते हैं।

हेमन्तेनऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुतः स्तुताः।
बलेन शक्करीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः ।। (यजु० २१.२७)

हेमन्त ऋतु अपने तीव्र शीत से प्राणियों को कष्ट देता है और जल-प्रवाह को संकुचित करता है, वैसे ही मरुत् देव अर्थात् ऋत्विग्गण व याज्ञिक लोग (मरुत् इति ऋत्विङ्नाम– निघं० २.१९) अपनी और यजमानों की दुर्भावनाओं के प्रति अत्यन्त कठोरता दिखाते हैं और अपने एवं यजमानों के मानसिक प्रवाह को, चञ्चलता को संकुचित करते हैं, अंकुश लगाते हैं अर्थात् वे देव अपने जीवन में हेमन्त ऋतु को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वे (त्रिणव) धर्म, अर्थ, मोक्षों में उत्तम गतिवाले होते हुए या ज्ञान, कर्म, उपासनाओं में स्तुत्य होते हुए लोक में प्रसिद्धि को पाते हैं। तत्परिणामतः वे ग्रहण करने योग्य बल, शक्ति-सामर्थ्य, सहनशीलता को धारण कर सार्थक जीवन वाले होते हैं।

शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिंशेऽमृताऽस्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रं हविरिन्द्रे वयो दधुः।। (यजु० २१.२८)

जैसे शिशिर ऋतु वृक्षों के पत्तों को गिरा कर नये पत्तों को उत्पन्न करने के निमित्त वृक्षों में नये रस का सिञ्चन करता है, वैसे ही अमृत देव अर्थात् विषय-वासनावों के पीछे न मरने वाले विद्वान् वा रोगों से आक्रान्त न होने वाले मनीषी भी अपने सभी बन्धनों को शिथिल कर अपने में अमरत्व को प्राप्त करने में समर्थ रस का, शक्ति का सिञ्चन कर अपने जीवन में शिशिर ऋतु को लाते हैं। इस प्रकार वे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक एवं अवशिष्ट शरीररूप पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह देवों (दिव्यगुणों) को धारण कर अपने शरीर को तैंतीस देवों के निवास से देवपुरी बना लेते हैं। जिससे वे अत्यन्त स्तुत्य बनते हैं। वे सत्य के मार्ग से ही धनाद्यैश्वर्यों को प्राप्त करते और आत्मिक बल, अन्न एवं उत्कृष्ट जीवन को भी प्राप्त करते हैं।

ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व शमितारो विऽशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ।। (यजु० २३.४०)

गत मन्त्रों में वर्णित (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुकूल आचार, विचार, व्यवहार करने से वे ऋतुएँ और ऋतुओं के पर्व (सन्धिकाल) दिव्यता एवं स्वस्थता के अभिलाषियों को शान्ति प्रदान करनेवाली होकर मार्गदर्शक बनती हैं। अभीष्ट कामना को प्रदान करने में समर्थ संवत्सर की तेजस्विता से एवं ऋत्वनुकूल कर्मों (**शमी कर्माणि**- निघं०२.१, निरु०११.१६) से तुझे सुख और शान्ति प्राप्त हों।

अर्धमासाः परूंषि ते मासाऽआच्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते।। (यजु० २३.४१)

शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष और उनके पर्व (सन्धियाँ) एवं मास तुझे शान्ति प्रदान करते हुए आत्मिक, मानसिक और शारीरिक दोषों को दूर करें। दिन-रात अर्थात् सदा ही ये सभीप्रकार के प्राण ऋत्वनुकूल चलने वाले की न्यूनताओं को नष्ट करें।

अन्त में पर्व की इतिकर्तव्यता वा सार्थकता का बोध कराने वाले मन्त्र को उद्धृत कर अपने विचारों को विराम देते हैं—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।। (ऋ० ७.१०३.५)

गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचारी (ब्रह्म में विचरने वाला शिष्य) पूर्ण विद्वान् होकर, ज्ञानी, विवेकी बनकर प्रजाओं में व अपने शिष्यों में गुरुजनों से प्राप्त वेदज्ञान को और (पर्व) पालन करने योग्य ब्रह्मचर्यादि व्रत आदि को परिव्याप्त करें अर्थात् वेदज्ञान का प्रचार-प्रसार करना प्रत्येक मनुष्य का पर्व (पालन करने योग्य) है, कर्तव्य है।

१.१६. ऋतुचर्या*

ओ३म् वसन्तेन॑ऽऋतुना॑ देवा वस॑वस्त्रिवृता॑ स्तुताः।
रथन्तरेण तेज॑सा हविरिन्द्रे वयो॑ दधुः।। (यजु० २१.२३)

भावार्थ– जो वसन्त ऋतु के समान अपने जीवन में ज्ञान-विज्ञान के पुष्पों को विकसित कर सदा नव-नूतनत्व को, सद्गुणों को धारण कर दिव्यता को प्राप्त कर लेते हैं और अपने ही अन्तरात्मा के चिन्तन में वसते हैं अर्थात् अपने जीवन में वसन्त ऋतु को लाते हैं, ऐसे वसु ब्रह्मचारी व प्रथम कक्ष के विद्वान् लोग तीनों कालों में प्रशंसित होते हैं। अपने पराक्रम एवं तेज से जीवात्मा में ज्ञानरूपी हवि तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ओ३म् ग्रीष्मेण॑ ऋतुना॑ देवा रुद्राः प॑ञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यश॑सा बलं॑ हविरिन्द्रे वयो॑ दधुः।। (यजु० २१.२४)

भावार्थ– जो ग्रीष्म ऋतु के सूर्यसदृश अपने प्रचण्ड ज्ञान के प्रताप से आन्तरिक मलों को भस्म कर देते हैं और ज्ञान, शान्ति एवं आनन्दरूपी रस को ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् अपने जीवन में ग्रीष्म ऋतु को लाते हैं, ऐसे दिव्यता को प्राप्त किये हुए रुद्रगण अर्थात् अपने आसुरीभावों को सन्तप्त करने वाले रुद्र ब्रह्मचारी व मध्यम कक्ष के विद्वान् लोग पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों एवं पांच प्राणों को स्वाधीन करने में प्रशस्त होते हैं तथा महान् यश, बल, जीवन रूपी हवियों (ग्रहण करने योग्यों) को अपने में धारण करते हैं।

ओ३म् वर्षाभिॠतुनादित्या स्तोमे॑ सप्तद॒शे स्तुताः ।
वैरूपेण॑ विशौज॑सा हविरिन्द्रे वयो॑ दधुः ।। (यजु० २१.२५)

भावार्थ– जो वर्षा ऋतु के समान सञ्चित ज्ञान को सभी मनुष्यों में बरसाते हैं और उनके अज्ञान और कष्टों को दूर कर आनन्दित करते हैं अर्थात् जो अपने में वर्षा ऋतु को लाते हैं, ऐसे आदित्य देव अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी व उत्तम विद्वज्जन स्तुति करने योग्य सूक्ष्मशरीर (५ ज्ञानेन्द्रिय+५कर्मेन्द्रिय+५प्राण+मन+बुद्धि) में प्रशस्त होते हैं तथा विभिन्न रूपवाले व स्वभाव वाले प्रजा से एवं ओज से अपने में श्रेष्ठ जीवन को धारण करते हैं।

ओ३म् शारदेन॑ ऋतुना॑ देवाऽए॑कवि॒ंशऽऋभव॑ स्तुताः।
वैराजेन॑ श्रिया श्रियं॑ हविरिन्द्रे वयो॑ दधुः।। (यजु० २१.२६)

भावार्थः– जैसे शरद् ऋतु वर्षा ऋतु के मेघों को छिन्न-भिन्न कर आकाशादि को निर्मल बनाता है, जल को शुद्ध करता, अन्न और फलों की वृद्धि करता है, वैसे ही ऋभव देव अर्थात् ज्ञानज्योति से प्रदीप्त अन्तःकरणवाले (**ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा**– निरु० ११.१६) मेधावी जन अथवा ऋत में ही रमने वाले विद्वान् २१ तत्वों (संवत्सर के १२ मास, ६ ऋतु एवं ३ लोक– द्र०ऐ०ब्रा० १.३०, श०ब्रा० १.३.५.११) को जानकर लोगों में व्याप्त मेघरूपी आसुरीभावों को विनष्ट कर उनमें ज्ञानज्योति को प्रदीप्त कर उनके अन्तःकरण को पवित्र बनाते हैं और उन्हें सुख शान्ति से परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार अपने जीवन में शरद्

*. **यह लेख वेदवाणी (अप्रैल २०१५), टंकारा समाचार (मई २०१५), महर्षि दयानन्द स्मृति प्रकाश (जुलाई २०१५) में प्रकाशित है।**

ऋतु को लाने वाले वे विद्वान् जनता में अत्यन्त प्रशंसित होते हैं तथा विशेषरूप से प्रकाशित ऐश्वर्य को एवं ग्रहण करने योग्य दीर्घ जीवन को प्राप्त होते हैं।

ओ३म् हेमन्तेनऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुतं स्तुताः।
बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ (यजु० २१.२७)

भावार्थ– हेमन्त ऋतु अपने तीव्र शीत से प्राणियों को कष्ट देता है और जल-प्रवाह को संकुचित करता है, वैसे ही मरुद् देव अर्थात् ऋत्विग्गण व याज्ञिक लोग (मरुत् इति ऋत्विङ्नाम– निघं० ३.१९) अपनी और यजमानों की दुर्भावनाओं के प्रति अत्यन्त कठोरता दिखाते हैं और अपने एवं यजमानों के मानसिक प्रवाह को, चञ्चलता को संकुचित करते हैं, अंकुश लगाते हैं अर्थात् वे देव अपने जीवन में हेमन्त ऋतु को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार वे (त्रिणव) धर्म, अर्थ, मोक्षों में उत्तम गतिवाले होते हुए या ज्ञान, कर्म, उपासनाओं में स्तुत्य होते हुए लोक में प्रसिद्धि को पाते हैं। तत्परिणामतः वे ग्रहण करने योग्य बल, शक्ति-सामर्थ्य, सहनशीलता को धारण कर सार्थक जीवन वाले होते हैं।

ओ३म् शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिंशेऽमृताऽस्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रं हविरिन्द्रे वयो दधुः॥ (यजु० २१.२८)

भावार्थ– जैसे शिशिर ऋतु वृक्षों के पत्तों को गिरा कर नये पत्तों को उत्पन्न करने के निमित्त वृक्षों में नये रस का सिञ्चन करता है, वैसे ही अमृत देव अर्थात् विषय-वासनाओं के पीछे न मरने वाले विद्वान् वा रोगों से आक्रान्त न होने वाले मनीषी भी अपने सभी बन्धनों को शिथिल कर अपने में अमरत्व को प्राप्त करने में समर्थ रस का, शक्ति का सिञ्चन कर अपने जीवन में शिशिर ऋतु को लाते हैं। इसप्रकार वे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक एवं अवशिष्ट शरीररूप पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह देवों (दिव्यगुणों) को धारण कर अपने शरीर को तैंतीस देवों के निवास से देवपुरी बना लेते हैं। जिससे वे अत्यन्त स्तुत्य बनते हैं। वे सत्य के मार्ग से ही धनाद्यैश्वर्यों को प्राप्त करते और आत्मिक बल, अन्न एवं उत्कृष्ट जीवन को भी प्राप्त करते हैं।

ओ३म् ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व शमितारो विऽशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ (यजु० २३.४०)

भावार्थ– गत मन्त्रों में वर्णित (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुकूल आचार, विचार और व्यवहार करने से वे ऋतुवें और ऋतुओं के पर्व (सन्धिकाल) दिव्यता एवं स्वस्थता के अभिलाषियों को शान्ति को प्रदान करनेवाली होकर मार्गदर्शक बनती हैं। अभीष्ट कामना को प्रदान करने में समर्थ संवत्सर की तेजस्विता से एवं ऋत्वनुकूल कर्मों (**शमी कर्माणि**– निघं० २.१, निरु० ११.१६) से तुझे सुख और शान्ति प्राप्त हों।

महर्षि दयानन्द उवाच –

मनुष्यों को चाहिए कि शुद्ध पदार्थों का ऋतु-ऋतु में होम किया करें, जिससे वह द्रव्य सूक्ष्म हो और क्रम से अग्नि, सूर्य तथा मेघ को प्राप्त होके वर्षा के द्वारा सब का उपकारी होवें। (यजु० २९.३५)

जो मनुष्य सब ऋतुओं में समय के अनुसार आहार-विहार से युक्त होके विद्या, योगाभ्यास और सत्संगों का अच्छे प्रकार सेवन करते हैं, वे सब ऋतुओं में सुख भोगते हैं और इनको कोई चोर आदि (रोग) भी पीड़ा नहीं दे सकता। (यजु० १०.१४)

मनुष्यों को चाहिए कि धर्मात्माओं के मार्ग से चलते हुए शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के सुखों को प्राप्त होवें और जिसमें कामना पूरी हो, वैसा प्रयत्न करें। जैसे वसंतादि ऋतु अपने क्रम से वर्तते हुए अपने-अपने चिह्न प्राप्त करते हैं, वैसे ऋतुओं के अनुकूल व्यवहार करके आनन्द को प्राप्त होवें। (यजु० १३.३१)

जो मनुष्य युक्त आहार-विहार करने वाले जितेन्द्रिय होते हैं, वे सब ऋतुओं में पाँचों इन्द्रियों से सुख को प्राप्त होते हैं। (ऋ० २.१३.१०)

मनुष्य को योग्य है कि ऋतुओं के अनुकूल क्रिया से अग्नि, जल और अन्न का सेवन करके राज्य और पृथिवी की सदैव रक्षा करें, जिससे सब सुख को प्राप्त होवें। (यजु० १३.४३)

इस संसार में मनुष्य का जन्म पाकर स्त्री तथा पुरुष विद्वान् होकर जिन ब्रह्मचर्य-सेवन, विद्या और अच्छी शिक्षा के ग्रहण आदि शुभ गुण कर्मों में आप प्रवृत्त होकर जिन अन्य लोगों को प्रवृत्त करें, वे उनमें प्रवृत्त होकर परमेश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों के यथार्थ विज्ञान से उपयोग ग्रहण करके सब ऋतु में आप सुखी रहें और अन्यों को सुखी रखें। (यजु० १४.७)

वसंत ऋतु

जब वसंत ऋतु आता है, तब पक्षी भी कोमल मधुर-मधुर शब्द बोलते और अन्य सब प्राणी आनन्दित होते हैं। (यजु० १३.२८)

जब वसन्त ऋतु आता है, तब पुष्प आदि के सुगन्धों से युक्त वायु आदि पदार्थ होते हैं, उस ऋतु में घूमना-डोलना पथ्य होता है, ऐसा निश्चित जानना चाहिए। (यजु० १३.२७)

हे मनुष्यों ! तुम लोग वसन्त ऋतु को प्राप्त होकर जिस प्रकार के पदार्थों के होम से वनस्पति आदि कोमल गुणयुक्त हों, ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करो और इस प्रकार वसन्त ऋतु के सुख को सब जने तुम लोग प्राप्त होओ। (यजु० १३.२९)

जो मनुष्य लोग रहने के हेतु दिव्य पृथिवी आदि लोकों वा विद्वानों की वसन्त में संगति करें, वे वसन्त संबन्धी सुख को प्राप्त होवें। (यजु० २१.२३)

राजादि मनुष्यों को चाहिए कि वसन्त ऋतु में पहिले घोड़ों को शिक्षा दें और रथियों को रथों पर नियुक्त करके शत्रुओं को जीतने के लिए यात्रा करें। (यजु० १३.३६)

ग्रीष्म ऋतु

मनुष्य वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के बीच जलाशयस्थ शीतल स्थान का सेवन करें, जिससे गर्मी से दुःखित न हों और जिस यज्ञ से वर्षा भी ठीक-ठीक हो और प्रजा आनन्दित हो, उसका सेवन करो (यजु० १३.३०)।

हे मनुष्यों! तुम लोग जो पृथिवी आदि पञ्चभूतों के शरीरसम्बधी वा मानस अग्नि है कि जिनके विना ग्रीष्म ऋतु नहीं हो सकता, उनको जान और उपयोग में लाके सब प्राणियों को सुख दिया करो (यजु० १४.६)।

वर्षा ऋतु

हवन और सूर्य रूपादि अग्नि के ताप से सब गुणों से युक्त अन्नादि से संसार की स्थिति करने वाली वर्षा होती है। उस वर्षा से सब औषधि आदि उत्तम पदार्थ युक्त पृथिवी होती और सूर्यरूप अग्नि से ही प्राणियों के विश्राम के लिए रात्रि होती है। (यजु०२३.१२)

सब मनुष्यों को चाहिए कि विद्वानों के समान वर्षा ऋतु में वह सामग्री ग्रहण करें, जिस से सब सुख होवें। (यजु०१४.१५)

शरद् ऋतु

हे मनुष्यों ! जो शरद् ऋतु में उपयोगी पदार्थ हैं, उनको यथायोग्य शुद्ध करके सेवन करो। (यजु०१४.१६)

जो लोग अच्छे पथ्य करने हारे शरद् ऋतु में रोगरहित होते हैं, वे लक्ष्मी (ऐश्वर्य) को प्राप्त होते हैं। (यजु०२१.२६)

हेमन्त ऋतु

जैसे हेमन्त -ऋतु में सब पदार्थ शीतल होते हैं, वैसे ही परमेश्वर की उपासना करके शीतल होवें। (यजु० १५.२८)।

विद्वानों को योग्य है कि यथायोग्य सुख के लिए हेमन्त ऋतु में पदार्थों का सेवन करें और वैसे ही दूसरों को भी सेवन करावें। (यजु० १४.२७)

जो लोग सब रसों को पकाने हारे हेमन्त ऋतु में यथायोग्य व्यवहार करते हैं, वे अत्यन्त बलवान् होते हैं। (यजु० २१.२७)

दिनचर्या

प्रातः समय की वेला सोते हुए हम लोगों की आयु को धीरे-धीरे अर्थात् दिन-दिन काटती है, ऐसा जानकर और आलस्य छोड़कर हम लोगों को रात्रि के चौथे प्रहर में जाग के विद्या, धर्म और परोपकार आदि व्यवहार में नित्य उचित वर्ताव रखना चाहिए। (ऋ०१.९२.१०)

जो मनुष्य रात्रि के चौथे प्रहर में जागकर शयन पर्यन्त व्यर्थ समय को नहीं जाने देते वे सुखी होते हैं, अन्य नहीं। (ऋ०१.११३.५)

जो मनुष्य उषा से पहले शयन से उठ आवश्यक कर्म करके परमेश्वर का ध्यान करते हैं, वे बुद्धिमान् और धार्मिक होते हैं। (ऋ०१.११३.११)

हे स्त्री-पुरुषों ! आप लोग रात्रि के चौथे प्रहर में उठ और आवश्यक कृत्य करके वाहन वा पैरों से सूर्योदय से पहले शुद्ध वायु देश में भ्रमण करें तो आप लोगों को रोग कभी न प्राप्त होवें। (ऋ०४.१४.४)

दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त के समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए। (सत्यार्थ०समु-४)

जीवन की सफलता

हे मनुष्यों ! तुम लोगों को चाहिए कि इस जगत् में मनुष्य का शरीर धारण कर विद्या, उत्तम शिक्षा, अच्छा स्वभाव, धर्म, योगाभ्यास और विज्ञान का सम्यक् ग्रहण करके मुक्ति-सुख के लिए प्रयत्न करो, यही मनुष्य जीवन की सफलता है ऐसा जानो। (यजु० ३५.२२)

द्वितीय अध्याय

वेदाङ्ग निरुक्त

२.१. यास्कीय-निर्वचन-सिद्धान्त*

मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए और अपवर्ग (मोक्ष) को साधने के लिए सर्गादि में आद्य ऋषियों के माध्यम से मानवजाति को वेद का ज्ञान मिला। ज्ञान अर्थमूलक होता है। उस अर्थ (ज्ञान) को प्राप्त (बोध) करने व कराने का साधन शब्द (वर्णात्मक ध्वनि) होता है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है। उस शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को जानना ही ज्ञान कहाता है। शब्दार्थसम्बन्ध के साथ आद्य ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में वेद प्रादुर्भूत हुए हैं। तत्पश्चात् वे आद्य ऋषि श्रुति (पठन-पाठन) की परम्परा से अन्यों को वेदों का ज्ञान प्रदान किया। यहाँ ध्यातव्य है कि वेदत्व (ज्ञान) शब्द और अर्थ इन दोनों में विद्यमान होता है।[1] पुनरपि अर्थनिष्ठ वेदत्व (ज्ञान) मुख्य है, क्योंकि अर्थ प्रधान होता और शब्द गौण होता है।[2] यतोहि शब्द अर्थबोध में साधन है। साधन (शब्द) की अपेक्षा साध्य (अर्थ, ज्ञान) मुख्य होता है। इसलिए सभी मनुष्यों को अपने कल्याण के लिए वेदार्थ को जानने का पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिए। शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य कहते भी हैं—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। (निरु० १.१८)
यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति।। (सु०, सूत्र० ४.४)

स्थाणु अर्थात् दीवार में लगा हुआ शंकु (खूँटी, कील आदि) जिसप्रकार केवल भार का वाहक है, पर भार के मूल्य, गुण-धर्म आदि का ज्ञाता नहीं है, अथवा स्थाणु अर्थात् वृक्ष[3] जिसप्रकार पत्र, पुष्प, फल आदि से भारभूतमात्र होता है अथवा गर्दभ चन्दन का भारवाही मात्र होता है, परन्तु उनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के उपभोगरूपी सुखों से युक्त नहीं होता, उसीप्रकार वेद को पढ़ (कण्ठस्थ) कर जो अर्थ को नहीं जानता है, वह भी मस्तिष्क में शब्दों (मन्त्रों) का भारवाहीमात्र होता है, न कि उसके अर्थादि प्रयोजनों से युक्त होता है। हाँ जो वेदमन्त्रों के अर्थ को जानकर, तदनुकूल आचार-व्यवहार करता हुआ अपने अन्तरात्मा को पापरूपी मलिनता से रहित, शुद्ध-पवित्र करता है, वह इहलौकिक सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करता है और त्रिविध दुःखों से रहित होकर मोक्षपद को भी प्राप्त कर लेता है।

वेदाविर्भाव के काल से ही वेदार्थ को जानने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। पदपाठ, शाखाएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थ इसी प्रक्रिया की परम्परा से प्रणीत हुए हैं। पुनः कालान्तर में वेदाङ्ग आदि रचित हुए हैं। हम शब्द के विषय को त्रिधा विभक्त कर सकते हैं— १. शब्द का उच्चारण, २. शब्द का स्वरूप और ३. शब्द का अर्थ। शब्द के इन तीन विषयों के बोध के लिए ही क्रमशः तीन वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ है— १. शिक्षाशास्त्र, २. व्याकरणशास्त्र, ३. निरुक्तशास्त्र (निघण्टु और निरुक्त)। ये तीनों ही वेदाङ्ग वेदार्थ को जानने के लिए प्रथमतया जानने योग्य हैं। इनमें से हम यहाँ केवल निरुक्त के विषय में ही चर्चा करेंगे।

---

*. यह लेख वेदवाणी (मई-जुलाई २०२२) में प्रकाशित है।
१. वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति (उद्योतः, म० भा०, पस्प०, आगमः खल्वपि)।
२. प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते (बृ०दे० २.९९)। अर्थो हि प्रधानः, तद्गुणः शब्दः (दुर्गः, निरु० १.१)। अर्थो हि प्रधानं, तद्गुणभूतः शब्दः (दुर्गः, निरु० २.१)। शब्दार्थयोरेकात्मत्वेप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशाद् (पुण्यराजः, वा०प० २.१२८)।
३. स्थाणुम् = वृक्षम् (सायणः, ऋ० १०.४०.१३)।

निरुक्त एवं निर्वचन शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ –

निर्-उपसर्गपूर्वक वच परिभाषणे (२.५६) या ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (२.३७) धातु से क्तप्रत्यय होने पर 'निरुक्त' शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ 'निर्' उपसर्ग का अर्थ है– सम्पूर्णतया[1], विस्पष्टतया[2], उत्कृष्टतया[3], विशेषतया। वच्धातु का अर्थ है कहना। क्तप्रत्यय का अर्थ है– भाव या अधिकरण।[4] अब निरुक्त शब्द का सम्पूर्ण अर्थ यह निकलता है कि 'जिसमें शब्दार्थ स्पष्टतया, सम्पूर्णतया कहा जाता है', वह वचन या शास्त्र। अनेकों आचार्यों ने भी निरुक्त शब्द का निर्वचन इसप्रकार दिखाया है–

१. **नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं निगमान्वितम्।**
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥
स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥ (ना०शा० ६.१२-१३)

२. **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** [=निघण्टुः]। **तथैकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्** (सायणः, ऋ० भू० पृ० ५५-५६)।

३. **वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।**
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ (काशिका– ६.३.१०९)।

४. **तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं वर्णस्वरमात्रादिभेदेनार्थनिर्वचनाय निर्वचनीयानि इत्येतत्सर्वप्रदर्शनपरं निरुक्तशास्त्रम्।** (प्र०हृ०पृ०२०)।

५. **निर्वचने पदानामवयवार्थाः सम्भाविता निश्शेषेण निश्चयेनोच्यन्ते यत्राधारे [तन्निरुक्तम्]** (वाच०)।

६. **निरुक्तं पदभञ्जनम्** (अ०चि०२.१६८)।

७. **निरुक्तं वेदार्थाधिगमोपायः** (तं०वा०१.२.४.४)।

इत्यादि वचनों का तात्पर्य यही है कि सन्दिग्धार्थक या अनवगतार्थक पद का शब्दशास्त्र (व्याकरण) के नियमों के अनुकूल प्रकृति-प्रत्ययादि का विभाग करते हुए, ऊह करते हुए प्रकरणानुकूल सम्पूर्ण या सभी अर्थों का सम्यक्तया प्रदर्शित करने वाले शास्त्र का नाम **'निरुक्त'** है। महर्षि यास्क भी कहते हैं कि– ''**अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते**'' (निरु०१.१५)।[5]

'पदविभागपूर्वक प्रकरणानुकूल अर्थ को प्रकट करना' रूपी जो अर्थ निरुक्तशब्द से ज्ञात होता है, वही अर्थ 'निर्वचन' शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है। तद्यथा–

१. **अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्** (दुर्गः, निरु० २.१)।

२. **निर्विविच्य निर्धार्य वचनं कथनं निर्वचनम्** (दुर्गः, निरु०१.१९)।

---

१. तदेनं निरुच्यमानं प्रकाशं गमयति (का०सं० ९.१६)। पूर्णतयोच्यमानमित्यर्थः।
२. तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति (श०ब्रा० ४.१.३.१६)। एनं प्राप्य दुरात्मानं क्षयं क्षत्रं गमिष्यति। तदिदं वचनं तेषां निरुक्तं वै जनार्दन ॥(म०भा०, शल्य० २४.४४) [निरुक्तम्= स्पष्टतयोक्तम्]।
३. स्वर्ग्यो धर्मो ह्येषां निरुच्यते (म०भा०, शान्ति० ८.३२) [निरुच्यते = उत्कृष्टत्वेनोच्यते]।
४. नपुंसके भावे क्तः (अष्टा० ३.३.११४), क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः (अष्टा० ३.४.७६)।
५. न च निरुक्तादृतेऽन्यदङ्गमन्यद् वा बाह्यं शास्त्रं शब्दकल्पद्रुममस्ति तात्पर्येण यदशेषान् शब्दान् निर्ब्रूयात् (शब्द०, निरुक्तशब्द)।

३. **निर्वचनं प्रकृतिप्रत्ययविभागेन व्युत्पादनम्** (सायणः, दे०अ०ब्रा०३.१)।

४. **निर्वचने पदानामवयवार्थाः सम्भाविता निःशेषेण निश्चयेनोच्यन्ते** (वाच०)।

५. **निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानम्** (अनन्तभट्टः, भा०सू०३.६)।

निर्वचन के सिद्धान्त – वेदमन्त्रों के अर्थ को जानने में जिन पदों के अर्थज्ञान में विशेष ध्यान रखना चाहिए या जिन पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं है, दुर्ज्ञेय हैं, उन पदों का संग्रह आचार्य यास्क ने निरुक्त के पूर्वभाग 'निघण्टु' में किया है। इन संगृहीत पदों का ही व्याख्यान आचार्य स्वयं निरुक्त के उत्तरभाग में किया है।[1] व्याख्यानभाग में व्याख्येय पदों का निर्वचन और उदाहरण के रूप में वेदमन्त्रों को प्रस्तुत किया है। इस व्याख्यान से पूर्व आचार्य ने निर्वचन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये हैं। वे इसप्रकार हैं – १. पदविभागसिद्धान्त, २. आख्यातजसिद्धान्त।

१. पदविभागसिद्धान्त –

मन्त्रों में यदि कोई समस्तपद और तद्धितान्तपद आ जाये तो उसे पहले विग्रह के द्वारा भिन्न-भिन्न पदों में विभक्त करें – "**अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्**" (निरु० २.२)।

तद्धितान्त और समस्तपदों का एक भाग में या एकाधिक भागों में विभाजित करके क्रमशः पूर्ववर्ती भाग का निर्वचन पहले और परवर्ती भाग का निर्वचन बाद में करना चाहिए। विभक्त पदों का निर्वचन करने से पूर्व उनके स्वरूप को पहचानना चाहिए। इसके लिए आचार्य ने पदों के विभाग या पदों के प्रकार को बताया है – "**तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति**" (निरु०१.१)। नाम, आख्यात (तिङन्त)[2], उपसर्ग एवं निपातों को जानकर इनमें व्याख्येय पदों के प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभागपूर्वक निर्वचन करते हुए प्रकरणानुकूल अर्थों को प्रकट करें। प्रकरण या प्रसंग के विरुद्ध यथेष्ट धात्वादि की कल्पना करके निर्वचन (अर्थों का प्रकटीकरण) कभी नहीं करना चाहिए – "**नैकपदानि निर्ब्रूयात्**" (निरु० २.३)। पदों के अन्वाख्यान में इन विषयों का विशेषतया ध्यान रखना चाहिए।

२. आख्यातजसिद्धान्त –

पदों के व्याख्यान में आचार्य यास्क आदि का यह विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि – सभी नैरुक्त आचार्य एवं वैयाकरणों में शाकटायन का मत है कि सभी नाम (प्रातिपदिक) आख्यातज (धातुज) हैं – "**नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च**" (निरु०१.१२)।[3] सभी नामों को धातु से व्युत्पन्न मानते हुए अर्थबोध के हेतु आचार्य निर्वचनों को प्रस्तुत करते हैं। निर्वचनों को प्रदर्शित करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्थापित करते हैं –

---

१. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र ['निघण्टुः' इत्याख्ये व्याख्यातव्ये ग्रन्थपूर्वभागे] उक्तं तन्निरुक्तम्, तथैकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र [व्याख्यानात्मके ग्रन्थोत्तरभागे] निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम् (सायणः, ऋ०भू०)।

२. आचार्य यास्क आख्यातपद से प्रायः तिङन्त का ग्रहण करते हैं, न कि केवल धातु का। जैसे – पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीति (निरु०१.१), "वने न वायो न्यधायि चाकन्" (ऋ० १०.२९.१)... उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद्० (निरु०६.२८), प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य (निरु०७.१)।

३. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।। (म०भा० ३.१.१)।

२.१ प्रत्यक्षवृत्ति –

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन [1]विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् (निरु०२.१)।

जिन पदों में उदात्तादि स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम आदि व्याकरण के प्रक्रियारूपी संस्कार पदार्थ के अनुकूल (समर्थ) हों और अर्थानुकूल धातु तथा उसके अनुबन्धादि गुण या गुण-वृद्धि आदि विकार व्याकरण से युक्त हों तो उन पदों का निर्वचन व्याकरणप्रक्रिया से ही करें। वहाँ निरुक्त की प्रक्रिया अर्थात् नये ऊहादि की आवश्यकता नहीं है। व्याकरणप्रक्रिया के अनुकूल निर्वचनों को समर्थवृत्ति या प्रत्यक्षवृत्ति कहते हैं, जिसमें प्रकृति, प्रत्ययादि अर्थानुकूल स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसे अन्वितार्थवृत्ति, अवगतसंस्कार, विद्यमानक्रिय (प्रत्यक्षक्रिय), शब्दनिर्वचन आदि भी कहते हैं।[2] इस प्रक्रिया को आज हम 'अष्टाध्यायीप्रक्रिया' कह सकते हैं।

२.२ परोक्षवृत्ति –

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन (निरु० २.१)।

किसी पद का अर्थ स्वर एवं संस्कार से अन्वित न हों अर्थात् शब्द का अर्थ और शब्दगत धात्वादि का अर्थ भिन्न-भिन्न हों तथा गुणवृद्धिलोपागमादि विकार धातु के अनुकूल न हों, तब प्रवृत्तिसामान्य से अर्थात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के सादृश्य को देखकर अर्थानुकूल धात्वादि प्रकृतियों से एवं कृत्तद्धितसमासों के सादृश्य से निर्वचन करना चाहिए। क्योंकि अर्थ नित्य (=प्रधान) है और शब्द गौण है।[3] प्रधानाप्रधानों में प्रधान बलवान् होता है। अतः प्रधानभूत अर्थ को ही लेकर तदनुकूल धातु से ही निर्वचन करना चाहिए। गौणभूत शब्द में यथादृष्ट रूप (धातु, प्रत्ययादि) की उपेक्षा करनी चाहिए।[4] प्रकरणानुकूल अर्थ के विपरीत उस शब्दरूप के अनुकूल धातु से (रूपसामान्य से) निर्वचन कदापि नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त में निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार निर्वचन करें और शब्दव्युत्पत्ति के लिए अपनी प्रतिभा से व्याकरण की प्रक्रिया का ऊह करें।[5] इसमें विशेषतया ध्यातव्य है कि – शब्द का अभिधेयार्थ और निर्वचन से लभ्य अर्थ समान रहना चाहिए। इस सिद्धान्त से किये हुए निर्वचनों को असमर्थवृत्ति[6], परोक्षवृत्ति, अनन्वितार्थवृत्ति, दुरवगतसंस्कार, प्रकल्प्यक्रिय, अर्थनिर्वचन आदि कहा जाता है। इस

---

१. 'गुणेनान्वितौ' इत्यपि पाठः।

२. इह त्रिविधा व्यवस्था नाम्नाम्। तद्यथा– प्रत्यक्षक्रियाणि, प्रकल्प्यक्रियाणि, अविद्यमानक्रियाणीति। तत्र प्रत्यक्षक्रियाणि, तद्यथा– कारको हारक इति। प्रकल्प्यक्रियाणि, तद्यथा– गौरश्व इति। अविद्यमानक्रियाणि, तद्यथा– डित्थो डवित्थोऽरविन्दोऽर्वाङ् चन्द्र इति (दुर्गः, निरु० १.१२)। त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था। प्रत्यक्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयोऽतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः। अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः। अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देष्वेव निर्वचनाभ्युपायः (दुर्गः, निरु० १.१)।

३. अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् (दुर्गः, निरु० २.१)। रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो०ब्रा० १.१.२६)।

४. 'श्वघ्नी' शब्द का अर्थ स्वरूपतः 'कुत्ते को मारने वाला' यह अर्थ स्पष्ट दीखता है। पर यथार्थतः इसका अर्थ 'कितव' (जुआरी) है। जुआरी धनादि अपनी सम्पत्ति का नाश करता है। अतः इस अर्थ के अनुकूल आचार्य यास्क ने कहा है कि 'जो अपने धनादि का नाश करता है, वह 'श्वघ्नी' कहलाता है ''श्वघ्नी कितवो भवति– स्वं हन्ति'' (निरु० ५.२२)। यहाँ स्पष्ट ज्ञात होता है 'श्व' शब्द को 'स्व' समझते हुए शब्द के स्वरूप की उपेक्षा की गयी है और अभीष्ट अर्थ के अनुकूल निर्वचन किया गया है।

५. निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः (मी०शा०भा०, १.२.४९; १.३.१०)।

६. यहाँ 'असमर्थ' का अर्थ 'व्याकरण की प्रक्रिया अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ' है।

प्रक्रिया को हम उणादिप्रक्रिया भी कह सकते हैं।[1]

ब्राह्मणग्रन्थों में इस परोक्षवृत्ति का उल्लेख स्पष्टतया दीखता है। तद्यथा– **"ते देवा अब्रुवन्– मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति, यद् अब्रुवन्– मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति तन्मादुषम् अभवत्। तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद्, यन्मानुषं तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः"** (ऐ०ब्रा०३.३३)।[2] देवों ने जो यह कहा है कि प्रजापति का यह रेत (वीर्य, सन्तान) दूषित न हो, दूषित न हो। उसी से उस सन्तान का नाम 'मादुष' हो गया है। दूषित न होना ही मादुषपन है। इसी मादुष नाम को ही दकार के स्थान पर नकारादेशरूपी विकार करके परोक्षवृत्ति से 'मानुष' कहने लगे। (अति) परोक्षप्रियता के कारण मानुष नाम ही विद्वानों के द्वारा प्रसिद्ध किया गया है।[3] परन्तु इसमें 'दूषित न हो' यह अर्थ सर्वथा ही तिरोहित हो गया है। इसलिए इस शब्द के प्रयोग को **'अतिपरोक्षवृत्ति'** कहते हैं। 'मादुष' शब्द में अर्थानुकूल व्युत्पत्ति पूरा प्रत्यक्ष तो नहीं है, परन्तु कुछ सादृश्यता है। इसमें मूलरूप का अनुमान या ऊह कर सकते हैं। इसलिए इसप्रकार के प्रयोग को **'परोक्षवृत्ति'** कहते हैं। 'मा दुषद्' में तो अर्थानुकूल शब्दप्रयोग होने से और व्याकरणप्रक्रिया का पूरा प्रत्यक्ष होने से **'प्रत्यक्षवृत्ति'** कहते हैं। यास्क के निर्वचनों में भी यही शैली दृग्गोचर होती है कि अतिपरोक्षभूत शब्द का निर्वचन पहले परोक्षवृत्ति में दिखा कर पुनः प्रत्यक्षवृत्ति में दिखाते हैं। प्रत्यक्षवृत्ति से शब्द की व्युत्पत्ति पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार अतिपरोक्ष या परोक्ष में प्रवृत्त शब्दों का निर्वचन प्रत्यक्षवृत्ति में करके अभीष्ट (प्राकरणिक या प्रासंगिक) अर्थ को जानना चाहिए। परोक्षवृत्ति के कुछ उदाहरण निरुक्त से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं–

परोक्षवृत्ति		**प्रत्यक्षवृत्ति**
निघण्टुः (१.१)	....	निगन्तुः
कर्णः (१.९)	....	(नि) कृत्तः
सुविते (४.१७)	....	सु इते
कितवः (५.२२)	....	किं तव
दूळ्यः (५.२३)	....	दुर्धियः
अस्कृधोयुः (६.३)	....	अकृध्वायुः
ऋदूदरः (६.४)	....	मृदूदरः
शशमानः (६.८)	....	शंसमानः
कियेधाः (६.२०)	....	कियद्धाः

१. प्रायेण चोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्त्यन्ते (दुर्गः, निरु० १.१)।
बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कुर्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥ (म०भा० ३.३.१)।

२. यच्च [आपः] वृत्वा अतिष्ठन् तद् वरणोऽभवत्, तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः (गो०ब्रा० १.१.७)। स उ एव मखः, स विष्णुः। तत इन्द्रो मखवान् अभवत्। मखवान् ह वै तं मघवान् इत्याचक्षते परोक्षम्, परोक्षकामा हि देवाः (शत०ब्रा० १४.१.१.१३)।

३. जैसे आजकल 'देवदत्त' को प्यार से 'देव', 'देवा' या 'दत्त', 'दत्तू' आदि कहते हैं।

इरिणम् (९.८)	....	निर्ऋणम्
उलूखलम् (९.२०)	....	उरुकरम्
कण्टकः (९.३२)	....	कन्तपः
इन्द्रः (१०.८)	....	इन्धः / इदन्द्रः

२.३ अतिपरोक्षवृत्ति –

अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरु०२.१)। निरुच्यमान शब्द के रूप (ध्वनि) का किसी भी धातु (प्रकृति) के साथ किसी भी प्रकार का कोई सादृश्य न हो तो शब्द के स्वर या व्यञ्जन की सादृश्यता को लेकर अभीष्ट अर्थ के अनुकूल[1] धातु से निर्वचन करना चाहिए। ऐसे शब्दों के विषय में व्याकरण "**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**" (अष्टा० ६.३.१०८) से साधु मानकर मौन हो जाता है। ऐसे ही नैरुक्तों को यथोपदिष्टतया साधु मानते हुए मौन होकर निर्वचन का त्याग नहीं करना चाहिए। अर्थात् निर्वचन अवश्य करें। भले ही इसमें व्याकरण के प्रक्रियारूप संस्कारों की उपेक्षा करनी पड़े तो निःसंकोच करें। क्योंकि व्याकरण अपनी मर्यादाओं में बंधा हुआ है। व्याकरण एक शब्द की व्युत्पत्ति एक प्रकार से करके चरितार्थ हो जाता है। शब्द निष्पन्न होते ही व्याकरण का कार्य समाप्त हो जाता है।[2] पर निरुक्त सिद्ध शब्द के जितने अभीष्ट अर्थ होते हैं, उतने ही निर्वचन (व्युत्पत्तियाँ) करता है।[3] इसप्रकार की व्युत्पत्तियों में व्याकरण की प्रवृत्तियाँ सन्दिग्ध (मुग्ध) हो जाती हैं। अनवगत संस्कारवाले शब्दों में तो व्याकरण सर्वथा सन्दिग्धग्रस्त (विमुग्ध, अवरुद्ध) हो जाता है। जहाँ व्याकरण की गति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ निरुक्त की गति आरम्भ होती है[4] और शब्द की यात्रा को पूर्ण करती है। इसीलिए कहा गया है– "**तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च**" (निरु०१.१५)।[5]

इस तीसरे सिद्धान्त को अतिपरोक्षवृत्ति, अनवगतसंस्कार, अविद्यमानक्रिय आदि कहते हैं।[6] इसे हम

---

१. अर्थनित्यः परीक्षेत (निरु० २.१)।

२. तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानं अर्थनिर्वचनम्। व्याकरणं लक्षणप्रधानम् [=शब्दप्रधानम्] (दुर्गः, निरु० १.१५)। यास्क के अनेक व्युत्पत्तियों (निर्वचनों) में से किसी एक व्युत्पत्ति को पाणिनि ने अपने तन्त्र में स्वीकार किया है। जैसे– हिरण्य (२.१०) का अन्तिम निर्वचन उणादि में स्वीकृत है। पन्थाः (२.२८) का आद्य निर्वचन उणादि में अंगीकृत है। समुद्र (२.१०) के पांच निर्वचनों में से तीसरे निर्वचन को उणादि में अपनाया गया है। इसी प्रकार इन उदाहरणों में भी जानें– १. अहिः (२.१७)। २. रात्रिः (२.१८)। ३. असुराः (३.८)। ४. देवरः (३.१५)। ५. व्याघ्रः (३.१८)। ६. दूरम् (३.१९)। ७.नक्षत्राणि (३.२०)। ८. ऊर्दरम् (३.२०)। ९. चक्षुः (४.३)। १०. अद्रिः (४.४; ९.९)। ११. अतिथिः (४.५)। १२. सक्तुः (४.१०)। १३. लक्ष्मीः (४.१०)। १४. दारु (४.१५)। १५. शुन्ध्युः (४.१६)। १६. ऊर्णा (५.२१)। १७. चरुः (६.११)। १८. मण्डूकाः (९.५)। १९. रुद्रः (१०.५)। २०. इन्द्रः (१०.८)। २१. गर्भः (१०.२३)। २२. इन्दुः (१०.४१) आदि। इस लेख में सर्वत्र उदाहरण के रूप में दिये हुए शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए लेखक द्वारा लिखित "निरुक्त-निर्वचनानि" ग्रन्थ के उद्धृत सन्दर्भों को देखें।

३. तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि (निरु०२.७)।

४. अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देष्वेव निर्वचनाभ्युपायः (दुर्गः, निरु० १.१)।

५. निरुक्तं तु व्याकरणस्यैव कार्त्स्न्यम् (पद०, पृ०२)।

६. प्रत्यक्षवृत्ति आदि संज्ञाओं को स्पष्टतया जानने हेतु, स्मरण की सरलता के लिए उनमें विद्यमान भेद को तुलनात्मक दृष्टि से जानने के हेतु उन्हें इस तालिका में प्रस्तुत करते हैं–

प्रत्यक्षवृत्ति	परोक्षवृत्ति	अतिपरोक्षवृत्ति
समर्थवृत्ति	अस्पष्टवृत्ति	असमर्थवृत्ति

व्याकरण की भाषा में पृषोदरादिप्रक्रिया कह सकते हैं।[1] अतिपरोक्षभूत शब्दों में व्याकरण सर्वथा ही प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसा नहीं है। पाणिनि या उनसे पूर्व के आचार्यों के द्वारा जब व्याकरण की प्रक्रिया बनायी जा रही थी, तब सग्धिः, जग्धः, घासः, जघास, जक्षतुः आदि शब्दों में अद्-धातु की कल्पना कैसे की होगी? इन शब्दों का अद्-धातु के साथ क्या सादृश्य है? कोई ध्वनि (रूप) का सादृश्य तो इनमें है ही नहीं। केवल अर्थ के सादृश्य (निरुक्त की शैली) को लेकर ही उनमें अद्धातु की कल्पना कर व्याकरण की प्रक्रिया बनायी गयी है। अद्धातु की दृष्टि में जक्षतुः आदि शब्द अतिपरोक्ष ही हैं। व्याकरण की प्रक्रिया बनने के पश्चात् आज हमें इनकी व्युत्पत्तियों में कोई सन्देह उत्पन्न नहीं होता है, कोई अपलापपन या पागलपन दिखाई नहीं देता।[2] इसीप्रकार जहि में √हन्, एधि में √अस्, हितः, हित्वा में √धा, ईप्सति, ईप्सितः में √आप्लृ, इष्टः में √यज् आदि की कल्पना में समझ लेना चाहिए। पर इसप्रकार की प्रक्रियाकल्पना आचार्यों ने उन शब्दों में की है, जो लोक में अत्यधिक प्रचलित रहें हैं, जिनकी व्युत्पत्ति को प्रदर्शित करना अनिवार्य था। अतिपरोक्षभूत वैदिक या आर्ष शब्दों की सिद्धि के लिए पृषोदरादि से साधु या सिद्ध माना गया है। पाणिनि को इसप्रकार इसलिए करना पड़ा, क्योंकि ग्रन्थ को गौरव दोष से मुक्त करना था और शास्त्र को लघुतम[3] रख कर व्याकरण से उन्मुखी लोगों को पुनः प्रवृत्त (उत्साहित) करना अभिप्रेत था। पाणिनीय व्याकरण का गम्भीरतया अध्ययन करने के पश्चात् अवशिष्ट (अनवगतसंस्कारवाले) वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति यास्क की प्रक्रिया से जानने में, ऊह करने में व्यक्ति स्वयं समर्थ हो जाता है। उसके लिए पुनः प्रक्रिया को बनाने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः।

निरुक्त के अतिपरोक्षभूत कुछ उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

अतिपरोक्ष	परोक्ष	प्रत्यक्ष
१. नरकम् (१.११)	न्यरकम्	नीचैर्गमनम् (=नीचैररणम्)
२. कच्छः (४.१८)	खच्छः	खच्छदः
३. कुल्माषाः (१.४)	कुल्माषदाः	कुलसदाः (कुलेषु सीदन्ति)
४. वयाः (१.४)	वयनाः	वातायनाः
५. शाखाः (१.४)	शखाः	शकाः (√शक्)

अन्वितार्थवृत्ति	दुरन्वितार्थवृत्ति	अनन्वितार्थवृत्ति
अवगतसंस्कार	दुरवगतसंस्कार	अनवगतसंस्कार
प्रत्यक्षक्रिय (विद्यमानक्रिय)	प्रकल्प्यक्रिय	अविद्यमानक्रिय
शब्दनिर्वचन	अर्थनिर्वचन	अर्थनिर्वचन, पर्यायनिर्वचन
अष्टाध्यायीप्रक्रिया	उणादिप्रक्रिया	पृषोदरादिप्रक्रिया, निरुक्तप्रक्रिया
यौगिक	योगरूढ	रूढ

[रूढ जैसे प्रतीत होने वाले वैदिक शब्दों को निरुक्त यौगिक ही मानता है।]

१. अपरिसमाप्ता ह्युणादय इति लक्षणविदः प्रतिजानते। सर्वथापि लक्षणासम्भवे पृषोदरादिपाठसिद्धिरेव द्रष्टव्या। तत्र हि यथाध्ययनमेव शब्दाः साधीयांसो भवन्त्यभिव्याहारानभिघातायेति हि लक्षणविदो मन्यन्ते (दुर्गः, निरु० १.१)।

२. तथाकथित आधुनिक भाषाविज्ञानी यास्क की बड़े ही कठोर शब्दों में आलोचना करते हैं। अपनी कल्पित मान्यताओं पर यास्क के निर्वचनों को परखते हैं। उसमें खरे उतरे तो ठीक, नहीं तो अमुक-अमुक निर्वचन में यास्क का पागलपन है, बेहूदा पागलपन है आदि शब्दों से आलोचना करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे अपने उस कार्य को बड़ा ही शोधपूर्ण एवं वैज्ञानिक मानते हैं। वे वेद और आर्षग्रन्थों को समझने का प्रयास ही नहीं करते हैं।

३. कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् (म०भा०, पस्प०, पृ० ५५)। सामान्येनोपदेशश्च शास्त्रे लघ्वर्थमाश्रितः (वा०प० २.१७६)।

६. पुरुषः (२.३)	पुरिषः	पुरिषादः
पुरुषः (२.३)	पुरिषयः	पुरिशयः
७. दुहिता (३.४)	दुर्हिता	दूरे हिता[1]

परोक्षवृत्ति तथा अतिपरोक्षवृत्तियों में शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण की प्रक्रियाओं से कैसे-कैसे की जाती रही है, इसे स्वयं आचार्य यास्क कुछ उदाहरणों से दिखाते हुए निर्वचनों के अन्य सिद्धान्तों को भी आगे प्रस्तुत करते हैं—

२.४ विभक्ति का विपरिणाम —

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् (निरु०२.१)— किसी पद की विभक्ति प्राकरणिक अर्थ के अनुकूल न हो तो अभीष्ट अर्थ के अनुकूल विभक्ति का विपरिणाम करें।[2] स्वामी ब्रह्ममुनि जी यहाँ विभक्ति से पदविभाग अर्थ का ग्रहण करते हैं— **यथार्थं यथाशयं यथाभिप्रायं विभक्तीः पदविभक्तीः पदविभागान् सन्नमयेत् सङ्कल्पयेत्** (निरुक्तसम्मर्शः २.१, पृ.६६)। अर्थात् शब्दों में यह प्रकृति भाग है, यह प्रत्ययभाग है इत्यादि अर्थ के अनुसार जानना चाहिए।

२.५ धातु के आद्य वर्ण का अवशिष्ट रहना —

प्रत्तम्, अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते (निरु०२.१)— प्रत्तम् एवं अवत्तम् शब्दों में धातु का आदि वर्ण ही बचा रहता है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि— इनका आद्य भाग 'प्र' एवं 'अव' ये दोनों उपसर्ग हैं और अन्त्य भाग 'तम्' विभक्ति सहित 'क्त' प्रत्यय है, इतना तो स्पष्ट ज्ञात होता है। मध्यस्थ 'त्' वर्ण निश्चितरूप से धातु का अवयव है। व्याकरण की कल्पना के आद्यकाल में इन शब्दों के इस त्-वर्ण के सादृश्य को लेकर आचार्यों ने अर्थानुकूल 'डुदाञ् दाने' (३.९) और 'दो अवखण्डने' (४.३९) धातुओं का ग्रहण कर प्रत्तम्, अवत्तम् शब्दों को व्युत्पन्न कर लिया है। वैसे ही निरुक्त में भी अनवगतसंस्कारवाले शब्दों में वर्णसादृश्य से अर्थानुकूल धातु का ग्रहण करके निर्वचन करना चाहिए।[4] पर वह धातु प्रासंगिक अर्थ के विपरीत नहीं होना चाहिए। तद्यथा— यहाँ त्-वर्ण

---

१. आगे '४.७ वर्णसादृश्य से निर्वचन' के अन्तर्गत 'वणिक्' शब्द के व्याख्यान में भी अतिपरोक्ष आदि तीनों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२. व्यत्ययो बहुलम् (अष्टा० ३.१.८५)। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७.१.३९)। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथार्थं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथार्थं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम् (म०भा०पस्प०)। याज्ञिकाः पठन्ति— "प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् (म०भा०पस्प०)। विभक्तिविपरिणाम का कथन एक उपलक्षणमात्र है। इसीप्रकार वेदों में लिंग, पुरुष, वचन, काल आदि का व्यत्यय ऊहनीय हैं। इसप्रकार के कार्यों को व्याकरण में "व्यत्ययो बहुलम्" (अष्टा० ३.१.८५) सूत्र से निर्वाह कर लिया जाता है —

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां, सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।। (म०भा०३.१.८५)।
लिङ्गं धातुं विभक्तिश्च सन्नमेत्तत्र तत्र च (बृ०दे० २.१०१)।

३. प्र + √दा + क्त > प्र + दत् + त— अच उपसर्गात्तः (अष्टा० ७.४.४७) > प्र + त् + त— झरो झरि सवर्णे, खरि च (अष्टा० ८.४.६५, ५५) > प्रत्तम्। अव + √दो + क्त > अव + दा + त— आदेच उपदेशेऽशिति (अष्टा० ६.१.४५) > अवत्त (शेषं पूर्ववत्)।

४. 'प्रत्तम्, अवत्तम्' के समान निरुक्त के इन शब्दों में भी धातु का आद्य वर्ण मात्र अवशिष्ट रहता है— १. आचार्यः (१.४)।

से अभीष्टार्थ के विपरीत तादि या दादि किसी भी अन्य धातु का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार अग्रिम सिद्धान्तों में भी जानना चाहिए।

२.६ आद्य वर्ण का लोप—

अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति– स्तः, सन्तीति (निरु०२.१)। इसके अतिरिक्त गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) स्थलों पर अस् धातु के आद्य वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे– स्तः, सन्ति आदि। व्याकरण में भी 'स्' वर्ण के सादृश्य से अस्-धातु की कल्पना की गयी है। इसी प्रकार वैदिक शब्द में भी लुप्त आद्य वर्ण को प्रकरणशः पहचान कर व्युत्पत्ति करें और अर्थ को जानें।[1]

२.७ अन्त्य वर्ण का लोप —

अथाप्यन्तलोपो भवति – गत्वा, गतमिति (निरु०२.१)। कुछ स्थानों पर गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) स्थलों में धातु के अन्त्य वर्ण का लोप हो जाता है। जैसे कि– गत्वा, गतम्।[2] व्याकरणशास्त्र के इस नियम के

---

२. ह्यः (१.६)। ३. अन्यः (१.६)। ४. अध्वर्युः (१.८)। ५. रूपम् (२.३;३.१३)। ६. अंशुः (२.५)। ७. अपत्यम् (३.१)। ८. जामि (३.६)। ९. असुराः (३.८)। १०. अङ्गुलयः (३.८)। ११. अन्नम् (३.९)। १२. धनम् (३.९)। १३. अन्तिकम् (३.९)। १४. सङ्ग्रामः (३.९)। १५. त्रयः (३.१०)। १६.चत्वारः (३.१०)। १७. कुत्सः (३.११)। १८. खम् (३.१३)। १९. रूपम् (३.१३)। २०. विधवा (३.१५)। २१. श्वा (३.१८)। २२. सिंहः (३.१८)। २३. व्याघ्रः (३.१८)। २४. यज्ञः (३.१९)। २५. कूपः (३.१९)। २६. पुराणम् (३.१९)। २७. नवम् (३.१९)। २८. त्वः (३.२०)। २९. ग्राः (३.२१;१०.४७)। ३०. त्रितः (४.६)। ३१. भद्रम् (४.१०)। ३२. तुग्वन् (४.१५)। ३३. तायुः (४.२४)। ३४. नीचैः (४.२४)। ३५. उच्चैः (४.२४)। ३६. अजाः (४.२५)। ३७. वंशः (५.५)। ३८. अध्रिगुः (५.११)। ३९. निचुम्पुणः (५.१७)। ४०. स्वम् (५.२२)। ४१. नौः (५.२३)। ४२. काकुदम् (५.२६)। ४३. वीरिटम् (५.२७)। ४४. नियुतः (५.२८)। ४५. आशाः (६.१)। ४६. वाणी (६.२)। ४७. अग्रम् (६.३)। ४८. सललूकम् (६.३)। ४९. निशृम्भाः (६.३)। ५०. उपसि (६.६)। ५१. स्यालः (६.९)। ५२. स्यम् (६.९)। ५३. अघम् (६.११)। ५४. चरुः (६.११)। ५५. क्रिमिः (६.१२)। ५६. पुरन्धिः (६.१३)। ५७. जवारु (६.१७)। ५८. कुलिशः (६.१७)। ५९. शकटम् (६.२२)। ६०. कुरुङ्गः (६.२२)। ६१. कुलम् (६.२२)। ६२. अमत्रः (६.२३)। ६३. बकुरः (६.२५)। ६४. वृकः (६.२६)। ६५. बुन्दः (६.३२)। ६६. ऋदूपे (६.३३)। ६७. वृन्दम् (६.३४)। ६८. किः (६.३५)। ६९. अग्निः (७.१४)। ७०. महिषाः (७.२६)। ७१. द्रविणसः(८.२)। ७२. आविः(८.१५)। ७३. आविष्ट्यः (८.१५)। ७४. स्वाहा (८.२०)। ७५. शकुनिः (९.३)। ७६. मङ्गलम् (९.४)। ७७. मण्डः (९.५)। ७८. अद्रिः(९.९)। ७९.रथः(९.११)। ८०. इषुधिः(९.१३)। ८१. सङ्गः (९.१४)। ८२. ज्या (९.१७)। ८३.कशा (९.१९)। ८४. आजिः (९.२३)। ८५. त्रितः (९.२५)। ८६. अरण्यम् (९.२९)। ८७.मुसलम् (९.३५)। ८८. सीरः (९.४०)। ८९. कवन्धम् (१०.४)। ९०. इन्द्रः (१०.८)। ९१. उत्सः (१०.९) ९२. पर्जन्यः (१०.१०)। ९३. बृहस्पतिः (१०.११)। ९४. ब्रह्मणस्पतिः (१०.१२)। ९५. पतयः (१०.१६)। ९६. कः (१०.२२)। ९७. जरायुः (१०.३९)। ९८. चन्द्रमाः (११.५)। ९९. कलशः (११.१२)। १००. नवग्वाः (११.१९)। १०१. आगः (११.२४)। १०२. किल्विषम् (११.२४)। १०३. स्वसा (११.३२)। १०४. सुरणानि (११.५०)। १०५. अरुषीः (१२.७)। १०६. भुरण्युः (१२.१२)। १०७. विषम् (१२.२६) इत्यादि।

१. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति (म०भा०, पस्प०)। निरुक्त के व्याख्यात शब्दों में जिन धात्वादि के आद्य वर्ण व भाग का लोप हो जाता है, उन्हें यहाँ दिखाते हैं– १. चक्षि > अक्षि (१.९)। २. दृषि: > ऋषिः (२.११)। ३. पृश्निः (२.१४)। ४. मुहुर्तः (२.२५)। ५. स्खलः > खलः (३.१०)। ६. पर्शुः (४.६)। ७. पृष्ठम् (४.३)। ८. ऋधक् (४.२५)। ९. वराहः (५.४)। १०. वपुष्करः > पुष्करः(५.१४)। ११. ऊर्णा (५.२१)। १२. मृदूदरः > ऋदूदरः (६.४)। १३. शूर्पम् (६.९)। १४. असूर्ते (६.१५)। १५. सूर्ते (६.१५)। १६. वायुः > आयुः (९.३)। १७. मुद्गलः (९.२४)। १८. इन्द्रः(१०.८)। [नि०९]। १९. विष्णुः (१२.१८) इत्यादि।

२. अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (अष्टा०६.४.३७)।

आधार पर निरुक्तशास्त्र में भी अन्त्य वर्णों का लोप हो जाता है, ऐसा जानें। यहाँ आचार्य का अभिप्राय 'अन्त्य वर्णमात्र का लोप' को जानना चाहिए, न कि अनुनासिक वर्णमात्र। अन्त्य वर्ण का लोप होने के पश्चात् अवशिष्ट वर्णों अर्थात् विद्यमान वर्णों के सादृश्य से अभीष्ट अर्थानुकूल धातुओं का ऊह करके निर्वचन करना चाहिए।[1]

२.८ उपधालोप –

अथाप्युपधालोपो भवति – जग्मतुः, जग्मुरिति (निरु०२.१)। इसके अतिरिक्त किन्हीं शब्दों में गुणवृद्धि के निषेध (क्ङिति) के स्थलों में उपधालोप हो जाता है। जैसे– जग्मतुः, जग्मुः।[2] इनमें ग् और म् इन दो वर्णों के सादृश्य से और अर्थ के अनुरूप गम् धातु का ग्रहण किया गया है। इस प्रक्रिया को वैदिक शब्दों में भी जान लेना चाहिए।[3]

२.९ उपधाविकार –

अथाप्युपधाविकारो भवति– राजा, दण्डीति (निरु०२.१)। कभी-कभी कुछ शब्दों की उपधा में दीर्घादि विकार होते हैं। जैसे— राजा, दण्डी। यहाँ दोनों में ही उपधादीर्घ हुआ है।[4] इसीप्रकार वैदिकशब्दों में या निरुक्त की व्युत्पत्तिप्रक्रिया में बहुल करके उपधा में दीर्घ, ह्रस्व, इत्व, उत्व आदि अनेकों विकार होते हैं।[5]

२.१० वर्णलोप –

अथापि वर्णलोपो भवति– तत्त्वा यामीति (निरु०२.१)। और कहीं-कहीं वर्ण का लोप हो जाता है। तद्यथा– यामि।[6] यहाँ याचामि [√याच् +आ+मि] के चकार का लोप होकर 'यामि' निष्पन्न हुआ है। यह वैदिक

१. अन्त्य वर्ण या भाग के लोप के लिए निरुक्त के इन उदाहरणों को देखें– १. कक्षः(२.२)। २. चर्म(२.५)। ३. गौः (२.५;२.१४)। ४. अपत्यम्(३.१)। ५. श्मश्रुः (३.५)। ६. द्वौ(३.१०)। ७. काकः (३.१८)। ८. स्त्रियः (३.२१)। ९. रक्षः (४.१८)। १०. अन्धः। ११. ऊर्मिः (५.२३)। १२. कुरुः (६.२२)। १३. मत्स्याः (६.२७)। १४. तुविक्षम् (६.३३)। १५. मातरिश्वा (७.२६)। १६. सखायः (७.३०)। १७. अतूर्तः (९.१०)। १८. धनुः (९.१६)। १९. परुष्णी (९.२६)। २०. इन्द्रः (१०.८)। [नि०१०, १३] २१. शेवः (१०.१७)। २२. शिवम् (१०.१७)। २३. मित्रः (१०.२१)। २४. चन्द्रः (११.५)। २५. पृथुष्टुके (११.३२)। २६. विषम् (१२.२६) इत्यादि। सिद्धान्त २.५ के उदाहरणों में भी अन्त्य भाग का लोप होकर आदि वर्ण मात्र शेष रहता है। अतः उन्हें भी यहाँ उदाहरण के रूप में समझ सकते हैं। डित्-प्रत्ययान्त के सभी शब्द भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं।

२. √गम् + अतुस् / उस्(लिटि) – गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि(अष्टा० ६.४.९८)।

३. उपधालोप के उदाहरण – १. वृक्षः(२.६)। २. अभीक्ष्णम् (२.२५)। ३. दश(३.१०)। ४. वज्रः(३.११)। ५. दभ्रम् (३.२०)। ६. द्वारः(८.९)। ७. सप्तिः(९.३)। ८. कशा (९.१९) [नि०२]। ९. बधिरः (१०.४१)। १०. अघ्न्या(११.४३) आदि।

४. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, सौ च(अष्टा० ६.४.८,१३)।

५. उपधाविकार के उदाहरण – १. धूः (३.९) [धार् > धुर्]। २. बिलम्(२.१७)। ३. कुत्सः (३.११) [कृत् +स > कुत्सः]। ४. गृहाः (३.१३)। ५. मेनाः (३.२१)। ६. शेपः (३.२१)। ७. मेहना (४.४)। ८. वासराणि (४.७)। ९. सप्त (४.२६)। १०.आङ्गूषः (५.११)। ११. शिमी (५.१२)। १२. निचुम्पुणः (५.१७)। १३. पृथक् (५.२५)। १४. कूलम् (६.१)। १५. ओजः (६.८)। १६. भूमिः (६.२०)। १७. तुरीपम् (६.२१)। १८. विकटः (६.३०)। १९. आदुरिः (६.३१)। २०. त्वष्टा (८.१३) [नि०२]। २१. मण्डूकाः (९.५)। २२. विभीदकः (९.८)। २३. स्वर्कः (११.१४)। २४. केशी (१२.२५) आदि।

६. निघण्टु(३.१९) में याञ्चाकर्मवाले शब्द प्रायः वर्णलोप किये हुए शब्द ही पठित हैं। यथा– वीमहे > ईमहे। याचामि > यामि। मनामहे > मन्महे आदि।

प्रयोग है।[1] आचार्य स्वयं अन्यत्र वर्णलोप के उदाहरण को शब्दशः प्रस्तुत करते हैं – ''**अपि वा, असुरत्वम् आदिलुप्तम्**'' (१०.३४)। अर्थात् वसुरत्व के आदि वर्ण वकार का लोप होकर 'असुरत्व' शब्द सिद्ध होता है।

२.११.१ द्विवर्णलोप –

अथापि द्विवर्णलोपः – तृच इति (निरु० २.१)। और कहीं तो दो वर्णों का लोप होता है। जैसे- तिसृणाम् ऋचां समाहारः तृचः [त्रि (त् र् इ) +ऋचः > त् + ऋचः > तृचः]। व्याकरण की प्रक्रिया में तो ''**ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि**'' (वा० ६.१.३७) इस वार्त्तिक से 'त्रि' को सम्प्रसारण (पूर्वरूप) और 'ऋचः' के आद्य अक्षर 'ऋ' इस एक वर्ण का लोप हो जाता है [त्रि (त् र् इ) + ऋचः > तृ इ + चः > तृ + चः > तृचः]। यहाँ इवर्ण को पूर्वरूप हुआ है, पुनरपि अदर्शन सामान्य से इसे भी लोप मान सकते हैं। इससे प्रक्रिया सम्बन्धी कोई दोष नहीं आता है। इसप्रकार व्याकरण की प्रक्रिया में भी दो वर्णों का लोप सिद्ध होता है।

पुत्रशब्द के व्याख्यान में स्कन्दस्वामी, महेश्वर कहते हैं कि– ''**पुत्रः पुरु त्रायत इत्यविभक्तिको निर्देशः। पुरुणो दृष्टादानुश्रविकात् (=लौकिकात् पारलौकिकात्) च दुःखात् त्रायत इति पुरुत्रः सन् द्विवर्णलोपेन पुत्रः**'' (स्क०म०,निरु० २.११)। यास्क की निर्वचनप्रक्रिया में भी द्विवर्ण लोप देखा जाता है। यथा – ''**भवद् रमयतीति वा भद्रम्**'' (निरु० ४.१०) इस निर्वचन में 'भवद्' उपपद के 'व्-अ' वर्णों का लोप हो जाता है [भवद् + √रम् + ड > भद् + र् + अ > भद्र]।[2]

२.११.२ अनेक वर्णों का लोप–

द्विवर्णलोप का कथन अनेक वर्णों के लोप का उपलक्षण जानना चाहिए। क्योंकि अनेकों शब्दों में दो से अधिक वर्णों का भी लोप हो जाता है। जैसे कि– ''**भाजनवद् वा भद्रम्**'' (निरु० ४.१०)। इस निर्वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें 'अ-न्-अ' इन तीन वर्णों का लोप हो जाता है। व्युत्पत्ति इसप्रकार है– 'भाजन + र (मत्वर्थे) > भाज् + र > भज् + र > भद् + र > भद्र'।[3]

---

१. वर्णलोप के अन्य वैदिक प्रयोग इसप्रकार हैं– १. शाखाः(१.४)। २. नाकः(२.१४) [नायकः > नाकः]। ३. स्तेनः (३.१९)। ४. मांसम्(४.३)। ५. मेहना(४.४)। ६. तितउ(४.९)। ७. कायमानः(४.१४)। ८. शीरम्(४.१४)। ९. ऋधक् (४.२५)। १०. नराः(५.१)। ११. उर्वशी(५.१३)। १२. कितवः(५.२२)। १३. अंसत्रम्(५.२५)। १४. आशुशुक्षणिः (६.१)। [नि०२]। १५. ऋदूदरः(६.४)। १६. कपनाः(६.४)। १७. अप्वा(६.१२) [अप > अप्]। १८. यादृश्मिन्(६.१५)। १९. शुरुधः(६.१६)। २०. प्रतद्वसू (६.२१)। २१. मत्स्याः (६.२७)। २२. गरुत्मान्(७.१८)। २३. मिथुनौ(७.२९)। २४. सुष्वयन्ती(८.११)। २५. त्वष्टा(८.१३) [नि०३]। २६. आयुः(९.३)। [वायुः > आयुः]। २७. ऋभुः(११.१५,द्र०९.३)। २८. शकुनिः (९.३)। २९. मङ्गलम् (९.४)। ३०. मूजवान् (९.८)। ३१. ओषधयः (९.२७)। ३२. उत्सः (१०.९) [नि०३]। ३३. पर्जन्यः(१०.१०)। ३४. स्तूपः(१०.३३)। ३५. कविः(१२.१३) इत्यादिः।

२. द्विवर्णलोप के अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं– १. अरणः(३.२)। २. ऊर्ज्(३.८)। ३. सत्यम् (३.१३)। ४. पुराणम्(३.१९)। ५. अर्भकम्(३.२०)। ६. जहा(४.१)। ७. कन्या (४.१५)। ८. हरिः (४.१९)। ९. विश्पतिः(४.२६)। १०. सप्तपुत्रम्(४.२६)। ११.हेमन्तः(४.२७)। १२.चनः (६.१६)। १३. उष्णीषम्(७.१२) १४. अग्निः(७.१४) १५. मूर्धा(७.२७)। १६. तनूनपात् [नपात्](८.५)। १७. मङ्गलम् (९.४)। १८. इरिणम्(९.८)। १९. दुन्दुभिः (९.१२)। २०. बृहस्पतिः (१०.११)। २१. तार्क्ष्यः (१०.२७)। २२. परुच्छेपः (१०.४२)। २३. मृत्युः (११.६)। २४. मत्सखा(१३.४) इत्यादि।

३. अनेकवर्णलोप के अन्य उदाहरण– १. उत्तरः(२.११)। २. त्वादातम्(४.४)। ३. तितउ (४.९) [नि०३]। ४. अन्धः(५.१)। ५. व्राः(५.३)। ६. हरयाणः(५.१५)। ७. क्रव्यम् (६.११)। ८. अमवान्(६.१२)। ९. अमतिः(६.१२)। १०. ततनुष्टिः(६.१९)। ११. विवस्वान् (७.२६)। १२. नराशंसः(८.६)। १३. त्वष्टा(८.१३)। १४. ऊर्ध्वः(८.१५)। १५. मङ्गलम्(९.४)। १६. बालः(९.१०)। १७. पृथुष्टुके(११.३२)। १८. पांसुरे(१२.१९) आदि। सिद्धान्त– २.५ के कुछ उदाहरण और वक्ष्यमाण

२.१२ आद्य वर्ण (भाग) का व्यत्यय –

अथाप्यादिविपर्ययो[१] **भवति– ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्य इति** (निरु० २.१)। कई बार तो शब्दों के आद्य वर्ण के स्थान पर वर्णव्यत्यय हो जाता है। तद्यथा– ज्योतिः आदि। ज्योतिशब्द में 'द्युत दीप्तौ' (१.४९३) धातु से औणादिक इसिन् प्रत्यय[२] होकर आद्य वर्ण 'द्' को 'ज्' हो जाता है। हन् धातु से अप्-प्रत्यय और हकार को घकार होकर[३] 'घन' शब्द सिद्ध होता है। 'भिदिर् विदारणे' (७.२) धातु से उप्रत्यय[४] और आद्य वर्ण भकार को बकार होकर 'बिन्दुः' शब्द निष्पन्न होता है।[५] 'भट भृतौ' (१.२००) या 'भट परिभाषणे' (१.५२९) धातु से ण्यत् प्रत्यय एवं आद्य वर्ण भकार को वकार होकर 'वाट्य' शब्द उपपन्न होता है। नैरुक्त प्रक्रिया में भी अनेकों शब्दों में आद्य वर्ण के स्थान पर वर्णव्यत्यय देखा जाता है।[६]

२.१३ आद्यन्तविपर्यय –

पूर्वपरभाव अर्थात् यथाक्रम के विपरीतत्व (क्रम के भंग) को ही आद्यन्तविपर्यय कहते हैं। यह विपर्यय (क्रमपरिवर्तन) रूपी कार्य वर्ण, वर्णसमुदाय एवं शब्दों में भी देखा जाता है। आद्यन्तविपर्यय करने पर भी कभी-कभी अर्थ में परिवर्तन नहीं भी होता है। जैसे– √तप ऐश्वर्ये (४.४८), √पत ऐश्वर्ये[७] (क्षीर० ४.४८, पाठा०) अस्तु।

अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति– स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्क्विति (निरु० २.१)। कुछ शब्दों में तो आदि (पूर्व) वर्ण अन्त (बाद) में जाता है तथा अन्तिम (बाद का) वर्ण आदि (पूर्व) में आता है। यथा– स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्कु आदि। श्च्युतिर् क्षरणे (१.३४) धातु से घञ् प्रत्यय और आद्यन्तवर्णविपर्यय होकर 'स्तोकाः' शब्द निष्पन्न होता है [√श्च्युत् + अ > स्कुत् (यलोपकुत्वौ) + अ > स्तुक् + अ > स्तोक]। सृज विसर्गे (४.६७) धातु से उप्रत्यय[८] और आद्यन्तविपर्यय होकर रज्जुशब्द व्युत्पन्न होता है [√सृज् + उ > सर्ज् + उ > रस्ज् + उ >

सिद्धान्त ४.६ एवं ४.७ के सभी उदाहरण भी यहाँ गृहीत होंगे। उपस्थितपाः सन् अनेकवर्णलोपादिना स्तिपाः, अग्निरुच्यते। (देव०, नि०नि० ४.३.७८)।

१. 'आदिव्यापत्तिः' इति स्कन्दमहेश्वरपाठः।

२. द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उणा०२.११२)।

३. मूर्तौ घनः (अष्टा० ३.३.७७)।

४. शृस्वृस्निहित्रप्यसि० (उणा० १.१०) इति बाहुलकाद् भिदेरपि उप्रत्ययः।

५. बिन्दत्यवयवीभवतीति बिन्दुः परिमाणं जलादिकणो वा (दया०, उणा० १.१०)। [बिदि अवयवे (१.५२) + उ > बिन्दुः]।

६. आदिव्यत्यय के नैरुक्त उदाहरण– १. कम्बोजाः(२.२)। २. स्वर्(२.१४)। ३. पिजवनः (२.२४)। ४. एवैः(२.२५)। ५. उर्वीः(२.२६)। ६. अङ्गुलयः(३.८) [नि०३, ४]। ७. अभीशवः (३.९)। ८. बलम्(३.९)। ९. प्रपित्वे(३.२०)। १०. इषिरेण(४.७)। ११. इष्मिणः(४.१६)। १२. भरः(४.२४)। १३. दूतः(५.१)। १४. शर्याः(५.४)। १५. आङ्गूषः(५.११)। १६. तृपलप्रभर्मा(५.१२)। १७. ऋजीषी(५.१२)। १८. द्रप्सः(५.१४)। १९. स्वम्(५.२२)। २०. काकुदम्(५.२६)। २१. आशा(६.१)। २२. कूलम्(६.१)। २३. निशृम्भाः(६.३)। २४. जरूथम्(६.१७)। २५. बुन्दः(६.३९)। २६. गायत्री (७.१२) [नि०३]। २७. द्वारः(८.९)। २८. इरिणम्(९.८)। २९. बालः(९.१०)। ३०. कशा(९.१९) [नि०४]। ३१. उलूखलम्(९.२०) [नि०३]। ३२. मित्रः(१०.२१) [नि०२]। ३३. कुहूः (११.३२)। ३४. गौरी, गौरः(११.३९)। ३५. पांसवः(१२.१९)।

७. पत्यते ऐश्वर्यकर्मा(निघं०२.२१.२)।

८. सृजेरसुम्च [सलोपः](उणा०१.१५)। उणादिप्रक्रिया में तो धातु के सकार का लोप और 'असुम्' आगम होकर रज्जुशब्द सिद्ध होता है [√सृज्+उ > ऋ अस् ज्+उ > रस्ज्+उ > रज्जु]।

रज्जु]। कस गतौ (१.५९९) धातु से क्त[1] प्रत्यय एवं वर्णों का आद्यन्तपरिवर्तन होकर 'सिकता' शब्द सिद्ध होता है [√कस् + इट् + क्त > कसित > सिकता]। कृती छेदने (६.१४४) धातु से उप्रत्यय[2] और वर्णविपर्यय होकर 'तर्कु' शब्द निष्पन्न होता है [√कृत् + उ > कर्त् + उ > तर्क् + उ > तर्कु]।

आचार्य स्वयं इसप्रकार के आद्यन्तविपर्यय का उल्लेख शब्दशः करते हुए अनेकों शब्दों का निर्वचन करते हैं। इसके लिए इनके निर्वचनों को देखें– १.नभः (२.१४)। २. सिंहः (३.१८)। ३. अर्धम् (३.२०)। ४. सक्तुः (४.१०)। ५. अंहतिः, अंहस्, अंहुः (४.२५)। ६. तलम् (५.२६)। ७. कूलम् (६.१)। ८. गायत्री (७.१२)। ९. रथः। १०. पर्जन्यः (१०.१०)। ११. मधु (१०.३१)। १२. चारुः (११.५)। इनके अतिरिक्त अनेकों शब्दों में आचार्य को आद्यन्तविपर्यय अभीष्ट है, यह उनके निर्वचनों से स्पष्ट हो जाता है।[3]

२.१४ अन्त्य वर्ण का व्यत्यय –

अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति (निरु० २.१)। **ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मध्विति** (निरु० २.२)। कहीं-कहीं पर अन्तिम वर्ण के स्थान पर भी वर्णव्यत्यय होता है। तद्यथा– ओघः, मेघः आदि। 'वह प्रापणे' (१.७३०) और 'मिह सेचने' (१.७१८) धातुओं से घञ् प्रत्यय और अन्त्य हकार को घकार[4] होकर ओघः, मेघः शब्द सिद्ध होते हैं। 'ओघः' में सम्प्रसारण एवं गुण छान्दस कार्य हैं। 'णह बन्धने' (४.५५), 'गाहू विलोडने' (१.४३२) धातुओं के हकार को धकार होकर क्रमशः नाधः[5], गाधः शब्द सिद्ध होते हैं। 'वह प्रापणे' (१.७३०) धातु से ऊप्रत्यय[6] और 'मदी हर्षे' (४.९८) या 'मद तृप्तियोगे' (१०.१७४) धातु से उप्रत्यय[7] होकर एवं अन्त्य वर्णों को धकार होकर क्रमशः 'वधूः', 'मधु' शब्द उपपन्न होते हैं।[8]

---

१. अञ्चिघृसिभ्यः क्तः (उणा० ३.८९) इति बाहुलकात् कसेरपि क्तः।

२. कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च (उणा० १.१६)। कृन्तति छिनत्ति वस्त्रादिकमनेन स तर्कुः कर्तनी वा (दया०, तत्रैव)। पाणिनि ने यहाँ यास्क के आद्यन्तविपर्यय को माना है, परन्तु इसके पूर्वतन सूत्र में 'रज्जु' शब्द के लिए आद्यन्तविपर्यय को नहीं माना है।

३. आद्यन्तविपर्यय के अभीष्ट स्थल– १. शाखाः (१.४)। २. पर्व (१.२०)। ३. पयस् (२.५)। ४. अंशुः (२.५)। ५. शृङ्गम् (२.७)। ६. हिरण्यम् (२.१०)। ७. नभः (२.१४)। ८. दिशः (२.१५)। ९. ऊर्ज् (३.८)। १०. असौ (३.१६)। ११. यज्ञः (३.१९)। १२. प्रपित्वे (३.२०)। १३. अर्भकम् (३.२०)। १४. अपीच्यम् (४.२५)। १५. अन्धः (५.१)। १६.श्वात्रम् (५.३)। १७. अंसत्रम् (५.२५)। १८. शकटम् (६.२२)। १९. बकुरः (६.२५)। २०.अंहुरः (६.२७)। २१. क्रिविर्दती (६.३०)। २२. साम (७.१२)। २३. तनूनपात् (८.५)। २४. दुन्दुभिः (९.१२)। २५. उलूखलम् (९.२०)। २६. नृम्णम् (११.९)। २७. मरुत् (११.१३)। २८. गौरी, गौरः (११.३९) इत्यादि।

४. पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया में तो 'न्यङ्क्वादीनां च' (अष्टा० ७.३.५३) सूत्र से कुत्व होता है।

५. नहो धः (अष्टा० ८.२.३४) यह धत्व निपातन से घञ् परे होने पर भी हुआ है।

६. वहेर्धश्च (उणा० १.८३)।

७. फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (उणा० १.१८)। मनेर्धश्छन्दसि (उणा० २.११८) [√मन ज्ञाने (४.६५)+उ / उसि > मधुः]।

८. नैरुक्त शब्दों में अन्त्य वर्ण के स्थान पर होने वाले व्यत्यय के उदाहरण– १. दण्डः (२.२)। २. नभः (२.१४)। ३. उषाः (२.१८)। ४. मुहुर्तः (२.२५)। [तु > त]। ५. अङ्गुलयः (३.८) [नि० ५,६,७]। ६. चत्वारः (३.१०)। ७. अष्टौ (३.१०)। ८. दश (३.१०)। ९. अम्बु (३.१०)। १०. सुपर्णाः (३.१२)। ११. आत्मा (३.१५)। १२. सतः (३.२०)। १३. भद्रम् (४.१०)। १४. लक्ष्मी (४.१०)। १५. कन्या (४.१५)। १६. असश्चन्ती (५.२)। १७. शर्याः (५.४)। १८. वना (५.१६)। १९. शम्बः (५.२४)। २०. अश्मचक्रम् (५.२६)। २१. कोशः (५.२६)। २२. रोदसी (६.१)। २३. कृधु (६.३)। २४. पाजः (६.१२)। २५. अप्रतिष्कुतः (६.१६)। २६. चाकन् (६.२८)। २७. रण्यौ (६.३३)। २८. पङ्क्तिः (७.१२)। २९. विराट् (७.१३)।

२.१५ वर्णागम –

अथापि वर्णोपजनः – आस्थत्, द्वारः, भरूजेति (निरु०२.२)। इनके अतिरिक्त किन्हीं शब्दों में तो वर्ण का आगम होता है। यथा– आस्थत्, द्वारः, भरूजा आदि।[1] आस्थत् में **'असु क्षेपणे'** (४.९९) धातु के लुङ् लकार में **'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्'** (अष्टा० ३.१.५२) से अङ् प्रत्यय होकर **'अस्यतेस्थुक्'** (अष्टा० ७.४.१७) से थुक् आगम हुआ है। वृञ् वरणे (५.८) या वृञ् आवरणे (१०.२३७) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर 'वारः' सिद्ध होता है। पुनः धात्वादि में दकार (दुट्) आगम होकर 'द्वारः' शब्द सिद्ध होता है। 'भ्रस्ज पाके' (६.४) धातु से अङ् प्रत्यय (**गुरोश्च हलः**- अष्टा० ३.३.१०३) होकर 'भ्रस्जा' बनता है। इसमें भकार के बाद 'अ' का और रेफ के बाद 'ऊ' का आगम होकर एवं सकार का लोप होकर 'भरूजा' शब्द उपपन्न होता है।

संख्या २.५ से २.१५ तक के इन ग्यारह निर्वचनसिद्धान्तों को किसी आचार्य ने निम्न श्लोक में समायोजित किया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

(दुर्ग-१.१, काशिका– ६.३.१०९ में उद्धृत)

इन पांच सिद्धान्तों के अन्तर्गत उपरोक्त यास्क के सभी सिद्धान्त आ जाते हैं। अभी तक वर्णित निर्वचन (शब्दव्युत्पत्ति) के सिद्धान्त वैयाकरण आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हैं। प्रायः प्रत्यक्षवृत्ति से शब्द के स्वरूपमात्र को सिद्ध करने वाले व्याकरणशास्त्र में ही अर्थवश लोप, आगम, विकार आदि को स्वीकारा गया है। पुनः अर्थशः निर्वचन (शब्दव्युत्पत्ति) करने वाले निरुक्तशास्त्र में तो इन लोपागमादि की और अधिक आवश्यकता होती है। अतः व्याकरणनिकाय में स्वीकृत लोपादि सिद्धान्तों से निर्वचन करना कोई अनुचित व अशास्त्रीय नहीं है– **''एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सत्यर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव।'' तस्मात् साधूक्तम् – ''अथानन्विते ऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे ऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्ये ऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। (न संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।) विभक्तीरपि यथार्थं सन्नमयेत्'' (निरु० २.१)** इति (दुर्गः, निरु०२.२)।

जिसप्रकार 'ईप्सितः' में पकार वर्ण की सादृश्यता से अर्थानुकूल 'आप्लृ' धातु की कल्पना की गयी है और उसकी व्युत्पत्ति की प्रक्रिया का ऊह भी किया गया है। इसीप्रकार अनवगतसंस्कार वाले वैदिक शब्दों में भी वर्णादि की सादृश्यता से अर्थानुकूल धातु की कल्पना करें। इतना ही नहीं वर्णादि का सादृश्य न होने पर भी प्रसंगानुकूल धातु की कल्पना करके निर्वचन अवश्य करें। परन्तु इसप्रकार के निर्वचनों की प्रक्रिया में अत्यन्त सीमित मर्यादाओं में आबद्ध व्याकरण के सूत्रों व नियमों का आग्रह नहीं करना चाहिए।[2] क्योंकि अर्थ नित्य है।[3] शब्दनिष्पत्ति की

---

३०. आविः (८.१५)। ३१. सप्तिः (९.३)। ३२. मण्डूकाः (९.५)। ३३. बालः (९.१०)। ३४. वृषभः (९.२२)। ३५. यमुना (९.२६)। ३६. तोकम् (१०.७)। ३७. मरुत् (११.१३)। ३८. उषस् (१२.५)। ३९. शल्मलिः (१२.८)। ४०. कविः (१२.१३)। ४१. विष्णुः (१२.१८) इत्यादि।

१. वर्णागमः के अन्य उदाहरण– १. दिशः (२.१५)। २. कपिञ्जलः (३.१८)। ३. रास्पिनः (६.२१)। ४. प्रतद्वसू (६.२१)। ५. शिरिम्बिठः (६.३०)। ६. प्रमगन्दः (६.३२)। ७. बुन्दः (६.३२)। ८. कुब्जः (७.१२)। ९. द्वारः (८.९)। १०. नक्ता (८.१०)। ११. शकुनिः (९.३)। १२. दुन्दुभिः (९.१२)। [नि०२]। १३. वायुः (१०.१)। १४. रुद्रः (१०.५)। १५. सूर्यः (१२.१४)।

२. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत (निरु० २.१)।

३. अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन (निरु० २.१)।

प्रक्रिया कल्पित होने से अनित्य है।[१] अनित्य व कल्पित प्रक्रिया से नित्य अर्थ का शासन पूर्णतया नहीं कर सकते, सम्भव भी नहीं है। हाँ, व्याकरण से यथासम्भव अधिकतम अर्थों (शब्दों) को समझने या हृदयंगम करने की कुशलता प्रदान किया जा सकता है।[२] उसी कुशलता से अनवगत संस्कारवाले वैदिक शब्दों का निर्वचन (व्युत्पत्ति) प्रकरण अर्थात् अर्थ के अनुकूल करना चाहिए।[३] शब्दस्वरूप की सादृश्यता को देख कर प्रकरणानुगत अर्थ के विपरीतार्थक धात्वादि से निर्वचन कभी भी नहीं करना चाहिए।[४] इसी तात्पर्य को प्रकट करने हेतु आचार्य यास्क ने अभी तक वर्णित ग्यारह सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। पुनरपि शास्त्र के तात्पर्य (आत्मा) को समझने में सर्वथा असमर्थ, शब्दस्वरूपमात्र में पारंगत तथाकथित विद्वान् ध्वनिसादृश्यता को लेकर यास्क के आर्थिक निर्वचनों की कठोर शब्दों में आलोचना करते हैं। इससे उनका अज्ञान ही प्रकट होता है, न कि विद्वत्ता की गम्भीरता। अस्तु, प्रकरणमनुसरामः।

२.१६ सम्प्रसारणासम्प्रसारणप्रकृतिक प्रयोग –

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येके ऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति (निरु०२.२)।

(कुछ शब्दों में यह भी स्वभाव देखा जाता है कि–) जहाँ स्वर वर्णों के अनन्तर अर्थात् अव्यवहित पूर्व या पश्चात् अन्तस्थ (य,र,ल,व) वर्ण धातु में विद्यमान हों, उस धातु से उत्पद्यमान शब्द दो प्रकार की अवस्था (स्थिति)

---

१. नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः (म०भा०, अइउण्)।
सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते।। (म०भा० १.१.२०)।
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। (वा०प० १.७२)।
उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।। (वा०प० २.२३८)।
भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित् कथञ्चिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्।। (वा०प० २.१७८)।
अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः।। (वा०प० २.१८०)।
अट्, आट् आगमों की व्यवस्था के लिए व्याकरणशास्त्र में उपसर्ग और धातु में भेद की कल्पना की गयी है। यथार्थतः उपसर्ग सहित की भी धातु संज्ञा है।

२. किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् (म०भा०,पस्प०)

३. छन्दोभ्योऽन्विष्य तत्वार्थान् निर्ब्रूयाद् योगतस्तु तान् (दुर्गः, निरु० २.९)।

४. रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो०ब्रा० १.१.२६)। अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत। ततस्तदभिधानं बुद्ध्वा केनचिदर्थवृत्तिसामान्येन क्रियागुणसामान्येनेत्यर्थः। कतमस्य धातोरर्थसामान्यमत्रास्तीति ततस्तर्कयित्वा सामान्यं तेन निर्ब्रूयात्। अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् [=धातुसामान्यात्] (दुर्गः,निरु० २.१)। अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुणः शब्दः (दुर्गः,निरु० १.१)।
प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते। तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत्।। (बृ०दे० २.९९)।
वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते।। (वा०प० १.१२६)
शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा [=अर्थवशा] वयं न स्वयमीश्महे (शास्त्रदीपिका, पृ० १२२)।
नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।। (वा०प० १.२४ की वृत्ति में उद्धृत)
अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः। (बृ०दे० २.११७)

को प्राप्त होते हैं, ऐसा आचार्य लोग कहते हैं [व्याकरण की शैली में तात्पर्य यह है कि यजादि धातुओं से उत्पन्न होने वाले शब्द कित्,गित् आदि प्रत्ययों की स्थिति में सम्प्रसारणरूप और कितादि से भिन्न प्रत्ययों की स्थिति में असम्प्रसारणरूप निष्पन्न होते हैं]। इन उभयविध रूपों में से किसी एक परिस्थिति में शब्दरूप सिद्ध (प्रयुक्त) हो गया हो, परन्तु निर्वचन के सिद्ध (अर्थबोध) न होने पर अन्यरूप से निर्वचन (अर्थीकरण) अवश्य करना चाहिए। अर्थात् सम्प्रसारणरूप में असम्प्रसारणभूत प्रकृति से और असम्प्रसारणरूप में सम्प्रसारणभूत प्रकृति से भी निर्वचन कर सकते हैं। उन उभयविध धातुओं में भी कुछ धातु सम्प्रसारणरूप से अल्प ही प्रयुक्त होते हैं।

यथार्थतः सम्प्रसारणासम्प्रसारणरूपक धातु समानार्थक होते हुए भी भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र धातु ही हैं। भर्तृहरि ने कहा भी है –

भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित् कथञ्चिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम् ।। (वा०प० २.१७८)

इज् और यज् ये दोनों भिन्न-भिन्न धातु हैं, जो कि कितादि प्रत्ययों के विषय में इज् धातु तथा कितादि से भिन्न प्रत्ययों के विषय में यज् धातु प्रयुक्त होता है। इसप्रकार ये नियत विषयवाले हैं। परन्तु कुछ आचार्य केवल यज् धातु को स्वीकारते हुए किदादि प्रत्ययों में सम्प्रसारण कर इष्टः, इष्टवान्, इष्ट्वा आदि शब्दों को सिद्ध करते हैं। कुछ आचार्य तो केवल इज् धातु को मानते हुए किदादिभिन्न प्रत्ययों में धात्वादि में इवर्ण को यादेश करके यष्टुम्, यष्टव्यम्, यष्टा आदि शब्दों को बनाते हैं।[1] यह सब प्रतिपादन वैयाकरण आचार्यों का विचित्र ऊह मात्र है। इसलिए वैदिक शब्दों के व्युत्पादक शास्त्र निरुक्त तक पहुँचकर इस कल्पित प्रक्रिया का आग्रह नहीं करना चाहिए।

सम्प्रसारणरूपक धातु का प्रयोग अल्प होने से और उसके तिङन्त का प्रयोग न होने से तद्रूपक धातु से निष्पन्न शब्द का निर्वचन यास्क तत्समानार्थक असम्प्रसारणरूपक धातु के तिङन्त से दिखाते हैं। तद्यथा– 'अनूपाः' के निर्वचन को देख सकते हैं। "**अनूपा अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा०**" (निरु० २.२२)। अनुपूर्वक उप्धातु से निष्पन्न 'अनूप' का निर्वचन 'वप्' धातु से किया गया है। इसीप्रकार 'ऊर्क्' (३.८) का निर्वचन √व्रश्च् से, ऋतु +√इज् से निष्पन्न 'ऋत्विक्' (३.१९) का निर्वचन √यज् से और √सिम् से व्युत्पन्न 'सीमिका' (३.२०) का निर्वचन √स्यम् से किया है।

२.१७ भाषिक धातुओं से वैदिक कृत्प्रत्यय –

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते – दमूनाः, क्षेत्रसाधा इति (निरु०२.२)। वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति में यह भी एक ध्यातव्य तथ्य है कि– कभी-कभी लौकिक भाषा में प्रचलित धातुओं

निरुक्त में अर्थ के साथ शब्द के स्वरूप पर भी ध्यान रखा जाता है और कभी-कभी व्याकरण की प्रक्रिया में शब्दस्वरूप की उपेक्षा भी देखी जाती है। यथा– 'ऋजुः' (६.२१) की व्युत्पत्ति आचार्य यास्क 'ऋञ्जति'(ऋजि) धातु से करते हैं, जबकि आचार्य पाणिनि इसे उणादि (१.२७) में अर्ज् धातु से कुप्रत्यय कर धातु के स्थान पर 'ऋज्' आदेश करके सिद्ध करते हैं।

१. इसीप्रकार का प्रक्रियाभेद हमें अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं। यथा– आचार्य पाणिनि 'चक्षिङ्' धातु के स्थान पर 'ख्याञ्' आदेश करते हैं – "चक्षिङः ख्याञ्" (अष्टा० २.४.५४)। परन्तु आचार्य यास्क 'चक्षुः'(निरु० ४.३) के निर्वचन में 'ख्याञ्' धातु के स्थान पर 'चक्षिङ्' आदेश करते हुए दीखते हैं। यहाँ भी 'चक्षिङ्' और 'ख्याञ्' धातु स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न धातु हैं। पुनरपि सरलता के लिए किसी एक को धातु के रूप में मानते हुए प्रक्रिया बनायी जाती है। पाणिनीय तन्त्र में 'ऋ' को गुण होकर 'अर्' हो जाता है, पर यास्क के तन्त्र में 'अर्' को 'ऋ' भी हो जाता है। यद्यथा– "ऋजीषम् अपार्जितं भवति"(निरु० ५.१२)। यहाँ अर्ज् से 'ऋजीष' शब्द के बनाने का संकेत स्पष्ट है अर्थात् 'अर्' को 'ऋ' हो रहा है [√अर्ज अर्जने+इषन् > ऋज् + ईष > ऋजीष]। यथार्थतः √अर्ज् और √ऋज् को समानार्थक स्वतन्त्र धातु

से छान्दस कृत्-प्रत्यय[1] होते हैं। जैसे कि— दमूनाः, क्षेत्रसाधाः आदि। 'दमु उपशमे' (४.९३) धातु के दाम्यति, दान्तः, दमः, दमनम् आदि तिङन्त एवं कृदन्त शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं। इस भाषिक दम्-धातु से 'ऊनसि'[2] यह वैदिक-कृत्प्रत्यय होकर 'दमूनाः' शब्द उपपन्न होता है। 'साध संसिद्धौ' (५.१७) धातु से असुन्प्रत्यय[3] होकर 'साधाः' शब्द सिद्ध होता है, पुनः क्षेत्रस्य साधाः 'क्षेत्रसाधाः' बनता है।

लौकिकभाषा में कुछ धातुओं के तिङन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं तो वैदिकभाषा में उनके कृदन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं। लोक में कुछ धातुओं के कृदन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं तो वेद में उनके तिङन्तरूप अधिक प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए आचार्य यास्क यहाँ लौकिक धातुओं से वैदिक प्रत्ययों का एवं वैदिक धातुओं से लौकिक प्रत्ययों का विधान कर रहें हैं। भाषिक धातुओं से विहित वैदिक-कृत्प्रत्ययों को जानने के लिए इन उदाहरणों को देखें— दक्षिणः (हस्तः) इसमें √दाशृ दाने (१.६२२) धातु से 'सिनन्' यह वैदिक कृत्प्रत्यय हुआ है। इसीप्रकार स्नात्वा (१.९), मुक्षीजा (५.१९), स्यम् (६.९)आदि को जानें। निरुक्तनिर्वचनानि ग्रन्थ के व्याख्यान में अनेकों नये प्रत्ययों की कल्पना की गयी है। इन प्रत्ययों का संकलन उस ग्रन्थ के परिशिष्ट ७.६ में किया गया है। उन नये प्रत्ययों से सिद्ध शब्द भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं।

२.१८ वैदिक धातुओं से लौकिक कृत्प्रत्यय –

अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः— उष्णम्, घृतम् (निरु०२.२)। उसके अतिरिक्त निर्वचनों में कहीं पर वैदिक धातुओं से लौकिक कृत्प्रत्ययों को देखकर निर्वचन (व्युत्पत्ति) कहा जाता है। तद्यथा— 'उष दाहे' (१.४६४) धातु से नक्प्रत्यय[4] होकर उष्णशब्द सिद्ध होता है। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' (३.१४)[5] से क्तप्रत्यय[6] होकर घृतशब्द उपपन्न होता है। घृधातु को पाणिनि ने भी छान्दस माना है। उष्धातु को यहाँ यास्क वैदिक मान रहें हैं। सम्भव है यास्क तक यह धातु लोक में प्रचलित न होकर वेद में ही प्रयुक्त रहा हो और पाणिनि के समय तक लोक में भी इसका प्रयोग होने लगा हो।

उष्णम्, घृतम् के अतिरिक्त वैदिक धातुओं से उत्पन्न लौकिक कृदन्त शब्दों को जानने के लिए इन शब्दों के निर्वचनों एवं व्युत्पत्तियों को देखें— १. मघम् (१.७)। २. ब्रन्दी (५.१५)। ३. तलम् (५.२६)। ४. लता (५.२६)। ५. तालु (५.२६)। ६. ओजः (६.८)। ७. अजीगः (६.८)। ८. कृप् [कृपा] (६.८)। ९. क्रिमिः (६.१२)। १०. आणिः (६.३२)। ११. ककुप् (७.१२)। १२.कुब्जः (७.१२)। १३. अनुष्टुप् (७.१२)। १४. त्रिष्टुप् (७.१२)। १५. दुन्दुभिः (९.१२) [नि०३]। १६. तविषी (९.२५)। १७. शुनः (९.४०)। १८. जरा (१०.८)। १९. गर्भः (१०.२३)। २०. शिशुः (१०.३९)। २१. अथर्वाणः (११.१८)। २२. किंशुकम् (१२.८)। २३. नितोशः [नैतोशम्] (१३.५)।

ही जानना चाहिए। केवल व्युत्पत्ति की प्रक्रिया में भिन्नता है। इसीप्रकार ऋद्रूपे (निरु० ६.३३), ऋग्मियम् (निरु० ७.२६) के निर्वचनों में भी देख सकते हैं। व्याकरण की प्रक्रिया में ''प्रियस्थिरस्फिरोरु०''(अष्टा० ६.४.१५७) सूत्र से दीर्घ को द्राघि आदेश होकर 'द्राघीयान्' आदि तद्धितान्त शब्द बनते हैं। परन्तु नैरुक्तप्रक्रिया में 'द्राघृ' धातु को 'दीर्घ' आदेश होकर 'दीर्घम्' (निरु० २.१६) कृदन्त शब्द सिद्ध होता है।

१. धातु से कृत्प्रत्यय होने से निष्पन्न शब्द 'नाम' (कृदन्त) होता है। कृत्प्रत्यय नाम का उत्पादक होने से आचार्य यास्क अनेकों स्थानों पर उसे 'नामकरण' कहते हैं— नाम क्रियते निष्पद्यतेऽनेनेति नामकरणः कृत्प्रत्ययः। कृत्प्रत्यय के लिए नामकरण-शब्द के प्रयुक्त स्थल निरुक्त में— १.१७; २.२,५; ७.२९; १०.१७।

२. दमेरूनसि (द०उणा० ९.९५)। दमूनसम्=दमनीयम् उपार्ज्यम्। ''दमेरूनसिः'' इति ऊनसिप्रत्ययः (सायणः,ऋ० १.१४१.११)। पञ्चपाद्युणादौ तु ''दमेरुनसिः'' (४.२३६) इत्यत्र उनसिप्रत्ययो विहितः। तेन 'दमुनाः' इति सिद्ध्यति।

३. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४.१९०)।

४. इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उणा० ३.२)।

५. अथागणान्ताः परस्मैभाषाश्छान्दसाश्चैकादश (पा०धातु०,जु० १४ से पूर्व)।

६. अञ्चिघृसिभ्यः क्तः (उणा० ३.८९)।

२.१९ धातु और धातुज शब्दों का प्रयोगविषय–

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते... विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु (निरु०२.२)।[1] कुछ देशों में धातुओं के तिङन्तरूप प्रयुक्त होते हैं और धातुज (विकृत) कृदन्त शब्द अन्य देशों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे कि– शवधातु कम्बोज देश में गत्यर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु आर्यों के देश (प्रदेश) में उस धातु से निष्पन्न कृदन्त 'शव' (मृतदेह) शब्द प्रयुक्त होता है। इसीप्रकार काटने अर्थ में दाप् [लवने] (२.५२) धातु का तिङन्तरूप प्राच्यदेशों में प्रयुक्त होता है, इसका विकृत (धातुज कृदन्त) शब्द 'दात्रम्' उदीच्य देश में प्रयुक्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न देशों व प्रदेशों की भाषाओं का परिज्ञान भी वेदार्थ में उपयोगी होता है। आचार्य ने कहा भी है कि– **"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"** (निरु०१.१६)।

एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् (निरु०२.२)– अभी तक वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर एकपद अर्थात् तद्धितान्त एवं समस्तपदों से भिन्न आख्यातज पदों का निर्वचन करना चाहिए।

३. तद्धितान्त और समस्तपदों का निर्वचन–

अभी तक धातुज कृदन्त पदों के निर्वचनसिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। अब कृदन्तों से उत्पन्न तद्धितान्त पद एवं समस्तपदों की निर्वचनशैली को प्रस्तुत करते हैं–

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् (निरु० २.२)। तद्धितान्त[2] तथा समासयुक्त पदों के पर्वों (सन्धियों) पर विग्रह के द्वारा विच्छेद करके यथाक्रम निर्वचन दिखाना चाहिए। तद्धितान्तों में एकाधिक तद्धितप्रत्ययों[3] के दिखाई देने पर अन्तिम प्रत्यय से प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करते हुए[4] क्रमशः प्रत्येक पद का निर्वचन करना चाहिए। जैसे तद्धित का उदाहरण– **"दण्ड्यः पुरुषः– दण्डमर्हतीति[5] वा दण्डेन सम्पद्यत[6] इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः... दमनादित्यौपमन्यवः"** (निरु० २.२)।[7]

---

१. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ये ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा– शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थः प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। (म०भा०, पस्प०)।

२. व्युत्पत्ति करने से पूर्व आचार्य की शैली के अनुसार कृदन्त और तद्धितान्त पद को पहचानना चाहिए। अन्यथा व्याख्याकार कभी-कभी कृदन्त को भी तद्धितान्त मानकर व्युत्पत्ति दिखाने की भूल करते हैं। उदाहरण के लिए 'श्वेत्या' (२.२०) आदि को देखें।

३. तद्धितान्त से तद्धित प्रत्यय के उदाहरण– १. आर्जीकीया (९.२६)। २. असुरत्वम् (१०.३४) आदि।

४. व्याकरण की प्रक्रिया में प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्द निष्पन्न होता है। पुनः उससे अन्य प्रत्यय होकर शब्दान्तर की निष्पत्ति होती है। पर निरुक्त की प्रक्रिया में सिद्धपद को विभक्त करते हुए मूल प्रकृति की ओर जाना होता है। यही व्याकरण एवं निरुक्त की प्रक्रियाओं का मौलिक भेद है।

५. दण्डादिभ्यो यत्, छन्दसि च (अष्टा० ५.१.६६,६७)।

६. 'सम्पद्यते' इत्यस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययश्छान्दसः। अथवा 'कर्मवेषाद् यत्' (अष्टा० ५.१.१००) इति सम्पादिन्यर्थे विहितो यत्प्रत्यय इह छान्दसत्वेन दण्डादपि भवति।

७. तद्धितान्त (धातुजजात) के अन्य उदाहरण– १. सीमतः (१.७)। २. अध्वर्युः (१.८) [नि०४]। ३.पर्वतः (१.२०)। ४. कक्ष्या (२.२)। ५. परुषे (२.६)। ६. समुद्रः (२.१०) [नि०४]। ७. उत्तरः (२.११)। ८. प्रथमः (२.२२)। ९. अवारम् (२.२४)। १०. वाजी (२.२८)। ११. मनुष्यः (३.७)। १२.असुरः (३.८) [नि०३]। १३. कक्ष्याः (३.३९)। १४. विंशतिः (३.१०)। १५. शतम् (३.१०)। १६. सहस्रम् (३.१०)। १७. धीरः (३.१२; ४.१०)। १८. सत्यम् (३.१३)। १९. मेधावी (३.१९)। २०. वैतसः (३.२१)। २१. पाश्या (४.२)। २२. पार्श्वम् (४.३)। २३. मरुत्वान् (४.८)। २४. तितउ (४.९)। २५. भद्रम्

समस्तपदों में दो या दो से अधिक पदों के होने पर उन्हें विग्रह के द्वारा यथाक्रम व यथायोग्य विभाग करते हुए निर्वचन करना चाहिए। उसके पश्चात् विभक्त पदों का निर्वचन करें। तद्यथा– "**राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा**" (निरु० २.३)। "**कल्याणवर्णरूपः कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः**" (निरु०२.३)।[1] कभी-कभी समस्तपद से भी तद्धित प्रत्यय विहित होते हैं। ऐसी स्थिति में तद्धितार्थ के द्वारा पहले निर्वचन दिखा कर पुनः समास का विग्रह करें। तत्पश्चात् विगृहीत पदों का निर्वचन करें। यथा– "आर्ष्टिषेणः" (२.११) के निर्वचन में आचार्य दिखाते हैं– "**आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा**" (निरु० २.११)। यहाँ 'ऋष्टिषेण' समस्तपद स्पष्टार्थक होने से सम्भवतः आचार्य ने इसके विग्रहार्थ को त्याग दिया है।[2] विना विग्रह के

(४.१०;११.१९)। २६. दिव्याः (४.१३)। २७. शंयुः (४.२१)। २८. मन्दी (४.२४)। २९. वर्षाः(४.२७)। ३०. हेमन्तः (४.२७)। ३१. द्विता (५.३)। ३२. व्राः (५.३)। ३३. शर्याः (५.४)। ३४. अथर्युम् (५.१०)। ३५. ऋजीषी (५.१२)। ३६. अप्सरा (५.१३)। ३७. निष्षपी (५.१६)। ३८. कपूयम् (५.२४)। ३९. कक्षीवान् (६.१०)। ४०. औशिजः (६.१०)। ४१. अमवान् (६.१२)। ४२. अग्रिया (६.१६)। ४३. अंहुरः (६.२७)। ४४. दैवतम् (७.१)। ४५. त्रिता (७.१२)। ४६. गरुत्मान् (७.१८)। ४७. आदितेयम् (७.२९)। ४८. धिष्ण्यः (८.३)। ४९. वरीयः (८.९)। ५०. व्यचस्वतीः (८.१०)। ५१. ऊरु (८.१०)। ५२. भारती (८.१३)। ५३. मङ्गलम् (९.४)। ५४. अङ्गलम् (९.४)। ५५. मौजवतः (९.८)। ५६. मूजवान् (९.८)। ५७. उलूखलम् (९.२०)। ५८. मुद्गलः (९.२४)। ५९. भार्म्यश्वः (९.२४)। ६०. सरस्वती (९.२६)। ६१. परुष्णी (९.२६)। ६२. बभ्रूणाम् (९.२८)। ६३. कृष्टयः (१०.२२)। ६४. अश्विनौ (१२.१)। ६५. शल्मलिः (१२.८)। ६६. केशी (१२.२७)। ६७. ज्मयाः (१२.४३)। ६८. नैतोशम् (१३.५)। ६९. अक्षरम् (१३.१२) आदि।

१. समास के नैरुक्त उदाहरण– १. सुवीराः(१.७)। २. अध्वरः(१.८)। ३. आदघ्रासः (१.९)। ४. सुवासाः (१.१९)। ५. गिरिष्ठाः (१.२०)। ६. विश्वकद्रः (२.३)। ७. हिरण्यम् (२.१०) [नि०३,४]। ८. अन्तरिक्षम् (२.१०) [नि०१,३]। ९. सेना (२.११)। १०. शन्तनुः (२.१२)। ११. पुरोहितः (२.१२)। १२. देवश्रुत् (२.१२)। १३. विश्वामित्रः (२.२४)। १४. पैजवनः (२.२४)। १५. मुहुर्तः (२.२५)। १६. मनीषा (२.२५)। १७. सुखम् (३.१३; ९.२)। १८. रुक्मवक्षसः (३.१५)। १९. पुराणम् (३.१९)। २०. स्वस्ति (३.२१)। २१. मर्यादा (४.२)। २२. दमूना (४.४)। २३. ईर्मान्तासः (४.१३)। २४. सिलिकमध्यमासः (४.१३)। २५. अकूपारः (४.१८)। २६. सुतुकः (४.१८)। २७. अप्रायुवः (४.१९)। २८. अदितिः (४.२२-२३)। २९. विश्पतिः (४.२६; ५.२८;१२.२९)। ३०. सप्तपुत्रम् (४.२६)। ३१. अजरम् (४.२७)। ३२. दूळ्यम् (५.२)। ३३. पापः (५.२)। ३४. अध्रिगुः (५.११)। ३५. आपान्तमन्युः (५.१२)। ३६. द्रप्सः (५.१४)। ३७. निष्षपी (५.१६)। ३८. तूर्णाशम् (५.१६)। ३९. जोषवाकम् (५.२१)। ४०. अश्मचक्रम् (५.२६)। ४१. वीरिटम् (५.२७,२८)। ४२. अस्कृधोयुः (६.३)। ४३. बृबदुक्थः (६.४)। ४४. ऋदूदरः (६.४)। ४५. पुलुकामः (६.४)। ४६. अभ्यर्धयज्वा (६.६)। ४७. विजामाता (६.९)। ४८. स्यालः (६.९)। ४९. अमतिः (६.१२)। ५०. इलीबिशः (६.१९)। ५१. ऋचीषमः (६.२३)। ५२. असामि (६.२३)। ५३. बेकनाटाः (६.२६)। ५४. अनवब्रवः (६.२९)। ५५. शिरिम्बिठः (६.३०)। ५६. क्रिविर्दती (६.३०)। ५७. दनः (६.३१)। ५८. ऋबीसम् (६.३५)। ५९. जमदग्नयः (७.२४)। ६०. मिथुनौ (७.२९)। ६१. तनूनपात् (८.५)। ६२. उषासानक्ता (८.१०)। ६३. गृत्समदः (९.५)। ६४. मण्डूकाः (९.५)। ६५. इरिणम् (९.८)। ६६. रथः (९.११)। ६७. पुमान् (९.१५)। ६८. उलूखलम् (९.२०)। ६९. प्रधनः (९.२३)। ७०. द्रुघनः (९.२३)। ७१. भृम्यश्वः (९.२४)। ७२. मरुद्वृधाः (९.२६)। ७३. कवन्धम् (१०.४)। ७४. पर्जन्यः (१०.१०)। ७५. बृहस्पतिः (१०.११)। ७६. ब्रह्मणस्पतिः (१०.१२)। ७७. क्षेत्रपतिः (१०.१४)। ७८. वास्तोष्पतिः (१०.१६)। ७९. अपान्नपात् (१०.१८)। ८०. हिरण्यस्तूपः (१०.३३)। ८१. प्रजापतिः (१०.४२)। ८२. अहिर्बुध्न्यः (१०.४४)। ८३. सूरचक्षसः (११.१६)। ८४. गम्भीरवेपसः (११.१७)। ८५. अथर्वाणः (११.१८)। ८६. सप्तहोता (११.२३)। ८७. सिनीवाली (११.३१)। ८८. पृथुष्टुके (११.३२)। ८९. देवगोपाः (११.४६)। ९०. शल्मलिः (१२.८)। ९१. एकपात् (१२.२९)। ९२. देवपत्न्यः (१२.४४)। ९३. मत्सखा (१३.४)। ९४. जेमना (१३.५)। ९५. अक्षरम् (१३.१२)। ९६. ओहब्रह्माणः (१३.१३) इत्यादि।

२. ऋष्टिः=तेज तलवार, भाला आदि शस्त्र। ऋष्टिप्रधान सेना यस्य स ऋष्टिषेणः, तस्य पुत्र आर्ष्टिषेणः। विजयार्थम् ऋष्टा

ही तद्धितार्थ के पश्चात् विगृहीतपदों में से अपेक्षित पदों के निर्वचनों को दिखाया है।

वैदिक कृत्प्रत्ययों के समान प्रातिपदिकों से वैदिक तद्धित प्रत्यय भी होते हैं। उदाहरण के लिए इन शब्दों के व्याख्यानभाग को देखें— १. अध्वर्युः (१.८) [नि०४]। २. उरणः (५.२१)। ३. वैश्वानरः (७.२१)। ४. ऋग्मियम् (७.२६) आदि। तद्धितसम्बन्धी और एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि—"**अथापि...ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति**" (निरु० २.५)। कभी-कभी विहित तद्धितप्रत्यय का अदर्शन होकर प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग होता है। परन्तु वहाँ तद्धित का अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे— "**स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः**" (मीमांसा ४.१.४५)। इस सूत्र में 'जुहू' शब्द से 'जौहवम् आज्यम्' अर्थ लिया जाता है। क्योंकि इसमें भवार्थक तद्धित अण्-प्रत्यय का लोप हुआ। पर उसका अर्थ विद्यमान है। परिणामतः सूत्र का अर्थ निकलता है— अनुयाज के लिए 'जुहूस्थ आज्य का प्रतिषेध होने से उपभृत्स्थ आज्य प्राप्त होता है, उसी का यह अनुवाद कथन है।' यहाँ अकृत्स्न (तद्धितरहित) जुहू शब्द पठित होने पर भी कृत्स्नवद् अर्थात् तद्धितान्त के समान अर्थ गृहीत होता है। मन्त्रों में इसप्रकार के आर्ष (वैदिक) प्रयोग होते हैं । इसके लिए आचार्य यास्क उदाहरण के लिए अकृत्स्न (अतद्धितान्त) गोशब्द को लेकर उसके कृत्स्नवद् (तद्धितान्त के) अनेक अर्थ दूध[1], चर्म, ज्या आदि ग्रहण करते हैं। यहाँ के निरुक्त (२.५-६) का पूरा सन्दर्भ विशेषतया द्रष्टव्य है। निर्वचनसिद्धान्तमात्र को स्थापित करना इस लेख का उद्देश्य है। अतः विस्तरभिया हम उसके व्याख्यान को यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहें हैं।

एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात् (निरु० २.३)। उक्त प्रकार से तद्धितान्त एवं समस्त पदों का निर्वचन करें। इनका निर्वचन प्रसंग या तदनुकूल अर्थ को जाने विना कदापि न करें।

यास्काचार्य के द्वारा प्रतिपादित निर्वचनों के इन सभी सिद्धान्तों को ही आचार्य शौनक ने संक्षेपरूप से 'बृहद्देवता' ग्रन्थ में इसप्रकार श्लोकबद्ध किया है—

१. यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात् तावद्भिर्गुणविग्रहः॥ (२.१०२)

२. धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम्।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥ (२.१०३)

३. धातुजं धातुजाज्ज्ञातं समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्यतिकीर्णञ्च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥ (२.१०४)

४. विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते।
प्रविभज्यैव निर्ब्रूयात् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि ॥ (२.१०६)

५. शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः।
सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः ॥(२.१०८)

६. सामान्यवाचिनः शब्दाः विशेषे स्थापिताः क्वचित् ।
पलायने यथा वृत्तिः को नु मर्या इतीषते॥ (२.१०९)

७. विशेषवाचिनस्त्वन्ये सामान्ये स्थापिताः क्वचित् ।
हिमेनाग्निमिति मन्त्रे हिमशब्दो निदर्शनम् ॥ (२.११०)

८. वर्णस्य वर्णयोर्लोपो बहूनां व्यञ्जनस्य च (२.११६)

(प्र)इषिता सेना यस्य स ऋष्टिषेणः, तस्य वा पुत्रः आर्षिषेणः।

१. मन्त्रों के इस प्रतिपादनशैली (वैदिकभाषा) को एवं यास्क के द्वारा प्रतिपादित इस ताद्धित सिद्धान्त की अज्ञानता के कारण कुछ लोग बड़ा ही अनर्थ मचाते हैं। "**गोभिः श्रीणीत मत्सरम्**" (ऋ०९.४६.४) का अर्थ 'गोदुग्ध के साथ सोमरस को पकाओ' न लेकर 'गो (मांस) के साथ सोम को पकाओ' अर्थ लेते हैं। जो कि सर्वथा अशास्त्रीय एवं अमान्य है। अथर्ववेद

९. इति नानान्वयोपायैर्नैरुक्ते ये यतेत सः।
जिज्ञासुर्ब्रह्मणो रूपमपि दुष्कृत् परं व्रजेत्॥ (२.११९)

१. लौकिक भाषा की दृष्टि से रूढिरूप में प्रतीत होने वाले वैदिक शब्दों में जितने धातुओं के लिङ्ग प्रतीत होते हैं, उतने धातुओं से गुणों का विग्रह करना चाहिए एवं प्रसंगानुकूल अर्थ को कहना चाहिए।

२. दो धातुओं से, अनेक धातुओं से या एक धातु से व्युत्पन्न पद ऐसी ध्वनि (शब्द) से युक्त होता है, जिसमें धातु, उपसर्ग, अवयव एवं गुण विद्यमान होते हैं।

३. निर्वाच्य पद पांच प्रकार के होते हैं अर्थात् पदों का निर्वचन पांच प्रकार से कर सकते हैं। तद्यथा– १. धातु से व्युत्पन्न (कृदन्त) पद, २. धातुज (कृदन्त) से व्युत्पन्न (तद्धितान्त) पद, ३. समस्तार्थ (समासान्तप्रत्यय) से व्युत्पन्न पद, ४. वाक्य (अनेक शब्दों के योग) से व्युत्पन्न पद, ५. वर्णों को आगे-पीछे करने (वर्णविपर्यय) से व्युत्पन्न पद।

४. समस्तपद एवं तद्धितान्त पदों का निर्वचन विग्रहपूर्वक ही करना चाहिए। जैसे– दण्ड्य का निर्वचन दण्डार्ह (दण्ड के योग्य)।

५. शब्द के रूप, पद के अर्थ, व्युत्पत्ति, प्रकृति, गुण इन सब के अनेक आशय होते हैं। अनवगमन अर्थात् मिथ्याग्रहण (और यथार्थग्रहण) की दशा में व्याख्या या निर्वचन के दस गुण होते हैं।

६. कभी-कभी सामान्य अर्थवाले शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे– **'ईषति गतिकर्मा'** (निघं० २.१४.७०)। यह गतिसामान्य अर्थ वाला तिङन्त शब्द **''को नु मर्याः''** (ऋ० ८.४५.३७) मन्त्र में 'पलायन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने 'पलायते' ही किया है (निरु० ४.२)। ऋ० ५.८.२ मन्त्र के व्याख्यान में भी यास्क ने 'ईषते' का अर्थ ''पलायते'' ही किया है (निरु० १०.११)।

७. कभी-कभी विशेषार्थक शब्द सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। तद्यथा– **''हिमेनाग्निम्''** (ऋ० १.११६.८) मन्त्रस्थ 'हिम' का अर्थ 'ग्रीष्मान्त में (वर्षा का शीतल) जल' है [**हिमेन= उदकेन ग्रीष्मान्ते**– यास्कः, निरु० ६.३६]।

८. कहीं-कहीं एक वर्ण, दो वर्ण, बहुत वर्ण और एक व्यञ्जन का लोप भी होता है।

९. इसप्रकार अर्थात् अभी तक प्रतिपादित निर्वचनों के सिद्धान्तों (और वैदिक भाषा के तत्त्वों) को विशेष ज्ञान के उपायों से जानकर निरुक्त विद्या में जो पूर्ण पुरुषार्थ करेगा, ऐसा जिज्ञासु वेद के परम दुर्ज्ञेय स्वरूप को, आत्मा-परमात्मा तत्त्वों को एक दिन प्राप्त कर लेता है और सकल व सम्पूर्ण भद्र (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है– **''योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा''** (निरु० १.१८)।[1]

४. यास्काभिमत निर्वचनसिद्धान्त –

आचार्य यास्क के द्वारा प्रतिपादित निर्वचनसिद्धान्तों के अतिरिक्त और भी कुछ सिद्धान्त व व्युत्पत्ति के प्रकार हैं, जिन्हें आचार्य ने यहाँ शब्दशः प्रतिपादन तो नहीं किया। परन्तु निरुक्त की व्युत्पत्तिप्रक्रिया में आचार्य को अभीष्ट हैं। उनमें से कुछ प्रकारों वा शैलियों को आगे संक्षेप से प्रस्तुत करते हैं। पूर्व में उद्धृत बृहद्देवता (२.१०३)

स्पष्ट ही कहता है कि- **''पयः॑ पशू॒नां रस॑म् ओष॑धीनां॒ बृह॒स्पतिः॑ सवि॒ता मे॒ निय॑च्छात्''**(अथर्व० १९.३१.५)- ईश्वर ने पशुओं का दूध और ओषधियों का रस अर्थात् सारभूत उत्तम अन्न मेरे (यज्ञ एवं भोजन के)लिए नियत किया है। **एतद्वै पशूनां रूपं यद् घृतम्** (का०सं० २८.४)।

१. तु० नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तै०ब्रा० ३.१२.९.७)।

के श्लोक में आचार्य शौनक ने कहा है कि– कुछ शब्द एक धातु से, दो धातुओं से और बहुत धातुओं से उत्पन्न होते हैं। पहले इन्हीं को देखते हैं–

४.१ एकधातुज शब्द –

एक धातु से उत्पन्न होने वाले कृदन्त शब्दों को सभी भली-भांति जानते हैं। अतः इसका सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना ध्यातव्य है कि कुछ कृदन्त शब्द उपसर्ग सहित एवं उपपद सहित धातुओं से उत्पन्न होते हैं, तो कुछ उनके विना भी केवल धातु से ही उत्पन्न होते हैं। सोपसर्ग एवं सोपपद धातुज शब्दों के व्याख्यान में आचार्य कभी उनका उपयोग करते हैं, कभी नहीं भी करते अर्थात् उनका लोप कर देते हैं। कभी-कभी उनके स्थान पर उपसर्गान्तर व उपपदान्तर का प्रयोग करते हुए अभीष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं। कभी-कभी तो निरुपसर्ग धातुओं के अर्थ को उपसर्गमात्र का संयोजन कर व्यक्त कर देते हैं। इसप्रकार की विधाओं को विभागशः देखते हैं–

४.१.१ उपसर्ग का लोप –

कुछ निर्वचनों में आचार्य सोपसर्ग धातु का प्रयोग करते हैं, परन्तु निर्वचन से उत्पन्न शब्द में वह उपसर्ग नहीं रहता। ऐसे सन्दर्भों में उपसर्गों का लोप जानें या व्युत्पत्ति में सोपसर्गधात्वर्थ में निरुपसर्ग धातु का प्रयोग जानें। उदाहरण के लिए इन शब्दों के व्याख्यान भाग को देखें– १. श्वः (१.६)। २. अन्यः (१.६)। ३. सीमा (१.७)। ४. विष्टप् (२.१४)। ५. दिशः (२.१५)। ६. अहः (२.२०)। ७. रम्भः (३.२१)। ८.वासराणि (४.७) [नि०२]। ९. असश्चन्ती (५.२) [नि०२]। १०. उर्वशी (५.१३)। ११. तूतुम् आकृषे (५.२५)। १२. पुरुहूतम् (६.२) इत्यादि।

४.१.२ उपसर्गान्तर से निर्वचन –

कभी-कभी आचार्य निर्वाच्य शब्द में विद्यमान उपसर्ग से भिन्न उपसर्ग से निर्वचन करते हैं। जैसे कि– 'निघण्टु' (१.१) शब्द में 'नि' उपसर्ग स्पष्ट है, परन्तु निर्वचन 'सम् + आङ् ' उपसर्गों से दिखाते हैं। सम् + आङ् से निर्वचन दिखाने पर भी व्युत्पत्ति तो 'नि' उपसर्ग से ही करनी होगी। अथवा 'नि' को आदेश मानना होगा। इसीप्रकार समुद्रः (२.१०), आशाः (६.१) आदि में जानें।

४.१.३ उपसर्ग के स्थान पर आदेश–

कुछ शब्दों में उपसर्ग के स्थान पर आदेश होते हैं। जैसे "**ऊर्दरम् उद्दीर्णं भवति**" (३.२०)। इस निर्वचन में आचार्य ने 'उद् +√दृ' का निर्देश किया है। 'उद्' के स्थान पर 'ऊर्' आदेश होकर 'ऊर्दरम्' शब्द उपपन्न हो जाता है [उद् + √दृ + अच् > ऊर् + दर् + अ]।

४.१.४ उपपद का लोप–

कई शब्दों की व्युत्पत्ति में आचार्य सम्पूर्ण उपपद के लोप को स्वीकारते हुए दीखते हैं। यथा– "**वितस्ता**" (९.२६) का निर्वचन आचार्य करते हैं – "**अविदग्धा**"। अर्थात् 'नञ् + वि + √दह् + क्त' की स्थिति में 'नञ्' का लोप और धातु को 'तस्' आदेश होकर [वि + तस् + त] 'वितस्ता' शब्द सिद्ध हुआ है।

४.१.५ उपपद के स्थान पर आदेश–

कहीं-कहीं सम्पूर्ण उपपद के स्थान पर आदेश हो जाता है। तद्यथा– "**मेधा मतौ धीयते**" (३.१९)।

निर्वचन से स्पष्ट है 'मति' के स्थान पर 'मे' आदेश होकर 'मेधा' शब्द व्युत्पन्न हुआ है [मति + √धा + क + टाप् > मे + ध् + अ + आ > मेधा]। इसीप्रकार इन शब्दों में भी जानना चाहिए– १. कियेधाः (६.२०) [नि०२]। २. बुन्दः (६.३२) [नि० २,३]। ३. वृन्दम् (६.३४) [नि०२,३]। ४. ऋभुक्षा (९.३)। ५. उलूखलम् (९.२०) [नि०२,३]। ६. मुद्गलः (९.२४)[नि०३,४]। ७. रुद्रः (१०.५)। ८. इन्द्रः (१०.८) [नि० ९,१०]। ९. मित्रः (१०.२१)। १०. तार्क्ष्यः (१०.२७)। ११. चन्द्रः (११.५)। १२. मरुत् (११.१३)। १३. स्नुषा (१२.९)। १४. पांसवः (१२.१९)। १५. दध्यङ् (१२.३३) आदि।

४.१.६ दो उपपदों से निर्वचन –

किन्हीं शब्दों में दो उपपद और एक धातु से व्युत्पत्ति देखी जाती है। यथा– अन्तरिक्षम् (२.१०) में 'अन्तरा + इमे + √क्षि' इन सबका संयोग है। अन्य उदाहरण– १. नभः (२.१४)। २.आशुशुक्षणिः (६.१)। ३. मातरिश्वा (७.२६) [नि० २]। ४. नराशंसः (८.६)। ५. शुतुद्री (९.२६) [नि०२]। ६. स्वसा (११.३२) आदि।

४.१.७ धातु के पश्चात् उपपद का प्रयोग–

किन्हीं निर्वचनों में उपपद का प्रयोग धातु के पश्चात् भी दीखता है। जैसे– "**अतिथिः अभ्येति तिथिषु परकुलानीति**" (४.५)। इस निर्वचन से यह व्युत्पत्ति स्पष्ट दीखती है कि– अभि + √इण् + तिथि > अ + तिथि > अतिथि। इसमें 'अभि' का अवर्ण गृहीत होकर और धातु का लोप होकर अतिथिशब्द सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार १. हिरण्यम् (२.१०) [नि०२]। २. अश्वः (२.२७), ३. यज्ञः (३.१९) [नि० ४] आदि में भी जानें।

४.१.८ समानार्थक उपपदान्तर से निर्वचन –

किसी-किसी शब्द का निर्वचन उस शब्दगत उपपद से भिन्न, परन्तु समानार्थक अन्य उपपद से किया जाता है। आचार्य अर्थ की स्पष्टता के लिए ऐसा करते हैं। परन्तु व्युत्पत्ति तो निर्वाच्य शब्द में विद्यमान उपपद से ही करनी चाहिए, न कि निर्वचनगत उपपद से। तद्यथा– '**पुरुहुतम्**' का निर्वचन आचार्य करते हैं– "**बहुभिराहुतम्**'। यहाँ 'पुरु' के समानार्थक 'बहु' शब्द से निर्वचन किया गया है, पर व्युत्पत्ति तो 'पुरु' से ही करनी होगी। इसीप्रकार अग्रोल्लिखित शब्दों को भी जानें– १. दधिक्राः (२.२७) [दधि = दधत्]। २. भद्रम् (४.१०) [भानाम् = भूतानाम्]। ३. मातरिश्वा (७.२६) [नि०२]। ४. शुतुद्री (९.२६) [नि० २; शु = आशु] इत्यादि।

४.१.९ धातु का लोप–

किन्हीं शब्दों में तो धातु का ही अदर्शन होता है। शब्द में धातु के विद्यमान न होने पर भी अर्थादि से धातु की कल्पना की जाती है। अभी-अभी पीछे हमने 'अतिथि' की व्युत्पत्ति को देखा है। उसमें √इण् का लोप हो गया है। उसे यहाँ का भी उदाहरण समझें। इसके अतिरिक्ति अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं– १. अंशुः (२.५)। २. उत्तरः (२.११) [इसमें क्तप्रत्यय के साथ हन् धातु का लोप हुआ है]। ३. सानु (२.२४)। ४. उदकम् (२.२४) [देव० मते]। ५. नव (३.१०)। ६. श्वा (३.१८)। ७. व्याघ्रः (३.१८)। ८. अभीके (३.२०)। ९. अमत्रम् (५.१)। १०. अप्वा (६.१२)। ११. मातरिश्वा (७.२६) [नि० २] आदि।

४.१.१० धातु के स्थान पर आदेश–

कुछ शब्दों में धातु का रूप हटकर उसके स्थान पर नये किसी अन्य रूप का आदेश हो जाता है। पुनरपि

पारोवर्यविद् आचार्य धातु का ऊह कर निर्वचन कर देते हैं। यथा– ''**बुध्नमन्तरिक्षम्–बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा**'' (१०.४४)। इस निर्वचन से यह व्युत्पत्ति स्पष्ट है कि– √बन्ध् + नक् > बुध् (आदेश) + न > बुध्न। यहाँ धातु के स्थान पर 'बुध्' आदेश आचार्य पाणिनि को भी अभीष्ट है– ''**बन्धेर्ब्रधिबुधी च**'' (उणा०३.५)।[1]

४.१.११ समानार्थक धात्वन्तर से निर्वचन –

आचार्य यास्क कभी-कभी निर्वाच्य शब्द में विद्यमान धातु से भिन्न तत्समानार्थक धातु से निर्वचन लिखते हैं। यथा– ''**अध्वर्युः अध्वरस्य नेता**'' (१.८)। यहाँ अध्वरस्य 'याता' के स्थान पर 'नेता' का प्रयोग किया है, अर्थ की स्पष्टता के लिए। अतः इसकी व्युत्पत्ति √णीञ् प्रापणे (१.६४२) से न करके √या प्रापणे (२.४२) से करनी चाहिए[2] [अध्वर + √या + कु > अध्वरयु > अध्वर्यु]। इसीप्रकार धात्वन्तर के प्रयुक्त स्थल इसप्रकार हैं– १. अपीच्यम् (४.२५) [नि०२]। २. दूतः (५.१)। ३. सिन्धुः (५.२६)। ४. आणिः (६.३२)। ५. त्रितः (९.२५) [√तन्=√स्था]। ६. वितस्ता (९.२६)[√तस्=√दह्]। ७. शुनः (९.४०) [√नव्= √इण्]। ८. पदवीः (१४.१३) [√विद्= √वी] आदि।

४.१.१२ धातु का द्वित्व (अभ्यास) –

धातु का द्वित्व दो परिस्थितियों का द्योतक होता है– १. सार्थक द्वित्व, २. अनर्थक (स्वार्थक) द्वित्व। सन्, यङ्, लिट् आदि प्रत्ययों के कारण जो द्वित्व होता है, वह किसी विशेष इच्छादि अर्थों का वाचक होता है, इसे सार्थक द्वित्व कहते हैं। विकरण प्रत्यय के श्लु होने पर जो द्वित्व होता है, वहाँ कोई विशेष अर्थ प्रकट नहीं होता है, धातु का ही अर्थ (स्वार्थ) रहता है, इसप्रकार के द्वित्वों को अनर्थक द्वित्व कहते हैं। आचार्य यास्क भी इन द्विविध द्वित्वों को मानते हैं और शब्दशः उल्लेख भी करते हैं। अनर्थक (स्वार्थक) अभ्यास का उल्लेख 'कक्षः' (२.२) और 'विश्चकद्रः' (२.३) शब्दों के व्याख्यान में किया है। अग्रिम शब्दों के व्याख्यान में केवल अभ्यस्तः आदि का निर्देश किया है– १. रराणः (२.१२)। २. एरिरे (४.२३)। ३. ररिवान् (४.२५)। ४. बब्धाम् (५.१५)। ५. सललूकम् (६.३)। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ शब्दों के व्याख्यान में आचार्य ने अभ्यस्तादि शब्दों का निर्देश तो नहीं किया,

---

१. धात्वादेश के अन्य नैरुक्त उदाहरण इसप्रकार हैं– १. बिल्मम् (१.२०)। २. आदित्यः (२.१३)। ३. ग्रीवा (२.२८)। ४. इनः (३.११)। ५. निर्णीतम् (३.१९)। ६. चित्रम् (४.४)। ७. दुरोणः (४.५)। ८. जठरम् (४.७)। ९. पिता (४.२१)। १०. तायुः (४.२४)। ११. अपीच्यम् (४.२५) [नि०३]। १२. भ्राता (४.२६)। १३. ग्रीष्मः (४.२७)। १४. हेमन्तः (४.२७)। १५. हिमम् (४.२७)। १६. दूतः (५.१)। १७. पड्भिः (५.३)। १८. शिमी (५.१२)। १९. पुष्करम् (५.१४)। २०. गध्यम् (५.१५)। २१. निचुम्पुणः (५.१७)। २२. मुक्षीजा (५.१९) [नि०२,३]। २३. बुसम् (५.१९)। २४. वृकी (५.२१)। २५. मूलम् (६.३)। २६. जूर्णिः (६.४)। २७. आशीः (६.८)। २८. तृप्वी (६.१२)। २९. अप्रतिष्कुतः (६.१६)। ३०. सुशिप्रम् (६.१७)। ३१. विप्पितः (६.२०)। ३२. अभिधेतन (६.२७)। ३३. सदान्वे (६.३०)। ३४. क्रिविर्दती (६.३०)। ३५. वृन्दम् (६.३४)। ३६. उल्बम् (६.३५)। ३७. गायत्री (७.१२) [नि०२]। ३८. जगती (७.१३)। ३९. विराट् (७.१३) [नि० ३]। ४०. देवः (७.१५) [नि०२]। ४१. ईळः (८.७)। ४२. स्योनम् (८.९)। ४३. सुष्वयन्ती (८.११)। ४४. मङ्गलम् (९.४) [नि० ५]। ४५. मण्डूकाः (९.५)। ४६. ग्रावाणः (९.८)। ४७. वितस्ताः (९.२६)। ४८. सिन्धुः (९.२६)। ४९. कण्टकः (९.३२)। ५०.विषिता (९.३९)। ५१. आर्त्नी (९.३९)। ५२. तार्क्ष्यः (१०.२७)। ५३. स्तूपः (१०.३३)। ५४. शिशुः (१०.३९)। ५५. मृत्युः (११.७)। ५६. गौरी, गौरः (११.३९)। ५७. किंशुकम् (१२.८)। ५८.ऊर्ध्वबुध्नः (१२.३८)। ५९.पदवीः (१४.१३) इत्यादिः।

२. अन्वग्भवतीति [अज्गुणम्] अनुगच्छतीत्यर्थः.....गतिरपि व्यञ्जेरर्थः। विविधं गच्छत्युपरागवशादिति व्यञ्जनमित्ययमर्थः पर्यायान्तरेण भाष्यकारेणाभिहितः० (प्रदीपः, म०भा० १.२.२९,३०)।

पर उनमें भी धातु का द्वित्व अभीष्ट है। वे शब्द इसप्रकार हैं– १. तित्तिरिः (३.१८)। २. वावशानाः (५.१; १४.१५)। ३. पापः (५.२)। ४. दीधितयः (५.१०)। ५. आशुशुक्षणिः (६.१) [नि०४]। ६. दुन्दुभिः (९.१२)। ७. जघनम् (९.२०)। ८. जगुरिः (११.२५) इत्यादि।

कभी-कभी तो केवल उपसर्ग को भी द्वित्व होता है। "सुष्वयन्ती" शब्द की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं– "**अय पय गतौ** (१.३२०), **शतर्युपसर्गस्य सोर्द्विवचनं छान्दसम्। सुष्ठु अयन्त्यौ गच्छन्त्यौ**" (सायणः, ऋ०१०.११०.६)।

४.२ द्विधातुज शब्द –

शब्द की व्युत्पत्ति एक धातु से होती है, यह तो सर्वविदित है। परन्तु एकाधिक धातुओं से भी शब्द सिद्ध होते हैं, यह भी ब्राह्मणादि आर्षवाङ्मय में स्वीकृत सिद्धान्त है। प्रथम द्विधातुज शब्दों को देखते हैं। "**मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति**" (निरु० ३.७) की व्याख्या में स्कन्दमहेश्वर लिखते हैं– "**मत्वेत्यादि मतेः सिवेश्च द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति** (यास्कः)"। "**हिरण्यम्**" के व्याख्यान में देवराज यज्वा लिखते हैं– "**द्विधातुजं रूपम्– हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाद् रूपसिद्धिः** (निघं०१.२.५)"। "**बृबूकम्**" (उदकनाम) की व्याख्या में भी यज्वा लिखते हैं – "**ब्रवीतेः शब्दार्थात्** (२.३७), **भ्रंशतेर्वाधः– पतनार्थात्** (१.५०६) **उभाभ्यां समुदिताभ्याम् 'उलूकादयश्च'** (उणा० ४.४२) **इति ऊकप्रत्यये निपातनाद् रूपसिद्धिः**" (निघं० १.१२.१९)। "**यह्व्यः** (=**नद्यः**) **द्विधातुजं वा इदं नाम– यातेर्ह्वेञः** (देव० १.१३.२)। मीमांसाभाष्य में शबरस्वामी लिखते हैं– "**यश्छिन्नगमनोऽश्वः स छागः। छिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः**" (मी० शा० भा० ६.८.३८-३९) [√छिद् +√गम् > छागः]। इसीप्रकार के ये अग्रिम शब्द भी द्विधातुज हैं– १. अंशुः (२.५)। २. इनः (३.११)। ३. महान् (३.१३)। ४. कपिञ्जलः (३.१८) [नि०४]। ५. वंशः (५.५)। ६. काकुदम् (५.२६)। ७. शूर्पम् (६.९)। ८. लिबुजा (६.२८)। ९. मगन्दः (६.३२)। १०. माङ्गदः (६.३२)। ११. गायत्री (७.१२)। १२. रथः (९.११)। १३. रुद्रः (१०.५)। १४. इन्द्रः (१०.८) [नि० १२,१३,१४]। १५. अंशः (१२.३६)।

४.३ बहुधातुजशब्द –

कुछ शब्द दो से अधिक (तीन) धातुओं के योग से निष्पन्न होते हैं। हृदयशब्द की व्युत्पत्ति √हृञ् हरणे, √दा दाने और √इण् गतौ धातुओं से होती है, यह प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में इसप्रकार हुआ है – "**तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै०। 'द' इत्येकमक्षरम् ददत्यस्मै०। 'यम्' इत्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद**"(शत० १४.८.४.१; बृ०उप० ५.३.१)। इससे हृदयशब्द का त्रिधातुजत्व स्पष्ट है। निरुक्त में भी अग्निशब्द के व्याख्यान में शाकपूणि के पक्ष को रखते हुए यास्क लिखते हैं कि– "**त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः– इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः**" (निरु०७.१४)। इससे स्पष्ट है कि– √इण् +√अञ्जू +√नी अथवा √इण् +√दह् +√नी धातुओं के योग से अग्नि शब्द उपपन्न होता है।[1] वाक्यार्थ को "निरुक्त-निर्वचनानि" ग्रन्थ के व्याख्यान भाग में देखें।

---

१. भर्ग इति भासयतीमाँल्लोकानिति रञ्जयतीमानि भूतानि गच्छत इति, गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मा इमाः प्रजाः, तस्माद् भारगत्वाद् भर्गः (मै०उ०५.७) [√भा+ √रम्+ √गम् > भ+र्+ग > भर्ग]।

४.४ नामधातुजशब्द –

पाणिनीयतन्त्र में **'सुप आत्मनः क्यच्'** (अष्टा० ३.२.८) से लेकर **'सत्यापपाश०'** (अष्टा० ३.१.२५) से विहित 'णिच्' तक के प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा होती है (अष्टा० ३.१.३२)। इन्हें नामधातु कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ वार्त्तिक आदि से भी नामधातु निर्मित होते हैं। इन नामधातुओं से कृत्-प्रत्यय होकर पुनः नये शब्द बनते हैं। यह प्रक्रिया निरुक्तशास्त्र में भी स्वीकृत है। इसके लिए इन शब्दों के व्याख्यानभाग को देखें – १. आचार्यः (१.४)। २. अध्वर्युः (१.८) [नि०३.]। ३. मनुष्याः (३.७) [नि०२]। ४. जज्झतीः (६.१६)। ५. रथः (९.११) [नि०२]। ६. उदन्युः (११.१५) इत्यादि।

४.५ वाक्यज शब्द –

अनेक शब्दों या उनके अवयवों के संयोग से एक नया शब्द उत्पन्न होता है, इसे वाक्यज शब्द कहते हैं। इसका उल्लेख बृहद्देवता के २.१०४ श्लोक में भी हुआ है। इसके लिए प्रसिद्ध उदाहरण है – 'इति + ह + आस = इतिहासः।' **गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः** (ऋ० १०.१७७.२) – गर्भे अन्तः अवदद् इति गन्धर्वः [गर्भ+अन्त+ √वद्>ग+ अन्त+व > ग+अन्ध+व > गन्धर्व]। निरुक्त में भी इसप्रकार के वाक्यज शब्द उपलब्ध होते हैं। यथा– १. मेहना (४.४) [मे + इह + न]। २. त्वादातम् (४.४)। ३. वराहः (५.४)। ४. किमीदिने (६.११)। ५. कीकटाः (६.३२) इत्यादि।

४.६ शब्दैकदेश का ग्रहण –

कुछ शब्दों के एकदेश अर्थात् अवयवों का ग्रहण कर उनके संयोग से एक स्वतन्त्र शब्द बनता है।[1] जैसे – **''अद्य अस्मिन् द्यवि''** (१.६)। 'अस्मिन्' का 'अ' एवं 'द्यवि' का 'द्य' इन दोनों को मिलाकर एक स्वतन्त्र तथा उसके समानार्थक 'अद्य' शब्द बना है [अस्मिन् + द्यवि > अद्य]। इसी को हम 'अस्मिन् द्यवि' का संक्षिप्तरूप ही 'अद्य' शब्द है, ऐसा कह सकते हैं। इसीप्रकार **''वृतक्षय''** का ही संक्षिप्तरूप **'वृक्ष'** है (द्र०निरु० १२.२९) [वृत=वृ। क्षय=क्ष। वृ + क्ष > वृक्ष]। यहाँ का प्रतिपादन व्याकरण की शैली में किया गया है। यथार्थतः निरुक्त में तो 'अद्य' के अवर्ण से 'अस्मिन्' का ग्रहण करना चाहिए और 'द्य' से 'द्यवि' का। अन्य उदाहरण इसप्रकार हैं – १. यज्ञः (३.१९) [नि० ३,४,५]। २. पापः (५.२)। ३. वृकः (५.२०,२१)। ४. इभेन (६.१२)। ५. बेकनाटाः (६.२६)। ६. दनः (६.३१)। ७. समना (७.१७)। ८. बालः (९.१०)।

शब्दैकदेश का ग्रहण पूर्वोत्तरपदों (दोनों पदों) से ही न होकर कभी-कभी किसी एक पद से भी होता है, शेष धातु एवं प्रत्यय ही रहते हैं। इसके लिए इन उदाहरणों को देखें – १. कम्बोजाः (२.२)। २. कक्षः (२.२)। ३. वृक्षः (२.६)। ४. हिरण्यम् (२.१०)। ५. समुद्रः (२.१०)। ६. अन्तरिक्षम् (२.१०)। ७. वणिक् (२.१७)। ८. अश्वः (२.२७)। ९. वृषलः (३.१६)। १०. अर्भकम् (३.२०)। ११. यकृत् (४.३)। १२. जठरम् (४.७)। १३. तुग्वन् (४.१५)। १४. रक्षः (४.१८)। १५. स्वसराणि (५.४)। १६. अर्कः (५.४)। १७. सप्रथाः (६.७)। १८. शकटम् (६.२२)। १९. जगती (७.१३)। २०. नराशंसः (८.६)। २१. वितरम् (८.९)। २२. त्वष्टा (८.१३)। २३. पुमान् (९.१५)। २४. प्रधनः (९.२३)। २५. द्रुघणः (९.२३)। २६. सप्रथाः (९.३२)। २७. मुसलम् (९.३५)। २८. इन्द्रः (१०.८)। २९. मित्रः (१०.२१)। ३०. चन्द्रमाः (११.५)। ३१. मरुत् (११.१३)। ३२. स्वधितिः (१४.१३)।

---

१. तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि ''स ति यम्'' इति। तद्यत् ''सत्'' तदमृतम्। अथ यत् ''ति'' तन्मर्त्यम्। अथ यत् ''यम्'' तेनोभे यच्छति (छां० उप० ८.३.५)। [सत्+मर्त्य+यम् > स+त्+यम् > सत्यम्]।

४.७ वर्णसादृश्य से निर्वचन–

अतिपरोक्षवृत्ति से सम्बन्धित यास्क के सिद्धान्त को पहले स्थापित किया गया था कि– **''अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्''** (निरु० २.१)। अविज्ञात संस्कार वाले किसी शब्द का किन-किन अर्थों में प्रयोग होता है, पहले इसे जानकर उसके अवयवभूत वर्णों के सादृश्य से उन अर्थों के अनुकूल शब्द या धातुओं का ऊह करके निर्वचन करना चाहिए। यही उस शब्द का उचित अन्वाख्यान है। जैसे 'दमूना' के दकार के सादृश्य से 'दम (=दया,गृह), दान और दया' शब्दों का ऊह करके आचार्य ने निर्वचन किया है– **''दमूना दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा। अपि वा दम इति गृहनाम, तन्मनाः स्यात्''** (निरु० ४.४)। ''वणिक्' शब्द व्यापारी अर्थ को प्रकट करने में अतिपरोक्षवृत्ति वाला है, क्योंकि तदनुकूल वर्ण इसमें नहीं है। अत एव वकार में 'प' वर्ण का ऊह करके[1] पहले इसे 'पणिक्' समझा गया है। यह शब्द परोक्षवृत्तिक है, क्योंकि इसमें अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वा निर्वचन करने हेतु सादृश्य (अर्थानुकूल) पवर्ण मिल गया है। इससे पूर्व यह सादृश्य (सामान्यता) नहीं था। पुनः पवर्ण से पण्य अर्थ व शब्द का ग्रहण कर यास्क ने निर्वचन किया– **''वणिक् पण्यं नेनेक्ति''** (निरु० २.१७) [पण्य + √णिजिर् शौचपोषणयोः (३.११) + क्विप् > पणिक् > वणिक्]। जो बेचने योग्य वस्तु को अधिकाधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए शुद्ध रखता है, व्यवस्थित रखता है, वह व्यापारी 'वणिक्' कहलाता है। ''पण्यं नेनेक्ति'' यह वचन अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है, शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र के अनुकूल वर्ण (प्रकृति, प्रत्यय आदि) प्रत्यक्ष हैं, अतः इसे प्रत्यक्षवृत्ति कहते हैं।[2] 'अवसम्' (यात्रा में खाने योग्य पदार्थ) का निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं– **''अवसं पथ्यदनम्- अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणः। स्यतिरुपसृष्टो विमोचने [इति वा]''** (निरु०१.१७)। यहाँ आचार्य ने स्वयं प्रकृति-प्रत्ययों का निर्देश किया है। प्रथम निर्वचन के अनुसार व्युत्पत्ति– '√अव्+ असच्=अवस' है और दूसरे निर्वचन के अनुसार तो– 'अव (उपसर्ग) + √षो (+क)= अवस' है। अर्थ को देखते हुए दूसरे निर्वचन में 'स' वर्ण के सदृश्य से 'षो विमोचने' धातु की कल्पना की और 'अव' को उपसर्ग माना है। इसप्रकार अर्थभेद से व्युत्पत्तिभेद और व्युत्पत्तिभेद से शब्दभेद हो जाता है।[3] इसीलिए आचार्य कहते हैं कि – **''अर्थनित्यः परीक्षेत''** (निरु०२.१)। अर्थ प्रधान है, उसीको देखते हुए निर्वचन करना चाहिए। शब्दव्युत्पत्ति की प्रक्रियाएँ (संस्कार) अनित्य हैं। अतः वे उपेक्षणीय हैं। अर्थों के अनुकूल वर्णसादृश्य से भी व्युत्पत्तियों को करना चाहिए।

---

१. यही कल्पना आचार्य पाणिनि को भी अभीष्ट है– ''पाणेरिज्यादेश्च वः'' (उणा० २.७१)।

२. वर्णसादृश्य से कृत निर्वचनों के अन्य कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– १. अन्यः (१.६)। २. नरकम् (१.११)। ३. सेना (२.११)। ४. पुत्रः (२.११) [पु =पुरु, √पृ, पुत्, त्र= √त्रैङ्, क्त्र-प्रत्यय]। ५. सानु (२.२४)। ६. अङ्गुलयः (३.८)। ७. महान् (३.१३)। ८. यम् (३.१३)। ९. कपिञ्जलः (३.१८)। १०. निधा (४.२)। ११. लक्ष्मीः (४.१०) [ल्= √लभ्, √लक्ष्, √लप्, √लाछि, √लष्, √लग्, √लस्जी]। १२. कन्या (४.१५)। १३. उच्चैः (४.२४)। १४. नीचैः (४.२५)। १५. इलीबिशः (६.१९)। १६. बकुरः (६.२५,२६)। १७. बतः (६.२७-२८)। १८. अग्निः (७.१४)। १९. ऊर्ध्वः (८.१५)। २०. रथः (९.११)। २१. ज्या (९.१७)। २२. आजिः (९.२३)। २३. इन्द्रः (१०.८)। २४. अघ्न्या (११.४३)।

निर्वचनसिद्धान्त २.५ में दिखाये गये उदाहरण भी यहाँ के उदाहरण बनते हैं। क्योंकि वहाँ भी एक वर्ण के सादृश्य से ही धातु की कल्पना की जाती है।

३. अर्थात् यहाँ एक 'अवस्' शब्द के दो निर्वचन नहीं हैं अपितु भिन्न-भिन्न अर्थवाले दो स्वतन्त्र अवसशब्दों के एक-एक निर्वचन है। इसे विस्तार से अग्रिम लेख में ''एक शब्द का अर्थ व निर्वचन एक ही हो सकता है'' इस शीर्षक लेख में लिखेंगे।

४.८ समानार्थक शब्द (शब्दान्तर) से निर्वचन –

इससे पूर्व 'समानार्थक धात्वन्तर से निर्वचन' (नि०सि०१.११), 'समानार्थक उपपदान्तर से निर्वचन' (नि०सि० १.८), 'उपसर्गान्तर से निर्वचन' (नि०सि० १.२) का वर्णन कर चुके हैं। इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। निर्वचन में शब्दान्तर का प्रयोग होने पर भी निर्वाच्य शब्द के वर्णानुकूल एवं तद्गत शब्द से ही व्युत्पत्ति करनी चाहिए।[1] जैसे– "**पारावतघ्नीम्**" का निर्वचन '**पारावारघातिनीम्**' (२.२४) किया गया है। निर्वचन में 'अवत' का पर्यायवाची 'अवार' शब्द का प्रयोग है, पुनरपि व्युत्पत्ति 'अवत' से ही करनी चाहिए। इसीप्रकार 'दधिक्राः' (२.२७) के निर्वचन में 'दधि' के समानार्थक 'दधत्' शब्द का प्रयोग है।[2]

४.९ शब्दानुकरणपरक निर्वचन –

कुछ शब्दों को पशु, पक्षी, नदी आदि की अव्यक्त-ध्वनियों का अनुकरणात्मक मानते हुए निर्वचन किये जाते हैं। तद्यथा– १. काकः (३.१८)। २. कितवः (५.२२)। ३. जज्झतीः (६.१६)। ४. दुन्दुभिः (९.१२)। ५. चिश्चा (९.१४)। ६. कृकवाकुः (१२.१३) आदि।

४.१० शब्दनिर्वचन –

कभी-कभी निरुक्त शब्द से ही अनिरुक्त शब्द का व्याख्यान हो जाता है। जैसे– "**पाथोऽन्तरिक्षम्, पथा व्याख्यातम्**" (६.७)। आचार्य ने यहाँ 'पाथः' शब्द की प्रकृति का निर्देश नहीं किया अर्थात् कोई निर्वचन नहीं किया। परन्तु 'पथिन्' (पन्थाः) के समान ही 'पाथः' को समझने का निर्देश किया है। पन्थाः का निर्वचन करते हैं– "**पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा**"(निरु०२.२८)। अर्थात् 'पन्थाः' शब्द √पत्लृ, √पद और √पथि धातुओं से निष्पन्न होता है। इन्हीं धातुओं से 'पाथः' शब्द भी निष्पन्न होगा, ऐसा समझना चाहिए। यही शैली निरुक्त में अनेकत्र दिखाई देती है। यथा– १. योक्त्राणि(३.९)। २. भद्रम्(४.१०)। ३. अमीवा (६.१२)। ४. सुशिप्रम् (६.१७)। ५. बिठम् (६.३०)।६. वृन्दम् (६.३४)। ७. वृन्दारकः (६.३४)। ८. अपान्नपात् (१०.१८)। ९. तार्क्ष्यः (१०.२७)। १०. किल्बिषम् (११.२४)। ११. अंशः (१२.३६) आदि।

कभी-कभी एक शब्द अन्य शब्द की प्रकृति बन जाता है, अन्य कोई प्रत्ययादि नहीं होते। उसी के वर्ण आद्यन्तविपर्यय होकर अन्य शब्द को उत्पन्न करता है। यथा– अजिन = अ-ज्-इ-न > इ-अ-ज्-न > य्-अ-ज्-न > यज्-न > यज्ञ। इसका अर्थ अजिन (कृष्णाजिन, कृष्णमृग का चर्म) ही है। तद्वान् (अजिनवान्) को यज्ञ कहते हैं– यज्ञ (अजिन)+अच् (मत्वर्थे) = यज्ञः (निरु०३.१९)।

---

१. इस सिद्धान्त की अज्ञानता के कारण कुछ लोग इसप्रकार के निर्वचनों पर आक्षेप उठाते हैं। जैसे– महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में 'परमात्मा' का निर्वचन किया है कि– "परश्चासौ आत्मा च...परमात्मा"(समु०१)। यहाँ आक्षेप करते हैं कि– 'पर+आत्मा' के योग से 'परात्मा' शब्द सिद्ध होता है, न कि 'परमात्मा'। अतः यह निर्वचन अशुद्ध है। परन्तु वे लोग यह नहीं जानते हैं कि पर एवं परम ये दोनों शब्द सूक्ष्म, श्रेष्ठ आदि अर्थों में समानार्थक हैं। अतः 'परः' से विग्रह या निर्वचन करके 'परम' शब्द से व्युत्पत्ति कर सकते हैं। जैसे यास्कादि आचार्य करते हैं। अतः स्वामी जी का निर्वचन पूर्णशुद्ध एवं निरुक्तशास्त्र से सम्मत है।

२. अन्य उदाहरण– १. परुषे (२.६)। २. हिरण्यम् (२.१०)। ३. प्रकेतः (२.१९)। ४. विश्वामित्रः(२.२४)। ५. शंयुः (४.२१)। ६. विश्पतिः (४.२६; ५.२८)। ७. शिपिविष्टः (५.८)। ८. आघृणिः (५.९)। ९. पृथुज्रयाः (५.९)। १०. केपयः (५.२४)। ११. तूतुम् आकृषे (५.२५)। १२. कत्पयम् (६.३)। १३. श्रुष्टिः (६.१२)। १४. कवासखः (६.१९)। १५. ऋचीषमः (६.२३)। १६. विश्वकर्मा (१०.२५)। १७. देवगोपा (११.४६)। १८. मत्सखा (१३.४)।

४.११ उपमानोपमेयसम्बन्ध से निर्वचन –

"**स्नेहानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते**" (निरु० ६.१९)। जिसप्रकार थन स्निग्ध दूध प्रदान करता है, उसीप्रकार ओसरूपी (शीतरूपी) स्निग्ध का प्रदान करने से रात्रि का भी नाम 'ऊधः' है। अब इसका निर्वचन '**ऊधः इव ऊधः**' होगा। इसी को "**तत्सादृश्यात् ताच्छब्द्यम्**" कहते हैं– "**भवति हि सादृश्यादतस्मिन्नपि तद्व्यपदेशः। यथा – अग्निर्माणवकः**" (न्यासः, ऐ औ च्)। "**सादृश्याच्च परशब्दः परत्र प्रवर्तते**" (मी०शा०भा० ८.२.१)।[1] निरुक्त में भी सादृश्यता के कारण अतद् का तद्वाचकत्व अनेकत्र स्वीकृत सिद्धान्त है।[2]

४.१२ तद्योग से निर्वचन –

प्रत्येक भाषा का एक शाश्वत नियम है– '**तद्योगात् ताच्छब्द्यम्**'। इसके लिए न्यायदर्शनकार कहते हैं कि– "**सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तु-चन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः**" (न्याय०२.२.६३)। योग से, सम्बन्ध से भी अतद् में तद् का व्यवहार होता है। जैसे– "**कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते**" (वा०भा०तत्रैव)। कृष्ण रंग से रंगा हुआ शाटक कृष्ण नाम से कहलाता है। पूर्वमीमांसा का सूत्र है– "**तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्**०" (मी०द०२.३.२३)। अग्नि के संयोग से याग भी अग्निसंज्ञक होता है। अर्थात् अग्नि शब्द याग का भी वाचक है। इसीप्रकार 'तद्योगात् ताच्छब्द्यम्' नियम निरुक्त में भी देखा जाता है। तद्यथा– **(दक्षिणा) दिग् हस्तप्रकृतिः (१.७)**। दक्षिण दिशा का नाम 'दक्षिण' कैसे हुआ? कहते हैं कि यह दिशा पूर्वाभिमुखी व्यक्ति के दक्षिण (दाहिने) हाथ की ओर होने से, दक्षिणहस्त से संयुक्त (सम्बद्ध) होने के कारण 'दक्षिणदिशा' कहलाती है। दाहिने हाथ को 'दक्षिणः' क्यों कहते हैं? क्योंकि यह हाथ कर्मों में उत्साह से प्रवृत्त होता है और दान करता है इसलिए दाहिने हाथ का नाम 'दक्षिणः हस्तः' है– '**दक्षिणो हस्तः– दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मणः**' (१.७)। यह अर्थ दिग्वाची 'दक्षिणा' शब्द में नहीं है, पुनरपि दक्षिणहस्त से संयुक्त होने से दिशाविशेष का नाम 'दक्षिणा' है।

४.१३ सम्पूर्ण आदेश का रूप –

कभी-कभी प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्थान पर या केवल प्रकृति के स्थान पर एक नया रूप (शब्द) आदिष्ट होता है। जैसे– काणुका (५.११)। कान्तक, क्रान्तक, कृतक और कणेघात के स्थानों पर 'काणुका' आदेश हो जाता है। इसीप्रकार ये शब्द भी आदिष्टरूप ही हैं– १. कुटस्य (५.२४)। २. अनवायम् (६.११)। ३. किमीदिने (६.११)। ४. नासत्यौ (६.१३)। ५. ऊधस् (६.१९)। ६. अमत्रः (६.२३)। ७. करूळती (६.३०)। ८. कीकटाः (६.३२)। ९. पण्डकः (६.३२) [नि० २]। १०. ककुप् (७.१२)। ११. नपात् (८.५)।

---

१. सादृश्य से अर्थ का कथन स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में बहुत्र दिखाई देता है।

२. तद्यथा– १. अद्भुतम् (१.६)। २. गिरिः (१.२०)। ३. पर्वः (१.२०)। ४. कक्षः (४.४)। ५. गौः (२.५-६)। ६. विः (२.६)। ७. पादः (२.७)। ८. योनिः (२.८)। ९. व्रतम् (२.१३)। १०. स्वः (२.१४)। ११. अहिः (२.१७)। १२. रुशद्वत्सा (२.२०)। १३. अनूपाः (२.२२)। १४. अर्बुदः (३.१०)। १५. खलः (३.१०)। १६. आत्मा (३.१५)। १७. मधुः (४.८)। १८. शिरः (४.१३)। १९. वक्षः (४.१६)। २०. कच्छः (४.१८)। २१. हरिः (४.१९)। २२. वराहः (५.४)। २३. पुष्करम् (५.१४)। २४. कृत्तिः (५.२२)। २५. कोशः (५.२६)। २६. शुचिः (६.१)। २७. सृपः (६.१७)। २८. स्कन्धः (६.१७)। २९. लाङ्लम् (६.२६)। ३०. उष्णिक् (७.१२)। ३१. ककुप् (७.१२)। ३२. मिथुनौ (७.२९)। ३३. इषिका (९.८)। ३४. बुध्नम् (१०.४४)। ३५. अनः (११.४७)। ३६. अधोरामः (१२.१३)। ३७. पांसुरे (१२.१९) आदि।

४.१४ वर्णव्यत्यय –

आद्य एवं अन्त्य वर्णों के व्यत्यय का उल्लेख आचार्य ने स्वयं किया है (द्र०, नि०सि० २.१२, २.१४)। उनसे भिन्न व्यत्ययों का परिगणन यहाँ कर लेना चाहिए।[१] धातु में प्रायः दो ही वर्ण होते हैं। अतः आचार्य ने धातु को लक्षित करके आद्यन्तों का वर्णन किया है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु व्यत्यय तो उपपद, उपसर्ग, प्रातिपदिक आदि में भी होता है।

४.१५ विकरणव्यत्यय –

विकरण प्रत्ययों में भी व्यत्यय अर्थात् प्रत्ययान्तर देखा जाता है। जैसे कि निरुक्त एवं पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार धातुरूप नीचे प्रस्तुत हैं। जिससे विकरण प्रत्यय का व्यत्यय स्पष्ट हो जायेगा।

यास्कमत	पाणिनिमत
१. दघ्यतेः (१.९) [दिवादिरूप]	दघ्नोति (√दघ–स्वा०२८)
२. शम्नातेः (१.१०; २.७; २.१६; ३.५) [क्र्यादिरूप]	शाम्यति (√शमु–दिवा०९१)
३. कृष्यतेः (२.२०) [दिवादिरूप]	कर्षति, कृषति (√कृष्– भ्वा०७१६; तुदा० ६)।
४. रम्णाति संयमनकर्मा (१०.९)[क्र्यादिरूप]	रमते (√रम् – भ्वा० ५९२)।

इसीप्रकार के विकरणव्यत्ययों के लिए मद्विरचित ''निरुक्त-निर्वचनानि'' ग्रन्थ के परिशिष्ट– ७.४ को देखें। ''व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिहारः। विषयान्तरे विधानम्, क्वचिद् द्विविकरणता, क्वचित् त्रिविकरणता च ... द्विविकरणता– इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता– इन्द्रे॑ण युजा त॑रुषेम वृ॒त्रम् (ऋ०७.४८.२), तीर्यास्म इति प्राप्ते (काशिका- ३.१.८७)। अपि च द्र०यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मुण्डको०१.१.७) [√ग्रह्+श्ना+श+ ते]।''

४.१६ शब्द के मध्य में नञ् का प्रयोग–

''**बालः....बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः**''(निरु०९.१०)। प्रतिषेध (नञ्) के अकार को बलशब्द के व्यवहित (मध्य) में रखने से भी बालशब्द सिद्ध होता है। अर्थात् जिसमें बल नहीं है, वह अबल ही 'बालः' कहाता है [नञ् + बल > अ + बल > ब-अ-ल > बाल]।

---

१. आद्यन्त से भिन्न व्यत्यय के उदाहरण इसप्रकार हैं– १. वणिक् (२.१७)। २. प्रथमः (२.२२)। ३. बहुः (३.१३)। ४. ववक्षिथ (३.१३)। ५. असौ (३.१६)। ६. अर्भकम् (३.२०)। ७. अर्धम् (३.२०)। ८. दमूनाः (४.४)। ९. वासरः (४.७) [नि०३]। १०. श्मशा (५.१२)। ११. बृबदुक्थः (६.४)। १२. क्षोणस्य (६.६)। १३. श्रायन्तः (६.८)। १४. मूराः (६.८)। १५. उराणः (६.१७)। १६. इलीबिशः (६.१९)। १७. शकटम् (६.२२)। १८. कुरुङ्गः (६.२२)। १९. कुलम् (६.२२)। २०. गल्दया (६.२४)। २१. बकुरः (६.२५)। २२. बेकनाटाः (६.२६)। २३. व्रततिः (६.२८)। २४. ऋदूवृधाः (६.३३)। २५. ऋबीसम् (६.३५)। २६. ककुप् (७.१२)। २७. गरुत्मान् (७.१८)। २८. ऊर्ध्वः (८.१५)। २९. ऋभवः (११.१५, द्र० ९.३)। ३०. शकुनिः (९.३)। ३१. उलूखलम् (९.२०)। ३२. परुच्छेपः (१०.४२)। ३३. भुरण्युः (१२.२२)। ३४. ओहब्रह्माणः (१३.१३) इत्यादि।

४.१७ उपसर्ग से तद्धित प्रत्यय[१]–

इसके लिए इन शब्दों के व्याख्यान भाग को देखें– १. प्रथमः (२.२२)। २. अणु (६.२२)। ३. सम्प्रति (६.२२)। ४. परावतः (७.२६)। ५. वितरम् (८.९) इत्यादि।

४.१८ अनुबन्धों का लोपाभाव– १. आङ्गूषः (५.११)। २. अङ्कुशः (५.२८) इनके व्याख्यान भाग को देखें।

४.१९ समानार्थक दो शब्दों का एक साथ प्रयोग–

१. आशु-शु-क्षणिः (६.१)। इसमें 'अशु' और 'शु' दोनों ही शब्द शीघ्रार्थक हैं।

निर्वचन-सिद्धान्तों को और अधिक विभक्त व प्रकट कर सकते हैं। विस्तरभिया इसे हम यहीं समाप्त करते हैं।

योग का स्वरूप

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥
विषयेभ्यस्समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः ।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परमेश्वरम् ॥
आत्मभावं नयत्येनं तद् ब्रह्म ध्यायिनं मुनिम् ।
विकार्यमात्मनश्शक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥
आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ (वि०पु० ६.७.२८-३१)

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल मन ही है, विषय का संग करने से वह बन्धनकारी और विषयशून्य होने से मोक्षकारक होता है ॥२८॥ अतः विवेकज्ञानसम्पन्न मुनि अपने चित्त को विषयों से हटाकर मोक्षप्राप्ति के लिए ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करे ॥२९॥ जिस प्रकार अयस्कान्तमणि अपनी शक्ति से लोहे को खींचकर अपने में संयुक्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करनेवाले मुनि को परमात्मा स्वभाव से ही अपनी ओर आकर्षित करता है, अपना सान्निध्य प्रदान करता है ॥३०॥ आत्मज्ञान के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि की अपेक्षा रखनेवाली जो मनकी विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है ॥३१॥

---

१. उपसर्गों से तद्धित प्रत्यय पाणिनीय प्रक्रिया में भी होते हैं। तद्यथा– उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अष्टा० ५.१.११७) आदि।

२.२. एक शब्द का अर्थ व निर्वचन एक ही हो सकता है*

शब्दार्थ को जानने के लिए कोष प्रथमस्तर के साधन हैं, व्याकरण द्वितीयस्तर का साधन है और निरुक्त (निर्वचन) तृतीयस्तर का साधन है। परन्तु निर्वचन के लिए अर्थज्ञान होना चाहिए। अर्थज्ञान के लिए कोष एवं व्याकरण के अतिरिक्त और भी अन्य साधन हैं, जिनके लिए लेखक के ''वेदार्थ और भाषाविज्ञान के शाश्वत नियम'' शीर्षक (१.५) लेख को अवश्य पढ़ें। अर्थबोध में उपर्युक्त सभी साधनों को सम्यक्तया जानकर प्रसंग के अनुकूल वाक्यार्थ को जानें। तत्पश्चात् तदनुकूल एक-एक शब्द का निर्वचन करना चाहिए।[१] व्याकरण के समान एक शब्द का एक ही निर्वचन (व्युत्पत्ति) करने से निरुक्त में गतार्थता नहीं होती है। क्योंकि नैरुक्त आचार्यों का एक महत्त्वपूर्ण तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'शब्द के जितने अर्थ होते हैं, उतने निर्वचन करने चाहिए।' यथा–

तानि [पदानि] चेत् समानकर्माणि [=एकार्थकानि] समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि (निरु० २.७)।

त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुःपरिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहत्येवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चा-ध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तो ऽर्था उपपद्येरन्नधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति (दुर्गः, निरु० २.८)।

वेद के मन्त्रों में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, अधियज्ञ आदि महान् गूढ अर्थ निहित होते हैं। अतः मन्त्रों के अर्थ की इयत्ता नहीं कर सकते कि बस यही इन मन्त्रों का अर्थ है। जिसप्रकार अश्वारोही व्यक्ति की कुशलता से अश्व (घोड़ा) कुशल और कुशलतर गति करता है, उसीप्रकार वक्ता (वेदार्थावबोधक विद्वान्) के वैशिष्ट्य (कुशलता, वेदाङ्गादि शास्त्रों में अप्रतिहतगति) से वेदार्थ में भी उतना ही वैशिष्ट्य (वेदार्थ की यथार्थता, स्पष्टता, गूढार्थ की अवगति आदि) हृदयगत होते हैं।

अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते।। (वा०प०२.१७०)

अनेक अर्थों के कारण शब्दव्युत्पत्ति की व्याकरणप्रक्रिया में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पनारूपी अन्वाख्यान भी उस-उस अर्थ के अनुकूल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। तद्यथा–

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ।। (वा०प० २.१७४)

कुछ आचार्य गोशब्द की व्युत्पत्ति को अर्थविशेषों में गृ सेचने (१.६७१), गृज शब्दार्थः (१.१५२), गम्लृ गतौ (१.७०९), गुङ् अव्यक्ते शब्दे, शब्दे वा (१.६८०,६८२), गद व्यक्तायां वाचि (१.४२) इन धातुओं से दिखाते हैं।

आचार्य यास्क ने भी अर्थभेद से अन्वाख्यान के भेद का प्रतिपादन किया है। तद्यथा– ''**कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्- क्वायं न चरतीति** [अन्वाख्यानम्, निर्वचनम्]''

* यह लेख वेदवाणी (अप्रैल-२०२२) और आर्षज्योति (अप्रैल-२०२२) में प्रकाशित है।

१. नैकपदानि निर्ब्रूयात् (निरु० २.३)।

(निरु० १.२०)। **येषु तु धातोरक्षरमात्रं वर्णमात्रं वा, यथा – लक्ष्मीशब्दो लभतेर्लङ्घतेर्लब्धतेर्लषतेर्लसते र्लज्यतेश्च तेष्वक्षरवर्णसामान्यात् निर्वचनस्य कर्त्तव्यात्तस्य चाक्षरस्य वर्णस्य वा सर्वेषु धातुषु सम्भवात्, सर्वेषां च तेषामभिधेयानां क्रियाणामर्थे सम्भवात्, अन्यतमावधारणे च कारणाभावादेकस्य शब्दस्यानेकानिर्वचनस्य सम्भवः** (स्क०म०, निरु० १.१)।

६. 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है –

ऊपर के इन सभी वचनों से निरुक्त का सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि यदि शब्द के अर्थ अनेक हैं, तो निर्वचन भी अनेक होते हैं। परन्तु एक शब्द के अनेक निर्वचन करने पर पण्डितम्मन्य विद्वान् यास्कादि निर्वचनकारों पर आक्षेप करते हैं कि 'शब्द का नियत अर्थ क्या है? इसे वे आचार्य निश्चितरूप से नहीं जानते थे। इसलिए वा, अपि वा, अथवा आदि कहते हुए वे अनेक निर्वचन करते हैं।' इसप्रकार के आक्षेप से ही स्पष्ट है कि वे आक्षेप्ता स्वयं ही शब्दशास्त्र एवं निर्वचनविद्या को समझने में पूर्णतया असमर्थ रहें हैं। ऐसे असमर्थ व्यक्तियों को निरुक्तादि शास्त्रों को पढ़ाना ही नहीं चाहिए था। असमर्थों को पढ़ाने का दुष्परिणाम यही होता है कि वे स्वयं भ्रान्त होते हैं और अन्यों को और अधिक भ्रान्त करते हैं[1], शास्त्रों के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते हैं। यही तो वैदेशिकों की कुटिलनीति का लक्ष्य है, अस्तु।

'वा' यह अव्ययपद सन्देह या विकल्प अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। समुच्चय आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है–

अथापि समुच्चयार्थे भवति– "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा०" (तै०सं० १.७.७.२) इति [निरु० १.४-५]। **वाशब्दः समुच्चये** (स्कन्दः, ऋ० १.२३.१७; सायणः, ऋ० १.८६.२,३,८)। **वाशब्दः समुच्चयार्थे** (उवटः, ऋ० १०.१०.१४; दया०, ऋ० १.८३.६)। **वाशब्दश्चार्थे** (स्कन्दः, ऋ० ६.४६.७, ६.५२.१३; उवटः, ऋ० १०.७४.१, सायणः, ऋ० २.२.१०, ५.३४.५ आदि; दया०, ऋ० १.६.१०)। **समुच्चयार्थीयो वाशब्दः** (वेंकटः, ऋ०५.३.१२ आदि)।

वा स्याद् विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे॥
समुच्चये च विस्रम्भे नानार्थातीतयोरपि। (मे०को०, अव्ययवर्गः– ७४, ७५)
वा विकल्पोपमयोः॥ समुच्चये च० (वै०को०, ८.७.६,७)

निर्वचनों में 'वा' शब्द (अव्यय) का प्रयोग सन्देहार्थ में अर्थात् इस शब्द का निर्वचन यह है अथवा यह है, ऐसे अर्थ को प्रकट करने के लिए नहीं होता है, अपितु समुच्चयार्थ में होता है। समुच्चय का अर्थ संग्रह, एकत्रीकरण होता है। संग्रह अनेकों का होता है, न कि एक का। तो प्रकृत प्रसंग में **अनेक निर्वचनों से निष्पन्न शब्द एक नहीं होता है, अपितु अनेक होते हैं।** उन अनेक शब्दों का अनेक निर्वचनों से संग्रह करना ही यहाँ समुच्चय है। उदाहरण के लिए 'अध्वर्यु' शब्द के निर्वचनों को देखते हैं– **"अध्वर्युर् अध्वरयुः – अध्वरं युनक्ति।**

---

१. "नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा [निर्ब्रूयात्]। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्– यो वालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा" (निरु० २.३)। जिसने व्याकरण को नहीं पढ़ा या पढ़कर व्याकरण के स्वरूप को व उद्देश्य को नहीं समझा, जिज्ञासाभाव से, शिष्यभाव से किसी पारम्परिक वैदिक विद्वान् के पास नहीं बैठा (पढ़ा) और निर्वचन के स्वरूप, उद्देश्य, शैली, विद्या को नहीं जानता है, उसे (कदापि) निरुक्त का ज्ञान नहीं देना चाहिए। अन्यथा वह अज्ञानी (असमर्थ, अनधिकारी) पढ़कर भी अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करके भी उसमें दोष ही निकालता है। अतः जिज्ञासाभाव से उपस्थित शिष्य को ही निर्वचन (निरुक्तशास्त्र) का ज्ञान देना चाहिए, जो इसे सम्पूर्णतया हृदयंगम करने में समर्थ हो, केवल शब्दपारायणरत न हों, शब्दव्युत्पत्ति में, ऊह करने में अप्रतिहत गति से युक्त बुद्धि वाला हो और मन्त्रार्थ को समझने के लिए, कठोर तप करने के लिए उत्साहित रहता हो, उसे ही पढ़ाना चाहिए।

अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा, अपि वाऽधीयाने युरुपबन्धः'' (निरु० १.८)। इन चार निर्वचनों से निष्पन्न अध्वर्यु शब्द एक नहीं अपितु चार हैं। प्रत्येक अध्वर्यु शब्द का निर्वचन भिन्न-भिन्न है। विभिन्न शब्दों या निर्वचनों का समुच्चय ही हो सकता है। यहाँ एक अध्वर्युशब्द के अनेक निर्वचन हैं ही नहीं, पुनः 'वा' का अर्थ सन्देह कैसे? कदापि सम्भव नहीं है और न ही यास्क निर्वचन करने में सन्दिग्ध हैं। सन्दिग्ध तो पण्डितम्मानी ही हैं। इसका कुछ विस्तार से विवेचन करते हैं, जिससे आभासित एकत्व का भ्रम नष्ट होकर अनेकत्व का ज्ञान (प्रबोध) हो जाय।

७. अनेक निर्वचनों से उत्पन्न सरूप शब्द अनेक ही होते हैं –

वेदशब्द की तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी विभक्तियों के द्विवचन रूप क्रमशः 'वेदाभ्याम्, वेदाभ्याम्, वेदाभ्याम्' होते हैं। ये तीनों ही रूप वर्णानुक्रम से सर्वथा एक समान होने पर भी इन्हें कोई भी धीमान् एक शब्द नहीं मानता और न ही एक शब्द के अनेक अर्थ मानता है। आबालवृद्ध सभी संस्कृतज्ञ यही मानते हैं कि ये सभी रूप परस्पर निरपेक्ष पृथक्-पृथक् हैं, एक शब्द नहीं है, अपितु तीन शब्द हैं। इनके पृथक्त्व का कारण प्रत्यय का अर्थभेद ही है। आचार्य पाणिनि ने भी तीन अर्थों में तीन प्रत्ययों (भ्याम्) का अलग-अलग विधान किया है, न कि तीन अर्थों में एक प्रत्यय का विधान किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इनमें प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों ही सर्वथा सरूप हैं, पुनरपि केवल प्रत्यय के अर्थभेद से ही ये सभी शब्द परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। ये वैसे ही भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि प्रकृति या प्रत्यय के भेद से शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्य उदाहरण को भी देखें– **''अश्वपत्यादिभ्यश्च''** (अष्टा० ४.१.८४) सूत्र से अश्वपति आदि प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय विहित है। सभी अर्थों में 'आश्वपत' ही बनता है। जैसे– अश्वपतेरपत्यम्[१], समूहः[२], निवासः[३] (ग्रामः), इदम्[४] आश्वपतम्। अश्वपतिना प्रोक्तम्[५] आश्वपतम्। अश्वपतौ भवो[६] जातो[७] वा आश्वपतम्। इन सभी अर्थों में उत्पन्न आश्वपतशब्द एक नहीं है और न ही एक शब्द के अनेक व्युत्पत्तियाँ (निर्वचन) ही हैं। ये सभी शब्द वर्णानुक्रम से समान होने पर भी और इनकी प्रकृति एवं प्रत्ययों का स्वरूप समान होने पर भी केवल प्रत्ययार्थ के भिन्न-भिन्न होने से सभी शब्द परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द हैं। अतः 'आश्वपत' शब्द के निर्वचन भी यथाशक्य अनेक होंगे ही। अनेक निर्वचनों का समुच्चय ही सम्भव है। इसीप्रकार अदितेरपत्यम् आदित्यः।[८] आदित्यस्यापत्यम् आदित्यः।[८] ये दोनों आदित्य शब्द स्वरूपतः समान हैं और प्रत्यय एवं प्रत्ययार्थ समान हैं, पर प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं। अतः ये दोनों आदित्य शब्द भी सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। इन्हें एक मानना तथा एक शब्द के दो अर्थ कहना बालकपन ही होगा। प्रत्यय के भेद से भी शब्दान्तर की सिद्धि होती ही है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के वचनों को हम पूर्व (पृ० १६५) में उद्धृत कर चुके हैं– **''अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते०,'' ''कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं०''** वहाँ भी स्पष्ट हो चुका है कि गोशब्द √गृ, √गृज, √गम्, √गुङ् और √गद् धातुओं से निष्पन्न होता है। यहाँ भी प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न होने से इन धातुओं से निष्पन्न गोशब्द भी सरूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं और इनके निर्वचन भी भिन्न-भिन्न ही होंगे। एक शब्द के अनेक निर्वचन मानना

१. तस्यापत्यम् (अष्टा० ४.१.९२)।
२. तस्य समूहः (अष्टा० ४.२.३६)।
३. तस्य निवासः (अष्टा० ४.२.६८)।
४. तस्येदम् (अष्टा० ४.३.१२०)।
५. तेन प्रोक्तम् (अष्टा० ४.३.१०१)।
६. तत्र भवः (अष्टा० ४.३.५३)।
७. तत्र जातः (अष्टा० ४.३.२५)।
८. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (अष्टा० ४.१.८५)।

या कहना यथार्थता नहीं है, अज्ञान है, असत्य है। ऐसी स्थिति में गो आदि शब्दों के पृथक्-पृथक् निर्वचन करने में ही बुद्धिमत्ता है, भाषाविज्ञान है। विभिन्न सरूप शब्दों के विभिन्न निर्वचनों का समुच्चय ही तो हो सकता है, न कि सम्भावना या सन्देहास्पदपन। इस भाषाविज्ञान को न जानने वाले लोग जो यास्क के निर्वचनों को सन्दिग्ध कहते हैं, उनका वह कथन (आक्षेप) अत्यन्त हास्यास्पद एवं मूढ़तायुक्त है। अर्थभेद से अन्वाख्यान (व्युत्पत्ति या निर्वचन) का भेद होता है, इसे और भी अधिक पुष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने अन्य उदाहरण भी दिये हैं—

वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।
कैश्चित्कथञ्चिदाख्याता निमित्तावधिसङ्करैः।। (व०प०२.१७१)

वीरकर्म वैरम्, वीरेषु भवं वैरम्। वसिष्ठेन दृष्टं प्रोक्तं वा वासिष्ठम्, वसिष्ठशब्दोऽस्मिन् वर्तत इति वासिष्ठम्। गिरौ शेते इति गिरिशः[१], गिरौ शिरो यस्येति वा, गिरिं श्यतीति वा गिरिशः। एकागारं सोढा, एकमसहायमगारं प्रयोजनमस्येति ऐकागारिकः[२] इत्यादि शब्दों के अन्वाख्यान के निमित्तभूत अर्थ नियत न होने से अन्वाख्यान (निर्वचन) भी नियत नहीं होंगे। आचार्य भर्तृहरि आगे जाकर सुदृढ़ सिद्धान्त की घोषणा स्पष्ट शब्दों में करते हैं— **अर्थान्तरे च यद् वृत्तं तत् प्रकृत्यन्तरं विदुः।** (वा०प०२.१७७)

तुल्यरूप वाले शब्द जो अर्थान्तर में प्रवृत्त (प्रयुक्त) होते हैं, उन्हें प्रकृत्यन्तर ही जानें। प्रकृत्यन्तर से शब्दान्तर की निष्पत्ति होती ही है। इसी शब्दान्तरत्व को वैयाकरणभूषणसारकार कौण्डभट्ट एक भिन्न उदाहरण के साथ प्रतिपादित करते हैं—

सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था नपुंसकत्वम्, आधिक्यं पुंस्त्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम्, तत्तच्छब्दनिष्ठं तत्तच्छब्दवाच्यञ्च। तमेव विरुद्धधर्ममादाय तटादिशब्दा भिद्यन्ते। केषाञ्चिदनेकलिङ्गत्व-व्यवहारस्तु समानानुपूर्वीकत्वेन शब्दानाम् अभेदारोपात् (वै०भू०सा०, नामार्थनिर्णयः, कारिका-२५)। जाति, व्यक्ति और लिङ्ग नाम (प्रातिपदिक) के अर्थ होते हैं। लिङ्ग अर्थात् त्रिविध लिङ्ग नाम का अर्थ होता है। सत्व, रज एवं तम गुणों की समानावस्था वाले पदार्थ का वाचक नपुंसकलिङ्ग होता है। विषमावस्था में किन्हीं दो गुणों का आधिक्य एवं एक गुण का न्यूनत्व जिसमें हों, वह पुंलिङ्ग तथा दो गुणों का न्यूनत्व एवं एक गुण का आधिक्य जिसमें हों वह स्त्रीलिङ्ग होता है। यह लिङ्ग जाति, गुण, क्रिया आदि के भेद से भिन्न हुए उस-उस शब्द में रहता है और उस-उस शब्द का वाच्य भी होता है। यहाँ एक आशङ्का उत्पन्न होती है कि— ये सत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मवाले गुण द्विलिङ्गी और त्रिलिङ्गी शब्दों में एकसाथ कैसे रहते हैं? भूषणकार उत्तर दे रहें हैं कि— ये सत्वादि विरुद्धधर्म किसी एक शब्द में नहीं रह सकते। तो तटः, तटी, तटम् आदि त्रिलिङ्गी शब्दों की उपपत्ति कैसे होगी? कहते हैं कि— विरुद्ध धर्मवाले होने से तटः, तटी, तटम् ये परस्पर भिन्न-भिन्न शब्द हैं अर्थात् एक शब्द त्रिलिङ्गी नहीं है। **एक शब्द में एक ही लिङ्ग रह सकता है।** हाँ, कुछ (अज्ञानी व अल्पज्ञ) लोग वर्णों की समानता के कारण तटः आदि तीन शब्दों में एकत्व का आरोप कर अर्थात् भ्रान्ति से एक शब्द समझकर तटशब्द अनेकलिङ्ग वाला है, ऐसा कहते हैं। पर यह एकत्व का आभास कुछ (अज्ञानी) लोगों को ही होता है, न कि सबको।

अभी तक हमने व्याकरण के उदाहरणों एवं प्रामाणिक आचार्यों के वचनों से जाना है कि **प्रकृति-प्रत्ययों में से किसी एक या दोनों के भिन्न होने पर और उनमें से किसी एक या दोनों के अर्थ भिन्न होने पर समानरूपवाले शब्द भी शब्दान्तर होते हैं।** इस विवेचन के आरम्भ में उदाहरण के रूप में 'अध्वर्यु' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया गया था। उसके चार निर्वचन इसप्रकार हैं— **१. अध्वरं युनक्तीति अध्वर्युः** [अध्वर+√युजिर्+डु]। **२. अध्वरस्य नेता [=याता] इति अध्वर्युः** [अध्वर + √या + कु]। **३. अध्वरं**

---

१. गिरौ डश्छन्दसि (वा० ३.२.१५)।
२. ऐकागारिकट् चौरे (अष्टा० ५.१.११२)।

कामयत इति वा अध्वर्युः [अध्वर+क्यच् +उ]। ४. **अध्वरमधीते वेद इति वा अध्वर्युः** [अध्वर + यु] (द्र० निरु० १.८)। इन निर्वचनों से हस्तामलकवत् स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि– प्रत्येक निर्वचन (व्युत्पत्ति) में धातु, प्रत्यय और इनके अर्थ में भिन्नता है। इतनी भिन्नता होने पर इन निर्वचनों से निष्पन्न चार अध्वर्युशब्द एक कैसे हो सकते हैं? इन चार निर्वचनों में आद्य तीन अध्वर्यु शब्द कृदन्त हैं और अन्तिम चौथा तद्धितान्त शब्द है। क्या कृदन्त और तद्धितान्त शब्द कभी एक हो सकते हैं? कदापि नहीं। कृदन्तों में भी आद्य दो शब्द अध्वर शब्द के उपपद रहते हुए √युजिर् और √या धातुओं से निष्पन्न हैं, अन्तिम तीसरा शब्द तो क्यच्प्रत्ययान्त धातु (नामधातु) से निष्पन्न है। शुद्ध धातु से एवं नामधातु से निष्पन्न शब्द क्या कभी अभेद हो सकते हैं? कभी भी नहीं। प्रथम, द्वितीय अध्वर्यु शब्दों में भी क्रियावाचक धातु (प्रवृत्तिनिमित्त) के भेद से भिन्नता स्वतः सिद्ध है। अब किस आधार पर इन चार अध्वर्यु शब्दों[1] को एक सिद्ध करेंगे?[2] केवल स्वरूप (वर्णों) के सादृश्य से शब्दों का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इसीप्रकार आचार्यशब्द की व्युत्पत्तियों को भी देखते हैं– आचार + णिच् + यत् = आचार्य। आङ् +√चर्+ण्यत् = आचार्य। आङ् +√चिञ् + डार्यत् = आचार्य (द्र० निरु० १.४)। यहाँ भी प्रकृति, प्रत्यय आदि भिन्न-भिन्न हैं और सभी आचार्यशब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) भी भिन्न-भिन्न हैं। पुनः ये सभी शब्द एक कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं। आप्लृधातु के लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप **'आपः'** बनता है। इसीप्रकार टुओश्विधातु के लुङ् म० पु० एक० का रूप **'अश्वः'**, √णु स्तुतौ के लोट् उ०पु० एक० का रूप **'नवानि'**, √असु क्षेपणे के लोट् म०पु० एक० का रूप **'अस्य'** बनता है। आपः, अश्वः आदि सुबन्त के भी रूप हैं। इन तिङन्त एवं सुबन्तों का वर्णानुक्रम समान होने मात्र से क्या कोई बुद्धिमान् इन्हें एक ही शब्द मानने का दुस्साहस कर सकता है? कभी भी नहीं। इसीप्रकार तिङन्त एवं कृदन्त में समान दिखने वाला शब्द निरुक्त में भी मिलता है। निरु० ५.३ में व्याख्यात ''अक्षाः'' (=व्याप्त हुआ, निवास किया, चला गया) शब्द √अशूङ्, √क्षि, √क्षर् धातुओं का लुङ् लकार सम्बन्धी छान्दसरूप हैं। निरु० ९.७ में व्याख्यात ''अक्षाः'' (=पासें) शब्द कृदन्त है। 'अक्षाः' शब्द के उक्त विभिन्न अर्थों में निर्वचन भी विभिन्न ही होंगे, न कि एक। अनेक निर्वचनों का समुच्चय ही मानना पड़ता है। सफेद गुण का वाचक 'श्वेतः' शब्द, तद्गुणवान् अश्वादि का वाचक 'श्वेतः' शब्द और 'श्वा+इतः' का संयोगज 'श्वेतः' शब्द ये तीनों ही वर्णानुपूर्वी से समान होने पर भी एक शब्द नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं।[3] इनका निर्वचन (व्युत्पादन) भी भिन्न-भिन्न करना ही समुचित है। एकत्र इन सभी अर्थों को दिखाने के लिए तीन निर्वचन करने होंगे और उन निर्वचनों का समुच्चय ही होगा।

जब सरूप शब्दों का एकत्व ही सिद्ध नहीं है, तब एक शब्द के अनेक निर्वचन कहना क्या बुद्धिहीनता का द्योतक नहीं है? वर्णानुक्रम की समानता को देखकर एक शब्द समझना बालकपन नहीं तो और क्या है? यथार्थतः एक शब्द के अनेक अर्थ होते ही नहीं, प्रत्येक अर्थ के लिए एक-एक शब्द नियत होता है।[4] वैसे ही किसी

---

१. इसीप्रकार निरुक्त के नाना निर्वचन वाले सभी शब्दों में समझना चाहिए। यहाँ तो केवल उदाहरण के रूप में स्वीकृत शब्द पर ही चर्चा की जा रही है।

२. पूर्वोक्त सात प्रकार के 'आश्वपतम्' शब्दों में सर्वत्र अण् तद्धितप्रत्यय ही है, पुनरपि प्रत्ययार्थ के भेद से शब्दों में भेद माना जाता है, त्रिविध 'वेदाभ्याम्' को भी प्रत्ययार्थ के भेद से सरूप शब्दों में निस्सन्देह होकर भिन्नता स्वीकार की जाती है। अध्वर्यु जैसे सरूप शब्दों में तो प्रकृति, प्रत्यय एवं उनके अर्थों में भी भेद है। इतने भेदनिमित्तों के होने पर भी यहाँ किस आधार पर दुराग्रह किया जा सकता है कि ये अध्वर्यु शब्द चार नहीं हैं, अपितु एक ही है?

३. रूपसामान्याद्वा (वार्त्तिकम्) ---- तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम्। तानेव शालीन् भुञ्ज्महे ये मगधेषु। तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्। अन्यस्मिंश्चान्यस्मिंश्च रूपसामान्यात् तदेवेदमिति भवति (म०भा० अइउण्)। इससे स्पष्ट है कि– रूपसामान्य से एकत्व की बुद्धि होती है, पर यथार्थतः वे अन्य अन्य ही होते हैं।

४. प्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते...एतस्मात् कारणात् नैकेन शब्देनानेकस्याभिधानं प्राप्नोति (म०भा०१.२.६४)।
वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः(सा०द० २.२)

भी शब्द के पर्यायवाची शब्द भी नहीं होते हैं, क्योंकि प्रत्येक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त पृथक्-पृथक् होता है। एक शब्द के अनेक अर्थ और एक अर्थ के अनेक शब्द (पर्यायवाचीशब्द) होते हैं, ऐसा कहना एक अत्यन्त स्थूल या सामान्य कथन है। यह कोई शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। यास्कादि आचार्य भी इसी सामान्यता से कई बार कथन करते हैं। तद्यथा– "**एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतो ऽनुक्रमिष्यामः**" (निरु० ४.१)। "**बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा– इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः। कन्दुः, कोठः, कुसूलः इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा – अक्षाः, पादाः, माषा इति**" (म०भा०१.३.१), अस्तु।

अनेक शब्दों या अनेक निर्वचनों का एकत्र समुच्चय ही हो सकता है। इस समुच्चयत्व को न समझने के कारण अल्पज्ञ विद्वान् यास्क पर अनेक अनर्गल आक्षेप करते हैं। जैसे पागल व्यक्ति सबको पागल ही समझता है, वैसे ही कुछ आधुनिक लोग अनभिज्ञता या व्यर्थ के अभिमान के कारण आप्तपुरुष एवं प्रामाणिक आचार्य यास्क पर अपलाप करते हैं। शास्त्र का विषय इनकी बुद्धि में प्रवेश कर लिया तो ठीक, नहीं तो शास्त्र का गूढ विज्ञान भी इनके लिए प्रलाप दीखता है। शास्त्र में प्रवेश करने के लिए प्राथमिक योग्यता (व्याकरण का ज्ञान) प्राप्त होते ही आधे-अधूरे भाषाज्ञान से प्रामाणिक ग्रन्थ को परखने लगते हैं और अनेकों दोष निकालते हैं। अपने अज्ञानमय कार्य को शोधकार्य मानते हैं। इससे बढ़कर अपलापपन का और क्या उदाहरण हो सकता है। अस्तु; अभी तक हमने सप्रमाण जान लिया है कि निरुक्त के निर्वचनों में प्रयुक्त 'वा', 'अपि वा', 'अथवा' आदि शब्द विभिन्न सरूप शब्दों की व्युत्पत्तियों के समुच्चय के लिए ही प्रयुक्त हैं।

सज्जनों की सूक्तियाँ

घर्मार्त्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली,
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः,
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥

(हितो०,मित्रलाभः– ९७)

गर्मी से दुःखी मनुष्य को ठण्डे जल से स्नान करना या मोतियों की माला पहनना अथवा पूरे शरीर पर सुगन्धित चन्दन का लेप करना भी उतना सुख नही पहुँचाता, जितना कि मनुष्य के चित्त को, पुण्यात्माओं को आकृष्ट करने में मन्त्र के समान प्रभावकारी, सज्जनों की वे सूक्तियाँ जो उत्तम प्रकार से प्रेमपूर्वक प्रस्तुत की गयी हों।

२.३. शब्दों का भेदाभेद*

प्रयत्नादि[१] के भेद से नाद (ध्वनि) का भेद हो जाता है और नादभेद से वर्णभेद[२], वर्णभेद से शब्दों (पदों) का भेद हो जाता है। जैसे– ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु आदि शब्द। ये सभी शब्द एक परमात्मा के वाचक[३] होने से पर्यायवाची होंगे अर्थात् ये एकार्थक शब्द हैं। ये एकार्थक होते हुए भी भिन्न - भिन्न शब्द हैं। इनके भिन्नत्व में दो कारण हैं– १. वर्णों की भिन्नता, इसे सभी लोग जानते हैं। २. इन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त क्रमशः ऐश्वर्यत्व, बृहत्त्व एवं व्यापकत्व हैं। इन प्रवृत्तिनिमित्तों के भिन्न - भिन्न होने के कारण एकार्थक होते हुए भी वे शब्द भिन्न-भिन्न हैं। प्रवृत्तिनिमित्तों का बोध उन - उन शब्दों में विद्यमान मूल प्रकृतियों (धातुओं) से होती है।[४] इसीप्रकार ईश्वरादि प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची शब्दों में भी जानें। इससे हम दो सिद्धान्तों का ग्रहण कर सकते हैं– १. **वर्णभेद से शब्दभेद हो जाता है। २. धातु (प्रवृत्तिनिमित्त) के भेद से भी शब्द का भेद हो जाता है।** इसके लिए प्रसिद्ध उदाहरण भी ले सकते हैं– पाचकः, पाठकः। इनमें प्रत्यय (ण्वुल्) एक[५] ही है, पर धातु और धात्वर्थ भिन्न - भिन्न हैं। स्पष्ट है कि– प्रत्यय एवं प्रत्ययार्थ के समान होने पर भी धातु एवं धात्वर्थों के भेद से शब्दभेद हो जाता है। पाकः, पक्वः, पचनम्, पक्तिः इन शब्दों में धातु (पच्), धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ (भाव) के समान होने पर भी प्रत्यय[६] के भेद से शब्दों में भिन्नता आयी है। इससे हम इस सिद्धान्त का ग्रहण कर सकते हैं– **समानार्थक होते हुए भी प्रत्ययों के भेद (असरूप) से शब्दों का भेद होता है।**

अश्वपत्यादिभ्यश्च (अष्टा० ४.१.८४) सूत्र से अश्वपति आदि प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय विहित है। सभी अर्थों में 'आश्वपत' ही बनता है। तद्यथा– अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतम्, अश्वपतेः समूहः आश्वपतः, अश्वपतेर्निवासः आश्वपतो ग्रामः, अश्वपतेरिदम् (वस्तु) आश्वपतम्, अश्वपतिना प्रोक्तम् आश्वपतम्, अश्वपतौ भवो जातो वा आश्वपतम् आदि। इन सभी अर्थों में निष्पन्न 'आश्वपत' शब्द एक है या अनेक? निस्सन्देह अनेक शब्द हैं। कैसे? इनमें तो प्रकृति तथा प्रत्ययों का वर्णतः स्वरूप समान है और प्रकृति का अर्थ भी सबमें

---

*. यह लेख वेदवाणी (अक्तूबर-२०२२) में प्रकाशित है।

१. सैषा [वाक्] स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपी भवति (ऐ० आ० २.३.६)। पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः (काशिका– ऐऔच्)। स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः, चतुष्षष्टिरित्येके (पा० क्षा० ४.५)।

२. ०नादः स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः (पा०शि०)। शब्दः [नादध्वनिः]प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्, तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम् (तै० प्रा० २२.१,२)।

३. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति०(ऋ०१०१६४.४६)। विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति (ऋ०१०.११४.५); अपि च द्र० यजु०३२.१,मनु० २.१२३)। स ब्रह्मा स शिवः स इन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः (कै० उप० १.८) सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।। (वि० पु० १.२.६६)।

४. √ईश ऐश्वर्ये (अदा०१०),√बृह वृद्धौ (भ्वा० ४८८),√विष्लृ व्याप्तौ (जु०१३)।

५. एक का तात्पर्य समानरूपक प्रत्यय है।

६. इनमें क्रमशः घञ् (अ), क्त (व), ल्युट् (अन), क्तिन् (ति) प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के भेद का कारण इनके वर्णों का भेद है। वर्णभेद को हम स्वरूपभेद भी कह सकते हैं। प्रत्ययभेद से धातुओं के विकारों में भी भेद हुआ है। जिससे धातु में भी स्वरूपभेद आगया है। यथार्थतः ये सभी शब्द पूर्णतः भिन्न - भिन्न हैं। पुनरपि हम पाणिनीयप्रक्रिया से भिन्नता को समझने का प्रयास कर रहें हैं।

समान है, पुनः वे पृथक्-पृथक् कैसे? केवल प्रत्ययार्थ के भिन्न-भिन्न होने से वे सभी आश्वपतशब्द एक दूसरे से सर्वथा एवं निरपेक्ष भिन्न-भिन्न हैं। इसीप्रकार वेदशब्द की तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी विभक्तियों के द्विवचनरूप 'वेदाभ्याम् ,वेदाभ्याम्, वेदाभ्याम्' स्वरूपतः समान दिखने पर भी प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थभेद से वे एक शब्द नहीं है, अपितु तीन शब्द हैं। सम्भवतः इसमें किसी को कोई विमति नहीं होगी। आश्वपतम् और वेदाभ्याम् जैसे शब्दों में यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि यहाँ तो पाणिनि ने अण् या भ्याम् प्रत्यय का विधान भिन्न-भिन्न अर्थों में किया है, इसलिए ये सभी सरूप शब्द भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि पाणिनि के विधान से शब्दों में भिन्नता नहीं आती है, अपितु भिन्न-भिन्न शब्दों में पाणिनि ने अलग-अलग प्रत्ययों का विधान किया है। शब्द नित्य होते हैं, व्युत्पत्ति की प्रक्रियाएँ अनित्य एवं प्रकल्प्य होती हैं, अस्तु। इस मन्थन से यह सिद्धान्त भी गृहीत होता है कि— **प्रकृति और प्रत्यय का योग अर्थात् सम्पूर्ण शब्द वर्णतः सम्पूर्णतया सरूप होने पर भी केवल प्रत्ययार्थ के भिन्न होने से शब्दों का भेद सिद्ध हो जाता है।**

अभी तक के प्रतिपादन से यह सिद्ध हो जाता है कि— प्रकृति या प्रत्यय इन दोनों के या किसी एक के स्वरूपतः (वर्णतः) और अर्थतः भेद होने पर शब्दों में भी भिन्नता आती है। साथ में प्रकृति एवं प्रत्यय इन दोनों के स्वरूपतः सरूप होने पर भी इन दोनों में से किसी एक के या दानों के अर्थ में भिन्नता होने पर भी शब्दों में भिन्नता आती है। स्पष्टता के लिए एक- दो भिन्नप्रकार के उदाहरणों को भी यहाँ प्रस्तुत कर रहें हैं— आप्लृधातु के लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप **'आपः'** बनता है। इसीप्रकार टुओश्वि धातु के लुङ् म०पु०एक० का रूप **'अश्वः'**,णु स्तुतौ धातु के लोट् उ०पु०एक० का रूप **'नवानि'**, असु क्षेपणे धातु के लोट् म०पु०एक का रूप **'अस्य'** बनता है। आपः, अश्वः, नवानि, अस्य ये सुबन्त के भी रूप हैं। इन तिङन्त एवं सुबन्तों का वर्णानुक्रम पूर्णतया समान होने पर भी क्या कोई इन्हें एक ही शब्द मान सकता है? कदापि नहीं। इनका भेदत्व प्रसंगतः प्राप्त अर्थ या व्युत्पत्ति के आधार पर सिद्ध होता है। इसीप्रकार सफेद गुण का वाचक 'श्वेतः' शब्द, तद्गुणवान् अश्वादि का वाचक 'श्वेतः' शब्द, 'श्वा+इतः' के संयोग से उत्पन्न 'श्वेतः' शब्द ये तीनों ही वर्णानुपूर्वी से समान दीखने पर भी अर्थ के कारण ये सभी शब्द भिन्न-भिन्न ही जाने जाते हैं। अभी तक प्रस्तुत तथ्यों पर सम्भवतः किसी को भी किसीप्रकार की कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी। अब हम निरुक्त की ओर प्रस्थान करते हैं—

यास्कमुनि अपने निरुक्त (१.८) में अध्वर्युशब्द के चार निर्वचन करते हैं। हम उन्हें विभक्त कर व्युत्पत्ति के संकेत के साथ प्रस्तुत करते हैं—**१.अध्वरं युनक्तीति अध्वर्युः** [अध्वर+√युजिर्+डु]। **२. अध्वरस्य नेता [=याता] इति अध्वर्युः** [अध्वर+√या+कु]। **३. अध्वरं कामयत इति वा अध्वर्युः** [अध्वर+क्यच्+उ]। **४. अध्वरमधीते वेद इति वा अध्वर्युः** [अध्वर+यु]। इन चारों निर्वचनों से व्युत्पन्न चार 'अध्वर्यु' शब्दों में वर्णात्मक सारूप्य होने पर भी व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति एवं प्रत्ययों के भेद के कारण क्या भेद नहीं मान सकते? पूर्व में उद्धृत सात 'आश्वपतम्' शब्दों में प्रकृति एवं प्रत्यय समान होने पर भी केवल प्रत्ययार्थ के भेद से उन शब्दों में भी भेद स्वीकारा गया है। अध्वर्युशब्द में तो प्रकृति, प्रत्यय एवं इनके अर्थों में भी भेद है। इतने भेदों के होने पर भी इनमें भेद न मानकर अध्वर्युशब्द एक ही है, ऐसा मानने में क्या आधार है? यदि कोई आधार नहीं है, तो चार निर्वचनों से व्युत्पन्न अध्वर्यु शब्दों को चार शब्द मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार आश्वपतम् , श्वेतः, वेदाभ्याम् आदि शब्दों में निर्वचन अर्थात् प्रकृति, प्रत्ययादि के विभाग से, उनके कारकत्वादि अर्थों से उन शब्दों में भेद किया जाता है और आपः, अश्वः आदि तिङन्त एवं सुबन्त शब्दों में भी प्रकरणशः अर्थ के आधार पर विवेक किया जाता है, उसीप्रकार अध्वर्यु के चार निर्वचनों से उत्पन्न शब्दों को पृथक्-पृथक् चार

अध्वर्युशब्द क्यों नहीं मान सकते? अवश्य मानना चाहिए।[1] इसीप्रकार निरुक्त के सभी निर्वचनों में समझना चाहिए। यहाँ तो केवल उदाहरण के लिए अध्वर्युशब्द को लिया गया है। इस विषय पर लेखक ने स्वकृत '**निरुक्तनिर्वचनानि**' की भूमिका में (पृष्ठ ५६-६१)[2] सप्रमाण एवं अनेकों अकाट्य युक्तियों से विस्तृत विवेचन किया है, विद्वान् उसे भी अवश्य देखें।

अनेकों निर्वचनों से उत्पन्न सरूप शब्द अनेक होते हैं, इसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकारने में कुछ प्रश्न उठाये जाते हैं। तद्यथा –

१. इसे सिद्धान्ततः स्वीकारने में आचार्य यास्क का कोई संकेत नहीं है। आचार्य ने तो एक शब्द के अनेक अर्थों को दिखाया है।

समाधान – आचार्य का संकेत यही है कि समुच्चयार्थ में वा, अपिवा, अथवा आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। समुच्चय अनेकों का ही होता है, न कि एक का। यदि कहें कि समुच्चय तो निर्वचनों (अर्थों) के लिए चरितार्थ है। इसका समाधान यह है कि **प्रत्येक निर्वचन से एक-एक निर्वाच्य शब्द की निष्पत्ति होती है।** जैसे कि अध्वर्यु के चार निर्वचनों को खण्ड़शः हमने पहले दिखाया है। जब प्रत्येक शब्द में प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न हैं, तो वे अनेक अर्थों (प्रवृत्तिनिमित्तों, क्रियाओं) का वाचक एक शब्द कैसे हो सकता है? जैसे सभी विद्वान् निर्विवादरूप से जानते हैं कि जो एकार्थक (पर्यायवाची) अनेक शब्द होते हैं, वे व्यवहारतः या सामान्यदृष्टि से एकार्थक होते हैं, पर यथार्थतः शास्त्रीय दृष्टिकोण से वे सभी पर्यायवाची (एकार्थक) शब्द नहीं हैं। सबके अपने-अपने विशिष्ट अर्थ (यौगिक अर्थ) भिन्न-भिन्न होते हैं। जिसे विद्वान् लोग प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। प्रवृत्तिनिमित्त (क्रिया) के भेद से पर्यायवाची शब्द एकार्थक नहीं होते हैं। इसे तो सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। अनेक निर्वचनों से निष्पन्न सरूप शब्दों में भी प्रवृत्तिनिमित्त (क्रिया) भिन्न-भिन्न हैं, वे सब एक शब्द कैसे हो सकते हैं? एक प्रवृत्तिनिमित्त अनेक अर्थों को कैसे कहेगा? यहाँ '**अनेकार्था धातवः**' का आश्रय भी नहीं ले सकते। क्योंकि एक धातु भिन्न-भिन्न वाक्यों में भिन्न-भिन्न अर्थों को कह सकता है, पर एक वाक्य में नहीं। एक वाक्य में प्रायः एक ही अर्थ को कहता है।

उदाहरण के लिए स्वीकृत अध्वर्यु के चार निर्वचनों में आद्य तीन अध्वर्यु शब्द कृदन्त हैं और अन्तिम चौथा तद्धितान्त शब्द है। क्या कृदन्त और तद्धितान्त शब्द कभी एक हो सकते हैं? कृदन्तों में भी आद्य दो शब्द अध्वर शब्द के उपपद रहते हुए√युजिर् और √या धातुओं से निष्पन्न हैं, अन्तिम तीसरा शब्द तो क्यच्प्रत्ययान्त धातु (नामधातु) से निष्पन्न है। शुद्ध धातु से एवं नामधातु से निष्पन्न शब्द क्या कभी अभेद हो सकते हैं? प्रथम, द्वितीय अध्वर्यु शब्दों में भी क्रियावाचक धातु (प्रवृत्तिनिमित्त) के भेद से भिन्नता स्वतः सिद्ध है। अब किस आधार पर इन चार अध्वर्यु शब्दों[3] को एक सिद्ध करेंगे?[4] केवल स्वरूप (वर्णों) के सादृश्य

१. रूपसामान्याद्वा (वार्त्तिकम्)------तानेव शाटकान् आच्छादयामो ये मथुरायाम्। तानेव शालीन् भुञ्ज्महे ये मगधेषु। तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्। अन्यस्मिंश्चान्यस्मिंश्च रूपसामान्यात् तदेवेदमिति भवति (म०भा० अइउण्)। इससे स्पष्ट है– रूपसामान्य से एकत्व की बुद्धि होती है, पर यथार्थतः वे अन्य अन्य ही होते हैं।

२. प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ०१६७-१७०) में भी वह विषय समायोजित किया गया है।

३. इसीप्रकार निरुक्त के नाना निर्वचन वाले सभी शब्दों में समझना चाहिए। यहाँ तो केवल उदाहरण के रूप में स्वीकृत शब्द पर ही चर्चा की जा रही है।

४. सात प्रकार के 'आश्वपतम्' शब्दों में सर्वत्र अण् तद्धितप्रत्यय ही है, पुनरपि प्रत्ययार्थ के भेद से शब्दों में भेद माना जाता है, त्रिविध 'वेदाभ्याम्' को भी प्रत्ययार्थ के भेद से सरूप शब्दों में निस्सन्देह होकर भिन्नता स्वीकार की जाती है। अध्वर्यु जैसे सरूप शब्दों में तो प्रकृति, प्रत्यय एवं उनके अर्थों में भी भेद है। इतने भेदनिमित्तों के होने पर भी यहाँ किस आधार पर दुराग्रह किया जा सकता है कि ये अध्वर्यु शब्द चार नहीं हैं, अपितु एक ही है?

से शब्दों का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसे पहले ही सोदाहरण दिखा चुके हैं। धातु (प्रकृति) के भेद से शब्द में और अर्थ में भिन्नता आती ही है। अत एव निर्वचन (व्युत्पत्ति) करते समय अर्थभेद से तदर्थानुकूल पृथक्-पृथक् धातुओं (प्रकृतियों) को जानना चाहिए –''**अर्थान्तरे च यद् वृत्तं तत्प्रकृत्यन्तरं विदुः**'' (वा०प० २.१७७)। प्रकृति के भेद से शब्द का भी भेद हो जाता है, यह सिद्ध हो चुका है।

''एकार्थक अनेक (पर्यायवाची) शब्द होते हैं और एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं'' यह कथन तो व्यावहारिक एवं सामान्यदृष्टिकोण का कथन है। यास्क, पतञ्जलि आदि सभी प्रामाणिक आचार्य इसका उल्लेख अनेकत्र करते भी हैं। इसे मैं भी मानता हूँ, निषेध नहीं करता हूँ। मेरा तो यही कहना है कि यह तो केवल एक स्थूलदृष्टिकोण का व्यावहारिक पक्ष है। इसी पक्ष को लेकर अनेकों शब्दव्युत्पादकशास्त्र एवं कोषों का निर्माण भी हुआ है। पर इस व्यावहारिक पक्ष के दृढ़ संस्कारों के कारण शास्त्रीय दृष्टिकोण उपेक्षित (ओझल) नहीं होना चाहिए। विशेषरूप से तो वैदिक शब्दों में पूर्णतया केवल शास्त्रीय दृष्टिकोण (यौगिक) के पक्ष को ही अपनाना पड़ता है, इसे सभी वैदिक विद्वान् जानते हैं। शास्त्रीय मूलसिद्धान्तों के चिन्तन में सामान्य सिद्धान्तों को बाधक के रूप में उपस्थित करना अन्याय्य है। क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। अतः उनमें बाध्य-बाधकभाव नहीं रहता। शास्त्रकार दोनों प्रकार के कथन करते हैं। हमें उन्हें जानना होगा।

एक शब्द के अनेक निर्वचनों में से एक-एक निर्वचन से एक-एक सरूप शब्द बनता है। क्योंकि प्रत्येक निर्वचन एक स्वतन्त्र वाक्य है।[१] इन निर्वचनवाक्यों से उत्पन्न सरूप शब्दों का समुच्चय आचार्य वा, अथवा, अपिवा आदि शब्दों से करते हैं। यह समुच्चय केवल अर्थों के संग्रह के लिए नहीं है।

२. व्यक्ति एक है तो उसके वाचक अध्वर्युशब्द चार कैसे हो सकते हैं?

समाधान–एक व्यक्ति या वस्तु के अनेक नाम होते हैं, यह सर्वप्रसिद्ध है। जिन्हें पर्यायवाची समझा जाता है। पर्यायवाची शब्द अपने-अपने प्रवृत्तिनिमित्तों से एक द्रव्य के वाचक होते हैं। उसीप्रकार चार अध्वर्युशब्द अपने-अपने प्रवृत्तिनिमित्तों से एक व्यक्ति के वाचक होते हैं। इसमें आपत्ति क्या है? कुछ नहीं है। चारों में वर्णतः सारूप्य के कारण बुद्धि स्वभावतः एकत्व का आरोप कर लेती है। जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। परन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि तद्धितान्त एवं कृदन्त और भिन्न-भिन्न धातुओं से उत्पन्न शब्द एक नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त को भी बुद्धि में दृढ़ता से स्थापित करना होगा।

यहाँ और एक विषय विशेषतया ध्यातव्य है कि–अर्कः (निरु० ५.४; निघं० २.७.१८; २.२०.१०) शब्द के देव, मन्त्र, वृक्ष (आक), अन्न, वज्र आदि अर्थ हैं। इन सभी अर्थों को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न निर्वचन होंगे और उन निर्वचनों से उत्पन्न अर्कः शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होंगे। अब 'अर्कः' शब्द सर्वत्र सारे अर्थों को नहीं कहेगा। प्रसंगवश मन्त्र में जिस अर्थ के लिए वह प्रयुक्त हुआ है, उसीके अनुकूल निर्वचन वहाँ करना होता है। सारे निर्वचन या सारे 'अर्कः' शब्द एक ही मन्त्र वा प्रसंग में क्यों आयेंगे? यदि नहीं आते हैं तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा कि यदि अर्थ (पदार्थ) एक है तो उसके वाचक शब्द अनेक कैसे? अब एक व्यक्ति (ऋत्विक् विशेष) में अध्वर्यु के सारे अर्थ भले ही घटित होते हों, पर सब जगह सभी अर्थ गृहीत हो सकते हैं या नहीं हो सकते? यह अनुसन्धान का विषय है। मैंने अपने पूर्व लेख में अपने कथ्य के अनुकूल अध्वर्युशब्द

---

१. तद्यथा–अध्वरं युनक्तीति अध्वर्युः। अध्वरस्य नेता इति अध्वर्युः। अध्वरं कामयत इति वा अध्वर्युः। अध्वरमधीते वेद इति वा अध्वर्युः।

को लिया था। उसमें किसी को कुछ आपत्ति हो तो 'अर्कः' आदि कुछ भी उदाहरण ले सकते हैं, जो अनेकार्थक हैं। अध्वर्युशब्द इसीलिए लिया था, क्योंकि इसमें तद्धित और विविध कृदन्तों की व्युत्पत्तियाँ विद्यमान हैं। जिससे सरूपशब्दों में भिन्नता को समझने में सरलता होगी, अस्तु।

३. हृदयशब्द √हृञ् , √दा और √इण् धातुओं के योग से उत्पन्न होता है। इसप्रकार ये तीन हृदय तो नहीं हो जाते, अपितु एक ही हृदय तीन अर्थों (अशुद्ध रक्त का आहरण, शुद्ध रक्त का दान तथा गमनरूपी कार्यों) को कह रहा है।

समाधान—यह आक्षेप तो सर्वथा ही अनुचित और भ्रामक है। क्योंकि मैंने कहीं भी यह प्रतिपादन नहीं किया कि एक धातु से एक शब्द बनता है या एक शब्द में एक ही धातु रह सकता है। एकाधिक धातुओं से भी शब्द बनते हैं। यह व्युत्पत्तिशास्त्रकारों की एक विशिष्ट शैली है। जिसका प्रतिपादन मैंने अपने ग्रन्थ 'निरुक्तनिर्वचनानि' (पृ०३८-३९ एवं ४५-४६) में किया है।[१] दो या तीन धातुओं के योग से एक शब्द का बनना एवं अलग-अलग धातुओं से अलग-अलग शब्दों का बनना, इन दो कथनों में बहुत अन्तर है। दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। अतः इनमें बाध्यबाधकभाव की कल्पना व्यर्थ है।

''एक शब्द का एक ही अर्थ या निर्वचन हो सकता है'', यह सिद्धान्त मेरी अपनी नयी उपज्ञा (कल्पना) नहीं है। मेरे इन दो लेखों के प्रतिपादन से ही पूर्णतया स्पष्ट है कि यह शास्त्रानुमोदित सिद्धान्त है। हाँ! मुझे इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रस्तुतकर्ता कह सकते हैं।

जन्ममरण के दुःखों से मुक्ति

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर ! चिराच् चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधौ तथाऽपि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां,
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ।।

(न्या० कु० ५.१७ -१८)

हे सहज सौन्दर्य से परिपूर्ण प्रभो! हम भक्तों का चित्त तो बहुत समय से आनन्दसरोवर आप में ही निमग्न है, किन्तु अपनी चपलता के कारण वह अभी पूरा तृप्त नहीं हुआ है। तो हे नाथ! शीघ्र ही आप ऐसी दया कीजिए कि, हमारा चित्त आपके ही ध्यान में पूर्णरूप से तल्लीन हो जाये, जिससे हम वार-वार यमयातनाएँ अर्थात् जन्ममरण के दुःखों को न भोगें ।

१. द्रष्टव्य – इसी ग्रन्थ के पृ०१५३-१५४ और १५८। वेदवाणी के अंक—जून-२०२२, पृ० १९ और जुलाई-२०२२, पृ० १२।

२.४. शब्दव्युत्पत्ति के प्रकार : एक विश्लेषण*

यास्क मुनि अपने व्याख्यातव्य ग्रन्थ का नाम 'निघण्टु' शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं– **निघण्टवः कस्मात् ? निगमा इमे भवन्ति – छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः, ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वाऽऽहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति, यद्वा समाहृता भवन्ति (निरु०१.१)।** यहाँ निघण्टु शब्द के तीन निर्वचन किये गये हैं – १. निगमात् निगमनात् निघण्टवः [नि + √गम्लृ + तुन् > निगन्तु > निघन्तु > निघण्टु]। २.समाहननाद् निघण्टवः [सम्+आङ्+ √हन्+तुन् > समाहन्तु > निहन्तु > निघन्तु> निघण्टु] ३.समाहरणात् निघण्टवः[सम्+आङ्+ √हृञ्+तुन् > समाहर्तु > निहर्तु >निघर्तु > निघण्तु > निघण्टु] इन तीन व्युत्पत्तियों में क्रमशः √गम्, √हन्, √हृ धातुओं से निघण्टु शब्द को सिद्ध किया गया है। इन व्युत्पत्तियों में अनेकों विकार बहुल से या निपातन से करने पड़ रहें हैं।[1] इसप्रकार की व्युत्पत्तियों पर कुछ मूर्धन्य विद्वान् अनेकों आक्षेप करते हैं–

१. निघण्टु की व्युत्पत्ति "घटि भासार्थो भाषार्थो वा" (चुरा०२२३) धातु से औणादिक 'उ' (१.७) प्रत्यय करके अथवा "घण शब्दे"[2] (का० धातु०, भ्वा०२०६) धातु से औणादिक तुन् (१.६९) प्रत्यय करके सरलतया (विना निपातन आदि के) सिद्ध हो जाता है, तो गम् आदि धातुओं से सिद्ध करके द्राविड़प्राणायाम (दुस्साध्य कल्पना) करने की क्या आवश्यकता है?

२. यदि गम् धातु से ही सिद्ध करना था तो ग्रन्थ का नाम 'निघण्टु' न करके 'निगन्तु' ही रख देते। अतः ज्ञापित होता है कि गम् धातु से सिद्ध न करके √घटि या √घण धातुओं से निष्पन्न करना ही समीचीनतर होगा।

३. यदि कहो √घटि या √घण धातु से सिद्ध करने पर √गम् आदि धातुओं से अभिव्यक्त अर्थ गृहीत न होगा? तो यह कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि '**अनेकार्था धातवः**' इस नियम से अभीष्ट अर्थ भी गृहीत हो जायेगा।

अब इन आक्षेपों पर विचार करते हैं। शब्द तीन प्रकार के होते हैं–१. प्रत्यक्षवृत्तिक, २.परोक्षवृत्तिक, ३. अतिपरोक्षवृत्तिक। इन तीनों के विषय में विस्तृतरूप से जानने हेतु लेखक के द्वारा लिखित '**निरुक्त-निर्वचनानि**'[3] की भूमिका में पृष्ठ १५ से २० तक देखें।[4] इन वृत्तियों का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में भी स्पष्टतया दीखता है। तद्यथा "**ते देवाः अब्रुवन्– मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति, यद् अब्रुवन्– मेदं प्रजापते रेतो दुषद् इति तन्मादुषम् अभवत्। तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद्, यन्मानुषं तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः**" (ऐ०ब्रा० ३.३३)। देवों ने जो यह कहा है कि

*. यह लेख वेदवाणी (जनवरी-२०२३) में प्रकाशित हुआ है।

१. इसका कारण यह है कि – पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त सीमित है। पाणिनि ने अपने शास्त्र की लाघवता को सुरक्षित रखते हुए उक्त प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए ही निपातन, बहुलता, पृषोदरादि विकल्पों को मुक्त रखा है।

२. घण दीप्तौ (तनादि० ७) इति पाणिनिः।

३. यह ग्रन्थ परिमलपब्लिकेशन्स, नई दिल्ली से प्रकाशित है।

४. वेदवाणी, वर्ष -७४, अङ्क-७ (मई-२०२२) के पृ० ११-१५ भी देख सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० १३७-१४१ में भी वह विषय प्रस्तुत किया हुआ है।

प्रजापति का यह रेत (वीर्य, सन्तान) दूषित न हो, दूषित न हो। उसी से उस सन्तान का नाम 'मादुष' हो गया है। दूषित न होना ही मादुषपन है। इसी मादुष नाम को ही दकार के स्थान पर नकारादेशरूपी विकार करके परोक्षवृत्ति से 'मानुष' कहने लगे। (अति) परोक्षप्रियता के कारण मानुष नाम ही विद्वानों के द्वारा प्रसिद्ध किया गया है।[१] परन्तु इस में 'दूषित न हो' यह अर्थ सर्वथा ही तिरोहित हो गया है। इसलिए इस शब्द के प्रयोग को '**अतिपरोक्षवृत्ति**' कहते हैं। 'मादुष' शब्द में अर्थानुकूल व्युत्पत्ति पूरा प्रत्यक्ष तो नहीं है, परन्तु कुछ सादृश्यता है। इसमें मूलरूप का अनुमान या ऊह कर सकते हैं। इसलिए इसप्रकार के प्रयोग को '**परोक्षवृत्ति**' कहते हैं।'मा दुषद्' में तो अर्थानुकूल शब्दप्रयोग होने से और व्याकरणप्रक्रिया का पूरा प्रत्यक्ष होने से उसे '**प्रत्यक्षवृत्ति**' कहते हैं। अब यहाँ यह आक्षेप करना कि पाणिनीय व्याकरण[२] के अनुसार 'मनोरपत्यम्' के अर्थ में मनुप्रातिपदिक से 'अञ्' प्रत्यय और 'षुक्' आगम होकर मानुष शब्द जब सुसाध्य है, तो 'मा दुषद्' इन दो शब्दों के योग से सिद्ध करना दोषावह है, असाधु है, दुस्साध्य है, अनुचित है, अवैज्ञानिक है आदि कहना कितना उचित हो सकता है? विवेकशील विद्वान् ही स्वयं विचार करें। सुसाध्य या दुस्साध्य क्या होता है? इसका नियामक या परिमापक क्या है?

शब्द और अर्थ इन दोनों में से अर्थ मुख्य होता है और शब्द गौण होता है।[३] अर्थ के बोध के लिए शब्दों का प्रयोग होता है।[४] शब्द और अर्थ दोनों अपने-अपने स्थान में सिद्ध (नित्य) हैं।[५] शब्दविद् आचार्य शब्दों का अन्वाख्यान या साधुत्व अर्थ को देख कर करते हैं, केवल शब्द के वर्णात्मक स्वरूप को देखकर नहीं। जैसे कि 'मानुष' शब्द की व्युत्पत्ति 'मा दुषत्' से किया गया है। अर्थ की दृष्टि से यही पक्ष समीचीनतर है, न्याय्य है, सुसाधु है। महर्षि पाणिनि ने तो ब्राह्मणकार के अर्थपरक निर्वचन की उपेक्षा करते हुए केवल शब्द के स्वरूपमात्र की सिद्धि की है– **मनोरपत्यं मानुषः मनुष्यो वा।** यह व्युत्पत्ति स्वरूपतः सरल एवं सुसाध्य अवश्य है, पर अर्थतः विचारने पर अनेकों प्रश्न उपस्थित होते हैं। मनु से पहले के लोगों का मानुष, मनुष्य या मानव नाम कैसे हुआ? सर्गारम्भ में अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए लोगों का नाम मानुष कैसे हुआ? इत्यादि। ब्राह्मणकार का अर्थपरक निर्वचन सार्वकालिक है। हमारे लिए दोनों आचार्य प्रामाणिक हैं। ब्राह्मणकार की व्युत्पत्ति सार्वकालिक होने से मनु से पूर्व एवं पश्चात् के सभी लोगों के लिए समानरूप से घटित होती है। भले ही व्युत्पत्ति की प्रक्रिया कुछ लोगों को दुस्साध्य लगे। पाणिनि की व्युत्पत्ति मनु के बाद के लोगों के लिए चरितार्थ होने से साधु ही है। व्युत्पत्ति में सरलता हो गयी है और शब्द का साधुत्व भी सिद्ध हो गया है। पर इससे 'मा दुषत्' की व्युत्पत्ति त्याज्य, दुष्ट, दुस्साध्य नहीं होती है। अर्थ की दृष्टि से उसकी महत्ता अक्षुण्ण है और रहेगी। इन व्युत्पत्तियों में कोई दोष नहीं है। दोष तो 'मनोरपत्यम्' की अपेक्षा 'मा दुषत्' की व्युत्पत्ति में दोष देखने वालों में है। मनु का अर्थ यदि ईश्वर लेते हैं[६], तो पाणिनि की व्युत्पत्ति भी सार्वकालिक हो जाती है। मनुष्य शब्द की व्युत्पत्तियों को भी देखें–

---

१. यहाँ ऐतरेय ऋषि ने 'मानुष' शब्द की व्युत्पत्ति को एक आख्यान के रूप में दिखाया है। आख्यानपूर्वक निर्वचन करना ब्राह्मणग्रन्थों की एक विशिष्ट शैली है।

२. मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अष्टा० ४.१.१६१)।

३. प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते (बृ० द० २.९९)। अर्थो हि प्रधानः, तद्गुणः शब्दः (दुर्गः, निरु०१.१)। शब्दार्थयोरेकात्मत्वेऽप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशाद् (पुण्यराज, वा०प० २.१२८)। अर्थनित्यः परीक्षेत (निरु०२.१)।

४. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते (म० भा० १.१.४४, पृ०३७९)।

५. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे (वार्त्तिक)। सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति (महाभाष्य, पस्पशा०)।

६. विज्ञानस्वरूप होने से [परमेश्वर का नाम] 'मनु' [है]।.....यो मन्यते स मनुः=जो मनन अर्थात् विज्ञानशील और मानने

मनुष्याः कस्मात् ? मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः, मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यम्, मनुषो वा [अपत्यम्] (निरु० ३.७)। यहाँ यास्क ने चार प्रकार की प्रकृतियों को दिखाया है– १. √मन + √षिवु ,२. √मनस्[1] ३. मनु,४. मनुष् (मननशील)। महर्षि पाणिनि ने इनमें से तीसरे निर्वचन को अपनाया है। अन्यों का निषेध नहीं किया है। उनकी दृष्टि में तो जिस प्रकार तीसरा निर्वचन प्रामाणिक है, उसीप्रकार अन्य निर्वचन भी प्रामाणिक ही हैं। उनको तो शब्दस्वरूपमात्र के साधुत्व का अन्वाख्यान करना था, वह भी अत्यन्त सरलरूप में संक्षिप्तशास्त्र के द्वारा प्रतिपादन करना था। अन्यथा पूर्व के व्याकरणग्रन्थों के समान पाणिनितन्त्र भी विशालकायवाला बन जाता। जिसे पाणिनि नहीं चाहते थे। पाणिनीय व्याकरण तो शब्दशास्त्र का प्रवेश द्वार मात्र है। इसके बाद निरुक्त एवं ब्राह्मणादि ग्रन्थों के माध्यम से पूरी व्युत्पत्तियों को जानना होगा। पर यह समुचित नहीं है कि पाणिनीय व्युत्पत्तियों की अपेक्षा अन्यों को अप्रामाणिक मानें। पाणिनि के सामने निरुक्त एवं ब्राह्मणादि ग्रन्थों की व्युत्पत्तियाँ विद्यमान थीं, उनमें से कुछ को अपने शास्त्र में स्थान दिया। अन्यों को जानने के लिए उन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन पर छोड़ दिया। इतने से यह सिद्ध नहीं होता कि अन्य व्युत्पत्तियाँ अप्रामाणिक, त्याज्य वा उपेक्षणीय हैं। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः।

'निघण्टु' शब्द को √घटि या √घण धातुओं से व्युत्पन्न करने का जो सुझाव मनीषी लोग देते हैं, इस पर हमारा कहना है कि इन दोनों धातुओं के तिङन्त या कृदन्त शब्दों के प्रयोग संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में है ही नहीं। घटि धातु के प्रयोग उपनिषदादि अर्वाचीन साहित्य[2] में मिलते हैं, घण् धातु के प्रयोग तो मिलते ही नहीं। जब इन धातुओं के प्रयोग वेदादि में प्रयुक्त ही नहीं हुए हैं, तब वेदों से चुन-चुन कर वैदिक शब्दों का संग्रह करने वाले, निघण्टु के प्रणेता आचार्य यास्क इन धातुओं से निर्वचन (व्युत्पत्ति) कैसे करते? जब कि √गम्, √हन्, √हृञ् ,धातुएँ वेद से लेकर लौकिक साहित्य तक सुप्रसिद्ध हैं और इन धातुओं से अभीष्ट अर्थ भी प्रकट हो रहा है। जहाँ तक '**अनेकार्था धातवः**' की आशङ्का है, इसका समाधान यह है कि – इस वचन का आश्रय वहाँ लिया जाता है, जहाँ प्रसिद्ध व पठित अर्थों से भिन्न अर्थों में धातुओं के प्रयोग वेदादिशास्त्रों या शिष्टव्यवहार में देखे जाते हैं। अन्यथा शब्दव्युत्पत्ति के क्षेत्र में अनेकों उच्छृङ्खलताएँ उत्पन्न होंगी।[3] क्या √घटि या √घण धातुओं का निगमन आदि अर्थों में कहीं प्रयोग हुआ है? जिससे '**अनेकार्था धातवः**' के आश्रय से अभीष्ट अर्थ को प्रकट कर सके। इसीप्रकार हस्तशब्द की व्युत्पत्ति को जानें। पाणिनि ने हस्धातु से तन्प्रत्यय (उणादि० ३.८६) करके हस्त शब्द को सिद्ध किया है। यास्क ने हन्धातु (निरुक्त-१.७) से सिद्ध किया है। इसका हेतु भी बता दिया है कि– **प्राशुर्हनने**।[4] अर्थात् यह गति करने और मारने में शीघ्रकारी होता है, इसलिए इसका नाम हस्त है। अर्थ की दृष्टि से यास्क की व्युत्पत्ति बिल्कुल ठीक बैठती है। यह कोई दोष नहीं है। पाणिनि के अनुसार हस्धातु से सिद्ध करने पर शब्द की रूपसिद्धि तो होती है, पर अर्थ तो पूरा उपेक्षित हो गया। क्योंकि हाथ हसने का काम करता ही नहीं, तो हस्धातु से कैसे व्युत्पन्न कर सकते हैं? यहाँ हस्धातु प्रवृत्तिनिमित्त बन ही नहीं सकता। हस्धातु का हनन के अर्थ में कहीं प्रयोग न होने के कारण **अनेकार्था धातवः** का आश्रय भी यहाँ नहीं ले सकते। पाणिनि की व्युत्पत्ति से रूपसिद्धि अवश्य होती है, पर अर्थसिद्धि

योग्य है, इसलिए उस ईश्वर का नाम 'मनु' है [सत्यार्थ०, समु०१; पृ० २६,५१]।

१. सं [प्रजापतिः] देवान् सृष्ट्वामनस्यतेव, तेन मनुष्यान् असृजत, तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। स यस्तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद मनस्वान् ह भवति (मै० सं० ४.२.१; तु० तै० सं० २.३.८.३)।

२. इन धातुओं से उत्पन्न घण्टिका (शा०उप० १.७.३०) , घण्टा (ना०उप० ३४) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

३. स्वार्थी व दुराग्रही लोग अपनी कल्पित बातों की पुष्टि के लिए किसी भी धातु का कुछ भी अर्थ करने लगेंगे।

४. हस्तो हन्तेः– प्राशुर्हनने (निरु०१.७)।

नहीं। जो कि शब्दशास्त्र में प्रधान होता है। प्रधान के विना गौण की सिद्धि करना शास्त्रीय दृष्टिकोण से न्याय्य नहीं माना जा सकता। यास्क की सिद्धि में अभीष्ट अर्थ की सिद्धि एवं रूपसिद्धि दोनों ही हो जाती हैं। बस, हन् के नकार को निपातन से सकार का आदेश मानना पड़ता है। निपातन को पाणिनि ने भी अनेकों स्थानों पर माना ही है। पुनः यास्क की यह व्युत्पत्ति सदोष कैसे होगी ? कभी नहीं। पर आश्चर्य है कि कुछ विद्वान् इस शब्द को लेकर भी यास्क पर प्रश्न उठाते हैं। उन्हें शब्दव्युत्पत्तिविज्ञान पर और अधिक गम्भीरता के साथ विचार करना होगा।

निघण्टुशब्द परोक्षवृत्तिक शब्द है, इसके प्रत्यक्षवृत्तिक शब्द 'निगन्तु, निहन्तु एवं निहर्तु' हैं। अब ग्रन्थ का नाम निघण्टु न रख कर 'निगन्तु' क्यों नहीं रखा है ? ऐसा प्रश्न करते हैं तो अनुक्षण ही ये भी प्रश्न उपस्थित होंगे कि 'निहन्तु' या 'निहर्तु' नाम क्यों नहीं रखा है ? ये प्रश्न वैसे ही उपहास्य हैं, जैसे कि कोई कहें कि मनुष्य का नाम 'मानुष' क्यों रखा गया ? 'मादुष' क्यों नहीं रखा है ? वैयाकरण या शब्दविद् प्रयुक्त शब्दों का व्याख्यानमात्र कर सकता है, न कि नामकरण। कुछ शब्द प्रत्यक्षवृत्तिक (प्रत्यक्षक्रिय) होते हैं, कुछ परोक्षवृत्तिक (प्रकल्प्यक्रिय) एवं कुछ अतिपरोक्षवृत्तिक (अविद्यमानक्रिय) होते हैं। इन त्रिविध शब्दों के निर्वचनों (व्युत्पत्तियों) के लिए यास्क ने स्पष्ट सिद्धान्त प्रतिपादन किया है– **१. तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। २. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। ३. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न [व्याकरणशास्त्रस्य] संस्कारमाद्रियेत, विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरु० २.१)।**[1] परोक्ष तथा अतिपरोक्ष वृत्तिवाले शब्दों के निर्वचनों (व्युत्पत्तियों) के लिए यास्ककृत इन सिद्धान्तों को अन्य आचार्यों ने भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है–

१. **रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः** (गो० ब्रा० १.१.२६)

२. **अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। तस्मादर्थसामान्यं बलीयो रूपसामान्यात्** (दुर्ग, निरु० २.१)।

३. **प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते।**
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत्॥ (बृ० दे० २.९९)

४. **रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते॥** (वा० प० १.१२६)
नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपम् अर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥ (वा० प० १.२४ की वृत्ति)

इसलिए रूपसामान्य से √घटि या √घण धातुओं से निघण्टु शब्द को निष्पन्न करने की अपेक्षा अर्थसामान्य से √गम्, √हन्, √हृ धातुओं से निष्पन्न करना ही समुचित होगा। वैसे ही हस्तशब्द को हन्धातु से निष्पन्न करना ही न्याय्य है। हाँ ! कोई रूपसामान्य से √घटि या √घण धातुओं से निष्पन्न करने का आग्रह रखते हैं, वैसा कर सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। पर अर्थसामान्य की व्युत्पत्तियों को दुस्साध्य, सदोष, अमान्य आदि कहना महती भूल होगी। क्योंकि प्रायः सभी आचार्यों ने अर्थसामान्य को प्राधान्यता दी है। इसीकारण कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियों को अनेक (दो या तीन) धातुओं से भी की जाती है और यह शैली ब्राह्मण एवं उपनिषदादि ग्रन्थों में देखी जाती है। जैसे मनुष्य के निर्वचन में यास्क ने भी दिखाया है– **मत्वा कर्माणि**

१. इस सन्दर्भ के दुर्गव्याख्यान को भी अवश्य देखें।

सीव्यन्ति (निरु० ३.७)। यहाँ √मन एवं √षिवु इन दो धातुओं के योग से मनुष्य शब्द निष्पन्न हुआ है। इसीप्रकार 'अग्नि' शब्द के निर्वचन (७.१४) में आचार्य शाकपूणि के मत को दिखाते हुए कहते हैं– अग्निशब्द √इण्+ √अञ्जू+ √नी अथवा √इण्+ √दह्+ √नी धातुओं के योग से भी निष्पन्न होता है।[1] इस निष्पत्ति में आचार्य यास्क की भी सहमति है, शाकपूणि का ग्रहण तो आदर व सम्मान के लिए है। क्योंकि यास्क ने भी अनेकत्र दो धातुओं से शब्दों के निर्वचन किये हैं।[2] इस शैली को पाणिनि ने अपने व्याकरणशास्त्र में नहीं दिखाया है। इतने मात्र से अनेकधातुजत्व को व्याकरण के नियमों का खुला उल्लंघन नहीं मानना चाहिए। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त सीमित एवं अनेकों मर्यादाओं में बन्धा हुआ है। इतना ही नहीं पाणिनीयतन्त्र तो ब्राह्मणादि ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। अतः इसके नियम पूर्वकालिक शास्त्रीय व्युत्पत्तियों में कैसे घटित हो सकते हैं ? पाणिनीय व्याकरण तो शब्दशास्त्र का आदि सोपानमात्र है। शब्दशास्त्र उससे भी अधिक विशाल है। अनेक धातुजत्व का संकेत वेदों में भी मिलता है। उदाहरण के लिए अग्नि शब्द को ही लेते हैं। **अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्** । (अथर्व०३.१.१, अपि च द्र० ३.२.१)। यहाँ प्रत्येतु एवं प्रतिदहन् क्रियापदों का प्रयोग अग्नि के साथ होने से √इण् और √दह् धातुओं के योग से अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। इसप्रकार के अनेकों उदाहरण हैं।

पाणिनि ने जो व्युत्पत्तियाँ दिखाई हैं, वे ही अन्तिम नियामक नहीं हैं। उनसे अनेकों भिन्न पद्धतियाँ हैं। कुछ शब्द वाक्यज भी होते हैं। इसके लिए इतिहास (इति+ह+आस) शब्द प्रसिद्ध ही है। इसे वाक्यज मानने के अतिरिक्त और कोई पद्धति यहाँ दीखती नहीं है। इस शैली को यास्क ने भी अनेकों निर्वचनों में अपनाया है। जैसे– मेहना [मे+इह+न] (निरु० ४.४) आदि। परन्तु इसे पाणिनि ने नहीं अपनाया है। इतने मात्र से इस शैली को अपाणिनीय कहते हुए तिरस्कृत नहीं कर सकते। इसीप्रकार यास्क ने जिन धात्वादियों से निर्वचन किये हैं, वे ही अन्तिम नियामक नहीं हैं। वह तो केवल मार्गदर्शन है। इसीलिए सायण, दयानन्द आदि वेदभाष्यकारों ने यास्क द्वारा प्रदर्शित प्रकृतियों से भिन्न प्रकृतियों से भी प्रसंगवश या अर्थवश निर्वचन बहुत्र किये हैं।[3] अग्नि की सिद्धि यास्क (निरु० ७.१४) अग्र / अङ्क+ √नी ; नञ्+ √क्नूय् आदि प्रकृतियों से करते हैं, तो पाणिनि √अगि (उणा० ४.५१) धातु से करते हैं। अक्षि शब्द की व्युत्पत्ति यास्क (निरु०१.९) √चक्षिङ् धातु से करते हैं, तो आग्रायण आचार्य √अञ्जू (निरु०१.९) से, पाणिनि (उणादि० ३.१५६) और दयानन्द (ऋ० १.७२.१०) √अशूङ् से, सायण, वेंकट और माधव (ऋ० ९.९.४) क्षि धातु से करते हैं। इसलिए कहते हैं–

> **न किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित् ।**
> **पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥** (वा०प० १.२४ की वृत्ति में उद्धृत)।
> **अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन** (निरु०२.१)।
> **शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा [=अर्थवशा] वयं न स्वयमीश्महे** (शा०दी०, पृ० १२२)

किस शब्द की क्या व्युत्पत्ति होगी, क्या नहीं होगी और किसका नाम क्या होगा ? यह सब हमारे आधीन नहीं हैं, अपितु अर्थ के अधीन है।

---

१. इसीप्रकार हृदय, सत्य आदि शब्दों में भी जानना चाहिए ।
२. यथा– अंशुः (२.५), इनः (३.११), महान् (३.१३) आदि ।
३. इसके लिए लेखक के 'निरुक्तनिर्वचनानि' ग्रन्थ का पाँचवाँ परिशिष्ट द्रष्टव्य है ।

इन सब विषयों को जानते हुए भी कुछ प्रतिष्ठित विद्वान् लोग व्याकरण के प्रारम्भिक अध्ययनकाल से लेकर महाभाष्यादि प्रौढ ग्रन्थों के अध्ययन तक एवं उनके अध्यापन, मनन-चिन्तन, लेखन आदि कार्यों में की गयी वर्षों की सारस्वत साधना पाणिनीय व्याकरण के आस-पास होने से इस व्याकरण के संस्कार या रूपसामान्य के संस्कार इतने प्रबल अथवा दृढ़ होते हैं, कि वे कभी-कभी पाणिनीयतन्त्र से भिन्न व्युत्पत्तियों को स्वीकार कर नहीं पाते हैं। परिणामतः अनेकों प्रकार के अनावश्यक सन्देहों को उत्पन्न करके फैलाते हैं।

घासः, जघास, जक्षतुः, जक्षुः आदि शब्दों को पाणिनि 'अद भक्षणे' (अदा० १) धातु के स्थान पर घस्लृ आदेश करके सिद्ध करते हैं।[1] जबकि अपने धातुपाठ में 'घस्लृ अदने' (भ्वादि० ४७४) धातु का भी पाठ करते हैं। विना आदेश के साक्षात् √घस्लृ धातु से वे सब सिद्ध हो सकते हैं। यहाँ अर्थ में भी कुछ भेद न होने से अर्थसारूप्य तो है ही, रूपसादृश्य भी √घस्लृ धातु में ही है। आदेशविधान की आवश्यकता ही नहीं है। अर्धमात्रा के भी गौरवदोष को न करने वाले आचार्य ने अद्धातु के स्थान पर घस्लृ आदेश का विधान क्यों किया (अष्टा० २.४.३७-४०)? यहाँ आचार्य देखते हैं– वेदों में तो √घस्लृ धातु के कुछ तिङन्तप्रयोग[2] हैं, पर लोक में तो वे भी नहीं हैं। सम्भवतः इसीलिए रूपसामान्य की उपेक्षा करते हुए 'घासः' आदि शब्दों को अद्धातु से सिद्ध करते हैं ।[3] इसीमें वे लाघव को देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि रूपसामान्य ही सदा सुसाध्य नहीं होता है। क्योंकि घासः, जघास आदि शब्द रूपसामान्य से √घस्लृ से सुसाध्य अवश्य हैं। पर लुङ् एवं सन् में अद्धातु का अप्रयोग मानना पड़ेगा। यतोहि अघसत्, जिघत्सति आदि शब्द तो घस्लृ के रूप हैं, √अद् के नहीं। √घस्लृधातु का लृदित् 'अघसत्' के लिए लिङ्ग (अनुमापक) भी है।

अनुरोध

स यद्यदनुरुध्यते तद्भवति। यदि धर्मोऽनुरुध्यते तद्देवो भवति। यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति। यदि कामम् अनुरुध्यते संच्यवते।

(निरु० १४.६)

पुरुष जो-जो अनुरोध करता है, चाहता है, वही हो जाता है। यदि धर्म का आचरण करता है तो वह दिव्यगुणवाला देवता हो जाता है। यदि तत्त्वज्ञान का अनुरोध करता है, प्राप्त करता है तो अमर (मुक्त) हो जाता है। यदि कामनाओं व एषणाओं को चाहता है तो पतित हो जाता है।

---

१. घञपोश्च, लिट्यन्यतरस्याम् (अष्टा० २.४.३८)।

२. ऋ०१०.८६.१३; यजु० २१.४३-४५; अथर्व० २०.१२६.१३ आदि।

३. अद्धातु के तिङन्तप्रयोग लोक और वेदादि शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं।

२.५ निघण्टोः समीक्षणम्*

मानवकल्याणार्थं सर्गादौ प्रादुर्भूतानां वेदमन्त्राणामर्थं साक्षान्मन्त्रेभ्य एवावगच्छन्ति स्माद्या ऋषयः। ते साक्षात्कृतवेदार्था ऋषयोऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदार्थेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरिति यास्कमुनिराह (निरु० १.२०)। वेदार्थपरम्परायामस्यामन्यतमो वेदाङ्गत्वेनोरीकृतः प्रमुखो ग्रन्थः निघण्टुनिरुक्तमिति। निघण्टुरिति ग्रन्थभागो मन्त्रार्थावबोधाय छन्दोभ्यः (मन्त्रेभ्यः) समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातः। अत एव निघण्टोरेवापरनामधेयः 'समाम्नायः' इति।[१] मन्त्रावयभूता मन्त्रधर्माण एवैत इत्यवगन्तव्यम्।[२] समाम्नायोऽयं समाहारमात्रत्वात् संकलनमात्रत्वाद् व्याख्यातव्योऽयं भागः। अस्यैव व्याख्यानभागो निरुक्तम्। एतेन व्याख्यानेनैते समाम्नताः शब्दास्तद्गतान् मौलिकान् निगूढार्थान् मन्त्रार्थांश्च निश्चयेन गमयन्ति बोधयन्तीति व्युत्पत्त्या निघण्टुगतशब्दा निगमाभिधेया अपि भवन्ति। निगमा एव शब्दा निघण्टव उच्यन्ते।[३] निघण्टूनां शब्दानां समाहारत्वात् समाम्नायभूतस्य ग्रन्थस्यापि 'निघण्टुः' इति नाम प्रसिद्धिमागतम्। ''समुदायेषु हि शब्दा प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, अवयवेषु हि शब्दा प्रवृत्ताः समुदायेष्वपि वर्तन्ते''[४] इति सिद्धान्तो ज्ञातप्रज्ञ एव। निघण्टुपदस्य निर्वचनान्यभिधायानुपदमेव तदर्थोऽवधार्यते यास्केन— **तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि [निघण्टुसंज्ञानि] भवन्ति** (निरु० १.१)। एतेनाचार्यवचनेनावबुध्यते यद् — अस्मिन् ग्रन्थे चतुर्विधान्येव पदानि समाम्नातानीति।

'सम्यक्तया मर्यादयाम्नातो ग्रन्थीकृतोऽधीतो वेति समाम्नायः' इत्यनेन निर्वचनेन निघण्टुग्रन्थस्य स्वरूपं मर्यादा च द्योत्यते। सा च मर्यादा व्यवस्था वेदृशी दरीदृश्यते— १. पदानां सङ्ग्रहः, २. सङ्गृहीतानां पदानां गणशो विभागः। ३. गणानाञ्च समाहारोऽध्यायः। इत्थं गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमाम्नायः (पञ्चाध्यायी) 'निघण्टुः' इति वा 'निगमः' इति वा पदवाच्यो भवति। ग्रन्थोऽयं काण्डत्रयेऽपि विभक्तः — आद्यं नैघण्टुकं काण्डम्, अस्मिन् त्रयाणामध्यायानां समाहारो विद्यते। द्वितीयं नैगमम् ऐकपदिकं वा काण्डम्, अस्मिन्नेकश्चतुर्थोऽध्यायः समाहितः। तृतीयमन्तिमं दैवतं काण्डम्, अस्मिन् पञ्चमोऽध्यायो गृहीतः। आद्ये नैघण्टुककाण्डे प्रायः पर्यायवाचिनः शब्दाः सङ्गृहीताः। नैघण्टुककाण्डगताध्यायानां विषये सायणाचार्येणोदितम्— **प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्य-विषयाणि नामानि, द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि, तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्व-ह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि** (ऋ०भू०, निरुक्तवेदाङ्गपरिचयः, पृ०१९०-१९१)। **निगमशब्दो वेदवाची------ तस्मिन्निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम्** (सायणस्तत्रैव, पृ० १९१)। अत्रानेकार्थकानामेकैकस्य पदस्य पाठत्वेन 'ऐकपदिकं काण्डम्' इत्यप्यस्य नाम। तृतीयस्मिन् काण्डे देवताभिधायिनां पदानां पाठः, अतस्तस्य 'दैवतं काण्डम्' इति नाम। दैवतकाण्डस्य विषयोऽपि निगदितः सायणेन —

अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगणो गणः।।

*. लेखोऽयं वेदवाण्यां (मार्च- २०२३) प्रकाशितः।
१. समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते (निरु०१.१)।
२. सैषा छन्दोवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव (दुर्गः, निरु० १.१; पृ० २९, भण्डारकरस्य पूनासंस्करणम्)।
३. निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति-----ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते (निरु० १.१)।
४. द्रष्टव्यम् — महाभाष्यस्य पस्पशाह्निकम्।

वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति॥ (सायणस्तत्रैव,पृ०१९०)।

समाम्नायशब्देनास्यैव ग्रन्थविशेषस्य निघण्टोर्ग्रहणम्, योगरूढित्वात्। अत एव वेदेषु मन्त्राणां सम्यक्तया (संकलनबुद्ध्या) मर्यादया (मण्डलसूक्तादिविभागेषु) चाम्नाने सत्यपि न वेदस्य समाम्नायसंज्ञा।[1] समाम्नानस्योद्देश्यो वेदार्थावबोधः, अत एवास्य निगमत्वम्। परं समाम्नानमात्रेण न वेदार्थोऽवबुध्यते। तदर्थं तस्य व्याख्यानमपि अपेक्षत एव। अत एव यास्केनाभिहितम्– **'समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः'** इति। एतेन विस्पष्टतया ज्ञायते यद्–व्याख्यानेन (निरुक्तेन) विना समाम्नानस्य किमपि प्रयोजनं नास्ति, समाम्नानेन (निघण्टुना) विना निरुक्तस्य (व्याख्यानस्य) अवसर एव नास्ति। अत उभाभ्यामेव वेदार्थोऽवगम्यते। अत उभयोरेकशास्त्रत्वं वेदाङ्गत्वं चात्र विशेषतया ज्ञातव्यम्। अत एव वेदाङ्गवर्णनावसरेषु सर्वत्र केवलं निरुक्तस्यैव वर्णनं दृश्यते, न निघण्टोः। यतोहि निरुक्तशब्देन निघण्टोरपि ग्रहणं भवति। तद्यथा– **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति** (मु०उ०१.१.५)। अतो निघण्टोरपरनाम निरुक्तम् इत्यपि ज्ञेयम्। स्कन्दस्वामिनापि स्पष्टं निगदितञ्च– **तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याय्या गौर्ग्मा इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृतिः समाम्नायः समाम्नात इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्** (स्कन्दः,निरु०१.१)। नैरुक्तप्रथमाध्यायस्यावसाने स्कन्दस्य पुष्पिका च तन्मतं दृढयति– **इति स्कन्दस्वामिकृतायां षष्ठोऽध्यायः।** एतेन करबदरवत् सुतरां ज्ञायते निरुक्तं भागद्वयात्मकम्–१. व्याख्येयभागो निघण्टुः, २. व्याख्यानभागो निरुक्तञ्च। दुर्गेणाप्युक्तम्– **तान्येतानि त्रीणि प्रकरणानि नैघण्टुकमैकपदिकं दैवतमिति। अनेन प्रकरणत्रय-विभागप्रपञ्चेनेदमवस्थिते निरुक्तशास्त्रमिति** (दुर्गः,निरु०१.२०)। सायणोऽप्याह– [वेदानाम्] **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पादजातं यत्र** [='निघण्टुः' इत्याख्ये व्याख्यातव्ये ग्रन्थपूर्वभागे] **उक्तं तन्निरुक्तम्, तथैकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवर्था यत्र** [=व्याख्यानात्मके ग्रन्थोत्तरभागे] **निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्।** (सायणः, ऋ० भू०)।

न च निघण्टुगतानामेतावतां पदानां पदार्थानाञ्च समाम्नायेन वेदार्थः परिज्ञातो भवति। तथाहि समाम्नायोऽयमुदाहरणमात्रमेव– **स** (समाम्नायः) **च ऋषिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूतः पञ्चाध्यायी-शास्त्रसंग्रहभावेनैकस्मिन्नाम्नाये ग्रन्थीकृतः----- न हि समाम्नानार्हाणामन्तोऽस्ति। तेषां सर्वेषां समाम्नाने शास्त्रान्त एव न स्यात्। अतश्चाध्ययनश्रवणज्ञानशक्तिहानदोषः प्रसज्येत। शक्यश्चैतावल्लक्षणोद्देशो-दाहरणभूतनिघण्टुशब्दसमुदायेनाधीतवेदेन मेधाविना तपस्विना लक्षणविनियोगार्षच्छन्दोदैवतनिदान-विदाभियुक्तेनागमवता मन्त्रार्थोऽभ्यूहितुमित्येतावानेव निघण्टुषु शब्दसमुदायः समाम्नातः** (दुर्गः, निरु०१.१; पृ० ३०)। यास्काचार्येणाप्ययं विषयो ज्ञापितः– "**शम्ब इति वज्रनाम**" इति निरुक्ते (५.२४) लिखितमस्ति, परन्तु निघण्टौ व्रजनामसु(२.२०) शम्बशब्दो न पठितः। तथैवाचार्यो निरुक्ते **बिठम् अन्तरिक्षम्** (निरु० ६.३०), **पन्था अन्तरिक्षम्** (निरु० ११.४५), **बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवाह** (निरु०५.२७) इति लिलेख, परं निघण्टा-वन्तरिक्षनामसु (१.३) बिठादयो न पठिताः। एतेन स्पष्टं विज्ञायते यन्निघण्टौ समाम्नाताः शब्दा उदाहरणभूता एव। अपि च "**अष्टाविंशतिरेव धननामानि** (निघं०२.१०), **चतुर्दशैव स्तेननामानि** (निघं० ३.२४), **षडेव नवनामानि** (निघं० ३.२८) इत्याचार्यनिर्देशैरपि ज्ञाप्यते यद्–एवकारमन्तरेण निर्दिष्टार्थेषु गणेषु अधीतेभ्योऽन्यान्यपि पदानि ग्रहणार्हाणीति। तथैवात्र निर्दिष्टा अर्था अपि दिग्दर्शनमात्रा एव। यथा –

१. समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमूह उच्यते, न वेदः (स्कन्द०, निरु०१.१)।

शब्दः	नैघण्टुकार्थः	नैरुक्तार्थः
अन्नम्	उदकम् (१.१२.६४)	अन्नम् (३.९)
अर्कः	वज्रः (२.२०.१०)	देवो मन्त्रो वृक्षश्च (५.४)
आयुः	अन्नम् (२.७.२३)	वायुः (९.३)
आयुधम्	उदकम् (१.१२.२९)	शस्त्रास्त्राणि (१०.६)
गर्तः	गृहम् (३.४.३)	न्यायसभा, श्मशानः, रथः (३.५)

एतैरुदाहरणैर्हस्तामलकवत् पोस्फुट्यते यद्– निर्दिष्टार्थेभ्योऽन्येऽप्यर्था ज्ञेया इति। नैघण्टुकानां शब्दानां येऽर्था उपदिष्टास्तेऽवश्यमेवावधेयाः, नोपेक्षणीयाः। नोचेन्महाननर्थः सञ्जायेत। तद्यथा - अन्ननामसु (२.७) अन्धः, पितुः, सुतः, नमः, आयुरित्येवमादीनि पदान्यधीतानि। एतेषां प्रसिद्धा लौकिका अर्था भिन्ना एव। परन्त्वेतानि अन्नवाच्यान्यपि सन्ति। अस्मिन्नर्थे एतेषां प्रयोगः येषु-येषु मन्त्रेषु कृतो विद्यते, तत्र-तत्र नैघण्टुकार्थं विहाय प्रसिद्धार्थ एव सर्वत्र गृह्यते चेन्मन्त्रार्थोऽनर्थो भवत्येव। तथैव अपः कर्मनाम (२.१.१), नमः वज्रनाम (२.२०.४), शवः उदकनाम (१.१२.४१), बलनाम (२.९.३), वध बलनाम (२.९.१९), वेदः धननाम (२.१०.४), भोजनं धननाम (२.१०.१८), बन्धुः धननाम (२.१०.२१), इदानीं नवनाम (३.२८.६), भरताः, कुरवः ऋत्विङ्नामनी (३.१८.१,२), अर्जुनं रूपनाम (३.७.१३), प्रतिष्ठा ह्रस्वनाम (३.२.५) इत्येवमादीनि पदान्यवगन्तव्यानि। एतादृक्षान् नैघण्टुकान् अर्थान् उपेक्ष्य महान्तमनर्थं कृतवन्तः केचन पण्डितम्मन्या विद्वांसः। यथा– ऋग्वेदस्य ५.२९.७; ८.७७.१० इत्येवमादिषु मन्त्रेषु प्रयुक्तस्य महिषशब्दस्य महानित्यर्थः (महन्नाम निघण्टुः - ३.३.८)। परन्त्वेतमर्थमुपेक्ष्य भैंसाख्यं प्राणिविशेषमवबुध्य तस्य वधः, तन्मांसभक्षणञ्च वेदानुमोदितमिति वर्णयन्ति केचन धृष्टाः। अतो नैघण्टुकार्था विशेषतयावधेयाः।

सम्प्रति नैगमकाण्डविषयः किञ्चित् प्रस्तूयते। काण्डेऽस्मिन् (चतुर्थाध्याये) अनेकार्था शब्दा एकैकशः पठिताः सन्ति। ते च खण्डत्रये विभक्ताः। खण्डान्ते निघण्टुकाण्डवत् तद्गतानां शब्दानाम् अर्थो न निर्दिष्टः। पदसङ्ख्यैवाभिहिता दृश्यते। तद्यथा– **इति द्विषष्टिः पदानि**। न चेदं पदपदं वैयाकरणपारिभाषिकम्, प्रथमकाण्डेऽपि सुबन्तानामेवाधीतित्वाद्। पदपदमिहार्थद्योतकमेव। अत एव मुहुर्मुहुर्महर्षिदयानन्दवर्या स्ववेदभाष्ये निर्दिशन्ति– **उर्वशीति पदनामसु** (निघं० ४.२.४७; ५.५.२५) **पठितम्** (दया०, ऋ० ५.४१.१९; यजु० ५.२)। **चर्षणिरिति पदनामसु** (निघं०४.२.७१) **पठितम्** (दया०,ऋ० ४.४६.४)। 'नाम' इत्युक्तेऽर्थ एवाद्यकाण्डवत्। 'पदनाम' इत्यस्य 'पदार्थः' इत्येवार्थः। पदस्य कोऽर्थः? पद गतौ (दिवादि०५८) इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नत्वात् पदस्यार्थो गतिः। गतेस्त्रयोऽर्थाः प्रसिद्धाः– ज्ञानम्, गमनम्, प्राप्तिश्चेति। 'पदनाम' इत्युक्ते एते त्रयोऽर्था गृह्यन्ते। पदनामसु पठितानां शब्दानामर्था एतेष्वेव त्रयेष्वर्थेष्वन्तभूता भवन्तीति भावः। तथैव च दयानन्दस्वामिनो विवृण्वन्ति –

१. (सचा) सचन्ति ये ते सचास्तान् सचान् अस्मान् विदुषः ------ सचेति पदनामसु (निघं० ४.२.३०) **पठितम्। अनेन ज्ञानप्राप्त्यर्थो गृह्यते** (दया०, ऋ० १.९.३)।

२. (निचुम्पुण!) धैर्येण शब्दविद्याऽध्यापक ! नितरां चोपति मन्दं मन्दं चलति, तत्सम्बुद्धौ----- निचुम्पुणेति पदनामसु (निघं०४.२.६२) **पठितम्। अनेन प्राप्तज्ञानो मनुष्यो गृह्यते** (दया०,यजु० ३.४८)।

३. (ईम्) जलमग्निं वा। ईमिति ----- पदनामसु (निघं० ४.२.८०) **च पठितम्। अनेन शिल्पविद्यासाधकतमावेतौ गृह्येते** (दया०,ऋ० १.९.२)।

४. (सीम्) सुखप्राप्तिः। सीमिति पदनामसु (निघं० ४.२.८१) **पठितम्। अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते** (दया०, ऋ० १.३३.९)।

५. (बर्हणा) सर्वसुखप्रापिकया क्रियया। बर्हणा इति पदनामसु (निघं० ४.३.८४) **पठितम्। अनेन प्राप्त्यर्थो गृह्यते** (दया०,ऋ० १.५२.११)।

एवमेवानेकत्र पदनाम्नामर्थं प्रस्फुटीकुर्वन्ति स्वामिनः स्ववेदभाष्ये। निघण्टावस्मिन्नदितिरिति शब्दः पञ्चवारमधीतोऽस्ति। प्रत्येकस्यार्थो भिन्न एव स्यात्। नोचेद् एकस्मिन्नर्थे नैकशः पाठस्यानर्थक्यप्रसङ्गः स्यात्। अतो विभिन्नेष्वर्थेषु तस्य पाठो दृश्यते। तद्यथा - पृथिवीनामसु (१.१.१४), वाङ्नामसु (१.२.४८), गोनामसु (२.२.६), मध्यस्थानदेवतासु (५.५.१६) च, पदनामसु (४.१.४९) चास्य पाठो विहितः। अत्राभिहितेभ्यः पृथिव्यादिभ्योऽन्य एव कश्चनो नूतनोऽर्थो ग्राह्यो भवति, पाठानर्थक्यप्रसङ्गात्। एवमेव अर्क-उर्वशी-गौः-जिन्वति-जूर्णि-तुञ्ज-द्युम्न-पवि-रथर्यति-वयुन-वराह-विष्णु-वृक-हर-प्रभृतयो बहवः शब्दा अन्यत्राधीता अपि सन्तश्चतुर्थाध्याये पदनामसु पुनरधीताः सन्ति। एतेषां सर्वेषामप्युक्तादन्योऽर्थो बोध्यः। तस्मै च मार्गो महर्षिदयानन्दस्वामिभिर्दर्शितः, लेखेऽस्मिंश्च प्रतिपादित एव सम्भाव्यत इत्यवगन्तव्यम्। पञ्चमाध्यायेऽपि पदनामान्येवाधीतानि, पुनरपि तानि देवतावाचकत्वेन प्रसिद्धानि। अतस्तत्काण्डं दैवतकाण्डमित्युच्यते।

विद्या की महिमा

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत् सर्वदा,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं,
येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपाः! कस्तैः सह स्पर्धते ।।

(भर्तृ० नीति० १६)

जो चोर की दृष्टि में नहीं आता, जो सदा शान्ति प्रदान करता है, याचकों (जिज्ञासुओं) को दिन-रात देने पर भी जो अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता है और जो युगयुगान्तरों में एवं प्रलय होने पर भी नष्ट नहीं होता है, ऐसा विद्यारूपी धन जिन विद्वानों के पास है, उनके प्रति हे राजा लोगों ! अपने अभिमान को त्याग दो। ऐसे विद्याधनियों से कौन स्पर्धा कर सकता है ?

विद्या के शत्रु

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ।।

(महा० भा०, उद्योग० ४०.४)

किसी के गुणों में दोष निकालना, देखना मृत्यु के समान है, निन्दा तथा बकवास करना ऐश्वर्य का नाश करना है। सेवापूर्वक सीखने की लालसा (तीव्र इच्छा) का न होना , शीघ्रता, उतावलापन और स्वयं की प्रशंसा करना ये तीन विद्या के शत्रु हैं।

तृतीय अध्याय

वेदाङ्गशिक्षातत्त्वार्थमीमांसा

३.१. वैदिक शिक्षाशास्त्र*
(वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्र की वेदमूलकता)

भगवत्प्रदत्त ज्ञान का ही नाम वेद है। उसी का अपर नाम 'श्रुति' है, क्योंकि सृष्ट्यादि से लेकर वह वेदज्ञान श्रुतिपरम्परा अर्थात् अध्ययन-अध्यापन की परम्परा से ही आ रहा है। ऐसी स्थिति में उस ज्ञानधरोहर को भावी पीढ़ियों को प्रदान करने हेतु जहाँ प्रखर मेधाशक्ति की आवश्यकता है, वहाँ शुद्ध उच्चारण एवं शुद्ध श्रवण की भी महती आवश्यकता है।[१] इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों से कालान्तर में धीरे-धीरे वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्र रचित हुआ। इस शास्त्र के प्रादुर्भाव से पूर्व इसकी बहुत लम्बी परम्परा वा इतिहास है। यदि इसके मूलस्रोत की चर्चा की जाय तो निश्चितरूप से कह सकते हैं कि इसका मूलस्रोत वेद ही है।[२] क्योंकि वेद ही सभी विद्याओं का मूल है। यद्यपि मध्यकालीन कुछ आचार्यों ने यह धारणा प्रचलित किया है कि 'वेद केवल यज्ञों के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं'। उनकी यह धारणा भी आधी-अधूरी ज्ञान पर आधृत है, अस्तु। महर्षि दयानन्द उस धारणा का प्रतिवाद करते हुए लिखते हैं कि "**यत् सायणाचार्येण वेदानां परमार्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम्' तदन्यथास्ति। कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्**"(ऋ०भा० भू०, वेदभाष्यकरण०) अर्थात् सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जानकर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं'। यह उनकी बात मिथ्या है, क्योंकि वेद सब विद्याओं से युक्त हैं। सब विद्याओं में शिक्षाशास्त्र की विद्या अपवाद नहीं हो सकती अर्थात् शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों के सूत्र भी वेदों में विद्यमान हैं। उन्हीं सूत्रों का दिग्दर्शन इस लेख में किया जा रहा है।

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदाङ्गानां तथैव च।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ।।(म०भा०, शान्ति० २८७.२१-२२)

वेद का एवं छह वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का अध्ययन जिज्ञासापूर्वक अर्थ के साथ करना धर्म है और उस धर्म का पालन करना निस्सन्देह रूप से श्रेयस्कर है। महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है– "**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति**"(म०भा०,पस्प०)। ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु को किसी धनादि की अपेक्षा किये विना ही छह वेदाङ्गों के साथ वेद का अध्ययन अर्थ के साथ करना चाहिए, यही उसका धर्म है, कर्तव्य है।

इन वचनों में स्पष्टतया कहा गया है कि वेदादि शास्त्रों का अध्ययन केवल शाब्दिक न होकर अर्थ के गम्भीर चिन्तन-मनन के साथ करना चाहिए। इसप्रकार की शिक्षा हमें किस गुरु से करनी चाहिए तथा कैसे करनी चाहिए? इस विषय में वेद हमें मार्गदर्शन करता है कि–

सं पू॑षन् वि॒दुषा॑ नय॒ यो अञ्ज॑सानु॒शास॑ति।
य ए॒वेदमिति॒ ब्रव॑त्।। (ऋ० ६.५४.१)

---

*. यह लेख वेदवाणी (दिसम्बर २०१६, अप्रैल २०१७), वैदिक पथ (नवम्बर २०१७), आर्ष-ज्योति (जून २०१८) में प्रकाशित है।

१. वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने.....यतेताध्ययनान्तगः (सु०सं०, सूत्र० ३.५६)।

२. वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य० (म०भा०, शान्ति० २८४.१९२)।

हे (पूषन्) पोषणकर्ता परमेश्वर! आप हमें (विदुषा संनय) उस विद्वान् से मिलाईये, (यः अञ्जसानुशासति) जो सरलता से, शीघ्रता से, साक्षात् सत्य सिद्धान्त का उपदेश करता है और (यः इदमेव इति ब्रवत्) जो अधिकारपूर्वक यह कह सके कि 'यह ऐसा ही है' यही सत्य है, यही शुद्ध है आदि।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ (अथर्व० १.१.२)

हे वाणी के अधिपति आचार्य ! आप शास्त्रीय गम्भीर तत्त्वों के अध्यापन हेतु हमारे समीप दिव्य (ज्ञान के दान की) भावना के साथ वार-वार आईये तथा एक ही मन्त्र व विषय के विविध पक्षों (पहलुओं) को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कीजिए, यही आपके तत्त्वज्ञान का पुनरागमन है, यही आपकी विविधता का प्रकटीकरण है। हे ज्ञानधन के स्वामिन् आचार्य! आप हमें शास्त्रीय ज्ञान इसप्रकार पढ़ाईये, जिससे कि हमारा मन प्रसन्नता से विद्या में रमें और साथ में आप से प्राप्त वह दिव्यज्ञान मुझमें स्थिर रहे, कभी विस्मृत न हो।

शास्त्रीय गम्भीर तत्त्वों के पढ़ने एवं पढ़ाने में गुरु-शिष्यों के कर्तव्यों पर यह मन्त्र पर्याप्त प्रकाश डाल रहा है। गुरुमुख से उच्चरित ज्ञान को शिष्य सावधान होकर, एकाग्र होकर सुनें एवं श्रद्धा के साथ सुनें, तभी वह ज्ञान अन्तःपटल पर अंकित हो पायेगा– **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** (गीता ४.३९)। स्वामी दयानन्द ने भी कहा है कि– ''आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ प्राप्त कर सकें। स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं कि जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक-ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें। प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना।......... श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के साथ और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें, उसको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना ....(व्यवहारभानु)। इस प्रकार श्रवण के साथ मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करेंगे तभी ''**मय्येवास्तु मयि श्रुतम्**'' की प्रार्थना सार्थक होगी। इन मन्त्रों में शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी मूलभूत एवं प्राथमिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये० (यजु० ३६.१)

मैं वाग्विज्ञान को जानने के लिए ऋङ्मन्त्रों का आश्रय लेता हूँ, वाणी के प्रेरक मन के विज्ञान को जानने के लिए यजुर्मन्त्रों के शरण में जाता हूँ, मन के नियन्त्रक प्राण के विज्ञान को जानने के लिए साममन्त्रों की छाया में जाता हूँ और उन प्राण, मन एवं वाणी के प्रयत्नों से अभिव्यक्त शब्द को सुनने हेतु, श्रवणविज्ञान को जानने हेतु चक्षुर्मन्त्रों (=ज्ञानमन्त्रों, अथर्वमन्त्रों) की सहायता लेता हूँ।

यहाँ वेदमन्त्र स्वयं कह रहा है कि जिज्ञासु को वर्णोच्चारण के विज्ञान को सम्पूर्णतया जानने के लिए चारों वेदों की सहायता से वाग्विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणविज्ञान तथा श्रोत्रविज्ञानों को विभागशः जानना चाहिए। इतना ही नहीं शब्दस्वरूप को जानने के लिए और एक विभाग को भी जानना अनिवार्य है। वह इस प्रकार है–

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः (यजु० १९.७७)

प्रजापति (ईश्वर) ने वाक्तत्त्व को सत्य (=नित्य व स्फोट शब्द) एवं अनृत (=अनित्य व ध्वन्यात्मक शब्द) के रूप में विभाजित किया था। अर्थात् ईश्वर ने सर्गादि में उत्पन्न हुए पवित्रतम चार ऋषियों के अन्तःकरण में वेदज्ञान को प्रादुर्भूत (प्रस्फुटित) किया; वहाँ कोई वाणी का व्यवहार नहीं था। तदुपरान्त ईश्वर की प्रेरणा से ऋषियों ने मानवसमाज को वेद का उपदेश किया। तब ध्वन्यात्मक शब्द का व्यवहार होने लगा। तैत्तिरीय संहिता में भी इसका उल्लेख है– **वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति...तामिन्द्रो**

मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते (६.४.७.३-४)।

पृच्छामि॑ वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म ॥ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म ॥ (ऋ० १.१६४.३४,३५)

वाणी का परमोत्कृष्ट विशेष रक्षक, आश्रय कौन है? ब्रह्म ही है। यहाँ भी स्पष्ट वर्णन है कि वाणी (शब्द) का उत्पादक ब्रह्म ही है।[1]

प॒त॒ङ्गो वाच॒ं मन॑सा बिभर्ति॒ तां ग॑न्ध॒र्वो॑ऽवद॒द् गर्भे॑ अ॒न्तः।
तां द्योत॑मानां स्व॒र्यं॑ मनी॒षामृ॒तस्य॑ प॒दे क॒वयो॒ नि पा॑न्ति ॥ (ऋ० १०.१७७.२)

(पतङ्गः) जन्म-जन्मान्तरों में गमनशील जीवात्मा[2] (वाचम्) वाणी को, शब्दों को (मनसा) मन से, मन की सहायता से (बिभर्ति) धारण करता है[3], अर्थात् कहने की इच्छा से जीवात्मा मन को प्रेरित कर शब्द उत्पन्न करता है। परन्तु आत्मा केवल मन की सहायता से शब्द को धारण व उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः मन्त्र आगे कहता है— (गर्भे अन्तः) मन के अन्दर आत्मा द्वारा प्राप्त प्रेरणा के रूप में विद्यमान अनभिव्यक्त (ताम्) उस वाणी को (गन्धर्वः) प्राणवायु[4] द्योतित [प्रकाशित] करता है[5], व्यक्त करता है। अर्थात् वायु कण्ठबिल में नाद को उत्पन्न कर कण्ठ आदि स्थानों में शब्द को व्यक्त करता है, श्रोत्र का विषय बनाता है। जो कि मन के अन्दर निहित था।[6] (ताम्) उस (द्योतमानाम्) द्योतमान (स्वर्यम्) स्वर्गमयित्री, स्वर्ग के लिए हितकारिणी, (मनीषाम्) मनोगत आत्मेच्छा को अर्थात् आत्मेच्छा से जनित वाणी को(कवयः) ऋषि आदि मेधावी, ज्ञानी जन (ऋतस्य) ज्ञान के (पदे) स्थान में (नि पान्ति) निश्चय से, भलीभान्ति रक्षा करते हैं अर्थात् अध्यापन से उसकी रक्षा करते हैं।[7]

सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना ब्रा॑ह्म॒णा व्र॑तचा॒रिणः॑ ।
वाचं॑ प॒र्जन्य॑जिन्वितां॒ प्र म॒ण्डूका॑ अवादिषुः॥ (ऋ० ७.१०३.१)

वाग्विद्या का ग्रहण करनेवाला व्रतचारी ब्रह्मजिज्ञासु वर्षभर[8] नियमों में रहता हुआ, श्रद्धा-निष्ठा के साथ शिक्षा को ग्रहण करता हुआ प्रवीणता को प्राप्त करें और स्वर एवं मधुरता आदि के साथ शुद्ध, स्पष्ट तथा सार्थक वाणी को वैसे ही हर्षोल्लास से बोलें, जैसे कि वर्षा काल में मेंढ़क बोलते हैं।

यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाच॑ं शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः।
सर्वं॒ तदे॑षां स॒मृधे॑व॒ पर्व॒ यत्सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु ॥ (ऋ० ७.१०३.५)

शिक्षा ग्रहण करने वालों में एक शिष्य प्रशिक्षित होता हुआ सर्वथा शुद्ध बोलने में समर्थ आचार्य के समान बोलता है। ऐसे शिष्य का (पर्व) पालन करने योग्य कर्तव्य है कि वह (अप्सु अधि) प्राप्त सतीर्थ्यों में भी सर्वोत्तम शुद्ध एवं सुन्दर वाणी को बोलें। यही उसकी समृद्धि है।

---

१. यहाँ ध्यातव्य विषय यह है कि— ब्रह्म एवं शब्द में कार्य-कारण सम्बन्ध है। कार्य एवं कारण दोनों कदापि एक नहीं हो सकते अर्थात् 'शब्दब्रह्म' आदि शब्दों से शब्द को ही ब्रह्म समझने की भूल न करें। उसका अर्थ यह है कि शब्द का कारण ब्रह्म है अथवा शब्द से ब्रह्म जाना जाता है।

२. पतति गच्छति जन्मजन्मान्तरमिति पतङ्गो जीवात्मा।

३. मनसैव वाग्धृता (कपि०सं० ३७.४)। मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं, मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति (ऐ०आ० ३.१.१)।

४. प्राणो वै गन्धर्वः (जै०उ०ब्रा० ३.३६.३)। गाः शब्दान् धारयतीति गन्धर्वः प्राणवायुरिति सायणः (ऋ०१०.१७७.२)।

५. अनुकरणात्मक एवं उक्तार्थ के बोधक 'तां द्योतमानाम्' शब्दों के द्वारा सूचित होने से 'द्योतयति=द्योतित करता है' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

६. मन्त्र में बुद्धि और अग्नि के व्यापारों का उल्लेख नहीं है।

७. 'अध्यापनेन नितरां रक्षन्ति' इति सायणः (ऋ०१०.१७७.२)।

८. संवत्सरवेला॒यां प्रजा वा॒चं प्र॒वदन्ति (शत० ब्रा० ७.४.२.३८; द्र० मै०सं० ३.७.४)।
एक॑हायना मनु॒ष्या॑ वाचं॑ व॒दन्ति (तै०सं० ६.१.६.७; द्र० कपि०सं० ३७.२)।

इस प्रकार शुद्धतम वाणी के उच्चारण में कुशलता को प्राप्त किया हुआ विशिष्ट विद्यार्थी 'वसिष्ठ' उपाधि को प्राप्त कर लेता है– **वाग् वै वसिष्ठा** (शत०ब्रा० १४.९.२.२), **ये वै ब्राह्मणा शुश्रूवाँस्ते वसिष्ठाः** (जैमि० ब्रा० २.२४२), **वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत** (ऋ० १०.६६.१४)। वसिष्ठ नामधारी व्यक्तिविशेष की वाणी के प्रभाव को देखें –

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ० १०.५३.४)

योग्यताविशेष को प्राप्त करने के पश्चात् वेदमन्त्रों का आज वह उस प्रथम स्थानीय अर्थात् पदशः, वर्णशः, स्वरशः सर्वथा शुद्ध उच्चारण करता है, जिससे मैं और देव हम सब आसुरी शक्तियों को पराजित कर दैवी भावों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के ओजस्वी वाणी वाले एवं यजनशील आदि सभी जन मेरे अर्थात् वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान प्रीतिपूर्वक सेवन करें। वाणी के इसी प्रभाव का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है– **तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः** (शत०ब्रा० ३.२.१.२३), **तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः** (म०भा०, पस्प०), **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्** ॥ (म०भा०, पस्प०)। वाणी की इस महिमा का पूरा वर्णन हमें वाक्सूक्त (ऋ० १०.१२५.१-८) में स्पष्टतया दृग्गोचर होता है। पांचवें मन्त्र में विविध देवों एवं विशिष्ट पुरुषों द्वारा सेवित वाणी स्वयं कह रही है कि मैं जिसे चाहती हूँ, उसे ब्रह्मवेत्ता, ऋषि व सुमेधासम्पन्न बनाती हूँ। इतना ही नहीं छठे मन्त्र में वाणी कह रही है कि वाणी का दुरुपयोग करने वाले, ब्रह्मद्वेषी पर वाग्वज्र बनकर उसका हनन भी करती हूँ।[1] इससे स्पष्ट है कि अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए यज्ञों में मन्त्रादि का पूर्णरूप से शुद्ध बोलना अनिवार्य है, अन्यथा अनिष्ट फल प्राप्त होगा।

तं गीर्भिर्वाचमीङ्खयं पुनानं वासयामसि। सोमं जनस्य गोपतिम्॥ (ऋ० ९.३५.५)

(वाचमीङ्खयम्) वाणी को उत्पन्न (प्रेरित) करने वाले (सोमम्) आत्मा में स्थित ज्ञान को, जो कि अभिव्यक्त होकर (जनस्य गोपतिम्) लोगों की वाणी व इन्द्रियों को पवित्र करने वाला है, (तम्) उस ज्ञानस्रोत को (गीर्भिः पुनानम्) शुद्ध वाणियों, शब्दों से अपभ्रंशादि दोषों से रहित करते हुए, शुद्ध करते हुए (वासयामसि) आच्छादित करते हैं, रक्षण करते हैं।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। (ऋ० ४.५८.६)

वाणी (भाषा) हृदय (आत्मा) और मन से पवित्र की जाती हुई नदी के समान निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तम् (अथर्व० १३.२.२)– (प्रज्ञानाम्) बुद्धि की विभिन्न शक्तियों की आन्तरिक (दिशाम्) दिशाओं में (स्वरयन्तम्) विभिन्न स्वरों (शब्दों) को प्राप्त करते हुए ...। इस मन्त्र में बुद्धिस्थ मध्यमा वाक् का उल्लेख है।

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे॥ (ऋ० ९.१०१.६)

(वाचमीङ्खयः) वाणी को प्रेरित करने वाला और (सहस्रधारः) विभिन्न शब्दों (ध्वनियों) को उत्पन्न करने वाला, विविध धाराओं (गतियों) वाला प्राण (समुद्रः– सम्+उद्+द्रु) यथोचित गति से ऊपर को उठता हुआ (पवते) मुख की ओर बहता है, जिससे शब्द उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार शब्दों को (दिवे-दिवे) प्रतिदिन उत्पन्न करता हुआ अर्थात् उपदेश व अध्यापन करता हुआ (सोमः) ज्ञानी पुरुष (रयीणां पतिः) सब प्रकार के ज्ञाननिधियों का

१. वाग्घि शस्त्रम् (ऐ०ब्रा० ३.४४)।

अधिपति, संरक्षक होता है। इस प्रकार वेदवाणी का संरक्षक पुरुष (इन्द्रस्य सखा) परमात्मा का मित्र हो जाता है।

वाणी दो प्रकार की होती है— (१) शाब्दिक, जो कि केवल जिह्वा से बोली जाती है, अर्थ ज्ञात नहीं होता है, ऐसी वाणी का कोई प्रभाव नहीं होता , इसलिए सर्वत्र अर्थरहित वेदाध्ययन की निन्दा की गयी है । (२) दूसरी जो आर्थिक वाणी है, जो कि मनन-चिन्तन के साथ मन से बोली जाती है, यह हृदयग्राही होती है। जैसे कि वेद भी कहता है कि "**हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना**" (ऋ०१०.४७.७)। यथार्थ में यही वाक् (वाणी, भाषा) है।[1] इसे हम 'हार्दिकी वाक्' कह सकते हैं। यह वाक् आत्मा और परमात्मा के बीच में दूत का कार्य करती है। जिससे आत्मा की स्तुतियाँ परमात्मा तक पहुँचती हैं और परमात्मा का सन्देश आत्मा तक पहुँचते हैं —"**वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः** (ऋ०१०.४७.७)। इसलिए हमें हार्दिकी वाक् का अभ्यास करना चाहिए—"**हार्दिकीं वाचं वदेमेत्यध्येयं शिक्षाशास्त्रम्**"। अन्य आचार्यों ने इसे मानसिकी कहा है— **मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति** (ऐ०आ० ३.१.१), **मनसैव वाग् धृता** (कपि०सं० ३७.४)।

अभी तक प्रस्तुत वेदमन्त्रों में वर्णित विषय को ही शिक्षाकारों ने विस्तृतरूप से अर्थात् क्रमशः कार्य-कारणभाव के साथ कहा है—

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। (श्लो०पा०शि० ६,७)
आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥ (पा०शि० १)

शब्द एवं अर्थ के कार्यकारणभाव में भी संशय उत्पन्न होता है और इस विषय की चर्चा शास्त्रों में यथावसर पर्याप्त की गयी है। इसका भी समाधान ऊपर उद्धृत मन्त्रादि में किया गया है कि अर्थ पहले आत्मा में विद्यमान रहता है, तत्पश्चात् तदनुकूल शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् शब्द अर्थनिमित्तक है, न कि अर्थ शब्दनिमित्तक। अत एव भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है— '**अर्थनिमित्तक एव शब्दः**' (म०भा० १.१.४६)। अन्यत्र भी कहा गया है कि— **चिदसि मनासि धीरसि**...(यजु०४.१९)

वाणी (शब्द) अभिव्यक्त होने से पूर्व आत्मा में रहने वाली है, मन में विद्यमान रहने वाली है और बुद्धि में भी रहने वाली है।

शब्द के पश्यन्ति, मध्यमा एवं वैखरी रूप जो तीन भेद हैं,[2] वे भी ऊपर के मन्त्रादियों में स्पष्ट दीखते हैं, इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

१. शब्द पहले अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अर्थात् अव्यक्तावस्था में पहले आत्मा में स्थित रहता है। जो कि प्राणवृत्तियों से विहीन, लोकव्यवहारातीत, अपभ्रंश आदि दोषों से रहित, विशुद्ध ज्ञान मात्र है, **नित्य है**[3], कारक, प्रकृति प्रत्यय आदि विभागों से अतिक्रान्त होने से व्याकरण शास्त्र से परे है, केवल योगियों के द्वारा ही अधिगम्य है। इसे ही 'पश्यन्ती' कहते हैं।[4]

---

१. वाक् हृदये [प्रतिष्ठिता] (तै०ब्रा० ३.१०.८.४)।

२. इन्हें क्रमशः 'ऋत, सत्य, असत्य'; 'नित्य, मध्यम, अनित्य'; 'अनाहत, आहत, हत'; 'अव्यक्त, अक्षर, क्षर' के रूप में भी जान सकते हैं। परावाक् ब्राह्मीवाक् होने से आत्मीयवाक् (ऐन्द्रीवाक्, जीवात्मा के वाक्) के विभागों में सम्मिलित नहीं कर सकते। इसका विवेचन पृथक् लेख में किया जायेगा।

३. वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते (ऐ०ब्रा० ५.१६)।

४. पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्णेन योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः (वृत्तिः, वा०प०, ब्रह्म० १३३)।

२. मध्यमा वाक् बुद्धिस्थ है। इसका उपादान कारण बुद्धि है। यह अन्तःसन्निविष्ट अर्थात् मन आदि करणस्थ नहीं है, सूक्ष्मप्राणवृत्तिजन्य है। वर्णात्मक क्रम को ग्रहण करती हुई-सी होती है अर्थात् इस क्रमविशिष्ट शब्द का उच्चारण करूँगा– इस प्रकार का बुद्धि में जो शब्दाकार बनता है, यही मध्यमा वाक् है।[1] जो कि केवल वक्ता के द्वारा ही अधिगम्य है।

३. वैखरी वाक् स्थूलप्राणवृत्तिज है, ताल्वादि अवयवस्थ है, दूसरों के द्वारा ज्ञेय है अर्थात् श्रोत्र से ग्राह्य है तथा विशिष्ट आनुपूर्वी के रूप में स्पष्टतया श्रूयमाण होती है। **जो कि अनित्य है।**[2]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शब्द की उत्पत्ति किसी एक स्रोत से नहीं होती है, अपितु सात स्रोतों से होती है।[3] वे हैं– १. आत्मा, २. बुद्धि, ३. मन, ४. कायाग्नि, ५. मारुत (प्राण), ६. उरः (फेफड़ों का वायु), ७. वक्त्र (काकुद, मुखदेश)। इन्हीं सात स्रोतों को वेद "**सप्त सिन्धु**"[4] कहता है–

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० ८.६९.१२)

यद्यपि महाभाष्यकार पतञ्जलि पस्पशाह्निक में '**सप्त सिन्धवः**' का अर्थ '**सात विभक्तियाँ**' करते हैं। पर इस अर्थ में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, यथा– वाक् केवल नामों (प्रातिपदिकों) से उत्पन्न सात विभक्तियों (विभक्त्यन्तों) में ही सीमित नहीं होती है, अपितु तिङन्तरूपी छह विभक्तियों (पुरुषों) में भी रहती है। यह वाक् भी काकुद को प्राप्त होती है। 'सप्त' के ग्रहण से तिङ्न्तों (छह पुरुषों) का और सुबन्त-तिङन्तों को मिलाकर (७ + ६ =) १३ विभक्तियों का ग्रहण नहीं कर सकते इत्यादि। कुछ लोग '**सप्त सिन्धवः**' से सात छन्दों का ग्रहण करते हैं। पर छन्द न्यूनाधिक भी सम्भव हैं। अत एव शिक्षाशास्त्र के परिप्रेक्ष में "**सप्त सिन्धवः काकुदम् अनुक्षरन्ति**" का उपर्युक्त अर्थ ही स्वाभाविक तथा अपेक्षाकृत समीचीनतम होगा। शब्द के सात स्रोतों (सिन्धुओं) में न्यूनाधिकता की सम्भावना भी नहीं है और ना ही बलात् व्याख्या झलकती है।

वाक् इन सात सिन्धुओं से निकलती हुई तीस धामों में विराजमान होती है, धारित होती है –

"**त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥** (ऋ०१०.१८९.३)

वाणी तीस धामों में रहती है और वह पतङ्ग (जीव) की उन्नति के लिए धारित होती है। इसे धारण करनेवाला मनुष्य प्रतिदिन निश्चितरूप से ज्ञानज्योतियों से आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक आदि सर्वविध उन्नति को प्राप्त करता है, एक दिन मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। मनुष्येतर अन्य प्राणियों में शब्दोच्चारण के लिए उक्त सात सिन्धुओं (स्रोतों)का संयोजन न होने से और वक्ष्यमाण तीस धामों को उपयोग में लाने का सामर्थ्य न होने से मनुष्य जैसी वाणी की उत्पत्ति नहीं होती। फलतः उनमें ज्ञानज्योति भी प्रदीप्त नहीं होती, अन्धकार (अज्ञान) ही परिव्याप्त होता है। वे तीस धाम इसप्रकार हैं–

स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः (पा०शिक्षा–४)

इस सूत्र में वर्णोत्पत्ति व वर्णभेद के तीन कारण बताये गये हैं– स्थान, करण और प्रयत्न (अन्तःप्रयत्न, बाह्ययत्न)। इसी क्रम से तीस धामों को देखते हैं –

आठ स्थान (१. उरः, २. कण्ठ, ३. मूर्धा, ४. जिह्वामूल, ५. ऊपर के दाँत, ६. नासिका, ७. ऊपर का ओष्ठ, ८. तालु - द्रष्टव्य पा० शिक्षा ८.२८), **दो करण** (जिह्वा एवं नीचे का ओष्ठ), **पांच अन्तःप्रयत्न** (१.

---

१. मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना। सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्यनुगता० (वृत्तिः, वा०प०, ब्रह्म० १३३)।

२. परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी (वृत्तिः, वा०प०, ब्रह्म० १३३)।

३. वाणीः सप्तद्वारावकीर्णा वाचः (दया०, ऋ० ३.७.१)। तु० अभि वाणीर्ऋषीणां सप्त नूषत (ऋ० ९.१०३.३)।

४. सिन्धुः स्रवणाद् (निरु० ५.२७), सिन्धुः स्यन्दनात् (निरु० ९.३६)।

स्पृष्टत्व, २. ईषत्स्पृष्टत्व, ३. संवृतत्त्व, ४. विवृतत्त्व ५. ईषद्विवृतत्त्व– द्र०पा० शिक्षा ८.२९), **पन्द्रह बाह्ययत्न** (१. ह्रस्व, २. दीर्घ, ३. प्लुत, ४. विवार, ५. संवार, ६. श्वास, ७. नाद, ८. अघोष, ९. घोष, १०. आनुनासिक्य, ११. अल्पप्राण, १२. महाप्राण, १३. उदात्त, १४. अनुदात्त, १५. स्वरित– द्र०पा० शिक्षा ८.३०-३१)। इन सबका योग (८+२+५+१५=३०) तीस होता है। इन्हीं में वाक् विद्यमान (उत्पन्न) होती है, इसीलिए इन तीस का नाम 'धाम' है।[1] श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाकार ने भी इन्हें वाणी के धाम कहा है– **''गोर्धमैतत् प्रचक्षते''** (४०)।

मनुष्य में प्रविष्ट (प्राप्त) इसी वाणी का विभाजन अन्यत्र वेदों में भी मिलता है –

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ॒ आ वि॑वेश।। (ऋ० ४.५८.३)

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ''त्रिधा बद्धः'' की व्याख्या शिक्षाशास्त्र परक ही की है– **''त्रिधा बद्धः = त्रिषु स्थानेषु बद्धः–उरसि कण्ठे शिरसीति ''**(पस्प०)। उरः, कण्ठ और शिर (मूर्धा) इन तीनों स्थानों में महान् देव (वाणी) बद्ध है। दो शीर्षवाली (नित्य-अनित्यरूपी अथवा वैदिक-लौकिकरूपी) वाणी स्थान, करण और प्रयत्नरूप में तीन प्रकारों से बद्ध (उत्पन्न होने योग्य) है, ऐसा भी समझ सकते हैं।

अभी तक शब्दोत्पत्ति का विषय वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दोत्पत्ति का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता, अपितु साथ में शब्दोच्चारण में होने वाले वाग्दोषों को जानना भी अनिवार्य होता है। अत एव सभी शिक्षाकारों ने इसविषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस विषय के मूल सूत्र भी हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। वस्तुतः शब्द तो उसे ही कहते हैं, जो अर्थानुकूल शुद्ध उच्चारित है, शेष तो अपशब्द (अशुद्धशब्द) ही हैं। महर्षि दयानन्द ने भी ''वाक्'' शब्द का अर्थ 'शुद्ध वाणी' ही माना है। यथा– **वाच॑म्=शुद्धां वाणीम्**(ऋ० ३.८.५); **वेदादिशास्त्रसंस्कृतां वाणीम्** (ऋ० १.११२.२४), **सुशिक्षितां वाणीम्** (ऋ०१.१२९.१), **विद्याधर्मसत्याऽन्वितां वाणीम्**(ऋ०१.१३०.६)। महर्षि के **''वेदादिशास्त्रसंस्कृतां वाणीम्''** इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे भी वाग्दोषों का परिष्कार वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्रादि के अतिरिक्त वेद से भी मानते हैं। तो वाग्दोषों के परिष्कार के उपाय वेदमन्त्रों में किसप्रकार वर्णित हैं, उन्हें भी दिखाते हैं–

वेद की दृष्टि में वाग्दोष दो प्रकार के हैं– १. शाब्दिक और २. आर्थिक।

यन्मे॑ छि॒द्रं चक्षु॑षो॒ हृद॑यस्य॒ मन॑सो॒ वाति॑तृण्णं बृ॒हस्पति॑र्मे॒ तद्द॑धातु। (यजु० ३६.२)

पूर्वोद्धृत वेदमन्त्रों में वर्णित वाग्विज्ञान को ग्रहण करने में मेरे चक्षुरादि (चक्षु, वाक्, श्रोत्र) बाह्य इन्द्रियों में, हृदय (आत्मा) में और मन (उपलक्षणता से बुद्धि) आदि अन्तरिन्द्रियों में जो छिद्र हैं, दोष हैं व सामर्थ्य की न्यूनता है, उसे वाक्पति प्रभु नष्ट करें, दूर करें। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि वर्णोच्चारण सम्बन्धी वाग्दोषों एवं श्रवणसम्बन्धी कर्णेन्द्रियदोष अर्थात् शाब्दिक दोष दूर हों और श्रुतशब्द के अर्थग्रहण करने में मन, बुद्धि तथा आत्मा में विद्यमान असामर्थ्यरूपी दोष अर्थात् अर्थसम्बन्धी दोष दूर हों।

सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा वाच॒मक्र॑त।(ऋ०१०.७१.२)

वाणी का प्रयोग शुद्ध करके वैसे ही बोलना चाहिए, जैसे कि छलनी से छान कर शुद्ध आटे को ही प्रयोग में लाते हैं। इस मन्त्र में भी अर्थ के अनुकूल शुद्ध वर्णो के उच्चारण का उल्लेख है, साथ में सम्भावित उच्चारणदोषों को जानकर उन्हें अर्थात् शाब्दिक दोषों को दूर करें।

स॒हस्र॑धारे॒ वित॑ते प॒वित्र॒ आ वाच॑ पुनन्ति क॒वयो॑ मनी॒षिण॑ः (ऋ० ९.७३.७)। अनेकविध ज्ञान-विज्ञानों को धारण करने वाले, सर्वत्र व्यापक या सर्वव्यापक ईश्वर में विद्यमान पवित्र वेदज्ञान को प्राप्त करने पर (कर) विवेकी विद्वान् अपनी वाणी को सब प्रकार से पवित्र (शुद्ध) करते हैं।

---

१. धामानि त्रयाणि भवन्ति– स्थानानि, नामानि, जन्मानीति (निरु० ९.२८)।

यथार्थतः शब्द का स्वरूप शब्द (ध्वन्यात्मक) और उसके अर्थ दोनों पर निर्भर है। अर्थ में जो शब्दत्व है, वही मुख्य शब्द है, ध्वन्यात्मक शब्द में जो शब्दत्व है, वह गौणशब्द है। क्योंकि वह केवल अभिव्यञ्जकमात्र है। अभिव्यञ्जक शब्दों की आवश्यकता दूसरों के लिए होती है, अपने लिए नहीं। क्योंकि व्यक्ति जब अपने आप में विचार करने लगता है, तब विना ध्वन्यात्मक शब्दों के ही अर्थात्मक मुख्य शब्दों का प्रवाह चलता रहता है, इसीलिए अर्थरूपीशब्द ही शब्द है।[1] ऐसा ही वेदमन्त्रों में भी देखा जाय तो अर्थरूपी मुख्यशब्द और ध्वन्यात्मक गौणशब्द में ही सम्पूर्ण शब्दत्व (वेदत्व) निहित है– "**वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति**" (उद्योत, म०भा०, पस्प०, आगमः खल्वपि)। इसलिए अर्थात्मक मुख्यशब्द के विना केवल ध्वन्यात्मक गौणशब्दों में ही वेदत्व समझना अज्ञानता है, मन एवं बुद्धि की विकलता का द्योतक है।[2] इस बौद्धिक विकलता रूपी दोष को दूर करने का निर्देश वेद ने स्पष्टरूप से कर दिया है– "**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति०**"(ऋ० १.१६४.३९), **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न शृणोत्येनाम्** (ऋ० १०.७१.४)। वेद के इन मन्त्रों से प्रेरित होकर यास्कमुनि ने भी निरुक्त में लिखा है कि– "**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ...। यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्...** (निरु० १.१८)"। अर्थ रहित मन्त्रोच्चारण से वेदत्व की हानि होने से ऐसे शब्दपाठी को वेद ने '**ब्रह्मद्वेषी**' (वेदद्वेषी, वाग्दोषी) कहा है और उसे दण्डित करने का भी विधान किया है– "**धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे**" (ऋ०१०. १२५.६)।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी ऋग्वेद ने विविध वाग्दोषियों का उल्लेख कर उन्हें भी दण्डित करने का विधान किया है। "**यो वाचः विवाचो मृध्रवाचः पुरु सहस्राशिवा जघान**"(ऋ० १०.२३.५) जो आचार्य वाणी से विवाची (=विविध दोषों को) करने वाले को, मृध्रवाचः=कटुभाषी को और अत्यधिक अशिव=अभद्र बोलने वाले को दण्डित करता है।

अभी तक वैदिक शिक्षाशास्त्र के सामान्य प्रकरण को प्रतिपादित कर अब विशेष प्रकरण का प्रतिपादन करते हैं–

शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को जोड़ने वाले अर्थात् शब्दों को बोलने वाले के लिए वेद में 'स्वरण' शब्द आया है– **स्वरणम्=यः स्वरति शब्दार्थसम्बन्धानुपदिशति, तम्** (दया०, ऋ०१.१८.१)। स्कन्द एवं स्कन्दस्वामी, महेश्वरों ने (निरु० ६.१०) स्वरण का अर्थ शब्दों का उच्चारयिता किया है। उच्चारण एक क्रिया है, और क्रिया को साधन की आवश्यकता तो होती ही है। यहां उच्चारणक्रिया का प्रमुख साधन मुँह (मुख, आस्य) है, यह सर्वविदित है। इसका भी स्पष्ट उल्लेख वेद में प्राप्त होता है–

"**एते वदन्ति शतवत् सहस्रवद् अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।**
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत॥" (ऋ० १०.९४.२)

सोम को कूटने में प्रयुक्त पत्थर हरित मुखी होकर होता से पूर्व ही सोम का पान करते हैं और उन्हीं हरित मुखों से सैकड़ों व हजारों के समान शब्द करते हैं। यहाँ स्पष्ट वर्णित है कि मुख खाने व पीने का साधन है और साथ में बोलने (उच्चारण करने) का भी साधन है इसके लिए वेदों में वाक् शब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उसीसे

---

१. अर्थो नित्यः (निरु० २.१)। अर्थपरिज्ञानफला हि वाक्...सम्यग् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य, अर्थो हि वाचः शरीरम् (उद्योत, म०भा०, पस्प०, उत त्वः .....)।

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु० (ऋ० १.१६४.४६), तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुः० (यजु० ३२.१) इत्यादि मन्त्रों से वेद स्पष्ट कह रहा है कि एक ही परमात्मा के इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नाम हैं। पर लोगों ने अनेक देवों की कल्पना की है, वह भी इन्द्र, मित्र आदि वैदिक देवों को छोड़कर पौराणिक एवं कपोल कल्पित देवों की कल्पना कर ली है। यह बुद्धि-विकलता का ही दुष्परिणाम है।

वाणी की उत्पत्ति होती है।[1] यथा– ऋ० १०.११०.११ की व्याख्या करते हुए यास्कमुनि ने (निरु० ८.२१) "**वाचि**" का अर्थ "**आस्ये**" लिखा है। सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है– "**अत्र वागाश्रय आस्यं लक्ष्यते, वाचि=आस्ये।**" यहां वाक्=आस्य शब्द से मुख के अन्दर रहने वाले सभी स्थानों का भी ग्रहण जानना चाहिए। क्योंकि मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों से ही वर्ण उत्पन्न होते हैं, न कि पूरे मुख से। क्या केवल मुख (मुखीय स्थानों) से ही शब्दों का उच्चारण होता है? अथवा और भी कोई उच्चारण का साधन है? इसके उत्तर में वेद कहता है कि– "**सर॑स्वत्या अग्रजि॒ह्वम्**" (यजु० २५.१)– जिह्वा शब्दोच्चारण का प्रमुख साधन है। अन्यत्र भी कहा गया है कि– **जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म्** (ऋ० १०.८.६) हे ज्ञानप्रदाता परमेश्वर! आपने सत्यज्ञान, वेदज्ञान को बोलने वाली जिह्वा को बनाया है।**जि॒ह्वा दे॒वाना॑ममृत॑स्य नाभि॑ः** (ऋ० ४.५८.१)– जिह्वा विद्वानों के ज्ञानामृत का केन्द्र है, आश्रय है। जिह्वा मुख के अन्दर दान्तों के बीच में बोलने हेतु चलने के स्वभाववाली है– **जिह्वया=यथा हन्वोर्मध्ये जिह्वा विचलति, तद्वत्....** (वेंकटमाधव, ऋ० १.१६८.५), **जिह्वायाः=चलनस्वभावं वाग्** (वेंकटमाधव, ऋ० ३.३९.३)।

गौर्न पर्व॒ वि र॑दा ति॒र॒श्चेष्य॑न् (ऋ० १.६१.१२)।

वक्ता (गोः न) जिसप्रकार वाणी के अर्थात् शब्दोच्चारण के (पर्व) प्रत्येक वर्ण और शब्दों के मध्य में आवश्यक व नियमित व्यवधानों को (इष्यन्) ज्ञानपूर्वक व बुद्धिपूर्वक (तिरश्च) सब ओर तिरछा व अन्दर[2] घूमने वाली जिह्वा आदि से नाभि से उत्थित वायु को मुख के तालु आदि स्थानों में आघात कर उच्चारण करता है।

महर्षि दयानन्द कृत भावार्थ– "जैसे प्राण वायु से तालु आदि स्थानों में जीभ का ताड़न कर भिन्न-भिन्न अक्षर वा पदों के विभाग प्रसिद्ध होते हैं (वहीं)"।

इसप्रकार मुख एवं जिह्वा की सहायता से शब्दों का उच्चारण करने का विधान भी किया गया है– **स्वर=शब्दय** (सायण, वेंकटमाधव, ऋ० ९.९७.३)। इनकी सहायता से उच्चरित ध्वनिविशेषों (शब्दावयवों) के लिए वेदों में वर्णशब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उन्हीं से प्रार्थना का अनुकूल अर्थ निकलता है– **वर्णम्=वरणं प्रार्थनाम्, यथाप्रार्थितमर्थं ददातीत्यर्थः** (स्कन्दस्वामी-महेश्वर, ऋ० २.४.५, निरु० ६.१७)।

सभी भाषाओं का मूलस्रोत वेद हैं अर्थात् लोक एवं शास्त्रीय परम्परा में जो संस्कृत भाषा प्रचलित हुई वेद से ही हुई है, इसे सभी भारतीय परम्परा के विद्वान् मानते हैं। शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में जो पारिभाषिक शब्द प्रसिद्ध हुए हैं, वे भी वेद से ही लिए गये हैं। वेद और शिक्षा के क्षेत्र में उन शब्दों का अर्थ समान होने पर भी वे वेद में यौगिक हैं एवं शिक्षाशास्त्र में रूढ़ हैं। यह विशेषतया ध्यातव्य है। कुछ शब्दों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है–

१. स्वर– स्वरेण= उदात्तादिश्रव्यस्वरोपेतेन यद्वा मन्द्रमध्यमादिस्वरेण (सायणः, ऋ० १.६२.४, अपि च द्रष्टव्य– मुद्गलभाष्यम्)।

२. व्यञ्जन– व्यञ्जनम् = विविध विज्ञानों का प्रकाश (हरिशरण विद्यालंकार, ऋ० ८.७८.२)। वेद का यह शब्द ब्राह्मणग्रन्थों के काल से वर्णविशेषों के लिए परिभाषित[3] होकर शिक्षाशास्त्र में प्रविष्ट हो गया है, पर वही यौगिक अर्थ स्वीकारा गया है– **व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि**[4] (उवट, ऋक्प्राति० १.६)।स्वर एवं व्यञ्जन ये दोनों ही वैदिक शब्द संहितोपनिषद्ब्राह्मण (२) से वर्णविशेषों के लिए रूढ हो गये

---

१. जैसे आजकल भाषा के लिए 'जुबानी' (जिह्वा से बोले जानी वाली भाषा) शब्द का प्रयोग होता है।

२. तिरोऽन्तर्दधाति (निरु० १२.३२), तिरोऽन्तर्धौ (अष्टा० १.४.७०)।

३. मकारे व्यञ्जनमित्याहुः(गो०ब्रा० १.१.२५)।

४. यथा– कूपः, यूपः, सूपः आदि।

हैं– **यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि एवं सर्वान् कामान् आप्नोति।**

अब स्वरवर्णों के धर्मों का वर्णन करते हैं–

३. मात्रा– मात्रा शब्द वेदों में 'सूक्ष्म अवयव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा– **मात्राभिः= सूक्ष्मावयवैः** (दया०, ऋ०३.३८.३), **शब्दादिभिः सूक्ष्मैर्व्यवहारावयवैर्वा** (दया०,ऋ०३.४६.३)। वेद का यह शब्द तैत्तिरीय आरण्यक (**ओं शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा**...७.२.१) काल से स्वरों (अचों) के परिमापक सूक्ष्मावयव के लिए रूढ़ हो गया है।

४. दीर्घ– वेदों में 'दीर्घ' शब्द लम्बा, बड़ा और अधिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (द्र०,ऋ० १.१७३.११, अथर्व० २०.५.४, तै०सं० १.६.६.४)। वर्णमाला में प्रयुक्त दीर्घ वर्ण ह्रस्व वर्ण से दुगना बड़ा व अधिक मात्रा वाला होने के कारण 'दीर्घ' शब्द ही परिभाषित हो गया है।[1] गोपथब्राह्मण के काल से ही यह दीर्घ शब्द वर्णविशेषों के लिए रूढ़ हो गया है– "**ओङ्कारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः....**" (१.१.२५)।

५-६. लघु, गुरु– **गुरुर्भारो लघुर्भव** (अथर्व०९.३.२४) इस मन्त्र में 'गुरु' शब्द 'भारी या बड़ा' इस अर्थ में प्रयुक्त है और 'लघु' शब्द 'हल्का या छोटा' अर्थ में प्रयुक्त है। इसी अर्थ को लेकर शिक्षाकारों ने एकमात्रिक ह्रस्व वर्ण के लिए 'लघु' संज्ञा एवं द्विमात्रिक दीर्घ वर्ण के लिए 'गुरु' संज्ञा का प्रयोग किया है, जो कि ह्रस्व से दुगना बड़ा वा भारी ही होता है।

अब व्यञ्जन वर्णों के धर्मों का उल्लेख करते हैं –

१. स्पृष्ट– यह शब्द वेदों (अथर्व०२.२.२, पै०सं०१.७.२) में स्पर्शार्थ में प्रयुक्त है। शिक्षाशास्त्र में 'दो उच्चारणावयवों का अल्पकालिक परस्पर स्पर्श' अर्थ में २५ स्पर्श वर्णों के अन्तःप्रयत्नविशेष के लिए रूढ़ हो गया है। गोपथब्राह्मण के काल से ही यह शब्द परिभाषित हो गया था– "**पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च, द्वितीयः स्पृष्टकरणस्थितश्च, न संयोगो विद्यते**" (गो०ब्रा०१.१.२७)

२. नाद– नाद शब्द वेदों (ऋ०१०.११.२, अथर्व०१९.३४.३) में ध्वनिविशेषों के लिए प्रयुक्त है। वेद के इस अर्थविशिष्ट नाद शब्द को लेकर सर्वप्रथम प्रातिशाख्यकारों (**संवृते कण्ठे नादः क्रियते**– तै०प्राति० २.५ आदि) ने ग,घ,ङ,ज आदि व्यञ्जन ध्वनियों के धर्मविशेष के रूप में परिभाषित किया है। उसके पश्चात् शिक्षाशास्त्रों में इस संज्ञा शब्द का पर्याप्त प्रचलन हुआ है।

३. घोष– घोषशब्द वेदों (ऋ०३.३०.१६, १०.९४.१ आदि) में सर्वत्र शब्दविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने भी इसे वाङ्नामों (निघण्टु– १.११) में पढ़ा है और निर्वचन किया कि– '**घोषो घुष्यतेः**' (निरुक्त– ९.९) अर्थात् विशिष्ट शब्द करना अर्थवाले **घुषिर् विशब्दने** (धातु० १०.१९५) धातु से घोष शब्द बना है। सायणाचार्य ने भी घोषशब्द का अर्थ एकत्र लिखा है– **हर्षादुत्पन्नो महाध्वनिः** (ऋ० ३.३१.१०)। इसप्रकार ध्वनि विशेष के लिए प्रयुक्त वेद का यह घोष शब्द ऐतरेयारण्यक (**तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा**– २.२.४, अपि च द्र०२.२.२) काल से ही व्यञ्जन वर्णों के ध्वनिविशेषों के लिए परिभाषित होकर शिक्षाशास्त्र में प्रचलित हो गया है। **स्वर॑न्ति घोषं॒ वित॑तमृता॒यवः॑** (ऋ० ५.५४.१२)– ऋत (नित्य वाक्, स्फोट) की कामना वाले पुरुष व्यापनशील घोष (अव्यक्त ध्वनि) को स्वर से युक्त करते हैं, व्यक्तवाणी के रूप में प्रकट करते हैं।

४. यम– ऋग्वेद (१०.१०) के प्रसिद्धसूक्त 'यम-यमी' के कारण यमशब्द युगल,जोड़ा अर्थवाला हो गया है। शिक्षाशास्त्र में भी 'पञ्चम स्पर्श वर्ण एवं अपञ्चम स्पर्शवर्णों के संयोग से उनके मध्य में उत्पन्न

---

१. दीर्घं द्राघतेः(निरु० २.५)।

नासिक्यध्वनिविशेष के लिए यम शब्द परिभाषित हो गया है। यह यम शब्द संज्ञा के रूप में ऋक्प्रातिशाख्य (६.२९) काल से प्रचलित हुआ है।

स्वर, व्यञ्जन, मात्रा आदि पारिभाषिक शब्दों का विस्तरभय से विशेष विवेचन नहीं किया गया है, केवल वेदमूलकता प्रदर्शित करना ही यहां अभिप्रेत है। शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से विशेष जानकारी के लिए लेखक द्वारा लिखित 'शिक्षाशास्त्रम्' के 'शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्'[1] को देखें। शिक्षाशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त व विषय वेदों में किसप्रकार उपदिष्ट हुए हैं, इसका प्रतिपादन इस लेख में संक्षेप से किया गया है। इतना ही नहीं सामगान करने का विधान भी हमें वेदों में मिलता है– **साम॑ गायत्** (ऋ० ८.९८.१), **साम॑ गायसि** (ऋ० २.४३.२), **साम॑भिः स्तू॒यमा॑नाः** (ऋ० १.१०७.२) आदि। रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत इन सामगान विशेषों का भी नामतः उल्लेख मिलता है (यजु० १०.१०-१४ आदि)। इसी का विस्तार आगे सामवेदीय प्रातिशाख्य एवं नारदीयशिक्षा आदि में हुआ है।

लेख में वर्णित संकेतों से स्पष्ट है कि वेदाङ्गशिक्षाशास्त्र के सभी मूलभूत सिद्धान्त वेदमन्त्रों में सूत्ररूप से उपदिष्ट हैं। जिन्हें ऋषि - मुनियों नें स्वतन्त्रविद्या वा वेदाङ्गशास्त्र के रूप में विकसित कर मानवसमाज के समक्ष प्रस्तुत किया और वैदिक वाङ्मय की परम्परा को उपकृत किया।

धर्म का आचरण

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ।। (मनु० ६.९२,९३)

धैर्य, क्षमा आदि धर्म के दस लक्षणों को जो द्विज सम्यक्तया, सम्पूर्णतया जानकर उसका पालन करता है, वे उत्तम उन्नति को प्राप्त करते हैं।

सत्सङ्गति

हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ।।

हे तात ! अपने से निम्न विचारकोटि के लोगों के साथ सङ्गति करने से अपनी बुद्धि भी निम्न विचारकोटि की हो जाती है। स्वसमान विचार वालों की सङ्गति से बुद्धि सम हो जाती है और उच्च विचार वालों की सङ्गति से बुद्धि उच्चता को प्राप्त करती है।

१. यह ग्रन्थ 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' (रेवली, सोनीपत, हरियाणा) से प्रकाशित है।

३.२. अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का परिचय*

सम्प्रति लगभग छत्तीस शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से बत्तीस शिक्षायें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित 'शिक्षा-संग्रह' में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त वाराणसी से ही एक 'व्यास-शिक्षा' और रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली से सूत्रात्मक 'पाणिनि-आपिशलि-चान्द्र' शिक्षायें प्रकाशित है। अतः इनका विषय प्रायः सभी को ज्ञात ही है। इसलिये इस लेख में केवल उन शिक्षाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकीं, विविध संग्रहालयों में केवल पाण्डुलिपियों के रूप में ही विद्यमान हैं, जिनका वर्णन प्रख्यात ध्वनि-विज्ञानी एवं भाषा-शास्त्री पद्मभूषण डॉ. सिद्धेश्वरवर्मा (एम.ए, डी.लिट्.) ने अपने शोध-प्रबन्ध ''प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन'' में किया है। इनका यह शोध-प्रबन्ध 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ लन्दन' से अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। इसे 'हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' ने हिन्दी में अनुवाद कराकर प्रकाशित किया है।

डॉ. वर्मा अपने शोधग्रन्थ में लिखते हैं— ''उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या बहुत बड़ी है। कम से कम पैंसठ शिक्षाओं का तो मुझे ही पता है। इनमें से पचास का मैंने परीक्षण किया है।.....सोलह मद्रास के राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय में हैं तथा तीन पाण्डुलिपियाँ भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान, पूना में हैं''(भूमिका, पृष्ठ ३६)।

इस शोध-प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर जो इन पाण्डुलिपियों की सामग्री प्रस्तुत की गयी है, उसी के आधार पर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कि इन अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का भी अध्येताओं को परिचय मिल सके।

१. **शमान-शिक्षा** (मद्रास पाण्डुलिपि संख्या ९७७)— इसमें ऋग्वेदस्थ विसर्गलोपी शब्दों का संग्रह है।

२. **विलंघ्यं-शिक्षा** (मं०पां०सं० ९६०)— इसमें यजुर्वेदीय एकारान्त, अइ-कारान्त, ओकारान्त, अउ-कारान्त शब्दों का संग्रह है।

३. **पदकारिकारत्नमाला** (म०पां०सं० ९२१)— यह शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। इसमें चालीस अध्याय हैं।

४. **स्वर-व्यञ्जन-शिक्षा** (पूना पां०सं० २१)— यह ऋग्वेदीय शिक्षा है और यह ऋक्प्रातिशाख्य को उद्धृत करती है तथा उसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है। इसमें अष्टाध्यायी के ७.४.२८ तथा ६.१.१३८ सूत्र भी उद्धृत हैं। अतः यह पाणिनि के बाद की कृति है।

इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि रेफ [ऋकार] कब स्वर होता है और कब व्यञ्जन। इसमें कुल छह वर्ग हैं।

५. **चारायणीय-शिक्षा**[1] (पूना पां०सं० २१,२५)— यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा के पश्चात्-कालिका है। यह कृष्ण यजुर्वेद की चरणशाखा सम्बन्धी है। इस लुप्त शाखा का एक उद्धरण इसमें मिलता है—''**अग्ने सम्राड् अजैकपाद आह(व)नीय अमावास्यां वा यजते**'' इसमें वाजसनेय प्रातिशाख्य के १.९९, १.१४१ से दो सूत्र भी उद्धृत हैं। यह एक महाशिक्षा है। इसके प्रारम्भिक श्लोक निम्न प्रकार हैं—

---

*. यह लेख वेदवाणी (जून २००४) में प्रकाशित है।

१. इस शिक्षा का मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्ट में प्रकाशित हुआ है (पृ० ८०२-८१९)।

ॐ प्राक् प्रपद्ये विभुं भक्त्या सर्वलोकपितामहम्।
शिक्षां साक्षात् प्रवक्ष्यामि तेनैवाऽऽलपितामहम् ॥
चारायणीं महाशिक्षां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
निबोधत बुधैर्जुष्टां नित्यं वाङ्मलशान्तये॥ (गटिंगन पत्र-१)

इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है —

य इदं पठते नित्यं यश्चाप्यध्यापयेद् द्विजम्।
अस्यार्थं बुध्यते यो वै ब्रह्मलोकं स गच्छति॥ (गटिंगन पत्र-११)

इसमें दस उच्चारण-स्थानों का वर्णन मिलता है[1], जबकि पाणिनीयशिक्षा में आठ स्थानों का परिगणन है[2]। इसके तृतीय अध्याय में सन्धिविषय, पञ्चम में इन्द्रवज्रा, प्रहर्ष आदि लौकिक (संस्कृत) छन्द एवं अष्टम में अभिनिधान विषय वर्णित हैं।

पत्र- ४ पर यह शिक्षा अयोगवाहघटक यम के विषय में कहती है कि " **न वायुं हमसंयोगे नासिकाभ्यां समुत्सृजेत्**" ह् एवं म् के संयोग में वायु का नासिका से उत्सर्जन नहीं करना चाहिये। अर्थात् ह्-म् की स्थिति में यम की उत्पत्ति नहीं होती है।

स्थितिविशेष में अस्पष्टता से उच्चरित होने वाले वर्ण भी इस शिक्षा में वर्णित हैं, जिन्हें अभिनिधान, आस्थापित, भक्ष्य वा भुक्त कहते हैं। सस्वर वेदपाठ के समय हस्त-संचालन के साथ-साथ अक्षिस्पन्दन का जिक्र भी इसमें मिलता है। तद्यथा—

समं स्वरं पठेन्नित्यं मार्गं हस्ते प्रदर्शयेत्।
यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्॥
दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम्।
नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषये विदुः॥ (पत्र-६)

इसकी विशेषता यह भी है कि— शब्द के अन्त में विद्यमान व्यञ्जन भी द्वित्व को प्राप्त करता है[3], यथा— सम्यक्क् स्रवन्ति, तत्त्प्राप्नोत् इत्यादि।

६. शम्भु-शिक्षा (म०पां०सं०९८८)— यह तैत्तिरीय संहिता सम्बन्धी है। इसमें मात्रा एवं स्वराघात से सम्बन्धित सिद्धान्तों को पर्याप्त विकसित रूप में स्थापित किया गया है। इसका ३६वाँ श्लोक तै०प्राति० १.४० पर वैदिकाभरण में और ४५वाँ एवं ४६वाँ श्लोक तै०प्राति० १.१ पर त्रिभाष्यरत्न में उद्धृत हैं।

७. कौहलीय-शिक्षा[4] (म०पां०सं० ८९३)— इसका कर्त्ता अज्ञात है।[5] इसमें ७९ श्लोक हैं। प्रारम्भिक ४१ श्लोक स्वराघात विषयक हैं। यह कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इस शिक्षा का ५१वाँ श्लोक तै०प्राति० ४.१४ पर वैदिकाभरण में उद्धृत है। जिसमें कहा गया है कि **जो व्यक्ति प्रातिशाख्यादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा सभी शिक्षाओं के पारंगत विद्वान् ही जटापाठ की व्याख्या वा उपदेश कर सकता है।**[6]

---

१. दश स्थानानि वर्णानां कीर्तयन्ति मनीषिणः। यतः प्रवृत्तिर्वर्णानां तानि मे गदतः शृणुः॥ उरः कण्ठः शिरस्तालु दन्ता ओष्ठौ तु नासिका। जिह्वामूलं तु सृक्वश्च दन्तमूलस्तथैव च॥ पत्र-१।
२. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
३. व्यञ्जनान्तं पदं पूर्वं तद् वर्णं चापरं भवेत्। द्विर्भावं तं विजानीयात् सन्धिकाले तु नित्यशः॥
४. इस शिक्षा का भी मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है (पृ० ८१९-८२३)।
५. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि कौहलीयमतानुगाम्। स्वरादिनिर्णयस्तत्र क्रियते तन्निबोधत॥१॥
६. प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः। बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति॥५१॥

इसमें स्वराघात के निर्देशन के लिये हस्त-सञ्चालन में केवल दाहिने हाथ का ही प्रयोग करने का विधान मिलता है।[1]

८. वासिष्ठ-शिक्षा — डॉ० वर्मा जी को यह शिक्षा खण्डित रूप में ही मिली थी। जिसमें द्वित्व सम्बन्धि १३ श्लोक हैं। इसका एक उद्धरण तै०प्रा० १.१ पर वैदिकाभरण में मिलता है— "**तदुच्यते वासिष्ठशिक्षायां लृवर्णदीर्घं परिहाप्य स्वराः षड्विंशतिः प्रोक्ताः।**" यह भी तैत्तिरीय शिक्षा है।

९. वाल्मीकि-शिक्षा — यह शिक्षा तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसकी पाण्डुलिपि भी उपलब्ध नहीं है। वाल्मीकि का मत तै०प्राति० के सूत्रों में दो स्थानों पर मिलता है।

(क) **कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः** (तै०प्राति० ९.४) अर्थात् अग्निवेश्य तथा वाल्मीकि के मत में कवर्गपरक एवं पवर्गपरक विसर्ग को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होता।

(ख) **उदात्तो वाल्मीकेः** (तै०प्राति० १८.६) अर्थात् वाल्मीकि के मत में प्रणव को उदात्त होता है।

१०. हारितशिक्षा — इसकी भी पाण्डुलिपि अप्राप्त है। यह भी तै० शाखा सम्बन्धित है। इसके दो उद्धरण मात्र मिलते हैं।

(क) तत्र हारित शिक्षा —

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ (पारिशिक्षा—२७ की टीका)

(ख) **ऊष्माऽघोषो हारितस्य** (तै०प्राति० १४.१८) अर्थात् हारित के मत में अघोष ऊष्मों का द्वित्व नहीं होता। दुदुह्रे आदि (ह्+र्) में हारित के अनुसार द्वित्व नहीं होता— **रेफपरश्च हकारः** (तै०प्राति० १४.१९)। जबकि चारायणीयशिक्षा यहाँ भी द्वित्व मानती है।[2]

११. सर्वसम्मत-शिक्षा[3] (म०पां०सं० ९९८)— इसका कर्त्ता केशवार्य है।[4] इसमें चार अध्याय तथा १७० श्लोक हैं। इस पर मञ्चिभट्ट[5] का विस्तृत भाष्य भी है। इस शिक्षा में ध्वनिशास्त्र विषयक सिद्धान्त प्रौढ़ता एवं सूक्ष्मता से प्रतिपादित हैं। इसके ३३ श्लोकों में स्वराघात के सिद्धान्त भी सम्यक्तया निरूपित हैं। इसके उद्धरण तै०प्रा० के त्रिभाष्यरत्न और वैदिकाभरण भाष्यों में अनेकत्र मिलते हैं। यह भी तै०सं० से सम्बन्ध रखती है।

वासांसि आदि शब्दस्थ अनुस्वार को यह शिक्षा एक स्वतन्त्र वर्ण मानती है— "**काठकाख्ये चरणे वासःशब्दादुत्तरोऽनुस्वारः पूर्वस्यांगं न भवति**" (२.३८)।

१२. आरण्य-शिक्षा (म०पां०सं० ८६६,८६७)— यह नौ शिक्षाओं की सारात्मक[6] नवीन कृति है। इसकी भी तैत्तिरीय शिक्षाओं में गणना की जाती है। इनमें आद्युदात्त शब्द, अन्तिम दो अक्षर उदात्तवान् शब्द इत्यादि शब्दों का परिगणन है। यह भी अनुस्वार को एक स्वतन्त्र अक्षर मानती है— "**वासश्शब्दाद् अनुस्वारः काठके नीच इष्यते**" (५२)। यहाँ व्याख्याकार लिखते हैं— "**वासःशब्दात् प्रतीयमानोऽनुस्वारःकाठके पृथगेव, न पूर्वांशमित्यर्थः।**"

स्वरित ह्रस्व स्वर के बाद विद्यमान स्वरभक्ति की भी भिन्न अर्थात् एक स्वतन्त्र सत्ता मानती है— "**ह्रस्व-स्वरात् स्वराभिन्न इत्यादि लक्षणप्राप्तस्वरभक्तीनां पूर्वांगत्वं निषिध्य कुत्रचित् पृथक्त्वं विधत्ते।**"

---

१. स्वरान् हस्तेन विन्यस्येद् विपश्चिद् दक्षिणेन तु। श्रेयो विपुलमन्विच्छन् न सव्येन कदाचन॥३५॥
२. हरो यत्र नियुज्येते हकारः क्रमते तदा। अह्नतं ह्रियते ह्र्हादिनी ह्र्हदं च निदर्शनम्॥पत्र-३॥
३. इस शिक्षा का मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है (पृ० ८२३-८३०)।
४. सूर्यदेव बुधेन्द्रस्य नन्दनेन महात्मना। प्रणीतं केशवार्येण लक्षणं सर्वसम्मतम्॥४.१२१॥
५. इति श्रीमञ्चिभट्टविरचितं सर्वसम्मत-शिक्षा-विवरणं समाप्तम्।
६. क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्यशिक्षामृतमिव नवशिक्षावारिधेरुद्धरामि (प्रस्तावना)।

१३. सिद्धान्त-शिक्षा (म०पां०सं० १०१२)— इस शिक्षा का कर्त्ता एवं व्याख्याता श्रीनिवासाध्वरीन्द्र है।[१] इसमें ७४ श्लोक हैं। यह भी तैत्तिरीय शिक्षा है। इसका रचनाकाल लगभग १३ वीं ई० शताब्दी है। इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न ध्वनियों वाले शब्दों का अनुक्रम संकलित है। तद्यथा—

ककारादिः कमिष्यन्ते स्यादमुं लोकमुत्तरः। कट-धातोः कडित्याहुरश्विभ्यां परितः कृतम्।।

वेद में विकल्प से 'त्वम्' का उच्चारण 'त्वङ्' के रूप में करने का विधान है।[२] यही इसकी विशेषता है। इसमें भट्टभास्कर मिश्र (तै०सं० भाष्यकार) और गंगेश (प्रसिद्ध नव्यन्यायाचार्य) नाम मिलते हैं तथा तै०प्रा० के भाष्यद्वय एवं व्यासशिक्षा इसमें उद्धृत हैं।

१४. कालनिर्णय-शिक्षा (म०पां०सं० ८९१,८९२)— यह प्रातिशाख्यों के बाद की कृति है।[३] बर्नेल का मत है कि इसका कर्त्ता सायण है।[४] इस पर मुक्तीश्वराचार्य ने "कालनिर्णय- दीपिका" नाम की टीका लिखी है।

व्यासशिक्षा में इस शिक्षा का एक श्लोक मिलता है। तै०प्रा० के १.३७;१८.१ आदि पर दोनों भाष्यों में इसके श्लोक मिलते हैं।

१५. पारिशिक्षा[५] (म०पां०सं०९२४)— यह पाराशरी शिक्षा से भिन्न बृहत्काय शिक्षा है। इसका कर्त्ता 'पारि' मुनि है। रचनाकाल लगभग १५वीं शताब्दी ई० है। इस पर 'यजुष-भूषण'[६] नाम की विस्तृत व्याख्या भी है।[७] यह भारद्वाज, व्यास आदि ९ शिक्षाओं का अनुसरण करती है।[८]

इसके ५,१०,११वें अध्यायों में क्रमशः द्वित्त्व, मात्रा, स्वराघात विषय मुख्यतः प्रतिपादित हैं। इसके द्वित्त्व प्रकरण में एक विशेष विधि मिलती है, जो कि अन्यत्र दिखायी नहीं पड़ती है। वह यह है कि 'प्रत्यङ्ङात्मा' आदि में जो दो-दो पञ्चम वर्ण लिखे जाते हैं, उनका एक वर्ण के समान ही उच्चारण करना चाहिये— "**ह्रस्वात् परो नाद इह द्विरूपो वर्णक्रमे तं सकृदुच्चरेद् ज्ञः, ह्रस्वात् परो नादोऽवसाने पञ्चमो वर्णो द्विरूपवर्गो भवति, तथापि वर्णक्रमे वर्णक्रमोक्तिकाले तं नादं सकृदेकवारमुच्चरेद् ब्रूयाद्**"(पृ०१७०)। इस प्रकार का वर्णन 'व्यासशिक्षा' (२०.१०) पर भी मिलता है। यजुषभूषण में एक स्थान पर अक्षर की निरुक्ति दी गयी है कि "**न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्यांगतया चलनम्**" अर्थात् जो दूसरे के अंग (अधीन) होकर नहीं चलता, वह अक्षर कहलाता है। इस शिक्षा का ९वाँ श्लोक तै०प्रा०१.२ पर, १२वाँ श्लोक तै०प्रा०२१.१ पर व्याख्याद्वय में उद्धृत हैं।

निम्न चार शिक्षाओं की पाण्डुलिपि भी सम्प्रति अप्राप्त है —

१. तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित पाणिनि-शिक्षा। २. बोधायन-शिक्षा।
३. वाल्मीकि-शिक्षा। ४. हारित-शिक्षा।

---

१. श्रीनिवासाध्वरीन्द्रेण चतुष्कुल-सुधांशुना। श्लोकाः सिद्धान्तशिक्षायां चतुःसप्ततिरीरिताः। श्रीनिवासाध्वरीन्द्रविरचिता सिद्धान्त-शिक्षा-व्याख्या समाप्ता।

२. त्वन् माह्यर्वाङ् ततो विश्वङ् अवाङ् नतौ सदा। शिङ्ते वृङ्ते स्म मृङ्ताम् च युङ्ध्वं वृङ्धङ् धिङ् आस्तथा।।५३।। व्याख्यात्वम् इत्यस्य वा ङकारोऽन्तादेशश्छान्दस इत्यन्योऽर्थः।

३. प्रातिशाख्यादिशास्त्राणि मया वीक्ष्या यथामति। वेदतत्त्वावबोधार्थमिह कालो निरूप्यते।।

४. ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स-पृ० ४९।

५. इस शिक्षा का मूलपाठ 'कौण्डिन्यायनशिक्षा' के परिशिष्टों में प्रकाशित है(पृ० ८३०-८३८)।

६. सतां मुदं सम्प्रति पारिशिक्षाव्याख्यानभूता हृदयंगमेयम्। विलक्षणा यजुषभूषणाख्याकृतिर्मदीया वितनोतु कामम् ।।४।।

७. यह व्याख्या तै०ब्रा०को उद्धृत करती है।

८. साम्प्रतिकजनान्दुरवबोधभारद्वाज-व्यास-पारि-शम्भु-कौहल-हारित-बोधायन-वासिष्ठ-वाल्मीकि-प्रभृतिमुनिगणविनिर्मितशिक्षा-दिग्रन्थानुसारेण......प्रतिजानीते।

३.३. शिक्षातत्त्वार्थ का दर्शन*

कल्पादि[१] में पवित्रतम चार ऋर्षियों के अन्तःकरण में वेद प्रकाशित हुए।[२] जब से वेद प्रकट हुए, उसी समय से वेदार्थ की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। प्रारम्भ में साक्षात् मन्त्रों से ही अर्थ समझ लिया करते थे और वही प्रक्रिया कुछ काल तक चलती रही। कालान्तर में मेधाशक्ति में शैथिल्य हो जाने पर वेदार्थ के सौविध्य के लिए सर्वप्रथम 'पदपाठ' का प्रयत्न किया गया। पदपाठ मात्र से मन्त्र गतार्थ हो जाते थे। तत्पश्चात् वेदावबोध के लिये शाखाओं का सर्जन हुआ अर्थात् मन्त्रों का अर्थ शाखान्तरों से भी समझा जाता था।[३] जैसे कि— "**भ्रातृव्यस्य वधाय०**" (यजुः० १.१८) का अर्थ "**द्विषतो वधायं०**" (कां०सं० १.६.२,३) की तुलना में समझ में आ जाता है। तदनन्तर वेदावगति के लिये ब्राह्मणग्रन्थों का प्रणयन हुआ। अन्ततः षडङ्गों[४] (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) की रचना हुई।[५] ये सभी प्रयत्न वेद की रक्षा के लिये ही किये गये हैं। क्योंकि विना अर्थ ज्ञान के न वेद की रक्षा हो सकती है और न वेद को वेद ही कह सकते हैं।[६] अत एव वेद की रक्षा के लिये अतन्द्रित होकर[७] षडङ्ग सहित वेदाध्ययन करने का विधान किया गया है।[८] इस विधान से यह भी सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि अर्थज्ञान के विना वेद की रक्षा नहीं हो सकती है। यदि होती तो न षडङ्गों की रचना ही होती और न ही उसके अध्ययन का विधान ही करते। साथ में अर्थराहित्य पाठमात्र की निन्दा[९] भी नहीं की जाती। अस्तु।

---

* यह लेख लेखक के द्वारा लिखित "शिक्षाशास्त्रम्" ग्रन्थ की भूमिका है।

१. बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्र॑म् (ऋ० १०.७१.१)।

२. ऋषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० १०.७१.३)। अपि च द्र०— शत०ब्रा० ११.५.८, मनु० १.२३, मी०शा०भा० ३.३.२ आदि।

३. अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थनिवं मन्त्रान्तरैरपि। शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः॥ (वेंकटमाधवः, ऋग्भाष्यानुक्रमणी)

४. षडङ्गों की विद्या संहिताकाल से ही थी। क्योंकि विना शिक्षा और व्याकरण के ज्ञान के क्रमशः वेद का अध्ययन - अध्यापन एवं पदपाठ सम्भव नहीं है। अतः यहाँ षडङ्गों का तात्पर्य पाणिन्यादि के द्वारा विरचित शिक्षादि ग्रन्थों का ग्रहण है।

५. द्र०— निरु० १.२०।

६. वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति (उद्योगः, म०भा०पस्प०, आगमः खल्वपि)।

७. वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथा कालमतन्द्रितः (मनु०४.१४७)।

८. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति, रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् (म०भा०,पस्प०)।

९. उ॒त त्वः॒ पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्वः॑ शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।(ऋ० १०.७१.४)
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।(निरु० १.१८)
यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढः खरवद् वहन्ति॥ (सु०, सूत्र० ४.३)
न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टो वै द्विजोत्तमः। पाठमात्रावसानस्तु पङ्के गौरिव सीदति॥ (औ०स्मृ० ३.८१)
वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चापि यत्। अजानतोऽर्थं तत्सर्वं तुषाणं खण्डनं यथा॥
यथा पशुर्भारवाही न तस्य भजते फलम्। द्विजस्तदर्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते॥
योऽधीत्य विधिवद् विप्रो वेदार्थं न विचारयेत्। स सान्वयश्शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते॥
पाठमात्रपरान्नित्यं द्विजातींश्चार्थवर्जितान्। पशूनिव स तान् प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्॥ (ल० व्या० स्मृ०)
नदीहीनमिमं देशं दृष्ट्वा खिद्यति मे मनः। अर्थावबोधरहितं श्रुतिपाठमिवाधिकम् [स्क०पु० २(१). ३२.४०]

१. वेदाङ्ग (षडङ्ग) और उनकी उपयोगिता—

'अङ्ग्यते ज्ञायते वेदार्थ एभिरित्यङ्गानि, वेदानामङ्गानि वेदाङ्गानि' अर्थात् जिनकी सहायता से वेदों का अर्थ जाना जाता है, उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वे छह हैं, अतः उन्हें 'षडङ्ग' भी कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. शिक्षा, २. व्याकरण, ३. निरुक्त, ४.कल्प, ५. छन्द, ६. ज्योतिष।

१.१ शिक्षा— वर्णों वा शब्दों के एवं उदात्तादि स्वरों के शुद्धाशुद्ध उच्चारण का परिज्ञान इस शास्त्र से होता है। यह परिज्ञान वेदार्थ और लौकिक व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

१.२ व्याकरण— यह शब्द के स्वरूप को बतलानेवाला शास्त्र है। जिससे लौकिक एवं वैदिक शब्दों का अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे कि ऋग्वेद में कहा गया है—

'उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः'(ऋ०१०.७१.४) अर्थात् वैयाकरण को शब्द का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है, उसके लिए कुछ भी अप्रत्यक्ष (अज्ञात) नहीं रहता।

१.३ निरुक्त— यह प्रधानतया शब्द के अर्थ का प्रतिपादक शास्त्र है। यह व्याकरण का ही पूरक शास्त्र है।[1]

व्याकरण और निरुक्त में भेद यह है कि व्याकरण प्रधानतया शब्द के स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है, इसमें अर्थ पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता है। जबकि निरुक्त विशेष रूप से शब्दार्थ पर ही बल देता है, न कि शब्द के स्वरूप पर।[2] जैसे कि 'हस्त' शब्द को सिद्ध करना है तो वैयाकरण 'हस्' धातु से 'तन्' प्रत्यय कर सिद्ध कर लेता है— **'हसतीति हस्तः'** (द्र०— पं०उ० ३.८६, द०उ० ६.७, भानुजीदीक्षित— अमर०२.६.८६)। पर यहाँ अर्थतः 'हस्' धातु का 'हस्त' (हाथ) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जब कि नैरुक्त इसे 'हन्' धातु से सिद्ध करता है— **'हन्तीति हस्तः'**। क्योंकि मारने योग्य को शीघ्रता से झटिति मारनेवाला केवल हाथ ही है— **'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने'** (निरु० १.७)।[3] अब 'हन्' धातु से 'हस्त' कैसे बनेगा ? यह वैयाकरण के लिए छोड़ दिया जाता है। अर्थात् बहुल से 'न्' को 'स्' का आदेश करना या 'न्' का लोप कर 'स्' का आगम करना यह वैयाकरण का कार्य है। इसप्रकार ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के परस्पर पूरक हैं। इन दोनों से ही शब्द-शास्त्र पूर्ण होता है।

इन दोनों शास्त्रों में यह भी भेद है कि व्याकरण लौकिक एवं वैदिक शब्दों के लिए समान रूप से उपयोगी है, तो निरुक्त विशेष कर वैदिक-शब्दों के लिए उपयोगी है।

१.४ कल्प— यह यज्ञ, याग आदि वैदिक कर्मों के स्वरूप का बोधक शास्त्र है और मन्त्रविनियोग का प्रतिपादक है। मन्त्रविनियोग अर्थानुसारी होता है— **'अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्०'** (पू०मी० ९.१.३६)। अतः विनियोग-ज्ञान मन्त्रार्थ में सहायक होता है।

१.५ छन्द— यह विविध छन्दों में निबद्ध गद्यात्मक वा पद्यात्मक मन्त्रों के स्वरूप को बतलाने वाला शास्त्र है। **'गायत्र्या यजति'** इत्यादि विधिवाक्यों के अर्थनिर्णय में यह शास्त्र उपयोगी है। इसप्रकार यह कर्मानुष्ठान द्वारा वेदोपकारक है ही, साथ में साक्षात् भी वेदार्थ में उपकारक है।[4]

१.६ ज्योतिष— यह वैदिकस्वाध्याय और कर्मानुष्ठान के योग्य काल आदि का प्रतिपादक शास्त्र है।

---

१. निरुक्तं तु व्याकरणस्यैव कार्त्स्न्यम् (पद० पृ०२)। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च (निरु०१.१५)।

२. अर्थो नित्यः परीक्षेत......न संस्कारमाद्रियेत (निरु० २.१)।
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः (निरु० १.१५)।

३. रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो०ब्रा० १.१.२६) के न्याय से नैरुक्तों का हन्-धातु से हस्त को सिद्ध करना ही अधिक उचित है।

४. द्र० यु०मी० विरचित वैदिकछन्दोमीमांसा और लेखक का 'देवस्य पश्य काव्यम्' लेख (१.२; पृ०९)।

साथ में वेदमन्त्रों में वर्णित खगोलीय विज्ञान को समझने में भी अत्यन्त सहायक है।

२. षडङ्ग और शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता—

२.१. षडङ्गों की प्राचीनता— षडङ्ग और वेदाङ्ग शब्दों एवं उनके नामों का प्रयोग कई प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैसे कि —

नाषडङ्गविदत्रासीत् ० (रामा०, बाल० १४.२१)।
वेदात् षडङ्गानुद्धृत्य० (म०भा०, शान्ति० २८४.१९२)।
षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे (गो०ब्रा० १.१.२७)।
वेदं च वेदाङ्गानि च (निरु० १.२०)।
षडङ्गो वेदोऽध्येयः (म०भा०, पस्प०)।
वेदाङ्गानि षट् (प्रस्थानभेद)।
स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयम्० (छां०उ० ८.३.३)।
तस्मादियं व्याकृता वाक् (तै०सं० ६.४.७.५)।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नम्० (रामा०, किष्किन्धा० ३.२९)।
सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते (म०भा०, उद्योग० ४३.६१)।

२.२ शिक्षाशास्त्र की प्राचीनता— ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट तथा ज्ञात होता है कि वेदाङ्ग (षडङ्ग) पर्याप्त प्राचीन हैं। तदन्तर्गत शिक्षाशास्त्र के नाम का उल्लेख तथा इसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी प्राचीन वैदिक वाङ्मय में मिलता है। यथा—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति (मु०उ० १.१.५)।
शिक्षां व्याख्यास्यामः वर्णः स्वरः। मात्रा.... (तै०उ० २.१)।
किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षकाः[1] **किमुच्चारयन्ति** (गो०ब्रा० १.१.२४)।

पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग—

तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त-अकार उकारो मकार इति। (ऐ०ब्रा० २५.३२)।
किं स्थानमित्युभावोष्ठौ स्थानं नादानुप्रदानकरणौ च द्वयस्थानं सन्ध्यक्षरमवर्ण-लेशः कण्ठ्यो यथोक्तशेषः पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च द्वितीयस्पृष्टकरणस्थितश्च न संयोगो... (गो०ब्रा० १.१.२७)।
को विकारी कतिमात्रः कति वर्णः कत्यक्षरः (गो०ब्रा० १.१.२४)।
यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि (सं०उ०ब्रा० खण्ड—२)।
अ उ इत्यर्धचतस्रो मात्रा मकारे व्यञ्जनमित्याहुः (गो०ब्रा० १.१.२५)।
ओंकारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः ओंकारः सामवेदे (गो०ब्रा० १.१.२५)।
पृथिव्या रूपं स्पर्शा अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवःस्वरा अग्ने रूपं स्पर्शा वायोरूष्माण आदित्यस्य स्वरा ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शा यजुर्वेदस्योष्माणः सामवेदस्य स्वराश्चक्षुषो रूपं स्पर्शाः श्रोत्रस्योष्माणो मनसः स्वराः प्राणस्य रूपं स्पर्शा अपानस्योष्माणो व्यानस्य स्वराः (ऐ०आ० ३.२.५, द्र० शांख०आ० ८.८; छां०उप० २.२२.३-५; बृ० उप० १.३.२५-२७)।

इन रेखांकित पारिभाषिक शब्दों से भी सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्व ही

१. 'शिक्षकाः' इस शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गो०ब्रा० के रचना काल तक अनेकत्र शिक्षाशास्त्र के पठन-पाठन की परम्परा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

शिक्षाशास्त्र का प्रादुर्भाव हो चुका था।

३. शिक्षाशास्त्र का महत्त्व और आवश्यकता –

वाक्तत्त्व (भाषा) एक ऐसा अलौकिक साधन है, जिससे मनुष्य को मानवता प्राप्त होती है, ज्ञानवर्धन होता है, मोक्ष की प्राप्ति होती है[१], देवत्व, ऋषित्व एवं वैदुष्य उपलब्ध होते हैं[२], एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण हो सकता है या संगठित हो सकता है[३]। वाणी की महिमा का इससे अधिक वर्णन क्या करें, मानों इसमें सम्पूर्ण संसार समाया हुआ है।[४] इस दिव्य ज्योति के विना निखिल जगत् घोर अन्धकारमय दीखता है।[५]

उक्त महिमा-मण्डित वाणीतत्त्व (भाषा) तब तक सुशोभित है, जब तक वह अपने शुद्धस्वरूप में सुरक्षित है, अर्थात् वह यथायथ शुद्ध उच्चारित होता है। यथावदुच्चारण न होने से अर्थ का अनर्थ होकर उक्त महिमा धराशायी हो जाती है। शब्दपारावारपारीण महर्षि पतञ्जलि ने निर्देश भी किया है कि –

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (म०भा०पस्प; तु०- ना०शि० १.१.५)

उदात्तादि स्वर एवं वर्णों (स्वर और व्यञ्जनों) का यथावत् उच्चारण न होने से कितना अनर्थ होता है, एतदर्थ एक और वचन उद्धृत करते हैं –

प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते।
यज्ञेषु यजमानस्य रुशत्यायुः प्रजां पशून्॥ (ना०शि० १.१.६)

यह शुद्धोच्चारण केवल मन्त्रों एवं यज्ञों के लिए ही अनिवार्य नहीं है, अपितु लौकिक भाषा के लिए भी अत्यन्तावश्यक है। कहा भी गया है –

यद्यपि पुत्र! बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

अतः वर्णों के यथावत् शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करने के लिए एवं लौकिकालौकिक अभीष्ट की सिद्धि के लिए शिक्षाशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है।

४. शिक्षाशास्त्र का परिचय –

यह शास्त्र वैदिक वाङ्मय के काल में प्रादुर्भूत होकर अद्य यावत् पर्याप्त विस्तीर्ण बन गया है। सम्प्रति साठ से अधिक शिक्षाग्रन्थों का वर्णन मिलता है। जिनमें से चौवन (५४) शिक्षायें उपलब्ध होती हैं और शेष सत्तरह (१७) अप्रकाशित हैं।[६] यहाँ इन सभी गन्थों के नाम मात्र का परिचय दिया जा रहा है –

१. शैशिरीयशिक्षा, २. शौनकशिक्षा, ३. स्वराङ्कुशशिक्षा, ४. याज्ञवल्क्यशिक्षा, ५. वासिष्ठीशिक्षा, ६. कात्यायनीशिक्षा, ७. पाराशरीशिक्षा, ८. माण्डव्यशिक्षा, ९. अमोघानन्दिनीशिक्षा, १०. लघु-अमोघानन्दिनीशिक्षा,

---

१. शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मै०उ० ६.२२; म०भा०,शान्ति० २७०.२)।

२. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् (ऋ० १०.१२५.५)।

३. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् (ऋ० १०.१२५.३)।

४. वाचा हीदं सर्वं कृतम् (शत० ८.१.२.२) ; शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी (वा०प० १.१०९)।
वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च। तस्माद् वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्॥ (भ०ना०शा० १५.३)

५. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (का० १.४)
वागूरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ (वा० प० १.१२४)।

६. इन ग्रन्थों के परिचय के लिए ३.२. 'अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों का परिचय' (पृ० १९८) लेख को देखें।

११. माध्यन्दिनीशिक्षा, १२. लघु- माध्यन्दिनीशिक्षा, १३. वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा, १४. केशवीशिक्षा (सूत्रात्मिका) [परिभाषांकसूत्रशिक्षा/नवांकसूत्रशिक्षा], १५. केशवीशिक्षा(श्लोकात्मिका) [कारिकावली], १६. हस्तस्वरप्रक्रिया, १७. अवसाननिर्णयशिक्षा, १८. स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टशिक्षा, १९. स्वरभक्तिशिक्षा, २०. स्वराष्टकशिक्षा, २१. गलदृक्शिक्षा, २२. क्रमसन्धानशिक्षा, २३. मनःस्वारशिक्षा, २४. यजुर्विधानशिक्षा, २५. क्रमकारिकाशिक्षा, २६. प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा, २७. वेदपरिभाषासूत्रशिक्षा, २८.वेदपरिभाषाकारिकाशिक्षा, २९. कौषिकीशिक्षा, ३०. सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा, ३१. कौण्डिन्यशिक्षा, ३२. भारद्वाज/संहिता शिक्षा, ३३.व्यासशिक्षा, ३४. कौहलेयशिक्षा [कौहडेयशिक्षा], ३५. चारायणीयशिक्षा, ३६. सर्वसम्मतशिक्षा, ३७. पारिशिक्षा, ३८. आपिशलिशिक्षा (श्लोकात्मिका), ३९. नवशिक्षा, ४०. नारदीयशिक्षा, ४१. गौतमीयशिक्षा [संयोगश्रृंखलाशिक्षा], ४२. लोमशीयशिक्षा, ४३. माण्डूकीशिक्षा, ४४. वर्णपटलम्, ४५. दन्त्योष्ठविधि, ४६. पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका, आर्चपाठ), ४७. पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका, याजुषपाठ), ४८. षोडशश्लोकीशिक्षा, ४९. कातन्त्रशिक्षासूत्र, ५०, जैनेन्द्रशिक्षासूत्र, ५१. चान्द्रशिक्षा, ५२. आपिशलिशिक्षा (सूत्रात्मिका), ५३. पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मिका, लघुपाठ), ५४. पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मिका, वृद्धपाठ)।

अब अप्रकाशित शिक्षाग्रन्थों के नाम बतलाते हैं–

५५. शमानशिक्षा, ५६. स्वरव्यञ्जनशिक्षा, ५७. गालवशिक्षा, ५८. विलंघ्यं शिक्षा, ५९. पदकारिकारत्नमाला, ६०. त्रैस्वर्यशिक्षा, ६१. शम्भुशिक्षा, ६२. आरण्यशिक्षा, ६३. सिद्धान्तशिक्षा, ६४. बौधायनशिक्षा, ६५. वाल्मीकिशिक्षा, ६६. हारीतशिक्षा, ६७. वासिष्ठशिक्षा, ६८.कालनिर्णयशिक्षा, ६९. पाणिनिशिक्षा (तैत्तिरीय), ७०. आत्रेयशिक्षा, ७१. लक्ष्मीकान्तशिक्षा।

इनमें १ से ३ तक और ५५ से ५६ तक की शिक्षाएँ ऋग्वेदीय हैं। ४ से ३० तक और ५८ से ६० तक की शिक्षाएँ शुक्लयजुर्वेदीय हैं। ३१ से ३९ तक तथा ६१ से ७१ तक की शिक्षाएँ कृष्णयजुर्वेदीय हैं। ४० से ४२ तक की शिक्षाएँ सामवेदीय हैं एवं ४३ से ४५ तक की शिक्षाएँ अथर्ववेदीय हैं। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाद्वय (४६,४७) ऋग्वेदीय वा यजुर्वेदीय माने जाते हैं। शेष ४८ से ५४ तक की शिक्षाएँ किसी वेद वा शाखा से सम्बन्धित नहीं हैं।

इन सभी में केवल पाणिनीयशिक्षा को ही वेदाङ्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है। उनमें भी सूत्रात्मक पाणिनीयशिक्षा ही पाणिनिविरचित है तथा वही वेदाङ्ग है। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाद्वय न पाणिनीय हैं और न ही वेदाङ्ग हैं। क्योंकि ये पाणिनि के मतानुसार अन्यविरचित हैं। इस बात की पुष्टि निम्न श्लोकों से होती है –

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा॥१॥

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥५७॥ (अपि च द्र०–५८,५९)

सूत्रात्मक शिक्षा भी द्विविधा है – १. लघुपाठ, २. वृद्धपाठ।

१. लघुपाठ– यह पाणिनि मुनि विरचित है। जो कि मध्यकाल में श्लोकात्मक शिक्षा के प्रचलन से लुप्त हो गयी थी। परन्तु महर्षि दयानन्द के अत्यन्त परिश्रम पूर्वक अन्वेषण से पुनः इसका उद्धार हुआ। उन्हें इसका एक जीर्ण एवं खण्डित हस्तलेख वि०सं० १९३६ (सन् १८७९) में प्रयाग के किसी ब्राह्मण के घर पर मिला। इसे महर्षि ने आर्यभाषा में व्याख्या लिखकर 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से छपवाया है।

२. वृद्धपाठ – म०म०पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के प्रयत्न से इसका मूलपाठ सन् १९५३ में प्रथम वार प्रकाशित हुआ है। प्रकृत ग्रन्थ इसी सूत्रपाठ पर लिखा जा रहा है।

५. शिक्षाप्रवेश

५.१ वर्णसमाम्नाय –

स्वर			व्यञ्जन									
ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	स्पर्श					अन्तस्थ	ऊष्म	अयोगवाह		
अ	आ	अ३[1]	कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग			यम		
इ	ई	इ३	क	च	ट	त	प	य	श	ः	कुँ	
उ	ऊ	उ३	ख	छ	ठ	थ	फ	र	ष	≍क	खुँ	
ऋ	ॠ	ऋ३	ग	ज	ड	द	ब	ल	स	≍प	गुँ	
लृ		लृ३	घ	झ	ढ	ध	भ	व	ह	ं	घुँ	
	ए	ए३	ङ	ञ	ण	न	म					
	ऐ	ऐ३										
	ओ	ओ३										
	औ	औ३										
५	८	९	५	५	५	५	५	४	४	४	४	
२२			२५					४	४	८		
सम्पूर्ण स्वर २२			सम्पूर्ण व्यञ्जन ४१									६३

५.२ शिक्षा के पारिभाषिक शब्द –

प्रत्येक शास्त्र में कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं। जब तक उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाता, तब तक उस-उस शास्त्र में प्रवेश दुष्कर हो जाता है। अतः शिक्षा-शास्त्र में प्रवेशार्थ यहाँ एतत्‌शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द सविवरण दिये जा रहे हैं–

१. **वर्ण**– **'वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णाः'** (तै०प्रा०– वै०आ० १.१) अर्थात् जो वर्णित होते हैं, स्पष्टरूप से ध्वनित=उच्चारित होते हैं, उन्हें वर्ण कहा जाता है। अथवा **'वर्ण्यन्ते वर्णनीयविषया भावा अभिप्राया वा एभिरिति वर्णाः'** अर्थात् मनुष्य अपने वर्णनीयविषयों भावों वा अभिप्रायों का जिनसे वर्णन करता है, उन्हें वर्ण कहते हैं।[2]

यह वर्णसंज्ञा स्वर और व्यञ्जन दोनों के लिए प्रयुक्त होती है– **'वर्णशब्देन स्वरव्यञ्जनात्मको राशिरुच्यते'** (– त्रि०र०, तै०प्रा० २२.१)। अर्थात् स्वर (अच्) तथा व्यञ्जन (हल्) संज्ञी हैं और इनकी संज्ञा 'वर्ण'

१. लेखन में वर्णों की प्रस्तुति का नाम लिपि है। प्रारम्भ के पाँच प्लुत वर्णों को दो रूपों में लिखा जा सकता है– अ३ या आ३, इ३ या ई३, उ३ या ऊ३, ऋ३ या ॠ३, लृ३ या लॄ३। लृ वर्ण का दीर्घ रूप तो होता ही नहीं फिर 'लृ' का प्लुत लेखन 'लॄ३' इस रूप में कैसे हो सकेगा? यह संशय उत्पन्न नहीं होना चाहिए। क्योंकि इन सब स्थानों में दीर्घ को प्लुत नहीं किया गया है, अपितु वे सब स्वतन्त्र प्लुत वर्ण ही हैं।

२. अपि च द्र० ३.५ 'वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त' लेख का आद्य पृष्ठ (२५४)।

है। इन सभी वर्णों की प्रकृति शब्द (ध्वनि) है[१]— **'शब्दः प्रकृतिस्सर्ववर्णानाम्'** (तै०प्रा० २२.१)। इन वर्णों से उत्तर 'कार' शब्द या प्रत्यय जोड़ कर इनका कथन (अभिधान, निर्देश) किया जाता है— **'वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या'**[२] (तै०प्रा० १.१६)। जैसे कि— अकारः, इकारः, ककार[३] इत्यादि। अथवा 'इति' शब्द के द्वारा भी किया जा सकता है— **'निर्देश इतिना'** (वा०प्रा० १.३६)। तद्यथा— अ इति, इ इति, किति, गिति आदि। परन्तु 'र्' वर्ण का 'कार' के द्वारा निर्देश नहीं करना चाहिए, अपितु 'इति' के द्वारा अथवा 'एफ' के द्वारा ही निर्देश करना चाहिए— **'र एफेन च'** (वा०प्रा० १.३९) जैसे कि— रिति, रेफ। सभी प्रकार के व्यञ्जनों[४] का अकारादि स्वरों के द्वारा भी निर्देश किया जा सकता है — **'स्वरैरपि'** (वा०प्रा० १.४०)।[५] यथा— **'ङ-ञ-ण-न-माः स्वस्थाननासिकास्थानाः'** (शिक्षा— १.२१)।

[६] **प्रयोग** — सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके (१.६)।
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो.....अन्तस्थवर्णकारो......
ऊष्मस्वरवर्णकारो.....(५.१-३)।
एष क्रमो वर्णानाम् (७.१)। इत्यादि

२. वर्णसमाम्नायः[७]— **सम् = सहभावः, आम्नायः = अभ्यासः। वर्णानां समाम्नायो वर्णसमाम्नायः। यत्र अकारादिवर्णानां समुदायस्यानुपूर्व्येणाभ्यासः = पाठः क्रियते स वर्णसमाम्नायः।**[८] अर्थात् जहाँ अकारादि वर्णों के समुदाय का आनुपूर्व्य (यथाक्रम) से अभ्यास = पाठ किया जाता है, उसे वर्णसमाम्नाय कहते हैं। अथवा **'वर्णा यस्मिन् समाम्नाये (= संग्रहे) पठ्यन्ते स वर्णसमाम्नायः'** (उवटः, वा०प्रा० ८.१) अर्थात् जिस संग्रह में वर्णों का पाठ किया जाता है, वह वर्णसमाम्नाय कहलाता है। इसे वर्णराशि, वर्णसंग्रह, वर्णोपदेश, वर्णमाला, वर्णकोष, अक्षरसमाम्नाय वाक्समाम्नाय, वाचोवृत्ति आदि कहते हैं।

३. शिक्षा— **'शिक्ष्यन्ते वर्णा यया शिक्ष्यते वा वर्णानामुच्चारणविधिः यया सा शिक्षा'**। अर्थात् जिसके द्वारा वर्ण सीखे जाते हैं अथवा वर्णों की उच्चारणविधि जिससे सीखी जाती है, उसे शिक्षा कहते हैं।

४. स्थान— **'यत्र वर्णोच्चारणाय करणं स्पृशति तत् स्थानम्।**[९] **यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति तत् स्थानम्।**[१०] **यत्र वा वर्णा उपलभ्यन्त उच्चारणेन श्रूयन्ते तत् स्थानम्। उच्चारणसमये यत् तिष्ठति**

---

१. अर्थात् वर्ण ध्वनिजन्य (नादजन्य) हैं, ध्वनिमात्र नहीं है। एक ध्वनिविशेष को मानव-मुख के स्थानविशेष में आघात करने से 'वर्ण' की उत्पत्ति होती है। इसे व्यक्तध्वनि भी कहते हैं। पशु, पक्षी, ईंट, पत्थर, पानी, घण्टी आदि से उत्पद्यमान ध्वनि से वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इसे अव्यक्तध्वनि कहते हैं।

२. अपि च **'कारेण च'** (वा०प्रा० १.३७)।

३. कारशब्द के द्वारा व्यञ्जनों का निर्देश अकार के व्यवधान से होता है— **'अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य'** (वा०प्रा० १.३८)।

४. अयोगवाहों को छोड़कर।

५. यह नियम अन्य भाषाओं में भी देखा जाता है। यथा— 'आर्' के उच्चारण में रेफध्वनि आकार के द्वारा निर्दिष्ट है। वैसे ही बी, सी, डी, जी, पी आदि वर्णों में 'ब्' आदि व्यञ्जन 'ई' के द्वारा निर्दिष्ट हैं। जे, के, एल्, एफ्, एच्, एम्, एन्, एक्स् आदि में एकार के द्वारा व्यञ्जन निर्दिष्ट हैं। इसीप्रकार पारसी भाषा में भी बे, पे, ते, टे, से आदि वर्णों में देखा जाता है।

६. यहाँ और आगे सर्वत्र प्रयोग शब्द से पाणिनीय शिक्षाशास्त्र के प्रयोगस्थल जानें।

७. द्रष्टव्य— तै०प्रा०, वै०आ०, त्रि०र० १.१।

८. यद्यपि शिक्षा के सूत्रों में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है, पुनरपि शिक्षा में यह एक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द होने के कारण आवश्यक समझकर यहाँ दे दिया गया है।

९. तु०— तै०प्रा० २.३३।

१०. **अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते** (उवटः, ऋ०प्रा० १.४९)।

स्थिरं करणवत् चलायमानो न भवति तत् स्थानम्।' अर्थात् वर्णोच्चारण के लिए करण जहाँ स्पर्श करता है, उसे स्थान कहते हैं। अथवा वर्ण जहाँ व्यङ्ग्यत्व से विद्यमान रहते हैं, उसे स्थान कहते हैं। अथवा जहाँ वर्ण उपलब्ध होते हैं, उसे स्थान कहते हैं। अथवा वर्णोच्चारण के समय जो स्थिर रहता है, जिह्वा आदि करण के समान चलायमान नहीं होता, उसे स्थान कहते हैं।

स्थान आठ प्रकार के हैं। वे बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से द्विविध हैं। १. आभ्यन्तर स्थान- कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, (ऊर्ध्व) ओष्ठ और जिह्वामूल, २. बाह्यस्थान - नासिका, उरः।[१] प्रथम निर्वचन के अनुसार नासिका आदि को स्थान नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ किसी करण का स्पर्श नहीं होता। इसीलिये द्वितीय आदि अन्य निर्वचन भी दिखाये गये हैं। महर्षि पाणिनि भी स्वयं शिक्षासूत्र ७.३ पर स्थान का निर्वचन बताया है।

प्रयोग—तत्र स्थानं तावत् (१.१)।
सृक्किणी स्थानमेकेषाम् (१.२१)।
ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः (१.२१)।
शेषाः स्वस्थानकरणाः (२.८) आदि।

५. करण— 'येन स्पर्शयति तत् करणम्' (तै० प्रा० २.३४)— उच्चारणकर्ता जिस अंग से स्थान का स्पर्श करता है, उसे करण कहते हैं। **'येन क्रियन्ते निर्वृत्यन्ते वर्णाः तत् करणम्'** अर्थात् जिसकी सहायता से वर्ण उत्पन्न होते हैं, उसे करण कहते हैं।

प्रथम निर्वचन के अनुसार नासिक्य वर्णों का करण नासिका नहीं बन सकती[२], क्योंकि उससे किसी अवयव का स्पर्श नहीं होता। पर द्वितीय निर्वचन से नासिका भी करण बन सकती है। यतोहि उससे वर्ण उत्पन्न होते हैं। यह 'करण' शब्द साधनवाची है।[३] **'स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः'** (३.४) आदि में प्रयुक्त 'करण' शब्द इससे भिन्न है। क्योंकि वह साधनवाची न होकर 'आभ्यन्तर-प्रयत्नवाची' है (विशेष वहीं देखें)।

वर्णों के उच्चारण में करणभूत (साधनभूत) अवयव तीन हैं। वे हैं— जिह्वा, (अधर) ओष्ठ, नासिका।

प्रयोग— स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो० (४)। करणमपि (२.१)।
तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां० (७.२)।

६. स्वर— 'स्वयं राजन्त इति स्वराः',[४] (म० भा० १.२.२९) जो विना किसी की सहायता के ही स्वयं प्रकाशित, उच्चारित होते हैं, उन्हें स्वर कहते हैं।[५] **'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धातु० भ्वा० ६६६) धातु से करण व कर्म में 'अच्' प्रत्यय करने से निष्पन्न 'स्वर' शब्द का निर्वचन इस प्रकार होगा—**'स्वर्यते शब्यत उच्चार्यते व्यञ्जनमेभिः स्वर्यन्ते शब्यन्ते वेति स्वराः'**। अर्थात् जिनकी सहायता से व्यञ्जन उच्चरित होते हैं अथवा जो स्वयं विना किसी की सहायता के उच्चरित, ध्वनित होते हैं, वे स्वर कहलाते हैं।

स्वरों का उच्चारण विना किसी की सहायता के अर्थात् अन्य किसी वर्ण की सहायता लिए विना ही और स्थानों के स्पर्श के विना ही (प्रयत्नविशेष के विना ही) स्पष्टता से देर तक होता है। इसीलिये इन्हें स्वयं प्रकाशित (उच्चरित) वर्ण कहा गया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक आदि धर्म इन स्वरों पर

---

१. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ (शिक्षा ८.२८)

२. शेषाः स्वस्थानकरणाः (२.८)।

३. साधकतमं करणं (अष्टा० १.४.४२)।

४. यहाँ 'स्वयं' शब्द से 'स्व' और 'राजन्ते' शब्द से 'र' का ग्रहण किया गया, इससे 'स्वराः' शब्द व्युत्पन्न हो गया और अर्थ का प्रतिपादन भी।

५. यही भाव स्वरों के लिए विहित 'अक्षर' संज्ञा से भी ध्वनित होता है। विशेष आगे 'अक्षर' संज्ञा की व्याख्या में देखें।

ही आश्रित हैं। अर्थात् स्वर इन धर्मों के धर्मी हैं।[1]

प्रयोग — विवृतकरणाः स्वराः (३.८)।

ऊष्मस्वरवर्णकारो० (५.३)।

उदाहरण — अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३ ....।

७. व्यञ्जन — **'अन्वग्भवति व्यञ्जनम्'**[2] (म०भा० १.२.२९) अर्थात् जो स्वरों का अनुगमन करता है, वह व्यञ्जन कहलाता है। **'व्यज्यते स्वरसाहाय्यमादायोच्चार्यत इति व्यञ्जनम्'** अर्थात् जो स्वर की सहायता से ही उच्चरित होता है, व्यक्त होता है, उसे व्यञ्जन कहते हैं। आचार्य उवट का कहना है — **'व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि'** (उवटः, ऋ०प्रा० १.६) अर्थात् जो वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। जैसे — कूपः, यूपः, सूपः, धूपः आदि। इनमें स्वर समान हैं, पर व्यञ्जन भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता के कारण से ही इन शब्दों में अर्थभेद हुआ है। व्यञ्जनों के विषय में भाष्यकार लिखते हैं — **'व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा — नटानां स्त्रियो रङ्गता यो यः पृच्छति कस्य यूयमिति, तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते, तं तं भजन्ते'** (म०भा० ६.१.२)। अर्थात् व्यञ्जन नट की भार्या के समान होते हैं। जैसे कि — नटों की रङ्गगत स्त्रियों को जो भी यह पूछता है कि तुम किसकी हो? तो वे उत्तर देती हैं कि तुम्हारी - तुम्हारी। अर्थात् वे स्त्रियाँ (नटी) विविध नटों की होती हैं, अतः विविध नटों के साथ विविध धर्मवती (गुणवती) होती हैं। इसीप्रकार नटीस्थानी व्यञ्जन भी नटरूप अचों (स्वरों) के होते हैं। अर्थात् विविध स्वरों के साथ युक्त होकर तद्धर्मत्व से विविध धर्मवान् होते हैं।[3] वे धर्म कौन से हैं? उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि। जहाँ कहीं भी स्वरों के उदात्तादि कार्य का विधान किया गया हो, वहाँ - वहाँ व्यञ्जन भी तत्तद् उदात्तादि धर्मवान् होते हैं।[4] इसप्रकार स्वरों के विविध धर्मत्व को प्राप्त करना ही व्यञ्जनों का अन्वञ्जन (अनुगमन) है।

प्रयोग — अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते (व०शि० ७.३)।

उदाहरण — क्, ख्, ग् आदि।

८. स्पर्श — **'कादयो मावसानाः स्पर्शाः'**[5] (शिक्षा ४.८) — 'क' से लेकर मपर्यन्त २५ वर्णों

१. द्रष्टव्य — अष्टा० १.२.२७, २९-३१। अक्षराश्रयाः (ऋ०प्रा० ३.२)

२. 'अन्वग्भवतीति [अञ्गुणम्] अनुगच्छतीत्यर्थः। शिष्टसमाचाराच्चेदं निर्वचनमभिहितं, न त्वत्र वर्णसादृश्यं किञ्चिदस्ति। अथवा गतिरपि व्यञ्जेरर्थः, विविधं गच्छत्युपरागवशादिति व्यञ्जनमित्ययमर्थः पर्यायान्तरेण भाष्यकारेणाभिहितः। उपरागश्च पूर्वपराच्सन्निधानेऽपि परेणाचा हलो भवति, न पूर्वेण [स्वभाव एवात्र बीजम्]' (प्रदीपः १.२.२९, ३०)। अर्थात् भाष्यकार ने व्यञ्जन का निर्वचन 'अन्वग् भवति' इस शब्द से किया है। विपूर्वक 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (धातु० रु० २०) धातु से **'कृत्यल्युटो बहुलम्'** (अष्टा० ३.३.११३) सूत्र से कर्त्ता में ल्युट् मानकर उक्त शब्दसिद्धि की है। यद्यपि यहाँ अन्वग् और व्यञ्जन में कोई वर्ण सादृश्य प्रतीत नहीं होता, पुनरपि भाष्यकार ने शिष्ट परम्परा से प्राप्त निर्वचन को दर्शा दिया है। अथवा यह समझा जा सकता है कि यहाँ व्यञ्ज् धातु के गति अर्थ को लेकर अन्वग् शब्द के द्वारा उसको अर्थापित कर दिया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुगमन करनेवाला व्यञ्जन होता है, तो वह किस का अनुगमन करता है? इसके उत्तर में आचार्यों का कहना है, अच् के जो उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि गुण हैं, उनका वह अनुगमन करता है और शब्दशक्ति स्वभाववश पूर्व पर दोनों अचों का सन्निधान होने पर भी परवाले अच् के द्वारा पूर्ववाला हल् प्रभावित होता है, न कि पूर्ववाले अच् के द्वारा पर वाला हल्। जैसे — 'पचति' आद्युदात्त शब्द है, जिसके कारण 'च' स्वरित है, तो चकार पकारोत्तर अकार से प्रभावित न होकर चकारोत्तर अकार का ही अनुगमन करनेवाला होगा।

३. यो हि यमनुगच्छति स तद्वत् विविधं गच्छति (उद्योतः, म०भा० १.२.२९)।

४. व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् (वा०प्रा० १.१०७)।

५. संज्ञाकरणसूत्र — ऋ०प्रा० १.७, तै०प्रा० १.७, वा०प्रा० ८.८-१३, वर्ण०शि० १३।

(व्यञ्जनों) की स्पर्श संज्ञा है। इनके उच्चारण में जिह्वा स्व-स्व स्थान में पूर्ण स्पर्श करती है, इसलिए इन्हें स्पर्श कहते हैं— **'स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शाः'** (वै० आ०, तै० प्रा० १.७)। इनके उच्चारण में मुख के दो अवयवों (स्थान और करण) का पूर्ण स्पर्श होने से वायु क्षणभर के लिए अवरुद्ध होती है एवं सम्पृक्त अवयव जैसे ही एक दूसरे से पृथक् होते हैं, वैसे ही अवरुद्ध वायु पुनः बाहर निकलती है।

प्रयोग— स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः (३.४)।
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत्० (५.१)।

९. वर्ग— **'स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः'**[1] (तै० प्रा० १.१०) अर्थात् उक्त स्पर्श संज्ञक २५ वर्णों के यथाक्रम पाँच-पाँच वर्णों के समूहों की वर्ग संज्ञा है और वे वर्ग पाँच बनते हैं। जैसे कि— क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म।

इनमें से प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के बाद वर्ग शब्द जोड़कर उस उस वर्ग का नाम रखा जाता है— **'प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या'** (तै० प्रा० १.२७)। तद्यथा— कवर्गः[2], चवर्गः आदि। अथवा प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण में 'उ' लगाकर भी उस-उस वर्ग का ग्रहण किया जाता है— **'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः'** (अष्टा० १.१.६८)। जैसे कि कु, चु आदि। अथवा प्रथम वर्ण को कार-प्रत्यय के साथ 'वर्ग' शब्द को जोड़कर भी वर्ग का अभिधान किया जाता है। जैसे— **'मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ, दन्तमूलीयस्त॒ तकारवर्गः'** (ऋ० प्रा० १.४३, ४४), **पकार-वर्गोपहिताच्च०'** (ऋ० प्रा० १४.५३)।

प्रयोग— वर्गाणाम्० (४.२.४)।
वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः (६.१.१३)।

१०-१४. प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम - **'प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः'** (तै० प्रा० १.११) प्रत्येक वर्ग के क्रमानुसार प्रत्येक वर्ण प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और उत्तम (पञ्चम) संज्ञक होते हैं।

प्रयोग— वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः....... । वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः[3].......।
यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः। सस्थानेन द्वितीयाः।
हकारेण चतुर्थाः (४.२, ४, ६, ११, १२)।

१५. अनुनासिक— **'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'** (अष्टा० १.१.८) अर्थात् जो वर्ण मुख के साथ-साथ नासिका से भी बोला जाता है, वह अनुनासिक कहलाता है। यह महती संज्ञा अन्वर्थ की द्योतिका है। जो कि इसप्रकार है— **'अनु = पश्चात् मुखस्य व्याप्रियते यस्मिन् इत्यनुनासिकः'** (द्र० न्यासः १.१.८)। **'नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते'** (उवटः, ऋ० प्रा० १.१४)। जैसे कि अँ, आँ, इँ ...आदि। ङ्, ञ्, ण्.....आदि। यँ, लँ, वँ।

इन अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में 'अलिजिह्वा' (कौवा) न ही कठोर होकर नासिका के द्वार को बन्द करती है और न ही शिथिल होकर मुखद्वार को ही बन्द करती; अपितु मध्यम स्थित में रहकर दोनों (मुख और नासिका) को खुला रखती है। फलस्वरूप वायु मुख एवं नासिका दोनों में प्रविष्ट होती है। अतः अनुनासिक वर्ण

१. पञ्च ते पञ्चवर्गा (ऋ०प्रा० १.८)।
२. कघटितो वर्गः कादिर्वर्गो वा कवर्गः— समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च (का० २.१.६०) इति समानाधिकरणतत्पुरुषः।
३. इन सूत्रों में प्रथमादि संज्ञायें यमों के लिए भी प्रयुक्त हैं। इनके विषय में 'यमविवेचन' (३.७; पृ० २८३-२८५) शीर्षक लेख में विस्तृत चर्चा करेंगे।

दोनों स्थानों से उच्चरित होते हैं।

प्रयोग— आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः (४.७)।

०आनुनासिक्यभेदाच्च..... (६.२)।

अन्तस्था द्विप्रभेदाः रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च (६.११)।

१६. ऊष्म[१]— **'ऊष्मवायुप्रधाना वर्णा ऊष्माणः'**[२] अर्थात् जिन वर्णों के उच्चारण में प्रधान (विशेष) रूप से ऊष्म वायु मुख से निकलती हो, उन्हें ऊष्म वर्ण कहते हैं। इनके उच्चारण में स्पर्श वर्णों के तुल्य न ही मुख के अवयवों का पूर्ण स्पर्श ही होता है और न ही वायु अवरुद्ध होती है, अपितु थोड़ा सा स्पर्श होता अर्थात् दो अवयवों (स्थान और करण) के मध्य में स्वल्प रिक्त स्थान रहता है। फलतः इस संकीर्ण भाग से निष्क्रम्यमाण वायु का दोनों अवयवों से घर्षण होता है। अत एव इन वर्णों को **'संघर्षी'** (Fricatives) भी कहते हैं। इस संघर्षण के कारण वायु में ऊष्मता उत्पन्न होती है। इसीलिये एतज्जन्य वर्णों को **'ऊष्म'** कहते हैं। और इन वर्णों के उच्चारण में वायु अवरुद्ध न होकर अविच्छिन्न गति से बाहर निकलती है। अतः इन्हें **'वायुप्रधान'** वर्ण भी कहते हैं।

वे ऊष्म वर्ण हैं— श,ष,स,ह।

प्रयोग— ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः (३.६)।

शादय ऊष्माणः (४.१०)। ऊष्मस्वरवर्णकारो० (५.३)।

रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (६.१२)।

१७. अन्तस्थ[३]— **'स्पर्शोष्मणोर्वा स्वरस्पर्शयोर्वाऽन्तः मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तस्थाः'** [४] अर्थात् स्पर्शसंज्ञक वर्णों और ऊष्मसंज्ञक वर्णों के मध्य में जो विद्यमान रहते हैं, उन्हें 'अन्तस्थ' कहते हैं अथवा स्वर एवं स्पर्श वर्णों के मध्य में जिनका उपदेश व स्थान है, वे अन्तस्थ संज्ञक हैं। वे वर्ण हैं— य व र ल।

ये अन्तस्थ वर्ण लोक-प्रचलित वर्णमाला में स्पर्श और ऊष्म वर्णों के मध्य रहते हैं। इनके उच्चारण में न तो स्पर्श वर्णों के सदृश करण का अपने-अपने स्थान में पूर्ण स्पर्श ही होता है और न ही स्वरों के तुल्य करण के स्पर्श का अभाव ही होता है, अपितु थोड़ा स्पर्श होता है और थोड़ा स्पर्श नहीं भी होता है।[५] अतः इस प्रयत्न की दृष्टि से इनकी गणना स्वर और स्पर्श वर्णों के मध्य में की जाती है। जैसा कि अष्टाध्यायी के प्रत्याहार सूत्रों में पढ़े गये हैं।[६] यणादेश की दशा में इक् (इ उ ऋ लृ) वर्ण यण् (य्, व्, र्, ल्) के रूप में परिवर्तित होते हैं और सम्प्रसारण की दशा में यण् (अन्तःस्थ) वर्ण इक् के रूप में रूपान्तरित होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अन्तस्थ वर्णों का इक् वर्णों के साथ साधर्म्य है। वह साधर्म्य अच्त्व धर्म ही है। अर्थात् अन्तःस्थ व्यञ्जन होते हुए भी इनमें अच्त्व भी है। इसीलिए इन्हें **'अर्धस्वर'** भी कहते हैं।

प्रयोग— ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः (३.४)।

अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत् (५.२)।

अन्तस्था द्विप्रभेदा० (६.११)।

---

१. संज्ञाकरणसूत्र— ऋ०प्रा०१.१०, तै०प्रा० १.९, ऋ०त० १.२, वा०प्रा० ८.१६-१७।

२. ऊष्मा=वायुः, तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः(उवटः,ऋ०प्रा० १.१०)।
ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगाद् ऊष्माणः (वै०आ०, तै०प्रा० १.९)।

३. संज्ञाकरणसूत्र— शिक्षा ४.९, ऋ०प्रा० १.९, तै०प्रा० १.८, वा०प्रा० ८.२४,१५, च०अ० १.२।

४. द्र०— उवट, ऋ०प्रा०१.९। जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तैर्जन्यत्वाद् यरलवा अन्तस्था इत्याख्यायन्ते (वै०आ०, तै०प्रा० १.८)।

५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः(शिक्षा २.५)।

६. ऐ औ च्। ह य व र ट्। ल ण्। ञ म ङ ण न म्।......(अष्टा०)।

१८. रेफ— **'रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यत इति रेफः'**(वै०आ०, तै०प्रा० १.१९) अर्थात् वस्त्रादि के फाड़ने में जो ध्वनि होती है, उसके सदृश जिसका उच्चारण होता है, उसे रेफ कहते हैं।

यद्यपि **'रादिफः'** (वा० ३.३.१०८) से अवर्ण-युक्त 'र' वर्ण[1] से 'इफ' प्रत्यय करके 'रेफ' शब्द बनाया जाता है।[2] पुनरपि कहीं-कहीं संज्ञा के रूप में गृहीत होने के कारण यहाँ इसका निर्वचन दिखाया गया है। 'र' वर्ण से कार-प्रत्यय जोड़कर 'रकार' ऐसा प्रयोग करना अशुद्ध है। अतः यहाँ अत्यन्त सावधानी वर्तनी चाहिए।

प्रयोग— रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् (१.१०)।
अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः० (६.११)।
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (६.१२)।

१९. विसर्जनीय — **'अः इति विसर्जनीयः'**(वा०प्रा० ८.२२, ऋ०तं० १.२)— 'अः' इस वर्ण की विसर्जनीय संज्ञा है। यहाँ अवर्ण केवल उच्चारण के लिए है अथवा स्वरवर्णों का उपलक्षक है। अतः ':' इस बिन्दुद्वयरूप वर्ण मात्र की विसर्जनीय संज्ञा समझनी चाहिए। इसका यौगिक (वि + सृज् + अनीयर्) निर्वचन इस प्रकार है—**'वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वाद् विसर्जनीयः'**(वै०आ०, तै०प्रा०१.१८) अर्थात् शीघ्रता के साथ वायु के विसर्जन से उत्पन्न वर्ण को विसर्जनीय कहते हैं। **'विविधरूपेण सर्जनीय उच्चारणीय इति विसर्जनीयो विसर्गो वा'** अर्थात् विविधरूप से जो उच्चारण करने योग्य है, उसे विसर्जनीय कहते हैं।[3] इसका विसर्ग नाम भी है। विपूर्वक **सृज विसर्गे** (धातु०दि० ६७, तुदा० १२४) धातु से विसर्ग शब्द निष्पन्न होता है। विपूर्वक सृज् धातु का अर्थ विसर्जन, त्यागना होता है। अतः अर्थ होगा **'स्वरात् परं विसर्ज्यः त्याज्यो निक्षेप्यो वेति विसर्गः'** अर्थात् जो स्वर के पश्चात् विसर्जनीय है, त्याज्य [उच्चारणीय] है, वह विसर्ग कहलाता है।

प्रयोग— अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (१.२)।
हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् (१.३)।
०शषसविसर्जनीय ....(४.२)।
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाऽष्टकः (व०शि० ७.३)।

२०. जिह्वामूलीय— **' ᳵक इति जिह्वामूलीयः'** (वा०प्रा० ८.१९) — ' ᳵक' वर्ण जिह्वामूलीय संज्ञक है। **'जिह्वामूलेन जन्यत्वाद् जिह्वामूलीयः'**(वै०आ०, तै०प्रा० १.१८) अर्थात् ' ᳵक' यह वर्ण जिह्वामूल से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम जिह्वामूलीय है। ' ᳵक' में कवर्ण मात्र उच्चारणार्थ है। 'ᳵ' इतने मात्र की जिह्वामूलीय संज्ञा है।

प्रयोग— जिह्वामूलीयो जिह्व्यः (१.४)।
यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् (१.१८)।
०शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीय...(४.२)।

२१. उपध्मानीय— **' ᳶप इत्युपध्मानीयः'** (वा०प्रा० ८.२०)— ' ᳶप' इस वर्ण की उपध्मानीय संज्ञा है। **'उपध्मानेन जन्यत्वाद् उपध्मानीयः'** (तै०प्रा०, वै०आ० १.१८) अर्थात् दीपकादि को बुझाते समय जैसी फूंक मारी जाती है, वैसे = फूंक मारने जैसे प्रयत्न से ' ᳶप' वर्ण की उत्पत्ति होने के कारण उसे उपध्मानीय कहते हैं। यहाँ भी पवर्ण केवल उच्चारणसौविध्य के लिए है, ' ᳶ' इतने मात्र की ही उपध्मानीय संज्ञा है।

जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को अर्धविसर्ग वा अर्धविसर्जनीय भी कहते हैं।[4] क्योंकि विसर्ग का रूप

---

१. अकारसहितादेव स्वरूपादिफप्रत्ययो विधीयते, न तु केवलाद् (वै०आ, तै०प्रा० १.१९)।
२. एफस्तु रस्य (तै०प्रा० १.१९), र एफेन च (वा०प्रा० १.३९)।
३. द्र० शिक्षाशास्त्रम् ग्रन्थ में अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (१.२) सूत्र की व्याख्या।
४. कखत ᳵ पफत ᳶपूर्वः क्रमादर्द्धविसर्गकः। जिह्वामूलीयको ज्ञेय उपध्मानीयसंज्ञकः ।।(षो०शि० ९)

शून्यद्वयात्मक (ꣳ) है, इन दो शून्यों को आधा-आधा (ꣳ) करके, उनके मध्यस्थ भागों का ग्रहण करने पर ' ≍ ' यही रूप बनता है। उच्चारण में भी आधा प्रयत्न विसर्ग के उच्चारण जैसा ही होता है। जिह्वामूलीय (≍क, ≍ख) और उपध्मानीय (≍प, ≍फ) को क्रमशः क, ख, और प, फ से पूर्व लिखने का तात्पर्य, ये दोनों केवल इन्हीं वर्णों से युक्त होते हैं, अन्य वर्णों से नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि महाभाष्यकार ने जकार से पूर्व भी उपध्मानीय माना है। जैसे कि **'अयमु≍ जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते। तस्य जश्त्वे कृते 'उब्जिता','उब्जितुम्' इत्येतद् रूपं यथा स्यात्'** (म० भा० हयवरट्)। स्पष्ट है कि धातुपाठ में पठित **'उब्ज आर्जवे'** (तुदा० २०)≍धातु 'उ जू' के रूप में पठित है और उस उपधाभूत उपध्मानीय को **'झलां जश् झशि'** (अष्टा० ८.४.५६) से जश्त्व होने से ओष्ठ्यत्व सादृश्य के कारण उपध्मानीय के स्थान पर ओष्ठ्य 'ब्' आदिष्ट हो गया है। अतः स्पष्ट है कि उपध्मानीय अन्य वर्णों से पूर्व भी प्रयुक्त होता है। क, ख, एवं प,फ वर्णों से पूर्व जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का स्पष्ट उच्चारण होने के कारण उन्हीं वर्णों से पूर्व लिखा जाता है।

प्रयोग— उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः (१.१५)।

०शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया ......(४.२)।

२२. अनुस्वार— 'अं इत्यनुस्वारः'[१] (वा०प्रा० ८.२१) 'अं' इस वर्ण की अनुस्वार संज्ञा है। यहां भी अकार उच्चारणार्थ व स्वरवर्णों का उपलक्षक है। **'अनु पश्चाद् अर्थात् अन्य-[स्वर]-वर्णानन्तरं स्वर्यत उच्चार्यत इत्यनुस्वारः'** अर्थात् व्यञ्जनभिन्न स्वरवर्ण के पश्चात् उच्चारित किये जाने के कारण से 'अं' [ं] की अनुस्वार संज्ञा है। **'स्वर एव स्वारः, तं स्वारम् अनुगतोऽनुस्वारः। स्वरात् परमुच्चरितत्वमनुस्वारत्वम्'।** अर्थात् स्वर को ही स्वार कहते हैं और स्वार (स्वर) का अनुगमन करने वाला अनुस्वार कहलाता है। स्वर के पश्चात् उच्चारण करना ही अनुस्वार का अनुस्वारत्व है।

अलाबुवीणानिर्घोषो नासामूलः [२] स्वरानुगः।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च।। (श्लो० पा० शि० २३)

अलाबु (तुमड़ी, लौकी से निर्मित) वीणा के स्वर के समान (शुद्ध) नासिक्यध्वनि वाला, नासिकामूलोद्भव एवं स्वर के पश्चाद्भावी वर्ण ही अनुस्वार है।

अनुस्वार का यह शुद्ध उच्चारण र्, श्, ष्, स् , ह् वर्णों के परे रहने पर ही होता है। क्योंकि अन्य वर्णों के परे रहने पर उसे परसवर्ण होता है।

इस अनुस्वार के तीन भेद हैं—

अनुस्वारस्य वेदे शलि रेफे परे भवेद्।
ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वः संयोगे च परे गुरुः।। (के० शि० ५)

अर्थात् यजुर्वेद और सामवेद में अनुस्वार के बाद यदि श्, ष्, स्, ह् और र् में से कोई एक वर्ण हो, पूर्व में दीर्घ स्वर हो और संयोग परे न हो तो वह अनुस्वार 'ह्रस्वानुस्वार' (ꣳ) कहलाता है, यदि पूर्व में ह्रस्व स्वर हो तो वह 'दीर्घानुस्वार' (ꣴ) कहलाता है। श, ष आदि वर्ण आदि में हैं जिस संयोग में, ऐसे संयोग के परे रहते पूर्व में विद्यमान अनुस्वार 'गुरु - अनुस्वार' कहलाता है। तद्यथा—

ह्रस्वानुस्वार — उपाꣳशु, यजूꣳषि, माꣳसम् इत्यादि।

---

१. अं आं इत्यनुस्वारौ (ऋ०तं० १.२)।

२. श्लो०पा० शिक्षा में 'दन्तमूल्यः' या कहीं-कहीं 'दन्तमूलः' पाठ है। जो कि अशुद्ध है। क्योंकि अनुस्वार नासिक्य ध्वनि है (पा०शि० १.१६, श्लो०पा०शिक्षा०२२)। व०र०प्र० शिक्षा में इसे नासामूल माना गया है— **"यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवादशा"** (३४)।

दीर्घानुस्वार — त्रि॰शत्, मैन॰हि॰सीः, स॰हिता इत्यादि।

गुरु-अनुस्वार — सर्वं वै पूर्ण॰स्वाहा।

द्यावापृथिवीभ्या॰स्वाहा (तै॰सं॰ १.२.२.१८)।

अद्यतन वेदपाठी इनका उच्चारण क्रमशः गुङ्, ग्वङ्, ग्ग् के रूप में करते हैं। जो कि अशास्त्रीय एवं अशुद्ध है।

प्रयोग — कवर्गाविर्णानुस्वारजिह्वामूलीया॰ (१.५)।

अनुस्वारयमा नासिक्याः (१.१६)।

वर्गाणां ...... हकारानुस्वारौ॰ (४.४)।

२३. यम[१]— **'स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु'** (ऋ॰प्रा॰ ६.२९)— किसी भी वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्पर्श वर्ण के तुरन्त बाद किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो तो दोनों के बीच नासिका से बोले जानेवाले वर्ण की उत्पत्ति (श्रवण) होती है, जो वर्णसमाम्नाय में अनुदिष्ट है, इसी को यम कहा जाता है। ये यम चार हैं— कुँ खुँ गुँ घुँ।

इन यमों के अपर नाम भी हैं। वे हैं— विच्छेद, अशरीर, नासिक्य।

प्रयोग— अनुस्वारयमा नासिक्याः (१.१६)।

यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् (१.१८)।

॰यमौ च प्रथमद्वितीयौ ...... । (४.२)।

॰यमौ च तृतीयचतुर्थौ ...... । (४.४)।

तत्र स्पर्शयमवर्णकारो ..... । (५.१)।

त इमे यमाः (व॰शि॰ ७.४)।

२४. अयोगवाह[२]— **'यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-अनुस्वार-नासिक्य-यमाः'** (म॰भा॰ हयवरट्) जो वर्ण प्रत्याहारसूत्रों में अनुपदिष्ट होते हुए भी कार्य का वहन करते हैं, उन्हें अयोगवाह कहते हैं। वे अयोगवाह हैं — विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य और यम।

अयोगवाह का दूसरा नाम संयोगवाह है।

प्रयोग— सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाष्टकः (व॰शि॰ ७.३)।

२५. अक्षर— **'सव्यञ्जनः सानुस्वार**[३]**ः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्'** (ऋ॰प्रा॰ १८.३२) अर्थात् व्यञ्जन सहित व अनुस्वार से युक्त स्वर की अथवा विशुद्ध स्वतन्त्र स्वर की अक्षर संज्ञा है।[४]

१. सव्यञ्जन स्वर के उदाहरण दो प्रकार के हैं —

१.१ **'सहाद्यैर्व्यञ्जनैः'** (वा॰प्रा॰ १.१००) आदिभूत व्यञ्जन सहित स्वर की अक्षर[५] संज्ञा है। जैसे— न, च, वै, द्वे आदि।

१.२ **'उत्तरैश्चावसितैः'** (वा॰प्रा॰ १.१०१) अर्थात् स्वर के अन्त में विद्यमान व्यञ्जन और उससे पूर्व में स्थित स्वर, इन दोनों की अक्षर[६] संज्ञा होती है। उदा॰— उत्, तत्, उर्क् वाक्, प्राङ् आदि।

---

१. इसकी विशेष चर्चा "यमविवेचन" लेख (३.७) में की जाएगी।

२. इसकी विशेष चर्चा "यमविवेचन" लेख (३.७) में की जाएगी।

३. कुछ लोग अनुस्वार को न व्यञ्जन मानते हैं, न ही स्वर। अत एव 'सानुस्वार' का पृथक् ग्रहण किया है।

४. उभये त्वक्षराणि (ऋ॰प्रा॰ १.१९)। अपि च द्र॰— वर्ण॰ शि॰ १६।

५. इसप्रकार के अक्षर को आधुनिक भाषाविज्ञानविद् 'मुक्ताक्षर' कहते हैं।

६. इसप्रकार के अक्षर को आधुनिक भाषाविज्ञानविद् 'बद्धाक्षर' कहते हैं।

२. सानुस्वार स्वर का उदाहरण— अं आदि। अनुस्वार को विसर्गादि अयोगवाहों का उपलक्षण मानकर विसर्गादि से युक्त स्वर की भी अक्षर संज्ञा समझ लेनी चाहिये। जैसे कि— आः, इः आदि।

३. **'स्वरोऽक्षरम्'** (वा० प्रा० १.९९) व्यञ्जनों से असम्पृक्त शुद्ध स्वर की अक्षर संज्ञा है। यथा— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि। प्रातिशाख्यों में प्रायः केवल स्वरों की ही अक्षर संज्ञा मानी गयी है। तद्यथा— **'अनुस्वारो व्यञ्जनञ्चाक्षराङ्गम्'** (ऋ० प्रा० १.२२), **'अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः'** (तै० प्रा० २३.७)। अत एव वैदिकाभरण में अक्षर की निरुक्त की गयी है कि **'न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्, तदभावात् स्वरेष्वक्षरशब्दो वर्तते'** (वै० आ०, तै० प्रा० १.२)। जो किसी अन्य वर्ण का अङ्ग न बनता हो अर्थात् किसी की सहायता के विना, निरपेक्ष होकर उच्चरित होता है, उसे अक्षर कहते हैं। वैसे वर्ण केवल स्वर ही हैं। क्योंकि व्यञ्जन स्वरों की सहायता, अङ्गता की अपेक्षा रखते हैं। अतः (क्षरित होने के कारण) केवल व्यञ्जनों की अक्षर संज्ञा नहीं है।

ऋक्तन्त्र में अक्षर को वर्ण का पर्यायवाची माना है।[1] इस प्रकार के पूर्वाचार्यों वा शिक्षाकारों की ओर संकेत करते हुए महाभाष्यकार ने भी अक्षर को वर्णवाची माना है—

अक्षरं न क्षरं विद्यात्.....वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे..... (म० भा० आह्निक—२)।

अर्थात् जो क्षीण नहीं होता, उसे अक्षर जानें। जिसे पूर्वसूत्र (पूर्वाचार्यों की शिक्षा वा व्याकरण के ग्रन्थों) में वर्ण कहा गया है।

२६. सन्ध्यक्षर[2]— **'शुद्धस्वरद्वयसन्धिजन्यं एकवर्णवद्वृत्ति सन्ध्यक्षरम्'**[3]— अर्थात् दो शुद्धस्वरों[4] की सन्धि[5] से उत्पन्न होकर भी एक वर्ण के समान जिसका व्यवहार होता है, उसे सन्ध्यक्षर कहते हैं। इसे ही सन्धिस्वर, द्विस्वर, संयुक्तस्वर आदि कहते हैं। ये सन्ध्यक्षर चार हैं— ए, ऐ, ओ, औ।

किन-किन वर्णों की सन्धि से ये बने हैं, इसका विवरण इस प्रकार है[6]—

अ+इ = ए	अ, आ+ इ, ई = ए	अ, आ+ ऐ = ऐ
अ+उ = ओ	अ, आ+ उ, ऊ = ओ	अ, आ+ औ = औ
आ+इ = ऐ	अ, आ+ए = ऐ	
आ+ उ = औ	अ, आ+ओ = औ	

इनके वर्णांशों की मात्राओं के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत निम्न प्रस्तार में दिखाते हैं—

१. तं खल्विममक्षरसमाम्नयमित्याचक्षते (ऋ०तं० १.४)।

२. संज्ञाकरण— ऋ० प्रा० १.२, वा०प्रा० १.४५, ऋ० तं० १.२, च०अ० १.४०।

३. यह प्रातिशाख्यकारों एवं शिक्षाकारों के मतानुसार स्वनिर्मित लक्षण है।

४. जो स्वर सन्धिजन्य नहीं हैं,वे ही शुद्धस्वर कहलाते हैं, जिन्हें प्रातिशाख्यकारों ने समानाक्षर (ऋ०प्रा० १.१, तै०प्रा० १.२), सिम् (वा० प्रा० १.४४), समान (ऋ०तं० १.२) संज्ञाओं से व्यवहृत किया है। वे हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ। इन शुद्धस्वरों की ही प्रातिशाख्यकारों ने 'अक्षर' संज्ञा की है। यही पारिभाषिक 'अक्षर' शब्द 'सन्ध्यक्षर' में प्रयुक्त है।

५. 'यत् समदधुस्तत् सन्धेः सन्धित्वम्' (जै०ब्रा० १.२०९) जो एक साथ रखा गया है, वह सन्धि का सन्धिपन है। अर्थात् वर्णों की समीपता को सन्धि कहते हैं। जिसे वैयाकरण 'संहिता' कहते हैं— 'परः सन्निकर्षः संहिता'(अष्टा० १.४.१०८)

६. इमावैचौ समाहारवर्णौ— मात्रावर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः (म० भा० एओङ्, ऐऔच् ८.२.१०६)। अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते (उवटः, ऋ०प्रा० १.२)।

स्वर	वर्णांश	वर्णांशमात्रा	वर्णमात्रा	प्रमाण
ए, ऐ ओ, औ ए, ऐ ओ, औ	अ+इ, आ+इ अ+उ, आ+उ अ+इ, आ+इ अ+इ, आ+उ	१/२+१ १/२, १/२+१ १/२ १/२+१ १/२, १/२+१ १/२ १+१, १+१ १+१, १+१	२, २ २, २ २, २ २, २	एचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् (कात्यायन, म०भा०१.१.४८)।अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत् । ओकारौकारयोर्मात्रा — (पा० शि० श्लोक - १९)
ऐ, औ	आ+इ, आ+उ	१/२+१ १/२, १/२+१ १/२	२, २	अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। उकारस्तूत्तरस्य। (तै०प्रा० २. ३६, २८,२९)
ए, ऐ ओ, औ	अ+इ, आ+इ अ+उ, आ+उ	१+१, १+१ १+१, १+१	२, २ २, २	इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोरिति(म०भा०८.२. १०६)। सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः (ऋ०प्रा० १३.३९) ।
ऐ, औ	आ+इ, आ+उ	३/४+१ १/४, ३/४+१ १/४	२, २	यथा तत्र ह्रस्वाऽनुस्वारः पादमात्राधिक उपधा च तावता न्यूनता, एवमिहापि द्रष्टव्यम् । इवर्णोवर्णयोर्भूयसी मात्रा अल्पीयसी अवर्णस्य, यस्मात्तयोर्वैषम्यान्न क्षीरोदकवत् संसर्गो भवति, तस्मात् तयोरवर्णस्य इवर्णोवर्णयोश्च पृथक् श्रवणं भवति (पशुपतिव्याख्या, ऋ० प्रा० १३. १६) ।

प्रयोग— द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि (१.२२)।

सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति (६.७)।

२७. मात्रा— 'वर्णोच्चारणकालपरिमापकाल्पांशो मात्रा'[१] अर्थात् वर्णोच्चारण-काल के परिमापक अल्पांश को मात्रा कहते हैं।

इस मात्रा के परिमाण के विषय में आचार्यों का कथन इस प्रकार है—

'निमेषो मात्राकालः स्याद् विद्युत्कालेति चापरे।। [२]
सूर्यरश्मिप्रतीकाशात् कणिका यत्र दृश्यते।
आणवस्य तु सा मात्रा मात्रा तु चतुराणवी।।'[३] (या०शि० ८.९)

(१) निमेष = जितने काल में आँखें झपकती हैं, वह काल 'मात्रा' है।[४] किन्हीं का मत है कि (२) जितने काल में बिजली चमकती है, वह काल 'मात्रा' है। अथवा (३) झरोखे में से निकली सूर्य-किरण में छोटा-सा कण

१. यह आचार्यों के मतानुसार स्वनिर्मित लक्षण है।

२. अपि च द्र०— ना०शि० (२.२.८)। ३. अपि च द्र०— लो०शि० (८.८)।

४. अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो वर्णः समुदीर्यते। स एकमात्रो (अ०मां०शि०१३७)।

जितनी देर दिखायी देता है, उस काल को 'अणु' कहते हैं, ऐसे चार अणु-काल को मात्रा कहते हैं।[1]

'चाषस्तु वदते मात्राम्' (या० शि० १३)[2] — (४) चाष = नीलकण्ठ पक्षी जितने काल में बोलता है, उसे 'मात्रा' कहते हैं।

कालेन यावता पाणिः पर्येति जानुमण्डले।
सा मात्रा कविभिः प्रोक्ता ह्रस्वदीर्घप्लुते मता।।
वामजानुनि तद्धस्तभ्रमणं यावता भवेत्।
कालेन मात्रा सा ज्ञेया मुनिभिर्वेदपारगैः।। (तन्त्रसारः)

(५) जितने काल में घुटने के चारों ओर हाथ चलता है, उतना काल 'मात्रा' कहा जता है।

महर्षि दयानन्द का कथन है कि — (६) ''जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार में होती है'' [उसे 'मात्रा' कहते हैं] (व० शिक्षा)।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस इकाई का परिमाण एक सैकेण्ड मानना उत्तम है। इसका उच्चारण व्यक्ति-व्यक्ति में शारीरिक व सामाजिक प्रभाव के कारण न्यूनाधिक काल में भी होता है। जो कि द्रुतादिवृत्तिविषयक है[3], न कि मात्राविषयक।

यह कोई न्यूनतम इकाई नहीं है, क्योंकि इससे भी छोटी इकाईयों का वर्णन शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मिलता है। जिसे आगे स्पष्ट करने ही वाले हैं। यद्यपि शिक्षा-सूत्रों में इस 'मात्रा' संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ है, पुनरपि ह्रस्वादि संज्ञाओं को समझने के लिए अनिवार्य होने से इसे यहाँ बता दिया गया।

२८-३०. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत— 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (अष्टा० १.२.२७) कुक्कुट कु, कू, कू३ ऐसा क्रमशः एकमात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के शब्दों का उच्चारण करता है। इन्हीं शब्दों (ध्वनियों) का अनुकरण करते हुए आचार्य पाणिनि कहते हैं कि ऊकाल अर्थात् उ, ऊ, ऊ३ (इस कुक्कुट शब्द) के काल के समान काल वाले स्वर क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि एक मात्रा काल वाले 'उ' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् एक मात्रा काल में उच्चरित होनेवाला स्वर) ह्रस्व कहलाता है। जैसे— अ, इ, उ....आदि। दो मात्रा काल वाले 'ऊ' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् दो मात्रा काल में उच्चरित होनेवाला स्वर) दीर्घ कहलाता है। यथा— आ, ई, ऊ ... आदि। तीन मात्रा काल वाले 'ऊ३' के समान काल है जिस स्वर का, वह (अर्थात् तीन मात्रा काल में उच्चरित होनेवाला स्वर) प्लुत कहलाता है।[4] तद्यथा— आ३, ई३, ऊ३..... आदि। इसी अभिप्राय को शिक्षाकारों ने इस प्रकार प्रकट किया है—

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्।। (या० शि० १३)[5]

---

१. यह चार अणु का परिमाण उच्चरित मात्रिक स्वर में माना गया है— हृदयस्थमणु विद्यात् कण्ठे विद्यात् द्विराणवत्। त्रिराणवन्तु जिह्वाग्रे निसृतं मात्रिकं भवेत् ।।(लो० शि० ८.८)

२. अपि च द्र०— वर्ण० शि० २२, लो० शि० ८.९; पा० शि० श्लोक० ४९।

३. वर्णोपलब्धिकालभेदाद् वर्णकालभूयस्त्वमुच्यते। द्रुतायां स्वल्प उपलब्धिकालः। मध्यमायामधिकः। विलम्बितायामधिकतरः .... ध्वनिभेदाद् वृत्तिभेदः (प्रदीपः, म० भा० १.४.१०८)।

४. यह एक सामान्य या उपलक्षणात्मक कथन है। यथार्थतः दो से अधिक मात्रा वाला स्वर प्लुत कहा जाता है, जैसे दो से अधिक को बहुवचन कहा जाता है। इससे **''इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः** (म० भा० ८.२.१०६) आदि वचन सुसंगत होंगे।

५. अपि च द्र०— लो० शि० ८.१०, वर्ण० शि० २२।

एक मात्रा काल की चर्चा पहले कर चुके हैं, वैसे ही अन्य दो मात्राओं के विषय में अनुकरण-सौविध्यार्थ श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को उद्धृत करते हैं—

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्।। [१] (पा०शि०—४९)

अर्थात् चाष (नीलकण्ठ) पक्षी के समान (एक) मात्रा काल का उच्चारण करना चाहिए और दो मात्रा काल को वायस (कौवे) के समान, तीन मात्रा काल को मोर के सदृश तथा अर्धमात्रा को नेवले के तुल्य बोलना चाहिए।

इसके अनुसार ह्रस्वादि संज्ञाओं का लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

१. ह्रस्व[२] — **'चाषरुततुल्यकाल एकमात्रः स्वरो ह्रस्वः'** अर्थात् नीलकण्ठ पक्षी का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होनेवाला एकमात्रिक स्वर ह्रस्व कहलाता है।

२. दीर्घ[३] — **'ह्रस्वद्विगुणकालो वायसरुततुल्यकालस्वरो दीर्घः'** (वै०आ०, तै०प्रा० १.३५)। अर्थात् ह्रस्व वर्ण के दुगुना काल वाला, कौवे का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होनेवाला स्वर दीर्घ कहलाता है।

३. प्लुत[४]— **'ह्रस्वत्रिगुणकालो मयूररुततुल्यकालस्वरः प्लुतः'** (वै०आ०, तै०प्रा० १.३६)।अर्थात् ह्रस्व वर्ण के तिगुना कालवाला, मोर का शब्द जितने काल में उच्चरित होता है, उतने ही काल में उच्चरित होनेवाला स्वर प्लुत कहलाता है। प्लुत के लिए ऋक्तन्त्र में वृद्धसंज्ञा का प्रयोग किया गया है— **तिस्रो वृद्धम्** (ऋ० त० २.४४), [द्र०लो०शि० २]।

इस प्रकार मात्रा, द्विमात्रा आदि कालांशो का ह्रस्वादि संज्ञाओं के साथ भलीभाँति परिचय दिया गया है। अन्य कालांशों को भी परिचयार्थ संज्ञाओं के साथ इस प्रस्तार में दिखाया गया है —

कालांशप्रदर्शक प्रस्तार

क्रम सं०	संज्ञा	मात्रा	उच्चारणकर्त्ता का अनुभूतिस्थान	उदाहरण	प्रमाण
१	लेश/ परमाणु/ लघु-प्रयत्नतर/ लघुप्रयत्न	१/८	मानस	ध्रुवाव् अस्मिन्	तै०प्रा० १०.२३; वा०प्रा० १.६१; ऋ०तं० ४.४; लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणम् (त्रि० र० ; तै०प्रा० १०.२३)।
२	अणु/श्रुति	१/४	मानस या हृदय	ऋकार का आद्य स्वरांश	वा० प्रा० १.६०; उवट- वा० प्रा० ४.१४८; या०शि० १०, लो०शि० ८.८; अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽशः (वै० आ०, तै० प्रा० ९.३; मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रा स्वरभागः (त्रि० र०)।

१. अन्यत्र भी कहा गया है कि—**चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।**
मयूरस्तु त्रिमात्रां वै मात्राणामिति संस्थितिः।। (ऋ०प्रा० १३.५०, या०शि० १६, लो०शि० ९)

२. संज्ञाकरण— ऋ०प्रा० १.१७, तै०प्रा० १.३१-३३; वा०प्रा० १.५५; च०अ० १.५९; ऋ०तं० ४०।

३. संज्ञाकरण— ऋ०प्रा० १.१८, तै०प्रा० १.३५; वा०प्रा० १.५७; ऋ०तं० ४३; च०अ० १.६०; अ०प्रा० १२३।

४. संज्ञाकरण— ऋ०प्रा० १.३०, तै०प्रा० १.३६; वा०प्रा० १.५८; ऋ०तं० ४४; च०अ० १.६२।

३	द्व्यणुक	१/२	कण्ठ	ऋकार में रेफांश	उवटः-वा०प्रा०४.१४८;या०शि०१०,लो० शि० ८.८
४	त्र्यणुक	३/४	जिह्वाग्र	ऋकार में रेफांश	अ०सं०- १६.५३;या०शि०१०,लो० शि० ८.८
५	सार्धत्र्यणुक	७/८	निःसृत	'अं' का अकार	पशुपतिव्याख्या ऋ० प्रा० १३.१३
६	ह्रस्व	१	जिह्वाग्र	अ	या०शि० १३. ऋ० तं० ४.१०; ५.२
७	सपादमात्रक	१ १/४	,,	'ऐ' का इकारांश 'औ' का उकारांश	पशुपतिव्याख्या ऋ० प्रा० १३.१६
८	अध्यर्धमात्रक	१ १/२	,,	,,	तै० प्रा० २.२८
९	दीर्घ	२	,,	आ	या०शि० १३; ऋ० तं० ५.३
१०	अर्धतृतीय	२ १/२	,,	'ओम्' का ओकार 'ऋति ऋ वा' 'लृति-लृ वा' से विहित ॠ, ॡ	प्रदीप, म० भा० १.१.९
११	प्लुत/वृद्धम्	३	,,	आ३	या० शि० १३; ऋ० तं० ५.४
१२	चतुर्मात्रः षण्मात्रो वा	४ ६	,, ,,	ओम् का ओकार	ऋ०प्रा० १५.५; इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः (म० भा० ८.२.१०६)

प्रयोगः — ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च० (६.२)।
लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति (६.४)।
यदा दीर्घाः स्युः ......(६.६)।
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति (६.७)।

३१. उदात्त— 'उच्चैरुदात्तः' (अष्टा०१.२.२९)[१] उच्च (ऊर्ध्व) स्थान से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है। इसका तात्पर्य निम्न प्रकार है —

कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थानों में जिह्वा का स्पर्श होने से स्वर एवं व्यञ्जन रूपी वर्णों की उत्पत्ति होती है। कण्ठ आदि प्रत्येक विभाग को तीन-तीन प्रविभागों में विभाजित करने पर, उनमें जो तृतीय संख्यावाला प्रविभाग है, वही स्व-स्व स्थान का ऊर्ध्व स्थान है। इस स्थान से उच्चारित स्वर ही उदात्त कहलाता है।[२]

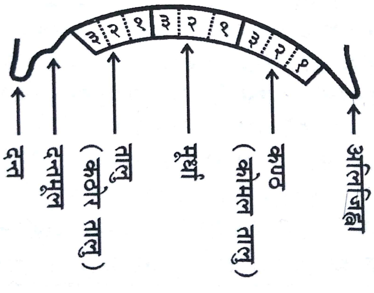

(चित्र – १)

इस उदात्तत्व (उच्चत्व) को सम्पन्न करनेवाले साधन इस प्रकार हैं —

'आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य' (तै०प्रा० २२.९, म०भा० १.२.२९) —

१. अपि च द्र० ऋ०प्रा० ३.१; तै०प्रा० १.३८; वा०प्रा० १.१०८; च०अ० १.१४।

२. एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः,अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्व-भागो गृह्यते,नीचैरित्यधरभागः। अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः। (प्रदीपः, म०भा० १.२.२९,३०)। ऊर्ध्वमात्तमिति चात उदात्तम् (म०भा० १.२.३२)। ताल्वादिषूर्ध्वदेशे उच्चारणेन (आत्तम्) गृहीतमित्यर्थः (उद्योगः, तत्रैव)।

(आयामः)[१] शरीर के अवयवों को सख्त रखना, (दारुण्यम्) स्वर का रूखापन, (अणुता खस्य) कण्ठ को संवृत [संकुचित] करना, ये सब (शब्दस्य) शब्द [स्वर] के (उच्चैःकराणि) उदात्तत्व को निष्पन्न करने वाले हैं।[२] अर्थात् इन-इन प्रयत्नों से उदात्त का उच्चारण करना चाहिये व इन-इन प्रयत्नों से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है।

प्रयोग— त्रैस्वर्योपनयेन च (६.२)।

३२. अनुदात्त— **'नीचैरनुदात्तः'** (अष्टा० १.२.३०)[३] कण्ठादि स्थानों के निचले स्थान (अर्थात् प्रत्येक विभाग के प्रथमसंख्याक प्रविभाग) से उच्चरित स्वर अनुदात्त कहलाता है।[४]

इस अनुदात्तत्व (नीचत्व) को सम्पादित करनेवाले साधन इस प्रकार हैं— **'अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि'** (तै०प्रा० २२.१०, म०भा० १.२.३०) अर्थात् (अन्ववसर्गः) शरीर के अवयवों को शिथिल [ढीला] रखना, (मार्दवम्) स्वर की मृदुता, स्निग्धता, (खस्य उरुता) कण्ठ की विस्तीर्णता अर्थात् कण्ठ को संवृत न करके विवृत करना, ये सब (शब्दस्य नीचैःकराणि) शब्द के नीचत्व [अनुदात्तत्व] को सम्पन्न करने के करण [साधन] हैं अर्थात् शब्द [स्वर] को अनुदात्त करनेवाले हैं।[५]

प्रयोग— त्रैस्वर्योपनयेन च (६.२)।

३३. स्वरित— **'समाहारः स्वरितः'** (अष्टा० १.२.३१, तै०प्रा० १.४०)[६] जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त इन दोनों का समाहार (मिश्रण) है, उसे स्वरित कहते हैं।[७] इसे आचार्य शौनक और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि— **'एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः'** (ऋ०प्रा० ३.३) उदात्त एवं अनुदात्त इन दोनों पूर्वस्थितों का एक ही अक्षर में समावेश (समाहार) होने पर, वह अक्षर स्वरित स्वरवाला होता है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। **'स्वृ शब्दोपतापयोः'** (धातु० भ्वा० ६६६) धातु से अच् प्रत्यय होकर 'स्वर' शब्द निष्पन्न होता है। स्वर शब्द से **'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्'** (अष्टा० ५.२.३६) से 'इतच्' प्रत्यय होकर 'स्वरित' शब्द निष्पन्न होता है। तो व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार होगा— **'स्वरः संजातः यस्य सः स्वरितः'** अर्थात् उदात्त एवं अनुदात्त स्वरों के मिश्रण से स्वर विशेष उत्पन्न हो गया है जिस स्वर में उसे 'स्वरित' कहते हैं।

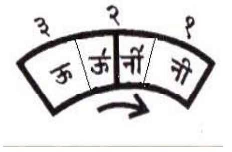

स्वरितोच्चारण की गति
(चित्र - २)

इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्व प्रदर्शित चित्र (१) में से एक मूर्धांश भागको लेकर समझाते हैं। इसे दो भागों में विभाजित कर देते हैं। इनमें प्रथम भाग निचला है, जहाँ से अनुदात्त (नीचैः) का उच्चारण होता है। द्वितीय भाग है ऊर्ध्व, जहाँ से उदात्त (उच्चैः) का उच्चारण होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सामान्यतः गति यहाँ नीचे से ऊपर को होती है (नी → ऊ)। इन दो भागों (नी, ऊ) के मध्यवर्ती भागों को लेकर एक तीसरा भाग बना देते हैं। तो इनमें 'नी' का अंश 'नी′'तथा 'ऊ' का अंश 'ऊ′' दोनों सम्मिलित हैं। बस इसी नी′ ऊ′ अंशों से उच्चरित स्वर ही स्वरित कहलाता है। और यह उदात्त एवं अनुदात्तों का मिश्रण (नी′+ ऊ′) नीरक्षीरवत् न होकर तिल-तण्डुलवत् पृथक्-पृथक् होता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वरित के उच्चारण में आयामादि उदात्तकरों तथा अन्ववसर्गादि

१. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः। (उवटः, ऋ०प्रा० ३.१)

२. शब्दस्य उच्चैःकराणि = शब्दमुच्चैः उदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। (त्रि०र० तै०प्रा० २२.९)

३. द्र०— ऋ०प्रा० ३.१, तै०प्रा० १.३९; वा०प्रा० १.१०९; च०अ० १.१५।

४. समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरोऽनुदात्तगुणकत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः। (वै०अ०, तै०प्रा० १.३९)

५. शब्दस्य नीचैःकराणि = शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। (त्रि०र०, तै०प्रा० २२.१०)

६. अपि च द्र०— ऋ०प्रा० ३.१,३; वा०प्रा० १.११०; च०अ० १.१६।

७. इन तीनों स्वरों के विशेष विवरण के लिए "उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन" लेख (३.८) को देखें।

अनुदात्तकरों का भी समाहार होता है अर्थात् शरीरावयवों को न सख्त, न ही शिथिल रखना, स्वर में न दारुण्यता, न ही मार्दव रहना और कण्ठ को न संकुचित करना, न ही विवृत। सभी मध्यम प्रयत्न हों। ये ही स्वरितकर हैं, स्वरित को उत्पन्न करनेवाले हैं।[१] इसप्रकार स्वरित में दोनों का समाहार होने के कारण ही महाभाष्यकार ने स्वरितकरों का पृथक् से उल्लेख नहीं किया।

स्वरित के उच्चारण में यह शंका उठती है कि पहले उदात्त का उच्चारण करें या अनुदात्त का ? सामान्य गति (नी → ऊ) को देखने से यही प्रतीत होता है कि पहले अनुदात्त का उच्चारण कर बाद में उदात्त का अर्थात् जिह्वा के स्पर्श की गति नी´ से ऊ´ की ओर होनी चाहिए। पर ऐसा नहीं, स्वरित के उच्चारण में सीधी गति (नी´→ऊ´) का आश्रय न लेकर तिर्यग्गति (ऊ´→नी´) का अनुकरण किया जाता है। इसी तिर्यग्गमन को आचार्यों ने **'आक्षेप'** संज्ञा दी है।[२] अब हम कह सकते हैं कि ऊ´नी´भाग में जिह्वा के आक्षेप (तिर्यग्गमन) से उच्चरित स्वर स्वरित कहलाता है— **'आक्षिप्तः स्वरितः'** (च० अ० १.१६)। अर्थात् पहले उदात्त का उच्चारण कर पश्चात् अनुदात्त का करना चाहिए।

पुनः एक प्रश्न उदित होता है कि कितने काल तक उदात्त का उच्चारण करना चाहिए और कितने काल तक अनुदात्त का? इसका समाधान महर्षि पाणिनि ने दिया है कि **'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'** (अष्टा० १.२.३२)। स्वरित वर्ण की आद्य अर्धह्रस्व (१/२) मात्रा उदात्त होती है और शेष अनुदात्त। अर्थात् एकमात्रिक ह्रस्व वर्ण स्वरित हो तो उसमें आद्य अर्धह्रस्व (१/२) मात्रा उदात्त और शेष आधी (१/२) मात्रा अनुदात्त होती है। वैसे ही दीर्घ स्वरित वर्ण में १/२ मात्रा उदात्त एवं अवशिष्ट १ १/२ मात्रा अनुदात्त, प्लुत स्वरित में आद्य १/२ मात्रा उदात्त, शिष्ट २ १/२ मात्रा अनुदात्त होती है। प्लुत की चार मात्रा भी मानी जाती है।[३] इस पक्ष में आद्य १/२ मात्रा उदात्त रहती है तो बची ३ १/२ मात्रा अनुदात्त रहती है।

स्वरित के नौ भेद हैं। वे इसप्रकार हैं— स्वरित

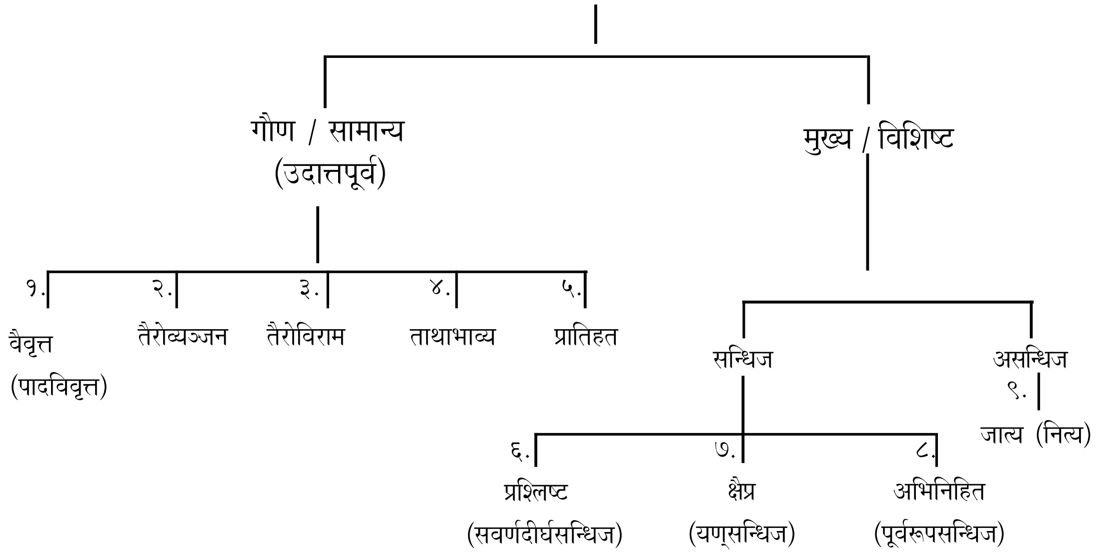

---

१. उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्नः, अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्नः, आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूतानां यः स्वरः उच्चार्यते स स्वरितसंज्ञो भवति (उवटः, वा०प्रा० १.११०)।

२. आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। तेन य उच्यते सः स्वरितः। (उवटः, ऋ०प्रा० ३.१)

३. इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः (म०भा० ८.२.१०६)।

३३.१ वैवृत्त स्वरित (पादविवृत्त स्वरित)— सन्धि रहित पदान्त एवं पदादि स्वरों के मध्य-अवकाश (व्यवधान) को 'विवृत्ति' कहते हैं।[१] जैसे— **'नू इत्था'**(ऋ० १.१३२.४)। इस काल व्यवधान रूप विवृत्ति के व्यवधान होने पर भी पदान्त उदात्त से उत्तर पदादि अनुदात्त को स्वरित होता हो[२] तो उस स्वरित को 'वैवृत्त स्वरित' कहते हैं, यदि उस अनुदात्त के बाद उदात्त या स्वरित न हो तो।[३] इसे ही तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'पादविवृत्त स्वरित' कहते हैं।[४] इसे संक्षिप्त में इसप्रकार समझें— [स्थिति] उदात्त + विवृत्ति + अनुदात्त + अनुदात्त = [फल] उदात्त + विवृत्ति + स्वरित + अनुदात्त (एकश्रुति)। यथा— य ः+इन्द्र = य इ॑न्द्र (ऋ० ८.१२.१)।

३३.२ तैरोव्यञ्जन स्वरित— उदात्त और अनुदात्त के मध्य में व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी अनुदात्त को स्वरित हो जाता हो तो, उसे 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' कहते हैं, यदि उस अनुदात्त के बाद उदात्त या स्वरित न हो तो।[३] इसका सूत्ररूप यह है— [स्थिति] उदात्त + व्यञ्जन+ अनुदात्त + अनुदात्त= [फल] उदात्त+ व्यञ्जन+ स्वरित + अनुदात्त (एकश्रुति)। जैसे— अ॒ग्निम् + ई॒डे= अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ०१.१.१)

३३.३ तैरोविराम स्वरित— अवग्रह से व्यवहित उदात्तपूर्व स्वरित 'तैरोविराम स्वरित' कहलाता है।

सूत्ररूप— [स्थिति] उदात्त + अवग्रह+ अनुदात्त= [फल] उदात्त + अवग्रह+ स्वरित।

उदाहरण— गोप॑ता॒वि॒ति॒ गोऽप॑तौ (यजु०१.१)।

य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् (यजु० ६.११)।

पदपाठ में जब सामासिक पदों को तथा कुछ अन्य पदों में प्रकृति और प्रत्यय को 'ऽ' इस चिह्न के द्वारा पृथक् किया जाता है तथा इसप्रकार पृथक् किये गये पूर्वपद तथा उत्तरपद के उच्चारण के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है, तो उस एक मात्रा काल वाले व्यवधान को ही 'अवग्रह' कहते हैं।[५] जैसे कि ऊपर के उदाहरणों में दिखाया गया है।

३३.४ ताथाभाव्य स्वरित— अवग्रह से युक्त पूर्वपद के अन्त में विद्यमान अनुदात्त, जब दो उदात्तों के मध्य में होगा, तब उसे 'ताथाभाव्य स्वरित' कहते हैं।[६] जैसे— तनू॒न॒पा॒दि॒ति॒ तनू॑ऽनपा॑त् (तै०सं० पाठ ४.१.८.१)।

३३.५ प्रातिहत स्वरित— पदान्त में विद्यमान उदात्त से उत्तर पदादि में विद्यमान अनुदात्त को जो स्वरित होता है, उसे 'प्रातिहत स्वरित' कहते हैं।[७]

जैसे— इ॒षे+ त्वा॒+ ऊ॒र्जे + त्वा॒ = इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ (तै०सं० १.१.१.)

३३.६ प्रश्लिष्ट स्वरित— उदात्त इकार और अनुदात्त इकार के स्थान पर जो स्वरित दीर्घ ईकारादेश होता है, उसे 'प्रश्लिष्ट स्वरित' कहते हैं।[८]

सूत्ररूप— [स्थिति] इ+ इ॒= [फल] ई॑

---

१. स्वरान्तरं तु विवृत्तिः (ऋ०प्रा० २.३)।
स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः (वै०आ० — तै०वा० २०.६)।

२. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अष्टा० ८.४.६५)।

३. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा। स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ (ऋ०प्रा० ३.१७)

४. पदविवृत्त्यां पादविवृत्तः (तै०प्रा० २०.६)।

५. द्र०— ऋ०प्रा० १.२८, तै०प्रा० १.४९, वा०प्रा० ५.१।

६. उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः (वा०प्रा० १.१२०)।
अवग्रहो यदा नीचप्रोच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत् कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥ (वर्ण०शि०—७१, या०शि० ८४)

७. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत् सांहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः (तै०प्रा० २०.३)।

८. द्र०— ऋ०प्रा० ३.१३; वा०प्रा० १.११६; च०अ० ३.५६।

उदाहरण — स्रुचि + <u>इव</u> = स्रुचीव (ऋ०१०.९१.१५)

तै०प्रा० के अनुसार क्रमशः उदात्त एवं अनुदात्त उकारों की सन्धि से उत्पन्न स्वरित दीर्घ ऊकार 'प्रश्लिष्ट स्वरित' कहलाता है।[1] जैसे — सु + <u>उद्गाता</u> = सूद्गाता (तै०सं० ७.१.८)

३३.७ क्षैप्र स्वरित — उदात्त इकार और उकार के स्थान पर क्रमशः य्, व् आदेश होने पर परवर्ती अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इसे ही 'क्षैप्र स्वरित' कहते हैं।[2]

जैसे — नु + इन्द्र = न्विन्द्र (ऋ०१.८२.१)

३३.८ अभिनिहित स्वरित — पदान्त में विद्यमान उदात्त एकार वा ओकार से उत्तर अनुदात्त अकार का पूर्वरूप [लोप] होने पर जो स्वरित उत्पन्न होता है, उसे 'अभिनिहित स्वरित' कहते हैं।[3]

जैसे — ते+<u>अवर्धन्त</u> = तेऽवर्धन्त (ऋ० १.८५.७)।

ते+<u>अवन्तु</u> = तेऽवन्तु (यजु० १९.५७)।

३३.९ जात्य [नित्य] स्वरित — उदात्त और अनुदात्त के सम्बन्ध के विना स्वाभाविकतया उत्पन्न स्वरित को 'जात्य स्वरित' कहते हैं।[4] इसे ही तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में 'नित्य स्वरित' कहा गया है।[5] यह स्वरित अपूर्व (जिसके पूर्व में कोई स्वर नहीं) अथवा अनुदात्तपूर्व (अनुदात्त है पूर्व में जिसके) होता है।

जैसे — स्वः, क्व। <u>क</u>न्या, <u>हृ</u>दय्या।

आगे अत्यन्त आवश्यक कम्पित (विकम्पित, कम्प) दोष (पृ० २३१-२३२) को बतलाने वा उसकी अवगति के लिए यहाँ स्वरित के इन सब भेदों को बताना पड़ा है।

जैसे — 'त्रैस्वर्योपनयेन च' (६.२)।

३४. संवृत — **'समीपावस्थानमात्रे संवृतता'** (श०कौ० १.१.९) अर्थात् स्थान और करण के (मुखावयवों के) समीपावस्थान को संवृत या संवृतता कहते हैं। अथवा मुखावयवों के समीप स्थित होने पर 'संवृत' नामक वर्णधर्म उत्पन्न होता है। इस प्रयत्न में स्थान एवं करण का स्पर्श होता है। ४.४ के शिक्षासूत्र में पठित 'संवृतकण्ठाः' शब्द प्रकृत 'संवृत' शब्द से भिन्न है, जिसका स्पष्टीकरण आगे दिया जायेगा।

प्रयोग — <u>संवृत</u>स्त्वकारः (३.१२)।

यदा सामीप्येन स्पृशति सा <u>संवृतता</u> (८.५)।

३५. विवृत — **'दूरत्वे विवृतता'** (श०कौ० १.१.९) अर्थात् स्थान एवं करण के (मुखावयवों के) दूरत्व (असमीपावस्थान) को विवृत या विवृतता कहते हैं। अथवा मुखावयवों के दूर में स्थित होने पर संवृतप्रतिद्वन्द्वीरूपी 'विवृत' नामक वर्णधर्म उत्पन्न होता है।[6] इस प्रयत्न में स्थान एवं करण का स्पर्शाभाव होता है। ४.२ के सूत्र में प्रयुक्त 'विवृतकण्ठाः' शब्द प्रकृत 'विवृत' शब्द से भिन्न है, जिसका स्पष्टीकरण आगे दिया जायेगा।

---

१. द्र० — तै०प्रा० २०.५।

२. द्र० — ऋ०प्रा० ३.१३; तै०प्रा० २०.१; वा०प्रा० १.११५; च०अ० ३.५८।

३. द्र० — ऋ०प्रा० ३.१३; तै०प्रा० २०.४; वा०प्रा० १.११४; च०अ० ३.५५।

४. द्र० — ऋ०प्रा०३.८; तै०प्रा०२०.२; वा०प्रा०१.१११; च०अ०३.५७।

५. इससे अतिरिक्त पूर्व के अष्टविध स्वरित **'नैमित्तिक स्वरित'** कहलाते हैं।

६. महाभाष्यकार ने इस 'विवृत' प्रयत्न के लिए 'विवार' शब्द का भी प्रयोग किया है — 'विवारभेदात्' (म०भा० अइउण्)। विवारयति विकासयति आस्यमितिविवारः प्रयत्नः (प्रदीपः, तत्रैव)। विवारयतीति, स चाभ्यन्तरप्रयत्न (उद्योतः—तत्रैव)।

प्रयोग — विवृतकरणा वा (३.७)।
विवृतकरणाः स्वराः (३.८)।
यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता (८.४)।

३६. संवार— 'गलबिलस्य संकोचात् संवारः' (श०कौ० १.१.९) गलबिल (स्वरयन्त्रमुख) के संकोच (संकीर्णता) से 'संवार' नाम का गुण (वर्णधर्म) उत्पन्न होता है। इसे 'संवृतकण्ठ' भी कहते हैं।

प्रयोग — संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्म ...... (८.८)।
०संवृतकण्ठाः .... (४.४)।

३७. विवार— 'गलबिलस्य विकासाद् विवारः' (श०कौ० १.१.९) कण्ठबिल (स्वरयन्त्रमुख) के विकास से, विस्तृत होने से संवारप्रतिद्वन्द्वीभूत विवार नाम का वर्णगुण उत्पन्न होता है। इसे 'विवृतकण्ठ' भी कहते हैं।

प्रयोग — ०विवृतत्वाद् विवारः (८.८)।
०विवृतकण्ठाः........(४.२)।

संवार (संवृतकण्ठ) और विवार (विवृतकण्ठ) ये दोनों पूर्व वर्णित संवृत एवं विवृत (३४, ३५) से भिन्न हैं— **'एतौ (संवार-विवारौ) च संवृतविवृतत्वरूपाभ्यामाभ्यन्तराभ्यां भिन्नावेव। तयोः समीपदूरावस्थानात्मकत्वादित्यवधेयम्'** (श०कौ० १.१.९)। इनमें विद्यमान भिन्नता निम्न प्रस्तार से स्पष्ट हो जाएगी—

संवृतसंवारादिभेदप्रदर्शक प्रस्तार

संवृत, विवृत	संवार, विवार (संवृतकण्ठ,विवृतकण्ठ)
१. ये अन्तःप्रयत्न हैं। २. ये स्थान एवं करण के समीपत्व व दूरत्व पर आधारित हैं।	१. ये बाह्यप्रयत्न हैं। २. ये स्वरतन्त्रियों के समीपत्व व दूरत्व पर आधारित हैं।

३८. अनुप्रदान— 'अनुप्रदीयते = उपादीयते = उत्पद्यते वर्णो येन तद् अनुप्रदानं मूलकारणम्' जिससे वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसे अर्थात् वर्ण के मूल कारण को 'अनुप्रदान' कहते हैं।

यह अनुप्रदान संज्ञा है श्वास और नाद की— **'तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते'** (शिक्षा—८.१२)। क्योंकि इन्हीं से वर्ण की उत्पत्ति होती है।[1] फेफड़ों से आगत वायु को स्वरतन्त्रियाँ 'श्वास' या 'नाद' के रूप में विकृत कर देती हैं। यह विकृत श्वास या नाद मुख के विभिन्न अवयवों (स्थानों)को प्राप्त कर वर्ण को उत्पन्न करते हैं। **प्रयोग—** वर्गाणां..... श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।
वर्गाणां...... नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च (४.४)।

३९. श्वास— 'विवृते श्वासः'(तै०प्रा० २.५) कण्ठ के विवृत होने पर अर्थात् स्वरतन्त्रियों के खुले रहने पर जो वायु निर्बाध गति से बाहर निकलती है, उसे 'श्वास' कहते हैं। जो कि अघोष वर्णों का उत्पादक है— **'श्वासोऽघोषाणाम्'** (ऋ० प्रा० १३.४)।

प्रयोग— ..... श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।

---

१. ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति(ऋ०प्रा० १३.३)। अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति अनुप्रदानं मूलकारणम् (त्रि०र०, तै०प्रा० २.८)।

४०. नाद— 'संवृते कण्ठे नादः क्रियते' (तै० प्रा० २.५)[1] कण्ठ के संवृत होने पर अर्थात् स्वरतन्त्रियों के समीप आ जाने पर, स्वरयन्त्रमुख (काकल) की चौड़ाई कम हो जाने पर वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करती हुई बाहर निकलती है। फलतः जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे नाद कहते हैं। जो कि घोषवर्णों का जनक है— **'इतरेषां तु नादः'** (ऋ० प्रा० १३.५)।

प्रयोग— ...... नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च (४.४)।

४१. घोष— 'संवृतो घोषवान्' (ऋ० तं० १.३)— संवृत, संकुचित कण्ठ से बोले जानेवाले वर्णों को 'घोष' कहा जाता है। जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर एक दूसरे के समीप आ जाती हैं, तब वायु का निष्काशन-मार्ग (काकल) संकीर्ण हो जाता है। जिससे वह वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करती हुई निकलती है, फलस्वरूप 'नाद' उत्पन्न होता है। उस नादध्वनि से उच्चरित[2] वर्ण को ही 'घोष' कहते हैं। क्योंकि नादध्वनि से उच्चरित वर्ण के पश्चात् एक गम्भीर ध्वनि प्रकट होती है, उच्चरित होती है, जिसकी तरंगें अपेक्षा कृत दूर तक जाती हैं और दूरस्थ श्रोता को भी स्पष्टतया सुनाई पड़ती हैं। इसे ही घोष, सघोष, घोषवत्, स्वनंत, कोमल आदि कहते हैं। शब्दोत्पत्ति के पूर्वतन ध्वनि को नाद कहते हैं और शब्दोत्पत्ति के पश्चात् की ध्वनि को घोष कहते हैं।

प्रयोग— ......'नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च' (४.४)।

४२. अघोष— 'विवृतोऽघोषः' (ऋ० तं० १.३) विवृत कण्ठ से अर्थात् जब स्वरतन्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरे से दूर-दूर रहती हैं, उस स्थिति में उच्चरित वर्णों को 'अघोष' कहा जाता है। यतोहि स्वतन्त्रियों के दूर-दूर रहने से वायु प्रायः अबाध गति से बाहर निकलती है, अतः स्वर-तन्त्रियों में न्यूनतम कम्पन होता है। अतिस्वल्प कम्पन होने से नाद ध्वनि भी बहुत स्वल्प मात्रा में उत्पन्न होती है। वायु की मात्रा अत्यधिक होती है। ऐसी वायु (श्वास) से उत्पन्न[3] वर्ण की ही 'अघोष' संज्ञा है। इसे संक्षेप से ऐसा भी समझ सकते हैं कि **'न विद्यते घोषः यस्मिन् स अघोषः'** अर्थात् जिसमें घोषत्व नहीं रहता है, वह अघोष संज्ञक है।

प्रयोग — ०श्वासानुप्रदाना अघोषाः (४.२)।

४३-४४. अल्पप्राण, महाप्राण— वर्णों के उच्चारण में थोड़े वायु के निस्सृत होने पर, वह अल्पप्राण कहा जाता है। उससे युक्त वर्ण भी अल्पप्राण कहाता है। अथवा अल्पप्राण में उत्पन्न वर्ण अल्पप्राण संज्ञक होता है।

वर्णों के उच्चारण में अधिक वायु के निकलने पर, वह महाप्राण कहलाता है और इस महाप्राण से युक्त वर्ण भी महाप्राण कहे जाते हैं। अथवा महान् (अधिक) वायु में उत्पन्न वर्ण महाप्राण कहाते हैं।

प्रयोग — ०अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः (४.३, ५)।

---

१. संवृते गलबिलेऽव्यक्तः शब्दो नादः (न्यासः १.१.९) ।

२. 'नादध्वनि से उच्चरित ' (नादानुप्रदान) का तात्पर्य केवल नाद से ही उच्चरित होता है, वायु (श्वास) का नितान्त अभाव होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि विना वायु के न तो नाद की उत्पत्ति होगी और न ही वर्णों की। उसका तात्पर्य मल्लग्राम या छत्रिन्याय के समान समझना चाहिये। अर्थात् जिसके उच्चारण में नाद-ध्वनि प्रधानतया व अधिकमात्रा में रहती है और वायु अप्रधानतया वा न्यूनमात्रा में रहती है, उस वर्ण को 'घोष' समझना चाहिये । अतः **'नादप्रधानो घोषः'** कहा जा सकता है।

३. 'श्वास से उत्पन्न' (श्वासानुप्रदान) का भी तात्पर्य यह नहीं है कि अघोष वर्णों के उच्चारण में केवल श्वास ही रहता है, नाद नहीं। क्योंकि विना नाद-ध्वनि के वायु मात्र से वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे कि श्वास के निकलते समय कोई वर्ण उत्पन्न नहीं होता। अतः जिस वर्ण के उच्चारण में श्वास की प्रधानता वा अधिकता हो तथा नाद गौण या अल्प हो तो, उसे छत्रिन्यायवत् 'अघोष' समझना चाहिये। इसलिए इसे **'श्वासप्रधानोऽघोषः'** कह सकते हैं।

५.३ शुद्धोच्चारण में सावधानता

५.३.१ वर्णोच्चारण के गुण –

१. **स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः।** (या०शि० २१)

स्वस्थः = निरोग **प्रशान्तः** = शान्तमनाः, शान्तिशील **निर्भीतः** = भय, घबराहट आदि से रहित **बुधः** = बुद्धिमान् व्यक्ति **वर्णान्** = वर्णों को **उच्चारयेत्** = उच्चारित करे।

२. **प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ।**
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति।। (या०शि०२६)

यस्य = जिसकी **प्रकृतिः** = स्वभाव **कल्याणी** = उत्तम व श्रेष्ठ हो अर्थात् क्रोधादि से रहित, शान्तस्वभाववाला व्यक्ति तथा **यस्य** = जिसके **दन्तोष्ठौ** = दाँत एवं ओठ **शोभनौ** = अच्छे हों, टूटे-कटे हुए, विकृत न हों **च** = और जो **प्रगल्भः** = पढ़ने में उत्साही व निश्शङ्कित **च** = एवं **विनीत** = विनम्र हो **सः** = वह **वर्णान्** = वर्णों को शुद्ध **वक्तुम् अर्हति** = बोल सकता है।

३. **यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्।**
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्।। (या०शि०२५, अ०मां०शि० ४३)

यथा = जैसे **व्याघ्री** = सिंहिनी **दंष्ट्राभिः** = दाँतों से **पुत्रान्** = अपने कोमल अङ्ग वाले बच्चों को **हरेत्** = सुरक्षित स्थान पर ले जाती है अर्थात् स्थान परिवर्तन करती रहती है **च** = पर **न पीडयेत्** = उन्हें अपने तीक्ष्ण दाँतों से पीड़ित नहीं करती, क्योंकि **पतनभेदाभ्यां** = शिथिल पकड़ने से गिरने रूपी भय से तथा अधिक बलपूर्वक पकड़ने से दाँतों से चुभने व कटने [अङ्गभङ्ग] रूपी भय से **भीता** = डरी हुयी होती है। **तद्वद्** = ठीक वैसी ही सावधानी से यथोचित बलपूर्वक अर्थात् न शिथिल और न ही दबाकर **वर्णान्** = वर्णों को **प्रयोजयेत्** = बोलना चाहिए।

४. **मधुरं चापि नाव्यक्तं सुव्यक्तं न च पीडितम्।**
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः संकरं गताः।। (या०शि० १९६)

मधुरम् = मधुर बोलें **च अपि** = पर **न अव्यक्तम्** = अव्यक्त, अस्पष्ट न बोलें **सुव्यक्तम्** = स्पष्ट बोलें **च** = पर **न पीडितम्** = संकीर्णता के साथ दबाकर न बोलें। इस प्रकार उच्चारित वर्ण ठीक वैसे ही संकीर्णता को प्राप्त नहीं होते **इव** = जैसे कि **सनाथस्य** = अच्छे राजा से युक्त **देशस्य** = देश के **वर्णाः** = ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण **संकरम्** = संकीर्णता को **गताः** = प्राप्त **न** = नहीं होते।

५. **यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात् पदं निधापयेत्।**
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक्।। (या०शि० १९६)

यथा = जैसे **सुमत्तनागेन्द्रः** = मदमस्त, हर्षोल्लासित गजराज **पदात्** = एक पद से **पदम्** = दूसरे पद को **निधापयेत्** = पृथक् - पृथक् रखता हुआ चलता है **एवम्** = वैसे ही **पदम्** = पद को, शब्द को और **पदाद्यन्तम्** = पद के आदि तथा अन्त को **पृथक् पृथक्** = वक्ता के द्वारा अलग-अलग **दर्शनीयम्** = दिखाया जाना चाहिए, उच्चरित करना चाहिए।

६. **माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।**
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः।। (या०शि० १९९, पा०शि० ३३)

वर्णोच्चारण में **माधुर्यम्** = मधुरता, रूक्षता न होना **अक्षरव्यक्तिः** = अक्षरों, वर्णों की पृथक् - पृथक् अभिव्यक्ति **पदच्छेदः** = वाक्यान्तर्गत पदों को परस्पर मिश्रित न करते हुये अलग-अलग बोलना अर्थात् पदों के मध्य में एक मात्रा

का काल-व्यवधान रखना[१] **तु** = और **सुस्वरः** = उदात्त, अनुदात्त, स्वरित से युक्त सुन्दर ध्वनि व स्वर सहित **धैर्यम्** = धीरता, गम्भीरता **च**[२] = और **लयसमर्थम्** = विराम आदि [ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नाद, घोष आदि] का विधिकौशल्य **एते षड्** = ये छह **पाठकाः** = पाठकसम्बन्धी **गुणाः** = गुण हैं।

५.३.२ वर्णोच्चारण के दोष—

'**अनन्ता हि दोषा अशक्तिप्रमादकृताः**' (प्रदीपः, म०भा०पस्प०)— अशक्ति-प्रमादजन्य दोष तो अनन्त होते हैं[३], पुनरपि इनके परिज्ञानार्थ यहाँ कुछ ही दोष दिखाये जा रहे हैं। उन दोषों को जानने से पूर्व यह भी जानना आवश्यक है कि अप्रियत्व, असत्य आदि भी वाणी के महान् दोष हैं।[४] कहा भी गया है कि "**खट् फट् जहि। छिन्धी भिन्धी हन्धी कट्। इति वाचः क्रूराणि।**" (तै०आ० ४.२.१)

१. उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तम्, विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च, वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्।। (पा०शि० ३५)

उपांशु = गुनगुनाकर, **दष्टम्** = सन्दष्ट, **त्वरितम्** = अत्यधिक शीघ्रता से, **निरस्तम्** = स्थान एवं करण का अपकर्ष करके, **विलम्बितम्** = नियत काल से अधिक समय में, **गद्गदितम्** = तुतला कर, **प्रगीतम्** = राग से युक्त, **निष्पीडितम्** = अल्पतर प्रयत्न से साध्य वर्णों को भी अधिकतम प्रयत्न से, **ग्रस्तपदाक्षरम्**[५] = वाक्य में शब्दों, शब्दों में वर्णों को ग्रस्त करके अर्थात् सम्पूर्ण शब्दों वा वर्णों को न बोलते हुये, **दीनम्** = उत्साह-रहित होकर **तु** = और **सानुनास्यम्** = निरनुनासिक वर्ण को नासिका से **न** = कभी भी न **वदेत्** = बोलें।

२. न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः[६]**।**
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति।।
(या० शि० २४, ना० शि० २.७.१२, अ० मां० शि० १५७)

न करालः = न कराल अर्थात् उन्नत व असम दाँतों वाला या जिसके दाँत बाहर निकले हों, वह **न लम्बोष्ठः** = न लम्बे ओष्ठ वाला **न अव्यक्तः** = न गुनगुनाने वाला **न अनुनासिकः** = न ही निरनुनासिक वर्ण को भी नासिका से बोलने वाला[७] **गद्गदः** = तुतलाने वाला अर्थात् वाग्धारा को रोक-रोक कर अक्षरों को एकाधिक बार बोलने वाला **च** = और **बद्धजिह्वः** = जिह्वा को अकड़ा, सख्त कर बोलने वाला व्यक्ति **वर्णान्** = वर्णों को शुद्ध-शद्ध **वक्तुम्** = बोलने में **न अर्हति** = समर्थ नहीं होता।

३. नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न गायेन्न च कम्पयेत्।
यथादावुच्चरेद् वर्णांस्तथैवैतान् समापयेत् ।। (या०शि० २४)

वर्णों को **न अभ्याहन्यात्** = अभ्याघात [=प्रहार] करके अर्थात् अधिक बलपूर्वक न बोलें **न निर्हन्यात्** = न ही निःशेष हनन करके अर्थात् वर्णों का लोप करके न बोलें अथवा स्थानभेद करके न बोलें **न गायेत्** = गाकर अर्थात् ह्रस्व

१. पदयोरन्तरे काल एकमात्रा विधीयते। (या०शि० ११)

२. चकार को अनुक्तसमुच्चय में माना जाय तो सत्यभाषणादि भी उत्तम वक्ता के गुण कहे जायेंगे।

३. शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् (मीमांसा० १.३.२५)। प्रयत्नविशेष से शब्द उच्चरित होता है, इसलिए शब्दोच्चारण में पुरुषापराध (अशक्तिप्रमादादिदोषों) की पूर्ण सम्भावना रहती है।

४. न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् (मनु० ४.१३८), वाचा ह्यपूतममेध्यं वदन्ति, तेषामिन्द्रियं वीर्यं वाचोऽपक्रामति (जै०ब्रा० २.२२२)।

५. पदानि च अक्षराणि च पदाक्षराणि, ग्रस्तानि पदाक्षराणि यत्र तद् वाक्यं रवणं (शब्दः) वा ग्रस्तपदाक्षरम् = अर्धोच्चारितं वाक्यं रवणं (शब्दः) वा।

६. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (अष्टा० १.१.८)।

७. निरनुनासिक वर्णों को सानुनासिक बोलने से अर्थभेद होकर वक्ता का अभीष्ट अर्थ प्रकट नहीं होता। जैसे— पाव-पाँव, हा (खेद) - हाँ (स्वीकार) आदि।

को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व आदि करते हुये राग सहित न बोलें **च** = और **न कम्पयेत्** = न ही कम्पित स्वर से बोलें **वर्णान्** = वर्णों को **आदौ** = प्रारम्भ में **यथा** = जैसे, जितनी गति एवं ध्वनि से **उच्चरेद्** = उच्चारित करें **तथा एव** = ठीक वैसे ही अर्थात् उतनी ही गति तथा ध्वनि से **एतान्** = इन उच्चार्यमाण वर्णों को **समापयेत्** = समाप्त करें, उच्चारित करें अर्थात् प्रत्येक वर्ण व शब्द के आदिम और अन्तिम गति तथा ध्वनि को एक जैसा स्पष्ट बोलना चाहिए।

४. **ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतम्, अम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।**
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतम्, विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥ (म०भा०,पस्प०,वा० २०)

१. **ग्रस्तम्**— जिह्वामूल को निग्रह [=स्तम्भन, कड़ा] करके व नीचे की ओर दबा कर बोलना[१], २. **निरस्तम्**— कण्ठ आदि स्थान और करण [=जिह्वा] का अपकर्ष करके बोलना अर्थात् वर्ण के उच्चारण में स्थान एवं करण का यथावत् प्रयत्न न करके अग्रिम (आगम्यमान) वर्ण के उच्चारणवत् स्थान तथा करण को चेष्टित करना[२] ३. **अवलम्बितम्**[३]— वर्णान्तर का आश्रय लेकर बोलना, ४. **निर्हतम्**— प्रहार करने जैसे प्रयत्न के साथ बोलना अथवा निश्शेष हनन के साथ अर्थात् किसी वर्ण का नितान्त लोप करके बोलना, ५. **अम्बूकृतम्**— ओष्ठों को बन्द सा करके बोलना[४] अथवा मुख से थुँक के छींटे निकालते हुए बोलना, ६. **ध्मातम्**— धौकनी की तरह मुँह फुलाकर वा अकस्मात् अधिक मात्रा में श्वास-निश्वासन के साथ बोलना[५] **अथो**— और ७. **विकम्पितम्**[६]— घबराहट वा कम्पन के साथ बोलना, ८. **सन्दष्टम्**— जबड़ों को दबाकर, अत्यधिक समीप लाकर बोलना,[७] ९. **एणीकृतम्**— उच्चत्व, नीचत्व रूपी असम ध्वनि व गति से बोलना, १०. **अर्धकम्**— नियत काल से आधे काल में बोलना, ११. **द्रुतम्**— अभ्यासकाल के अतिरिक्त काल में भी[८] अत्यधिक शीघ्रता से बोलना, १२. **विकीर्णम्**— वर्णों व शब्दों को बिखरे हुए से अर्थात् यथोचित सम्बद्धता से रहित बोलना[९], **एताः**— ऊपर कहे हुए बारह **स्वरदोषभावनाः**—

---

१. ग्रस्तम् आदि में जो नपुंसकलिङ्ग है, वह 'उच्चारणम्' की दृष्टि से है। अतः आगे सर्वत्र 'उच्चारणम्' को अध्याहृत कर 'बोलना' अर्थ कर दिया गया।

२. अनियन्त्रित(इधर-उधर चलायमान) स्थान एवं करण से वर्ण का यथावत् उच्चारण न होने से वह वर्ण अपने-अपने स्थान और करण से अपकृष्ट हो जाता है, इसे ही यहाँ 'निरस्तम्' कहा गया है।

३. कहीं-कहीं 'अविलम्बितम्' पाठ है। जिसका अर्थ 'अर्धकम्' 'द्रुतम्' से ही गतार्थ हो जाता है। यतोहि इन तीनों में कोई विशेष अर्थभेद नहीं है।

४. जल वा लार भरे मुँह से बोलते समय जल वा लार के बाहर निकलने के भय से दोनों ओष्ठ एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उच्चरित वर्ण व शब्द मुँह के भीतर ही रह जाते हैं अर्थात् श्रोता को स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं देते। इसी अस्पष्ट उच्चारण रूपी दोष को यहाँ अम्बूकृत कहा गया है।

५. श्वास की अधिकता से ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ के रूप में उच्चरित होता है, अतः यह भी एक दोष है। जैसे कि 'पलायतु-पालयतु या अल्पप्राण महाप्राण हो जाता है, यथा— कुतः, कुथः।

६. द्र०— आगे के अकम्पितान् (८) सूत्र की व्याख्या (पृ० २३१-२३२)।

७. किसी चीज को काटते समय जबड़े अत्यधिक समीप में आ जाते हैं, ऐसी स्थिति में नाद-ध्वनि दाँतों के मध्य से दबी हुई सी, कटी हुई सी निकलती है, अतः इस दोष को 'सन्दष्टम्' कहा गया है।

८. अभ्यासकाल में (कण्ठस्थीकरण के समय) द्रुतगति से बोलना दोष नहीं माना जाता है—
अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥ (या०शि० ५४)

९. शब्दों के शुद्ध-उच्चारण में वर्णों की सम्बद्धता अर्थात् यथोचित वर्ण विभाजन अत्यावश्यक है, जिसे छन्दःशास्त्र में यति कहते हैं। अन्यथा असम्बद्धता (अनुचित यति) से अर्थ-राहित्य और सम्बन्ध (यति) भेद से अर्थभेद हो जाता है।

तद्यथा —	नय-ज्ञ (=नीतिज्ञ)	—	न - यज्ञ (=अयज्ञ)
	विभा-षा (=विकल्प)	—	वि - भाषा (= विदेशी भाषा)

स्वरदोषज [1] अर्थात् स्वरों के उच्चारण में होनेवाले दोष हैं, जो कि परित्याज्य हैं।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने स्वर सम्बन्धी दोष और भी गिनाये हैं। जो निम्नप्रकार हैं—

५. संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्धको
ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति॥ (म०भा०,पस्प०,वा० २०)

१३. संवृतः— असंवृत अर्थात् विवृत प्रयत्न वाले वर्णों [आ, इ, ई...... सम्पूर्ण स्वर] [2] को भी संवृत वर्ण [अ] [3] के समान बोलना, **१४. कलः**— काकलक से बोले जाने वाले वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों को भी काकलक से बोलना, **१५. प्रगीतः**— सामगान के सदृश गाकर बोलना, **१६. उपगीतः**— समीपस्थ (आगे-पीछे के) वर्णों के गीत से अनुरक्त, [**क्ष्विण्णः** = कम्पनम्] **१७. रोमशः**— गम्भीरता से बोलना। ये भी स्वरोच्चारण के दोष हैं।

उपर्युक्त श्लोक [ग्रस्तम्......] में अपरिगणित दोषों की ही यहाँ व्याख्या की गई है। शेष की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

अब उदात्तादि स्वरों के उच्चारण से सम्बन्धित दोषों को दिखाते हैं —

६. असन्दिग्धान् स्वरान् ब्रूयात्। (ऋ०प्रा० ३.२९)

स्वरान् = उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय [एकश्रुति] स्वरों को **असन्दिग्धान्** = सन्देह [अस्पष्टता] से रहित अर्थात् यथावत् विस्पष्टता के साथ **ब्रूयात्** = बोलें।

वेद अपने उत्पन्न काल से लेकर आज तक श्रुतिपरम्परा [गुरु-शिष्य परम्परा] से ही सुरक्षित है। मन्त्रों के उच्चारण में उदात्त आदि का स्पष्ट उच्चारण न होने से यदि श्रोता वा शिष्य को सन्देह हो कि अमुक वर्ण उदात्त बोला गया अथवा अनुदात्त आदि, और यदि उस सन्देह की निवृत्ति न हुई तो वेद की परम्परा शनैः शनैः उच्छिन्न हो जायेगी। अतः यह एक महान् दोष है। जिसके लिए अत्यन्त सावधानता की आवश्यकता है।

७. अविकृष्टान्। (ऋ०प्रा० ३.२९)

स्वरान् = उदात्तादि स्वरों को अथवा अकारादि स्वरों को [सन्धि के स्थलों पर] **अविकृष्टान्**= पृथक्-पृथक् करके नहीं **ब्रूयात्** = बोलना चाहिये।

जैसे— '**पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते** (यजु० ३२.१४) का उच्चारण '**पि॒तर॑श्च॒ उ॒पास॑ते**' के रूप में करना, '**तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒....... यो॒३॑स्मान्०**'(अथर्व० ३.२७.१) का उच्चारण '**तेभ्यो॒ नमो॒ अधि॒पतिभ्यो॒..... यो॒३॑ अ॒स्मान्०**' करना महान् दोष है। अतः इस दोष का परित्याग करना चाहिये।

८. अकम्पितान्। (ऋ०प्रा० ३.३१)

वि-प्रयोग (=विरुद्ध प्रयोग)	—	विप्र - योग (=ब्राह्मण का योग)
आस- मान (=आकाश)	—	आ - समान (=समान होने तक)
ना- प- ता (=जिसका पता नहीं)	—	नाप - ता (=मापता है)
ना - भ्याहन्यात् (=अभ्याहनन न करे)	—	(नाभ्या - हन्यात् =नाभि से हनन करे)

इसी प्रकार वाक्य में भी असम्बद्धता से वाक्यत्व की हानि होकर वाक्य अर्थहीन हो जाता है तथा सम्बन्धान्तर से अर्थान्तर हो जाता है। जैसे कि 'यहाँ पर— देशीय घी मिलता है', 'यहाँ— पर देशीय घी मिलता है' 'उस परमेश्वर से— पहले आकाश उत्पन्न हुआ', 'उस परमेश्वर से पहले— आकाश उत्पन्न हुआ'। इतने से स्पष्ट हो गया होगा कि विकीर्णता से शब्द व वाक्य अर्थशून्य हो जाते हैं और अनुचित विकीर्णता (विभाजन) से भी कैसे अर्थ का परिवर्त्तन हो जाता है। अतः यह एक महान् दोष है। जिसका परित्याग अनिवार्य है।

१. यद्यपि इन्हें स्वरसम्बन्धी दोष कहा गया है, पुनरपि इन में से कुछ दोष व्यञ्जनोच्चारण में भी हो सकते हैं।

२. विवृतकरणाः स्वराः (शिक्षा ३.८)।

३. संवृतस्त्वकारः (शिक्षा ३.१२)।

स्वरान् =वैवृत्तादि पाञ्च स्वरित स्वरों को **अकम्पितान्**=कम्प [कम्पन] रहित **ब्रूयात्**=बोलना चाहिये।

इससे पूर्व पारिभाषिक शब्दों में स्वरित का स्वरूप और उसके भेदों का वर्णन किया गया है (पृ० २२२-२२४)। अब स्वरित के उच्चारण प्रकार की विशेष विधि का उल्लेख करते हैं। प्रातिशाख्यों में कहा गया है कि स्वरित का आद्य अंश जो अर्धमात्रिक उदात्त है, वह उदात्ततर (=उदात्त से भी उच्चतर) बोला जाता है[1] और अवशिष्ट अंशभूत अनुदात्त उदात्त के रूप में उच्चरित होता है[2] यदि उस स्वरित के बाद उदात्त अथवा स्वरित न हो तो[3]। जैसे– **'तेंऽवर्धन्त'** (ऋ० १.८५.७) [ते। अवर्धन्त]। परन्तु यदि स्वरित के बाद उदात्त अथवा स्वरित हो तो स्वरित का अवशिष्ट परवर्तीय अनुदात्त भाग अनुदात्त ही बोला जाता है।[4] जिसे ऋक्प्रातिशाख्यकार कम्प और चतुरध्यायिकाकार विकम्पित[5] कहते हैं। यथा– **जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।**

एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ (ऋ०प्रा० ३.३४)

अभिनिहितप्रश्लिष्टजात्यक्षैप्राणामुदात्तस्वरितोदयानामणुमात्रा निघाता विकम्पितं तत्कवयो वदन्ति। (च०अ० ३.६५)

अर्थात् उदात्त अथवा स्वरित बाद में हो तो जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये स्वरित स्वर 'कम्प' को प्राप्त करते हैं अर्थात् अणुमात्रा ($^1/_4$) कालावधि में ये कम्प के साथ उच्चरित होते हैं।

जात्यादि स्वरितों के बाद उदात्त की स्थिति होने पर उच्चारण की प्रक्रिया इस प्रकार चलती है – स्वरित का आद्य अंश भूत उदात्त का उच्चारण उदात्ततर (उच्चतर) किया जाता है, उसके पश्चात् तुरन्त ही स्वरित का अवशिष्ट, परभागीय अनुदात्त के उच्चारण के लिए नीचे उतरना पड़ता है, पुनः उदात्त के उच्चारण के लिए ध्वनि को ऊपर चढ़ाना पड़ता है। इस प्रकार दो अर्थात् उच्चतर एवं उच्च स्वरों के मध्य में अनुदात्त (नीचत्व) का उच्चारण अणुमात्रा काल में एक झटके के साथ होता है। इसे ही यहाँ 'कम्प' या 'कम्पित' कहा गया है। यह कोई दोष नहीं है। परन्तु जात्यादि से भिन्न स्वरितों में भी 'कम्प' करना और उदात्त एवं अनुदात्तों में भी 'कम्प' करना दोष है। जिसका निषेध प्रकृत सूत्र में **'कम्पित'** शब्द से और **'ग्रस्तं निरस्तं०'** श्लोक में **'विकम्पितम्'** शब्द से किया गया है।

'कम्प' युक्त स्वरितों के उच्चारण में अज्ञानवश प्रायः एक महान् दोष होता है। जिसका वर्णन करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। अतः स्थान संकोच न करते हुए इसका भी यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। 'कम्प' स्वरितों की लेखनपद्धति इस प्रकार है –

१. यदि ह्रस्व वर्ण 'कम्प' युक्त स्वरित हो तो 'कम्प' के प्रदर्शनार्थ उस ह्रस्व स्वरित वर्ण के बाद १ संख्या लिखकर, उस १ संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (') तथा नीचे अनुदात्त का चिह्न (_) लिखा जाता है। यथा– **'अहं न्य१ं न्यं सहसा०'** (ऋ० १०.४९.८)। यहाँ 'न्य' क्षैप्रस्वरित है और बाद में उदात्तवान् 'न्यं' अक्षर है। अतः 'न्य' के स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण कम्प सहित होता है। स्वरित वर्ण की आद्य अर्धमात्रा उदात्त (उदात्ततर) होती है। शेष अंश अनुदात्त का होता है। और 'कम्प' का उच्चारण अनुदात्त अंशों में ही होता है, यह

---

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा (ऋ०प्रा० ३.४),
तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य (तै०प्रा० १.४१)।
२. अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः (ऋ०प्रा० ३.५), उदात्तसमः शेषः (तै०प्रा० १.४२)।
३. न चेत् उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम् (ऋ०प्रा० ३.६)।
४. यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात्तदानुदात्तः पर शेषः स्यात् (उवटः, ऋ०प्रा० ३.६)।
५. 'ग्रस्तं निरस्तं' श्लोक में आगत 'विकम्पित' शब्द भी यही पारिभाषिक शब्द है। वहाँ सामान्य अर्थ किया गया है। यहाँ प्रतिपादित विशेष अर्थ वहाँ भी अभिष्ट है।

बताया गया है। प्रकृत उदाहरण में कम्प युक्त ह्रस्व स्वरित 'न्य' अक्षर के 'अ' वर्ण में दो अर्धांश हैं। एक अर्धांश उदात्त (उदात्ततर) है एवं एक अर्धांश अनुदात्त है। तो यहाँ कम्प एक अर्धांश में होने के कारण एक (१) संख्या लिखते हैं और वह अनुदात्त अंश में ही है, इसको बतलाने के लिए १ संख्या के नीचे अनुदात्त का चिह्न दिखाते हैं (१॒)। स्वयं के स्वरितत्व का प्रदर्शन स्वरित चिह्न (१॑) से दिखाया जाता है।

२. यदि दीर्घ वर्ण 'कम्प' युक्त स्वरित हो तो, वहाँ 'कम्प' के प्रदर्शनार्थ उस दीर्घ स्वरित वर्ण के पश्चात् ३ संख्या लिखकर, उस ३ संख्या के ऊपर 'स्वरित' का चिह्न (॑)एवं नीचे 'अनुदात्त' का चिह्न (_) लगाया जाता है तथा उस स्वरित वर्ण के नीचे भी 'अनुदात्त' का चिह्न लगाया जाता है।[1] जैसे— **'अ॒भी॒३॑दमेक॒मेको॑ अस्मि'** (ऋ० १०.४८.७)। यहाँ 'भी' प्रश्लिष्ट स्वरित है और 'द' वर्ण उदात्त है। अतः 'भी' के स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण 'कम्प' सहित होता है। 'भी' के दीर्घ स्वरित 'ई' वर्ण में चार अर्धांश [१/२ + १/२ + १/२ + १/२ = २] हैं। आद्य अर्धांश में उदात्त (उदात्ततर) है तथा शेष तीन अर्धांश में अनुदात्त है। इन्हीं तीन अनुदात्त भूत अर्धांशों में ही कम्प विद्यमान है। यही बात ३॒ के रूप में दिखायी जाती है। और 'भी' अक्षर स्वयं स्वरित ही है। अतः उसके अपने स्वरितत्व का प्रदर्शन ३॑ के रूप में होता है। तात्पर्य यह है कि 'भी' अक्षर में विद्यमान अनुदात्तभूत तीन अर्धांशों में कम्प है। इसके प्रदर्शनार्थ ३ संख्या लिखी जाती है। पर इसकी अनभिज्ञता में लोग इसे (कम्प परिमाण को) प्लुत समझकर 'यो॒३॑स्मान् द्वेष्टि॒०'(अथर्व० ३.२७.१) इत्यादि सभी मन्त्रों में प्लुत का उच्चारण करते हैं। जो कि नितान्त अशुद्ध और अशास्त्रीय है। अतः इस दोष को भी दूर करना चाहिए।

९. स्वरितं नातिनिर्हण्यात् (ऋ०प्रा० ३.३२)

स्वरितम् = स्वरित **स्वरम्** = स्वर को [आक्षेप = तिर्यग्गमन के द्वारा] **न, अतिनिर्हण्यात्** = अत्यधिक न खीचें।

१०. पूर्वौ नातिविवर्तयेत् (ऋ०प्रा० ३.३३)

पूर्वौ = पूर्व के दो **स्वरौ** = उदात्त और अनुदात्त स्वरों को बोलते समय **न, अतिविवर्तयेत्** = उच्चारणावयवों के आयाम = ऊर्ध्वगमन एवं विश्रम्भ = अधोगमन के द्वारा अति दूर न ले जाएं अर्थात् उदात्त तथा अनुदात्त के उच्चारण में उच्चारणावयवों को क्रमशः बहुत ऊपर और बहुत नीचे न ले जाएं।

११. अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः। शशः षष इति मा भूत्,
पलाशः पलाषः इति मा भूद्, मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्। (मा०भा०, पस्प०)

ऊपर जो ग्रस्त, निरस्त आदि सत्रह स्वरोच्चारण में सम्भावित दोष दिखाये गये हैं, **अतः** = तत्पश्चात् अब उनसे **अन्ये** = अतिरिक्त **व्यञ्जनदोषाः** = व्यञ्जनों के उच्चारण में सम्भावित दोष दिखलाते हैं। **शशः षष इति मा भूद् ....** आदि का तात्पर्य है कि तालव्य शकार का उच्चारण मूर्धा व दाँतों से नहीं करना चाहिए, मूर्धन्य षकार को तालु वा दाँतों से नहीं बोलना चाहिए और दन्त्य सकार तालु वा मूर्धा से उच्चरित नहीं करना चाहिए तथा चकार का उच्चारण जकार के रूप में होना उचित नहीं है अर्थात् प्रत्येक वर्ण का उच्चारण अपने-अपने निश्चित स्थान से ही करना चाहिए।

यही भाव निम्न श्लोक में भी कहा गया है —

---

१. स्वरित ह्रस्व वर्ण में उदात्त एवं अनुदात्त के अंश समान होने से उदात्त की प्रधानता होती है। अत एव कम्पयुक्त ह्रस्व (अच्) को अचिह्नित ही रखा जाता है। जैसे कि ऊपर ''न्य१॑'' के उदाहरण में दिखाया गया है। परन्तु दीर्घ स्वर के स्वरित होने पर उसमें आद्य अर्धमात्रा (१/२) उदात्त एवं अवशिष्ट सार्धमात्रा (१ १/२) अनुदात्त होता है। इसमें आधिक्यवश अनुदात्त की ही प्रधानता होती है। इसीलिए कम्पयुक्त दीर्घ स्वरित वर्ण को ३॒ के रूप में लिखने पर भी अनुदात्त की प्रधानता के प्रदर्शनार्थ स्वरित वर्ण के नीचे भी अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है। जैसे कि प्रकृत उदाहरण ''भी॒३॑'' में प्रदर्शित है।

यद्यपि पुत्र बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

व्यञ्जनों में श, ष, स के उच्चारण में प्रायः अशुद्धि हो जाती है, अत एव भाष्यकार ने इनकी ओर सभी का ध्यान यहाँ विशेषतः आकृष्ट किया है। नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा कि 'श' आदि का यथावत् उच्चारण न होने से कैसे अर्थ का परिवर्तन होता है।

श	⇆	स
शङ्कर (कल्याणकारी)	↔	सङ्कर (सम्मिश्रण, मिलावट)
शकल (टुकड़ा)	↔	सकल (सम्पूर्ण)
शकृत् (मल)	↔	सकृत् (एक बार)
शाकम् (सब्जी)	↔	साकम् (एक साथ)
श्वः (कल-भावी)	↔	स्वः (अपना, धन)
श्रवण (सुनना)	↔	स्रवण (बहना)
प्राशन (खाना)	↔	प्रासन (फेंकना)
अंश (भाग)	↔	अंस (भुजा)
समाशः (सहभोजन)	↔	समासः (एकीकरण)
शफम् (खुर)	↔	सफम् (सामगानविशेष)
शब्द (पद, अवाज़)	↔	सब्द (दिन)
शर (तृणविशेष)	↔	सर (Sir = श्रीमान्, मुखिया, अध्यापक)

श	⇆	ष
विश (राज्य, प्रजा)	↔	विष (ज़हर)
विशय (शंका, प्रश्न)	↔	विषय (नेत्रादियों का विषय, Subject)

ष	⇆	स
अक्षर (अक्षर)(वर्ण)	↔	अक्सर (प्रायः)
भाषा	↔	भासा (दीप्ति, प्रकाश)

इसी प्रकार सभी भाषाओं में उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है। जैसे कि अंग्रेजी में देखें— Shame (शेम = लज्जा) ↔ Same (सेम = वही) । वैसे ही हिन्दी में पाश (पाशे, अक्ष) ↔ पास (समीप)। अतः इन श आदि को और सभी व्यञ्जनों को शिक्षा की विधियों के अनुसार सावधानी से बोलना चाहिए।

१२. **शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।**
काकस्वरं मूर्धिगतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥ (पा०शि० ३४, या०शि०२८,२९)

१. **शङ्कितम्**— सन्दिग्ध होकर बोलना कि यह 'प' है या 'ष' अथवा 'य' है; यह 'व' है या 'ब';

अथवा पदच्छेद की सन्दिग्धता से या मन्त्रादि के पढ़ते समय उच्चारित वर्णों को मैंने शुद्ध बोला है कि नहीं[१] इत्यादि की आशङ्काओं से बोलना, **२. भीतम्** — भय के साथ बोलना[२], ३. **उद्‌धृष्टम्** — सन्दष्टम्, **अव्यक्तम्** — अस्पष्ट उच्चारण, ५. **अनुनासिकम्** — निरनुनासिक वर्णों को भी अनुनासिकता से बोलना, ६. **काकस्वरम्**— कौवे के समान अर्थात् स्वरयन्त्र को संकुचित कर ऊँची ध्वनि से कर्कश बोलना, ७. **मूर्ध्निगतम्**— अनावश्यक पुनः पुनः मूर्धा में स्पर्श करके बोलना[३], **तथा** और ८. **स्थानविवर्जितम्**— यथोचित स्थान को छोड़कर भिन्न स्थान से बोलना[४], ९. **विस्वरम्**— उच्चत्व, नीचत्व आदि स्वर से रहित बोलना या विपरीत (अशुद्ध) स्वर का उच्चारण करना, १०. **विरसम्** — मधुरता से रहित बोलना, ११. **विश्लिष्टम्** — संयुक्त वर्णों को असंयुक्त बोलना, यथा— 'मन्त्र' को 'मन्तर'। १२. **विषमाहतम्**— समता से रहित अर्थात् ह्रस्व को दीर्घ [ध्मात-दोष], दीर्घ को ह्रस्व [अर्द्धक-दोष] बोलना, १३. **व्याकुलम्** — मन की चञ्चलता व स्तब्धता [जड़ता] की स्थिति में बोलना[५], **च** और **१४.तालहीनम्** - नियतकाल से रहित अर्थात् यति आदि से हीन बोलना, ये **चतुर्दश** चौदह **पाठदोषाः** बोलने में सम्भावित दोष हैं। अतः इन्हें सुधियों को त्यागना चाहिए।

१३. गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।। (पा०शि० ३२, या०शि० १९८)

गीती = गाकर बोलने वाला, **शीघ्री** = अतिशीघ्रता से बोलने वाला, **शिरःकम्पी** = शिर को हिलाते हुये, झूमते हुये बोलने वाला, अपने व दूसरे के द्वारा **यथा** = जैसे **लिखितपाठकः** = लिखा हुआ है, वैसा ही पढ़ने वाला अर्थात् शुद्धाशुद्ध को न जानने वाला, **अनर्थज्ञः** = अर्थ को न जाननेवाला, **अल्पकण्ठः** = शिथिल कण्ठ से बोलने वाला अर्थात् थोड़ी ही देर में जिसका गला बैठ जाता है, वह **एते**=ये **षड्** = छह प्रकार के **पाठकाधमाः** = पाठक अधम हैं, निन्दित हैं। अतः **'पाठकाधमा मा भूमेत्यध्येयं शिक्षाशास्त्रम्'** हम अधम, निन्दित पाठक न बनें, इसीलिए शिक्षा-शास्त्र को पढ़ना चाहिए।

५.४ शब्दोत्पत्ति-रहस्य

वाणी और प्राण ये दोनों मानव-जीवन के अमूल्य निधि हैं। इनके सम्बन्ध एवं व्यापार को अवश्य जानना चाहिए। कहा भी गया है कि — **'वाक्प्राणयोर्यश्च होमः'** (विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति-४) अर्थात् वाणी और प्राण का जो परस्पर होम है, उसे भी जानना चाहिए। यहाँ इन दोनों के व्यापार को होम कहा है। क्योंकि जब पुरुष वाणी का व्यापार करता है, तब प्राण वाणी में होता है अर्थात् वाणी का ही उच्चारणरूप व्यापार होता है, उच्छ्वास-निःश्वासरूप प्राण का व्यापार नहीं होता है। उस समय वाणी प्राण को खा जाती है, मानो वह्निस्थानीय वाणी में होमद्रव्यरूप प्राण का होम हो रहा है। जब पुरुष वाणी का व्यापार नहीं करता, यानी मौन रहता है अथवा सोता है, तब वाणी प्राण में होती है अर्थात् वाणी का व्यापार दृग्गोचर नहीं होता, अपितु प्राण मात्र का व्यापार दृष्टिगोचर होता है, उस समय प्राण वाणी को खा जाता है, मानो वह्निस्थानीय प्राण में होमद्रव्यरूपी वाणी का होम हो रहा है।[६]

---

१. इस प्रकार के सन्देह से पढ़ते समय आगे का पाठ अशुद्ध हो जाता है, अतः निस्सन्देह होकर पढ़ना चाहिए।

२. सभादि में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सामने बोलते समय भयाक्रान्त होकर बोलने में अशुद्धि हो जाती है, कण्ठादि सूख जाते हैं, शरीर काँपता है। अतः हँसी के पात्र न बनने के लिए निर्भय होकर बोलना चाहिए।

३. जैसे कि 'कौन' को 'कौण' आदि बोलना।

४. जैसे कि 'श' को 'ष' और 'ष' को 'स' आदि बोलना।

५. भयाक्रान्त होने पर मन में अत्यधिक चञ्चलता अथवा जड़ता आ जाती है, इस क्षण में सारे के सारे वर्ण एक साथ आँखों के सामने उपस्थित हो जाते हैं, फलतः शब्द के पृथक्-पृथक् ग्रहण न होने से, न दिखाई देने के समान (आँखों में अन्धेरा छा जाने के समान) हो जाने से पाठक कुछ भी पढ़ नहीं पाता। इसी दोष को यहाँ 'व्याकुलता' कहा गया है।

६. यावद्वै पुरुषः प्राणिति, न तावत् भाषितुं शक्नोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति.......यावद्वै पुरुषो भाषते, न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति (कौ०ब्रा० २.५, शां०आ० ४.५; अपि च द्र० ऐ०आ० ३.१.६, ३.२.६)।

यह होम अहर्निश, निरन्तर अनुष्ठित होता ही रहता है। फलस्वरूप प्राण से मनुष्य का अस्तित्व एवं वाणी से मानवता सुरक्षित होती है। अतः यहाँ इस होम (इन दोनों के व्यापारभूत शब्दोत्पत्ति प्रकार) को समझने का प्रयत्न करते हैं।

प्राणिमात्र के शरीर में होने वाली छोटी से छोटी क्रिया भी आत्मा की प्रेरणा से ही होती है। आत्मा की प्रेरणा के विना कोई भी क्रिया, चेष्टा सम्पन्न नहीं हो सकती। अतः शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया भी आत्मा से ही प्रारम्भ होती है। शब्दोत्पत्ति को समझने से पूर्व श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को समझना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वही शब्द का मूलभूत कारण है।

जब हम आत्मा की प्रेरणा से प्राण को बाहर से अन्दर की ओर लेते हैं, तब वह श्वास-नलिका के द्वारा फेफड़े में भर जाता है, फलतः फेफड़ा फूलता है। इसके फूलने से आँते (Intestine) आदि (Diaphragm) नीचे की ओर दब जाती हैं, जिससे पेट भी फूलता है। जब प्राण को छोड़ना होता है, तब आत्मा बुद्धि को प्रेरित करता है, वह बुद्धि मन को, मन जठराग्नि को, जठराग्नि नाभि प्रदेश में विद्यमान व्यान नामक वायु को प्रेरित करता है। जो कि सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में गति को उत्पन्न करने वाला है।[1] अग्निप्रेरित यह व्यान वायु उदर (Diaphragm) को संकुचित करता है, अन्दर की ओर दबाता है। परिणामतः फेफड़े भी दब जाते हैं। जिससे उसमें पूरित प्राण बाहर निकलने हेतु कण्ठ की ओर प्रस्थान करता है। जिसे उदान वायु कहते हैं। जो कि शब्दोत्पत्ति का मूलकारण है।[2] यही उदान वायु स्वरयन्त्र, कण्ठ आदि स्थानों में विविध रूपों में विकृत होकर शब्द को उत्पन्न करता है।[3]

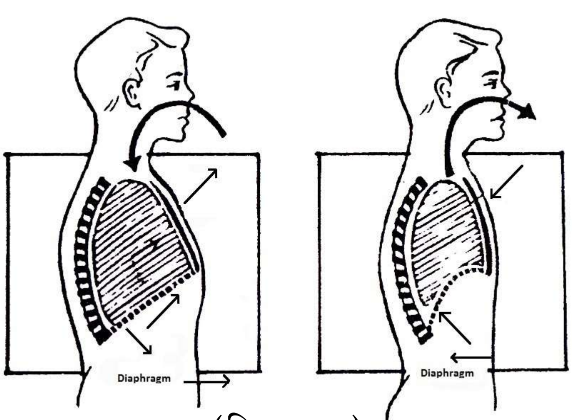

(चित्र– ३)

---

१. यह वायु सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होता है और शरीरावयवों की निखिल चेष्टाओं का जनक है तथा रसादि का संवाहक भी है —
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥ (सु०निदान० १ अ०)
व्यानो नाम वायुः सर्वशरीरगः पेशीनां प्रचेष्टनः सिराधमन्यादीनां संकोचप्रसारकरो मस्तिष्कसौषुम्निकनाडीतन्त्रमूलः (प्र०श०, भाग ३, पृ०१६७)।
व्यानो नाम विश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती (वे०सा०१३)। अपि च सां०का०२९ इत्यत्र वाचस्पतिमिश्रगौडपादा द्रष्टव्याः।
पूरे वायु पाँच प्रकार के हैं— १. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. उदान, ५. समान।

२. उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च। वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नोर्ज्जोबलवर्णादि कर्म च॥ (च०चि० २८.४)
उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलाञ्चरेत्। वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्ज्जो बलवर्णस्मृतिक्रियः॥ (अ०हृ०सू० १२अ०)
उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः। (वाचस्पतिमिश्रः, सां०का०२९)
ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः,
तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। (गौडपादः, सां०का० २९)
उदानः कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। (वे०सा० १३)

३. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनो मस्तिष्कमाहन्ति तच्च सङ्कोचयत्युरः।
संकोचाद् वक्षसो वायुः प्रेरितः फुस्फुसाद् बहिः। प्रणाल्या कण्ठमागत्य सत्वरं कुरुते स्वरम् ॥ (वृद्धशिक्षाशास्त्रम् — १,२)

५.४.१ ध्वनियन्त्र का परिचय-

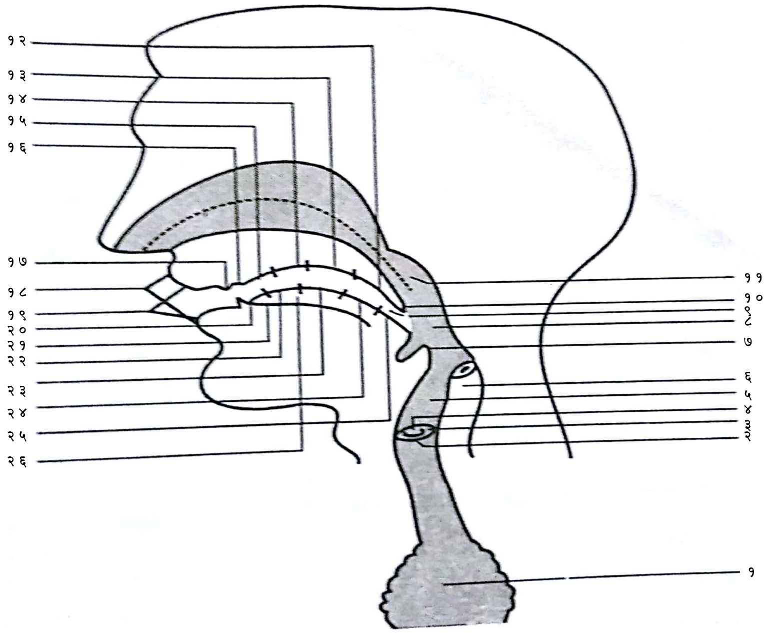

(चित्र – ४)

१. फुफ्फुस, फेफड़े, उरः (Lungs) २. स्वरयन्त्र, ध्वनियन्त्र, कण्ठपिटक (Larynx)
३. स्वरतन्त्री, ध्वनितन्त्री, स्वर-ओष्ठ (Vocal Cords)
४. काकल, काकलक, स्वरयन्त्रमुख, कण्ठ, उरः (Glottis) ५. श्वास- नलिका (Wind-pipe)
६. भोजन - नलिका, ग्रसनी (Gutter)
७. अभिकाकल, स्वरयन्त्र-आवरण, श्वासनलिका-आवरण (Epiglottis)
८. उपालिजिह्वा, गलबिल, कण्ठमार्ग, कण्ठ (Pharynx) ९. मुखविवर (Mouth Cavity)
१०. अलिजिह्वा, कौवा, शुण्डिका, घंटी (Uvula) ११. नासिका-विवर (Nasal Cavity)
१२. कण्ठ, जिह्वामूल[1], कोमलतालु (Soft Palate, Gutter) १३. मूर्धा (Cerebrum)
१४. तालु, कठोरतालु (Hard Palute)
१५. वर्स्व, वर्त्स, बर्स्व (Alveolus) १६. दन्तमूल
१७. दन्त (Teeth) १८. सृक्कि १९. ओष्ठ (Lip)
२०. जिह्वाग्र, जिह्वाणि, जिह्वानोक (Tip of the Tongue, Apex)
२१. निम्नजिह्वोपाग्र, जिह्वाग्राधः २२. ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र, जिह्वाफलक
२३. जिह्वामध्य (Middle of the Tongue)
२४. जिह्वापश्च, जिह्वापृष्ठ, पश्चजिह्वा (Back of the Tongue)
२५. जिह्वामूल (Root of the Tongue) २६. जिह्वा (Tongue)

---

१. द्र०—शिक्षाशास्त्रम् के १.४, २.२, २.८ सूत्रों की शिक्षातत्त्वालोकभाष्य।

जब हम श्वास लेते हैं, तब श्वास (प्राण) श्वासनलिका के द्वारा अन्दर की ओर प्रवेश कर वक्षःस्थल के दोनों ओर विद्यमान फेफड़ों में भर जाता है। पुनः वहीं से अशुद्ध वायु उसी श्वासनलिका के द्वारा बाहर निकल जाता है। इस श्वासनलिका के समानान्तर में भोजन-नलिका (ग्रसनी) रहती है। जिससे भोजन अर्थात् अन्न पदार्थ और पानी अन्दर जाकर आमाशय में पहुँचते हैं। इन दोनों नलिकाओं के मध्य में एक पतली दीवार होती है, जो कि इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करती है। गलबिल एक चौराहा (चतुष्पथ) जैसा है, जहाँ प्राण एवं भोजन के मार्ग मिलते हैं। जब हम भोजन को निगलते हैं वा पानी पीते हैं, तब अलिजिह्वा कठोर होकर खड़ी हो जाति है। फलतः श्वास- प्रक्रिया बन्द हो जाती है और अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास- नलिका को बन्द कर देता है। जिससे भोजनादि श्वास-नलिका में न जाकर सीधा भोजन-नलिका में पहुँच जाता है। खाते समय बोलने वा हँसने से अभिकाकल श्वास- नलिका को पूर्णरूप से बन्द नहीं कर पाता। क्योंकि जिस समय बोल रहे होते हैं व हँस रहे होते हैं, तब श्वास बाहर निकलता है अर्थात् अभिकाकल कुछ खुला रह जाता है। उसी समय यदि भोजन वा पानी वहाँ पहुँच जाए तो भोजन का अंश श्वास- नलिका में भी प्रवेश करने लगता है। तब फेफड़े की वायु उस अंश को जोर से धक्का देकर बाहर निकाल देता है। अन्यथा कभी - कभी मृत्यु तक हो जाती है। अत एव हमारे शास्त्रकारों ने भोजन के समय बोलना व हँसने को मना किया है। अस्तु, जो वायु अन्दर की ओर आता है, वह प्राणदाता अवश्य है, पर वर्णोच्चारण में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है अर्थात् श्वास लेते समय वर्णों का उच्चारण नहीं होता। जो अशुद्ध वायु फेफड़ों से बाहर निकलता है, वही वर्णों के उच्चारण में पूर्ण समर्थ होता है। अतः यही वायु मानव को भाषा प्रदान करनेवाला है। यह वायु बाहर निकलता हुआ भिन्न-भिन्न स्थानों पर विकृत होता हुआ वर्णों (शब्दों) को उत्पन्न करता है। यह सबसे प्रथम स्वर-यन्त्र पर विकृत होता है।

५.४.२ स्वरयन्त्र का परिचय और कार्य—

श्वास-नलिका जो कि लगभग १५ से०मी० की होती है, इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर कोमल हड्डी (कार्टिलेज) के C की आकृति के छल्ले होते हैं। सबसे ऊपर का छल्ला अपेक्षा कृत कुछ बड़ा एवं मोटा होता है। यही वयस्क, वृद्ध वा दुर्बल पुरुषों के गले पर उभरा हुआ दिखाई देता है, जिसे लोक में टेंटुआ या घाँटी कहते हैं। इसी छल्ले में अर्थात् श्वास- नलिका के ऊपर, अभिकाकल के नीचे टेंटुवें के ठीक पीछे 'स्वरयन्त्र' रहता है। फेफड़े से आगत वायु को ध्वनि के रूप में परिवर्तित करनेवाला प्रमुख एवं प्रथम अवयव यही है, अतः इसे ध्वनियन्त्र भी कहते हैं।[1] इसी के मध्य से प्राण आता जाता रहता है। इसमें बहुत पतली झिल्ली से निर्मित, लचीली, अति कोमल, कम्पनशील दो परदे होते हैं। जो कि श्वासनलिका पर द्वार के दो किवाड़ों के सदृश होते हैं। इन्हें 'स्वर-तन्त्री','स्वर-रज्जु' आदि कहते हैं।[2] इनकी खुलापन, बन्द, सामीप्यता, दूरत्व, कठोरता, शिथिलता, सकम्पन, कम्पनरहित आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं। इन अवस्थाओं को सम्यक्तया समझने के लिए अलिजिह्वा से लेकर स्वरयन्त्र तक के चित्र तथा स्वरतन्त्रियों की खुली अवस्था से लेकर बन्द अवस्था तक के अनेक असली चित्र आगे क्रमशः दिये गये हैं। जिनसे विना किसी विशेष व्याख्यान के ही उनकी अवस्थाओं का सरलतया बोध हो जाएगा।

---

१. ओस्कार रसेल (Oscar Russell) ने इसे 'मानवीय- ध्वनि - प्रसारण - केन्द्र' कहा है। प्रो०वी०ई० नेगस (V.E. Negus) का कथन है कि यही यन्त्र है, जिसने मानव को भाषा देकर उसे मानव श्रेणी में रखा है। (द्र०—कपिलदेव द्विवेदी कृत 'भाषा-विज्ञान एवं भाषा शास्त्र' पृष्ठ १२९)।

२. ये दो परदे तार (तन्त्र) या रस्सी की आकृति में नहीं होते, अपितु ओठों के सदृश होते हैं। अतः आधुनिक लोग स्वरतन्त्री या स्वर-रज्जु नाम को अनुचित मानते हैं। वे 'स्वर-ओष्ठ' नाम को अधिक उचित मानते हैं।

शिथिल अवस्था में इन स्वरतन्त्रियों की लम्बाई सामान्यतया पुरुषों में पौन इञ्च तथा स्त्रियों में आधी इञ्च होती है और सख्त अवस्था में क्रमशः एक इञ्च एवं पौन इञ्च होती है। इनकी खुलने और बन्द होने रूपी गति सामान्यतया बोल-चाल के समय पुरुषों में प्रति सेकण्ड १०९ से १६३ तक के चक्र और स्त्रियों में प्रति सेकण्ड २१८ से ३२६ तक के चक्र होती हैं। इसके अतिरिक्त अभिनेता, संगीतज्ञों तथा प्रभावशाली, कुशल वक्ताओं में भावावेश के अनुसार अपेक्षाकृत अत्यधिक गति व कम्पन होता है। इनकी गति की अधिकतम सीमा प्रति सेकण्ड २०४८ तक होती है और न्यूनतम ४२ तक। प्रत्येक ध्वनि के उच्चरित होने के पश्चात् दोनों एक-दूसरें से मिलकर श्वासनलिका के द्वार को बन्द करती हैं, पुनः शीघ्र ही दूसरी ध्वनि को बोलने हेतु खुलती हैं।[1] इनकी खुलने एवं बन्द होने, कम्पित होने आदि सभी क्रियायें नियन्त्रित होती हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा प्राप्त प्रेरणा से ही होती हैं। क्रोधावस्था में विवेक के खो जाने से मन अनियन्त्रित हो जाता है, अतः स्वरतन्त्रियों की गति भी अनियन्त्रित हो जाती है। फलतः उन्मत्तों के तुल्य कुछ का कुछ बोला जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि शान्त होकर बोलना चाहिए। किसी-किसी में शारीरिक व मानसिक कमी के कारण ये स्वरतन्त्रियाँ अनियन्त्रित हो जाती हैं। फलतः वे रुक-रुक कर या तुतलाते हुये बोलते हैं।

५.४.३ स्वरतन्त्रियों की विविध अवस्थाएँ –

स्वरतन्त्रियों की खुलने, बन्द होने, समीप व दूर रहना आदि अनेक अवस्थाएँ हो सकती हैं। उनमें से यहाँ केवल प्रमुख एवं आवश्यक अवस्थाओं की ही चर्चा की जा रही है।

१. स्वरतन्त्रियों की प्रथम स्थिति श्वास लेते समय की है(द्र० चित्र सं० ७)। इस अवस्था में दोनों स्वरतन्त्रियाँ एक- दूसरे से अधिकतम दूरी पर रहती हैं। अतः श्वास निर्बाध गति से, विना किसी घर्षण के ही दोनों के बीच से अन्दर प्रवेश कर लेता है। इसीलिए इस स्थिति में वे दोनों शिथिल, कम्पन रहित और सर्वथा पृथक्-पृथक् रहती हैं। इस समय इन दोनों के बीच की आकृति अर्थात् काकल या स्वरयन्त्रमुख की आकृति सर्वाधिक चौड़ी होती है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार के वर्ण उच्चरित नहीं होते।

२. दूसरी स्थिति श्वास के निकालते समय की है (द्र० चित्र सं० ८)। श्वास लेते समय की अपेक्षा श्वास निकालते समय काकल की चौड़ाई कुछ कम होती है अर्थात् स्वरतन्त्रियाँ कुछ समीप आ जाती हैं। इस अवस्था में भी श्वास (वायु) विना घर्षण के ही, निर्बाध गति से अधिक मात्रा में बाहर निकल जाता है।

३. तीसरी स्थिति विवृतदशा की है (द्र० चित्र सं० ९,१०)। इस स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ अपेक्षा कृत और अधिक समीप आ जाती हैं। फलतः बाहर निकलते हुए वायु का इनसे घर्षण होता है। जिससे उतना नाद उत्पन्न होता है कि जितने से वर्ण (शब्द) की उत्पत्ति हो सके और वायु (श्वास) अधिकमात्रा में निकलता है। इस स्थिति को या इस स्थिति से उच्चरित वर्णों को विवृत, श्वास एवं अघोष स्थिति या वर्ण कहते हैं।

४. चौथी अवस्था संवृतदशा की है (द्र० चित्र सं० ११,१२)। पूर्व स्थिति की अपेक्षा इस चौथी स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ और अधिक समीप आ जाती हैं। वायु के निकलने का मार्ग न्यून होता है। अतः वायु इस संकीर्ण मार्ग (संवृत काकल) से निकलता हुआ, स्वरतन्त्रियों में घर्षण कर उनमें कम्पन उत्पन्न कर देता है। इस कम्पन से पूर्व स्थिति की अपेक्षा अधिक नाद उत्पन्न होता है और इस दशा में वायु अपेक्षाकृत कुछ कम ही बाहर निकलता है। इस स्थिति में उच्चरित वर्ण संवृत, नाद एवं घोष वर्ण कहलाते हैं।

इन उपर्युक्त चारों स्थितियों में स्वरतन्त्रियाँ तथा गले की माँसपेशियाँ लगभग शिथिल ही रहती हैं।

---

१. पर दो वर्णों के मध्य में ह्लादसंज्ञक (घोषविशेष) ध्वनि निस्सृत होती है– ''प्रयत्नविशेषजनितो वर्णविरामेऽप्यनुरणनरूपो वर्णान्तरोच्चारणेऽप्यनुवर्त्तमानो घोषो 'ह्लादः' उच्यते''(प्रदीपः१.४.१०८, वा० ६; पृ० ३०८)।

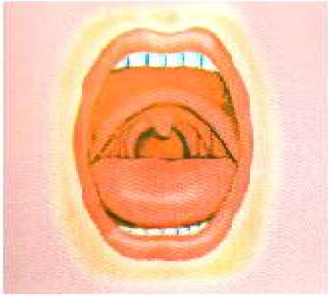

१.

मुख और अलिजिह्वा

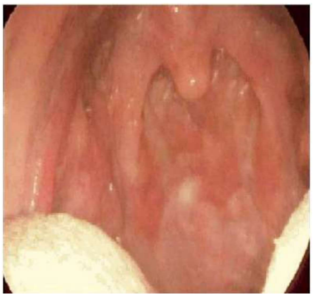

२.

अलिजिह्वा

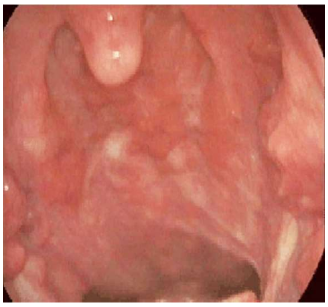

३.

अलिजिह्वा और स्वरयन्त्र के मध्यस्थ गलबिल की मांसपेशियाँ

४.

स्वरयन्त्रमुखदेशीय स्थान एवं तत्रस्थ मांसपेशियाँ

५.
स्वरयन्त्रमुखगह्वर

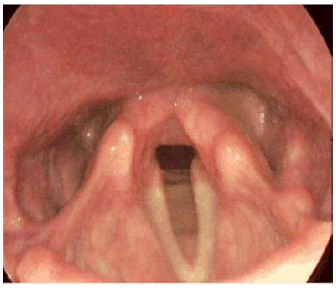

६.
स्वरयन्त्र तथा
मिथ्या स्वरतन्त्रियाँ

७.
स्वरयन्त्र और स्वरतन्त्रियाँ
श्वासग्रहण की स्थिति

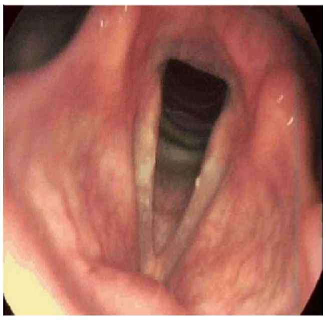

८.
श्वास-निष्काशन
की स्थिति

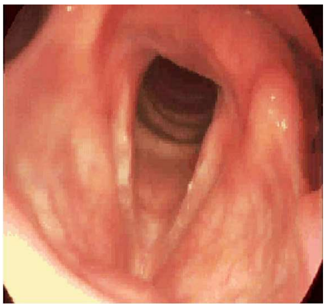

९.
विवृत (विवार),
श्वास एवं अघोष
की स्थिति

१०.
विवृत (विवार),
श्वास एवं अघोष
की स्थिति

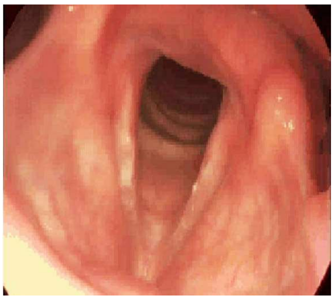

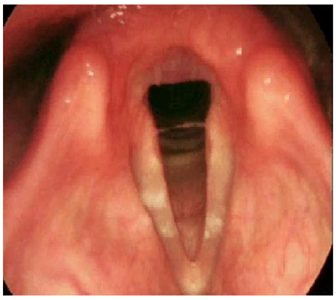

११.
संवृत (संवार),
नाद एवं घोष
की स्थिति

१२.
संवृत (संवार),
नाद एवं घोष
की स्थिति

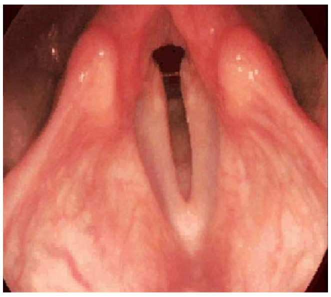

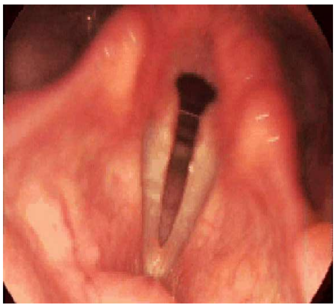

१३.
घोष और महाप्राण
की स्थिति

१४.
उपांशु की स्थिति

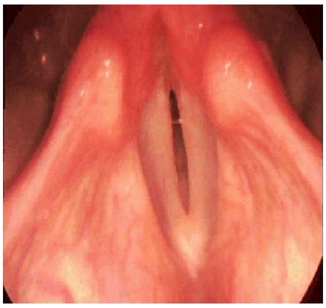

१५.
उपांशु की स्थिति

१६.
उपांशु की स्थिति

१७.
स्वरयन्त्रमुख
अवरुद्धता की ओर

१८.
स्वरयन्त्रमुख
अवरुद्धता की ओर

१९.
स्वरयन्त्रमुख
अवरुद्धता की ओर

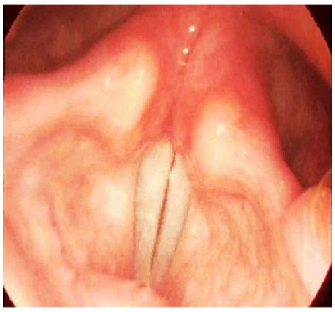

२०.
स्वरयन्त्रमुख की
अवरुद्ध - स्थिति
(प्रत्येक वर्ण के उच्चरित
होने के पश्चात् की स्थिति)

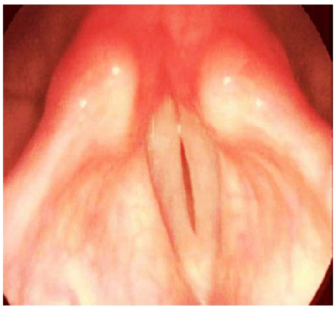

२१.
उपांशु व फुसफुसाहट
की स्थिति

(चित्र ५- २५)

५. पाँचवी अवस्था उपांशु की है (द्र० चित्र सं० १४,१५)।इस अवस्था में स्वयन्त्रमुख का एक चौथाई भाग ही खुला रहता है, शेष भाग बन्द ही रहता है और स्वरतन्त्रियाँ सख्त रहती हैं। स्वरयन्त्रमुख (काकल) के अत्यधिक संकीर्ण हो जाने के कारण वायु मन्दगति से निकलता है एवं स्वरतन्त्रियों के सख्त होने से उनमें कम्पन भी अति न्यून मात्रा में होता है। अतः नाद भी नाम मात्र का ही उत्पन्न होता है। इस मन्दगतिक वायु से तथा तज्जन्य अल्पमात्रिक नाद से उच्चरित वर्णों व ध्वनि को जप वा उपांशु कहते हैं, जो कि अघोष ही होता है। आपस में की जाने वाली गुप्त बातें (फुसफुसाहट की ध्वनि) भी इसी स्थिति में की जाती हैं। इस स्थिति को 'उपांशु-स्थिति' कहते हैं। इस उपांशु-स्थिति के अनेक भेद भी हैं। जो इस प्रकार हैं —

(क) घोष वर्णों की स्थिति (चौथी स्थिति) में भी कभी-कभी उपांशु व फुसफुसाहट की ध्वनि अर्थात् अघोष ध्वनि (वर्ण) निकलती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में गले की मांसपेशियों को बहुत ही सख्त कर स्वरतन्त्रियों पर इतना तनाव रखा जाता है कि वायु के घर्षण से वे कम्पित ही नहीं होती। फलतः नाद न के समान ही उत्पन्न होता है। ऐसे नाद से उच्चरित ध्वनियाँ भी उपांशु होती हैं।

(ख) स्वरतन्त्रियाँ अपनी सामान्य स्थिति में ही विद्यमान हों, पर अस्वस्थता के कारण या अपने प्रयत्न के कारण वायु अति न्यून मात्रा में एवं बहुत ही मन्द गति से निकलता हो, तब भी उपांशु या फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं।

(ग) स्वरतन्त्रियों के ऊपर इन्हीं के सदृश दूसरी स्वरतन्त्रियाँ भी होती हैं, जिन्हें मिथ्या वा कृत्रिम स्वरतन्त्री (FalseVocal Cords) कहते हैं। जो कि चित्रों में स्पष्ट रूप से दृग्गोचर हो रही हैं। ये अपेक्षाकृत कुछ छोटी भी होती हैं। यथार्थ स्वरतन्त्रियाँ सामान्य स्थिति में ही दूर-दूर स्थित हों, पर मिथ्या-स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप आकर वायु के अधिकांश मार्ग को अवरुद्ध कर देती हैं। ऐसी स्थिति में उपांशु की ध्वनियाँ बोली जाती हैं।

(घ) घोष और अघोष की स्थिति अर्थात् चौथी एवं तीसरी स्थिति की मध्यम स्थिति से भी कभी-कभी उपांशु ध्वनियाँ बोली जाती हैं।

(ङ) एक अवस्था ऐसी भी होती है जब दोनों (मिथ्या एवं यथार्थ) स्वरतन्त्रियों का तीन चौथाई भाग बन्द हो जाता है और एक-चौथाई भाग ही खुला रहता है। इस स्थिति में भी बहुत फटी ध्वनि अथवा उपांशु ध्वनि निकलती है। पर यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती है।

६. छठी स्थिति वह है, जिसमें स्वरतन्त्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाती हैं अर्थात् स्वरयन्त्रमुख (काकल) पूर्णतः बन्द हो जाता है (द्र० चित्र सं० २०)। फलतः वायु भी पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है और वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती है। यही स्थिति प्राणायाम के समय या किसी भारी चीज को

उठाते समय भी रहती है। उच्चारण के समय जब स्वरतन्त्रियाँ उस स्थिति में आकर झटके के साथ खुलती हों तो तब काकल्य स्पर्श वर्ण उच्चरित होते हैं।

७. सातवीं स्थिति महाप्राण की है। घोषवर्णों की (चौथी) स्थिति में ही जब वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करता हुआ वेग से अधिक मात्रा में बाहर निकलता है, तब नाद के साथ-साथ श्वास भी अधिक मात्रा में निकल जाता है। ऐसी स्थिति में उच्चरित वर्ण महाप्राण कहलाते हैं।

इस प्रकार स्वरतन्त्रियों की अनेक अवस्थाएँ हो सकतीं हैं और प्रत्येक अवस्था में कठोरता, शिथिलता, सकम्पन, निष्कम्पन आदि भेदों से अनेक उपभेद भी होंगे। यहाँ तो केवल आवश्यक, मुख्य अवस्थाओं की ही चर्चा की गयी है।

५.४.४ काकल —

स्वरतन्त्रियों के मध्यस्थ खुले भाग को ही 'काकल' कहते हैं। इसके लिए कण्ठ, कण्ठबिल, कण्ठगह्वर, कण्ठपिटक, शरीरवीणा, उरः, स्वरयन्त्रमुख, ध्वनियन्त्रमुख, उपजत्रु आदि नाम मिलते हैं। इसका कार्य स्वरतन्त्रियों के साथ ही बता दिया गया है। अ, आ, अ३, ह आदि वर्ण यहीं से बोले जाते हैं।

५.४.५ अभिकाकल —

काकल के कुछ ऊपर, जिह्वामूल के निचले भाग में अलिजिह्वा के आकार का एक छोटा-सा मांसल भाग होता है, जिसे अभिकाकल, स्वरयन्त्रमुख-आवरण, स्वरयन्त्र-आवरण आदि कहते हैं। इसका भी कार्य पूर्व ही बता चुके हैं। वर्णों के उच्चारण में यह परोक्षतः सहायक है।

५.४.६ गलबिल —

अभिकाकल के ऊपर, नासिकाविवर के नीचे एवं मुखविवर के पीछे कुछ रिक्त स्थान है, जो कि एक चतुष्पथ (चौराहा) के समान स्थित है। क्योंकि यहाँ से चार मार्ग हैं — (१) मुखविवर की ओर, (२)नासिकाविवर की ओर, (३) भोजननलिका की ओर और (४) श्वासनलिका की ओर। इसे ही गलबिल, कण्ठबिल, उपालिजिह्वा आदि कहते हैं। यह भी कभी चौड़ा, कभी संकुचित, कभी मध्यस्थ, कभी सख्त, कभी कोमल आदि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए विविध वर्णों के उत्पादन में सहायक बनता है।

५.४.७ अलिजिह्वा —

गलबिल में नासाविवर एवं मुखविवर के मध्य में स्थित कोने पर चलायमान, जिह्वा के सदृश छोटा सा मांसल पिण्ड रहता है, जिसे अलिजिह्वा, कौआ, घण्टी, शुण्डिका आदि कहते हैं। यह कोमलतालु के साथ मिली हुई रहती है और उसके साथ मिलकर विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती हुई अनेक वर्णों के उच्चारण में सहायक बनती है। यहाँ इसकी तीन प्रमुख अवस्थायें दिखाते हैं —

(चित्र २६-२८)

१. प्रथम स्थिति में अलिजिह्वा सामान्य एवं स्वाभाविक अवस्था में रहती है अर्थात् शिथिल होकर नीचे की ओर लटकी हुई रहती है। जिससे मुखविवर पूर्णरूप से बन्द हो जाता है और नासिकाविवर पूरा खुला रहता है। फलस्वरूप नासिका के द्वारा श्वास-प्रश्वास निर्बाध गति से चलते रहते हैं। इस अवस्था में स्वीकारात्मक 'हूँ' शब्द और शुद्ध नासिक्य वर्ण उच्चरित होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णों का उच्चारण नहीं होता। अतः यह अवस्था वर्णोच्चारण के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है।

२. दूसरी अवस्थामें अलिजिह्वा सख्त होकर, तनकर खड़ी हो जाती है, जिससे नासिकाविवर पूर्णरूप से बन्द हो जाता है तथा मुखविवर पूरा ही खुल जाता है। फलतः अन्दर से आगत वायु और नाद केवल मुख में प्रविष्ट हो जाते हैं। अधिकांश वर्ण इसी अवस्था में उच्चरित होते हैं। अतः यह अवस्था वर्णोच्चारण में अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। इस स्थिति में नासिका से श्वास नहीं ले सकते हैं, परन्तु मुख से ले सकते हैं। पर यह अस्वाभाविक है और हानिकारक भी है।

३. इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवस्था ही इसकी तीसरी अवस्था है अर्थात् अलिजिह्वा इसमें न तो पूर्णतः शिथिल ही रहती है, न ही पूरा कठोर, अपितु मध्यावस्था में रहती है। जिससे काकल से आगत वायु तथा नाद ध्वनियाँ मुख में एवं नासिका में प्रवेश कर जाती हैं। अनुनासिक वर्ण इसी अवस्था में उच्चरित होते हैं।

५.४.८ मुख और नासिका –

वर्णों के उच्चारण में ये दोनों अवयव प्रत्यक्षतः दृष्ट एवं प्रमुख उपयुक्त अवयव हैं। इन दोनों को विभक्त करने के लिए मध्य में एक दीवार जैसा तालु (Plate) रहता है। जो कि दन्तमूल से प्रारम्भ होकर गलबिल में विद्यमान अलिजिह्वा पर समाप्त होता है। इसी में जिह्वा के स्पर्श से अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं। इसे कण्ठ, मूर्धा, तालु आदि के रूप में विभक्त किया जाता है। इन सभी भागों की उपयोगिता की चर्चा आचार्य पाणिनि ने स्वयं शिक्षासूत्रों में किया है। अतः यहाँ केवल कण्ठ (कोमल तालु) की कुछ विशेष चर्चा मात्र ही की जाती है।

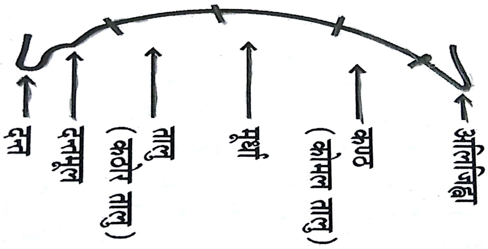

(चित्र - २९)

अलिजिह्वा से आगे (दाँतों) की ओर बढ़ने पर कुछ कोमल एवं मांसल भाग रहता है, जिसे प्राचीन आचार्यों ने कण्ठ नाम दिया है और आधुनिकों ने कोमल तालु।[1] इस अवयव की भी तीन प्रमुख स्थितियाँ होती हैं—१. शिथिल, २. कठोर, ३. मध्यम। यह अवयव ऊपर एवं नीचे की ओर हिलता रहता है। सामान्यतः (श्वास-प्रश्वास के समय) शिथिल होकर नीचे की ओर लटका रहता है। इससे मुखविवर बन्द हो जाता है और नासिकाविवर खुल जाता है। जब कठोर होकर तनकर ऊपर हो जाता है, तब नासिका-विवर बन्द हो जाता है और मुखविवर खुल जाता है। कभी - कभी मध्यावस्था में अर्थात् न शिथिल, न सख्त रहता है, इससे मुख एवं नासिका दोनों न तो पूर्ण बन्द होते हैं, न ही पूर्ण खुलते हैं। अपितु दोनों ही थोड़े-थोड़े खुले रहते हैं। इसप्रकार मुख तथा नासिका के बीच में अलिजिह्वा के साथ मिलकर यह एक कपाट के सदृश कार्य करता है। वर्णोच्चारण में यह भी एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। इसकी प्रथम अवस्था में नासिक्य वर्ण, दूसरी अवस्था में सभी स्वर (अ, इ, उ आदि) एवं स्पर्श वर्णों में कवर्ग (क, ख, ग, घ) और तीसरी अवस्था में अनुनासिक वर्ण (ङ आदि) बोले जाते हैं। यहाँ से उच्चरित वर्णों को कण्ठ्य कहते हैं।

१. सुप्तावस्था में यह कभी-कभी अनियन्त्रित हो जाता है, जिससे श्वास लेते समय फड़फड़ाने लगता है। फलतः खर्राटे की ध्वनि उत्पन्न होती है।

५.४.९ जिह्वा –

जिह्वा जिस प्रकार रसास्वादन का एकमात्र महत्त्वपूर्ण प्रधानभूत साधन है, उसी प्रकार भाषोत्पादन में भी एक अत्यन्त प्रमुख साधन है। अत एव यह वाणी, ज़ुवान (अरबी), Lingua (लैटिन), Langue (फ्रेंच) आदि नामों से व्यवहृत होती है। सामान्यतया यह मुख के निचले भाग में शिथिल पड़ी रहती है। पर बोलने के समय में विभिन्न स्थानों से स्पर्श कर अनेक वर्णों को उत्पन्न करती है।

इसके छह भाग किये जाते हैं– १. अग्र, २. ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र (उपाग्र), ३. निम्नजिह्वोपाग्र (अग्राध), ४. मध्य, ५. पश्च, ६. मूल। पुनः प्रत्येक भाग के उत्थान एवं पतन (ऊँचाई एवं नीचाई) के रूप में भी इस की स्थितियों का विभाजन किया जाता है। इसकी सामान्य स्थिति में अर्थात् जब नीचे चिपकी हुई सी रहती है, तब 'आ' वर्ण बोला जाता है। जब सम्पूर्ण रूप से ऊपर उठकर कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करती है, तब व्यञ्जन (स्पर्श वर्ण) उत्पन्न होते हैं। स्वरों के उच्चारण में यह एक सीमा तक ही ऊपर उठती है, जिसे 'स्वर- सीमा' कहते हैं। जिह्वा का अग्र आदि कोई भी भाग इस सीमा का अतिक्रमण कर जाये तो स्वर- ध्वनि के स्थान पर व्यञ्जन- ध्वनि उत्पन्न होती है। इस सीमा के भी चार विभाग किये गये हैं।

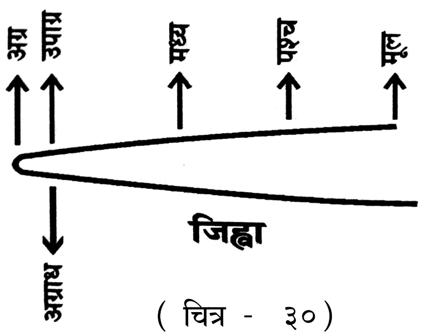

(चित्र - ३०)

१. जब जिह्वा सबसे नीचे शिथिल पड़ी रहती है, तब मुख-विवर अधिक विस्तृत होता है। अतः इस स्थिति को 'विवृत' कहते हैं।

२. जब जिह्वा कुछ ऊपर की ओर उठती है, तब मुख-विवर कुछ कम विस्तृत रहता है। अतः इस स्थिति को 'ईषद्विवृत' कहते हैं। जिसे आधुनिक भाषाविद् 'अर्धविवृत' कहते हैं।

३. जिह्वा जब 'स्वर-सीमा' तक उठी हुई होती है, तब मुख-विवर बहुत संकीर्ण हो जाता है। अतः इस स्थिति को 'संवृत' कहते हैं।

४. जिह्वा जब 'स्वर-सीमा' से कुछ नीचले भाग तक ही उठी हुई होती है, तब मुख-विवर का संकीर्णत्व कम हो जाता है अर्थात् कुछ विस्तृत बन जाता है। अतः इसे 'ईषत्संवृत' कहते हैं और अधुनातन भाषावैज्ञानिक इसे 'अर्ध-संवृत' कहते हैं।

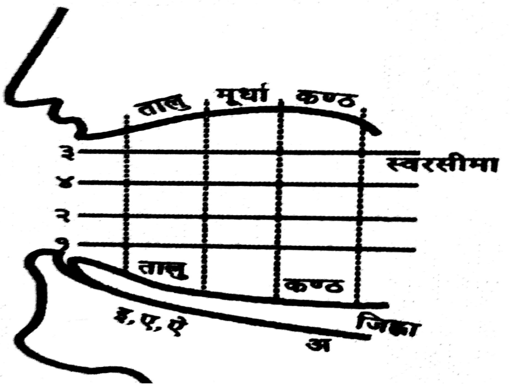

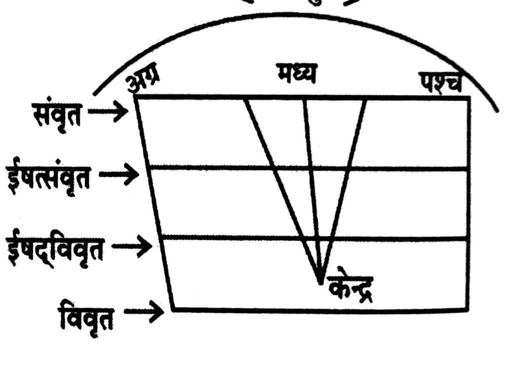

(चित्र - ३१, ३२)

इन उपर्युक्त अग्र, उपाग्र आदि विभाजनों और विवृत, ईषद् विवृत आदि सीमाओं को 'मानस्वर' कहा जाता है। इसके परिज्ञान से विश्व की किसी भी भाषा की कोई भी ध्वनि शुद्ध-शुद्ध बोली जा सकती है। क्योंकि जिस ध्वनि (स्वर) को बोलने की इच्छा हो, मानस्वर के अनुसार निर्धारित भाग, स्थान एवं उच्चत्व व नीचत्व का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाए तो वही अभीष्ट ध्वनि उत्पन्न होगी, अन्य नहीं, अस्तु।

जिह्वा के किस-किस भाग से कौन-कौन से वर्ण उत्पन्न होते हैं और कौन-कौन से वर्ण संवृत वा विवृत हैं, इन सभी का वर्णन स्वयं महर्षि पाणिनि ने शिक्षासूत्रों में किया है। अतः विस्तरभिया यहाँ पुनः वर्णन नहीं किया जा रहा है। पुनरपि कुछ विशिष्ट वर्णों के उच्चारण में जिह्वा, अलिजिह्वा आदि की स्थिति के बोध के लिए चित्रावलि यहाँ दी जा रही है, जिससे सब कुछ ज्ञात हो जायेगा।

१. अ,आ,ह

२. कवग (क ख ग घ)
(कण्ठ्य)

३. चवग (च छ ज झ)
(तालव्य)

४. टवर्ग (ट ठ ड ढ)
(मूर्धन्य)

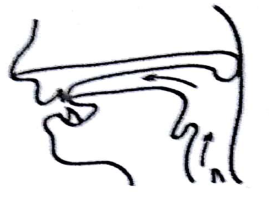
५. तवर्ग (त थ द ध)

६. तवर्ग (दन्तमूल)

७. पवर्ग (प फ ब भ)
(ओष्ठ्य)

८. ङ (कण्ठ + नासिका)

९. ञ (तालु + नासिका)

१०. ण (मूर्धा + नासिका)

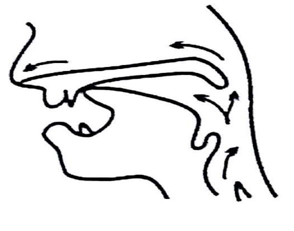
११. न (दन्त + नासिका)

१२. म (ओष्ठ + नासिका)

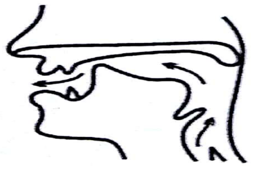

१३. र (मूर्धा)

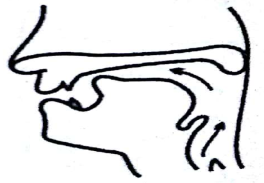

१४. श (तालव्य)

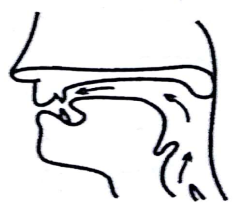

१५. स (दन्त्य)

(चित्र ३३ – ४७)

क्रोध का दुष्प्रभाव

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति ।। (प्र० च० २.२९)

मैं (क्रोध) जगत् को अन्धा और बहरा बना देता हूँ , चेतनावान् धीरपुरुष को भी जड़-सा बना देता हूँ। (मेरे प्रभाव से) मनुष्य न तो अपने कर्तव्य को देख पाता है और न ही हित की बात सुनता है तथा बुद्धिमान् मनुष्य अपने पढ़े हुए को भी स्मरण नहीं कर पाता है।

इन्द्रियों की चञ्चलता से हानि

चलानि हीमानी षडिन्द्रियाणि तेषां यद्यद् वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ।।
(महा० भा०, उद्योग० ३६.४८)

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये छह चञ्चल हैं। उनमें से जो-जो जहाँ-जहाँ प्रबल हो जाती हैं। वहाँ-वहाँ से बुद्धि वैसे ही रिसने लगती है, जैसे छेद वाले घड़े से जल।

३.४. शब्द का उद्भव और उसके क्रम की विसंगतियों का समाधान*

पाणिनीय-शिक्षा के ''आकाशवायुप्रभवः०,'' ''आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्'' ''स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि'' इत्यादि वचनों में शब्दोत्पत्ति का अद्‌भुत वर्णन व प्रतिपादन मिलता है। एतद् विषयक कुछ विचारणीय बिन्दुओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहाँ हूँ।

१. **स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति तदा कण्ठे संहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वात् विवारः** (पा०शि०, वृद्धपाठ, ८.८)।

२. इस प्रक्रिया के कारण यह भी मत प्रचलित हो गया है कि वर्णोत्पत्ति में पहिले आभ्यन्तरप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) होते हैं और पश्चात् बाह्ययत्न। तद्यथा....''**तत्राभ्यन्तरश्चतुर्धा– स्पृष्टता ईषत्पृष्टता विवृतता संवृतता चेति ----- एषां चतुर्णामप्याभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्तिप्राग्भावित्वात्। तथा हि नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुः प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रमन्नुरः प्रभृतीनि स्थानान्याहन्ति। ततो वर्णस्य तदभिव्यञ्जक-ध्वनेर्वा उत्पत्तिः। ....बाह्याः प्रयत्नाः पुनरेकादश – विवार, संवार ...एते च वर्णोत्पत्तेः पश्चान्मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ उत्पद्यन्ते। अत एव बाह्या इत्युच्यन्ते** (शब्दकौस्तुभ१.१.९)।

निष्कर्ष – उद्धृत वचनों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण के लिये फेफड़ों से आगत वायु कण्ठबिल (स्वरयन्त्रमुख) से निर्बाध गति से ऊपर (मुख में) आकर मूर्धा आदि स्थानों में टकराती है। फलतः वर्ण की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् वर्ण (ध्वनि) से मिश्रित वायु पीछे (कण्ठ) की ओर लौट आती है और वहाँ आकर कण्ठ (स्वरयन्त्र) का आघात करती है। जिससे संवार, विवार आदि बाह्ययत्न उत्पन्न होते हैं।

विवेचन– इस प्रक्रिया में कई संशय वा आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

१. वायु केवल मूर्धा में ही टकराकर पीछे की ओर लौटती है या मूर्धा आदि स्थानों में कहीं भी टकराकर पीछे लौट सकती है?

२. यदि केवल मूर्धा में ही टकराकर लौटती है तो केवल मूर्धन्य वर्ण ही उत्पन्न होंगे, अन्य तालव्यादि नहीं। क्योंकि तालव्यादि में वायु टकराती ही नहीं है।

३. यदि किसी भी स्थान में टकराकर लौट सकती है, तो लौटने का कारण स्थान एवं करण का स्पर्श है या विना उनके स्पर्श के ही लौटती है?

४. यदि स्थान एवं करण के स्पर्श से ही लौटती है तो केवल स्पर्श संज्ञक पच्चीस वर्ण ही उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य नहीं? क्योंकि अन्य स्वरादि वर्णो में स्पर्श होता ही नहीं है।

५. यदि विना स्पर्श के ही वायु पीछे लौटती है, तो वह सम्भव ही नहीं है। क्योंकि वायु की गति को अवरुद्ध कर पीछे को लौटाने हेतु प्रतिरोध (स्थान और करण का स्पर्श) अत्यन्त आवश्यक है और अ, इ, उ वर्णों के उच्चारण में वायु का प्रतिरोध होता ही नहीं है, तो ये वर्ण उत्पन्न हो ही नहीं सकते। क्योंकि मूर्धादि के आघात से वर्ण उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा गया है।

---

*. यह लेख वेदवाणी (जनवरी और सितम्बर २००५) में खण्डशः प्रकाशित है।

६. मूर्धादि में वायु का आघात होने पर वर्ण (ध्वनि) की उत्पत्ति होती है वा नहीं?

७. यदि होती है तो उस वर्णध्वनि के साथ ही वायु पीछे को लौटती होगी तो उस वर्ण की ध्वनि पूर्ण रूप से पुनः बाहर नहीं आ सकती। क्योंकि कण्ठबिल कुछ खुला ही रहता है, चाहे विवृतदशा हो या संवृत।

८. यदि आघात होने पर वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती है, तो वर्ण कब उत्पन्न होता है? क्या वायु को पुनः ऊपर आकर स्थानों का स्पर्श करना होगा? (द्र०,वै०आ०, तै०प्रा० २.८)

९. पहिले ही अर्थात् मूर्धादि में वायु के आघात (आभ्यन्तरप्रयत्न) से ही यदि वर्ण उत्पन्न हो जाता है, तो पुनः बाह्ययत्नों की आवश्यकता ही क्या? जिनके लिये वायु को पीछे लौटना पड़े?

१०. वायु मात्र के आघात से अर्थात् विना नाद के शब्दका उत्पन्न होना क्या संभव है? यदि सम्भव है तो पाणिनि ने शब्द की उत्पत्ति से पूर्व नाद को क्यों माना? (द्र० आकाशवायुप्रभव०)।

११. विना संवारादि के नाद उत्पन्न नहीं होगा और न ही विना नाद के शब्द उत्पन्न होगा। पर उक्त प्रक्रिया में कहा गया है कि पहले शब्द उत्पन्न होता है और पश्चात् संवारादि। यह कैसे संभव है?

१२. वर्णोच्चारण के लिये फेफड़ों से बाहर की ओर निष्क्रम्यमाण वायु जब कण्ठबिल में प्रथम वार पहुंचती है, उसी समय कण्ठबिल में आघात कर संवारादि को क्यों उत्पन्न नहीं कर सकती?

१३. उक्त प्रक्रिया "**आकाशवायुप्रभवः०**" की उक्ति से विरुद्ध प्रतीत होती है। क्योंकि वहाँ कहा गया है कि अन्दर से आगत वायु वक्त्र = कण्ठ को प्राप्त कर नाद को उत्पन्न करता है और वह नाद विभिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्णों को उत्पन्न करता है।

आकाशवायुप्रभवः० } संवृतकण्ठ –> नाद –> शब्द (की व्युत्पत्ति) –> घोष।
के अनुसार प्रक्रिया } विवृतकण्ठ –> श्वास –> शब्द (की व्युत्पत्ति) –> अघोष।
ऊपर उक्त प्रक्रिया (की उत्पत्ति) शब्द –> संवार/ विवार –> नाद/ श्वास ।
(यहाँ संख्या ९ के प्रश्न को पुनः स्मरण कर लें)

१४. पहिले शब्द उत्पन्न होता है अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न पहिले होते हैं और बाह्ययत्न बाद में, ऐसा मानने पर 'नादानुप्रदान एवं श्वासानुप्रदान' शब्द सार्थक नहीं होंगे जो कि पाणिनि के द्वारा (४.२, ४.४ में) प्रयुक्त भी हैं। क्योंकि अनुप्रदान उसको कहते हैं जो शब्द का मूल कारण है (द्र०,ऋ०प्रा० १३.३; त्रि०र० – तै०प्रा० २.८)। और कारण को कार्य से पहिले मानना होगा अर्थात् शब्द से पहिले उसके मूलभूत कारण नाद तथा श्वास पहिले होंगे और श्वास, नाद के लिये कण्ठ का संवृत, विवृत होना अनिवार्य है। तो स्पष्ट है पहिले बाह्यप्रयत्न होंगे और बाद में आभ्यन्तरयत्न। तभी नादानुप्रदान, श्वासानुप्रदान शब्द सार्थक होंगे, अन्यथा निरर्थक हो जायेंगे।

१५. आकाशवायुप्रभवः एवं नादानुप्रदान, श्वासानुप्रदान के वचनों (प्रमाणों) से बाह्ययत्नों का पूर्वास्तित्व सिद्ध होता है। जबकि आभ्यन्तरयत्न पहिले होते हैं और बाह्ययत्न बाद में, इसके लिये किन्हीं पाणिन्यादि प्राचीन आचार्यों का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यह मत त्याज्य है।

१६. आभ्यन्तरयत्न एवं प्रयत्न शब्द एकार्थक हैं। अतः आभ्यन्तरयत्न पहिले होते हैं इस भ्रान्ति का कारण सम्भवतः 'प्रयत्न' शब्द का निर्वचन है। क्योंकि इसका निर्वचन किया जाता है कि '**प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः**'। जो यत्न पहिले होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। परन्तु इस निर्वचन का यथार्थतः अर्थ यह है कि जो यत्न शब्द उत्पन्न होने से ठीक पूर्व में होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। अर्थात् आभ्यन्तर यत्नों के तुरन्त बाद शब्द उत्पन्न होता है। जब कि बाह्ययत्नों के बाद शब्द उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया इसप्रकार है – बाह्ययत्न –> आभ्यन्तरयत्न –> शब्दोत्पत्ति। अतः उक्त निर्वचन से आभ्यन्तर यत्नों के पूर्वास्तित्व की कल्पना नितान्त निराधार है।

१७. प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में वायु का मूर्धा में आघात करना, पीछे को लौटना, गलबिल में आघात करना आदि का क्रम प्रत्यक्षानुभव में नहीं आता और आधुनिक वैज्ञानिक वा भाषावैज्ञानिक भी इस प्रक्रिया से सहमत नहीं हैं।

समाधान– पाणिनीयशिक्षा के "**आकाशवायुप्रभवः०**" एवं "**स एवेदानीं प्राणो नाम वायु०**" इन दो वचनों में परस्पर विरोध तथा अनेक विसंगतियाँ आपाततः उक्तप्रकार से दीखतीं हैं। पर यह दोष आर्ष ग्रन्थों में सम्भव नहीं है। पुनरपि संगतिकरण व समाधान के हेतु विचार करना ही पड़ता है। कहा भी गया है कि– "**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्** "। "**स एवेदानीं प्राणो नाम वायुः०**" सूत्र से इस अर्थ की भी प्रतीति होती है कि मुख के ऊर्ध्वभाग मूर्धा स्थान में वायु प्रतिहत होकर पीछे को लौट आता है, तत्पश्चात् संवार, विवार आदि वर्णधर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् पहिले आभ्यन्तरप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) होते हैं, तदनन्तर बाह्ययत्न। पर यह अवगति अनुचित है । क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर प्रकृत सूत्र "**आकाशवायुप्रभवः**"वचन से विरुद्ध होकर महर्षि पाणिनि के इस ग्रन्थ में व्याघातदोष आयेगा । अतः इस दोष का समाधान निम्नप्रकार है–

इस प्रकरण में आचार्य ने पहिले आभ्यन्तरप्रयत्नों का वर्णन कर "**एषोऽन्तःप्रयत्नः**"(८.६) सूत्र से अन्तःप्रयत्न प्रसंग को समाप्त किया है, पुनः "**अथ बाह्यः प्रयत्नः**" (८.७) सूत्र से बाह्ययत्न विषय को प्रारम्भ किया है। अतः प्रतिज्ञात बाह्ययत्न प्रकरण में पुनः पूर्व में वर्णित अन्तःप्रयत्न का उल्लेख आचार्य नहीं कर सकते। ऐसा करना एक चर्वित-चर्वण रूप महादोष हो जायेगा। इसलिये प्रकृत सूत्र में अन्तःप्रयत्न का संकेत भी नहीं है, उल्लेख की बात तो बहुत दूर। इस विरोधाभास का कारण प्रकृत सूत्र में प्रयुक्त "मूर्ध्नि" शब्द है। पर यह शब्द यहाँ 'मूर्धा स्थान में' इस पारिभाषित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु 'उच्चतम शिखरभाग में ' इस अर्थ (अन्वर्थ) में प्रयुक्त हुआ है। जैसे – "**भूम्यां पर्वतमूर्धनि** " (शकुन्तला नाटक ५.७), " **अतिष्ठन् मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा**"(महा० वन० ५३.२) सब राजाओं के शीर्षभाग पर....., मूर्धन्य (शीर्षस्थ) विद्वान् इत्यादि। यहाँ सूत्रस्थ "मूर्ध्नि" शब्द का अर्थ होगा 'बाह्ययत्न की सीमा का उच्चतम शिखर भाग में ' अर्थात् नाभिप्रदेश के यत्न से प्रेरित तथा फेफड़ों से निर्गत वायु बाह्ययत्न के क्षेत्र में विद्यमान जो उच्चतम शिखर भाग (स्वरयन्त्र) है, तत्रस्थ स्वरतन्त्रियों में आघात करता है। तीव्रगतिक इस प्रतिघात से कुछ वायु पीछे को लौटेगा ही, जिसे सूत्र में " **निवृत्तो भवति** " कहा है। तो उस प्रतिघात से स्वरतन्त्रियों में नाद उत्पन्न होता है। इस नाद से अन्तःप्रयत्न के कारण शब्द उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन पहिले कर चुके हैं। तो यहाँ सारतः यह ग्राह्य है कि वायु का प्रतिघात एवं निवर्तन ये दोनों क्रियायें बाह्ययत्न के क्षेत्र में ही होती हैं, न कि आस्यस्थ मूर्धा स्थान में। इस की पुष्टि श्लोकात्मिका पाणिनीयशिक्षा (आर्चपाठ) से होती है–

" **सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते----**।।(७)

यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है कि वह उदीर्ण = ऊर्ध्वप्रेरित वायु मूर्धा में अभिहत होकर, तदुपरान्त वक्त्र = मुख को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वर्णों को उत्पन्न करता है। यदि मूर्धा शब्द से मुखस्थ मूर्धा स्थान ही लिया जाता तो यहाँ पुनः 'वक्त्रमापद्य' शब्दों का प्रयोग नहीं होता।[1] अतः मूर्धा से कण्ठदेशीय स्वरयन्त्र लेना ही युक्ततर होगा, जो कि बाह्ययत्न विषयक ही है।

अन्यच्च– "**मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन् मूर्धन्यभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते क इति वा, ख इति वा**" (स्वोपज्ञवृत्तिः, वा०प० १०.६) यहाँ कायाग्नि से प्रेरित कोष्ठ्य वायु के एक बार मूर्धा (कण्ठ) में अभिघात होने का तथा (कण्ठ) में विकृत कण्ठ्य वायु (नादयुक्त

१. अपि च द्रष्टव्य – "महता प्रयत्नेन शब्दमुच्चरन्ति - वायुर्नाभेरुत्थितः, उरसि विस्तीर्णः, कण्ठे विवर्तितः, मूर्धानमाहत्य परावृत्तः, वक्त्रे विचरन् विविधान् शब्दान् अभिव्यनक्ति"(मी०शा०भा०१.३.२५)।

वायु) का पुनः मुख में अभिघात होने का स्पष्ट उल्लेख है? अतः मूर्धा से कण्ठदेशीय स्वरयन्त्र ही लेना चाहिये। अन्यथा अन्य वायु का एवं पुनरभिघात का प्रसंग ही नहीं होगा।

इस विषय को समझने में अत्यन्त सावधानता की आवश्यकता है। नहीं तो बहुत्र भ्रमित होने की पूरी सम्भावना है। उदाहरणार्थ कुछ वचन यहाँ उद्धृत कर रहें हैं।

१. **तत्र पूर्वं स्पृष्टतादयश्चत्वारः, पश्चान्मूर्धनि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ विवारादयो बाह्या एकादश प्रयत्ना उत्पद्यन्ते** (प्रदीपः, म० भा० १.१.९)

२. **तत्राभ्यन्तरश्चतुर्धा स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता चेति .... एषां चतुर्णामप्याभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्तिप्राग्भावित्वात्। ---- बाह्याः प्रयत्नाः पुनरेकादश – विवारः, संवारः ---एते च वर्णोत्पत्तेः पश्चान् मूर्ध्निप्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ उत्पद्यन्ते। अत एव बाह्या इत्युच्यन्ते** (श० कौ० १.१.९)।

३. **शब्दप्रयोगेच्छोत्पन्नयत्नाभिहताग्निप्रेरितनाभिप्रदेशगतवायुर्वेगान्मूर्धानं गत्वा प्रतिनिवृत्तो वक्त्रं प्राप्य यत्नविशेषसहायः ताल्वादितत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकमभिहतो वर्णविशेषानभिव्यनक्तीति त एते आभ्यन्तरप्रयत्नाः। ततो[१] यत्नविशेषैर्गलविवरविकासादीन् करोति। त एते बाह्यप्रयत्नाः।** (अ० कु० १.३.२२)।

इन वचनों में सर्वत्र 'पूर्व' एवं 'पश्चात्' शब्दों के प्रयोग से यही भ्रम होता है कि स्पृष्टता आदि आभ्यन्तरयत्न पहले होते हैं और संवार, विवार आदि बाह्ययत्न बाद में। पर यह भ्रामक अर्थ यथार्थता के जान लेने पर दूर हो जायेगा। यहाँ सर्वत्र ही 'पूर्व' शब्द से 'शब्दोत्पत्ति से ठीक पूर्व में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। प्रदीपवचन के असंगति दोष को दूर करने के लिये उद्योतकार को 'वर्णोत्पत्तेः' शब्द का अध्याहार कर अन्वय करना पड़ा " **मूर्ध्नि प्रतिहते वर्णोत्पत्तेः पूर्वं स्पृष्टतादयः, पश्चान्निवृत्ते प्राणाख्ये - इत्यन्वयः कैयटे** "(उद्योतः १.१.९)। नागेश के इस 'वर्णोत्पत्तेः' शब्द के अध्याहार से हमारे कथन की पुष्टि होती है। तथा च " वर्णोत्पत्ति से ठीक पहले होने वाला यत्न" ऐसा अर्थ करने से अन्तःप्रयत्न एवं शब्द की अत्यन्त सामीप्यता, व्यवधानरहितता जानी जाती है। इसी सामीप्यता को कौस्तुभकार ने प्रयत्नों का आभ्यन्तरत्व कहा है – " **एषां .... आभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्तिप्राग्भावित्वात्**"।[२] इस कथन से यहाँ यह भी अवधेय है कि जिन प्रयत्नों एवं शब्दों के मध्य में यह सामीप्यता एवं व्यवधानराहित्य न हो वही उनका बाह्यत्व है, अर्थात् वे यत्न बाह्ययत्न कहलाते हैं।[३] जो कि सर्वत्र 'पश्चात्' शब्द से प्रकट किया गया है। अतः सर्वत्र ही 'पश्चात्' शब्द का अर्थ 'पीछे' जानना चाहिए[४] अर्थात् बाह्ययत्न शब्दोत्पत्ति से ठीक पूर्व (पीछे) न होकर पर्याप्त पूर्व (पीछे,पश्चात्) होते हैं। तो शब्दोत्पत्ति का क्रम इस प्रकार होगा बाह्ययत्न→अन्तःप्रयत्न→शब्दोत्पत्ति। इसप्रकार 'पूर्व' एवं'पश्चात्' शब्दों के अर्थ समझ लेने पर सारी विसंगतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अन्यथा एतद्विषयक सभी वचन दोषावह हो जायेंगे।

यहाँ एक और बात ध्यातव्य है कि अन्तःप्रयत्न एवं बाह्ययत्न दोनों ही शब्दोत्पत्ति की अपेक्षा से पूर्वकालिक (पश्चात्कालिक) ही हैं, पुनरपि सामीप्यता के कारण अन्तःप्रयत्नों को प्राग्भावी तथा दूर (पीछे) होने के कारण बाह्ययत्नों को पश्चाद्भावी कहा गया है।

---

१. यहाँ 'ततः' शब्द के प्रयोग से 'उसके पश्चात्' अर्थ निकलता है।

२. आभ्यन्तरत्वं पुनरेषां स्पृष्टतादीनां स्थानकरणप्रयत्नव्यापारेणोत्पत्तिकाल एव सम्भवात् (न्यासः १.१.९)।

३. बाह्यत्वं पुनरेषां विवारसंवारादीनां वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वम्, वायुवशेनोत्पत्तेः (न्यासः १.१.९)। ऊर्ध्वम्=पश्चात् (कुमा० ६.९३; रघु० १४.६६)।

४. 'पीछे' के अर्थ में 'पश्चात्' शब्द का प्रयोग 'शकुन्तला-नाटक' में देखें – "**गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतः चेतः**"(१.३३; ३.७)।

३.५. वर्णान्तरत्व के सिद्धान्त *

वाक्तत्त्व (भाषा) एक ऐसा अलौकिक साधन है, जिससे मनुष्य को मानवता प्राप्त होती है, ज्ञानवर्धन होता है, मोक्ष की प्राप्ति होती है, देवत्त्व, ऋषित्व एवं वैदुष्य आदि उपलब्ध होते हैं, एक श्रेष्ठ समाज व राष्ट्र का निर्माण होता है और संगठित होता है। वाणी की महिमा का अधिक वर्णन क्या करें, इसमें तो सम्पूर्ण संसार समाया हुआ है। इस दिव्य ज्योति के विना निखिल जगत् घोर अन्धकारमय दीखता है। ऐसी महिमा मण्डित वाणी वाक्यों के रूप में प्रकट होती है। वे वाक्य शब्दों में एवं शब्द वर्णों में विभाजित होते हैं, यह वाक्तत्वविद् मनीषियों का निर्णीत सिद्धान्त है। वाक्य के अन्दर शब्दों तथा शब्दों में वर्णों की जो परिकल्पना की जाती है, उसके पीछे बहुत बड़ा मनोविज्ञान एवं भाषाविज्ञान छिपा हुआ है। यहाँ हम यह विचार करने का प्रयत्न करते हैं कि एक वर्ण अन्य वर्णों से भिन्न वा वर्णान्तर किस नियम से बना अर्थात् वर्णों की परिगणना के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं?

वर्णों के वर्णान्तरत्व को समझने के लिए शब्दोत्पत्ति के प्रकार को पहले समझना होगा। महर्षि कणाद कहते हैं कि– **"संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः"** (वै०द० २..२.३१) अर्थात् भेरी-दण्ड, कुठार-काष्ठ आदि पदार्थों के संयोग से एवं काष्ठ, वस्त्र आदि के विभाग से भी ध्वनि निष्पन्न होती है और वीचीतरंगन्याय[1] से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है संयोग और विभाग जिन पदार्थों में घटित होते हैं, उन पदार्थों के गुण, धर्म और आघातादि के बल के भेद से शब्दों (अव्यक्त ध्वनियों) में भी विभिन्नता आती है। ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं– १. अव्यक्तध्वनि, २. व्यक्तध्वनि (वर्णात्मकध्वनि)। भेरीदण्डादि के आघात से उत्पन्न ध्वनियाँ अव्यक्तध्वनियाँ हैं। वर्णात्मकध्वनि मुखप्रदेश में उत्पन्न होती है। अव्यक्तध्वनियों के भेद के समान ही व्यक्तध्वनियों में भी स्थान एवं करणों के भेद से, संयोगभेद से तथा वायु के आघात आदि के भेद से भिन्नता लक्षित होती है।[2] अर्थात् स्थान, करण, आभ्यन्तरप्रयत्न एवं बाह्ययत्नों के भेद से व्यक्तध्वनियों में भिन्नता उत्पन्न होती है। इस भिन्नता के कारण ही उन व्यक्तध्वनियों को वर्ण कहते हैं।[3] क्योंकि 'उ+अ+ऋणः' के संयोग से 'वर्ण' शब्द बनता है [उ+अ+ऋणः (गतः, प्राप्तः) = व+ऋणः = वर्णः]।[4] इसका भाव यह है कि जो ध्वनि (नाद) अ, उ....इस प्रकार की भिन्नता (ध्वनिविशेषता) को प्राप्त कर लिया है, वही 'वर्ण' कहलाता है। इसप्रकार **ध्वनिसामान्य (नाद) का ध्वनिविशेष में परिवर्त्तित होना ही वर्णों का वर्णत्त्व (भिन्नत्व) है।** यहाँ पहले आद्यस्थानीय ओष्ठ्य उवर्ण को लिया, उसके पश्चात् अन्त्यस्थानीय कण्ठ्य अवर्ण को लिया है। इससे वे दोनों वर्ण ओष्ठ एवं कण्ठ के बीच के स्थानों से बोले जाने वाले सभी वर्णों के उपलक्षक होंगे। उपलक्षणत्व एक वर्ण से भी सिद्ध हो सकता है। अतः अकारमात्र को सभी वर्णों का उपलक्षक मानेंगे तो अ+ऋणः='अर्णः' शब्द बनता है,

---

*. यह लेख वेदवाणी जुलाई-अगस्त २०१५ में अंशतः और अगस्त-अक्तूबर २०२० में सम्पूर्ण प्रकाशित है।

१. निश्चल जल में जब हम किसी वस्तु को फेंक देते हैं, तब जल में तरंग उत्पन्न होता है। वह तरंग दूसरे तरंग को उत्पन्न कर स्वयं विलीन हो जाता है और वह तीसरे तरंग को उत्पन्न करता है। वैसे ही तीसरा-चौथे को उत्पन्न करता हुआ तरंगों का क्रम बनता जाता है। इसे वीचीतरंग न्याय कहते हैं। प्रकृत में उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। वैसे ही आगे क्रम चलता जाता है।

२. जातिलक्षणदेशैरन्यता० (योग० ३.५३)। वर्णों में अन्यता (भिन्नता) का कारण लक्षणभेद (धर्मभेद) और कालभेद है। अपि च द्र० तुल्येऽपि गानत्वे (विकारपृथक्त्वात्) गानविशेषात् (रथंतरादि-) संज्ञापृथक्त्वम् (मी०शा०भा० ७.२.१६)।

३. पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः (काशिका- ऐ औ च्)।

४. 'उ+अ' के यणादेश से 'व' बनता है, 'व' का 'ऋण' के साथ गुणैकादेश से वर्ण शब्द बनता है।

जो कि वर्णवाची है (द्र० वाच० अर्ण:)। वर्णशब्द में अकार के साथ उकार का उल्लेख उपलक्षणत्व का व्याख्यान जानना चाहिए।

'वर्णविभाजन का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम हमें ऐतरेयारण्यक में मिलता है– **''यो वै तां वाचं वेद यस्या एष विकारः स सम्प्रतिवित्। अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपी भवति''**(ऐ०आ०२.३.६)। एक ही अवर्णरूपी वाणी[1] स्पर्श, ऊष्मादि से व्यक्त होती हुई भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्त्तित होती है। यहाँ स्पर्श शब्द से कण्ठादि स्थान एवं जिह्वादि करणों का परस्पर संयोग-विभागरूप अन्तःप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) रूपी अर्थ ग्राह्य है। ऊष्मशब्द बाह्ययत्नों का उपलक्षक है। अब उस वचन का तात्पर्य यह हुआ कि एक ही ध्वनि (नाद) स्थान, करण और उभयविधप्रयत्नों की भिन्नता से विभिन्न ध्वनिविशेषों (भिन्न-भिन्न वर्णों) में परिवर्त्तित होती है। इसे ही महर्षि पाणिनि ने कहा– **''आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः। स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः''** (पा०शि०१)।

भर्तृहरि ने भी कहा है कि–

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।। (वा०प०, ब्रह्म०१०८)

जो भेदरहित नाद (अनानाभूत ध्वनिसामान्य) स्थानादि में प्रविभक्त होकर वर्णत्व (नानात्त्व अर्थात् ध्वनिविशेषत्व) को प्राप्त होता है, वही वर्ण (व्यक्तध्वनि) कहलाता है। अर्थात् अव्यक्तध्वनि का अत्व, इत्व, उत्व, कत्व, गत्व आदि व्यक्तध्वनि के रूप में परिवर्तित होना ही वर्णों का वर्णत्व है।

तस्य प्राणे[2] च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।[3]
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते।। (वा०प०, ब्रह्म०११७)
शब्दः[4] प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्, तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम् [5](तै०प्रा० २२.१,२)

तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभिमतवायुसंयोगनिष्ठं तत्तद्वर्णजनकताया व्यञ्जकताया वाऽवच्छेदकं वैजात्यम् (कत्वादिविरुद्धधर्मम्) आदायैव ककारो गकार इत्यादिप्रतीतिवैलक्षण्यसम्भवात् (वै०भू०सा०, अखण्ड-स्फोटनिर्णयः)

इन वचनों में और ऐतरेय आरण्यक (२.३.६) में कथित वर्णविभाजन के सिद्धान्त को ही अपना कर पाणिनि मुनि ने सूत्रप्रणयन किया है कि– **''स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः, चतुःषष्टिरित्येके''** (पा०शि०४,५)। स्थानकरण और उभयविध प्रयत्नों के भेद से ही वर्णों में भिन्नता (वर्णता) आती है।[6] उसी भिन्नता के कारण वर्णों का परिगणन होता है। जिससे वे वर्ण तिरेसठ (६३) या चौंसठ (६४) बनते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में भी कहा गया है– **''तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।। स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत** (९,१०)।। यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि वर्णविभाजन के नियम पांच प्रकार के हैं– १. स्वर (उदात्तादि), २. काल (ह्रस्वादि), ३. स्थान, ४. (अन्तः) प्रयत्न और ५. अनुप्रदान (बाह्ययत्न)।

वर्णों का विभाजन मुख्यतया दो प्रकार से किया गया है– १. स्वर (अच्), २. व्यञ्जन (हल्)। इस विभाजन के कारण (साधर्म्य एवं वैधर्म्य) ये हैं कि– (अ) स्वर किसी अन्य वर्ण की सहायता के विना ही स्वयं

---

१. एकाक्षरा वै वाक् (जै०ब्रा० २.३९२, ४२२; ३. २९४; ताण्ड्यब्रा० ४.३३)।
२. प्राणे=नादे। ३. मध्यमा वागिति भावः।
४. शब्दः=नादः, अव्यक्तध्वनिः। ५. तस्य=नादस्य स्थानगुणधर्मान्यत्वे वर्णान्यत्वं भवतीति भावः।
६. पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्याः (काशिका – ऐऔच्)

स्वतन्त्ररूप से उच्चरित होने में पूर्ण समर्थ हैं, जबकि व्यञ्जन स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होते हैं। (आ) दूसरा कारण यह भी है कि स्वरों के उच्चारण में स्थान एवं करणों का परस्पर स्पर्श नहीं होता, जबकि व्यञ्जनों के उच्चारण में उनका स्पर्श होता है। (इ) इन दो वर्गों में तीसरा भेद यह है कि स्वर उदात्तादि गुणों से युक्त होते हैं, जबकि ये गुण व्यञ्जनों में नहीं रहते। (ई) अज्वर्णों में यह भी विशेषता है कि सभी अचों में प्रधानतया अनुनासिकत्व धर्म रहता है, पर व्यञ्जनों में य, ल, व वर्णों को छोड़कर अन्य वर्णों में उस धर्म का अत्यन्त अभाव है। य-आदि वर्णों में अनुनासिकत्व के रहने से इनका अचों के साथ साधर्म्य है और पूर्वोक्त तीन भेद य-आदि में न होने से व्यञ्जनों के साथ साधर्म्य है, अचों के साथ वैधर्म्य है। य-आदि तीनों अन्तस्थों में साधर्म्य एवं वैधर्म्य के विद्यमान होने से स्वर तथा व्यञ्जनों के मध्य (अन्तः) परिगणनीय हैं, जैसे कि प्रत्याहार सूत्रों में परिगणित हैं। अत एव इनका नाम 'अन्तस्थ' है।[1] यह अन्तस्थत्व धर्म रेफ में न होने पर भी गौण रूप से उसे भी अन्तस्थ कहते हैं। इसप्रकार के विभेदों के कारण सभी वर्णों को सर्वप्रथम स्वर तथा व्यञ्जन के रूप में विभक्त किया गया है। स्वर वर्णों को पुनः द्विधा विभाग किया गया है— १. समानाक्षर (=शुद्धस्वर, सिम्), २. सन्ध्यक्षर (मिश्रितवर्ण) (द्र०ऋ०प्रा० १.१,२; वा०प्रा० १.४४,४५; तै०प्रा० १.२; ऋ०त० १.२)। समानाक्षर वर्ण वें हैं जो किसी अन्य वर्ण की सन्धि से उत्पन्न न होकर समान (एक, अखण्ड) स्वरध्वनि से उत्पन्न होते हैं (द्र० तै०प्रा० १.२ पर वैदिकाभरण भाष्य)। ए, ऐ, ओ, औ वर्ण दो-दो शुद्धस्वर वर्णों की सन्धि से उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें सन्ध्यक्षर कहा गया है। पहिले समानाक्षरों (शुद्धस्वरों) को स्थान दिया गया है, तत्पश्चात् सन्ध्यक्षरों को।

अब **'स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः'** (४) के आधार पर क्रमशः वर्णविभाजन का अवलोकन करते हैं—

१. स्थानभेद से वर्णविभाजन— नाभिप्रदेश से उत्थित वायु कण्ठप्रदेशीय स्वरयन्त्र में आघात करने के पश्चात् नादयुक्त होकर जब मुख में पहुँच जाता है, तब जिह्वादि करणों की सहायता से वह कण्ठ,तालु आदि स्थानों को प्राप्त होता है। इसप्रकार स्थान भेद से एक ही नादध्वनि में भिन्नता आती है। उस भिन्नता से युक्त वर्णों को कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य आदि के रूप में विभाग किया गया है। इत्थं वह नादध्वनि स्वरों में कण्ठादि के भेद से क्रमशः अ,इ(ए,ऐ), ऋ,लृ, उ (ओ,औ) के रूप में परिवर्त्तित हुई। व्यञ्जनों में भी क्रमशः कवर्ग-ह-विसर्ग, चवर्ग-य-श, टवर्ग-र-ष, तवर्ग-ल-स-व और पवर्ग के रूप में विभाजित हुई।

करणभेद (साधनभेद) से वर्णविभाजन— स्थानतः वर्णविभाजन के अन्तर्गत ही साधनतः वर्णविभाजन आ जाता है, यह कोई पृथक् रूप से वर्णविभाजन का कारक नहीं है। क्योंकि केवल कण्ठादि स्थानों से या केवल जिह्वामूलादि करणों की चेष्टा से वर्ण उत्पन्न नहीं होते, अपितु दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही वर्ण उत्पन्न होते हैं। कण्ठादि स्थानों में जिह्वामूलादि[2] करणविशेषों के सम्मिलित प्रयत्न (स्पर्शादि) से ही कण्ठ्यादि वर्ण उत्पन्न होते हैं, अतः कण्ठ्यादि विभाजन में दोनों की पात्रता है। इसीलिए सम्भवतः श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में करणतः (साधनतः) विभाजन का उल्लेख नहीं है। स्वतन्त्ररूप में करणों (साधनों) के आधार पर वर्णविभाजन न होने पर भी वर्णों का क्रमविन्यास करणों के क्रम से ही निर्णीत किया गया है।[3] क्योंकि स्थिरावयव को स्थान कहते हैं और सक्रियावयव को करण (साधन) कहते हैं। स्थानाख्य स्थिरावयव में वर्ण की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब

१. विशेष द्रष्टव्य है—शिक्षाशास्त्रम् में पारिभाषिक शब्द— १७ (पृष्ठ २४-२५)। प्रकृतग्रन्थ में (३.३.) 'शिक्षातत्त्वार्थ का दर्शन' शीर्षक लेख (पृष्ठ २१२)।

२. कण्ठ्य-जिह्वामूल, तालव्य-जिह्वामध्य, मूर्धन्य-ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र या निम्नजिह्वोपाग्र, दन्त्य-जिह्वाग्र (व – वर्ण का स्थान और करण—दन्त्य एवं अधरोष्ठ), उत्तरोष्ठ्य-अधरोष्ठ, नासिक्य-नासामूल।

३. इस के लिए मद्विरचित शिक्षाशास्त्र—शिक्षातत्त्वालोकभाष्य के ११९-१२१ पृष्ठ विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

तक साधन सक्रिय नहीं होता है। इस से करण की प्रधानता द्योतित होती है। क्योंकि वर्णोत्पत्तिरूपी (उत्पादयति, स्पृशति) क्रिया का कर्तृत्व करण (साधन) में है, न कि स्थान में। इसीलिए कर्तृत्वयुक्त करणों (साधनों अर्थात् जिह्वा के अवयवों) के क्रम[१] से ही वर्णक्रम निर्धारित हुआ है। जिह्वामूलादि साधनों की सक्रियता से वर्ण जिस स्थान पर उत्पन्न होता है। उस स्थान के नाम से ही उत्पन्न वर्णों का कण्ठ्यादि नामकरण किया गया है। इसलिए साधन के प्रयत्न से उत्पन्न वर्णों का नाम स्थान के आधार पर किया गया है। अतः स्थानतः विभाग के अन्तर्गत ही साधनतः (करणतः) विभाग आ जाता है। इसलिए पृथक् रूप से साधनतः विभाग के कथन की आवश्यकता नहीं है।

२. **करणतः (अन्तःप्रयत्नतः) वर्णविभाजन** – शिक्षासूत्रस्थ (४) करणशब्द अन्तःप्रयत्नवाची है, न कि साधनवाची।[२] **क्रियत इति करणम् = प्रयत्नः** (उवटः, ऋ०प्रा० ६.२७) अर्थात् जो किया जाता है, उस प्रयत्न को करण कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए साक्षात् पाणिनिमुनि ने भी 'करण' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। जैसे – '**स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः**' (शिक्षा– ३.४) आदि। अन्यत्र भी इसीप्रकार का प्रयोग देखा जाता है। तद्यथा– **तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते** (म०भा०, पस्प० पृ० ५१), **करणम् = आभ्यन्तरप्रयत्नः** (उद्योत, वहीं)। **विवृतकरण इकारः, ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः, ताविमौ पृथक् करणाख्येन प्रयत्नेन उच्चारणीयौ** (न्यायभाष्यम् – २.२.४०)। इसलिए यहां सूत्रस्थ करणशब्द से अन्तःप्रयत्न का ग्रहण ही अभीष्ट है। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में इसे स्पष्टशब्दों में 'प्रयत्नानुप्रदानतः' कहा है। प्रयत्नतः = अन्तःप्रयत्नतः और अनुप्रदानतः = बाह्यप्रयत्नतः (यह बाह्ययत्नों का उपलक्षक है)।[३] यहाँ अन्तःशब्द का अर्थ अन्दर नहीं है, अपितु समीप है। जो यत्न वर्णोत्पत्ति के समीप में रहते हैं, उन्हें अन्तःप्रयत्न कहते हैं अर्थात् जिन यत्नों के समनन्तर ही वर्णोत्पत्ति होती है या जो यत्न वर्णोत्पादन में साक्षात् कारण बनते हैं, वे ही अन्तःप्रयत्न कहलाते हैं। वे पांच हैं– १. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. ईषद्विवृतता, ४. विवृतता, ५, संवृतता।

अवर्ण, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय ये सभी कण्ठ्य वर्ण समान स्थान (कण्ठ-१.२) और समान करण (जिह्वामूल-२.३) से उच्चरित होते हुए भी इनका अन्तःप्रयत्न भिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें भिन्नता आती है।[४] ह्रस्व अवर्ण का अन्तःप्रयत्न संवृत (३.१२) है तो दीर्घ और प्लुत अवर्ण का विवृत (३.११) है, वैसे ही कवर्ग स्पृष्टप्रयत्न वाले (३.४) हैं, हकार विवृत प्रयत्नक है, विसर्जनीय अस्पृष्ट स्थितप्रयत्न[५] वाला है। तालव्य (इवर्ण, चवर्ग, यकार, शकार– १.८) वर्णों का भेदत्व भी दिखाते हैं– इवर्ण का अन्तःप्रयत्न विवृत है (३.८), चवर्ग स्पृष्टप्रयत्नक है (३.४), यकार ईषत्स्पृष्टता (३.५) वाला है तो शकार ईषद्विवृतता (३.६) वाला है। इसीप्रकार मूर्धन्य, दन्त्य आदि वर्णों में भी भेद जानना चाहिए।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवर्गादि पच्चीस वर्णों का अन्तःप्रयत्न स्पृष्टता (३.४) ही है पुनरपि स्थान के भेद से उनमें भिन्नता आयी है अर्थात् वर्गात्मक भेद उत्पन्न हुआ है। ह्रस्व अवर्ण को छोड़कर शेष सभी स्वरों (अचों) का अन्तःप्रयत्न विवृत है, पर स्थान और करण के भेद से ही इनमें वर्णान्तरता आयी है। इसीप्रकार अन्तस्थ एवं ऊष्मादि में भी समझ लेना चाहिए।

---

१. जिह्वामूल, जिह्वामध्य, जिह्वोपाग्र, जिह्वाग्र, ओष्ठ्य और नासिका यह साधनों का क्रम है।

२. कृधातु से ल्युट् प्रत्यय करणकारक में होने पर साधन अर्थ निकलता है– क्रियतेऽनेनति करणम्। पर कर्मकारक में विहित होने पर तो प्रयत्न अर्थ निकलता है।

३. ऐतरेयारण्यक (२.३.६) के "०सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपी भवति" वचन में स्पर्श शब्द से स्थान, करण एवं अन्तःप्रयत्नों का ग्रहण किया गया है। इसकी व्याख्या इससे पूर्व ऐसी ही की गयी है।

४. सभी कण्ठ्यवर्णों का स्थान कण्ठ समान है और करण (साधन) जिह्वामूल भी समान है। पुनरपि अन्तःप्रयत्न भिन्न-भिन्न होने के कारण इन में भिन्नता आती है अर्थात् अन्तःप्रयत्न वर्णों के भेदक हैं। इसीलिए पाणिनि ने इसे भेदकों में गिना है।

५. द्र० शिक्षाशास्त्र ३.१३ का शिक्षातत्त्वालोकभाष्य (पृ०१२९)।

३. बाह्ययत्नतः वर्णविभाजन– शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया बाह्ययत्न से आरम्भ होती है,[१] तत्पश्चात् अन्तःप्रयत्न और उसके बाद शब्दोत्पत्ति होती है अर्थात् बाह्ययत्न शब्द का साक्षात् कारण नहीं है, अपितु परम्परया कारण हैं। बाह्ययत्न अन्तःयत्नों के कारण हैं तो अन्तःयत्न शब्द के कारण हैं। बाह्ययत्न एवं शब्दोत्पत्ति के मध्य में अन्तःयत्न का व्यवधान है। इसी व्यवधान के कारण ये यत्न शब्द से दूर व बाह्य कहलाते हैं। यहाँ बाह्य का अर्थ बाहर नहीं, अपितु दूर है। बाह्ययत्न बारह (१२) प्रकार से विभक्त है– १. काल, २. विवार, ३. संवार, ४, श्वास, ५. नाद, ६. अघोष, ७. घोष, ८. अल्पप्राण, ९. महाप्राण, १०. उदात्त, ११. अनुदात्त, १२. स्वरित।[२] काल से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का ग्रहण होता है। इनका पृथक्-पृथक् परिगणन करने से एवं आनुनासिक्य बाह्ययत्न का भी परिगणन करने से बाह्ययत्न पूरे १५ (पन्द्रह) हो जाते हैं। उदात्तादि स्वर और ह्रस्वादि काल बाह्ययत्नों के अन्तर्गत होने से वर्णविभाजन के निमित्तों में इनकी पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है, जैसे कि श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा (९, १०) में की गई है।

स्पर्शसंज्ञक पच्चीस वर्णों का अन्तःप्रयत्न समान होने पर भी स्थान और करण भेद से वर्गों में विभक्त हुए हैं, यह पूर्व में लिख चुके हैं। एक-एक वर्ग के अन्तःयत्न, स्थान एवं करण समान होने पर भी उन्हें पांच-पांच वर्णों के रूप में विभक्त करने वाला यत्न बाह्ययत्न ही है। वह इसप्रकार है –

प्रत्येक वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्ण विवृतकण्ठ, श्वासानुप्रदान और अघोष बाह्ययत्न वाले हैं (४.२), जब कि तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान और घोष बाह्ययत्न वाले हैं (४.४)। इसप्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण भिन्न हो गये। पुनः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय, चतुर्थों में भी क्रमशः एक अल्पप्राण तथा दूसरा महाप्राण (४.३, ५) बाह्ययत्नों के कारण वर्णान्तरता आयी। तृतीय एवं पञ्चम वर्णों के उक्त सभी बाह्ययत्न समान होने पर भी आनुनासिक्यधर्म (४.६, ७) से पञ्चम वर्ण तृतीयों से वर्णान्तर हुए। अन्तस्थ तथा ऊष्मवर्णों के भेदक तो स्थान ही हैं। क्योंकि अन्तःस्थ वर्णों का अन्तःप्रयत्न (ईषत्स्पृष्टत्व–३.५) और बाह्ययत्न (संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान, घोषत्व– ४.४) समान ही हैं। ऊष्म वर्णों में भी श, ष, स वर्णों का अन्तःप्रयत्न ईषत्विवृतकरण (३.६) है, तो हकार विवृतकरण है। वैसे ही श, ष, स वर्णों का बाह्ययत्न विवृकण्ठादि (४.२) हैं, तो हवर्ण के संवृतकण्ठादि (४.४) हैं। इसप्रकार सभी वर्णों के वर्णान्तरत्व को स्पष्टतया समझने के लिए शिक्षाशास्त्र के परिशिष्ट– ९, १० में दी गयी दोनों तालिकाओं का अवलोकन करें।

कालादि से वर्णविभाजन– काल एवं उदात्तादि के कारण प्राप्त वर्णान्तरता को केवल स्वर (अच्) वर्णों में ही देखी जाती है। सानुनासिकत्व तथा निरनुनासिकत्व धर्म से प्राप्त वर्णान्तरत्व अज्वर्णों और य, ल, व वर्णों में देखा जाता है। वह इसप्रकार है– अ, इ, उ आदि वर्ण स्थान की भिन्नता से ही वर्णान्तरत्व को प्राप्त होते हैं। अकारादि अज्वर्ण ह्रस्व,दीर्घ और प्लुत के रूप में काल की भिन्नता से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं– **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (अष्टा० १.२.२७)। और प्रत्येक अज्वर्ण उदात्त, अनुदात्त, स्वरितरूप बाह्ययत्न के कारण पुनः तीन प्रकार से विभक्त होते हैं। वे सानुनासिकत्व एवं निरनुनासिकत्व रूपी बाह्ययत्नों के कारण पुनः विभक्त होते हैं। इसप्रकार अ, इ, उ, ऋ ये चार वर्ण अठारह-अठारह वर्ण बनते हैं (६.१, २, ३) और शेष लृ एवं सन्ध्यक्षर बारह-बारह वर्ण बनते हैं (६.४, ५, ७, ८)।

नाभि से उत्थित वायु नाद के रूप में परिवर्त्तित होकर वह एक ही अव्यक्तध्वनि भिन्न-भिन्न वर्णों (व्यक्तध्वनियों) के रूप में परिवर्त्तित होती है, इसे हमने स्पष्टतया जान लिया। यहाँ और एक महत्वपूर्ण विषय

१. यह एक व्यवहार के अनुभूत विषयक सामान्य कथन है, यथार्थतः शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया आत्मा से आरम्भ होती है।

२. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता। घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणाः स्वरास्त्रयः।।
बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः।। (शिक्षा ८.३०, ३१)

विचार करने योग्य है कि महर्षि पाणिनि के द्वारा उक्त "**वर्णास्त्रिषष्टि**" तिरसठ वर्णों की वर्णमाला में ऊपर वर्णित (परस्पर विभक्त) वर्णों में से किन-किन का ग्रहण होता है ? अर्थात् वर्णमाला का स्वरूप क्या हो ? यह मुख्यरूप से विवेचनीय विषय है। **यहाँ से आगे विचारणीय वर्णान्तरत्व का तात्पर्य वर्णमाला में परिगणनीय वर्णों का भेदकत्व है।**

प्रसिद्ध वर्णमाला के अनुसार 'अ, इ, उ, ऋ' इन चार स्वरवर्णों के ह्रस्व,दीर्घ,प्लुत भेद से बारह वर्ण बनते हैं, लृ-स्वर के ह्रस्व और प्लुत भेद से दो वर्ण तथा 'ए, ऐ, ओ, औ' इन सन्ध्यक्षरों के दीर्घ एवं प्लुत भेद से आठ वर्ण बनते हैं। कुल मिलाकर स्वर (अच्) वर्ण (१२+२+८=) बाईस (२२) हो जाते हैं। इस संख्या में २५ स्पर्श वर्ण तथा चार अन्तस्थ, चार ऊष्म, आठ अयोगवाह (विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और चार यम) को मिलाकर (२२+२५+४+४+८=)६३ (तिरसठ) वर्ण पूरे हो जाते हैं।

यह वर्णमाला परम्परा से लोक में एवं सभी प्रामाणिक आचार्यों, शिष्टपुरुषों के द्वारा स्वीकृत होने पर भी कुछ सुधी विचारकों के मन में यह आशंका बनी रहती है कि काल रूपी गुण को भेदक मानकर अज्वर्णों के ह्रस्व,दीर्घ एवं प्लुतों की गणना की गयी है, परन्तु सानुनासिक, निरनुनासिक और संवृत आदि गुणों के आधार पर वर्णों की गणना क्यों नहीं की जाती ? इसमें कुछ लोगों का आग्रह भी रहता है। उनके अनुसार वर्णमाला इसप्रकार होनी चाहिए –

'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ' इन नौ वर्णों के सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से १८ हो जाते हैं। निरनुनासिक अ तथा आ वर्णों के क्रमशः संवृत और विवृतरूपी अन्तःप्रयत्न से भिन्न-भिन्न होने के कारण 'अ' से आ वर्ण की पृथक् गणना करने से स्वर वर्ण १९ हो जाते हैं। इस संख्या में २५ स्पर्श वर्ण मिलाने से (१९+२५=) ४४ वर्ण बनते हैं। अन्तःस्थ वर्णों (य, र, ल, व) में से रेफ को छोड़ शेष तीनों का सानुनासिक एवं निरनुनासिक भेद से (य्, यँ, र्, ल्, लँ, व्, वँ) अन्तःस्थ वर्ण सात (७) हो जाते हैं। श, ष, स, ह, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार इन ८ ऊष्म वर्णों को एवं चार यमों को मिलाकर (४४+७+८+४=) ६३ वर्ण पूर्ण हो जाते हैं।

उनका तर्क यह है कि पाणिनि ने "**स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः**" सूत्र में स्थान, करण एवं प्रयत्न को ही वर्णों के भेदक माने हैं, न कि काल को। इसलिए ह्रस्वादि की अपेक्षा सानुनासिक आदि का परिगणन ही उचित है।अब इस मत की समीक्षा की जाती है –

इसप्रकार के परिगणन की परम्परा किसी भी संस्कृतादि भारतीय भाषाओं में नहीं है। लोकप्रमाण[१] के सामने पाणिन्यादि सभी आचार्य नतमस्तक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह पक्ष अपने आप निरस्त हो जाता है। साथ में इस वर्णमाला को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रामाणिक आचार्य का पुष्टीकरण भी प्राप्त नहीं होता। पुनरपि इसप्रकार का विभाजन प्रचलित न होने में क्या कारण रहें होंगे, उन पर विचार तो करना ही पड़ेगा, नहीं तो यह विषय सभी के लिए सदा सन्देहास्पद बना ही रहता है।

पाणिनि के द्वारा उक्त स्थान, करण और प्रयत्न रूपी वर्णविभाजन के हेतुओं में जो प्रयत्नशब्द है वह

---

१. एते स्वराः(ऋक्प्राति० १.३) की व्याख्या करते हुए आचार्य उवट लिखते हैं– "**ननु कथं वर्णसमाम्नायमनुपदिश्यैव- 'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः' इति (उच्यते)? उपदिष्टस्य हि एवमुपद्यते 'आदितः' इति, नानुपदिष्टस्य..... नैष दोषः। उपदिष्टो वर्णसमाम्नायो लौकिको विद्यते। तत्र यावन्तो वर्णा अस्यां शाखायामुपयोक्ष्यन्ते तावतां संज्ञां कर्तुं तमेव(लौकिकं) वर्णसमाम्नायमुररीकृत्याह– 'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः'**..... (उवटभाष्यम्– तत्रैव) इन शब्दों से स्पष्ट है कि लोक में प्रचलित वर्णसमाम्नाय को ही ऋक्प्रातिशाख्यकार ने स्वीकार किया था। इसी प्रकार अन्यप्रातिशाख्यकार एवं पाणिन्यादि के विषय में भी जानें।

बाह्ययत्नपरक है। काल भी बाह्ययत्नों के अन्तर्गत स्वीकृत है।[1] क्योंकि आस्यप्रयत्न[2] को अन्तःयत्न कहते हैं और इससे भिन्न यत्नों को बाह्ययत्न माना गया है। काल भी आस्य से भिन्न क्षेत्रीय है – **'बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः'** (म०भा०, अइउण्)। काल का बाह्यत्व दो प्रकार से माना जाता है। जो कि इस प्रकार है –

१. मात्रा, द्विमात्रा आदि काल-परिमाण का व्यवहार चक्षुओं के उन्मीलन व निमीलन और नाड़ी-स्पन्दन आदि क्रियाओं पर आधृत है। ये सभी क्रियायें (यत्न) आस्य से बाहर होने से काल बाह्ययत्न है।

२. नाभिप्रदेश के विशिष्ट प्रयत्न से ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्ण निष्पन्न होते हैं और नाभिप्रदेश आस्य से बाह्य होने से काल बाह्ययत्न है। एतद्विषयक विशेष जिज्ञासु 'अ इ उ ण्' सूत्रस्थ प्रदीपग्रन्थ[3] एवं **'प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः'** (म०भा० १.१.९) पर लिखित उद्योग ग्रन्थ देखें।[4] स्पष्ट है काल बाह्ययत्नों के अन्तर्गत स्वीकृत है। पाणिनि ने तो बाह्ययत्नों के परिगणन में काल को सर्वप्रथम रखा है– **''कालो विवारसंवारौ०''** (शिक्षा ८.३०, ३१)। क्योंकि वर्णमाला में सर्वप्रथम पठित अचों के प्रत्येक वर्ण का विभाजक काल ही है। तो यहां 'काल को पाणिनि ने भेदक नहीं माना' यह कहना महती भूल होगी।

पहले कह चुके हैं कि स्वर वर्णों को समानाक्षर एवं सन्ध्यक्षरों में विभक्त किया गया है। समानाक्षरों का परिगणन करते हुए प्रातिशाख्यों में कहा गया है कि 'अ इति आ इति आ३ इति, इ इति, ई इति, ई३ इति .... (वा०प्राति० ८.३, अपि च द्र० ऋक्तन्त्र १.२ आदि)। यहाँ स्पष्टरूप से ह्रस्वादि कालों को भेदक माना गया है। प्रातिशाख्यों के इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व ही स्वरवर्णों में ह्रस्वादि वर्णों की गिनती होती थी। इस विषय में आचार्य पाणिनि की भी पूर्ण अभिमति थी। वह इसप्रकार है– लोक में एकमात्रा आदि कालों को भेदक मान कर ह्रस्व,दीर्घ,प्लुत वर्णों का प्रचलन था। इस भेदकत्त्व से व्याकरण का कार्य चल नहीं सकता। जैसे – **यस्येति च** (६.४.१४८) सूत्र से ह्रस्व अवर्ण, इवर्ण के समान दीर्घ आवर्ण, ईवर्ण का भी लोप आचार्य को अभीष्ट है। पर लोकप्रसिद्धि के आधार पर ह्रस्व एवं दीर्घ वर्ण परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। जिससे ह्रस्व वर्णों को कहा हुआ कार्य दीर्घ वर्णों को प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए व्याकरण में अकारादि ह्रस्व वर्णों को जाति निर्देश माना गया है। इससे सूत्रप्रणयन में लाघवता के साथ शब्दव्युत्पत्तियों में अनेकों कार्य सरलतया सम्पन्न हो जाते हैं। हाँ, जाति निर्देश से जहाँ-जहाँ अतिव्याप्ति दोष आता है, वहाँ-वहाँ आचार्य तपरकरणरूपी विशेषयत्न कर तत्कालों का ग्रहण कराते हैं[5] और भिन्न कालों का वारण। तपरनिर्देश स्थलों पर सर्वत्र सानुनासिक एवं उदात्तादि गुणियों का ग्रहण अभीष्ट है, क्योंकि वे गुण वर्णों के भेदक नहीं हैं। व्याकरण में जातिनिर्देश की मान्यता के कारण ही आचार्य को तपरकरण की व्यवस्था करनी पड़ी और जातिनिर्देश को मानने के पीछे आचार्य की विवशता यही थी कि लोक एवं शास्त्रीयपरम्परा में काल को भेदक मानकर ह्रस्व, दीर्घादि वर्णों को परस्पर भिन्न-भिन्न (वर्णान्तरत्व)मानने की प्रामाणिक व्यवहार का विद्यमान रहना ही है। इससे भी पूर्णतया स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि काल को भेदक मानते थे।

व्याकरणशास्त्र में उदात्तादि गुणों को भेदक एवं अभेदक दोनों पक्ष स्वीकारे गये हैं, पर अन्त में अभेदक

---

१. कालो विवारसंवारौ....बाह्यकरणमाहुः ...(शिक्षा ८.३०, ३१)।

२. किं पुनरास्यम्? लौकिकमास्यम्, ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात् (=स्वरयन्त्रमुखात्) (म०भा० १.१.९)।

३. प्रसिद्धपरिमाणवस्त्वन्तर......नाभेश्चास्याद्बाह्यात्वात्कालस्य बाह्यत्वम् ....अथवा नाभिप्रदेश....कालस्य बाह्यत्वम् (प्रदीपः– अ इ उ ण्)।

४. मात्राकालिकत्वादिकमपि वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात् प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पवायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति तस्य यत्नस्य वायुप्रेरणरूपं कार्यमास्यबाह्यदेशम् (उद्योत– १.१.९)।

५. आकृतिग्रहणात् सिद्धम्---- एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते– आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति (म०भा अइउण्, पृ० ९९)।

पक्ष ही न्याय्य माना है—"**उभयमिदं गुणेषूक्तम्—भेदकाः, अभेदका इति। किं न्याय्यम्? अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम् – 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इति उदात्तग्रहणं करोति। यदि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्** (म०भा० १.१.१,पृ०१७१)। इसीप्रकार सानुनासिक विषय में भी समझ लेना चाहिए— '**अणोऽप्रगृह्यस्याँण्**' सूत्र न बनाकर '**अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः**' (८.४.५६) बनाया गया है। यदि अनुनासिक धर्म भेदक होता तो 'अँण्' ऐसा ही सूत्र में पाठ करते, पर आचार्य देखते हैं कि वह धर्म भेदक नहीं है। इसीलिए 'अँण्' ऐसा न पढ़कर 'अनुनासिकः' ही पढ़ा है। स्पष्ट है कि अनुनासिक गुण अभेदक है। उसके अभेदकत्व में हेतु यह भी है कि– लोक प्रचलित भाषा में सानुनासिक वर्णों का प्रयोग न के बराबर है। जिन वर्णों का प्रयोग ही नहीं होता, उनका परिगणन वर्णमाला में करने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् सर्वथा निरर्थक।[१] प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि ग्रन्थों में सर्वत्र अन्तःस्थ वर्ण चार ही स्वीकारे गये हैं (द्र० ऋ०प्रा०१.९, तै०प्रा०१.८, वा०प्रा० ८.१५, ऋ०तं०१.२, वर्ण० शि० १३ आदि)। इसमें किसी भी आचार्य का मतभेद नहीं है। अन्तःस्थों को सानुनासिक, निरनुनासिक भेद मानकर सात मानना अशास्त्रीय एवं परम्परा से भी विरुद्ध है। साथ में अव्यवहारिक भी है।

"**किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित् संवृतस्य....** (म०भा० अइउण्) की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार कहते हैं कि– "**दुरवधारणत्वादुपदिष्टो विवृतो व्याख्यानेन विना न शक्यते ज्ञातुमिति प्रत्यक्षेऽप्यकारे प्रश्नोऽयं नासमञ्जसः।**" इस पर उद्योतकार लिखते हैं कि– "**विवृतत्वादीनां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाभावादिति भावः।**" अर्थात् संवृत, विवृत आदि आस्यप्रयत्न (गुण) वक्ता के अनुभूत विषयक तो हैं, पर श्रोता के लिए वे गुण गृहीत ही नहीं होते। जो गुण अभिव्यक्त ही नहीं होते, उनके आधार पर वर्णमाला में 'अ, आ' वर्णों को संवृत, विवृत के रूप में कैसे गणना कर सकते हैं ? संवृत, विवृत धर्म तो केवल वक्ता के अनुभूत विषयक हैं, बाहर प्रकट ही नहीं होते, पुनः श्रोता के द्वारा कैसे गृहीत होंगे ? ऐसे धर्मों को 'अ, आ' ऐसी लिपि से कैसे प्रकट कर सकते हैं ? आस्यप्रयत्नजधर्मों को क्या लिपि में प्रकट कर सकते हैं ? सर्वथा असम्भव। हाँ, कालभेद के प्रदर्शन के लिए लिपि की कल्पना की गयी है, क्योंकि कालकृत भेद श्रोता को भी गृहीत होता है। अतः कालभेदत्व को लेकर अवर्णादि सभी स्वरों को ह्रस्व, दीर्घादि के रूप में अवश्य विभाजित कर सकते हैं। इस के लिए भाष्य की ये पंक्तियाँ भी अवलोकनीय हैं–

"**अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः....किञ्च कारणं न गृह्णीयात्? विवारभेदात्। किमुच्यते-विवारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि। यथैवं ह्ययं (आकारः) विवारभिन्नः, एवं कालभिन्नोऽपि? सत्यमेवमेतत्। वक्ष्यति –तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यत्रास्य ग्रहणस्य प्रयोजनम्–आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च, ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति। बाह्यश्च पुनरास्यात् कालः। तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य** " (म०भा० अइउण्)। यहाँ कहा गया है कि विवृत आकार के ग्रहण के लिए अकार को विवृत उपदेश करना पड़ेगा। अन्यथा संवृत अकार से विवृत आकार भिन्न होने से गृहीत नहीं हो पायेगा।

---

१. "**ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिश्येत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते.... प्रार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारोऽस्ति**(म०भा०एओङ्)। इस प्रसंग से भी स्पष्ट है कि जिन वर्णों का लोकादि में प्रचुरमात्रा में प्रयोग नहीं होता, उनका परिगणन वर्णमाला में नहीं हो सकता। हाँ ! जिन तेलुगु आदि दक्षिणभारतीय भाषाओं में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है, अतः इन भाषाओं की वर्णमाला में एकार एवं ओकार की अर्धमात्राएँ (ह्रस्वमात्राएँ) भी स्वीकृत हैं। अतः प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त ह्रस्वादि कालभिन्नों को त्यागकर, अत्यधिक स्वल्प मात्रा में (न के बराबर) प्रयुक्त सानुनासिक वर्णों का वर्णमाला में ग्रहण करना सर्वथा अनुचित एवं अशास्त्रीय परिकल्पना मात्र है।

यह भेद (विवारभेदात्) कथन केवल सवर्णसंज्ञा के परिप्रेक्ष में ही है, न कि वर्णभेद के लिए। हां ! **'सत्यमेवमेतत्'** कहकर भाष्यकार ने स्पष्टरूप से काल को भेदक माना है। कालभेद सवर्णसंज्ञा का बाधक नहीं है, क्योंकि वह बाह्ययत्न है।[1] कालभेद के कारण ह्रस्व वर्णों से दीर्घादि का ग्रहण नहीं हो सकता था, जिससे बहुत सारे दोष उत्पन्न होंगे। इन्हीं दोषों के निवारण के लिए पाणिनि को सवर्ण संज्ञा करनी पड़ी। जिससे कि कालभेद होने पर भी ह्रस्व वर्णों से दीर्घादि का ग्रहण हो सके। इसलिए काल को भेदक न मानकर संवृत, विवृतों को भेदक मानना सर्वथा अपाणिनीय है। अपाणिनीयत्व से स्वयं पतञ्जलि भी भयभीत होते हैं– **''सिध्यति, अपाणिनीयं तु भवति''।**

जिसप्रकार संवृत, विवृत आदि गुण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं होने से वर्णान्तरत्व के कारक नहीं हो सकते, उसी प्रकार उदात्तादि गुण भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत न होने[2] से वर्णान्तरत्व के कारक नहीं हो सकते। वर्णों के कालभेद (ह्रस्व,दीर्घ,प्लुत आदि) में तो वक्ता एवं श्रोता दोनों को ही भेद स्पष्ट प्रतीत होता है[3], इसीलिए काल को भेदक माना गया है और संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं की वर्णमालाओं में कालभिन्नों को ही स्थान दिया गया है।[4] वार्त्तिककार एवं महाभाष्यकार ने भी श्रुतिकृत् भेद को ही वर्णान्तरत्व में कारण माना है– **''श्रुतिश्चापि न भिद्यते** (वार्त्तिक)– **श्रुतिकृतश्चापि न कश्चिद् भेदो भवति''**(म०भा० ८.२.२५)। अर्थात् चकाद्धि, चकाद्द्धि इत्यादि में व्यञ्जन परे रहते एक हल् या दो हलों के होने से कोई श्रुतिकृत्-भेद नहीं होता। यदि भेद होता तो वर्णान्तर हो जाता, जिससे 'चकाद्धि, चकाद्द्धि' शब्दों को भिन्न-भिन्न मानने की आपत्ति आती है।[5] अर्थात् शब्दान्तर के लिए वर्णभेद चाहिए, वर्णभेद के लिए श्रुतिभेद चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है **''श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेदः करिष्यति?''**(म०भा० ७.१.७२)। इसका तात्पर्य है– प्रतिज्ञात कार्य कहीं पर होने वा न होने में कोई श्रुतिभेद नहीं होता है तो वहां उस प्रतिज्ञात कार्य को नहीं करना चाहिए। इससे यदि प्रतिज्ञाभंग होता है, तो होने दो उससे क्या दोष होगा? कुछ नहीं। निष्कर्ष यह है कि प्रतिज्ञात कार्य वहीं होता है, जहां कार्य सम्पन्न होने पर श्रुतिभेद हो। श्रुतिभेद न होने पर प्रतिज्ञात कार्य ही नहीं होता तो श्रुतिभेद के अभाव में वर्णान्तरत्व कैसे सम्पन्न होगा ? अर्थात् वर्णान्तरता के लिए श्रुतिभेद (रूपान्यत्व) अनिवार्य है।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः (म०भा० अइउण्)

जो प्रयोग (ध्वनि) के द्वारा अभिव्यक्त होता है, श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होता है, बुद्धि के द्वारा (अर्थ सहित) ग्रहण करने योग्य है और जिसका स्थान आकाश है, वही शब्द कहलाता है। यहाँ भी कहा गया है कि शब्द (वर्ण) वही है, जिसके गुण वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त होते हों और श्रोता के द्वारा गृहीत होकर बुद्धि से भी गृहीत होते हों।[6] जिसके गुण अभिव्यक्त नहीं होते अथवा श्रोता के द्वारा गृहीत नहीं होते वे शब्दत्व (वर्णत्व) को प्राप्त ही नहीं करते। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी कहा –

---

१. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (अष्टा० १.१.९) सूत्रस्थ प्रयत्नशब्द केवल अन्तःप्रयत्नवाची है। अतः वही सवर्णसंज्ञा का कारण है।

२. इस के लिए लेखक का 'उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन' लेख द्रष्टव्य है(पृ० २९४-३०६)। संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्युमुदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति। न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति (शां० भा०, वेदा० १.३.२८, पृ० १२६)।

३. इसी को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ''रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्'' (२२.२) कहा गया है।

४. क्योंकि 'कल–काल, कम–काम' आदि शब्दों में कालकृत भेद से श्रुतिभेद, श्रुतिभेद से शब्दभेद, शब्दभेद से अर्थभेद सिद्ध होता है।

५. न चैव वायुसंयोग एव वाचकोऽपि किं न स्याद् (तस्मिन् कत्वगत्वादिविजातीयधर्माणां विद्यमानत्वाद्) इति वाच्यम्, प्रत्यक्षोपलभ्यमानककारादेरेव वाचकत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् (वै०भू०सा०, अखण्डस्फोटनिर्णयः)।

६. तुलना– श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः (वै०द० २.२.२१)।

विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते।। (वा०प०, ब्रह्म० ११५)

(नादसहित) प्राणवायु पृथक्-पृथक् प्रकार के श्रुतिरूपों से अर्थात् ह्रस्वादि कालकृत, स्थानकृत, प्रयत्नकृत भेदों के द्वारा अपनी ग्रन्थियों (विकारों) को विभक्त करता हुआ वर्णों को अभिव्यक्त कर वर्णों में ही विलीन हो जाता है। यहाँ वाक्यपदीयकार ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि (पृथग्विधैः श्रुतिरूपैः) वर्णान्तरता श्रुतिभेद (रूपान्यत्व) से ही उत्पन्न होती है।

साक्षात् महर्षि पाणिनि ने भी कहा है कि– "**०स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः**"(८.१)। कत्व, गत्वादि भेदरहित अव्यक्त नादध्वनि के कण्ठादि स्थानों में अभिघात होने से मुखाकाश में कत्व, गत्वादि भेदयुक्त (वर्णान्तरत्व के कारणभूत गुणों से युक्त) ध्वनि उत्पन्न होती है। वही वर्णश्रुति है अर्थात् श्रुतिकृद्भेद से युक्त ध्वनिविशेष अभिव्यक्त होता है, जो कि वर्णत्व का आत्मा है अर्थात् श्रुतिकृतभेद वर्णान्तरत्व का मूलभूत कारण है। अतः श्रुतिकृत् भेद के अभाव में वर्णान्तरत्व की कल्पना कदापि नहीं हो सकती।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में काल को स्पष्टशब्दों में भेदक माना गया है –

अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात्।
जायते वर्णवैशिष्यं परीमाणाच्च पञ्चमादिति।। (२३.२)

नादादि अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न) भेद से, संसर्ग भेद से, स्थानभेद से, करणविन्यासभेद से और मात्रादि परिमाणभेद (कालभेद) से वर्ण वैशिष्ट्य अर्थात् वर्णान्तरत्व उत्पन्न होता है।

यू स्त्र्याख्यौ नदी (१.४.३)– **किं पुनरिदं दीर्घयोर्ग्रहणमाहोस्विद्ध्रस्वयोः**?(म०भा० वहीं)। यदि काल अभेदक होता तो ह्रस्व के ग्रहण से दीर्घ का, दीर्घ के ग्रहण से ह्रस्व का ग्रहण हो ही जाता, अतः यहाँ प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। प्रश्न करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकार भी काल को भेदक मानते हैं। काल को भेदक न मानने से ङिति ह्रस्वश्च, शेषो घ्यसखि इत्यादि सूत्रों में अनेकत्र ह्रस्व,दीर्घ आदि के भेद-व्यवहारों में अनेकों दोष और विसंगतियाँ उपस्थित होंगी। अतः काल को भेदक मानने की परम्परा शास्त्रीय एवं बुद्धिसंगत है।

वर्णान्तरत्व के कुछ विचारणीय बिन्दु–

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने वर्णोच्चारण शिक्षा में ६३ वर्णों के विवरण के अन्तर्गत **ँ** ह्रस्व (अनुस्वार), ँ दीर्घ (अनुस्वार), ँ (अनुनासिक चिह्न) एवं ळ इन चार वर्णों को 'यम' (वर्णान्तरों) के रूप में दिखाया है। इसमें विचारणीय यह है कि ये सभी वर्ण क्या वर्णान्तर हो सकते हैं ?

१. **ँ** (ह्रस्वानुसार) एवं ँ (दीर्घानुस्वार) ये दोनों ही वर्ण अनुस्वार (ं) के ही दो भेद हैं, जो कि यमभिन्न एक स्वतन्त्र अयोगवाह है। अनुस्वार एक शुद्ध नासिक्य ध्वनि है – **अनुस्वारयमा नासिक्याः** (शिक्षा १.१६)। अनुस्वार का यह शुद्ध नासिक्यत्व केवल श् ष् स् ह् र् वर्णों के परे रहने पर ही रहता है अर्थात् अनुस्वार के रूप में उच्चरित होता है। क्योंकि अन्य वर्णों के परे रहने पर उसे परसवर्ण होता है। इस अनुस्वार के तीन भेद हैं –

अनुस्वारस्य वेदे शलि रेफे परे भवेद्।
ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वः संयोगे च परे गुरुः।। (के०शि० ५)

अर्थात् यजुर्वेद और सामवेद में अनुस्वार के बाद यदि श्, ष्, स्, ह् तथा र् में से कोई एक वर्ण हो, पूर्व में दीर्घ स्वर हो और संयोग परे न हो तो वह अनुस्वार 'ह्रस्वानुस्वार' (**ँ**) कहलाता है, यदि पूर्व में ह्रस्व स्वर हो तो वह 'दीर्घानुस्वार' (ँ) कहलाता है। श, ष आदि वर्ण आदि में हैं जिस संयोग में, ऐसे संयोग के परे रहते

पूर्व में विद्यमान अनुस्वार 'गुरु-अनुस्वार' कहलाता है। तद्यथा–

ह्रस्वानुसार – उपा ॐ शु, यजू ॐ षि, मा ॐ सम् इत्यादि।

दीर्घानुस्वार – त्रि ँ शत्, मैनं ँ हि ँ सीः, स ँ हिता इत्यादि।

गुरु-अनुस्वार – सर्वं वै पूर्ण ँ स्वाहा।

द्यावापृथिवीभ्या ँ स्वाहा (तै०सं० १.२.२.१८)।

अद्यतन यजुर्वेदी इनका उच्चारण क्रमशः गुङ्, ग्वङ्, ग्ग् के रूप में करते हैं। जो कि अशुद्ध है। यह उच्चारण सामवेद की परम्परा में नहीं है। ॐ (ह्रस्व) और ँ (दीर्घ) ये दोनों ही अनुस्वार के ही भेद हैं, तो ये स्वतन्त्र वर्ण कैसे हो सकते हैं? **ये भी भेद केवल यजुर्वेद (शुक्ल एवं कृष्ण) और सामवेद के लिए ही हैं।** अन्य वेदों में यह भेदव्यवस्था स्वीकृत नहीं है। अन्य वेदों में तो अनुस्वार उक्त विशेष स्थिति में भी निर्विकार ही रहता (उच्चरित होता) है। तो उन वेदों के प्रातिशाख्यों में चार यमों की उपपत्ति कैसे होगी? यह एक पार्षदकृति है, पुनः यह सर्ववेदपार्षद पाणिनीयशास्त्र में कैसे स्वीकृत हो सकता है? ह्रस्वानुस्वार एवं दीर्घानुस्वार को स्वतन्त्र वर्ण मानेंगे तो गुरु-अनुस्वार को भी स्वतन्त्र वर्ण क्यों नहीं माना गया है? उसे न मानने के क्या कारण हैं? अनुस्वार यमभिन्न अयोगवाहों में परिगणित होने से उसके भेदों को पुनः अयोगवाहों (यमों) में परिगणित नहीं कर सकते। साथ में यह भी ध्यातव्य है कि– यदि अनुस्वार के विकार ॐ (ह्रस्व) एवं ँ (दीर्घ) को यमों में परिगणित करते हैं तो यमभिन्न अयोगवाहों में अनुस्वार का परिगणन नहीं कर सकते। क्योंकि अनुस्वार का स्वरूप श,ष आदि पूर्वोक्त पांच वर्णों के परे होने पर ही रहता। इनके परे रहते उत्पन्न विकार (ॐ,ँ) यमों के अन्तर्गत माने गये हैं। श,ष आदि पांच वर्णों से भिन्न व्यञ्जन वर्णों के परे रहने पर अनुस्वार को परसवर्ण हो जाता है। परिणामतः अनुस्वार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे यमभिन्न अयोगवाहों में कैसे परिगणित कर सकते हैं ? सर्वथा असम्भव।

२. अनुनासिकत्व (ँ) अच् (स्वर) वर्णों तथा रेफवर्जित अन्तस्थ वर्णों का एक धर्मविशेष है, जिससे वे वर्ण (धर्मी) सानुनासिक कहलाते हैं। इस धर्मविहीन अजादि वर्ण निरनुनासिक कहलाते हैं। जैसे स्वर (अच्) वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित धर्म (गुण) हैं, वैसे ही सानुनासिकत्व एवं निरनुनासिकत्व भी धर्मविशेष हैं। ह्रस्वादि धर्म जैसे कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं हैं, वैसे ही अनुनासिक धर्म भी स्वतन्त्रवर्ण (धर्मी) नहीं हो सकता। हम पहले ही सहेतु लिख चुके हैं कि अनुनासिकधर्म वर्णों का भेदक नहीं है। यदि अनुनासिक वर्णान्तर है, तो अँ, आँ, इँ,ईँ आदि को भी वर्णान्तर मानना पड़ेगा। जिससे तिरसठ वर्णों की व्यवस्था बिगड़ जायेगी और यह एक अशास्त्रीय कल्पना भी होगी। साथ में इसकी पुष्टि में किसी भी प्रामाणिक आचार्य का वचन न होने से वह अप्रामाणिक कल्पना भी होगी। अतः निष्कर्षतः यही कहना पड़ता है कि (ँ) अनुनासिकत्व वर्णों का भेदक न होने से तिरसठ वर्णों के अन्तर्गत परिगणित नहीं हो सकता।

३. 'ळ' वर्ण के वर्णान्तरत्व पर विचार करने से पूर्व इसके स्वरूप को जानना होगा। इस विषय में आचार्य शौनक लिखते हैं –

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकारः।

ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा सम्प्रयुक्तः।

इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण। (ऋ०प्रा० १.५२)

दो स्वरों के मध्यस्थ डकार को ळकार होजाता है और ढकार को ळहकार। इनके उदाहरण हैं – इळा (इडा), साळ्हा (साढा), वीड्वङ्ग का अवग्रहरूप[1] अर्थात् वीळुऽअङ्ग (वीडुऽअङ्ग)।

१. यह पदपाठ का एक विशेष नियम है।

यह विकार व नियम केवल ऋग्वेद में ही स्वीकृत है, न कि अन्य वेदों में। अतः यह भी पार्षदकृति है, इसलिए यह वर्ण भी सर्ववेदपारिषदभूत पाणिनीयतन्त्र में वर्णान्तर के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकता। जब यह ळवर्ण अन्य वेदों में स्वीकृत (प्रयुक्त) ही नहीं है, तब उन वेदों के व्याकरणभूत प्रातिशाख्यों में वर्णान्तर के रूप में कैसे स्वीकृत हो सकता है? न ही उन ग्रन्थों में इसका वर्णन है। पुनः उनमें यमों का चतुष्ट्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? ह्रस्वानुस्वार एवं दीर्घानुस्वार ऋग्वेद में स्वीकृत नहीं है और ळवर्ण ऋग्वेद से भिन्न वेदों में नहीं है, तो इनमें यमों का चतुष्ट्यत्व कैसे सिद्ध होगा? जबकि सभी वेदों के प्रातिशाख्यों में यमों का चतुष्ट्व स्वीकार किया गया है? यदि ळवर्ण एक स्वतन्त्र वर्ण है, तो ळ्हवर्ण स्वतन्त्र वर्ण क्यों नहीं हो सकता? इसका भी यमों में परिगणन करना चाहिए। इससे तो यमों का चतुष्ट्यत्व नियम भी भङ्ग हो जायेगा। ह्रस्वानुस्वार (ꣳ), दीर्घानुस्वार (ꣴ) एवं ळवर्ण पार्षदकृतियाँ होने से पाणिनीयतन्त्र में स्वीकृत नहीं हो सकते हैं। पुनः पाणिनीय व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में यमों का चतुष्ट्यत्व कैसे सिद्ध होगा? कदापि नहीं। जबकि पाणिनीयपरम्परा में भी यमों को चार माना गया है।

यहां यह भी विशेषतया विचार करने योग्य है कि **अनुस्वारयमा नासिक्याः** (व०शि० १.१९) की व्याख्या करते हुए स्वामी जी लिखते हैं कि– ''ळ को छोड़के ꣳ , ꣴ , ँ इन तीन यमों और (·) अनुस्वार को नासिका से बोलना शुद्ध है।'' सूत्रकार महर्षि पाणिनि जब सामान्यतया अनुस्वार एवं सभी यमों को नासिक्यध्वनि (नासिका से बोलने योग्य) मान रहें हैं, तो यह विशेष अर्थ ''ळ को छोड़के'' कहाँ से, किस अपवाद के नियम से आगया है? ळ वर्ण को यदि नासिक्य मानते हैं तो वह नितान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध हो जाता। प्रत्यक्षविरुद्ध का कथन स्वामी जी कर नहीं सकते। इसलिए 'ळ को छोड़के' अर्थ किया। पर यह अर्थ पाणिनि को तो अभीष्ट नहीं है अर्थात् यह अपाणिनीय (उत्सूत्र) व्याख्यान है। अपाणिनीयत्व के भय से स्वयं महर्षि पतञ्जलि ही भयभीत होते हुए महाभाष्य में अनेकत्र लिखते हैं कि – **''सिध्यति, अपाणिनीयं तु भवति''**। यदि ळवर्ण को छोड़कर अन्य यमों का ही स्थान नासिका है, तो ळवर्ण का स्थान क्या है? इसका समाधान न सूत्रों में है, न ही स्वामी जी के भाष्य में। अतः यह कहना ही होगा कि ळ-वर्ण नासिक्य यम नहीं है।[१] यदि यह यम नहीं है, तो यम चार कैसे हुए? पुनः 'त्रिषष्टि' की पूर्ति कैसे होगी? अतः ळवर्ण भी कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं है, जिसका परिगणन वर्णमाला में किया जा सके।[२]

यहाँ यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यदि ꣳ ,ꣴ एवं ळ वर्ण किन्हीं वर्णों के विकृत होने से स्वतन्त्र वर्णान्तर नहीं हैं, तो अनुस्वार भी मकार या नकार का ही विकार होने से वह मकार तथा नकार से भिन्न नहीं हो सकता है और विसर्ग भी सकार या रेफ का ही विकार होने से यह भी सकार तथा रेफ से भिन्न नहीं हो सकता है। जब कि अनुस्वार एवं विसर्ग दोनों ही यमभिन्न अयोगवाहों में परिगणित हैं। यह सन्देह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि इन सब ध्वनियों का पृथक् - पृथक् अस्तित्व (श्रुतिभेद) विद्यमान है। इसमें हेतु यह है कि मकार, नकार और अनुस्वार वर्णों के स्थानादियों में इसप्रकार के भेद हैं –

---

१. क्योंकि सूत्रकार पाणिनि एवं व्याख्याकार स्वामी दयानन्द जी की दृष्टि में सभी यम नासिक्यध्वनियाँ (नासिका से उच्चारणीय व नासिकास्थानीय ध्वनियाँ) हैं। यह लक्षण ळवर्ण में घटित न होने से स्पष्ट है – ळवर्ण यम नहीं है।

२. ꣳ (ह्रस्व), ꣴ (दीर्घ), ँ (अनुनासिक) और ळवर्ण यम नहीं हैं, तो यम कौन-कौन से वर्ण हैं? इसके समाधान के लिए मद्विरचित 'यमविवेचन' शीर्षक लेख (पृ०२७३) का तटस्थभाव से गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें। साथ में ' यमानां स्वरूपं संख्या च' (पृ० २६९) लेख को भी अवश्य देखें।

वर्ण	स्थान	अन्तःप्रयत्न	बाह्ययत्न
मकार	ओष्ठ-नासिका	स्पृष्टप्रयत्न	संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण
नकार	दन्त-नासिका	स्पृष्टप्रयत्न	संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण
अनुस्वार	नासिका	अस्पृष्ट स्थित[1]	संवार, नाद, घोष, महाप्राण

ऐसे ही सकार एवं रेफ वर्णों का विसर्ग के साथ विद्यमान भेदत्व को देखें –

वर्ण	स्थान	अन्तःप्रयत्न	बाह्ययत्न
सकार	दन्त	विवृतप्रयत्न	विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण
रेफ	मूर्धा	ईषत्स्पृष्टप्रयत्न	संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण
विसर्ग	कण्ठ	अस्पृष्ट स्थित[1]	विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण

जिह्वामूलीय (ᳵक) और उपध्मानीय (ᳶप) भी विसर्जनीय के विकार हैं। इसलिए विसर्जनीय के ग्रहण से उनका ग्रहण हो जायेगा। अतः जिह्वामूलीय, उपध्मानीय भी विसर्जनीय से भिन्न वर्णान्तर नहीं हैं, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इनमें भी स्थान भेद होने से ये दानों विसर्ग से भिन्न स्वतन्त्र वर्ण हैं। यह भेद इस प्रकार है –

वर्ण	स्थान	अन्तः प्रयत्न	बाह्यप्रयत्न
विसर्जनीय	कण्ठ	अस्पृष्टस्थित[1]	विवारश्वासाघोषमहाप्राण
जिह्वामूलीय	जिह्वामूल	अस्पृष्टस्थित[1]	विवारश्वासाघोषमहाप्राण
उपध्मानीय	उत्तरोष्ठ	अस्पृष्टस्थित[1]	विवारश्वासाघोषमहाप्राण

इन प्रस्तारों से स्पष्ट है कि ये सभी वर्णात्मक ध्वनियाँ स्थानादि के भेद के कारण पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं। पाणिनि ने तो केवल व्याकरणप्रक्रिया की सुविधा के लिए इनमें कार्यकारणभाव या प्रकृतिविकृतिभाव की कल्पना की है। इससे इनके वर्णान्तरत्व की कोई हानि नहीं होती है।[2] अनुस्वार आदि प्रकृतियों और ह्रस्वानुस्वार आदि विकृतियों में उक्तप्रकार के कोई स्थानादि के भेद न होने से वे अनुस्वारादि से भिन्नध्वनियाँ नहीं हो सकती हैं।

निष्कर्ष – १. यमत्व का अभाव – प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में दो वर्णविशेषों की अवस्थाविशेष में उत्पद्यमान (उच्चार्यमाण) नासिक्य वर्ण विशेष को द्व्यर्थवाचक यम संज्ञा दी गयी है (द्र० पृ० २६९;२७५)। वही यमत्व है। यह यमत्व अनुनासिक (ँ) में नहीं है। क्योंकि यह एक स्वतन्त्र अच् या रेफवर्जित अन्तःस्थ वर्ण का धर्म है, किन्हीं दो वर्णों के निमित्त से उत्पन्न नहीं है। अतः इसमें यमत्व का अभाव है।

२. यमलक्षण का अभाव– शिक्षाकार, प्रातिशाख्यकार तथा वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित जो यमों के लक्षण हैं (द्र० पृ० २७५-२७६), वे स्वामी जी के द्वारा स्वीकृत ह्रस्वानुस्वार आदि चार यमों में किसी एक में भी

१. स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् (ऋक्प्रातिशाख्य – १३.११)।
२. जैसे सकार को षकार एवं षकार को सकार, नकार को णकार आदि विकार होने पर भी स्थानादि भिन्न-भिन्न होने से उनके वर्णान्तरत्व की हानि नहीं होती है।

घटित नहीं होते हैं। और न ही इन्हें यम मानने के लिए अन्य कोई लक्षण ही उपलब्ध होते हैं। जिनसे ꣳ इत्यादि को यम मान सके।

३. **शास्त्रप्रमाण का अभाव**– ह्रस्वानुस्वार (ꣳ) आदि को यम मानने में किसी भी शास्त्र (प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण) का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। और ना ही इनका कहीं यम के रूप में व्यवहार देखा जाता है।

४. **नासिक्यत्व का आभाव**– ळवर्ण डवर्ण का ही विकार होने से और उसके उच्चारण में नासिक्यत्व की अनुभूति प्रत्यक्षतया न होने से इसमें यम का नासिक्यधर्म नहीं है। जिसे स्वामी जी ने भी स्पष्टतया स्वीकार किया है (ळ को छोड़के)। अतः इसमें यमधर्म के न होने से इसे यम (धर्मी) नहीं मान सकते।

५. **वर्णान्तरत्व का अभाव**– जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि ꣳ (ह्रस्वानुस्वार) और ꣴ (दीर्घानुस्वार) अयोगवाह घटक अनुस्वार वर्ण के ही विकार हैं। सानुनासिकत्व (ँ) अच् और रेफवर्जित अन्तःस्थों का ही एक धर्म है, न कि कोई स्वतन्त्र वर्ण (धर्मी)।जैसे कि ह्रस्व, दीर्घादि धर्म। ळवर्ण डकार का ही विकार होने से उससे भिन्न स्वतन्त्रवर्ण कदापि नहीं हो सकता है। इसप्रकार ꣳ आदि चारों का स्वतन्त्र वर्ण के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है।

६. **अयोगवाहत्व का अभाव**– ळवर्ण 'ड' का विकार होने से 'ड' के ग्रहण से ही गृहीत हो जाता है और डवर्ण वर्णसमाम्नाय में पठित होने से योगवाह है, न कि अयोगवाह।अतः ळ (ड) वर्ण अयोगवाह नहीं। ँ (अनुनासिक) स्वर एवं रेफवर्जित अन्तःस्थों का धर्म होने से ग्रहणकशास्त्रनियम के कारण वर्णसमाम्नाय में (पठित निरनुनासिक स्वरादि के माध्यम से) सानुनासिक वर्ण का ग्रहण हो जाता है। अतःँ (अनुनासिक)वर्ण भी योगवाह ही है, अयोगवाह नहीं। ळ और ँ ये दोनों जब अयोगवाह ही नहीं है, तद्घटकभूत यम कैसे हो सकते हैं ? कदापि नहीं।

७. **यमचतुष्टयत्व का अभाव**– पूर्व में प्रतिपादित है कि यजुर्वेद और सामवेद में ही ꣳ (ह्रस्व) एवं ꣴ (दीर्घ) स्वीकृत हैं। ये दोनों वर्ण अनुस्वार के ही विकार हैं, अतः उसके ग्रहण से ही इनका ग्रहण हो जाता है। इसप्रकार यजुः और साम के प्रातिशाख्यादि में दो यम न्यून हो जायेंगे। इतना ही नहीं डकार के विकारभूत 'ळ' का प्रयोग केवल ऋग्वेद में ही होता है। यजुः और साम में 'ळ' वर्ण का अस्तित्व ही नहीं है। ँ (अनुनासिक) अज्धर्म होने से किसी भी वेद में स्वतन्त्र वर्ण के रूप में इस (ँ) का अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात् यजुः और साम की परम्परा में ꣳ (ह्रस्वानुस्वार) आदि में से किसी एक यम की भी उपपत्ति नहीं हो पाती है। जब कि इन दोनों वेदों के शिक्षादि ग्रन्थों में यमों का चतुष्टयत्व निर्विवादरूप से स्वीकृत है। यदि येन केन प्रकारेण ꣳ और ꣴ को यमों के रूप में स्वीकारने का आग्रह किया जाता है तो गुरु-अनुस्वार को भी यमों में मानना चाहिए। जिससे एक यम की संख्या बढ़ेगी। पुनरपि यम चतुष्टयत्व की सिद्धि असम्भव है।

अब ऋग्वेद में देखते हैं। ळ वर्ण केवल ऋग्वेद में ही प्रयुक्त होता है। वह भी डवर्ण के ग्रहण से गृहीत होने से ळवर्ण अयोगवाह ही नहीं है। अतः वह पुनः यमों में कैसे परिगणित हो सकता है? कदापि नहीं। ँ (अनुनासिक) धर्म तो प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि किसी भी शास्त्रीय सम्प्रदाय में स्वतन्त्र वर्ण के रूप में स्वीकृत ही नहीं है। अतः ऋग्वेद में भी यम के रूप में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। ह्रस्वानुस्वार (ꣳ) एवं दीर्घानुस्वार (ꣴ) का प्रयोग केवल यजुः और साम में सीमित होने से ऋक्परम्परा में वे सर्वथा ही अमान्य हैं। अर्थात् ऋक्सम्प्रदाय में भी ꣳ आदि चारों में से एक का भी यम के रूप में सिद्ध होना सर्वथा ही असम्भव है। 'ळ' को यम के रूप में स्वीकारने पर 'ळ्ह' को यमों में क्यों नहीं स्वीकारा जाता है ? यह एक असमाधेय प्रश्न है।

इस विवेचन से विवेकी विद्वान् को अब यह समझना कोई कठिन नहीं कि ꣳ, ꣴ, ँ और ळ इनमें से

किसी एक का भी यमत्व अथर्ववेद के शिक्षादि में भी स्वतः असिद्ध है। व्याकरण की सुदीर्घ परम्परा में भी अनुनासिक (ँ) को किसी भी आचार्य ने एक स्वतन्त्र वर्ण के रूप में नहीं माना है। शेष वर्ण तो पार्षद होने से सर्ववेदपारिषदभूत पाणिनि के तन्त्र में नितान्त अमान्य हैं। अब कौनसा शास्त्र बच गया है, जो उक्त ग्रन्थों के विरुद्ध ँ आदि को यमों के रूप में (स्वतन्त्र वर्ण के रूप में) प्रतिपादन करेगा ?

इस अभावसप्तक से हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि – ँ (ह्रस्व) आदि यम नहीं हैं और न ही वे स्वतन्त्र वर्णान्तर हैं।

स्पष्टीकरण– स्वामी जी के जीवनकाल में वर्णोच्चारणशिक्षा का द्वितीय संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया। यदि ऐसा होता तो स्वामी जी इस प्रकार के प्रसंगों का संशोधन अवश्य करते। जैसे अन्य ग्रन्थों का किया। विशेषकर वेदांगप्रकाशों का प्रकाशन किन परिस्थितियों में, किसप्रकार हुआ है? यह प्रायः सभी विशिष्ट विद्वानों को विदित है। विशेष जानकारी के लिए म०म०पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी के 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ को अवश्य देखें। इस विषय पर सभी विद्वान् गम्भीरता से विचार कर सर्वसम्मति से संशोधन आदि का निर्णय लें। यही मेरा विनम्र निवेदन है।

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्।। (तै०प्रा० २४.६)

पण्डित कौन है ?

प्रज्ञामेवाऽऽगमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ।।

(महा० भा०, उद्योग० ३५.६६)

जो मनुष्य बुद्धिशाली मनुष्यों से बुद्धि का ही ग्रहण करता है वही पण्डित है। बुद्धिमान् मनुष्य धर्म और अर्थ को प्राप्त कर सुख को बढ़ा सकता है।

सत्यव्यवहार का प्रभाव

स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चति,एवं हैनं स उद्दीपयति। तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति ।। (शत० २.२.२.१९)

जो सत्य बोलता है वह वैसा ही आचरण करता है, जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि को घी से सींचे। घृत से अग्नि को सींचने वाले के समान ही वह सत्य से अपने आत्मा को प्रकाशित करता है। उस सत्यवादी का अधिकाधिक तेज बढ़ता है और वह दिन-प्रतिदिन श्रेष्ठ होता जाता है।

३.६. यमानां स्वरूपं संख्या च*

शिक्षाशास्त्रे व्याकरणशास्त्रे च अयोगवाहानां यमानां च विषयो बहुत्र चर्चितोऽस्ति। यमानां संख्याविषये वैयाकरणानां शिक्षाप्रातिशाख्यग्रन्थव्याख्यातॄणां च न कश्चन निर्णीतः सिद्धान्तो विद्यते। यतोहि यमाश्चत्वार इति केचन विमन्यन्ते चेदपरे विंशतिरिति विवदन्ते। तथाहि उभयथापि उवटादीनां व्याख्यानेषु दृश्यते। यथा– "**यस्माद् यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिः स्थानिना सरूपा लक्ष्यन्ते**" (ऋ०प्रा०६.३३) "**इति यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति चतुर्थाध्याये व्याख्यातम्**"(यजु०प्रा०८.२४)। ऋक्प्रातिशाख्येऽप्युक्तं यद्यमाः स्वप्रकृतिभूतपूर्वसदृशवर्णसदृशा भवन्तीति– "**यमाः प्रकृत्यैव सदृक्**"(ऋ०प्रा०६.३२)। यमानां स्वप्रकृतिभूतपूर्वस्पर्शवर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति कृत्वा यमा अपि विंशतिर्भवेयुरिति अवबुध्यते। परं यमाश्चत्वार एवेत्युररीकृतं सर्वैराचार्यैरित्यपि अवगतिर्विद्यते। अत एष विषय सन्देहोत्पादकत्वाद् विचारणीयोऽस्ति।

यमसंख्यासंशयस्य तत्स्वरूपानवगतिमूलकत्वाद् यमस्वरूप एव पूर्वं वेविच्यते। संस्कृतव्याकरणशास्त्रे वर्णानामुपदेशो द्विधा दरीदृश्यते। प्रथमस्तावद् अक्षरसमाम्नाये (प्रत्याहारसूत्रेषु) स्वरूपतो वर्णानामुपदेशः। अपरस्तु "**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः**"(अष्टा०१.१.६९) इति ग्रहणकशास्त्रेण गृहीता वर्णाः। केचन वर्णास्तूभयथाप्यनुपदिष्टाः सन्तः कार्यं वहन्ति। त एवायोगवाहाः कथ्यन्ते। यथाहि भाष्यकारेणोक्तम्– "**इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः? यदयुक्ता वहन्ति, उपदिष्टाश्च श्रूयन्ते**" (म०भा० हयवरट्)। अपि च भट्टोजीदीक्षितैरप्युक्तम्– "**अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां तेऽयोगा अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्चेति कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्त्वे च सति श्रूयमाणा इत्यर्थः** (शब्दकौस्तुभे हयवरट्)। यमा अप्ययोगवाहा इत्युक्ते यमा उपदिष्टेभ्यः ककारादिवर्णेभ्यो भिन्ना इत्यवधेयोऽयमत्र।

यमस्वरूपविवेचनम्– यमयमीति प्रसिद्ध-ऋक्सूक्तवशाद् यमशब्दो द्व्यर्थवाचकः सञ्जातः। अत्रापि द्वाभ्यां वर्णाभ्यामुत्पद्यमानत्वमेव यमानां यमत्वम्। काभ्यां वर्णाभ्यां यमा उत्पद्यन्त इत्यत्र वैयाकरणा ब्रुवन्ति यत्–

१. **वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः**.......(सि०कौ० १२)।

२. **तत्र यमा नाम वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमेषु परतः त एव नासिक्या भवन्ति** (पद०१.१.९)।

३. **वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमे परे तन्मध्ये पूर्ववर्णसमानाकारं वर्णान्तर ं प्रातिशाख्येष्वागमत्वेन विहितं तद्यमसंज्ञकम्** (श०कौ०१.१.८)। ते च यमाः– कुँ खुँ गुँ घुँ इति प्रसिद्धाः।

वाजसनेयप्रातिशाख्ये (४.१६३) यमा विच्छेदनाम्ना वर्णिताः। बहुत्राशरीराख्ययापि व्याख्याताः (या०शि० २०३, पारा०शि०५८, अ०शि० ५३, सा०गौ०शि०१, शि०प्र० ४)। अशरीरसंज्ञया एतेषामयोगवाहत्त्वं (कादिभ्यो भिन्नत्वं वर्णान्तरत्वं वा) सिद्धं भवति। तथाह्येत अनुपदिष्टाः सन्त उपदिष्टान् वर्णानाश्रित्यात्मानं प्रकटीकुर्वन्ति। उक्तञ्च–

---

* लेखोऽयं वेदवाणी (जनवरी २००७)-विश्वसंस्कृतम् (होशियारपुर, मार्च-जून २००९)-आर्षज्योति (फरवरी -२०२०)- पत्रिकासु प्रकाशितः।

अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः।
जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः॥
अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः।
अन्यं वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं वपुः॥ (चा०शि० अ०१)

तथा चाशरीरशब्देनैतेषां स्वशरीरं निजस्वरूपं किमपि नास्तीत्यपि ज्ञायते। एतेषामुच्चारणमेव भवति, न तु लेखनमपीत्यर्थः। उक्तञ्च भट्टोजीदीक्षितेन शब्दकौस्तुभे(१.१.८)''**अशरीरमिति स्वरभक्त्यादिवद्**[१] **व्यञ्जकलिपिविशेषशून्यमित्यर्थः। लक्षणवशेनैव तदीयस्थलविशेषनिश्चयसम्भवाल्लिपिसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यैः स्वरभक्तेरिवयमस्यापि व्यञ्जकीभूता लिपिर्न कल्पितेत्यर्थः।**''

एवं यमानां लिपेरभावेऽपि तेषां सुबोधाय यथाकथञ्चित्ते प्रदर्श्यन्ते। तेषां प्रदर्शनप्रकारश्चैवमस्ति– अपञ्चमपञ्चमवर्णयोर्मध्ये उच्चार्यमाणे यमे परे विद्यमानस्य पञ्चमवर्णस्य नासिक्यत्वं प्राधान्येन लक्ष्यते। अत एव यमाः ''**नासिक्याः**'' इत्यपि संज्ञामलभन्त– ''**स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः**'' (तै०प्र०२१.१२), ''**अनुस्वारयमा नासिक्याः**'' (पा०शि०१.१६)। नासिक्याः सन्तोऽप्येतेषु पूर्वे विद्यमानस्यापञ्चमस्पर्शवर्णस्य स्पर्शत्वमपि किञ्चिद् भाति, स्पर्शध्वनिरपि श्रूयत इव प्रतीयत इति यावत्। निगदितञ्च शौनकेन ऋक्प्रातिशाख्ये- ''**श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला**''[२] (ऋ०प्रा० ६.३३)। एतां स्पर्शध्वनिश्रुतिं द्योतयितुं तं स्पर्शवर्णं विलिख्य, तस्मिन् यमस्य नासिक्यत्वं दर्शयितुं सानुनासिक्यचिह्नं (ँ) प्रयुज्य उकारानुबन्धञ्च संयोज्य कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येवं रूपेण लिख्यन्ते। एतमेव विषयं शब्दान्तरैः द्रढयत्याचार्यशौनकः– ''**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**'' (ऋ०प्रा० ६.३२)।

यमेषु ककारादीनां श्रुतिं श्रुत्वा, लेखने च ककारादीनां लिपिं दृष्ट्वा केचनाचार्याः तत्स्थान् ककारादीनेव वर्णान् यमत्वेन वर्णयन्ति। यथा– ''**अग्ग्ँन मीळे**'' **इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः– द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः.....**'' (उवटः, ऋ०प्रा०१.२५)। तत्परिणामतो यमा विंशतिसंख्याका भवन्ति, न च ते वर्णान्तरा भवितुमर्हन्तीति भ्रमो जायते, तद्वारणाय यथामति विचार्यतेऽत्र।

१. ''वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते'' इति सर्वमान्यसिद्धान्तः। यथा ऋकारऌकारयोः रेफलकारयोः श्रुतिमङ्गीकृत्यापि न तौ वर्णान्तरत्वेन स्वीकुर्वन्त्याचार्याः। तथा च सन्ध्यक्षरेष्वपि अकार-इकार-उकाराणां श्रवणमात्रेण नैतान् वर्णान्तरत्वेनोरीकरोति कश्चनाचार्यः। तथैव यमेष्वपि ककारादीनामत्यन्तस्वल्पकालपरिमितश्रवणमात्रेण न ते वर्णान्तरत्वेनाङ्गीकर्तुं शक्यन्ते। शुद्धनासिक्यध्वनिविशेषा एव यमाः, न तु कादय इति यावत्।

२. जिह्वामूलीयः ≍क, ≍ख , इति रूपेण लिख्यते, उपध्मानीयश्च≍प ,≍फ, इत्येवं रूपेण लिख्यते, पुनरपि सर्वेषामयमेवाध्यवसायोऽस्ति यत् जिह्वामूलीयः कखाभ्यां भिन्नः, उपध्मानीयश्चापि पफाभ्यामन्य इति। यतोहि कखौ पफौ च वर्णाः केवलं जिह्वामूलीयोपध्मानीययोराश्रयत्वप्रदर्शनाय लिख्यन्त इति सर्वे जानन्ति।[३] तथैव कुँ खुँ इत्येवमादिष्वपि यमाः कादिभ्योऽन्याः शुद्धनासिक्याः, कादयश्च वर्णाः केवलं तदाश्रयत्वप्रदर्शनाय लिख्यन्त इति सर्वे जानीयुः।

---

१. यद्‌द्य कर्हि कर्हि (ऋ० ८.७३.५) अत्र कर्हिशब्दस्य 'कर्ऋहि' इत्येवं रूपेणोच्चारणं भवति। इह ऋस्वरवर्ण उच्चार्यते, परं न लिख्यते। स च स्वरध्वनिरर्धमात्रिक एव। ध्वनिरयं स्वरभक्तिः, ह्रस्वार्धः, अतिह्रस्वस्वर इति च संज्ञाभिः संज्ञायते (द्रष्टव्यम्– ऋ०प्रा० ६.४८;१.३३)।

२. यमोच्चारणेन समानकाला मुखे भवा श्रुतिरस्ति, यया यमस्तद्रूपो लक्ष्यते (उवटस्तत्रैव)।

३. ≍क ≍पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः (कौशिकीयश्लोकाः– व०शि० ७.१)।

३. लृवर्णे ल-व्यञ्जनं लिखन्ति, तद्ध्वनिञ्च सर्वे श्रृण्वन्ति, तथाप्येतस्मिन् स्वरे लव्यञ्जनममत्वा स्वरं तद्भिन्नमेव वदन्ति। यमेष्वपि कादिषु दृष्टेष्वपि यमं कादिभ्यो भिन्नत्वेनैव परिगणयन्ति शब्दविदः।

४. अं, अः इत्यत्रानुस्वारविसर्गयोः प्रदर्शनाय एवावर्ण आश्रीयते।[1] परन्तु सर्वे विदन्ति यद् अनुस्वारविसर्गौ अवर्णाद् भिन्नावेवेति। तथैव यमनिर्देशेष्वपि यमाः कादिभ्यो भिन्ना एवेत्यवगन्तव्यम्।

५. ऋग्वेदे द्वयोः स्वरयोर्मध्ये विद्यमानस्य ढकारस्य स्थाने 'ळह' इति ध्वनिमुच्चारयन्ति वेदविदः (द्र० ऋ०प्रा० १.५२)। अत्र हकारसदृशध्वनिप्रदर्शनार्थमेव हकारं लिखन्ति, न तु स हकारः। तथैव यमेष्वपि स्वल्पकालिकं ककारादिसदृशध्वनिं दर्शयितुमेव ककारादीन् लिखन्ति, न ते ककारादयः। यमास्तु तेभ्यो वर्णेभ्यः इतरे शुद्धनासिक्या एव।

६. माध्यन्दिनयजुर्वेदे तद्ब्राह्मणे च यकार-वकारयोः पदादौ पदमध्ये पदान्ते च त्रिधोच्चारणं क्रियते। तथोच्चार्यमाणौ तौ उभावपि वर्णौ क्रमशः गुरु-लघु-लघुतर इति संज्ञां लभेते। पदादौ विद्यमानयोः यकारवकारयो-र्गुरुत्वमवबोधयितुं यकार-वकारौ कृतद्वित्त्वाविव लिख्येते। यथा– **य्यज्ञेन॑ य्यज्ञम॑यजन्तः०** (यजु०३१.१६); **इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ व्वा॒यव॑ स्थ०** (यजु०१.१)। अत्र विशेषतो ध्यातव्योऽयं विषयो यद्– इह यकारवकारौ न कृतद्विर्वचनौ, न हि केनापि सूत्रेणात्र द्वित्वं विहितमस्ति। केवलं गुरुत्वप्रदर्शनायातिरिक्तयकारवकारौ लिख्येते। तथैव यमानां लेखनप्रकारेऽपि शुद्धनासिक्यत्वेन सह तदाश्रयभूतपूर्वस्पर्शवर्णसदृशध्वनिं द्योतयितुं कादयः पूर्वस्पर्शवर्णा लिख्यन्ते। न हि कादयो यमाः।

७. लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षायां विसर्गोच्चारणविधिरभिहितोऽस्ति। स चैवं दृश्यते–

देवो वः सविता चात्र हकारसदृशो भवेत्॥
देवीस्तिस्रो विसर्गस्तु हिकारसदृशो भवेत्।
आखुस्ते पशुरित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
विसर्गश्चाग्नेरित्यादौ हेकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो बाह्वोरित्यादौ होकारसदृशो भवेत् ॥ (ल०मा०शि०१८-२०)

एवं विसर्गस्योच्चारणमुक्त्वा विसर्गो हकार एवेति भ्रमो नोत्पद्येत इति विचिन्त्यान्ते भाषितं यत्–

हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः। (तत्रैव २२)

तथैव यमस्योच्चारणप्रकारोऽप्येवं ज्ञापित आसीद् यद्-पूर्वस्पर्शवर्णसदृशध्वनिना सह नासिक्यत्वमुच्चार्यते चेद् यम उच्चारितो भवतीति। अस्य कथनस्य सौविध्याय लिपिरपि'कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इत्येवं रूपेणाकल्प्यत परं कालान्तरे कादयोऽपि यमा इति भ्रमोऽजायत। सानुनासिकनिरनुनासिकभेदस्तु केवलमक्षु रेफवर्जितान्तस्थेषु चैव भवति, नान्येषु वर्णेष्विति सर्वमान्यसिद्धान्तः। पुनरपि **सर्वथा निरनुनासिकानां कादीनां सानुनासिकत्वेन लेखनेनैव सर्वैः ज्ञातव्यमासीद् यमेषु कादयो नासिक्यभूतयमेभ्योऽन्ये केचन ध्वनिविशेषद्योतका एव, न कादयो यमा इति**। यमेषु कादयो ध्वनिविशेषद्योतका आश्रितवर्णद्योतका वेत्येवावगन्तव्यम्। न ते स्पर्शवर्णाः, तत्र सानुनासिकरूपकल्पनाया असम्भवात्।

उपरितनैर्बिन्दुभिर्ज्ञायते यत् न ककारादयो यमावयवाः, ते तु केवलं तत्तद्वर्णाश्रयत्वद्योतकाः, तथा च यमोच्चारणे स्वल्पकालपरिमितश्रूयमाणस्पर्शध्वनिसदृशध्वनिद्योतकाः। यदि द्वित्त्वजन्ययोरन्यतरा एव यमाः स्युः तर्हि,ते स्वतः पूर्ववर्णसदृशा भवन्त्येव। पुनः कथम् आचार्यशौनकः "**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**" इति सूत्रं प्राणिनयत्? सदृक्छब्दप्रयोगेणैव ज्ञायते यत् यमा न द्वित्त्वजन्याः। अतो यमा न विंशतिसंख्याका भवन्ति, ते तु चत्वार एव।

---

१. अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते(कौ०श्लोकाः– व०शिक्षा–७.१)। अपि च द्रष्टव्यौ पूर्वोद्धृतचारायणीयशिक्षाश्लोकौ।

पलिक्क्ँनी (ऋ०५.२.४) **रुक्क्ँम** (यजु०१२.१) इत्येवमादिषु यः प्रथमो यमः 'कँ्' इति ककाररूपेण दृश्यते, स न यमः। तत्त्वतस्त्वत्र प्रथमो यमः (शुद्धनासिक्यध्वनिविशेषेष्वन्यतमः) कवर्गीयं प्रथमं वर्णमाश्रित्योत्पन्नो भवति, उच्चारितो वा भवति। तदाश्रयत्वस्यैव द्योतकोऽयं कध्वनिः, नायं ककारः। यद्ययमेव प्रथमो यमश्चवर्गीयं प्रथमं वर्णमाश्रीयते चेत् 'चँ्' इत्येवं रूपको भवति। यथा– **मुमुच्चँमहे** (ऋ० ९.२९.५)। तथैवान्यानपि प्रथमस्पर्शवर्णान् यदायमाश्रीयते, तदायं तत्तद्रूपको भवति। यथाहि– **आट्टँणारः** (तै०सं० ५.६.५.३), **आत्तँमा** (ऋ० ७.८७.२), **पाप्पँमानम्** (तै०सं० ७.४.२.२)। एक एव प्रथमो यमः पञ्च स्पर्शवर्णान् समाश्रित्य पञ्चरूपक इव प्रतीयते, भिन्नरूपकवद् भाति, परं न स भिन्नः। यथैक एवाकाशो घटाकाशो मठाकाश इत्यौपाधिकभेदेनानेक इति प्रतिभाति, परं न सोऽनेकः।[1] यथात्राकाश एकः सन्नप्यौपाधिकभेदेन (घटाकाशादिभेदेन) भिन्नत्वेन व्यवह्रियते गौणरूपेण, तथैव यमेष्वपि बोद्धव्यम्। एक एव प्रथमयमः कचटतपानामाश्रयेणौपाधिकः (गौणः) भेदो दृश्यते। तमेवौपाधिकभेदं (गुणभूतभेदं) लक्ष्यीकृत्योवटादिनोक्तं यद् यमा विंशतिसंख्याका इति। तथा च तेषामेव गौणभूतानां यमानां संग्रहार्थं प्रथमे गौणे यमे (कँ् इत्यत्र) उकारमनुबन्धं कुर्वन्त्याचार्याः ''कुँ'' इति। तथैव द्वितीयादिषु यमेषु सर्वमवगन्तव्यम्। एवमवबुद्धौ **''एवं विंशतिर्यमाः बह्वृचानां भवन्ति स्वरूपैश्चत्वार एव''** (उवटः, ऋ० प्रा० १.५०) इत्येवमादिषु स्थलेषु न कश्चन विसंगतेः प्रसंगः, न च संख्याविषयको विभ्रमः।

अन्ते चैकं विषयमुक्त्वा विरम्यतेऽयं लेखः। यमानां संवारविवारश्वासनादघोषाघोषाल्पप्राणमहाप्राणादयो बाह्ययत्नास्तु बहुत्र चर्चितास्सन्ति। परमेषामाभ्यन्तरयत्नाः (आस्ययत्नाः) कुत्रापि केनापि नोक्ताः। किं तावदत्र कारणम्? हेतुस्तावदत्रैक एव। स च यमाः शुद्धनासिक्याः। नासिका चास्याद् बहिरिति मन्यते प्रामाणिकैर्बहुभिराचार्यैः। यमोच्चारण आस्यप्रयत्न (मुखप्रयत्न) एव न भवति।[2] अत एव ते नोक्ताः कुत्रचिदपि। ककारादयोऽपि यदि यमाः स्युः चेत्तेषां स्पृष्टत्वादय आभ्यन्तरप्रयत्नाः (आस्यप्रयत्नाः) अपि वक्तव्या आसन्। तथा वचनाभावादेव ज्ञायते यत् ककारादयो न यमाः, ते तु केवलमाश्रितवर्णध्वनिद्योतका एव। शुद्ध नासिक्यभूता यमाश्चत्वार एव, न विंशतिरिति यावद्। अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ (कठो० शान्तिपाठ)
हमारा अध्ययन तेजपूर्ण हो, हम किसी से द्वेष न करें।

ज्योतिषा बाधते तमः ॥ (यजु० ३३.९२)
ज्ञानज्योति से अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट होता है।

स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन् ॥ (मनु०३.८१)
स्वाध्याय से ऋषियों की अर्चना (पूजा) करनी चाहिए।

१. प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते (शंकरः– सर्व०सि० ४.२.४)।

२. अथ [मुखनासिकावचनोऽनुनासिक इत्यत्र] मुखग्रहणं किमर्थम्? 'नासिकावचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यामाने यमानुस्वाराणामेव [अनुनासिकसंज्ञा] प्रसज्येत (म० भा० १.१.८)। सूत्रे मुखाभावे यमानामपि अनुनासिक संज्ञायाः प्रसक्तिर्भवतीति यावत्। यतोहि यमोच्चारणे मुखयत्नः (आस्ययत्नः, आभ्यन्तरयत्नः) न भवति। अयं विषयो भाष्यशब्देषु स्पष्टतया ध्वन्यते।

३.७. यम-विवेचन

वैदिक वाङ्मय के अध्यापन में वर्णों के उच्चारण को पर्याप्त महत्व दिया जाता रहा है और अब भी दिया जाता है। परन्तु उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा के लुप्त होने के कारण शैक्षिक विद्या भी लुप्त होती गयी। जिससे कुछ वर्णों की उच्चारण-विधि भी लुप्त होती गयी अथवा विकृत हुई। जैसे कि– ऋ,लृ, ॡ (ह्रस्वानुस्वर), ॢ (दीर्घानुस्वार) और चार यम आदि-आदि। सम्प्रति केवल यमों की विवेचना मात्र प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि ये यम प्रश्न-उपप्रश्नों से आक्रान्त होकर सबसे अधिक विवादास्पद बिन्दु बने हुए हैं। ये यम अयोगवाह के अन्तर्गत आते हैं, अतः यमों की विवेचना से पूर्व अयोगवाह की कुछ चर्चा करते हैं।

१. अयोगवाह की निरुक्ति व लक्षण– व्याकरण-शास्त्र में वर्णों का उपदेश दो प्रकार से हुआ है। एक तो अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहार-सूत्र)के रूप में आचार्य के द्वारा साक्षात् स्वरूप का उपदेश और दूसरे प्रकार के वर्ण वे हैं, जो वर्णसमाम्नाय में साक्षात् उपदिष्ट तो नहीं हैं, पर ग्रहणकशास्त्र (**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः**– अष्टा०१.१.६९) के द्वारा गृहीत होते हैं[1], जैसे कि दीर्घ, प्लुतादि वर्ण। कुछ वर्ण ऐसे भी हैं, जो न तो अक्षरसमाम्नाय में उपदिष्ट हैं न ही ग्रहणकशास्त्र के द्वारा गृहीत होते हैं। पर आचार्य ने उन्हें कार्यी वा निमित्त बनाकर कार्य का विधान किया है।[2] इन्हीं का नाम अयोगवाह है। जैसा कि शब्दब्रह्मनिष्णात महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं–

इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्य[3]-यमाः। कथं पुनरयोगवाहाः? यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते (म०भा०हयवरट्)। इसी की व्याख्या के रूप में भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में लिखा है कि **अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां तेऽयोगा अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च**

---

१. उपदेशो द्विविधः– पाठः, ग्रहणकशास्त्रेण प्रत्यायनं च (प्रदीपः, म०भा० हयवरट्)। द्विविधो योगः, लक्षणयोग उपदेशयोगो वा (भर्तृहरिः, तत्रैव)।

२. विसर्जनीयस्य सः, कुप्वोः ≍क ≍पौ च, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (अष्टा० ८.३.३४, ३७; ८.४.५७) आदि।

३. महाभाष्य के किन्हीं संस्करणों में और शब्दकौस्तुभ के उद्धरण में 'नासिक्य' पाठ नहीं है। इस पाठ के अनुसार अयोगवाहों की संख्या आठ मानी जायेगी। पाणिनि (अनुस्वारयमा नासिक्याः– शिक्षा० १.१६) के अनुसार अनुस्वार और यम वर्ण नासिक्य (अर्थात् नासिका से बोले जानेवाले) हैं। उक्त पाठ में इन दोनों के निर्दिष्ट होने पर पुनः 'नासिक्य' का निर्देश अनावश्यक ही है और वैसे ही नासिक्य के ग्रहण करने पर अनुस्वार एवं यम का भी पाठ व्यर्थ है। 'नासिक्य' पाठ को मानने पर अयोगवाह नौ माने जायेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट वर्णविशेष 'हुँ इति नासिक्यः' (वा०प्रा० ८.१३) की ओर संकेत कर रहे हैं। जैसे कि प्रातिशाख्यकार स्वयं अनुस्वार, यम और नासिक्य का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हैं– 'नासिक्ययमानुस्वारान्'(ऋ०प्रा० १.४८), 'यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके' (वा०प्रा० १.७४), नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः (ऋ०त० सामप्राति०२.२.२)। अपि च वर्णरत्नप्रदीप शिक्षा (५०) द्रष्टव्य है। इन सभी वचनों में 'नासिक्य' की पृथक् गणना कर अयोगवाहों को नौ माना गया है। पाणिनीय शिक्षासूत्र '०वर्णास्त्रिषष्टिः चतुष्षष्टिरित्येके' (शिक्षा ४, ५) के अनुसार त्रिषष्टि की गणना में नासिक्य (हुँ) को प्रविष्ट कर चतुःषष्टि की पूर्त्ति की जाती है। अतः प्रातिशाख्यकार का 'हुँ इति नासिक्यः' पाणिनि को अनभीष्ट है, ऐसा नहीं कह सकते।

प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्चेति [नञ्बहुव्रीहिगर्भः] कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्वे च सति श्रूयमाणा इत्यर्थः। (श०कौ० हयवरट्, द्र० शिवरामेन्द्रसरस्वती)।

वाजसनेय प्रातिशाख्य के भाष्यकार उवट अयोगवाह की निरुक्ति कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। जैसे कि– **अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः [एव] सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः** (वा० प्रा० ८.१८)। इसी स्थान पर अन्य भाष्यकार अनन्तभट्ट भी लिखते हैं कि **योगवाहत्वं चेत्थम् – योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्त इति योगवाहाः**(तत्रैव)। अर्थात् अकारादि वर्णसमाम्नाय के साथ मिलकर [ही] प्रयुक्त होते हुये जो कार्य का वहन करते हैं व आत्मलाभ अर्थात् अपने अस्तित्व को प्राप्त करते हैं, उच्चरित होते हैं, वे अयोगवाह कहलाते हैं। अवर्णादि के विना इनका अस्तित्व ही नहीं है। यह बात अयोगवाह घटक अनुस्वार शब्द से भी स्पष्ट होती है– **स्वर एव स्वारः तं स्वारम् अनुगतोऽनुस्वारः। स्वरात् परमुच्चारितत्वम् अनुस्वारत्वम्।** अयोगवाह के इस द्वितीय निर्वचन को ऐसे समझ सकते हैं– **अस्य (=अवर्णादीनां) योगः (=सम्बन्धः) अयोगः, अयोगेन वहन्तीति अयोगवाहाः** अर्थात् अवर्णादि के सम्बन्ध से ही जो कार्य का वहन करते हैं, वे अयोगवाह कहाते हैं। ध्यान दें यहाँ 'अ' निषेधात्मक नहीं है, अपितु स्वर वर्णों का उपलक्षणात्मक अवर्ण है। इसी भाव को प्रकट करते हुये वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षाकार लिखते हैं – **संयोगवाहा एवैते निजस्वरविवर्जिताः। पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते स्वर एतेषु पूर्ववत् (५१) । (अवर्णादीनां) संयोगेन वहन्ति कार्यम् इति संयोगवाहाः।** यहाँ भी स्पष्ट रूप से निषेधार्थ के विपरीत संयोग - सम्बन्ध-वाहाः कहा गया है। अतः अयोगवाह का अनर्थान्तर संयोगवाह भी है।

दोनों निर्वचनों में तत्त्वतः कोई भेद व विरोध नहीं है। यतोहि प्रथम निर्वचन में निषेध की प्रधानता देते हुए वर्णसमाम्नाय व ग्रहणकशास्त्र में योगविहीनों अर्थात् अनुपदिष्टों के कार्यवाहकत्व की बात कही गयी है, तो द्वितीय निर्वचन में उपदिष्टत्वानुपदिष्टत्व के विषय में कुछ न कहते हुए अवर्णादि के सम्बन्ध से आत्मलाभत्व की प्रधानता देते हुए कार्यवाहकत्व की बात कही गयी है। वर्णसमाम्नाय के सन्नियोग से आत्मलाभत्व को प्राप्त करते हैं, का यही तात्पर्य है कि शास्त्र में इनके उपदेश का अभाव है। दोनों में कार्यवाहकत्व का विषय समान है। अतः भाष्यकार आदि के साथ उवटादि का कोई विरोध नहीं है। वैसे उवट का निर्वचन भाष्यकार के **'यदयुक्ता वहन्ति'** शब्दों पर आधारित है। यतोहि भाष्य के **'अयुक्ताः'** शब्द में 'अ' से नञर्थ न लेकर अवर्ण लेने से[1] उवट का ही तात्पर्य निकलता है।

२. अयोगवाहों का स्वरूप – वे अयोगवाह कौन-कौन से हैं? इस प्रश्न का भाष्यकार उत्तर देते हैं– **विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः**[2] (म०भा० हयवरट्)। इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा कहती है कि– **अनुस्वारो विसर्गश्च नासिक्योऽथ यमास्तथा। जिह्वामूलमुपध्मा च नवैते स्युः पराश्रयाः॥ संयोगवाहा एवैते (५०,५१)।**

विसर्जनीयजिह्वा० आदि से निर्दिष्ट विसर्जनीय आदि शब्दों (संज्ञाओं) की ही अयोगवाह संज्ञा नहीं समझनी चाहिये, अपितु उनके संज्ञियों को अयोगवाह समझना चाहिये। वे संज्ञी हैं कौन? इसका उल्लेख न तो

---

१. जैसे 'अव्यवहितेन [=अवर्णव्यवहितेन] व्यञ्जनस्य' (वा०प्रा० १.३८) आदि सूत्रों में लिया जाता है।

२. भट्टोजी दीक्षित ने ऋ, ऌ को भी अयोगवाह माना है– 'ते च विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारयमाः' इति च भाष्यम्। एतच्च ऋति ऋ वा (का०वा०), ऌति ऌ वा (का०वा०) इति विहितयोरीषत्स्पृष्टयोरप्युपलक्षणम् (श०कौ० हयवरट्)

पाणिनि ने कहीं किया और न ही पतञ्जलि ने। ये पूर्वाचार्यों की संज्ञायें हैं, जिनका उल्लेख प्रातिशाख्यों में है। वह इस प्रकार है – **अथायोगवाहाः। ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः। अः इति विसर्जनीयः। हुँ इति नासिक्यः। कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। इति व्यञ्जनानि।** (वा०प्रा० ८.१८-२५), अपि च द्र० ऋ०त० (१.२)।

३. यम का निर्वचन व लक्षण – यम शब्द युगलवाचक है।[1] दो वर्णों के निमित्त से व्युत्पद्यमान वर्ण को यम कहा जाता है। किन दो वर्णों से इसकी उत्पत्ति होती है? यह ध्यातव्य है। प्रत्येक वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्पर्श वर्णों में किसी एक वर्ण के बाद किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण परे हो तो दोनों के मध्य वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट[2] नासिक्य वर्ण का श्रवण (उत्पत्ति) होता है, इसी को यम कहा जाता है। **यम्यन्त आस्यध्वनिनिरोधेन निर्वर्त्यन्त इति यमाः** – दो आस्य वर्णों के मध्य में उनके आस्यध्वनियों को अवरुद्ध कर नासिकामूल में शुद्ध नासिकाध्वनि से उत्पद्यमान वर्ण ही 'यम' कहलाता है।

पुष्टीकरण– पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखित सभी लक्षण नीचे स्थान-संकोच न करते हुए यथावत् उद्धृत किये जा रहे हैं–

१. **स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।** (ऋ०प्रा० ६.२९)
२. **अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदः**[3]। (वा०प्रा० ४.१६३)
३. **स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः।** (तै०प्रा० २१.१२)
४. **अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः।** (ऋ०त०, सामप्रा० १.२)
५. **समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्।** (च०अ० १.९९)
६. **अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम्।**
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वाक्षरस्य हि ॥(या०शि० २१३)
७. **स्पर्शात् परे पञ्चमास्तु वर्ग्या एकपदे स्थिते।**
पञ्चमे तु परे नासिक्याश्चाभिनिहिता यमाः॥ (कौ०शि० ८४)
८. **स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारश्च यमा स्मृताः।** (वर्ण०शि० १४,१७६)
९. **चतुर्णां पञ्चमैर्योगे उत्पद्यन्ते यमाश्च ये।** (वर्ण० शि० १७)
१०. **अपञ्चमात्पदे नित्यं पञ्चमेषु परेषु च।**
यमोत्पत्तिर्भवेत्तत्र रुक्मँः पाँप्मा निदर्शनम्॥ (वर्ण० शि० १७४,१७५)
११. **यत्रोष्माविकृतेः स्पर्शादुत्तमोर्ध्वे त्वनुत्तमात्।**
आनुपूर्व्याद्यमानेतान् वर्णयन्त्यागमान् बुधाः॥ (व्या०शि० ३५५,३५६)
१२. **अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वोऽन्त्यश्च परतो यदि।**
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥ (ना०शि०२.२.८)
१३. **कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यनन्त्यान्त्यसंयोगेन अनन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वर्तन्ते न संशयः॥** (सा०गौ०शि १.२)

---

१. यम-यमी के कारण यमशब्द द्व्यर्थवाचक है।
२. ''वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट'' यह लक्षणांश किसी पूर्वाचार्य के द्वारा कृत लक्षणों में नहीं है। इसे यहाँ इसलिये जोड़ा गया है कि बहुत से वैयाकरण विद्वान् अचो रहोभ्यां द्वे, अनचि च (अष्टा० ८.४.४५, ४६) आदि से द्वित्व किये हुए में से द्वितीय वर्ण को यम के रूप में वर्णन करते हैं। इसी के निवारणार्थ वे शब्द लेखक को यहां लक्षण में जोड़ने पड़े हैं। इसका आधार यमों का अयोगवाहत्व है। विस्तार से आगे 'यमों का वर्णान्तरत्व' विषय में लिखा जायेगा।
३. 'विच्छदो यम इत्यनर्थान्तरम्' इत्युवटस्तत्रैव।

१४. स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः संयोगाच्चेद् अनुक्रमात्।
आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा॥ (अ०मां० शि)
१५. स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे भवन्तीह यमाः स्मृताः। (शै०शि-पृ० ४)
१६. अथानन्त्याश्चत्वारस्ते सयमास्ते कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यन्तसंयोगेऽन्त्यपूर्वोऽन्त्योत्तरे व्यवधानवर्जिते, तत्र यमा वर्तन्ते न सन्देहः। (शि०प्र० ४)
१७. पदमध्ये विद्यमानाः पञ्चमभिन्नाः स्पर्शाः पञ्चमेषु यममापद्यन्ते। (वि०प्र० १४०)
१८. तत्र यमा नाम वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमेषु परतः त एव नासिक्या भवन्ति। (पद० १.१.९)
१९. वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्ण..... (सि० कौ० १२)
२०. वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमे परे तन्मध्ये पूर्ववर्णसमानाकारं वर्णान्तरं प्रातिशाख्येष्वागमत्वेन विहितं तद्यमसंज्ञम्। (श०कौ० १.१.८)
२१. यमो नाम वर्गपञ्चमे परे वर्गाद्यचतुष्टयान्यतमसदृशो वर्णः। (उद्योतः, म०भा० १.१.८)
२२. वर्गान्त्येऽनन्त्यात्परे तयोर्मध्यवर्ती नासिकास्थानो यमाः। (हयवरट् सूत्रे— क्षीरोदरकारः)

४. यम-स्वरूप का निर्णय— पूर्व में निर्दिष्ट अनेक आचार्यों के लक्षणों से यही बोध होता है कि पद के मध्य में अनुनासिक पञ्चम स्पर्श वर्ण से व्यवधान रहित पूर्व में निरनुनासिक स्पर्श वर्ण हो तो उन दोनों स्पर्श वर्णों के बीच में नासिक्य वर्ण का आगम(=आगमन,उत्पत्ति) होता है, इसी का नाम यम है। इसका दूसरा नाम विच्छेद भी है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। आस्यध्वनिजवर्णों के मध्य में अनास्यध्वनिज अर्थात् शुद्धनासिक्यध्वनिज यम के उच्चारित होने पर आस्यध्वनि के प्रवाह का विच्छेद हो जाता है। अत एव यमों को शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में 'विच्छेद' कहा गया है। **विच्छिनत्ति आस्यध्वनिमिति विच्छेदः।** इन्हें कहीं कहीं 'अशरीर' भी कहा गया है।[1] अशरीर का तात्पर्य है कि ये अन्य वर्णों के आश्रय से ही अपने शरीर (स्वरूप,अस्तित्व) को प्रकट करते हैं, इनका अपना निज (स्वतन्त्र) शरीर कुछ नहीं है[2] और इनकी लिपि भी नहीं है।[3] अशरीर शब्द से इनका अयोगवाहत्व भी प्रकट होता है।

यम अपने प्रकृतिभूत पूर्व स्पर्श वर्ण के सदृश रूपवाला अर्थात् गुणवाला होता है— **यमः प्रकृत्यैव सदृक्** (ऋ०प्रा० ६.३२)। अर्थात् पञ्चम वर्ण के परे रहने पर जिस पूर्व स्पर्श वर्ण को यम का आगम कहा गया है, उसी के सदृश आगम होगा।[4] ध्यान दें ये यम पूर्ववर्ण के सदृश होते हैं, पर वही (द्वित्त्वजन्य) नहीं होते हैं। जैसे क् , के बाद कँ ,ख् के बाद खँ ,त् के बाद 'तँ' आदि। यदि यम को द्वित्त्वजन्य पूर्ववर्ण ही मानेंगे तो इनका अयोगवाहत्व ही नष्ट हो जायेगा, यमत्व की बात तो दूर है। पर (सामीप्य) में स्थित (उच्चार्यमाण) अनुनासिक के कारण यम में भी तद्धर्म अर्थात् नासिक्यत्व आ जाता है। जिसके कारण यम को 'नासिक्य' भी कहते हैं[5]

---

१. अशरीरं यमं विद्यात् (या०शि० २०३)। अपि च द्र०-पारा०शि० ५८, अ०शि० ५३, सा०गौ०शि० १, शि०प्र० ४।
२. अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः, जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः।
अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः, अन्यं वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं वपुः॥ (चा०शि० १)
३. अशरीरमिति स्वरभक्त्यादिवद् व्यञ्जकलिपिविशेषशून्यमित्यर्थः। लक्षणवशेनैव तदीयस्थलविशेषनिश्चयसम्भवाल्लिपि— सम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य्यैः स्वरभक्तेरिव यमस्यापि व्यञ्जकीभूता लिपिर्न कल्पितेत्यर्थः। (श०कौ० १.१.८)।
४. यस्य यमापत्तिरुच्यते तत्स्वरूपो भवतीत्यर्थ। (उवटः, ऋ०प्रा० ६.३२)
अपि च— यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः(सि०कौ० १२)। मध्ये यमः पूर्वगुणः (ऋ०त० १.२, शि०प्र० ४)।
५. इसे योगरूढ संज्ञा जाननी चाहिये।

(द्र० तै०प्रा० २१.१२)। इस प्रकार के नासिक्यत्व का आगम भाषा में प्रचलित शब्दों में भी देखा जाता है। जैसे कि– आना, जाना, कान, काम आदि का उच्चारण आँना, जाँना आदि के रूप में होता है। अर्थात् पर में स्थित अनुनासिक (न,म) का नासिक्यत्व पूर्व में स्थित स्वर (आ) वर्ण में भी स्वल्प मात्रा में आ जाता (उच्चरित होता) है। परन्तु जानकी, आनाकानी, काम्य, कामी, आदि में वैसा नहीं होता। अतः यम को पूर्व का अंग[1] मानते हुये भी पूर्व और पर दोनों वर्णों के गुणधर्म देखे जाते हैं। इसी में इसका यमत्व है, अन्यथा युगलवाची यम नाम सार्थक नहीं होगा।

उक्त उभयवर्णधर्मवान्[2] यम के अनन्यार्थक 'अशरीर' शब्द से स्पष्ट है कि यम को लिखा नहीं जाता[3], पर बोला जाता है, सुना जाता है। यह कैसे हो सकता है कि लिखा नहीं जाता, पर बोला जाता है? केवल यम ही नहीं और भी कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो बोली जाती हैं, पर लिखी नहीं जाती। जिनकी ओर प्रातिशाख्यकारों ने और शिक्षाकारों ने अतिसूक्ष्मता से ध्यान दिया है। तद्यथा स्वर और व्यञ्जन के मध्य में रेफ हो तो, उस रेफ के बाद ऋवर्ण (ऋ-तुल्य ध्वनि) का आगम (उत्पत्ति) होता है।[4] जिसे स्वरभक्ति, ह्स्वार्ध या अति- ह्स्वस्वर[5] कहा जाता है। जैसे कि– **यद्य कर्हि कर्हि**[6] (ऋ० ८.७३.५) का उच्चारण **'कर्ऋहि'** होता है एवं **'अर्चन्त्य-कर्मर्किणः'**[7] ऋ० १.१०.१) का उच्चारण **अर्ऋचन्त्यर्ऋकमर्ऋकिणः** के रूप में होता है।[8] यह स्वरभक्ति उच्चरित होती हुई भी लिखी नहीं जाती है। यह ध्वन्यागम ह्स्व ऋवर्ण का ही अतिह्स्वस्वर रूपक भेद है,अतः इसका पृथक् से उपदेश नहीं किया गया। इसी प्रकार यम भी एक ध्वन्यागम है, पर इसकी स्वतन्त्र सत्ता भी है अर्थात् यह किसी वर्ण का भेद या रूपक नहीं है। यम ध्वन्यागम होने के कारण इसका उच्चारण मात्र ही सम्भव हैं, लिखना नहीं। इसीलिये प्रातिशाख्यकारों ने इसके निर्देश के लिये वर्णत्व से प्राप्त[9] 'कार', 'इति' आदि का निषेध किया है।[10]

यमों को कँ, खँ आदि के रूप में लिखा जाता है और लिखे हुये को प्रत्यक्षतः देखा भी जाता है। जिससे हस्तामलकवत् स्पष्ट ज्ञात होता है कि यम कादि ही हैं। पुनरपि यम कादि नहीं है, तद्भिन्न है। इसे केवल बोला जाता है, पर लिखा नहीं जाता है, इसकी लिपि ही नहीं है आदि-आदि कथन पाठकों के लिये महान् आश्चर्यजनक होंगे तथा अविश्वसनीय लगते होंगे। परन्तु वे कथन असत्य नहीं हैं। एतद्विषयक कुछ अन्य उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत करता हूँ, जिनसे उक्त सभी कथनों की सत्यता सिद्ध होगी। जैसे–

---

१. तै०प्रा० में तो पर का अंग माना गया है– नासिक्याः(२१.८)। नासिक्या यमाः परस्वरं भजन्ते (त्रि०र०)। ते पूर्वस्य स्वरं न भजन्ते(वै०आ०)।
२. इस उभयवर्णधर्मत्व की प्रतीति का कारण आगे 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर लिखा जायेगा।
३. द्र०-पूर्वपृष्ठ की टिप्पणी ३।
४. रेफाद् स्वरोपहिताद् व्यञ्जनोदयाद् ऋकारवर्णाः स्वरभक्तिरुत्तरा (ऋ०प्रा० ६.४६)।
५. इस अतिह्स्वस्वर को यूरोपीय भाषाओं में 'श्वा' (Schwa) कहते हैं और e को उलटकर (ə) लिखते हैं (द्र०डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत - भाषाविज्ञान, पृ०१२७, टि० २)।
६. यह दीर्घस्वरभक्ति का उदाहरण है (द्र० ऋ०प्रा० ६.४८), जिसकी मात्रा ह्स्वार्ध(१/२) मात्रा होती है। (द्र० ऋ०प्रा० १.३३)।
७. यह ह्स्वस्वरभक्ति का उदाहरण है(द्र० ऋ०प्रा० ६.४८-४९), जो कि आधे से कम अर्थात् एक पाद (१/४)मात्रा की होती है (द्र० ऋ०प्रा० १.३५)।
८. ऋ०प्रा० के ध्वन्यागम-पटल में तथा अन्य(शिक्षादि) ग्रन्थों में और भी अन्य ध्वन्यागम देखे जा सकते हैं।
९. निर्देश इतिना, कारेण च, स्वैररपि (वा०प्रा० १.३६, ३७, ४०)।
१०. नानुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-यमाः (वा०प्रा० १.४१)। एते इतिना कारेण स्वरैश्च न निर्देष्टव्या इत्यर्थः।

१. "**वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते**" यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। जैसे कि ऋकार में रेफश्रुति को स्वीकारते हुए भी कोई भी आचार्य उसे वर्णान्तर के रूप में स्वीकार नहीं करता है। वैसे ही सन्ध्यक्षरों में भी अकार और इकार, उकारों के श्रवणमात्र से उन्हें वर्णान्तरों के रूप में नहीं माने जाते[1]। ठीक वैसे ही यमों में ककारादि के स्वल्पश्रवणमात्र से उन्हें वर्णान्तरों के रूप में स्वीकारे नहीं जा सकते। क्योंकि वे शुद्ध नासिक्य ध्वनि विशेष हैं।

२. जिह्वामूलीय (ᳵ)और उपध्मानीय(ᳵ)को सदा ही क्रमशः ᳵक,ᳵ ख ᳵ; प,ᳵ फ के रूप में लिखा जाता है और साथ में सभी यह भी जानते हैं कि जिह्वामूलीय क्,ख् से भिन्न है एवं उपध्मानीय प्,फ् से भिन्न है। क,ख आदि तो केवल आश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं, यथार्थतः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय कादि से भिन्न हैं। ठीक वैसे ही यम कँ्,खँ् आदि के रूप में लिखे जाने पर भी यम कादि नहीं हैं, तद्भिन्न विशुद्ध नासिक्य ध्वनिमात्र हैं। क्, ख् आदि तो केवल आश्रय के प्रदर्शनार्थ लिखे जाते हैं।

३. 'ऌ' स्वर (अच्) की लिपि में 'ल्' व्यञ्जन लिखा जाता है, पर सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि ऌ स्वर ल् व्यञ्जन से भिन्न है, ल्-नहीं है। हाँ, ल् व्यञ्जन की श्रुति अवश्य मानी जाती है। वैसे ही यमों के निर्देशन में कादि लिखे जाते हैं, पर यम कादि नहीं है। तद्भिन्न नासिक्य ध्वनिमात्र ही यम हैं। हाँ, इसमें भी बहुत स्वल्प कालिक कादि की श्रुति सुनायी पड़ती है। जिसका कारण 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर बतायेंगे।

४. क, ख आदि व्यञ्जनों में अनिवार्यता के कारण 'अ' वर्ण को लिखा जाता है,पर उसे (अवर्ण को) व्यञ्जन ध्वनि के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। वैसे ही कुँ, खुँ आदि यमों में भी अनिवार्यतया आश्रित वर्ण कादियों को लिखा जाता, पर वे यम के अन्तर्गत नहीं हैं।

५. शिक्षाशास्त्र के अन्तर्गत **अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः**(१.२) की मद्विरचित व्याख्या में सप्रमाण बताया गया है कि विसर्ग का उच्चारण कहीं ह के तुल्य, कहीं हि के तुल्य, कहीं हु के तुल्य होता है। इस प्रकार विसर्ग की उच्चारणविधि बताते हुए कहीं विसर्ग ह-रूपक ही है, ऐसी भ्रान्ति न होवे, इसके लिए पुनः अन्त में बताया गया है कि – **हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः।** यही बात यमों के विषय में घटित हुई है। क्योंकि यम की उच्चारणविधि बतायी गयी थी कि यम का उच्चारण पूर्व वर्ण की ध्वनि के सदृश ध्वनि में नासिक्यत्व को मिलाकर करना चाहिये और इस कथन की सुगमता के लिये यमों को कँ्, खँ् आदि के रूप में लिखा गया था। परन्तु कालान्तर में लोगों को भ्रान्ति हो गयी कि यम कादि ही हैं। जिसके निवारण के लिए और शास्त्रव्यवस्थिति की सुदृढ़ता के लिए लेखक को इतना परिश्रम करना पड़ रहा है।

६. ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य ढकार आ जाय तो उसका उच्चारण ळ्ह के सदृश होता है।[2] यहाँ हसदृश ध्वनि के प्रदर्शनार्थ ही 'ह' लिखा जाता है, पर वहाँ हवर्ण है ही नहीं। वैसे ही यमों के उच्चारण में 'क्' सदृश ध्वनि के प्रदर्शनार्थ 'कँ्' ऐसा लिखा जाता है, पर उस यम में कवर्ण है ही नहीं। वैसे ही 'खँ्' आदि यमों में भी जानें।

७. माध्यन्दिन- यजुर्वेद की संहिता एवं ब्राह्मण दोनों में यकार और वकार के गुरु,लघु,लघुतर ये तीन

---

१. तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव (काशिका ऐ औ च्)।
न हि तदाकारानुकारित्वमात्रेणैव तत्त्वं भवति (न्यासः-तत्रैव)।
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव (वा०प० १.७२)।

२. द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकारः ।
ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा सम्प्रयुक्तः ।
इळा साळहा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण ।। (ऋ०प्रा० १.५२)

भेद माने गये हैं।[१] पदादि में विद्यमान वकार को गुरु माना जाता है। यथा – **वा॒यव॑ स्थः** (यजु० १.१)। इस गुरुत्व के प्रदर्शनार्थ द्वित्वभूत वकार जैसा लिखा जाता है। जैसे कि – **व्वा॒यव॑ स्थ**। यहाँ इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि 'व्वायव स्थः' में द्वित्व किया हुआ वकार नहीं है और न ही किसी भी सूत्र से यहाँ द्वित्व प्राप्त है, केवल गुरुत्व के प्रदर्शनार्थ मात्र वैसा लिखा जाता है। इसी प्रकार गुरु यकार में भी समझ लेना चाहिये। यथा– **य्य॒ज्ञेन॑ य्य॒ज्ञम॑यजन्त**०(यजु० ३१.१६)। ठीक वैसे ही यमत्व का प्रदर्शन अनुनासिक चिह्नयुक्त क॑, ख॑ आदि से दिखाया जाता है, पर क॑, ख॑ आदि वर्ण यम नहीं हैं। अर्थात् यम वर्णान्तर हैं।

८. इस बात को ध्वनिविज्ञान और भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचारकर और अच्छी तरह समझ सकते हैं। विविध भाषाओं के शब्दों की ओर ध्यान देने से हम ऐसे शब्द पाते हैं की अपञ्चम+ पञ्चम वर्णों की स्थिति में कभी - कभी अपञ्चम वर्ण पञ्चम वर्ण की ध्वनि से अभिभूत होता है। जैसे की पाली भाषा में 'प्राज्ञ' को 'पञ्ञ', 'राज्ञ' को 'राञ्ञ', 'रुक्मवती' को रुम्मवती हो जाता है और कभी-कभी अपञ्चम वर्ण ही पर में स्थित पञ्चम वर्ण को पूर्णरूप से प्रभावित करता है। यथा– पाली एवं तेलुगु में 'अग्नि' शब्द का उच्चारण 'अग्गि' के रूप में होता है। वैसे ही 'स्वप्न - सोप्प, आत्मज-आत्तज' आदि। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में पूर्ववर्ण परवर्ण के ऊपर तथा परवर्ण पूर्ववर्ण के ऊपर प्रभाव डाल रहे हैं। परन्तु जब एक ही शब्द में दोनों वर्ण परस्पर थोड़ा-थोड़ा एक दूसरे के ऊपर प्रभाव डालें तो वहाँ दोनों के मध्य में एक ऐसी ध्वनि होगी, जिसमें आस्यत्व एवं नासिक्यत्व दोनों समविष्ट रहेंगे। यही यम है। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि पञ्चम वर्ण से पूर्व अपञ्चम स्पर्श वर्ण उच्चारण करते समय अपेक्षाकृत आस्यविवर कुछ कम खुलता है, जिससे कुछ वायु नासिका विवर में भी प्रवेश कर जाता है। बस इसी समय उत्पद्यमान क्षणिक अव्यक्त नासिक्य[२] ध्वनि को यम कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यह यम पूर्व में स्थित स्पर्श वर्ण का अनुनासिकीकरण नहीं है, अपितु नासिक्य ध्वनि का प्रादुर्भाव है।

५. यमों का स्वरूपनिर्देश – ऊपर यम और यमस्वरूप का परिचय भलीभांति दिया गया है। अब उस निरूपित यम के स्वरूप का निर्देश विविध आचार्यो के शब्दों में दिखाते हैं –

१. **कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** (वा०प्रा० ८.२४)।
२. **कुँ इति खुँ इति गुँ इति घुँ इति यमाः** (ऋ०त० सामप्राति० १.२)।
३. **चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति** (या०शि०, वर्णप्रकरण ९३)।
४. **कुँ खुँ गुँ घुँ इति च ते चत्वारो नात्र पञ्चमः**(वर्ण०शि० १७)।
५. **चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति** (शि०प्र० ४)।
६. **कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येते च यमाः** (न्यास १.१.९)।

इसीप्रकार प्रातिशाख्यों के भाष्यकार उवट, भट्टभास्कर,अनन्तभट्ट आदि ने प्रसङ्गतः अनेकों स्थानों पर इन चार यमों को कुँ खुँ .... आदि के रूप में ही उल्लिखित किये हैं। जैसे कि– **कँ् खँ् गँ् घँ् इत्यादयो[३] यमाः** (ऋ०प्रा० १.४८,उवट)। यहाँ सर्वत्र यह विशेषतः ध्यातव्य है कि कुँ, खुँ आदि से यमध्वनि मात्र ही ग्राह्य है। क॑ आदि यम नहीं है। यम के सुबोध के लिए और उनके आश्रय के प्रदर्शन के लिए ही 'क॑' आदि लिखे जाते

---

१. द्र०-अष्टा० ८.३.१८ और म०म०पं०श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के द्वारा सम्पादित 'माध्यन्दिन-संहितायाः पदपाठः' की भूमिका पृ० ३४-४१।
२. चत्वारस्तु यमा प्रोक्ता अव्यक्ताः सानुनासिकाः-शै० शि० पृ० २।
३. आदि शब्द से गृहीत अन्य यमों के विषय में 'यमों की संख्या' के निरूपण वेला में लिखा जाएगा ।

हैं। वैसे यमों को लिखने की प्रसिद्धि यह है कि प्रथम यम को नासिक्य चिह्न के साथ पूर्व में स्थित वर्गस्थ प्रथम वर्ण के तुल्य लिखा जाता है। जैसे कँ, चँ, टँ, तँ, पँ। यम का अपना कोई लिप्यात्मक रूप नहीं है, अत एव एक ही यम को अनेक रूपों अर्थात् अपनी प्रकृति (पूर्ववर्ण) के तुल्य लिखा जाता है।[1] पर वे सब (कँ,चँ आदि पाँचों) एक ही यम है। इसे प्रथम यम का प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ सन्नियोग का प्रदर्शन मात्र समझना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय यम (खँ आदि) आदि जानना चाहिए।

यदि पञ्चम वर्ण का श्, ष्, स् और अन्तस्थ (य्,र्,ल्,व्) के साथ संयोग हो तो वहाँ यम का उच्चारण नहीं होता।[2] तद्यथा– 'असिक्न्योषधे' (तै०ब्रा० २.४.४), 'राज्ञ्यसि' (तै०सं० ४.३.६.२), 'अधिपत्न्यसि' (तै०सं० ४.३.६.२), 'पोषयित्वा' (तै०सं० १.१.१४.२)। यदि ऊष्म वर्णों के स्थान पर स्पर्श वर्णों का आदेश हुआ हो और उससे परे पञ्चम वर्ण हो तो वहाँ भी यम की उत्पत्ति नहीं होती।[3] जैसे– 'यच्छ्मश्रुणः' (तै०सं० २.१.१.५), 'आदित्याञ्छ्मश्रुभिः' (तै०सं० ५.७.१२)।

६. यमों की संख्या – यम चार हैं या बीस, इस प्रकार के दो मत लेकर अनेकों वैयाकरणमूर्धन्य और प्रातिशाख्यों के सम्पादकों ने इस विषय को संशयात्मक तथा विचारणीय माना है। अतः कहीं कोई निर्णयात्मक विचार प्रकट नहीं किया गया। संशय के मूलकारण निम्न प्रकार हैं–

१. **यमः प्रकृत्यैव सदृक्** (ऋ०प्रा० ६.३२) सूत्र में कहा गया है कि यम वर्ण अपने प्रकृतिभूत पूर्वस्थ स्पर्श वर्ण के सदृश होता है।[4] प्रत्येक वर्ग के प्रकृतिभूत स्पर्श वर्ण चार हैं, तो सम्पूर्ण प्रकृतिभूत वर्ण बीस हैं। अतः यम भी बीस होने चाहिए। अर्थात् कुँ खुँ गुँ घुँ यम हैं तो चुँ छुँ टुँ ठुँ [5]......आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

२. प्रातिशाख्यों की व्याख्या करते हुए उवट ने कहीं-कहीं लिखा है कि **'यस्माद् यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिस्थानिनां सरूपा लक्ष्यन्ते** (ऋ०प्रा० ६.३३) **इति यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति चतुर्थाध्याये व्याख्यातम्'** (वा०प्रा० ८.२४) इत्यादि स्थलों में स्पष्टरूप से यमों को बीस माना जाना संशय का मूल आधार है।

३. कँ खँ आदि में सानुनासिक चिह्न देखकर यमों को सानुनासिक क्,ख् आदि समझना भी संशय का कारण है। यतोहि वे यम हैं तो सानुनासिक च्, छ् आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

४. पलिक्क्नी, चक्ख्नथुः आदि में विद्यमान कँ,खँ आदि यमों को **'अनचि च'** (अष्टा० ८.४.४६) से द्वित्त्वजन्य वर्ण मानना।[6] द्वित्त्वजन्य द्वितीय वर्ण ही यम है तो वच्मि, पत्नी आदि में च्,त् आदि भी यम क्यों नहीं हो सकते?

---

१. यमः प्रकृत्यैव सदृक् (ऋ०प्रा० ६.३२)। 'कचटतपाः कुः' 'खछठथफाः खुः' इत्यादिपरिभाषामाश्रित्य तत्तदुत्तरस्याशरीरस्यापि कथञ्चित्प्रदर्शनतात्पर्यकं चेदमिति ध्येयम्(श०कौ० १.१.८३)।

२. वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम्। दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः॥(कश्चिच्छिक्षाकारः)
वर्गान्ता यत्र दृश्यन्ते शषसैः सह संयुताः। यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः॥
अ०मां०शि० ११९; अपि च द्र०-ना०शि० २.२.९)

३. ऊष्मप्रकृतिकात् स्पर्शात् पञ्चमः परतो यदि। तत्र नैव यमापत्तिरिष्यते नात्र संशयः॥
यत्रोष्माविकृतेः स्पर्शाद्.....। व्या०शि० ३५५

४. यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः (सि०कौ० १२)।

५. कुँ खुँ ...आदि में उकारानुबन्ध तो उचित है, परन्तु चुँ, छुँ....आदि में भी उकारानुबन्ध लगाना सर्वथा अनुचित है।

६. इसका समाधान आगे 'यमों का वर्णान्तरत्व' शीर्षक में भी किया जायेगा।

इन कारणों से यमों को बीस मानकर वर्णमाला की त्रिषष्टि या चतुःषष्टि संख्या की पूर्त्ति के लिए यमों को चार माना जाता है, ऐसा प्रश्न कर्त्ताओं के द्वारा युक्ति दी जाती है। इन विषयों को यथामति आगे विचारते हैं।

'यमः प्रकृत्यैव सदृक्' में यम को पूर्व वर्ण के सदृश वर्ण कहा गया है अर्थात् 'क' के बाद कतुल्य 'ख' के बाद खतुल्य, 'ट' के बाद टतुल्य आदि। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के पञ्चमवर्ण को छोड़कर शेष बीस वर्णों के तुल्यरूपवान् बीस यम होते हैं। इन सब में पर वर्ण के कारण नासिक्यत्व भी आ जाता है। जैसे कि – कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ् । **ये सब प्रथम यम कहलाते हैं। प्रथम यम के पूर्व में स्थित प्रथम स्पर्श वर्णों की रूपभिन्नता से व तत्तुल्यत्ववश प्रथम यम को भिन्न-भिन्न रूप में निर्देश किया जाता है। अर्थात् यह भेद आश्रित वर्णों का है, न कि प्रथम यम का। यथार्थतः यह प्रथम यम एक ही है क्योंकि इन सभी स्थलों में विद्यमान यम के बाह्ययत्न एक ही है। स्थान नासिका है। प्रयत्नादि के भेदाभाव में एक प्रथम यम में वर्णान्तरता कैसे आ सकती है? कदापि नहीं। अतः प्रथम स्पर्श वर्णों के संसर्ग से विद्यमान प्रथम यम एक ही है ।** कँ्,चँ्..... आदि को लक्षित कर प्रथम यम को 'कुँ' ऐसा लिखा जाता है। इस उदित् के कारण ग्रहणकशास्त्र (**अणुदित्**० अष्टा० १.१.६८) से यह अपना (कँ्) और अपने सवर्णियों (समरूपियों – चँ्, टँ्, तँ्, पँ्) का ग्राहक होता है। अर्थात् प्रथम यम जाति रूप में एक है और व्यक्ति रूप में पाँच हैं।[1] इसी प्रकार द्वितीय वर्णों के बाद द्वितीय यम, तृतीयों के बाद तृतीय यम और चतुर्थों के बाद चतुर्थ यम की उत्पत्ति समझनी चाहिये ।[2]

यदि कँ्, चँ् .....खँ्, छ्..... आदि को पृथक्-पृथक् मानकर[3] यमों को बीस माना जाए तो 'कुँ' आदि में उदित व्यर्थ हो जाएगा। जो कि सभी आचार्यों को मान्य है और दूसरी बात यह है कि यदि पूर्व में स्थित अपञ्चम वर्ण के द्वित्वजन्य को ही यम मानकर उन्हें बीस ही मानना हो तो ऋक्प्रातिशाख्यकार को **'यमः प्रकृत्यैव०'** सूत्र बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। क्योंकि पञ्चम वर्ण से पूर्व में रहनेवाले अपञ्चम वर्णों के द्वित्व होने पर, यम अपने आप ही पूर्व रूपवान् हो जाता है, पुनः **'प्रकृत्यैव सदृक्'** कहना व्यर्थ है। इससे स्पष्ट ज्ञापित होता है कि यम द्वित्वजन्य नहीं है अर्थात् वे बीस नहीं हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि यम क्, ख्, च् आदि से भिन्न हैं। अतः कुँ,खुँ आदि यम हैं तो चुँ,छुँ आदि यम क्यों नहीं है कहना और कँ् खँ् के सदृश चँ् छँ् को भी यम मानकर बीस की गणना करना सर्वथा अनुचित है।

यम जाति पक्ष में चार ही हैं, व्यक्ति पक्ष में बीस हैं[4], ऐसा पहले लिख चुके हैं। इसकी पुष्टि उवट के इन शब्दों से भी होती है – **' एवं विंशतिर्यमाः बह्वृचानां भवन्ति। स्वरूपैश्चत्वार एव'** (ऋ०प्रा० १.५०)। अतः उवट ने जहाँ कहीं भी यमों को बीस लिखा है, वहाँ सर्वत्र व्यक्ति पक्ष को लेकर ही लिखा है, जातिपक्ष

---

१. कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ् – इन में जो प्रथम यमत्व समान रूप से है, वह जाति है और पूर्ववर्ण के तुल्यत्ववश जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसे व्यक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः सब एक ही है, जिसे प्रथम यम कहते हैं। जिसका प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ विद्यमान संयोग के प्रदर्शनार्थ पाँच रूपों में लिखा जाता है और उनमें गौण रूप से व्यक्ति की कल्पना कर सबके ग्रहण के लिए उदित लगा दिया जाता है।

२. क्रमशः चारों यमों के उदाहरण – 'पलिक्क्ँनी' (ऋ० ५.२.४) इत्यत्र ककारसरूपो यमः, 'चक्ख्ँनथुः' इत्यत्र खकारसरूपो यमः, 'जग्गृँमुः' (ऋ० १०.४०.१४) इत्यत्र गकारसरूपो यमः, 'जग्घ्ँनथुः' (ऋ० ७.९९.४) इत्यत्र घकारसरूपो यमः (उवटः, ऋ०प्रा० १.५०, अपि च द्र० ६.३२)। यहाँ सरूप शब्द से स्पष्ट है कि यम क, ख आदि से भिन्न हैं ।

३. अर्थात् जाति और व्यक्ति को न मानकर।

४. इन बीस यमों में से वस्तुतः १४ व्यक्ति ही माननी चाहिये। क्योंकि शेष छः यमों का वैदिक वाङ्मय में प्रयोग नहीं होता है। इस विषय में महाभाष्य-प्रदीप-प्रकाशकार भूमिका में लिखते हैं कि ''झ्, ठ्, ड्, ढ्, फ् और ब् इन छः वर्णों का पञ्चम

को लेकर चार भी लिखा है। अन्यथा भाष्यकार का मत अपने ही वचनों से और सूत्रों के साथ विरोधी हो जायेगा। जैसे कि **'कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः'** (वा०प्रा० ८.२४) की व्याख्या में उवट ने लिखा है कि **यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्ति।** सूत्रकार ने तो स्वयं चार गिनाये और व्याख्याकार बीस लिख रहे हैं। यदि उवट के शब्दों से यमों को यथार्थतः बीस मानेंगे तो आगे भी सूत्रकार स्वयं लिखते हैं — **'एते पञ्चषष्टिवर्णा**[1] **ब्रह्मराशिरात्मवाचः'** (८.२५) **'त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः। द्विचत्वारिंशद्व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः** (८.३८)। इन स्थानों में वर्णों की जो संख्या बतायी गयी है, उसे भाष्यकार उवट और अनन्तभट्ट दोनों ने माना है। वह गणना यमों को चार मानकर ही की गयी है, न की बीस। अतः सर्वत्र उवट के द्वारा बतायी गयी बीस संख्या को व्यक्तिपक्ष में मानना उचित है।

''यमौ च प्रथमद्वितीयौ०, यमौ च तृतीयचतुर्थौ०'' (शिक्षा ४.२,४) इन सूत्रों में **'प्रथमद्वितीयौ'** आदि में द्विवचन के निर्देश से भी ज्ञात होता है कि प्रथम यम एवं द्वितीय यम आदि एक-एक ही हैं। अन्यथा **''वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः०, वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः०''** (शिक्षा ४.२,४) के समान बहुवचन का निर्देश होना चाहिए था।

यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि बीस यमों को संख्या की पूर्ति के लिए चार माना जा रहा है। वस्तुतः वे हैं ही चार। इसे ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। एतदर्थ यह भी एक युक्ति है कि यदि यम चार से अधिक होते तो कुँ.......घुँ के आगे चुँ, छुँ आदि का भी कोई न कोई आचार्य निर्देश अवश्य करता, पर ऐसा किसी ने भी नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि यम चार से अधिक नहीं है।[2] कुछ आचार्यों ने तो चार से अधिक (पाँचवें आदि) यमों का निषेध भी किया है। जिसे शीघ्र ही उद्धृत करने वाले हैं।

जिह्वामूलीय (≍) एक होता हुआ भी ≍क, ≍ख के रूप में लिखा जाता है। वैसे ही उपध्मानीय (≍) भी एक ही है, पुनरपि ≍प, ≍फ इस प्रकार दो-दो रूपों में लिखा जाता है। यहाँ किसी को भी यह भ्रान्ति वा संशय नहीं होता है कि जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय एक-एक नहीं है, अपितु दो-दो हैं। क्योंकि सभी जानते हैं कि वे यथार्थतः एक-एक ही है, पर उनके आश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ ही क-ख, प-फ लिखे जाते हैं। यतोहि उन वर्णों के विना उनका उच्चारण हो नहीं सकता। वैसे ही यमों के विषय में जान लेना चाहिए। यथा— प्रथम यम यथार्थ में एक ही है, परन्तु तदाश्रयत्व के प्रदर्शनार्थ कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ ऐसा लिखा जाता है। इससे प्रथम यम को पांच नहीं समझना चाहिए। ऐसे ही द्वितीय यम (खुँ, छुँ, ठुँ, थुँ, फुँ) आदि को जानें। आश्रस के भेद से आश्रयी यम का भेद मानकर यमों को बीस मानना सर्वथा अनुचित है।[3] यदि आश्रय के भेद से आश्रयी का भेद होता

स्पर्शों से पूर्व प्रयोग व्युत्पन्न शब्दों में नहीं मिलता। अतः पूर्वोक्त बीस स्पर्शों में से १४ ही पञ्चम स्पर्श के पूर्व अविकृतरूप में प्रयुक्त मिलते हैं। कवर्ग के चार, चवर्ण के तीन, टवर्ग का एक, तवर्ग के चार और पवर्ग के दो'' (पृ० २१, टि० १)। अतः यमों की बीस संख्या अनुपपन्न ही जानें। उक्त चौदह प्रकार के यमों का वर्गशः उदाहरण निम्न प्रकार हैं– क – रुक्ँम(यजु० १२.१), ख- चखँनथुः, ग- अग्ँनि(ऋ० १.१.१) घ-अघ्ँन्ँया: (तै०सं० १.१.१), च-मुमुचँमहे (ऋ० ९.२९.५), छ- (मृग्य), ज-राज्ञ, (राज्ञँ)(तै०सं० ५.५.११), ट-आटँणारः (तै०सं० ५.६.५.३), त-आतँमा (ऋ० ७.८७.२), थ-अमथँनाद् (ऋ० १.९३.६), द-ककुदँमान्(तै०सं० १.७.७), ध-दधँमसि(ऋ० ८.१०२.२०),प-पापँमानम् (तै०सं० ७.४.२.२), भ-गृभँणामि (ऋ० १०.८५.३६)।

यहाँ उदाहरणों में यमों को कुँ, खुँ आदि के रूप में नहीं लिखा, केवल उनका नासिक्यत्व मात्र दिखाया गया है, जिससे कि उन्हें क्, ख् से अभिन्न समझने का भ्रम उत्पन्न न हो जाए।

१. त्रिषष्टि में 'हुँ इति नासिक्यः' और दीर्घ लृवर्ण को मिलाकर वा०प्रा में पञ्चषष्टि वर्ण माने गये हैं।

२. यमचतुष्टय का उपपादन 'यमों का प्रयत्न' के अवसर पर भी किया जायेगा।

३. जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि औपाधिक भेद से एक आकाश को अनेक मानना अनुचित है—

तो जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को भी दो-दो मानना होगा। जो कि किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए यम चार ही हैं, बीस नहीं हैं।

यमचतुष्टय की पुष्टि में अनेकों आचार्यों के वचन भी हैं। जैसे कि—

१. स्वयं उवट ने ही अनेकत्र स्पष्ट रूप में यमों को चार माना है। तद्यथा—

१.१. **स्वरूपैश्चत्वार एव** (वा०प्रा०८.२४)। यहाँ एवकरण चार से अधिक यमों के निराकरणार्थ है।

१.२. **यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्ति** (ऋ०प्रा० ६.३३)।

१.३. **स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु०** (प्रा० ६.२९) के 'स्वान्' शब्द की व्याख्या करते हुए उवट लिखते हैं — **स्वान् इति किमर्थमुच्यते? संज्ञाप्रकरणे चतस्त्रो ऽन्तस्थाः**(१.९), **अष्टा ऊष्माणः** (१.१०), **इति वर्णाः कृतसंख्या निर्दिश्यन्ते, न तथा यमाः। तस्मादिह स्पर्शा यमान् अननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्वप्रसङ्गः। स मा भूत्। चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः (स्पर्शाः) प्रथमम्, द्वितीया द्वितीयम् एवमापञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते** ।[1] यहाँ करबदरवत् सूत्रकार एवं भाष्यकार उवट का मत स्पष्ट है कि यम चार ही हैं, न कि पाँच, छः आदि । पुनरपि उवट के **विंशतिसंख्याकाः** आदि शब्दों को देखकर यमचतुष्टय को विवादास्पद बनाना सर्वथा अनुचित ही है।

२. **चत्वारो यमाः**(या०शि०, वर्णप्रकरण— ९३)।

३. **चत्वारश्च यमाः स्मृताः, ते चत्वारो नात्र पञ्चमः, चत्वारो ये यमाः स्मृताः** (व०र०प्र०शि० १४, १७, १७६)।

४.०**यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा, यमो नेति च पञ्चमः** (अ०मां०शि० ११७, ११९)।

५. **चत्वारश्च यमा इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः संयोगशास्त्रात्** (शि०प्र० ४)।

६. **स्वरा द्वाविंशतिर्यमाः चत्वारश्च.....** (षो०शि० २)।

७. **यमाश्चत्वारः प्रथमयमद्वितीययमादिभेदेन विभाजनात्** (श०कौ० १.१.८)।

८. **चत्वारस्तु यमाः स्मृताः, चत्वारस्तु यमाः प्रोक्ताः** (शै०शि०, पृ० १,२)।

९. शिक्षा के ४.२ और ४.४ सूत्रों में भी यम चार ही गिनाए गये हैं।

७. प्रत्येक यम का संज्ञाकरण— कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इनकी यम संज्ञा और उनके चतुष्टयत्व के सिद्ध होने के पश्चात् प्रत्येक की क्या-क्या संज्ञा है, इस विषय में सम्प्रति लिखते हैं। प्रत्येक यम के लिए आचार्य पाणिनि आदि ने क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ संज्ञाओं का प्रयोग किया है। यथा— **वर्गाणां प्रथमद्वितीया.....यमौ च प्रथमद्वितीयौ.....। .....यमौ च तृतीयचतुर्थौ.....** (शिक्षा ४.२,४)। अपि च **यमाश्चत्वारः प्रथमयमद्वितीययमादिभेदेन विभजनात्** (श०कौ० १.१.८)। **चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः (स्पर्शाः) प्रथमम् (यमम्), द्वितीया द्वितीयम् एवमापञ्चमादापद्येरन्'** (उवटः ऋ०प्रा० ६.२९)।

प्रथमादि शब्दों को यमों की संज्ञा न माननी चाहिये। क्योंकि इन्हीं शब्दों को आचार्य ने वर्गीय वर्णों के लिये भी प्रयोग किया है। यदि वे शब्द संज्ञाओं के रूप में आचार्य को अभीष्ट होते तो वर्गीय वर्णों के लिये और यमों के लिए उनका प्रयोग न कर पृथक्-पृथक् संज्ञाओं का निर्देश करते। ऐसा न करने से ही ज्ञात होता

प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते (शंकरः-सर्व०सि० ४.२.६)। अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर (म०भ०वार्तिकम् १.१.६९) अनियमितो भेदोऽन्यकरो भेदकरो (भेदकः) न भवति।

१. आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति। प्रथमस्पर्शात् प्रथमनासिक्यः, द्वितीयाद् द्वितीयः, एवमन्यत्रापि (त्रि०र०, तै०प्रा० २१.१२)। अत्रापि यमचतुष्टयम् उपपद्यते।

है कि ये संज्ञाएँ नहीं है, अपितु क्रमत्व व्यवहार की उपपन्नता के लिये व सुबोध के लिये ही पूरणप्रत्ययान्त संख्येय शब्दों का निर्देश मात्र है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यतोहि व्यवहार की उपपन्नता वा सुगमता मात्र ही प्रयोजन होता तो आचार्य स्पष्टार्थ स्वरूप का ही निर्देश करते। जैसे कि **कखचछ.....पफाः....कुँ, खुँ**.....अथवा वर्गत्वद्योतन की हानि न होने देने के लिए **कखौ चछौ टठौ तथौ पफौ....कुँ, खुँ ....**। ऐसे ही दूसरे सूत्र (४.४) में भी समझें। ऐसा निर्देश करने में बहु लघुता भी है।[१] लघुता का अनादर करते हुये गुरुता के अनुकरण से ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये संज्ञाएँ हैं। जहाँ तक (वर्गीय वर्णों एवं यमों के लिए प्रयुक्त) समान संज्ञा का प्रश्न है, उसका उत्तर अभी आगे देने ही वाले हैं।

इन संज्ञाओं का विधान पाणिनि ने अपने शास्त्र में कहीं नहीं किया है। ये संज्ञाएँ हैं पूर्वाचार्यों की।[२] जैसे कि वर्गीय वर्णों के लिए तै०प्रा० (१.११) में विधान किया है कि **प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः**। अर्थात् प्रत्येक वर्ग के वर्ण यथाक्रम प्रथम,द्वितीय, तृतीय, चतुर्थी और उत्तम (पञ्चम) संज्ञक होते हैं। ये संज्ञाएँ केवल वर्गस्थ स्पर्श वर्णों के लिए मानी गयी हैं,स्वर, अन्तस्थ, ऊष्म और अयोगवाहों के लिये नहीं। अतः प्रातिशाख्यकारों [३] को ये संज्ञाएँ यमों के लिए अभीष्ट नहीं है।[४]

यदि वे (प्रातिशाख्यकार) यमों के लिये भी प्रथमादि संज्ञाएँ मानते हैं, तो **प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्** (तै०प्रा० १४.१२) इत्यादि सूत्रों में वर्गीय वर्णों के साथ यमों का भी ग्रहण होने रूपी अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। अतः प्रातिशाख्यकारों ने यमों के लिए प्रथमादि संज्ञाओं का विधान नहीं किया। पर पाणिनीयशास्त्र में वर्गीय वर्णों एवं यमों के लिए इन संज्ञाओं की कोई उपयोगिता नहीं है। क्योंकि वर्गीय वर्णों के ग्रहण के लिए आचार्य ने प्रत्याहार सूत्र बना दिये और अयोगवाह घटक यमों के अट्-प्रत्याहार के ग्रहण से गृहीत होने से सब कार्य सम्पन्न होते हैं। अतः पाणिनीय शास्त्र में इन संज्ञाओं से कार्यविधान में कोई अतिव्याप्ति व अव्याति जैसे दोष नहीं आते। पर प्रातिशाख्यकार पाणिनि के सदृश प्रत्याहारों का प्रयोग नहीं करते।[५] अतः उन्हें पृथक्-पृथक् विभिन्न संज्ञाओं की आवश्यकता पड़ती है। पाणिनि के द्वारा शिक्षा में प्रयुक्त ये संज्ञाएँ केवल पूर्वाचार्यों का अनुकरण मात्र है। संज्ञाओं का विधान व प्रयोग शास्त्र की उपपन्नता के लिए किया जाता है और पृथक्-पृथक् संज्ञाकरण निर्दुष्टतार्थ होता है।[६] जब एक ही (समान) संज्ञा से पाणिनि का शैक्षिक कार्य चल रहा है और कोई दोष भी नहीं आ रहा है, तो पृथक्-पृथक् संज्ञा का निर्देश करके गौरव दोष का सिरदर्द क्यों मोल लेंगे? अतः पाणिन्यादि के यहाँ 'प्रथम' आदि शब्द यमों की संज्ञायें हैं।

प्रथमादि शब्दों को संज्ञा न मानकर केवल क्रमबोध या संख्यावाचक ही मानेंगे तो प्रथमादि से अन्तस्थों में से यादि का, ऊष्मों में से शादि का,ऐसे ही अयोगवाहों में से विसर्गादि का भी ग्रहण होने लगेगा, जो कि अतिव्याप्ति-दोषग्रसित है और न ही ऐसा व्यवहार कहीं देखा ही जाता है। आचार्य पाणिनि ने भी ४.२-६ सूत्रों

---

१. **शिक्षा की यथापाठ मात्रायें**– **ऊहित पाठ की मात्रायें**–
वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः-२० मात्राएँ कखौ चछौ टठौ तथौ पफौ-२०मात्राएँ
यमौ च प्रथमद्वितीयौ१७½मात्राएँ कखचछटठतथपफाः-१६½मात्राएँ, कुँ खुँ-३½/४मात्राएँ

२. एतादृश अन्य संज्ञाएँ— स्वर, व्यञ्जन, स्पर्श, विसर्जनीय, यम अनुस्वार आदि।

३. यद्यपि ऋ०प्रा० के भाष्यकार उवट ने ६.२९ पर यमों के लिए भी प्रथमादि संज्ञाओं का प्रयोग किया है, पुनरपि सूत्रों में कहीं भी न इनका विधान है और न प्रयोग ही है।

४. इदं वचनम् (प्रथमद्वितीय० तै०प्रा० १.११) ककारादीनामेव प्रथमादिसंज्ञाप्रत्ययार्थम्, स्वरान्तस्थोष्मप्रभृतिषु तु संख्यासंज्ञाप्रतिषेधार्थम् (त्रि०र०)। इदमपि सूत्रं गणान्तरेषु संज्ञानिवृत्यर्थम्। एवं हि अकाराकारयोः प्रथमद्वितीयसंज्ञानिवृत्या.....(वै०आ०)।

५. ऋक्तन्त्र को छोड़कर ।

६. दोषनिवृत्तये संज्ञा क्रियते, प्रयोजनाभिनिर्वृत्तये वा (प्रदीपः, म०भा० १.१७)।

में प्रथमादि शब्दों को केवल वर्ग्य वर्णों एवं यमों के लिए ही प्रयोग किया है, स्वर-ऊष्मादि के लिए नहीं। आचार्य के इस नियत व सीमित व्यवहार से भी ज्ञापित होता है कि ये प्रथमादि शब्द संज्ञाएँ हैं। आचार्य के द्वारा यमों के लिए भी प्रथमादि संज्ञाओं का प्रयोग करने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य से पूर्व किन्हीं आचार्यों के द्वारा यमों के लिए भी प्रथमादि संज्ञाएँ की गयी थी। जो कि मृग्य हैं।

८. यमों का वर्णान्तरत्व — ऊपर भलीभाँति सिद्ध किया गया है कि वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अपने-अपने यम को प्राप्त करते हैं, यदि पञ्चम वर्ण परे हो तो। परन्तु कुछ वैयाकरण एवं शिक्षाकारादि इन्हें **अनचि च** (अष्टा० ८.४.४६) से किये हुए द्वित्ववर्णों में से द्वितीयवर्ण की ही यम के रूप में व्याख्या की है और करते भी हैं। यथा– **अ॒ग्निमी॑ळे** (ऋ० १.१.१) **इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः....द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः** ....(उवटः ऋ०प्रा० १.२५)। **आर्त्नी॑ इ॒मे** (ऋ० ६.७५.४) **इति रेफो द्वौ तकारौ नकारश्च संयोगः....क्रमजस्तकारः संयोगादिश्च यमीभूतः**.......(उवटः, ऋ०प्रा० १.२६)। **स्वरात् संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः॥ तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि** (वर्ण०शि० १७५, १७६) आदि। पर यह वस्तुस्थिति से बहुत दूर है। इस प्रकार समझ के कारण ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुँ खुँ आदि कभी वर्णान्तर नहीं हो सकते। फलतः यम-चार नहीं अपितु बीस होंगे।

यथार्थता इस प्रकार है कि जैसे उदात्तत्व और अनुदात्तत्व से युक्त स्वर को स्वातन्त्र्येण स्वरित माना जाता है,[1] ठीक उसी प्रकार अननुनासिक स्पर्श वर्णों एवं अनुनासिक (पञ्चम)वर्णों के उभय धर्म से युक्त प्रथम, द्वितीयादि संज्ञक यमों को स्वतन्त्र अर्थात् स्पर्श वर्णो से भिन्न वर्ण माना जाता है। अतः स्वरित के तुल्य ये भी वर्णान्तर ही हैं।[2] यदि द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण को ही यम मानेंगे तो अनेक दोष आते हैं। जैसे कि–

१. द्वित्वजन्य यम वर्गीय वर्ण ही होने से इनका अयोगवाहत्व ही नष्ट होगा। जब अयोगवाहत्व ही नहीं रहेगा तब तद्घटकत्व से विहीनों को यम नहीं कहा जा सकता है। अतः यम द्वित्वजन्य नहीं है, अपितु एक स्वतन्त्र शद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र है।

२. द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण को यम मानने पर उसमें पर वर्ण के नासिक्यत्व का आरोप मानना होगा।[3] तब इनके स्थान स्वस्थान (मुख) और नासिका दोनों हो जायेंगे। फिर तो इन यमों की अनुनासिक संज्ञा होगी।[4] जब कि सभी आचार्य इन्हें नासिक्यमात्र मानते हैं।[5] सभी आचार्य निर्विवाद से अचों एवं य्, ल्, व् के ही सानुनासिक एवं निरनुनासिक भेद मानते हैं। इनसे भिन्न किसी वर्ण की परिगणना सानुनासिक के रूप में नहीं करते। फिर सानुनासिक ककारादि (कँ) को यम मानना कहाँ तक उचित है ? पहले लिख चुके हैं और सिद्ध कर चुके हैं कि 'कँ' आदि यमों में ककारादि का सानुनासिकीकरण नहीं है, अपितु यम कादि से भिन्न शुद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र हैं और कादि केवल आश्रय के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं। **इस बात को सानुनासिकता**

---

१. समाहारः स्वरितः (अष्टा०१.२.३१), उभयवान् स्वरितः(वा०प्रा०१.११०)। शुक्लगुणः शुक्लः,कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते कल्माष इति वा सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानी-मुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। (म०भा० १.२.३१)।

२. चत्वारश्च यमा इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः संयोगशास्त्रात् (शि०प्र० ४)।

३. पर वर्ण के नासिक्यत्व को आरोपित मानने पर सानुनासिक, निरनुनासिक (कँ,क) भेद होने से दोनों सवर्ण होंगे। सवर्ण होने से ग्रहणकशास्त्र से सानुनासिक कँ यम का ग्रहण होने से ये यम योगवाह कहलायेंगे, न कि अयोगवाह।

४. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः(अष्टा० १.१.८)।

५. अनुस्वारयमा नासिक्याः(शिक्षा १.१६)। अपि च द्र०वा०प्रा० १.७४, ऋ०प्रा० १.४८, ऋ०त० २.२.२ आदि।

से रहित वर्णों को सानुनासिक के रूप में लिखने से ही समझ लेना चाहिये था। परन्तु ऐसा न समझकर सानुनासिक कादि (कँ...) को ही यम समझना एक महती भूल है। अतः द्वित्वजन्य क्,ख् आदि को यम समझना सर्वथा अनुचित है। फलतः इनके (क् आदि यमों के) वर्णान्तरत्व के नष्ट होने की आशंका भी छिन्नवृक्षवत् निर्मूल हो जाती है।

३. अयोगवाहों को महाभाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने अट् एवं शर् प्रत्याहारों में माना है।[१] शर् में इसलिए माने हैं कि वे अयोगवाह झल् के अन्तर्गत आकर जश्त्वादि कार्य हो जाय। इस उपसंख्यान से भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण अयोगवाह झल् से भिन्न हैं। अतः तद्घटक (कँ आदि) यम भी झल् (कादि) से भिन्न हैं।

४. वैयाकरण लोग **अनचि च, अचो रहाभ्यां द्वे** (अष्टा० ८.४.४६,४५) से जो द्वित्व कार्य करते हैं, इसे प्रातिशाख्यकार **'स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र, परन्तु रेफहकाराभ्याम्'** (वा०प्रा० ४.१००,१०१) आदि सूत्रों से करते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रातिशाख्यकार एवं शिक्षाकार भी अपने-अपने सूत्रों वा वचनों से द्वित्व करते हैं। तो **'यक्ँना'** (यजु० ३९.८) आदि में संयोग के आदि भूत ककार को द्वित्व कर द्वितीय ककार को यम मानना अभीष्ट होता तो प्रातिशाख्यकार आगे **'यमे'** (वा०प्रा० ४.११४) सूत्र से यम के परे रहने पर द्वित्व का निषेध न करते। इस निषेध से दो बातें ज्ञापित होतीं हैं –

(१) यम के परे रहने पर ककारादि को द्वित्व होता ही नहीं। अतः द्वित्त्वजन्य को यम मानना अयुक्त है।

(२) यम ककारादि से भिन्न हैं।

यदि कोई कहे कि द्वित्त्व करके द्वितीय वर्ण को यम मानकर और उसके परे रहने पर प्रथम वर्ण को पुनः द्वित्त्व न होने के लिए यहाँ द्वित्त्व का निषेध किया गया है। सो यह सर्वथा अनभिज्ञता होगी। क्योंकि **लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते** न्याय से एक बार ही द्वित्त्व होता है, न कि पुनः-पुनः। अन्यथा अनवस्था दोष आ जायेगा।

५. वर्णसामान्यत्व से प्राप्त 'कार', 'इति' आदि[२] का यम आदि अयोगवाहों के निर्देश में निषेध[३] किया गया है। अन्यथा अकार, इकार, ककार, किति, सिति आदि के सदृश अयोगवाहों से भी 'कार' आदि प्रत्यय प्राप्त थे। अयोगवाह घटक यमों से 'कार' आदि का निर्देश सम्भव ही नहीं है। क्योंकि ये ध्वन्यागम मात्र हैं। जब लिपि ही नहीं है तो इनसे कारादि का निर्देश कैसे सम्भव है? इसीलिए कारादि के सहित उनके कहीं प्रयोग भी देखे नहीं जाते।[४] अतः इस असम्भावना वा प्रयोगानुपपन्नता को द्योतित कराने हेतु ही आचार्यों ने निषेध किया है। इस निषेध से भी ज्ञापित होता है कि अयोगवाह एवं तद्घटक यम वर्णान्तर हैं। क्योंकि द्वित्त्वजन्य को यम मानने पर उनसे कार, इति आदि का निर्देश सम्भव है और तत्सहित का प्रयोग (ककार, किति, क) भी देखा जाता है। पुनः निषेध व्यर्थ है और यमों को कादि के अभेद वर्ण मानकर उनसे कारादि का निषेध करने का कोई प्रयोजन भी नहीं है, न ही निषेध न करने से कोई हानि है। अतः निषेध से उक्त ज्ञापन मानना ही होगा कि यमादि वर्णान्तर हैं अर्थात् क्, ख् आदि से भिन्न हैं। यमों के कादि से भिन्नत्व की सिद्धि होने पर उनके बीस होने की आशंका का भी निवारण हो जाता है।

६. यमों का स्थान सभी आचार्यों ने नासिका माना है। यदि क्, ख् आदि के द्वित्वजन्य द्वितीय वर्ण

---

१. अयोगवाहानामट्सु णत्वम्। शर्षु जश्भावषत्वे (म०भा० हयवरट्)।

२. द्र०-वा०प्रा० १.३६,३७,४०,तै०प्रा० १.१६,२२.४।

३. द्र०-वा०प्रा० १.४१, तै०प्रा० १.१८। 'विसर्जनीयादीनां वर्णत्वाविशेषात् कारोत्तरत्वं प्राप्तम् अनेन निवर्त्यते' (त्रि०र०, तै०प्रा० १.१८)।

४. न खलु विसर्जनीयादीनां कारोत्तरता भवति। कुतः? सर्वत्र तथा प्रयोगानुपलम्भात् (त्रि०र, तै०प्रा० १.१८)।

को यम मानेंगे तो इनका स्थान नासिका न होकर कण्ठ, तालु आदि सभी स्थान मानने होंगे। जो कि यह किसी भी आचार्य को अभीष्ट नहीं है। अतः कुँ खुँ आदि द्वित्वजन्य नहीं हैं अर्थात् वे वर्णान्तर हैं।

७. कुँ खुँ आदि यमों में दृश्यमान कवर्ग को भी यम मानकर किन्हीं आचार्यों ने यमों का स्थान नासिका– जिह्वामूल माना है (शिक्षा१.१८), क्योंकि वे आचार्य कवर्ग का स्थान जिह्वामूल ही मानते थे (शिक्षा १.५, व०शि० १.८, वा०प्रा० १.६५)। परन्तु आचार्य पाणिनि ने यमों का स्थान नासिका मात्र माना है (शिक्षा १.१६)। पाणिनि के इस सिद्धान्त से सिद्ध है कि वे यमों में न कवर्ग को मानते हैं, न ही कवर्ग का स्थान (जिह्वामूल या कण्ठ)। अतः यम कादि से भिन्न हैं।

८. शिक्षा के **वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः यमौ च प्रथमद्वितीयौ०, वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः यमौ च तृतीयचतुर्थौ०** (४.२, ४) इन दोनों सूत्रों में प्रथमादि यम वर्गों के प्रथम, द्वितीयादि वर्णों से भिन्न परिगणित हैं, सो इससे स्पष्ट है कि प्रथमादि यम वर्गों के प्रथमादि वर्ण (क्,ख् आदि) से भिन्न हैं अर्थात् द्वित्त्वजन्य नहीं हैं।[1]

९. कुँ, खुँ आदि में विद्यमान उकारानुबन्ध यदि ककार का होता तो कुँ से कँ्,खँ्,गँ्,घँ्,ङँ् का ग्रहण होता है। पर ऐसा किसी भी आचार्य को मान्य नहीं है। 'कुँ से सभी आचार्य कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ्' का ही ग्रहण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उकारानुबन्ध का सम्बन्ध ककार से नहीं, अपितु यम से है। अतः स्पष्ट है कि यम 'कँ्' आदि से भिन्न हैं।

१०. यमों के बाह्ययत्नों की भिन्नता से भी स्पष्ट है कि महर्षि पाणिनि इन्हें स्वतन्त्र वर्ण मानते हैं।

यमों के कादि से भिन्नत्व (वर्णान्तरत्व) की पुष्टि के लिए कुछ स्थल दिखाते हैं। विस्तारभिया केवल दो ही स्थल दिखा रहें हैं–

(१) 'रुक्क्ँमम्' (यजु० १५.१५) इस शब्द के संयुक्त व्यञ्जनों के विषय में उवट और अनन्तभट्ट लिखते हैं कि '**ककारद्वय-यम-मकाराः**[2] **संयोगाः**'(वा०प्रा० १.१०३)। यहाँ यम की द्वित्वजन्य ककारद्वय से भिन्न परिगणना है। अतः स्पष्ट है कि यम ककारादि से भिन्न अर्थात् वर्णान्तर हैं। इसीप्रकार सभी प्रातिशाख्यों की व्याख्याओ में अनेक स्थल देखे जा सकते हैं।

(२) अब शिक्षा ग्रन्थों में से एक स्थल दिखाते हैं– **अथ चतुरक्षराणामुदाहरणम् ...। यज्ज्ँञौ इति द्वौ जकारौ यमञकारौ** '(सा०गौ०शि० २.१)।[3] इसीप्रकार याज्ञवल्क्यादि अनेक शिक्षाओं में देखा जा सकता है।

शिक्षा, व्याकरण एवं प्रातिशाख्यादि सभी शास्त्रीय प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि यम क्,ख् आदि से भिन्न वर्ण हैं। पुनरपि वर्णान्तरत्व के अभाव की भ्रान्ति क्यों और कैसे हुई, यह समझ से बाहर की बात है।

९. यमों का आगमत्व तथा अंगत्व -

९.१ आगमत्व– यमों का सभी आचार्यों ने आगम के रूप में विधान किया है। जैसे कि **आनुपूर्व्याद्यमानेतान् वर्णयन्त्यागमान् बुधाः** (व्या०शि० ३५६) **'अयमपि वर्णागमो विधीयते'** (शि०प्र०

---

१. यमों का वर्णान्तरत्व आगे 'यमों का प्रयत्न 'के अवसर पर भी दिखाया जायेगा।

२. 'यमे'(वा०प्रा० ४.११४) सूत्र से यम के परे होने पर द्वित्व का निषेध किया गया है। पुनरपि यहाँ द्वित्त्व क्यों और कैसे किया गया, यह विचारणीय है। यदि 'ककार-यम-मकाराः संयोगाः' ऐसा कहा जाता तो अधिक समीचीन होता।

३. अपि च द्रष्टव्य तत्रैव २.२,५,६।

४)। इसीप्रकार प्रातिशाख्यों की व्याख्याओं में भी देखा जा सकता है।[1] उवट ने कहीं-कहीं यमों के लिए आदेश शब्द का भी प्रयोग किया है।[2] परन्तु इन स्थलों में भी उनका तात्पर्य आगम से ही है। क्योंकि स्थानी के अभाव में इन्हें आदेश नहीं कहा जा सकता।

९.२ **अंगत्व**– सभी व्यञ्जन पूर्व अथवा पर स्वर के साथ मिलकर तदङ्गत्वेन गृहीत होते हैं।[3] यतोहि स्वातन्त्र्येण इनकी किसी प्रकार की गति नहीं होती।[4] तद्घटक अयोगवाह भी पूर्व के अंग होते हैं– **'पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते'** (वर्ण०शि० ४१)। तदङ्गभूत यम भी पूर्व स्वर के ही अङ्ग (अवयव) होते हैं। जैसे कि– **यमश्च** (वा०प्रा० १.१०३)। **यमः पूर्वगुणः** (ऋ०त० १.२), (शि०प्र० ४)। **सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि** (या०शि० २१३)।

परन्तु तै०प्रा० में पर स्वर का अङ्ग माना गया है– **'नासिक्याः'** (२१.८)। इस सूत्र से पूर्व स्वर के अङ्गत्व का निषेध किया गया है और पर स्वर का अङ्ग माना गया है।[5] पूर्व व पर के अङ्गत्व के प्रयोजनों का उल्लेख आगे 'यमों की उपयोगिता' के विषय में लिखा जायेगा।

इनके आगमत्व व अङ्गत्व को देखते हुए यह शंका नहीं करनी चाहिए कि ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं है। जैसे कि 'भीषयते' आदि में 'षुक्' आदि आगम वर्णान्तर नहीं हैं। क्योंकि वस्तुतः यम न तो आगम हैं, न ही आदेश। यहाँ (पूर्व उद्धृत प्रमाणों में) इनके अङ्गत्व मात्र अर्थात् इनका पराश्रयत्व मात्र अथवा तदङ्गीधर्मवत्ता मात्र को दिखाना है। इसी में इनका व्यञ्जनत्व एवं अयोगवाहत्व है। जिस प्रकार व्यञ्जन पूर्व व पर स्वर के आश्रित होते व अङ्गत्व बनते हैं, उसी प्रकार यम भी पूर्व व पर स्वर के अङ्ग होते हैं। इतना मात्र तात्पर्य ग्राह्य है, षुगादि आगमों के तुल्य इनका आगमत्व नहीं है। उक्त तात्पर्य को प्रकट करने के लिए ही इन्हें कहीं आगम कहा गया और कहीं आदेश। वस्तुतः यदि वे षुगादि के सदृश आगम होते तो आदेश शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, यदि आदेश होते तो आगम नहीं कहा जाता। जब कि यमों के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है और यमों में टित् व कित् आदि आगमों के लिङ्ग न होने से वे आगम नहीं हो सकते।[6] पुनरपि इन्हें आगम कहा गया है तो उसे भाक्त (गौण) प्रयोग समझना चाहिये।[7] अतः यहाँ आगम और आदेश शब्दों का अर्थ 'उत्पत्ति' लिया जाना चाहिए। जैसे कि 'यमस्वरूप का निर्णय' के प्रसङ्ग (पृ० २७६-२७७) में लिख चुके हैं।

१०. यमों का व्यञ्जनत्व और मात्रा –

१०.१ **व्यञ्जनत्व** – **'अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च'** (तै०प्रा० २१.६), **'इति स्वरं प्रत्यङ्गत्वविधानाद-नुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम्'** (त्रि० र०, तै०प्रा० १.३) यहाँ प्रकट किया गया है कि जो स्वरों के प्रति अङ्ग के रूप में अर्थात् उन्हीं के साथ प्रयुक्त होते हैं, वे व्यञ्जन होते हैं।[8] यही भाव व्यञ्जन की परिभाषा से भी व्यक्त होता

---

१. नासिक्याः (यमाः) वर्णा आगमत्वेन विधास्यन्ते (वै०आ०, तै०प्रा० २१.८), आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति (त्रि०र०, तै०प्रा० २१.१२)।

२. द्र०-ऋ०प्रा० ६.२९।

३. द्र० ऋ०प्रा० १.२२-२६, वा०प्रा० १.९९-१०५, तै०प्रा० २१.१-९।

४. अन्वग्भवति व्यञ्जनम् (म०भा० १.२.२१)। द्र० व्यञ्जन–पा०श० ७।

५. द्र० त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण भाष्य।

६. आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते, लिङ्गेन च। न चात्र षष्ठी, न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः (म०भा० १.१.१)।

७. यथार्थतः न कोई आगम होता है,न ही आदेश। यह तो केवल प्रक्रिया मात्र है। कहा भी गया है–
सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः (म०भा० १.१.२०)। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥

८. ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में उवट ने अनुस्वार को न स्वर माना है और नहीं व्यञ्जन। उसे इन दोनों से भिन्न मानकर उसका ग्रहण अनुस्वार संज्ञा से अथवा वर्ण शब्द से माना है। जैसे 'तत्रोभयधर्मयोगादुभयस्वभावं स्वरव्यञ्जनयोरन्यद् वर्णान्तरं प्रकाशयति– अनुस्वारो व्यञ्जनं स्वरो वा'(ऋ०प्रा० १.५)। प्रातिशाख्यकार शौनक का भी यही मत द्योतित होता है।

है– **अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति** (म०भा० १.२.२९)। इसी भाव को किसी आचार्य ने **'व्यज्यते स्वरसाहाय्य-मादायोच्चार्यत इति व्यञ्जनम्'** के रूप में प्रकट किया है। अयोगवाह भी स्वरों के अङ्गत्व रूप में प्रयुक्त होने से इनका भी व्यञ्जनत्व सिद्ध होता है। जैसे तद्घटक अनुस्वार के विषय में त्रिभाष्यरत्नकार ने लिखा है। अतः यमों का भी व्यञ्जनत्व सिद्ध होता है। महाभाष्यकार के **'अयोगवाहानामट्सु वक्तव्यम्'** (म०भा० हयवरट्) से व्यक्त होता है कि अयोगवाहों को सामान्य रूप से व्यञ्जनत्व प्राप्त है, पर इन्हें स्वरों में भी मानना चाहिए। इस उपसंख्यान से भी अयोगवाहों का व्यञ्जनत्व सिद्ध होने से तद्घटक यम भी व्यञ्जन हैं। पर स्वरों में भी मानना चाहिए। परन्तु यह मत तैत्तिरीय शाखावालों को अभीष्ट नहीं है।[1]

सर्वः[2] **शेषो व्यञ्जनान्येव** (ऋ०प्रा० १.६), **शेषो व्यञ्जनानि** (तै०प्रा० १.६), **व्यञ्जनं कादि, अथ व्यञ्जनानि** (वा०प्रा० १.४७, ८.१४) इसप्रकार व्यञ्जनों के उपदेश में तथा संज्ञा-विधान में यमों का ग्रहण आचार्यों के द्वारा किये जाने से स्पष्ट ही यमों का व्यञ्जनत्व सिद्ध है।

१०.२ मात्रा– समस्त व्यञ्जनों की मात्रा सभी आचार्यों ने आधी मात्रा मानी है। जैसे कि **'ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्'** (तै०प्रा० १.३७), **'इतरे च'** (ऋ०प्रा० १.३४)। परन्तु अनुस्वार को व्यञ्जन सामान्य से प्राप्त आधी मात्रा का निवारण कर ह्रस्व और दीर्घ माना गया है।[3] अनुस्वार को ह्रस्व, दीर्घ मानने से शेष अयोगवाहों की आधी मात्रा का स्पष्टीकरण मिलता है। अतः यम भी आधी मात्रा के हैं। परन्तु आधी मात्रा वाले व्यञ्जनों के समान स्पष्ट उच्चारण न होने के कारण यमों को आधी मात्रा से न्यून मानना अनुचित न होगा। पर इस विषय में किसी आचार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला। हाँ ! अपने इस विचार को प्रमाणित करने के लिये ऋक्प्रातिशाख्य में एक संकेत मिलता है। जिसका विवरण निम्न प्रकार है–

भले ही आज यमों का उच्चारण लुप्त हो गया हो, पर इसका उच्चारण पहले अवश्य होता था। इसके उच्चारण न होने पर एक दोष माना जाता था। अतः उस दोष से बचने के लिये लोग विशेष प्रयत्न करते थे वा ध्यान रखा करते थे। इससे कुछ लोग यमोच्चारण में इतने अभ्यस्त हो गये थे कि पवर्ग और पञ्चम वर्ण के मध्य में दो-दो यमों का उच्चारण करते थे। जिसके निवारणार्थ ऋक्प्रातिशाख्यकार को इसे दोषो में गिनना पड़ा– **'पकारवर्गोपहिताच्च रक्तादन्यं यमम्०'** (ऋ०प्रा० १४.५३)। यथा– **'तृण्णुत'** (ऋ० १.११०.१) का उच्चारण **'तृप्पुँपुँण्णुत'** करना। इन दो यम वा अधिक यम का तात्पर्य यही निकाला जा सकता है कि पवर्ग एवं अनुनासिक के मध्य में यम का उच्चारण तीव्र नासिकता के साथ स्पष्टरूप से प्रकट होता था। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि यम के उच्चारण में तीव्र नासिकता अथवा दीर्घ कालिक नासिकता पूर्वाचार्यों को अभीष्ट नहीं थी। अर्थात् आधी मात्रा में स्पष्टतया उच्चरित होने वाले व्यञ्जनों की भाँति यम का भी उच्चारण अभीष्ट नहीं था। आधी मात्रा से न्यून मात्रा में अर्थात् अदीर्घ (अल्प) कालिक नासिकता के साथ इसका उच्चारण अभीष्ट था।

११. यमों का स्थान, करण और प्रयत्न –

११.१ स्थान– पाणिनि आदि सभी आचार्यों ने यमों का स्थान नासिका माना है।[4] किसी आचार्य ने

---

१. 'अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः'(तै०प्रा० २.३०) की व्याख्या करते हुये गार्ग्यगोपाल यज्वा लिखते हैं 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वेति परमतम्।' तन्निरासार्थमिदमुच्यते। अनुस्वारोप्युत्तमवद् व्यञ्जनमेवास्मच्छाखायाम्'(वै०आ०)।

२. सर्वशब्दो यमादीनां परिग्रहणार्थ इत्युवटस्तत्रैव।

३. ह्रस्व, दीर्घ अनुस्वारों की मात्रा के विषय में आचार्यों का पर्याप्त मतभेद हैं।

४. अनुस्वारयमा नासिक्याः (शिक्षा१.१६)। अथ मुखग्रहणं किमर्थं? 'नासिकावचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत (म०भा० १.१.८)। अपि च द्र०-ऋ०प्रा० १.४८, तै०प्रा० २.४९, वा०प्रा० १.७४, ऋ०त० २.२.२।

नासिकाजिह्वामूल भी माना है।[१] **'यत्र वर्णोच्चारणाय करणं स्पृशति तत् स्थानम्'** (तु०—तै०प्रा० २.३३) की निरुक्ति के अनुसार नासिका को स्थान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहाँ करण (जिह्वा आदि) का स्पर्श नहीं होता। **'यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति, यत्र वोपलभ्यन्त उच्चारणेन इति तत् स्थानम्, अथवा वर्णोच्चारणसमये तिष्ठति स्थिरम्, करणवत् चलायमानो न भवतीति स्थानम्'** के अनुसार नासिका को भी स्थान कहा जा सकता है।

कुँ खुँ आदि यमों में कवर्ग को देखकर ही सम्भवतः कुछ आचार्यो ने यमों को नासिक्यजिह्वामूलीय माना होगा। यतोहि कवर्ग का स्थान पक्षान्तर में जिह्वामूल भी है।[२] परन्तु यम कवर्ग के सन्नियोग में ही नहीं रहता, अपितु अन्य वर्गीय वर्णो के साथ भी रहता है।[३] अतः कवर्ग का जिह्वामूलीयत्व यम में माना जाना उचित नहीं है। इसीलिये सम्भवतः पाणिनि ने सिद्धान्त पक्ष में नासिका मात्र माना है। और यह नासिका स्थान यमों का अपना स्वतन्त्र स्थान है, इसे नैमित्तिक अर्थात् पञ्चम वर्ण के परत्व से यम में नासिक्यत्व आ जाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। इसमें प्रमाण— **'विज्ञेया नित्यनासिक्या यमानुस्वारपञ्चमाः'** (व्या०शि० ४१३), **यमाश्चानुस्वारश्च पञ्चमाश्च नित्यनासिक्याः नासिक्यस्वभावा भवन्तीति ज्ञातव्याः, न तु निमित्ततः इत्यर्थ** (वेदतैजसः—तत्रैव)।

११.२ करण– वर्णो के उच्चारण में करण (अत्यधिक सहायक अवयव) जिह्वा है।[४] परन्तु ओष्ठ्य एवं नासिक्य वर्णो के उच्चारण में जिह्वा का प्रयत्नविशेष न होने के कारण वह करण नहीं बन सकती। फिर ओष्ठ्यादि वर्णो का करण क्या है? उनका अपना स्थान ही करण है— **शेषाः स्वस्थानकरणाः** (शिक्षा० २.८), **समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः** (वा०प्रा० १.८०)। इससे स्पष्ट है कि यमों का करण नासिका ही है। वा०प्रा० में कुछ विशेष उल्लेख भी मिलता है— **'नासिकामूलेन यमाः'** (१.८२)। अर्थात् यमों का उच्चारण नासिकामूल से करना चाहिये।[५]

११.३ प्रयत्न— यमों की उत्पत्ति दो स्पृष्ट वर्णो (अपञ्चम एवं पञ्चमों) की ध्वनियों के मध्य में शुद्ध नासिक्य के रूप में होती है, जो नासिका के मूलभाग में होती है। अर्थात् इनकी उत्पत्ति में आभ्यन्तरयत्न (आस्यप्रयत्न) नहीं होते। इसीलिये यमों के आभ्यन्तर प्रयत्नों के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे यहाँ यह भी स्वतः सिद्ध है कि यम आस्यप्रयत्नक कादि से भिन्न हैं।

शिक्षा के चतुर्थ प्रकरण में बाह्ययत्नों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[६] जो कि निम्न प्रकार है—

---

१. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् (शिक्षा १.१८)।

२. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्व्या एकेषाम् (शिक्षा १.५)।
कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः(व०शि०१.८), ऋ ᳵकुकौ जिह्वामूले (वा०प्रा०१.६५)।

३. कुछ लोग'आत्मा' आदि में आत्क्मँा आदि के रूप में यम का निर्देश करते हैं। जो कि नितान्त अशुद्ध है। 'आत्तँमा' के रूप में ही लिखना चाहिये। क्योंकि कादि यम नहीं हैं, वे आश्रय के प्रदर्शनार्थ ही लिखे जाते हैं। 'त्' के आश्रित प्रथम यम को 'कँ्' के रूप में लिखना अशुद्ध ही है।

४. येन स्पर्शयति तत् करणम् (तै०प्रा० २.३४)।

५. यमाश्चत्वारो नासिकामूलेन क्रियन्ते (=उच्चार्यन्ते) इत्युवटस्तत्रैव। यमानुस्वारनासिक्या नासामूलभवा दशा (व०र०प्र०शि० ३४)।

६. अपि च द्र० - व्या० शि० ३९४।

संज्ञा	यम	बाह्ययत्न			
प्रथम यम	कँ् चँ् टँ् तँ् पँ्[1]	अल्पप्राण	विवृतकण्ठ	श्वास	अघोष
द्वितीय यम	खँ् छँ् ठँ् थँ् फँ्	महाप्राण	विवृतकण्ठ	श्वास	अघोष
तृतीय यम	गँ् जँ् डँ् दँ् बँ्	अल्पप्राण	संवृतकण्ठ	नाद	घोष
चतुर्थ यम	घँ् झँ् ढँ् धँ् भँ्	महाप्राण	संवृतकण्ठ	नाद	घोष

विशेष ध्यातव्य— यम के पूर्व में स्थित अननुनासिक स्पर्श वर्ण के उच्चारण में जिह्वा एवं स्थान का स्पर्श होता है और यम के परवर्ती अनुनासिक स्पर्श वर्ण के उच्चारण में जिह्वा तथा स्थान के स्पर्श के साथ-साथ नासिका का भी प्रयत्न होता है। क्योंकि इसके उच्चारण के समय अलिजिह्वा (कौवा) न तो ढीली रहती है, न ही कठोर। फलतः फेफड़े से आगत वायु कुछ आस्य-विवर में तथा कुछ नासिका-विवर में प्रविष्ट होता है। यम के उभयनिष्ठ वर्णों के एताद्दश प्रयत्नों के मध्य में यम का उच्चारण केवल नासिका से होता है। तब अलिजिह्वा शिथिल रहती है। फलस्वरूप आस्यविवर पूरा बन्द हो जाता है। अतः फेफड़े से आगत सम्पूर्ण वायु नासिकाविवर में प्रवेश करता है। प्रविष्ट होते ही नासिका-मूल में यम का उच्चारण होता है। यह समस्त प्रयत्न मात्र डेढ़ मात्रा वा उससे न्यून मात्रा काल में ही होता है। यतोहि उभयनिष्ठ व्यञ्जन आधी-आधी मात्रा के है और यम आधी से न्यून मात्रा वाला है। ऐसी स्थिति में यम के उच्चारण में उभयनिष्ठ स्पर्श वर्णों के आस्यप्रयत्नत्व की प्रतीति होना स्वाभाविक है। अत एव आचार्य शौनक ने कहा है कि यमों के उच्चारण काल में स्पर्शात्मक आस्य प्रयत्न (ध्वनि) प्रतीत होने लगता है— **'श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला'** (ऋ०प्रा० ६.३३)।[2] इसीलिये तो नासिकास्थान वाले यम स्वरूप के चार होते हुये भी स्थानीरूप लक्षित होकर बीस प्रतीत होते हैं।[3] यम के इस आस्य ध्वनि की प्रतीति के प्रदर्शनार्थ एवं **'यमः प्रकृत्यैव सदृक्'** के आधार पर 'कुँ' आदि में 'क्' आदि पूर्व वर्ण लिखे जाते हैं, पर यम 'क्' आदि नहीं है।

१२. यमों की उपयोगिता— अनेक प्रमाणों से और विविध युक्तियों से जिन कुँ खुँ आदि को यम सिद्ध किया गया है, शब्दशास्त्र आदि में उनका प्रयोजन ही क्या है ? यदि कोई उपयोगिता ही नहीं है तो इन्हें यम मानना वा सिद्ध करना भस्मनिहुतवत् व्यर्थ ही है। परन्तु वैसा नहीं है। इनके अनेक प्रयोजन हैं। तद्यथा—

(१) भाष्य के उपसंख्यान से अयोगवाह घटक यमों को भी अट्प्रत्याहार के अन्तर्गत माना जाता है। इससे णत्वादि कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा— **गृभ्णँामि** (ऋ० १०.८५.३६), **रुग्णँः**(तै०सं० ६.४.११) आदि में यम का व्यवधान होने पर णत्व सिद्ध नहीं होगा। इसीप्रकार शर्प्रत्याहार में भी मान कर जश्त्वादि कार्य सिद्ध होते हैं। जैसे कि— चक्ख्ँनतुः, जग्घ्ँनु आदि।

(२) तै०प्रा० में यमों को पर स्वर का अङ्ग माना गया और शेष सभी प्रातिशाख्यों में तथा सभी

१. यहाँ सर्वत्र प्रथमादि यमों को क्, च् आदि नहीं समझना चाहिये। वह तो केवल प्रत्येक वर्ग के साथ प्रत्येक यम के सन्नियोगत्वमात्र का प्रदर्शन है। अन्यथा स्थानभेद आदि की आशंका होगी।

२. यमोच्चारणेन समानकाला मुखे भवा श्रुतिरस्ति, यया यमस्तद्रूपो लक्ष्यते (उवटस्तत्रैव)। यमोच्चारण आस्यप्रयत्नः केवलं प्रतीयते, परं न भवतीति भावः।

३. यस्माद्यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिस्थानिनां सरूपा लक्ष्यन्ते (उवटस्तत्रैव)।

वैयाकरणों ने पूर्व का अङ्ग माना है।[1] कुछ भी हो दोनों पक्षों के आचार्यों ने अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार अनिष्ट के निवारणार्थ एवं इष्टसिद्ध्यर्थ[2] ही पूर्व व पर का अङ्ग माना है अन्यथा पक्ष की स्थापना निरर्थक होगी।

इस अङ्गत्व का प्रयोजन यह भी है कि **'व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्'** (वा०प्रा० १.१०७) अर्थात् जो व्यञ्जन जिस उदात्तादि धर्मयुक्त स्वर का अङ्ग होता है, वह उस धर्म से युक्त होता है।[3] जैसे कि याज्ञवल्क्यशिक्षा आदि में कहा गया है—

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्।।
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः।। (या०शि० ११८,११९)।
यद् व्यञ्जनञ्च यस्याङ्गं तत्तेन सस्वरं भवेत्। (व०र०प्र०शि० ४९)

अतः व्यञ्जन घटक यम भी पूर्व व पर स्वर के उदात्तादि धर्मों से युक्त होते हैं अर्थात् उस स्वर के साथ (तद्धर्मत्व से) यम का भी उच्चारण होता है (द्र० उवट, ऋ०प्रा० १.२५)। इसी में इनका अङ्गत्व है।

(३) **'यमे'** (वा०प्रा० ४.११४) यहाँ यम के परे होने पर संयोगादि पूर्व वर्ण के द्वित्व का निषेध किया गया है। जो कि **'स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र'** (वा०प्रा० ४.१००) [व्याकरण में **'अनचि च'** (अष्टा० ८.४.४६)] से प्राप्त था।

(४) **'यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा गार्ग्यस्य'** (ऋ०प्रा० ६.३६) यहाँ कहा गया है कि यम से उत्तर नासिका स्थानवाली स्वरभक्ति होती है। यथा— पलिक्क्नीनी (पलिक्क्ँ-इँनी) यहाँ संख्या ३ और ४ में स्पष्ट रूप से यम-संज्ञा का उल्लेख करते हुये प्रयोजन दिखाया गया है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

१३. प्रातिशाख्यों की प्रामाणिकता — प्रसंगतः यहाँ प्रातिशाख्यग्रन्थों की प्रामाणिकता पर भी लिखते हैं। क्योंकि सम्भव है कुछ लोग इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न उठायें। अतः इस विषय में विस्तृत चर्चा न कर दो विद्वद्वरों के विचार प्रस्तुत करता हूँ।

(१) 'पार्षद=प्रातिशाख्य ग्रन्थ आर्ष हैं' (द्र०— रिसर्च स्कालर पं० भगवद्दत्त विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास,' प्रथम भाग, अध्याय— १५)।

(२) 'ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में ऋग्वेदादि के पदपाठ और क्रमपाठ के अध्ययन का विधान किया है। इसलिये हम इन्हें [=प्रातिशाख्यों को] ऋषि दयानन्द द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक ग्रन्थों में गिन सकते हैं।' [क्योंकि पदपाठ और क्रमपाठ के नियम प्रातिशाख्यों में ही विहित हैं।] (द्र० म०म०पं० श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के द्वारा मार्च — १९८५ में प्रकाशित वेदवाणी का 'दयानन्द-विशेषाङ्क-२,' पृ० ७६)।

प्रातिशाख्यों में निरूपित अनेक संज्ञाओं का आश्रय पाणिनि आदि सभी आचार्यों ने लिया है। इससे भी इनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रातिशाख्यों में निरूपित विसर्जनीय, अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि-आदि अनेक संज्ञाओं को यथावत् पाणिनि आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है, तो उनमें निरूपित यम भी पाणिनि आदि को यथावत् स्वीकृत होना चाहिये।[4] यदि नहीं तो यह बताना होगा कि प्रातिशाख्यों में निरूपित यमों को

---

१. द्र०- यमों का आङ्गत्व (पृ० २८८)।
२. इस इष्टत्वानिष्टत्व के कार्य के लिए उदाहरण मृग्य हैं।
३. यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि व्यञ्जनानि तानि तेनैव स्वरेण समानस्वराणि भवन्ति (उवटः, ऋ०प्रा० १.२२)। व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति (म०भा० ६.१.२) का अभिप्राय भी वही है।
४. धातुशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा। ते च क्रियावचनानां संज्ञां कृतवन्तः। तदिहापि (= पाणिनीयव्याकरणेऽपि) पूर्वाचार्यसंज्ञाश्रयणात् क्रियावाचिनामेव भूवादीनां धातुसंज्ञा विधीयते (काशिका १.३.१)।

यथावत् स्वीकार न करने में क्या हेतु है और क्या प्रमाण है? यथावत् स्वीकार करने में हानि ही क्या है?

स्वामी दयानन्द जी के द्वारा स्वीकृत यमों के विषय में भी हमने पूर्व लेख ३.५ ''वर्णान्तरत्व के सिद्धन्त'' लेख के अन्त में विस्तृत विवेचन किया है। अतः जिज्ञासु पाठक वहीं (पृ० २६३-२६८) देखें।

स्वाध्याय और योग

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ (योग ० २.१)

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर का प्रणिधान क्रियायोग कहलाते हैं।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

(व्यासभाष्य, योग०१.२८,वि०पु०५.६.२)

स्वाध्याय से योग में प्रवृत्ति व सिद्धि को प्राप्त करें और योग से स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए। स्वाध्याय एवं योग की सम्पत्ति (सिद्धि) से निश्चय ही परमात्मा का दर्शन होता है।

तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथा परम् ।
न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतस्स शक्यते ॥ (वि०पु० ५.६.३)

परब्रह्म परमात्मा को इन मांसमय चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है, उसे देखने के लिए तो स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ (योग० २.४४)

स्वाध्याय से ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त होता है।

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ (मनु ० १२.८३)

वेद का अध्ययन, चिन्तन-मनन, तप, यथार्थ सत्य ज्ञान की प्राप्ति, इन्द्रियों का संयम, वेदोक्त धर्मक्रियाओं का अनुष्ठन, आत्मा का चिन्तन एवं परमात्मा का ध्यान, ये सभी क्रियाएँ मोक्ष को प्रदान करने वाली हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ (योग ० २.३२)

पवित्रता, प्रसन्नता, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। अष्टांगयोग में एक प्रमुख योगाङ्ग ''नियम'' है। इसमें स्वाध्याय भी एक अनिवार्य नियम है।

३.८. उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन*

वैदिक वाङ्मय में उदात्तादि स्वरों का विशेष महत्त्व है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "**आर्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत । तया वाचा स्वरसम्पन्नया आर्त्विज्यं कुर्यात् । तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव**(श०ब्रा०१४.४.१.२७; बृ०उप० १.३.२५)। यहाँ ऋत्विक्कर्म (यज्ञ) में मन्त्रों को स्वरयुक्त वाणी से बोलने का विधान है। साथ में यह भी कहा गया है कि ऐसे स्वरयुक्त ऋत्विक् को लोग देखने (सुनने)की इच्छा करते हैं। सस्वर पाठ केवल श्रवण के सौष्ठव के लिए ही नहीं अपितु वेदार्थ जानने के लिए भी अनिवार्य है। वेंकटमाधव ने कहा भी है– "**अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति** (ऋ० अनु०१.८.१२)। महर्षि पतञ्जलि ने भी स्वर की अनिवार्यता का निरूपण किया है – "**दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो ऽपराधात्**"[1] (तु० ना०शि०१.१.५)।। "**यो वा इमां पदशः स्वरशो ऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति**" (म०भा०, पस्प०)। नारदीयशिक्षाकार भी यज्ञों में स्वर का विधान करते हैं – **प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते । यज्ञेषु यजमानस्य रुशत्यायुः प्रजां पशून्** ।। (ना०शि० १.१.६) । एकश्रुति[2] के पक्ष में स्वरों का प्रयोजन बतलाते हुए मीमांसा में शबरस्वामी ने कहा है – "**अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति? उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति** (मीमांसा०९.२.३१)। इसप्रकार के अनेकों प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वेद के अर्थावगति में स्वरों की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह उद्देश्य तभी पूर्ण होगा, जब स्वरों का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण ज्ञात होगा। अतः इनके उच्चारण प्रकार को समझाने का प्रयत्न करते हैं –

<u>उदात्त के लक्षण</u> – उदात्त के लक्षणों (जिनसे उच्चारण का प्रकार लक्षित होता है) को आचार्यों ने इस प्रकार बताया है– "**उच्चैरुदात्तः**"(अष्टा० १.२.२९, स०क० १.१.९३, तै०प्रा०१.१.३८, वा०प्रा०१.१०६)। जैनेन्द्रव्याकरण में "**उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ** (१.१.१३) के रूप में कहा गया है तो अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने अपने सारस्वत व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है कि– "**उच्चैरुपलभ्यमान उदात्तः**" (१.२)। '**उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति** (का०१.२.२९)। **समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्** (च०अ०१.१४)। **तीव्रार्थतरमुदात्तम्** (नि० ४.२५)। इस उदात्त के लिए उत्[3], उच्च[4], उद्घात[5], अनत[6] आद्यस्वर, शुद्धस्वर आदि संज्ञान्तर प्राप्त होते हैं।

<u>अनुदात्त के लक्षण</u>– "**नीचैरनुदात्तः**"(अष्टा०१.२.३०, तै०प्रा० १.१.३९, वा०प्रा० १.१०९, च०अ० १.१५,स०क० १.१.९४, सारस्वतव्याकरण-स्वोपज्ञवृत्ति १.२), **उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ** (जै०व्या०), **नीचै–रुपलभ्यमानो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति** (का०१.२.३०)। **अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (निरु० ४.२५)। अनुदात्त के लिए नीच[7], अनुच्च[8], निघात[9], सन्न[10], विक्रम[11] नत[6] आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

---

*. यह लेख वेदवाणी (अगस्त-अक्तूबर २०११ एवं नवम्बर २०२०), आर्षज्योति (अप्रैल-जून २०१३), संस्कृत-मंजरी (दिल्ली संस्कृत अकादमी, अक्तूबर - दिसम्बर २०१९) में प्रकाशित है।

१. हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमनुश्नुते (या०शि० २४)।

२. एकश्रुति का अर्थ उदात्तानुदात्तभेदरहित नहीं है, अपितु उदात्तसदृशध्वनिवाला एक स्वरविशेष है। इसका विशेष प्रतिपादन अग्रिम लेख (पृ० ३१३) में किया गया है, जिज्ञासु पाठक वहीं देखें। ३. ऋक्तन्त्र २.६.१। ४. फिट्सूत्र ४.१०।

५. पुष्पसूत्र १०.९। ६. नातानतिकम् (द्र० काशिका-पदमञ्जर्यौ-४.३.६७)। ७. ऋक्तन्त्र २.६.४,५। ८. फिट्सूत्र- ४.१०।

९. पुष्पसूत्र १०.९, म०भा० २.१.१। १०. अष्टा० १.२.४०। ११.तै०प्रा० १९.१।

स्वरित के लक्षण– **समाहारः स्वरितः** (अष्टा० १.२.३१, तै०प्रा० १.१.४०, स०क० १.१.९५)। **व्यामिश्रः स्वरितः** (जै०व्या० १.१.१४), **समवृत्त्या स्वरितः** (सारस्वतव्याकरण-स्वोपज्ञवृत्ति १.२), **एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः** (ऋ० प्रा० ३.३), **उभयवान् स्वरितः** (वा०प्रा० १.१०), **उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति** (पा०शि० ८.२३), **आक्षिप्तं स्वरितम्** (च०अ० १.१६), **उदात्तानुदात्तसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति** (का० १.२.३१), **उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्** (सि०कौ० ७)। प्रवण[1], द्वियम[2], स्वार[3], रि[4], मध्यम आदि शब्द स्वरित के ही अनर्थान्तर हैं।

लक्षणों का विवेचन– उदात्तादि तीनों स्वरों के लक्षणों का निष्कर्ष यह है कि उच्चध्वनि, नीचध्वनि एवं मध्यमध्वनियों को क्रमशः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित कहते हैं। परन्तु किसी भी लक्षण में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व क्या होता है ? इसका कारण यह हो सकता है कि पाणिनि आदि आचार्यों के समय तक वेदमन्त्र ही नहीं, अपितु लौकिकभाषा में भी उदात्तादि स्वरों का उच्चारण व्यवहार में था। इसके लिए अनेकों स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। काशिकाकार ने कहा भी है कि **''उदात्तादिशब्दाः स्वरे वर्णधर्मे लोकवेदयोः प्रसिद्धा एव''** (१.२.२९), **''लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते''** (१.२.३१)।[5] लौकिक व्यवहार और वेदपाठ में उच्चैस्त्व तथा नीचैस्त्व सर्वविदित होने के कारण उनकी अवगति के लिए किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई ।[6] पर आज वे सन्देहास्पद बने हुए हैं। क्योंकि सम्प्रति लोक में संस्कृतभाषा का प्रचलन व व्यवहार ही नहीं, स्वरोच्चारण का कहना ही क्या है? वेदमन्त्र भी विस्वर पढ़े जाते हैं। ऐसी स्थिति में उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व अननुभूत होने से विशेषतया व्याख्यातव्य बन जाते हैं।

'उच्चैः' शब्द महान्, अत्यधिक, ऊँचे शब्द और ऊँचे देश या स्थान अर्थों में प्रयुक्त होता है। सभी अर्थों में यह अव्यय अधिकरण प्रधानार्थक है। अधिकरण कारक होने से क्रिया की अपेक्षा रखता है। **''उच्चैरुदात्तः''** सूत्र में **'उच्चैः'** शब्द अधिकरणभूत ऊर्ध्वस्थान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसका अधिकरणत्व उपलब्धि या उच्चारण क्रिया के प्रति है।[7] अत एव काशिकाकार ने **''उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच्०''** ऐसा अर्थ किया।[8] अब सूत्रस्थ **'उच्चैः'** शब्द का अर्थ यह निकलता है कि 'ऊर्ध्वस्थान में उपलभ्यमान'। 'ऊर्ध्व' शब्द अवयववाची होने से 'अवयवी' की भी अपेक्षा रखता है, जिसमें ऊर्ध्व, अधः आदि अवयव विद्यमान हों।[9] सूत्र का निष्कृष्ट अर्थ यह निष्पन्न होता है– **'वर्णाभिव्यक्ति में समर्थ एवं अवयवीभूत कण्ठादि स्थानों के ऊर्ध्वावयव में उपलब्ध या उच्चारित अच् उदात्तसंज्ञक होता है।** यही अर्थ 'उदात्त' इस महती संज्ञा से भी द्योतित होता है। यतोहि महती संज्ञाएँ अन्वर्थक होती हैं।[10] उदात्त शब्द उत्पूर्वक आङ्पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बनता है, **स्व-स्व-स्थानस्य उत्=उच्चैः=ऊर्ध्वभागे आदीयते=गृह्यते=उच्चार्यते यः स उदात्तः।**[11] यहाँ एक जिज्ञासा

---

१. तै०प्रा० १.४७; २. तै० प्रा० १९.३; ३. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते (या०शि० २२८), अपि च द्र० व०र०प्रा० शि० १०२,१०३; ४. सामतन्त्र ७.५.६;

५. उदात्तत्वादीनामज्धर्मतया एव लोकप्रसिद्धत्वेन (ल०शे०)।

६. लोकप्रमाणता के आधार पर प्रणीत अशिष्यप्रकरण के सूत्र (अष्टा० १.२.५३-५७) हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।

७. उच्चैरित्यधिकरणशक्तिप्रधानम्, अधिकरणत्वञ्चोच्चारणं प्रति (ल०शे०, बृ०शे०)।

८. उच्चैरित्यस्याधिकरणप्रधानत्वात् क्रियापेक्षत्वाच्चाधिकरणस्योपलभ्यमान इत्युक्तम् (पद० १.२.२९)।

९. ऊर्ध्वावयवस्य चावयव्यपेक्षायां तालुकण्ठादिवर्णाभिव्यक्तिस्थानानामित्यर्थाल्लभ्यते (बा०म० ५)।

१०. अन्वर्थत्वं महासंज्ञाः व्यञ्जयन्त्यर्थान्तराणि च (गार्ग्यगोपालयज्वा, तै०प्रा० १.२)।
महत्याः संज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत (म०भा० १.२.४३)।

११. ऊर्ध्वम् आत्तमिति चात उदात्तम् (म०भा०– १.२.३२)।

होती है कि उदात्तादि लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं, जैसे कि पूर्व में कहा गया है, तो पाणिन्यादि लक्षणकारों को ''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षणों को बनाने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान देते हुए काशिकाकार लिखते हैं कि ''**त इह तद्गुणेऽचि परिभाष्यन्ते**''। इसका आशय यह है कि लोकादि में उदात्तादि शब्द वर्णों के गुणों वा धर्मों के लिए प्रसिद्ध हैं, न कि वर्णों के लिए। लोकप्रचलित अर्थ व्याकरण में ग्रहण करने से ''**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**''(अष्टा० ८.४.६५) इस सूत्र का 'उदात्त गुणों से उत्तर अनुदात्त गुणों को स्वरित गुण हो जाता है', इस प्रकार का अनभीष्ट अर्थ गृहीत होता है। इस अर्थ में यह दोष है कि गुणों में कभी भी पौर्वापर्यभाव और स्थान्यादेशभाव उपपन्न नहीं हो सकते।[1] अतः लक्षणों के द्वारा उदात्तादि गुणों को गुणवान् अचों में परिभाषित किया जा रहा है, ऐसा अभिप्राय काशिकाकार आदि वैयाकरणों का है।[2]

उपरोक्त चर्चा से विशेषतया ध्यातव्य विषय यह है कि ''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षण उदात्तादि के गुणी या धर्मी अचों के हैं, न कि गुणों वा धर्मों के। सभी शिक्षाकार,प्रातिशाख्यकार और वैयाकरणों ने उदात्तादि गुणों को बाह्ययत्न माना है, स्वयं पाणिनि का भी यही मत है।[3] पाणिन्यादि आचार्य इन्हें बाह्ययत्न मानते हुए 'कण्ठादि के ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न अच्' ऐसा अन्तःप्रयत्न (आस्यप्रयत्न) के रूप में कैसे लक्षण कर सकते हैं? अतः ये लक्षण अन्तःप्रयत्नजन्य अचों के बोधक हैं। अर्थात् **नाभि से उत्थितवायु कण्ठ आदि स्थानों के ऊर्ध्वभाग में आघात करने पर उत्पन्न हुआ वर्ण 'उदात्त' कहलाता है।**[4] यहाँ यह भी अवधेय है कि ये गुण अचों के हैं और अज्वर्णों के उच्चारण में जिह्वादि करणों का कण्ठादि स्थानों में स्पर्श होता ही नहीं है। करण स्वरसीमा के अन्दर ही रहकर वायु को तत्तद् स्थानों में अभिघात कराता है। जिससे उदात्तादि गुणवान् अज्वर्णों की उत्पत्ति होती है, अस्तु।

''**उच्चैरुदात्तः**'' आदि लक्षणों का इतना व्याख्यान समझने पर भी उदात्तादि का उच्चारण अज्ञात, अप्रत्यक्ष ही प्रतीत होता है। क्योंकि जब तक उदात्तवान् अचों की निष्पत्ति के कारणभूत, निमित्तभूत बाह्ययत्नों को हृदयंगम नहीं कर लिया जाता, तब तक अचों का उदात्तत्व (ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्व) अज्ञात या अप्रत्यक्ष ही रह जाता है।[5] अत एव काशिकाकार को पुनः ''**यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामायामः= निग्रहो भवति ०**'' इस बाह्ययत्नविषयक लक्षण को प्रस्तुत करना पड़ा[6] और यह लक्षण काशिकाकार का स्वकीय नहीं है, अपितु '**उच्चैरुदात्तः**' आदि सूत्रों के प्रणेता महर्षि पाणिनि भी अपनी शिक्षा में लिखते हैं कि ''**तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी**

१. सत्यं प्रसिद्धा एव ते [=उदात्तादयः शब्दाः], कुत्र प्रसिद्धाः? धर्ममात्रे स्वरे [=ध्वनौ], न तु तद्वत्यचि। ततश्च 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' इति स्वरिताख्यस्य धर्मस्यैव विधिः स्यात्, न च धर्मधर्मिणोः स्थान्यदेशभावः सम्भवतीति.... 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्येतदपि न प्रवर्तेत (पद०)।

२. द्र० न्यासपदमञ्जर्यौ; अपि च– समानस्थाने मूर्ध्न आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर **उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति** (वैदिकाभरण, तै०प्रा० १.३८)।।

३. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता। घोषाऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः।। बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः (शिक्षा– ८.३०,३१)।

४. प्रयत्नप्रेरितो वायुर्यदोर्ध्वभागे प्रतिहतोऽचं व्यञ्जयति तदा स उदात्तः(द्र०शब्देन्दुशेखरद्वयम्)। अष्टौ स्थानानि......स्थानानि, तेषु चोच्चनीचसमभेदात् त्रयोऽशास्तत्र नाभिदेशादूर्ध्वमाक्रामदुदानवाय्वभिघाताद् वर्णाभिव्यक्तिस्तत्रोच्चभागेऽभिव्यक्त उदात्तः (पाणिनीयशिक्षा की प्रभाटीका पृ० १.२)। स्पष्ट है समानस्थान के ऊर्ध्वादि भागों में वर्णाभिव्यक्ति के लिए नाभिप्रदेश प्रक्रम (प्रारम्भिक) के यत्न अनिवार्य हैं। अर्थात् आयामादि बाह्ययत्नों से ही ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि अन्तःप्रयत्न उत्पन्न होते हैं । अत एव काशिकाकार को द्विविधप्रयत्नपरक लक्षण बताना पड़ा।

५. संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः (शांकरभाष्यम्, वेदा० १.३.२८)।

६. ऊर्ध्वभागनिष्पत्तेरप्रत्यक्षत्वाद् तन्निश्चये लिङ्गमाह– यस्मिन्निति (पदमञ्जरी)।

प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते (शिक्षा–८.२१)। अन्य आचार्यों के भी इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं।[1] इन्हीं कारणभूत बाह्ययत्नों से कार्यभूत अन्तःप्रयत्न निष्पन्न होते हैं। अतः ये बाह्ययत्नविषयक (=गुणबोधक) लक्षण अन्तःप्रयत्नविषयक (=गुणीबोधक) लक्षणों के पूरक हैं। जैसे गुण-गुणी में विधर्मता नहीं हो सकती है, वैसे ही इन द्विविध लक्षणों में भी कोई विधर्मता नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, इनमें जन्यजनकताभाव या कार्यकारणभाव है। आयामादि बाह्ययत्नों के विना ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि अन्तःयत्न सम्भव नहीं है और ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वरूपी लक्षण (उच्चैरुदात्तः) के विना आयामादि गुणबोधक लक्षण निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि गुणी के विना गुण, आश्रय के विना आश्रयी का अस्तित्व नहीं रहता। अत एव महर्षि पाणिनि को शिक्षाशास्त्र में आयामादि गुणबोधक लक्षणों के उपदेश के बाद अष्टाध्यायी में गुणी बोधक '**उच्चैरुदात्तः**' आदि लक्षणों को भी बताना पड़ा। इसी प्रकार का विवेचन "**नीचैरनुदात्तः**" एवं "**यदा मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वाद् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तमाचक्षते**" (शिक्षा–८.२२) इन लक्षणों में भी जान लेना चाहिए। इतने विवेचन के पश्चात् मैं यह कहना चाहता हूँ कि जो परम्परया उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में पूर्ण अभ्यस्त हैं तथा लक्षणविद् भी हैं, उनके लिए आयामादि बाह्यलक्षण एवं ऊर्ध्वभागनिष्पन्नत्वादि उदात्त के लक्षण अनुभव से बाहर नहीं है। हाँ ! जो केवल उच्चारण मात्र जानता है, लक्षणों को नहीं अथवा जो लक्षणमात्र को जानता है, उच्चारण को नहीं, उनके लिए तो ये विषय अनुभूत नहीं हो सकते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य में त्रैस्वर्य का लक्षण इसप्रकार प्राप्त होता है कि–

"**उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।**
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते।। (ऋ०प्रा० ३.१)

इसकी व्याख्या करते हुए उवट लिखते हैं– "**आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणां, तेन य उच्यते स उदात्तः। विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्। आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्**"। यहाँ स्पष्टरूप से व्याख्यात है कि उदात्त के उच्चारण में वायु के निमित्त से शरीरावयव ऊर्ध्वगमन करते हैं तो अनुदात्त के उच्चारण में अधोगमन। उदात्त और अनुदात्त के उच्चारण में उपयुक्त सभी अवयवों में यदि ऊर्ध्वगमन और अधोगमन होता है, तो उसमें जिह्वा अपवाद नहीं हो सकती। जब कि जिह्वा वर्णोच्चारण में उपयुक्त सभी अवयवों में प्रधानतम साधन है। इतना ही नहीं उवट के वचन में 'गात्र' शब्द का मुख्य अर्थ 'जिह्वा' ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वरित के उच्चारण में वायुनिमित्तक जो तिर्यग्गमन (आक्षेप) कहा गया है[2], वह जिह्वा के अतिरिक्त किसी अन्य गात्रावयव में देखा नहीं जाता। अतः जब उदात्त इवर्ण एवं अनुदात्त इवर्ण का उच्चारण करना होगा, तब जिह्वा की गति अन्य अवयवों के सदृश तालु स्थान में ही क्रमशः ऊर्ध्व एवं अधः भाग की ओर होगी ही।[3] इसमें सन्देह का अवसर ही नहीं है। जहाँ तक अप्रत्यक्षत्व या अननुभवत्व का प्रश्न है, वह एक सामान्य व्यक्ति व स्वरोच्चारण के अनभ्यस्त व्यक्ति के प्रति कथित कथन है। सूक्ष्मदर्शी वा

---

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकरणानि शब्दस्य (तै०प्रा० २२.९, म०भा० १.२.२९,३०)। आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः(उवटः ऋ०प्रा० ३.१, अपि च द्र० वाज० प्रा० १.१०६)। समानस्थाने मूर्ध्नि आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर **उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति** (वै०आ०, तै०प्रा० १.३८)। उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स उदात्त उदाहृतः। आयामो दृढता सौक्ष्म्यं गात्रेऽङ्गेषु तथा गले। उच्चत्वकारकानेतानाहुः प्राज्ञा विशेषतः (कौ० शि० –३)।

२. इस के लिए मद्विरचित 'शिक्षाशास्त्र' की भूमिका, पृ० ३९-४० देखें और इस ग्रन्थ में पृ० २२२।

३. उदात्तोच्चारणे तस्य देहदैर्घ्यं भवेद्यतः। उच्चारणेऽनुदात्तस्य देहस्य ह्रस्वता भवेत् (व्या० शि० २८८,२८९)। यहाँ भी

सूक्ष्मनिरीक्षक के लिए तो वह सब प्रत्यक्ष एवं अनुभूत का ही विषय है। वर्णों के नाद, श्वास, घोष, अघोषादि गुण भी सभी के लिए प्रत्यक्षविषयक नहीं है, तो क्या कोई इनका भी निषेध कर सकेगा ?

अब महाभाष्य की ओर प्रस्थान करते हैं– १.१. "**इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित् प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित् कञ्चिदधीयानमाह किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीच-मनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात् [उदात्तादेः] संज्ञाया अप्रसिद्धिः।**

१.२. एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते – आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य [=अचः] (तै०प्रा० २२.९)। **आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य [=अचः]। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य [=अचः]** (तै०प्रा० २२.१०)। **अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य [=अचः]।**

२.१. एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्ध्यल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः।।

२.२. सिद्धमेतत्। कथम्? समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति।[1] (म०भा० १.२.२९,३०)।

भाष्यकार ने यहाँ दो खण्डों में अपने मत को प्रश्नोत्तर की शैली में प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम सूत्रस्थ उच्चैः, नीचैः शब्दों के श्रुतिप्रकर्ष अर्थ को लेकर उन्हें अनवस्थितपदार्थक कहा है, अर्थात् श्रुतिप्रकर्ष अर्थ को अप्रासंगिक मानकर निराकरण कर दिया। तत्पश्चात् आयाम, अन्ववसर्ग आदि के द्वारा उच्चत्व एवं नीचत्व का सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत कर दिया। पुनः द्वितीय खण्ड में आक्षेप उठाया कि उदात्तादि गुणों के कारणभूत आयामादि यत्न वक्ता के शरीरगत होने से वक्ता के ही अनुभव में आ सकते हैं, न कि श्रोता के अनुभव में। **श्रोता को तो कार्यभूत श्रुतिप्रकर्ष ही अनुभूत होता है, जो कि अनवस्थितपदार्थक ही है।** यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रथम खण्ड के आक्षेप और द्वितीय खण्ड के आक्षेप के भाव व तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। तथा च "**एतदप्यनैकान्तिकम्०**" शब्दों से भाष्यकार ने जो आयामादि लक्षण का निराकरण किया है, वह श्रोता की अपेक्षा से है, न कि वक्ता की अपेक्षा से। अर्थात् वक्ता को वे अनुभूतविषयक होने से वक्ता की दृष्टि में भाष्यकार ने आयामादि लक्षण को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है, सर्वथा निराकरण नहीं किया। अन्यथा अर्वाचीन आचार्य पौनःपुन्येन इन्हीं लक्षणों को उद्धृत नहीं करते। अस्तु, अब उदात्तादि स्वर श्रोता[2] को भी अनुभव के विषय बन सके, उसके लिए[3] उत्तर देते हैं कि "**समाने प्रक्रमे......उरः, कण्ठः, शिर इति।** यहाँ भाष्यकार ने जिस

स्पष्टतया कहा गया है उदात्तानुदात्त के उच्चारण में अध्येता के शरीरावयवों में क्रमशः दीर्घता एवं ह्रस्वता होती है। यहाँ भी शरीरावयवों में जिह्वा अपवाद नहीं हो सकती। इवर्ण के उदात्त तथा अनुदात्त गुणों का उच्चारण करते समय क्रमशः जिह्वा में दीर्घता एवं ह्रस्वता होगी, परिणामतः उदात्त के उच्चारण में वायु का आघात तालु के ऊर्ध्वभाग में होगा और अनुदात्त के उच्चारण में तालु के अधोभाग में।

१. भाष्यकार के इस अन्तिम समाधान पर सभी विद्वान् गम्भीरता से विचार करें। क्योंकि जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है, प्रायः सभी विद्वानों ने यहाँ बड़ी कठिनाई का अनुभव किया है। इसमें कैयट, पं० मधुसूदन ओझा आदि भी अपवाद नहीं हैं। सभी ने अपने-अपने ढंग से निष्कर्ष निकाला है। मैं भी अपनी स्वल्पमति के आधार पर संगति व समाधान प्रस्तुत कर रहाँ हूँ।

२. यहाँ श्रोतृशब्द छात्रादि का उपलक्षक है।

३. श्रोता हि वक्तृगतानायामादीन् धर्मान् कार्यादवस्यति, कार्यं च संकीर्णम्। तथाहि महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन् स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति (प्रदीपः)। उद्योतोऽप्यत्र द्रष्टव्यः।

उद्देश्य से अन्तिम समाधान दिया है, उसे उसी के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। यद्यपि कैयट ने 'प्रक्रम' का अर्थ 'स्थान' कर लिखा है कि "**एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधरभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते, नीचैरित्यधरभागः।**" यह व्याख्यान श्रोतृविषयक न होने से भाष्यविरुद्ध सिद्ध होता है। अतः कैयट का व्याख्यान अनुचित ही है। यह व्याख्यान इसलिए भी अनुचित है कि कैयटकृत वह अर्थ तो सूत्र से भी प्राप्त हो जाता है। जैसे कि लेख के आरम्भ में वर्णन किया गया है। सूत्र से ही वह अर्थ ज्ञात होने के कारण ही और समाधानान्तर के विद्यमान होने से भाष्यकार ने उसे '**उच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्**' आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत नहीं किया।

पाठकों का ध्यान पुनः एक बार इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उच्चत्वादि के अनवस्थितपदार्थक प्रश्न का सैद्धान्तिक समाधान भाष्यकार ने अपनी ओर से आयामादि के रूप में दे दिया है। उरः, कण्ठ और शिरः के समानप्रक्रम का समाधान केवल श्रोता की संतुष्टि के लिए प्रस्तुत किया है। भाष्यकार के आशय को समझने से पूर्व यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि संगीत के षड्ज, ऋषभ, गांधार आदि सप्त स्वरों के प्रशिक्षण काल में अध्यापक छात्रों (श्रोताओं) की सुविधा के लिए हस्तादि अवयवों का विशेष रूप से संचालन करता है, जिससे उन स्वरों के उच्चारण प्रकार का बोध सरलतया हो जाता है और वैसे ही हस्तादि का संचालन उन छात्रों से भी कराया जाता है, जिससे कि हस्तादि के साथ-साथ तदनुकूल शरीरगत प्रयत्नों का अभ्यास हो सके। ऐसा ही सामगान के प्रशिक्षण में भी देखा जाता है, अपि च तद्विषयक ग्रन्थों में हस्तादि के संचालन का विधान भी मिलता है। पर जब पूर्ण अच्छा अभ्यास हो जाता है, तब उन हस्तादि के संचालनों को छोड़ा भी जाता है। इतना ही नहीं जब गायकवृन्द सामूहिक रूप से गान करते हैं, तो उनके सामने एक व्यक्ति विना गायन के ही केवल हस्तादि का सञ्चालन करता है । जिससे गायकों के स्वर, श्रुति, लय आदि में एकता व समानता बनी रहे। लिखने का तात्पर्य यह है कि सामने के व्यक्ति या श्रोता को स्वरबोध कराने के लिए हस्तादि का संचालन किया जाता है, यह सर्वविदित ही है। अस्तु, प्रकृतमनुसरामः। उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में भी कहा गया है कि–

समं स्वरं पठेन्नित्यं मार्गं हस्ते प्रदर्शयेत्।
यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्॥
दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम्।
नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषये विदुः॥ (चा०शि०, पूना पां०सं० २१,२५; गटिंगनपत्र ६)
यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति॥
यथा धनुष्यऽऽवितते शरे क्षिप्ते पुनर्गुणः।
स्वस्थानं प्रतिपद्येत तद्वद्धस्तगतः स्वरः॥ (या०शि० ४६,४७)

अपि च द्रष्टव्य कौहलिशिक्षा (३६), मल्लशर्मकृता शिक्षा (७)। इन वचनों में स्पष्टतया कहा गया है कि वाणी उच्चत्व आदि जिन अवस्थाओं में रहती है, उन अवस्थाओं को पाणि के द्वारा दिखावें। वाजसनेयप्रातिशाख्य में भी उदात्तादि स्वरों को हाथ से प्रदर्शित करने का उल्लेख है– "**हस्तेन ते**" (१.१२१)।

उदात्तादि का बाह्यप्रदर्शन निम्नप्रकार से किया जाता है– "**तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य।**" (उवटः, वा०प्रा० १.१२१)। "**हृद्यनुदात्तः, मूर्धन्युदात्तः, श्रुतिमूले स्वरितः**" (प्र०सू०, परिशिष्ट– १.४-६)। इन सूत्रों के अनन्तभाष्य का कथन है– "**हृदयसमीपे दक्षिणहस्तेनानुदात्तप्रदर्शनं भवतीति भावः....। मूर्धनि मुखप्रदेश इत्यर्थः...। उदात्तानुदात्तधर्मविशिष्टः स्वरितः श्रुतिमूले दक्षिणकर्ण-मूलसमीपे दर्शनीयमिति।** श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में भी वर्णित है–

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः॥ (पा०शि० ४८; शै०शि० पृ० ७)
उदात्तं भ्रुवि पातेन प्रचयं नासिकाग्रतः।
हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु तिर्यग्जात्यादिकाः स्वराः॥ (प्रा०प्र० १.११)
अनुदात्तादुदात्तश्चेत्स्वरितोत्तर एव च।
हृच्छिरः कर्णमूलेषु न्यसेद्धस्तमसंशयम् ॥
अनुदात्तादुदात्तश्चेदनुदात्तपरस्तथा।
अनुदात्तं हृदि न्यस्योदात्तं वामभ्रुवि न्यसेत्॥
पुनर्हृदि न्यसेन्नीचमिति शास्त्रव्यवस्थितिः।
प्रचितोच्चारणे न्यासो हस्तस्य नासिकाग्रतः॥ (के०शि० १.३)

इसी बात को भाष्यकार ने कहा कि आयामादि प्रयत्नजन्य उदात्तादि को 'उरः, कण्ठः, शिरः' से श्रोतृगण के अवबोधार्थ प्रदर्शित करें।[१] इस प्रसंग में भाष्य के **'प्रक्रम'** शब्द का नाभितल के प्रयत्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है।[२] क्योंकि वह तो **'आयामो दारुण्यं...'** के अन्तर्गत ही गृहीत होता है। नाभितल के यत्न आयामादि से भिन्न नहीं हैं, अपितु नाभितल के यत्नों से ही आयामादि यत्न निर्वर्तित होते हैं। भाष्यस्थ **'प्रक्रम'** शब्द का तात्पर्य **उदात्तादि के उच्चारण में आयामादि बाह्ययत्न एवं ताल्वादि के ऊर्ध्वभागस्थ अन्तःप्रयत्नों के साथ-साथ हस्तसंचालन की क्रिया भी प्रारम्भ होनी चाहिए।** इसी के लिए भाष्य में **''समानप्रक्रम''** (=एकसाथ क्रियाद्वय का प्रारम्भ) शब्द का प्रयोग किया गया है। यही भाव नीचे के श्लोकों में वर्णित है –

निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे शास्त्रार्थमनुचिन्तयन्॥
सममुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन[३] च।
स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वयं तु युगपद् भवेत्॥
हस्तात् भ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।
(शै०शि०पृ० ८; या०शि० २२-२४; तु० मा०शि० ३०-३१)

इन श्लोकों में प्रयुक्त **'हस्तेन च मुखेन च समम्'** एवं **'द्वयं युगपद्'** शब्दों से **'समानप्रक्रम'** शब्द के मत्कृत अर्थ की पुष्टि होती है।[४]

भाष्यकार के उक्त आशय को समझे विना ही पौराणिक जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् **पं० मधुसूदन ओझा जी** ने अपने **''वर्णसमीक्षा''** नामक ग्रन्थ में काशिकादि को उपेक्षणीय लिखा है– **''यत्तु कैयटेन प्रक्रमः स्थानमुच्यते, स्थानञ्च ताल्वादिकमूर्ध्वाधरभागयुक्तम्...... इत्येवं व्याख्यातम्। काशिकाकौमुदी-कारादिभिरपि कैयटवर्त्मैवानुसृतम्। तदेतत् सर्वं भगवत्पतञ्जल्यादिमहर्षितात्पर्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। न हीमानि ताल्वादिस्थानानि तथोर्ध्वाधरभागयुक्तानि श्रूयन्ते वा स्मर्यन्ते वानुभूयन्ते वा।** [५] **तिर्यग्भागैः**

१. स्वरित का प्रदर्शन भाष्य में कण्ठदेश से कहा है तो उद्धृत वचनों में श्रुतिमूल या कर्णमूल के प्रदेश से कहा गया है। वैसे ही उदात्त के प्रदर्शनार्थ भाष्य में शिरोदेश का वर्णन है, तो उक्त वचनों में मूर्धा व भ्रू (वामभ्रू) देश का उल्लेख है।

२. नाभितल के प्रयत्न वक्ता के अनुभूत विषयक हैं, न कि श्रोता के।

३. यहाँ 'मुख' शब्द आयामादि बाह्ययत्नों का भी उपलक्षक है।

४. (विधिप्रक्रमतादर्थ्यात्) विधिः= विधानम्, तदङ्गानां प्रयोगः। तस्य [विधानस्य, प्रयोगस्य] प्रक्रमः=तदर्था प्रवृत्तिः (मी०शा०भा० १२.१.१)। यहाँ भी प्रक्रमशब्द प्रवृत्ति, प्रारम्भ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

५. ताल्वादि के ऊर्ध्व, अधर, मध्य विभागों को सप्रामाणिक युक्तियों से लेखारम्भ में सिद्ध कर चुके हैं। और यह भी बताया

सभागत्वेऽप्यूर्ध्वाधरभागैः सभागत्वस्याप्रामाणिकत्वात्। अथ खल्वेकैकस्मिन् स्थाने प्रकल्पितेषु अग्रमध्यमपश्चाद्भागेषु उच्चादीनामभिनिष्पत्तिरिष्यते इति चेत् – स्यादेतदेवम्, यदि नाम ताल्वादिनि स्थानानीह विवक्षितानि स्युः। न च तथा विवक्षां पश्यामः। द्विविधानि हि वर्णस्थानानि भवन्ति- सवनस्थानानि च मुखस्थानानि च। तत्रोरःकण्ठशिरोरूपस्त्रिभिः सवनस्थानैरेवैतेषां सम्बन्धः सूत्रवार्त्तिक-भाष्येषु प्रदर्श्यते। ....तस्मात् ताल्वादिसभागस्थानेषूर्ध्वभागनिष्पन्न उदात्तः। अधोभागनिष्पन्नो ऽनुदात्त इत्येवमुक्तिः केषाञ्चिदपदार्थत्वादुपेक्ष्येति दिक्'' (पृ०१४४)। ओझा जी के इन विचारों से पूर्ण सहमत होते हुए इन्हीं युक्तियों से डॉ० विजयपाल प्रचेता जी ने भी एक शोधलेख लिखा है, जो कि आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी के अभिनन्दनग्रन्थ (पृ० १५५-१६३) में और वेदविद्या (जनवरी-जून २०१२, पृ० ११३-१३०) में ''कैयटादिभाष्यव्याख्याताओं की उदात्तादिस्वरूपविषयक महती भ्रान्ति'' के शीर्षक से मुद्रित हुआ। अब इनके विचारों की समीक्षा की जाती है–

उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि सन्ति चाप्यधरोत्तरे॥ (ना०शि० १.१.७)

इन सवनों के विषय में स्वमत प्रकट करते हुए ओझा जी ने लिखा है– ''सवनः प्रक्रमः। मूलस्थानात् प्रक्रममाणस्य गम्यस्थानसंसर्गं यावन्मध्यतः संविभक्ते पर्यवस्थाने यो यः संयोगः स सवनः। स प्रायेण सर्वत्र त्रेधा कृत्वाभ्युपगम्यते ''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'' इति...। इह नाभिस्थानादुत्थितस्य वायोरुरसि प्रथमः प्रक्रमः।[1] कण्ठे द्वितीयः। शिरसि तृतीयः।.....अस्ति किञ्चिदुच्चारणमुरसैव प्रक्रमते, न कण्ठान्न शिरसः। अपरे कण्ठादेव नोरसो न शिरसः। अथान्यच्छिरस एव नोरसो न कण्ठात्। तथा चैते त्रयः स्वराः सिद्धाः मन्द्रः, मध्यः, तारश्चेति।

हृदि मन्द्रो गले मध्यो मूर्ध्नि तार इति क्रमात्॥ इति

प्रातःसवनोच्चारणे गम्भीरः स्वरो भवति स मन्द्रः। स एष उरःकण्ठशिरःस्थानानामौत्तरा-धर्यक्रमेण सन्निविष्टानामधरादुत्पन्न इत्यनुदात्तः। मध्यन्दिनसवनेनोच्चारणे तु मध्यः स्वरो जायते। स स्वरितः मन्द्रतारोभयधर्मवत्वात्। अथ सायंसवनेनोच्चारणेऽत्युच्चैः स्वरो जायते। स तारः। स उदात्तः। उच्चस्थानगृहीतत्वात् (वर्णसमीक्षा– पृ० १३५-१३६)।

कः पुनरसौ प्रक्रम इति चेदुच्यते, वर्णस्वरूपसम्पत्तये नाभ्युत्थितो वायुः प्रथमं यदाहत्य, यत्र वाऽऽत्मानं निपात्य पुनः क्रममाणो वर्णान् जनयति स प्रक्रमः। स त्रिविधः, उरः कण्ठः शिरः इति (तत्रैव– पृ० १४२)।

इन्हीं विचारों को अन्यान्य शिक्षाकार आदि के वचनों को उद्धृत करते हुए डॉ० प्रचेता जी ने अपना शोधलेख लिखा है। इन दोनों विद्वानों का मत यह है कि वर्णों को उत्पन्न करने के उद्देश्य से अग्निप्रेरित वायु नाभितल से उत्थित होकर मध्य में अर्थात् मुख में वर्णों को उत्पन्न करने से पूर्व ही कुछ स्थानों पर आघात करता है, वे आहत स्थान एक, दो या तीन भी हो सकते हैं, उस से अधिक नहीं। वे तीन स्थान हैं,– उरः, कण्ठः, शिरः। इन्हीं तीन स्थानों को सवन या प्रक्रम कहते हैं। इन्हीं स्थानों से क्रमशः अनुदात्त, स्वरित और उदात्त गुणों की उत्पत्ति होती है। ये सब विषय अविचारितरमणीय अवश्य हैं, पर तथ्य से सुदूर हैं। क्योंकि इनके मत में स्वरित का उच्चारण तब

जा चुका है कि इन भागों से उच्चारण करना अनुभव से बाहर नहीं है।

१. उदात्तादि के उच्चारण के प्रसंग में एवं भाष्य के प्रकरण में 'प्रक्रम' शब्द का नाभितलगत वायु से अथवा प्रयत्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा सप्रमाण प्रतिपादन किया जा चुका है। साथ में यह भी प्रतिपादित है कि स्वर के उच्चारण के साथ-साथ हस्तप्रदर्शन का प्रक्रम(=प्रारम्भ) होना चाहिए।

होता है, जब नाभितल से उत्थित वायु की गति उरः एवं शिरः के मध्य में विद्यमान कण्ठ तक ही होती है, अर्थात् वह वायु उदात्त के उच्चारण स्थान शिर तक पहुँचता ही नहीं है। फिर स्वरित में उदात्त का मिश्रण कहाँ हुआ? जिसे पाणिन्यादि सभी आचार्य मानते हैं। स्वरितोत्पादक मध्यमगति वाला वह वायु यदि केवल कण्ठ को आहत करता है तो उसमें उदात्त एवं अनुदात्तों का सर्वथा अभाव है। यदि उरः और कण्ठ दोनों को आघात करता है तो उसमें केवल अनुदात्त का ही मिश्रण है। ऐसी स्थिति में अनुदात्त तथा स्वरित में भेद ही क्या है? यदि वह वायु कण्ठ और शिरः में आहनन करता है तो उसमें केवल उदात्त का ही मेल है। तब स्वरित उदात्त से भिन्न कैसे हुआ? **"य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति"** भाष्य की यह पंक्ति कैसे सुसंगत होगा? यह विद्वद्वृन्द ही स्वयं विचार करें।

इन दोनों विद्वानों की महती भूल यह भी है कि इन्होंने स्वरित को उदात्त एवं अनुदात्त के मध्य में माना है,जब कि सभी शिक्षाकार, प्रातिशाख्यकार एवं वैयाकरणों ने इसे उदात्त और अनुदात्त का मिश्रण मानते हैं। इतना ही नहीं आचार्य शौनक[१] और चतुरध्यायिकाकार[२] ने स्वरित को 'आक्षिप्त' माना है। आक्षिप्त का अर्थ करते हुए उवट ने लिखा है– **"आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्"**(ऋ०प्रा० ३.१) जिसका तात्पर्य है कि स्वरित के उच्चारण में पहिले अनुदात्त और उसके बाद उदात्त का उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु उसके विपरीत (उल्टी गति से) पहिले उदात्त का उच्चारण कर उसके पश्चात् अनुदात्त का करना चाहिए।[३] यही सर्वमान्यसिद्धान्त है।[४] पर इनके मत में जब उरः एवं शिरः के मध्य में स्थित कण्ठदेश से स्वरित का उच्चारण होगा, तब वे **'आक्षिप्तः'** का क्या अर्थ करेंगे? वे ही प्रष्टव्य हैं। इनके मत में तो यही कहना पड़ेगा कि स्वरितोत्पादक वायु पहिले शिर में आघात कर, पुनः पीछे लौटकर कण्ठ में आघात करेगा। इसे कौन बुद्धिमान् मान सकता है विज्ञ ही विचार करें।

उक्त दोनों विद्वानों ने अपने-अपने शोधलेख में कहीं भी यह बताने का पुरुषार्थ नहीं किया कि उरः, कण्ठः और शिरः ये नाम किस स्थान के हैं? क्या ये बाह्ययत्नों के क्षेत्रीय हैं? या बाह्याभ्यन्तर यत्नों के उभयक्षेत्रीय हैं? यहाँ यह भी विचारणीय है कि उदात्तादि को तीन सवनों या प्रक्रमों से उत्पाद्यमान मानने पर वे उदात्तादि गुण बाह्ययत्न कहलायेंगे या अन्तःयत्न ? उरः आदि का अर्थ लोकप्रचलित अर्थ ही यदि इन्हें स्वीकार्य हैं, तो इनके मत में तो यही कहना पड़ेगा कि अनुदात्त एवं स्वरित गुण बाह्ययत्न हैं और उदात्त शिरोज (मूर्धज, आस्यज) होने से अन्तःयत्न है। जब की मुनित्रय आदि सभी आचार्य इन्हें केवल बाह्ययत्न मानते हैं। काशिकाकार, कैयट, नागेश, भट्टोजीदीक्षित आदि वैयाकरणों के वचनों को मुनित्रय के आशय से विरुद्ध मानकर उन्हे अमान्य या उपेक्षणीय सिद्ध करने वाले विद्वद्वरेण्य ओझाजी और प्रचेता जी मुनित्रय को कहाँ प्रामाणिक रहने दिया? शिरः शब्द का अर्थ इन्होंने तदेकदेशीभूत मूर्धा में संकुचित कर दिया, अन्यथा लोकप्रसिद्ध अर्थ लेते तो नाभितल का वायु उदात्त के उच्चारणार्थ तीव्रगति से आकर जैसे ही सीधा शिर के मस्तिष्क आदि किसी भी अवयव में आघात करेगा, वैसे ही व्यक्ति या तो उन्मत्त होगा या मृत हो जायेगा। है ना, अद्भुत ऊहापोह। उदात्तोत्पादक वायु स्वरयन्त्र (कण्ठ) में आघात किये विना ही यदि सीधा शिरः (मूर्धास्थान, तृतीयप्रक्रम–?) में पहुँच जायेगा, तो क्या किसी वर्ण की उत्पत्ति होगी? वर्ण (गुणी या धर्मी) के विना उसके गुण वा धर्म का अस्तित्व रहेगा? इतना ही नहीं 'शिरः' का अर्थ

---

१. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्चैव त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते (ऋ०प्रा० ३.१)।।

२. आक्षिप्तः स्वरितः (च०अ० १.१६)।

३. द्रष्टव्य पृष्ठ-२२१-२२२।

४. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (अष्टा० १.२.३२), ऋ०प्रा० ३.४, तै०प्रा० १.४१, वा० प्रा० १.१२६, च०अ० १.१७, ना०शि० २.३.६, या०शि० १.९१ आदि।

'मूर्धा' मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि अनेकत्र उदात्त का उच्चारण भ्रूमध्य व भ्रूप्रान्त माना गया है।[१] जहाँ वायु का आघात हो ही नहीं सकता। हाँ, वहाँ उदात्त के प्रदर्शनार्थ हाथ पहुँच सकता है। इसमें न ही कोई असम्भावना है, न ही दोष। यही आचार्यों को अभीष्ट भी है। जैसे कि मैंने पूर्व में प्रतिपादित किया।

स्वरयन्त्र की विशेषक्रियाओं वा अवस्थाओं के कारण एक ही वायु में नाद, श्वास, घोष, अघोष आदि विभिन्न व विरुद्ध धर्म उत्पन्न होते हैं, यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। पर उरः आदि तथाकथित सवनत्रय (प्रक्रमत्रय) में ऐसी क्या-क्या क्रियाएँ होती हैं, जिससे नाभितल से उत्थित समानधर्मी (एक ही) वायु में उदात्तादि भिन्न-भिन्न धर्म उत्पन्न होते हैं, इसका विवेचन उक्त पण्डितद्वय ने कहीं भी नहीं किया। जिसे ओझा जी अनुभूतविषयक मानते हैं। और एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि अनुदात्त का उच्चारण इन्होंने उरः स्थान से माना है। इसका तात्पर्य है– अनुदात्तगुणवान् कण्ठ्य अवर्ण, तालव्य इवर्ण, मूर्धन्य ऋवर्ण आदि सभी अच् उरः स्थान से बोले जाते हैं। क्या ऐसा उच्चारण सम्भव है? क्या इसके लिए किसी भी प्रामाणिक आचार्य का प्रमाण है? महर्षि पाणिनि ने तो यह सिद्धान्त स्थापित किया था कि केवल 'ह्' और 'विसर्जनीय' ही उरःस्थान से बोले जाते हैं– "**हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्**[२]"(पा० शि० १.३)। यहाँ यह भी अवधेय है कि उरः स्थानीय वर्ण केवल उरः (छाती) से ही बोले जाते हैं, उसमें स्वरयन्त्र (कण्ठ) और मुख के किसी भी अवयव का कोई उपयोग नहीं होता।[३] अनुदात्तगुणवान् सभी अचों को उरस्य मानना, वैसे ही स्वरितगुणी सभी अचों को कण्ठ्य मानना और उदात्तगुणविशिष्ट अचों को शिरस्य मानना क्या पाणिनि एवं उनके प्रागर्वाचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का अवमूल्यन नहीं है? अवश्य है;पुनरपि ओझा जी के द्वारा इन्हें अनुभवविषयक एवं भाष्यादि के अनुकूल व प्रामाणिक मानना उपहास के योग्य हैं।

पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि भाष्यकार का '**उरः कण्ठः शिर इति**' का समाधान वक्ता की अपेक्षा से नहीं, अपितु श्रोता की दृष्टि से है। यह बात केवल भाष्य में ही नहीं अपितु जिस-जिस ग्रन्थ में उरः आदि का वर्णन आया है, वहाँ वहाँ सर्वत्र स्पष्टतया हस्तसंचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन ही अभिप्रेत है, न कि तत्तद् स्थानों में होने वाले कोई विशेष प्रयत्न या वायु के त्रिविध (मन्द्र, मध्य,तार) गतिक आघात का वर्णन। इसमें एक हेतु यह भी है कि उरः आदि का वर्णन उन्हीं ग्रन्थों में है, जिस-जिस में मन्त्रोच्चारण में हस्तसंचालन का विधान है। तद्यथा प्रातिशाख्यों में वाजसनेयप्रातिशाख्य में उदात्तादि स्वरों को हस्त के द्वारा भी प्रदर्शित करने का विधान है– "**हस्ते ते**"(१.१२१)। इसीलिए इस प्रातिशाख्य में वर्णित है– "**सवनक्रमेणोरःकण्ठभ्रूमध्यानि**" (१.३०)[४] त्रैस्वर्य के प्रदर्शनार्थ हाथ के स्थान सवनों के क्रम से उरः, कण्ठ और भ्रूमध्य (शिरः) होते हैं। "**आयाममार्दवाभिघाताः**" (१.३१) = त्रैस्वर्य के प्रदर्शनार्थ जब हाथ उरः आदि स्थानों में पहुँच जाता है, उसी (समान) समय आयामादि शरीरगत यत्न प्रारम्भ (प्रक्रम) करना चाहिए। यही समानप्रक्रम है। इसप्रकार सर्वत्र "**यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्**" इत्यादि वचनों के परिप्रेक्ष्य में समानप्रक्रम को या उरः, कण्ठ (कर्णमूल), शिरः (भ्रूमध्य)

---

१. वा०प्रा० १.३०, या०शि० ५१,१०८, प्रा०प्र०१.११, के०शि० २ आदि।

२. एकेषाम् = आचार्य शौनक (ऋ०प्रा० १.४०), शाकटायन (ऋ०त० ३) आदि।

३. The authority who called the aspirations chest– Sounds may also be commended for his acuteness, since in their production it may even be said that the throat has no part. It is only, like the mouth, the avenue by which the breath expelled form the chest finds exit. (ह्विटनी– चतुरध्यायिका १.१९)।

अपि च "अस्ति किञ्चिदुच्चारणमुरस्यैव प्रक्रमते, न कण्ठान्न शिरसः (ओझा–वर्णसमीक्षा, पृ० १३५)।

४. इस सूत्र के भाष्य में लिखित "...त्रीणि स्थानानि वायोर्भवन्ति" इस प्रकार के उवट एवं अनन्तभट्ट के शब्दों से ही सम्भवतः ओझा जी भ्रमित हुए।

स्थानों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, न ही व्यर्थ के अशास्त्रीय कपोल कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ेगी, अस्तु।

जिन ग्रन्थों में त्रैस्वर्य के उच्चारण में हस्तसंचालन का विधान नहीं है, उनमें न सवनों का उल्लेख है, न उरः आदि शब्दों (तथाकथित प्रक्रमों) का वर्णन है। जैसे पाणिनीयशिक्षा (सूत्रात्मक), आपिशलिशिक्षा, चान्द्रशिक्षा, ऋक्प्रातिशाख्य आदि। उरः आदि शब्द यदि शरीरगत अवयवों में होने वाले प्रयत्नविशेषों के द्योतक हैं, तो सभी ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलना चाहिए था। इतना ही नहीं जहाँ-जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ-वहाँ मतभेद नहीं होना चाहिए था। जबकि मतभेद देखा जाता है।[1] यह मतभेद हस्तसंचालन में सम्भव है, पर उच्चारण में नहीं। शुक्लयजुर्वेद में जिस प्रकार उरः आदि तीन स्थानों पर उदात्तादि का प्रदर्शन होता है, सामगान में वैसा नहीं होता। उसमें तो केवल हाथ की अंगुलियों में ही स्वर प्रदर्शित होते हैं। अतः यजुःसम्बन्धी भारद्वाज आदि शिक्षाओं में और सामसम्बन्धी नारदीयशिक्षादि में हस्तसञ्चालन के विधान में पर्याप्त मतभेद देखा जाता है। तैत्तिरीयसंहिता सम्बन्धी व्यासशिक्षा में सामलक्षणों से मिलता जुलता हुआ हस्तसंचालन का विधान मिलता है (व्या० शिक्षा० ३२६-३२९)। स्पष्ट है यजुः के विधान सामादि में घटित नहीं हो सकते और साम की विधियाँ यजुः आदि में प्रवर्तित नहीं हो सकतीं। भाष्यकार के शब्दों में कहूँ तो ये सभी विधियाँ पार्षदकृतियाँ हैं, जब कि पाणिनि के शास्त्र (उपदेश) सर्ववेदपारिषद् हैं– "**सर्ववेदपारिषदं हीदं**[2] **शास्त्रम्**"(म०भा० २.१.५७)। अतः ये पार्षदकृतियाँ (हस्तसञ्चालन की विधियाँ) पाणिनि के तन्त्र में स्वीकृत नहीं हो सकती।[3] अर्थात् "**उच्चैरुदात्तः**" आदि सूत्रों से हस्तसञ्चालन के विधानों को (उरः-कण्ठ-शिरः-गत प्रयत्नविशेषों को) ग्रहण करना महती भूल ही नहीं, अपितु अपाणिनीय भी होगा।[4] भाष्यकार ने तो सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत करने के पश्चात् वेदपाठ में प्रचलित हस्तसंचालन के परिप्रेक्ष्य में श्रोता की सन्तुष्टि के लिए 'समानप्रक्रम' का समाधान दिया है। भाष्यपारग सभी विद्वान् भलीभांति जानते हैं कि भाष्यकार के सभी समाधान सैद्धान्तिक नहीं होते और उनसे कदापि यह भूलते नहीं बनता कि "**पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति**"। यहाँ प्रसंगतः मैं यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं समझता कि– **श्लोकात्मकशिक्षा पाणिनीय नहीं है। क्योंकि इसमें हस्तसंचालनादि पार्षदकृतियाँ विद्यमान हैं।** विद्वद्वृन्द पूर्वाग्रह को त्यागकर सत्य को स्वीकार करें।

लक्षणों का निर्माण यद्यपि अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों से रहित ही किया जाता है, पर उसमें स्व-स्व शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय भी विशेषतया अपेक्षित होते हैं। अतः उनकी दृष्टि से ही लक्षण बनाये जाते हैं। तद्यथा प्रकृत प्रसंग में उदात्तादि स्वरों के लक्षणों को देखें। वे चार प्रकार के दृग्गोचर होते हैं– १. गुणबोधक, २. गुणीबोधक, ३. अर्थबोधक और ४. उपलक्षक (गौण)।

---

१. इस मतभेद का उल्लेख पूर्व में हो चुका है।

२. 'इदम्' शब्द से प्रायः 'अष्टाध्यायी' का ही ग्रहण किया जाता है। पर यहाँ पाणिनि के पाँचों उपदेशों का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि पतञ्जलि की भावना पाणिनि के किसी एक शास्त्र के प्रति नहीं है,अपितु पाणिनि की प्रामाणिकता की ओर इंगित करती है। अतः 'इदम्' शब्द पाणिनीय शिक्षादि सभी उपदेशों का बोधक है। भाष्यकार ने भी "पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति" (एओङ्, ऐऔच्)। इन शब्दों से छन्दोगों के मत का निराकरण कर पाणिनीय शिक्षा को भी सर्ववेदपारिषद् घोषित कर दिया है।

३. तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम् (म०भा० २.१.५७)।

४. साक्षात् पतञ्जलि भी अपाणिनीयत्व से भयभीत होकर अनेकत्र नतमस्तक हो जाते हैं– 'सिध्यत्येवम्, अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु।' तब हमारा अस्तित्व ही क्या है?

१. **"आयामो दारुण्यम्०"** आदि लक्षण उदात्तादि गुणों के बोधक हैं। इस प्रकार के लक्षणों से महर्षि पाणिनि का व्याकरणकार्य चल नहीं सकता। २. अतः उन्हें **'उच्चैरुदात्तः'** आदि गुणी बोधक लक्षण बनाने पड़े। यहाँ गुणियों के माध्यम से उदात्तादि गुणों का बोध होता है। ३. उक्त द्विविध लक्षणों से निरुक्तकार का कार्य चल नहीं सकता, क्योंकि उन्हें न तो वर्णोच्चारण सिखाना है, न ही शब्दों की निष्पत्ति सिखानी है। उन्हें तो शब्दों के अर्थ का प्रतिपादन करना अभीष्ट है। अतः तद्दृष्ट्या आचार्य यास्क ने लक्षण बनाया कि **"तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्** (निरु० ४.२५)।[1] ये त्रिविध लक्षण लोक तथा सभी वेदों के लिए समानरूप से घटित होते हैं। अतः ये सर्ववेदपारिषद् के लक्षण हैं। चतुर्थ प्रकार के लक्षणों की चर्चा से पूर्व मैं स्वकल्पित लक्षणों को प्रस्तुत करना चाहता हूँ– **"भूसमानान्तराधस्तनरेखांकितोऽजनुदात्तः, वृक्षवदुपरितनरेखांकितोऽच् स्वरितः, निरंकितोऽजुदात्तः।"** ये लक्षण सभी संहिता व ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रवृत्त नहीं हो सकते, क्योंकि सभी ग्रन्थों में स्वराङ्कन का प्रकार एक समान नहीं है। इतना ही नहीं ये लक्षण लोकव्यवहार के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं, क्योंकि लोकव्यवहार में उदात्तादि उच्चारणविषयक हैं या श्रवणविषयक हैं। उसमें स्वराङ्कन का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिए ये लक्षण अमान्य हैं। अब चतुर्थ प्रकार के लक्षण को देखते हैं– ४.**"हृद्देशेनोच्चार्यमाणोऽजनुदात्तः, कण्ठदेशेनोच्चार्यमाणोऽच् स्वरितः, शिरोदेशेन भ्रूप्रान्तेन वोच्चार्यमाणोऽजुदात्तः।"** हस्तसंचालन सम्बन्धी ये लक्षण भी सर्ववेदपारिषद् न होने से और लोकव्यवहार के लिए अनुपयुक्त होने से अर्थात् अव्याप्तिदोषदूषित होने से पाणिनीय परम्परा में मान्य नहीं हो सकते।

उदात्तादि के उच्चैस्त्व, नीचैस्त्व एवं समाहार (समभाव) को लेकर जहाँ कहीं भी थोड़ा बहुत सादृश्य देखा गया है, वहाँ-वहाँ उदात्तादि के साथ उपमान-उपमेय-भावरूपी सम्बन्ध स्थापित किया गया है। तद्यथा–

"शुक्लमुच्चं विजानीयात् नीचं लोहितमेव च।
श्यामं तु स्वरितं विद्यादग्निरुच्चस्य दैवतम्।।
नीचं सोमं विजानीयात् स्वरिते सविता भवेत्।
उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च।।
वैश्यं तु स्वरितं विद्याद् भारद्वाजमुदात्तकम्।
नीचं गौतममित्याहुर्गार्ग्यं तु स्वरितं विदुः।।
विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं त्रैष्टुभमेव च।
जागतं स्वरितं विद्यादेवमेव नियोगतः।। (या०शिक्षा० २.५; शै०शि० पृ० ७.८)

इनसे अतिरिक्त अन्यत्र अनुदात्त, स्वरित और उदात्तों को क्रमशः काल में प्रातः, मध्याह्न, सायं; यज्ञों में प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीयसवन; प्राणों में अल्पप्राण, मध्यमप्राण, महाप्राण आदि के रूप में वर्णन किया गया है। इन वचनों को देखकर कोई कहे कि ब्राह्मण उदात्त को, क्षत्रिय अनुदात्त को, वैश्य स्वरित को बोलता है। वैसे ही प्रातः या प्रातःसवन में अनुदात्त, मध्याह्न वा माध्यन्दिनसवन में स्वरित एवं सायम् अथवा तृतीयसवन में उदात्त बोला जाता है। इस कथन को सर्वथा अव्यावहारिक, अशास्त्रीय, अप्रामाणिक ही मानना चाहिए। उन उपमान उपमेयों में जिस रूप में, जितने परिमाण में सादृश्यता सम्भव है, उतना अंश ही ग्राह्य है। न कि सर्वांशतः, यतोहि सर्वांशता का ग्रहण करने से उपमानोपमेयता नहीं रहती। अन्यथा शास्त्रों में अनेकत्र अनेकविध अनिष्ट ही अनिष्ट दृग्गोचर होंगे।

१. इसके विशेष विवरण के लिए निरुक्त के उक्त पूरे सन्दर्भ को और उसकी व्याख्याओं को देखें। साथ में युधिष्ठिर मीमांसक विरचित 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' के पंचम अध्याय को भी देखें।

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन।।
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरः स्थितेन।। (श्लो० पा०शि० ३६,३७)

क्या मन्द्र (अनुदात्त) स्वर केवल प्रातःकाल ही पढ़ा जाता है? मध्याह्न तथा सायं में नहीं पढ़ा जाता? वैसे ही क्या मध्य (स्वरित) एवं तार (उदात्त) स्वर क्रमशः मध्याह्न तथा सायं ही पढ़े जाते हैं? अन्य कालों में नहीं? वेदपाठियों और संगीतज्ञों का अनुभव क्या इसीप्रकार का है? इसप्रकार के प्रश्नों का समाधान इन श्लोकों के रचयिता वा अध्येताओं से ही पूछना चाहिए।

डॉ० प्रचेता जी ने अपने लेख में दो स्थानों पर लेख का निष्कर्ष लिखा है– ''इस पूर्वोक्त विवेचन से यह बात सुतराम् स्पष्ट हो गई है कि जोर लगाकर ऊँचे से बोलने पर उदात्त स्वर बनता है तथा विना जोर लगाए शरीर को ढीला छोड़कर मन्दध्वनि वाला अनुदात्त स्वर बनता है'' (पृ० १५९.१)। ''जबकि सूत्रकार, वार्त्तिककार व भाष्यकार का आशय सर्वथा स्पष्ट है कि जोर से बोलना उदात्त व धीरे से बोलना अनुदात्त है, जिसे मन्द व्यक्ति भी समझ सकता है और यह लोक में आबालवृद्ध द्वारा प्रयुक्त है''(पृ० १६२.२)। भाष्यकार ने जिस उच्च, नीच भाव (श्रुतिप्रकर्ष) को अनवस्थितपदार्थक मानकर खण्डन किया था, उसे ही प्रचेता जी ने सिद्धान्तित किया है। यह आश्चर्यजनक है। प्रचेता जी का निष्कर्ष उपांशु की स्थिति में घटित न होने से अव्याप्तदोषदूषित है।[1] सबसे बड़ा असत्य कथन यह है कि उदात्तादि को आबालवृद्ध जानते हैं। यथार्थ यह है कि परम्परागत गुरु के मुख से प्रशिक्षित हुए विना कोई भी व्यक्ति उदात्तादि को बोल नहीं सकता।

आधारहीन ऊहापोह की कल्पनाओं में प्रवाहित होने में ही अपना पाण्डित्य समझने वालों में अग्रगण्य है पं०मधुसूदन ओझा जी। ऐसे विद्वान् के आलेखों को प्रामाणिक मानकर सर्वाङ्गीणतया विचार किये विना ही डॉ० प्रचेता जी के द्वारा यह निर्णय निश्चित कर लेना कि ''**तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तः**'' इत्यादि काशिकाकार के वचनों को हटाकर ''**अल्पप्राणमहाप्राणयोः समाने प्रक्रमे उच्चैरुचार्यमाणोऽजुदात्तसंज्ञो भवति**'' तथा इसीप्रकार ''**अल्पप्राणमहाप्राणयोः समाने प्रक्रमे नीचैरुच्चार्यमाणो ऽजनुदात्तसंज्ञो भवति**'' इस प्रकार का संशोधन कर लेना चाहिए। यह सर्वथा अनुचित ही नहीं, अपितु प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि की शास्त्रीय परम्परा का अवमूल्यन भी है। अतः डॉ० प्रचेता जी से मेरा नम्र निवेदन है कि इस विषय पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से आप पुनः विचार करें।

---

१. नात्र श्रुतिकृतमुच्चैस्त्वम्, उपांशुप्रयोगेऽव्याप्तेः (शब्देन्दुशेखरद्वयम्-उच्चैरुदात्तः)। नादधर्मविशेष उच्चैस्त्वं नेह विवक्षितम्, उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः (बालमनोरमा–५)।

३.९. उदात्तादि स्वरों का स्वभाव और उच्चारण का प्रकार*

सम्पूर्ण वर्णमाला को स्वर एवं व्यञ्जनों में विभक्त किया गया है। इनमें स्वर अत्यन्त मुख्य वर्ण हैं। इन स्वरों के उच्चारण में विभिन्न गुण व धर्म अपनी-अपनी पात्रता को निभाते हैं। वे गुण हैं— ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिक। उदात्तादि तीन गुण अकारादि स्वरवर्णों (अचों) के विशिष्ट गुण हैं। इनकी विशेषता यह है कि अर्थबोध में अकारादि के समान उदात्तादि भी विशेष महत्त्व रखते हैं। इसीलिए इन गुण और गुणी में अभेदोपचार से उदात्तादि गुणों को भी स्वर माना गया है। परन्तु उदात्तादि के लिए स्वरशब्द का प्रयोग गौण (औपचारिक) है, अकारादि के लिए मुख्य प्रयोग है।

उदात्तादि स्वरों के स्वरूपविषयक विस्तृत विवेचन पूर्वतन लेख 'उदात्तादि स्वरों का स्वरूप-विवेचन' में किया गया है। सम्प्रति इस लेख में केवल उनका स्वभाव एवं उच्चारण के विषय में शास्त्रीय स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है। क्योंकि पाणिनि मुनि के "**उच्चैरुदात्तः**" (अष्टा० १.२.२९) सूत्र से शब्दशः स्पष्ट ज्ञात होता है कि उदात्त को उच्चध्वनि से बोलना चाहिए या उच्चध्वनि से उच्चारित वर्ण उदात्त होता है। परन्तु परम्परा से प्रशिक्षित वेदपाठी तो स्वरित को उच्चध्वनि से बोलते हैं और उदात्त को उससे मन्दध्वनि में बोलते हैं। इससे अनेकों प्रश्न व सन्देह उत्पन्न होते हैं कि— स्वरित तथा उदात्त का पारम्परिक उच्चारण अशुद्ध है या पाणिनीय सूत्र परम्परा से विरुद्ध होने से अमान्य है। पाणिनि आदि आचार्यों ने ऐसा लक्षण (सूत्र) क्यों बनाया है? जो पारम्परिक उच्चारण से मेल नहीं खाता है। कुछ वेदपाठी तो स्वरित को ही उदात्त मानते हैं और कहते भी हैं। जब मैंने एक वेदपाठी से पूछा की— 'स्वरित उदात्त कैसे हो सकता है'? तो उन्होंने अविलम्ब समाधान दिया कि— '**उच्चैरुदात्तः**'। यह समाधान बड़ा ही आश्चर्यजनक लगा। अन्यप्रकार का यह भी प्रश्न कभी-कभी उपस्थित होता है कि— मैत्रायणी संहिता आदि में उदात्त को ऊर्ध्वरेखा (ˈ) से अंकित किया जाता है। जिससे यह प्रतीत होता है कि पाणिनि का कथन (उच्चैरुदात्तः) इन संहिताओं में चरितार्थ होता है, पर अन्य संहिताओं में पुनः सन्देह उत्पन्न करता है। इसप्रकार के अनेकों सन्देह विद्वत्समाज में प्रचलित हैं। अतः इस विषय पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

उदात्त— उदात्त का लक्षण है— "**उच्चैरुदात्तः**" (अष्टा० १.२.२९)। उदात्त के इस लक्षण से शिक्षा, प्रातिशाख्य एवं व्याकरण के किसी भी आचार्य का कोई मतभेद नहीं है। इसे सभी आचार्य मुक्तकण्ठ से स्वीकारते हैं। यद्यपि उदात्त के उत्पादक धर्म आयामादि[१] हैं। उनसे उत्पन्न धर्मी (ध्वनिविशेष) को उदात्त कहते हैं। जो उच्चध्वनि से लक्षित होता हैं।[२] यह सभी स्वरों में प्रधान व मुख्य स्वर है। इसके प्रधानत्व के हेतु इसप्रकार हैं— १. यह किसी अन्य (अनुदात्तादि) स्वरों पर आश्रित होकर उत्पन्न नहीं होता है, अपितु स्वतः अपने आप विद्यमान होता है। २. अन्य अनुदात्तादि के प्रभाव से यह स्वर कभी भी विकृत नहीं होता है। पदपाठ आदि में भी वैसे ही अविकृत रहता है, जैसे कि संहितापाठ में था। ३. स्वयं अविकृत रहता हुआ अन्य स्वरों पर अपना प्रभाव डालता

---

*. यह लेख वेदवाणी (दिसम्बर-जनवरी २०२०-२१), आर्षज्योति (मार्च २०२१) में प्रकाशित है।

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य (म०भा० १.२.२९; तै०प्राति० २२.९)।

२. '**उच्चैरुदात्तः**' लक्षण में उच्चध्वनि से उत्पन्न अच् उदात्त होता है, ऐसा अर्थ आचार्य पाणिनि को अभिप्रेत नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ऐसे अर्थ को "**इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्**" (मा०भा० १.२.२९) शब्दों से निषेध किया है। इसके पूरे प्रतिपादन को 'उदात्तादि स्वरों का स्वरूपविवेचन' मेरे इस पूर्व लेख में देखें।

है। अर्थात् उन्हें उत्पन्न या विकृत करता है। उदात्तवान् अच् से भिन्न अचों को अनुदात्त कर देता है[३] और अपने से उत्तर विद्यमान अनुदात्त को स्वरित करता है।[४] उससे भी उत्तर विद्यमान अनुदात्तों को स्वरित में विद्यमान उदात्तश्रुति[५] एकश्रुति करता है।[६] ४. पदार्थज्ञान में उदात्त का विशेष महत्त्व होने से प्रत्येक शब्द के स्वर का ज्ञान उदात्त से ही जाना जाता है ।[७] ५. अनुदात्त, स्वरित आदि के साथ योग (सन्धि) होने पर अनुदात्तादि स्वर तो मिट जाते हैं, पर उदात्त अमिट (विद्यमान) रहता है। अर्थात् उदात्त अच् वर्ण के साथ अनुदात्त, स्वरित, प्रचय (एकश्रुति) वाले अज्वर्णों का एकादेशादि सन्धियाँ होने पर उत्पन्न नये अच् का स्वर प्रायः उदात्त ही होता है, यणादेशादि कुछ अपवादों को छोड़कर। इसका पूरा विवेचन पृथक् लेख में किया जायेगा। ६. स्वरित और प्रचय में उदात्त की श्रुति देखी जाती है[५], पर उदात्त में कभी भी अनुदात्तादि की श्रुति नहीं देखी जाती है। ७. अर्थज्ञान में उदात्त का विशेष महत्त्व है।[८]

उक्त महनीय (उच्चैस्त्व) गुणों के कारण ही इस स्वर का नाम **'उदात्त'** है। आयामादि बाह्ययत्नों से उत्पन्न उच्चध्वनिविशेष के कारण भी इसका नाम **'उदात्त'** है। ताल्वादि स्थानों के ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न होने के कारण भी इसका नाम **'उदात्त'** है। उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन होने से भी **'उदात्त'** नाम है। उत्, उच्च, उद्घात, अनत, आद्यस्वर, शुद्धस्वर आदि उदात्त के अन्य नाम हैं।

अनुदात्त— अनुदात्त का लक्षण **''नीचैरनुदात्तः''** (अष्टा० १.२.३०) है। उदात्त की अपेक्षा से मन्दध्वनिवाला होने से इस स्वर का नाम **'अनुदात्त'** है। उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन न होने से अर्थात् अधोगमन होने से (न+उत्+दा+क्त) **'अनुदात्त'** नाम है। उदात्त से भिन्न (विपरीत) धर्म वाला होने से **'अनुदात्त'** नाम है। शब्दार्थ के ग्रहण में भी इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है[८], इसलिए भी **'अनुदात्त'** नाम है।

यह अत्यन्त परिवर्तनशील व अनित्यस्वभाववाला स्वर है। उदात्त के बाद विद्यमान होने पर स्वरित के रूप में परिवर्तित होता है[४] और स्वरित के बाद एकश्रुति (प्रचय) के रूप में परिवर्तित होता है।[६] उदात्त या स्वरित परे होने पर पूर्व में विद्यमान अनुदात्त अनुदात्ततर (सन्नतर) हो जाता है।[९] संहितापाठ में कभी भी यह अपने स्वरूप में नहीं रह पाता है। पदपाठ आदि में इसका निजरूप दीखता है। अनुदात्त सदा उदात्त से प्रभावित रहता है। उदात्त के बाद यह स्वरित का रूप धारण करने पर भी उदात्त (उच्चतर एवं उच्च) की श्रुति वाला हो जाता है।[५] स्वरित के बाद प्रचय (एकश्रुति) का रूप धारण कर उदात्तसदृश ही उच्चरित होता है।[१०] दो उदात्त, दो स्वरित या उदात्त और स्वरित के मध्य में विद्यमान अनुदात्त (सन्नतर) को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में **'विक्रम'** कहते हैं।[११] नीच, अनुच्च, विघात, सन्न, विक्रम, नत आदि अनुदात्त के ही नाम हैं।

---

३. अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अष्टा० ६.१.१५२)।
४. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अष्टा० ८.४.६५)।
५. स्वरितादि में उदात्तश्रुति का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।
६. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अष्टा० १.२.३९)।
७. जात्य (नित्य) स्वरित से भी शब्द के स्वर का ज्ञान होता है। पर वैसे शब्द अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।
८. तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् (निरु० ४.२५)।
९. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अष्टा० १.२.४०)।
१०. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं वा द्वे वा बहूनि वा (ऋ०प्रा० ३.१९)। स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम् (वा०प्रा० ४.१४१)। स्वरितादनुदात्तस्य उदात्तश्रुतिः (च०अ० ३.७१)। तस्मादुच्चश्रुतीनि (ऋ०त्र० ६१)। य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात् परः। प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैः (ना०शि० १.८.२)।
११. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्याद् उदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः (तै०प्रा० १९.१)।

स्वरित— '**समाहारः स्वरितः**' (अष्टा० १.२.३१) आदि लक्षणों के द्वारा कहा गया है— उदात्त और अनुदात्तों के समाहार (मिश्रण, संयोग) से युक्त अच् स्वरित संज्ञक होता है।[१२]

समाहार के अर्थ को लेकर आचार्यों के व्याख्यानों में अनेकों मतभेद हैं। सभी व्याख्यान प्रायः लक्षणों के निर्दुष्ट व्याख्यान को प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। समाहार को क्षीरोदक, तिलतण्डुल, त्रपुताम्र, शुक्लत्व-कृष्णत्व आदि अनेकों उदाहरणों से समझाया गया है। उनमें से कुछ उदाहरण समाहारमात्र का बोध कराते हैं, तो कुछ संज्ञान्तरत्व के प्रकार को प्रस्तुत करते हैं। न कि स्वरित के सम्पूर्ण स्वरूप को। कुछ लोग उदाहरणों को सर्वांश में ग्रहण करते हुए व्यर्थ में विवाद को खड़ा कर देते हैं और प्रतिपादन भी करते हैं कि— उदात्त एवं अनुदात्त वाले अचों की सन्धियों से उत्पन्न अच् जब स्वरितगुणवाला हो जाता है, तब स्वरित में समाहार स्पष्ट प्रतीत होता है अर्थात् स्वरित अच् में दो अचों का और दो स्वरों (उदात्तानुदात्तों) का समाहार (एकत्रीकरण) स्पष्ट होता है। ऐसा मानने से नित्य (जात्य) स्वरित[१३] एवं उदात्तोत्तर उत्पन्न स्वरित[४] में उक्त प्रकार के समाहार का अभाव है। अतः उस प्रकार के व्याख्यानों को हेय ही समझें। यथार्थ समाहार को समझने से पूर्व यह ध्यान में रखना होगा कि उदात्तादि शब्द धर्म (गुण) तथा अज्वर्णों (गुणी) के बोधक हैं। समाहार में प्रयुक्त उदात्तादि शब्द धर्म (गुण) के वाचक हैं, न कि अचों के।[१४] गुणों का समाहार (एकत्रीकरण) गुणियों (अज्वर्णों) के विना कथमपि सम्भव नहीं है और अज्वर्णों का समाहार आचार्यों को अभीष्ट नहीं है। पुनरपि स्वरित में उदात्तादि गुणों का समाहार सभी आचार्यों के द्वारा स्वीकृत है। पुनः वह समाहार कैसे सम्भव होगा? **यह समाहार ऐसा नहीं है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमानों का एक स्थान में एकत्रीकरण किया जाता हो, अपितु स्वरित गुण उदात्त एवं अनुदात्त गुणों का एकीकृत (संयुक्त) जैसी एक स्वतन्त्र ध्वनि विशेष है। इसमें किन्हीं गुणों का समाहरण (एकत्रीकरण) नहीं हुआ। उसमें केवल उदात्त एवं अनुदात्त के सदृश ध्वनियों का आभासमात्र होता है। बस इसी आभास या प्रतीति को ही समाहार कहा गया है। यह कोई सन्धिज (संयुक्त) स्वर नहीं है।**[१५] प्रत्येक अज्वर्ण के अष्टादशभेदों में उदात्तादि के समान स्वरित भी तद्भिन्न एक अन्यतम स्वतन्त्र वर्ण है। गुणभेद के विना गुणी का भेद सम्भव नहीं है। अतः स्वरित उदात्तादियों से भिन्न (निर्लिप्त) स्वतन्त्र ध्वनिविशेष है। जैसे सन्ध्यक्षरों में अ, इ, उ वर्णों के सदृश ध्वनियों के प्रतीत होने पर भी सन्ध्यक्षर अकारादियों के सन्धिज नहीं हैं, अपितु वे स्वतन्त्र वर्ण हैं।[१६] हाँ, उनमें अकारादियों की प्रतीतिमात्र होती है। ऐसा ही स्वरित सर्वथा ही स्वतन्त्र वर्णधर्म है। जिसमें उदात्त एवं अनुदात्त के मिश्रण (समाहार, संयोग) जैसी ध्वनि पूर्व से ही विद्यमान होती है। यथार्थतः स्वरितगत उदात्त और अनुदात्त शब्द स्वतन्त्र उदात्तानुदात्तों से सर्वथा ही भिन्न हैं।[१७] इसे आगे स्पष्ट करेंगे। सन्धिज स्वरितों

---

१२. एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः (ऋक्प्राति० ३.३)।

१३. तित्स्वरितम् (अष्टा० ६.१.१७९), तित्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः (फिट्० ४.८) आदि।

१४. उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसंज्ञो भवति। सामर्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते, नाचौ। तौ [धर्मौ] समाह्रियेते यस्मिन्नचि तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा विधीयते (का० १.२.३१)। उदात्तानुदात्तत्वे च वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् (सि०कौ० १३)। उदात्तत्वानुदात्तत्व-लक्षणवर्णधर्म-समाहार-वानच् स्वरितसंज्ञ इत्यर्थः (स्व०च०, संज्ञा० ३)।

१५. यथार्थ में सन्धि, लोप, आगम आदि की व्याकरणप्रक्रिया आचार्यों के द्वारा कल्पित प्रक्रिया मात्र है। कहा भी गया है— सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ (मा०भा० १.१.२०)

१६. वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयस्तेषु तत्कार्यं न भवति, तच्छायानुकारिणो हि ते, न पुनस्त एव (का० ऐऔच्)।

१७. स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन [=उदात्तेन] विशिष्टः [=भिन्नः] (म०भा० १.२.३३)। भाष्यकार के इन शब्दों से यह स्वतः सिद्ध होता है कि— स्वरित किन्हीं स्वरों का सन्धिज स्वर नहीं है।

में दो अचों का समाहार नहीं होता है, अपितु दोनों के स्थान पर स्वरितगुणक अच् का एकादेश होता है।

उदात्तादि से सर्वथा निर्लिप्त स्वरित में प्रतीयमान उदात्तादि के सदृश ध्वनियों का संयोग क्षीरोदक के मिश्रण के समान न होकर काष्ठ-जतु के समाहार (संयोग) के समान विद्यमान रहता है। इसीलिए पृथक्-पृथक् अंश में उपलब्ध (श्रुत) होते हैं।[१८] उनकी उपलब्धि इस प्रकार होती है— समाहृत स्वरित में आद्य अर्धमात्रा उदात्त एवं शेष मात्रा अनुदात्त का भाग होता है अर्थात् स्वरित ह्रस्व अच् में आधी - आधी मात्रा में उदात्त और अनुदात्त होते हैं, स्वरित दीर्घ अच् में आद्य अर्धमात्रा में उदात्त तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा (१½) में अनुदात्त होता है।[१९]

यहाँ यह विशेषतया ध्यातव्य विषय यह है कि स्वरित के अवयवभूत जो उदात्त और अनुदात्त हैं, वे स्वतन्त्र या पारिभाषिक (रूढ) उदात्तानुदात्तों से भिन्न हैं, अर्थात् वे रूढ़ न होकर यौगिक हैं। सन्ध्यक्षरों के अवयवभूत अवर्णादि के अग्रहण के समान स्वरित के अवयवभूत उदात्त एवं अनुदात्त भी स्वतन्त्र स्वरों के रूप में गृहीत नहीं होते हैं। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का कथन तो यौगिक अर्थ में है। इसे समझने के लिए स्वरित के उच्चारणविधि को जानना होगा। वह इस प्रकार है —

स्वरित का जो आद्य अर्धह्रस्वमात्रा भाग है, उसका उच्चारण उदात्ततर होता है और अवशिष्ट (अनुदात्त) भाग का उच्चारण उदात्त के समान होता है, यदि स्वरित के बाद उदात्त या स्वरित वर्ण परे न हों।[२०] स्वरित के बाद यदि उदात्त या स्वरित वर्ण आता है, तो आद्यभाग उच्चतर से और अवशिष्ट (अनुदात्त) भाग अनुदात्त के समान उच्चरित होता है।[२१] इसी अनुदात्त के उच्चारण में कम्प (स्वर) उत्पन्न होता है।[२२] इस प्रकार स्वरित दो प्रकार का हो गया है— प्रथम स्वरित अनुदात्तपरक या अपरक है और द्वितीय स्वरित उदात्तपरक या स्वरितपरक। जब प्रथम प्रकारक स्वरित के आद्यांश का उच्चतर एवं अन्त्यांश का उदात्तसम उच्चारण होता है, तब वह उदात्तश्रुति (अन्त्यांश) आद्यांश उदात्ततर की अपेक्षा से मन्दध्वनिवाला होता है। इस मन्दध्वनि (नीचध्वनि) सामान्य के कारण उदात्तश्रुति को भी यौगिकबल से अनुदात्त कहा गया है। पर यह स्वतन्त्र (रूढ) अनुदात्त नहीं है। इसे और स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं—

स्वरात्मक ध्वनि को चार प्रकार से विभक्त किया गया है— १. नीचैस्तर (अनुदात्ततर, सन्नतर), २. नीचैः (अनुदात्त), ३. उच्चैः (उदात्त), ४. उच्चैस्तर (उदात्ततर)। तृतीयस्तर की उच्चैः ध्वनि चतुर्थस्तर की उच्चैस्तर ध्वनि की अपेक्षा से नीचैः (अनुदात्त) ध्वनि है, पर वह द्वितीयस्तर की ध्वनि नीचैः (अनुदात्त) से भिन्न है। द्वितीयस्तर की अनुदात्त (नीचैः) ध्वनि पारिभाषिक है[२३] और तृतीयस्तर की ध्वनि सापेक्षित (चतुर्थस्तर की ध्वनि की अपेक्षा से) अनुदात्त (नीचैः) ध्वनि है। इन सब ध्वनियों की स्थिति को रेखाचित्र (ग्राफ़) के द्वारा दिखाते हैं —

---

१८. आयामादीनामन्ववसर्गादीनां च परस्परविरुद्धतया यौगपद्यासम्भवात् पौर्वापर्येण समाहरणं वेदितव्यम् (वै०आ०, तै०प्रा० २३.१९)।

१९. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (अष्टा० १.२.३२)।

२०. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः। न चेद् उदात्तं वोच्यते किञ्चित् स्वरितं वाक्षरं परम् (ऋ०प्रा० ३.४—५)। तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य। उदात्तसमः शेषः। आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः (तै०प्रा० १.४१—४२; ४६)। अपि च द्र० याज्ञवल्क्यशिक्षा (१.९१); नारदीयशिक्षा (२.३.६)। सम्पूर्ण स्वरित का आधे-आधे समभाग में उदात्त और अनुदात्त होते हैं, ऐसा भी किन्हीं आचार्यों का मत है। इस मत का उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य में [अर्धमेव वा] है।

२१. यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं स्यात् तदानुदात्तः परः शेषः स्यात्। स च कम्प इत्युच्यते बह्वृचैः (उवटः, ऋ०प्रा० ३.६)।

२२. इसके लिए मद्विरचित 'शिक्षाशास्त्रम्' के शिक्षातत्त्वालोकभाष्य को देखें [प्रथमसं०पृ० ५०—५३; द्वितीयसं०पृ० ५३—५५]। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २२१-२२२ भी द्रष्टव्य हैं।

२३. नीचैरनुदात्तः (अष्टा० १.२.३०)।

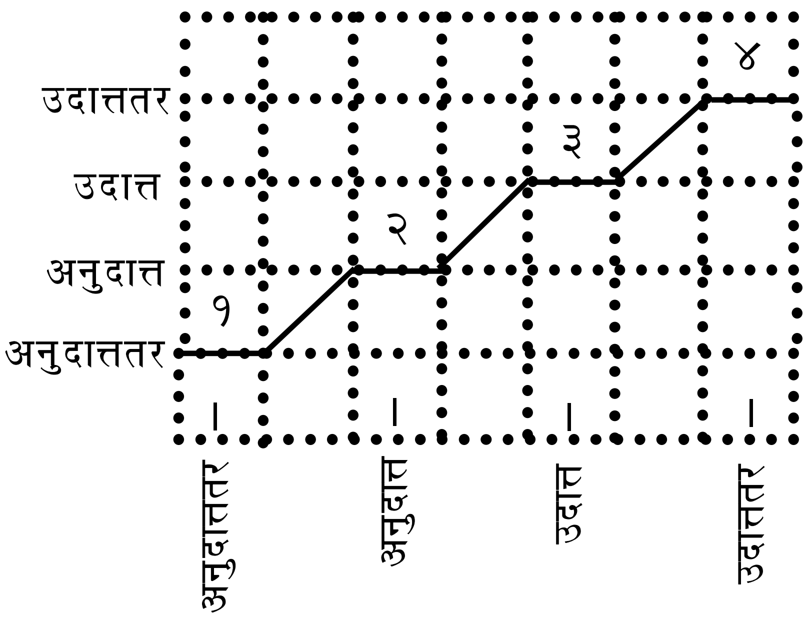

चित्र का विवरण—

१. उदात्त या स्वरित परक अनुदात्त (सन्नतर) का अथवा प्रचयान्त अनुदात्त (सन्नतर) का उच्चारण इस प्रथम स्तर पर होता है।

२. द्वितीय प्रकारक स्वरित के अवशिष्ट भाग का और स्वतन्त्र अनुदात्त का उच्चारण इस द्वितीय स्तर पर होता है।

३. प्रथम प्रकारक स्वरित के अवशिष्टभाग का, स्वतन्त्र उदात्त का और प्रचय का उच्चारण इस तृतीय स्तर पर होता है।

४. प्रथम एवं द्वितीय प्रकारक स्वरित के आद्यार्धमात्रा का उच्चारण इस चतुर्थ स्तर पर होता है।

उदात्त से उत्तर विद्यमान अनुदात्त को जो स्वरित होता है,[४] उसे स्वरूपतः अनुदात्त ही माना जाता है।[२४] जैसे मातृणाम्, गुरूणाम् आदि में णकार का श्रवण होने पर भी उसमें मूलतः नकार की ही बुद्धि रहती है और स्तुति, नीति आदि में श्रूयमाण सकार एवं नकार को मूलतः षकार, णकार ही माना जाता है। क्योंकि णकार, सकार, नकार आदि सब आदिष्ट हैं। वैसे ही उदात्तोत्तर स्वरित अनुदात्त के स्थान पर आदिष्ट है, मुख्य स्वरित नहीं है। अतः यह स्वरित मूलतः अनुदात्त ही है। इस मान्यता को पाणिनि भी स्वीकारते हैं— "**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**" (अष्टा० ६.१.१५२)। एक पद में उदात्त या (मुख्य) स्वरित को छोड़कर शेष अक्षरों को अनुदात्त हो जाता है। पाणिनि के इस सूत्र से स्पष्ट है कि शेष अक्षरों के अनुदात्तीभाव में उदात्तपूर्वक (गौण या समान्य) स्वरित भी गृहीत

२४. उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम् (ऋ०प्रा० ३.७)। एकस्मिन् पदे उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं प्रत्येतव्यम्। सांहितिकस्यायं धर्मोऽनुदात्तस्य सतः उदात्तपरस्य (उवटः, तत्रैव)।

स्वारोदात्तपरश्चेत् स्यात् तदा निहत इष्यते।
स्वरितस्यास्य मन्यन्ते प्रज्ञानं प्राकृतस्विति।। (कौ०शि० १०)

होता है। इस आदिष्ट स्वरित को सामान्य स्वरित कहते हैं।[२५] इसका उच्चारण मुख्य स्वरित से कुछ भिन्न होगा।

स्वरित के नौ भेद माने गये हैं[२६]— **१. वैवृत, २. तैरोव्यञ्जन, ३. तैरोविराम, ४. ताथाभाव्य, ५. प्रातिहत, ६. प्रश्लिष्ट, ७. क्षैप्र, ८. अभिनिहित, ९. जात्य (नित्य)**। इनमें आद्य पांच स्वरित उदात्तपूर्ववाले सामान्य स्वरित हैं और शेष चार स्वरित मुख्य या स्वतन्त्र स्वरित हैं। ''**समाहारः स्वरितः**''(अष्टा० १.२.३१) सूत्र के व्याख्यान में शिक्षा, प्रातिशाख्य और व्याकरण के व्याख्याता कोई भी आचार्य उदात्तपूर्वक आद्य पांच स्वरितों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं करता है। मुख्य स्वरितों को ही प्रस्तुत करते हैं।[२७] इससे हस्तामलकवत् स्पष्ट सिद्ध होता है कि उदात्त और अनुदात्त गुणों के समाहरण की प्रतीति मुख्य स्वरितों में ही होती है, गौण (सामान्य) स्वरितों में नहीं। इसलिए गौण स्वरितों का उच्चारण भी मुख्य स्वरितों से भिन्न होना चाहिए। परन्तु परम्परा के उच्छिन्न होने के कारण आज सभी स्वरितों का उच्चारण एक समान होता है। इन सब स्वरितों के भिन्न-भिन्न उच्चारणों का उल्लेख वाजसनेय प्रातिशाख्य में किया गया है। जो कि इसप्रकार है— ''**तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परम्मृदुस्त्वन्यः**'' (वा०प्रा० १.२५)। अभिनिहित स्वरित का उच्चारण सर्वाधिक तीक्ष्ण (दृढ़, उच्च) करना चाहिए। शेषों का उच्चारण क्रमशः मृदु, मृदुतर आदि करना चाहिए। वा०प्रा० के मतानुसार आनुपूर्वी के साथ स्वरितोच्चारण के प्रकार को उवट और अनन्तभट्ट ने इसप्रकार वर्णित किया है—

सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम्।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ॥
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते।
पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत् स्वारबलाबलम्॥

(वा०प्रा० १.१२५)

इन सभी स्वरितों का उच्चारण क्रमशः सर्वतीक्ष्ण, तीक्ष्ण, मृदु, मृदुतर आदि प्रयत्नों से कभी किया जाता रहा है। परन्तु प्रत्येक स्वरित के उच्चारण में विद्यमान सूक्ष्मभेद का ग्रहण करना वा कराना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार ने विधान किया है कि— ''क्षैप्र, जात्य एवं अभिनिहित स्वरितों का उच्चारण दृढ़तर (= सर्वतीक्ष्ण) प्रयत्न से; प्रश्लिष्ट, प्रातिहत स्वरितों का मृदुतर प्रयत्न से और तैरोव्यञ्जन, पादवृत्त स्वरितों का अल्पतर प्रयत्न से करना चाहिए''।[२८] परन्तु उच्चारण का यह भेद भी धीरे - धीरे विलुप्त हो गया है। सम्प्रति सब स्वरितों का उच्चारण कुछ विकृत के साथ एक समान ही होता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि— स्वरित में उदात्तानुदात्तों के सदृश की ध्वनि का समाहार ही नहीं है, अपितु यह एक स्वतन्त्र और अखण्ड ध्वनिविशेष है— ''**सर्वः प्रवण इत्येके**'' (तै०प्रा० १.४७)। इसकी व्याख्या में वैदिकाभरणकार लिखते हैं कि— ''**प्रकर्षेण वन्यते व्युक्षिष्यत इति प्रवणः [=स्वरितः]। स्वरितस्वरोऽयं सर्वः कृत्स्न एव स्वरितो भवति। न त्वस्यादितः कश्चिदंश उदात्तसमोऽस्तीत्येक आचार्या उपदिशन्ति**''

---

२५. समान्य स्वरित के अपर नाम इसप्रकार हैं— गौण स्वरित, नैमित्तिक स्वरित, आश्रित स्वरित, सांहितिक स्वरित, सन्निधिज स्वरित, छाया स्वरित आदि।

२६. इनके विवरण के लिए युधिष्ठिर मीमांसक का 'वैदिक स्वरमीमांसा' (अध्याय—३) और लेखक का 'शिक्षा-शास्त्रम्' (पृ०४०—४३) को देखें। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी पृ० २२२-२२४ को देख सकते हैं।

२७. यदि कोई व्याख्याता उदात्तपूर्वक गौण स्वरित को भी 'समाहारः स्वरितः' के उदाहरणों में प्रस्तुत करता है, तो उसे अनवधानता या अज्ञान से प्रस्तुत समझना चाहिए। क्योंकि वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के विपरीत है।

२८. क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः, अभिनिहिते च, प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः, तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरोऽल्पतरः(तै०प्रा० २०.९—१२)।

(तत्रैव)। स्वरित का विशिष्ट स्वभाव यह भी है कि एक पद में एकाधिक (दो या तीन) उदात्त हो सकते हैं, पर किसी भी पद में किसी भी अवस्था में एकाधिक स्वरित नहीं हो सकते हैं। स्वरित के लिए ये पर्यायशब्द प्रयुक्त होते हैं— प्रवण, द्वियम, स्वार, रि, मध्यम आदि।

प्रचय (एकश्रुति)— उदात्त के बाद एक अनुदात्त को स्वरित हो जाता है[४] और स्वरित के बाद में विद्यमान सभी अनुदात्तों को प्रचय हो जाता है।[६] प्रचय को ही **'एकश्रुति'** कहते हैं। यहाँ 'एक' शब्द प्रधान या मुख्य का वाचक है ।[२९] अर्थात् प्रचय का उच्चारण व श्रवण एक = प्रधानभूत उदात्त के समान होता है।[१०] स्वरित के आद्यांशभूत उच्चैस्तर ध्वनि का प्रभाव इतना होता है कि स्वरित के अवशिष्ट (अनुदात्त) भाग को उदात्त बनाता ही है, साथ में उसके पश्चात् वर्तमान सभी अनुदात्तों को भी उदात्तश्रुति (एकश्रुति, प्रचय) कर देता है, जब तक कोई उदात्त या स्वरित न आजाय। एकाधिक अनुदात्तों को उदात्त बनाने के कारण ही एकश्रुति का नाम **'प्रचय'** है [प्रकृष्टतया अधिकतया चीयते उदात्तीक्रियत इति प्रचयः]। नीच (मन्द) ध्वनि वाले अनुदात्त उच्च (ऊर्ध्व, अधिक) ध्वनि में उच्चारित होने के कारण भी **'प्रचय'** नाम है [प्रकृष्टतया उच्चध्वनिना चीयत उच्चार्यत इति प्रचयः]। **एकश्रुति को कुछ लोग विस्वर (स्वररहित) समझते हैं,[३०] वे अत्यन्त भ्रान्त हैं।**

प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान होने पर भी और स्वराङ्कन में दोनों निरङ्कित दिखाई देने पर भी दोनों में कुछ मौलिक भेद भी हैं— १. उदात्त एक स्वतन्त्र स्वर है, प्रचय नहीं। २. उदात्त पूर्वापर स्वरों से प्रभावित नहीं

---

२९. समुदाय में प्रधान या मुख्य एक ही होता है। अतः एकशब्द प्रधानवाचक हो गया है।

३०. कुछ आचार्यों ने इसी मत का प्रतिपादन किया है— उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यस्स्वरितः (गार्ग्य-गोपालयज्वा, वैदिकाभरण, तै०प्रा० २३.१९)। स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोधानम् एकश्रुतिः (का० १.२.३३)। क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः (प्रदीपः, म०भा० १.२.३३)। उदात्तानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते। ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः ।। (या०शि० २२८)। उच्चनीचादि भेद से रहित उच्चारण नितान्त असम्भव है और परस्पर विरुद्ध गुणवाले उदात्तानुदात्तों का नीरक्षीर के समान मिश्रण भी असम्भव। अतः उक्त सभी मत व वचन उपेक्षणीय हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रचय को कहीं उदात्त सदृश एवं कहीं अनुदात्तसदृश माना है— 'किमियमेकश्रुतिरुदात्ता, आहोस्विदनुदात्ता? उदात्ता। कथं ज्ञायते? यदयम्— 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (अष्टा० १.२.३५) इत्याह। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? तन्त्रं तरनिर्देशः। उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद् भवति। यदि तर्ह्युदात्ता, नानुदात्ता। अनुदात्ता च। कथं ज्ञायते? यदयम्— 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' इत्याह। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? तन्त्रं तरनिर्देशः। सन्नं दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद् भवति (म०भा० १.२.२३)। भाष्यकार के शब्दों से भी स्पष्ट है कि प्रचय उच्चैस्त्वनीचैस्त्व से रहित नहीं है और न ही उनका एकीकरण प्रचय है। अनुदात्त का उदात्तीकरण या सन्नतरीकरण ही प्रचय है। पारम्परिक वेदपाठी भी प्रचय का उच्चारण उदात्त के रूप में ही करते हैं। **उदात्तादि अचों के धर्म (गुण) हैं। धर्म व गुण के विना धर्मी व गुणी अच् का उच्चारण सर्वथा असम्भव है। जिसप्रकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत रूपी काल के गुणों से रहित अच् का उच्चारण असम्भव है, ठीक उसीप्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित रूपी स्वर के गुणों से रहित अच् का उच्चारण असम्भव है। किसी अच् का उच्चारण किया जाता है, तो उसमें तीन गुण अवश्य होंगे। तद्यथा – १. ह्रस्वादि में से एक काल का गुण, २. उदात्तादि में से एक स्वर का गुण एवं ३. सानुनासिक, निरनुनासिक गुणों में से कोई एक गुण। अर्थात् निरनुनासिक उदात्त ह्रस्व अवर्ण, सानुनासिक उदात्त ह्रस्व अवर्ण, निरनुनासिक अनुदात्त ह्रस्व अवर्ण इत्यादि। इस प्रकार १८ प्रकार के अवर्ण कुल के प्रत्येक अवर्ण में तीन-तीन गुण अवश्य होंगे। अतः उदात्तादि स्वरों से रहित अच् का उच्चारण मानना असम्भवदोष से दूषित है, साथ में अशास्त्रीय है, वर्णविज्ञान से सर्वथा विरुद्ध है एवं अविवेकपूर्ण है। अतः 'एकश्रुति' का अर्थ उदात्त-अनुदात्त के भेद से रहित नहीं है, अपितु उदात्तश्रुति (उदात्त के समान ध्वनि वाला एक विशेष स्वर) है। साथ में यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण स्वररहित नहीं अपितु स्वरविशेष (एकश्रुति) से करना चाहिए।**

होता, सदा उदात्त ही रहता है, जबकि प्रचय पूर्वापर स्वरों से परिवर्त्तित होता रहता है। ३. प्रचय से पूर्व अनिवार्यतया स्वरित विद्यमान होता है, ऐसा कोई बाध्य नियम उदात्त के लिए नहीं है। ४. उदात्त एक ही पद में होता है, प्रचय एकाधिक पदों में भी हो सकता है। ५. पद में उदात्त प्रायः एक ही होता है, जबकि प्रचय सम्पूर्ण पद में भी हो सकता है। ६. उदात्त कभी भी अनुदात्त के रूप में परिवर्तित नहीं होता, जबकि प्रचय पदपाठ आदि में अपने निजरूप में अर्थात् अनुदात्त के रूप में आजाता है। ७. उदात्त या स्वरित परे होने पर प्रचय को अनुदात्ततर (सन्नतर) हो जाता है।[९] ऐसी स्थिति उदात्त में कभी भी नहीं देखी जाती है। ८. प्रचय उदात्त के रूप में उच्चरित होने पर भी मूलतः वह अनुदात्त के रूप में ही माना जाता है, पर उदात्त सदा उदात्त के रूप में ही गृहीत होता है। इन मौलिक भेदों के कारण ही उदात्त के समान उच्चार्यमाण और स्वराङ्कन में निरङ्कित प्रचय को महाभाष्यकार ने उदात्तादि से भिन्न एक स्वतन्त्र स्वर माना है।[३१] प्रचय, एकश्रुति, उच्चश्रुति, उदात्तश्रुति, उदात्तमय, एकस्वर, तानस्वर, प्रचित, प्रच, निचित आदि सभी शब्द समानार्थक हैं।

अभी तक उदात्तादि स्वरों का स्वरूप, स्वभाव और उच्चारण पर प्रकाश डाला गया है। अब मूल बिन्दु पर आते हैं। लेख के आरम्भ में कुछ प्रश्न उठाये गये थे कि— पाणिनि आदि आचार्यों ने तो उदात्त का उच्चारण उच्चध्वनि से करने का विधान किया है, परन्तु पारम्परिक वेदपाठ में स्वरित उच्चध्वनि से बोला जाता है। यह कहाँ तक उचित है ? क्या यह शास्त्रीय है ? इत्यादि। जहाँ तक मैं समझता हूँ— पूर्व के प्रतिपादन से सभी सन्देहों का स्पष्टीकरण हो गया होगा। पुनरपि उसे साररूप में प्रस्तुत करता हूँ—

'उदात्त को उच्चध्वनि से बोलना चाहिए [उच्चैरुदात्तः]' इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उदात्त को सर्वोच्च ध्वनि से बोलना चाहिए, अपितु 'अनुदात्त (नीचैस्त्व) से उच्च बोलना चाहिए' है। परम्परागत उच्चारण ऐसा ही देखा जाता है। इसमें कोई सन्देह का अवसर नहीं है। पूर्व के रेखाचित्रादि से स्पष्ट है कि— **उदात्त सर्वोच्च स्वर नहीं है, अपितु मध्यम स्वर है। स्वरित को मध्यम स्वर समझा जाता है, परन्तु वह सर्वोच्च स्वर है।** मध्यम स्वर उदात्त को आचार्यों ने उच्च स्वर क्यों कहा है ? इसका समाधान यह है कि उदात्त से उच्चैस्त्व का आरम्भ होता है। इसके पश्चात् उच्चैस्तर स्वर (स्वरित) है। उदात्त से पूर्व नीचैः, नीचैस्तर स्वर हैं। स्वरित का सर्वोच्च स्वर में बोलने का जो प्रश्न है उसका समाधान यह है कि प्रायः सभी आचार्यों ने स्वरित के लक्षण को 'उदात्त एवं अनुदात्त का समाहार' के रूप में वर्णित किया है। वही सबके संज्ञान में रहता है। परन्तु उसके विशिष्ट उच्चारण का विधान तो प्रातिशाख्यों में है; जिसका वर्णन सप्रमाण पूर्व में हो चुका है। स्वरित का आद्य अर्धमात्रा उच्चतर होता है और अवशिष्ट भाग का उच्चारण उच्च (उदात्त) के रूप में होता है। इसप्रकार उच्चतर तथा उच्च को मिलाकर स्वरित का उच्चारण होने से सर्वोच्चध्वनि के रूप में सुनाई देता है। पारम्परिक दाक्षिणात्य वेदपाठी इसका उच्चारण शुद्ध ही करते हैं। दीर्घस्वरित का उच्चारण आजकल क्रमशः उच्च और उच्चतर के रूप में करते हैं, जो कि विचारणीय है। शास्त्रीयसिद्धान्त के अनुसार पहले उच्चतर और बाद में उच्च बोलना ही शुद्ध है।

स्वराङ्कन विषयक स्पष्टीकरण— उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों का अङ्कन क्रमशः अनङ्कित (अचिह्नित), अधोरेखा (—) और ऊर्ध्वरेखा (') के द्वारा किया जाता है, यह सर्वविदित है। परन्तु यह नियम प्रायिक है, सार्वत्रिक नहीं है। काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में तथा शतपथ आदि ब्राह्मणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वराङ्कन होता है। इसके पूर्ण ज्ञान के लिए युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा विरचित 'वैदिक—स्वर—मीमांसा' पुस्तक में 'वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन का प्रकार' लेख को देखें। यहाँ हमारा विशेष कथनीय यही है कि उदात्तादि के अङ्कन में विभिन्नता होने पर भी उनके उच्चारण में कोई भेद नहीं होता है। उच्चारण में सभी का

३१. सप्त स्वरा भवन्ति— उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः(म०भा० १.२.३३)।

ऐकमत्य है।[३२] केवल अपनी - अपनी शाखा या सम्प्रदाय के भेदत्व के लिए स्वराङ्कन में भेद किया गया है।

स्वरों का दोषरहित शुद्ध उच्चारण— उदात्तादि स्वरों का उच्चारण सर्वथा शुद्ध होना चाहिए, जिससे श्रोता व अध्येताओं को यह स्पष्ट ज्ञात हो सके कि यह वर्ण उदात्त है, यह अनुदात्त है, यह स्वरित है, यह प्रचय है। इसी प्रयत्नविशेष से वेद का श्रुतित्व सुरक्षित रह सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए प्रातिशाख्यकारों ने स्वरों के उच्चारण में सम्भावित दोषों को दिखाया है। जिससे कि वेदों के अध्यापक एवं अध्येता उन दोषों को दूर कर सकें—

१. **असन्दिग्धान् स्वरान् ब्रूयात्** (ऋ० प्रा० ३.२९)

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय स्वरों का उच्चारण अस्पष्टता, सन्देह आदि दोषों से रहित बोलना चाहिए। जिससे प्रत्येक का ज्ञान स्पष्टतया हो सके। शुद्ध उच्चारण से मन्त्र का अभीष्ट अर्थ भी प्रकट होता, अन्यथा अनर्थ भी होता है। यथा— "**सा मा शान्तिरेधि**" (यजु० ३६.१७)। इसका अर्थ है— [सा] वह (द्यु, अन्तरिक्ष आदि की) शान्ति (मा) मुझे प्राप्त हो। यहाँ 'मा' के अनुदात्त का उच्चारण होने पर ही मुझे अर्थ निकलता है।[३३] अनुदात्त के स्थान पर उदात्त (मा) का उच्चारण करने पर निषेध अर्थ प्रकट होता है[३४] अर्थात् 'वह द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी आदि की शान्ति न हो' अर्थ निकलता है। इसलिए स्वरों के शुद्ध उच्चारण में विशेष प्रयत्न करना चाहिए। महाभाष्यकार ने भी इस प्रयत्नविशेष का उल्लेख किया है— "**य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददात्यन्यत् त्वं करोषीति**" (म०भा० १.१.१)।

२. **अविकृष्टान्** (ऋ०प्रा० ३.३०)

उदात्तादि सन्धिज स्वरों को और अकारादि अचों को सन्धि का विच्छेद कर पृथक्-पृथक् नहीं बोलना चाहिए। जैसे— '**पितरश्चोपासते**' (यजु० ३२.१४) का उच्चारण '**पितरश्च उपासते**' के रूप में करना, '**तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो..... योऽ३स्मान् ०**' (अथर्व० ३.२७.१) का उच्चारण '**तेभ्यो नमो अधिपतिभ्यो..... यो३ अस्मान्**' करना महान् दोष है। अतः इस दोष का परित्याग करना चाहिए।

३. **अकम्पितान्** (ऋ०प्रा० ३.३१)

उदात्तादि स्वरों को कम्पन रहित बोलना चाहिए। जिन स्वरितों के उच्चारण में कम्प स्वर विहित है,[३५] उससे अन्य स्वरितों में भी कम्प करना दोष है। अतः इस कम्प दोष का भी त्याग करना चाहिए।

४. **स्वरितं नातिनिर्हण्यात्** (ऋ०प्रा० ३.३२)

स्वरित स्वर को आक्षेप (तिर्यग्गमन) के द्वारा अत्यधिक नहीं खींचना चाहिए।

५. **पूर्वौ नातिविवर्तयेत्** (ऋ०प्रा० ३.३३)

पूर्व के उदात्त और अनुदात्त स्वरों के उच्चारण में उच्चारणावयवों को क्रमशः अधिक ऊपर और अधिक नीचे न खीचें।

---

३२. आचार्यों में यदि ऐकमत्य न होता तो उदात्तादि के लक्षणादि विषयक मतभेद प्रातिशाख्य, शिक्षादि में दीखता। मतभेद के दिखाई न देने से स्पष्ट है कि उच्चारण में सब आचार्य एकमत हैं।

३३. अनुदात्तं सर्वमपादादौ, त्वामौ द्वितीयायाः(अष्टा० ८.१.१८,२३)।

३४. निपाता आद्युदात्ता भवन्ति।

३५. द्र० लेखक का 'शिक्षाशास्त्रम्' (पृ० ५३—५५) और प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २२१-२२२।

३.१०. 'यज्ञ' का उच्चारण - यज्ञ अथवा यग्ञ?

'यज्ञ' शब्द में विद्यमान 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्+ञ्+अ' अथवा 'ग्+ञ्+अ' आदि के रूप में सुना जाता है। पर शास्त्रीय परम्परा व दृष्टि से 'ज्+ञ्+अ' उच्चारण ही शुद्ध है। आजकल एक लेख फेसबुक आदि में प्रसारित हो रहा है, जिसमें 'ग्+ञ्+अ' उच्चारण को शुद्ध माना गया है। उनका मानना है कि 'ज्+ञ' के बीच में 'गँ्' इस तृतीय यम की उत्पत्ति होती है– 'ज्+गँ्+ञ'। यहाँ सन्धिकार्य होकर ग्+गँ्+ञ=ग्ञ रूप निष्पन्न होता है। जब यहाँ 'ज्' वर्ण ही नहीं है, तो 'ज्ञ' वर्ण का उच्चारण 'ज्+ञ्+अ' के रूप में करना अशुद्ध है। अतः उसका उच्चारण 'ग्+ञ्+अ' के रूप में ही करना चाहिए।

इस विषय के प्रतिपादक महाशय जी यम के स्वरूप को समझने में बहुत बड़ी भूल की है। यही भूल अनेकों आचार्यों ने भी की है। हम यहाँ संक्षेप से शास्त्रीय सिद्धान्त को दिखाते हैं–

१. यम एक शुद्ध नासिक्य ध्वनि है (अनुस्वारयमाः नासिक्याः– पा० शि० १.१६; तै०प्रा० २१.१२; पद० १.१.९; व्या० शि० ४१३, द्र० वहीं– वेदतैजस आदि)। पर उक्त लेख के लेखक ने यम को अनुनासिक लिखा है, जो कि नितान्त अशास्त्रीय है। नासिक्य एवं अनुनासिक के भेद को जो नहीं जान पाया, वह महाशय शास्त्रीय निर्णय देने लगे, यह एक विडम्बना है, अस्तु।

२. यम का उच्चारणमात्र ही हो सकता है। इसके प्रदर्शनार्थ अभी तक किसी लिपि की कल्पना नहीं की गयी है। यम को अनेकों आचार्यों ने ''अशरीर'' कहा है। इसके तात्पर्य को बताते हुए श्रीमान् भट्टोजी दीक्षित जी लिखते हैं– ''**अशरीरमिति स्वरभक्त्यादिवद् व्यञ्जकलिपिविशेषशून्यमित्यर्थः। लक्षणवशेनैव तदीयस्थल-विशेषनिश्चयसम्भवाल्लिपिसम्प्रदायप्रवर्तकाचार्यैः स्वरभक्तेरिव यमस्यापि व्यञ्जकीभूता लिपिर्न कल्पितेत्यर्थः। ....'कचटतपाः कुः, खछठथफाः खुः' इत्यादिपरिभाषामाश्रित्य तत्तदुत्तरस्याशरीरस्यापि (=अरूपस्यापि) कथञ्चित्-प्रदर्शनतात्पर्यकं चेदमिति ध्येयम्**'' (श०कौ० १.१.८)।

यम चार हैं। प्रथम यम कुँ=कँ् चँ् टँ् तँ् पँ्, द्वितीय यम खुँ=खँ् छँ् ठँ् थँ् फँ्, तृतीय यम गुँ=गँ् जँ् डँ् दँ् बँ्, चतुर्थ यम घुँ=घँ् झँ् ढँ् धँ् भँ्। यम के प्रदर्शन का प्रकार यह है कि पञ्चम स्पर्शवर्ण के परे रहने पर पूर्व में विद्यमान जिस स्पर्श वर्ण का आश्रय लेकर यम उत्पन्न होता है, उसे उसी वर्ण के सदृश लिखा व दिखाया जाता है– **यमः प्रकृत्यैव सदृक्** (ऋ०प्रा० ६.३२)। जैसे कि प्रथम यम के उदाहरण– रुक्कँ्म, मुमुच्चँ्महे, आट्टँ्णारः, आत्तँ्मा, पापँ्मानम्। इन सब में प्रथम यम एक ही है, वह प्रथम यम किस प्रथम स्पर्श वर्ण के आश्रय से उत्पन्न हुआ है? इसे ज्ञापित करने के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में लिखा जाता है। इस बात को न समझ कर कुछ लोग 'पत्नी' शब्दस्थ यम को 'पत्तँ्नी' के बदले में 'पत्कँ्नी' के रूप में दिखाते हैं, जो कि अशास्त्रीय है और अल्पज्ञता का बोधक है, अस्तु।

प्रकृत प्रसंग में 'ज्ञ' (ज्+ञ) तृतीय यम (गुँ= गँ्, जँ्, डँ् दँ् बँ्) की उत्पत्ति का उदाहरण है। यहाँ तृतीय यम 'ज्' के आश्रय से उत्पन्न है, अतः 'जँ्' के रूप में दिखाना ही शास्त्रसम्मत है। अर्थात् 'ज्+ञ > ज्+जँ्+ञ्=ज्ञ। अतः इसका उच्चारण 'ज्+ञ्+अ' ही शुद्ध एवं प्रामाणिक है।

तृतीय यम को यहाँ (यज्ञ शब्द में) 'गँ्' के रूप में लिखना व समझना अशास्त्रीय है। गँ्, जँ्, डँ् आदि रूप तो तृतीय यम के प्रदर्शक मात्र हैं। यम तो इन से भिन्न शुद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र है। यदि कँ् आदि में विद्यमान क् आदि वर्णों को भी यदि कोई यम समझते हैं तो, इस समझ में विद्यमान दोष व अशास्त्रीयता को देखें–

१. 'क्' आदि वर्ण योगवाह हैं, अयोगवाह नहीं है। अयोगवाह ही नहीं हैं, तो इन्हें यम मानना कैसे उचित हो सकता है ?

२. सानुनासिक भेद केवल अच् एवं रेफवर्जित अन्तस्थ (यँ, लँ, वँ,) वर्णों में ही निर्विवादरूप से माना जाता है, अन्य वर्णों में नहीं। पुनः सर्वथा निरनुनासिक क्-आदि वर्णों को सानुनासिक क्यों लिखते हैं ? अर्थात् 'कँ' आदि वर्णों को यम समझना महती भूल है। यम तो कादि से भिन्न शुद्ध नासिक्य ध्वनि मात्र है, उसका द्योतक 'कँ' आदि हैं।

३. यदि कादि भी यम हैं तो, यमों के अन्तःप्रयत्नों का उल्लेख आचार्यों ने क्यों नहीं किया?

४. यदि कादि भी यम हैं तो, वे स्वयं पूर्वरूपक ही हैं, पुनः पूर्वसदृक् क्यों कहा गया है?

५. यदि 'कँ' आदि यम हैं तो, यम चार ही क्यों? बीस क्यों नहीं ?

६. यदि 'कँ' आदि यम हैं तो, वे आस्यध्वनियाँ हैं ? न कि नासिक्य ?

यमों के शास्त्रीय स्वरूप को विस्तृतरूप से जानने के लिए मेरे द्वारा विरचित ''शिक्षाशास्त्रम्'' के ''शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्'' के अन्तर्गत 'यमविवेचन' शीर्षक परिशिष्ट को देखें।[1]

ब्रह्मज्ञान

वेदान्तेषु प्रसिद्धोऽसौ तपसा ज्ञायते शनैः ।
श्रद्धया परया भक्त्या स्वकर्मनिरतैर्द्विजैः ।।

(नि० शलो० वा० २.१.४८९-४९०)

वेदों का तात्पर्यभूत आध्यात्मिकता में एवं उसके प्रतिपादक उपनिषदादि में प्रसिद्ध (उपदिष्ट) वह परमात्मा स्वकर्म में निरत द्विजों के द्वारा तप से, श्रद्धा से और परा भक्ति से ज्ञात होता है।

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रो यावद् ब्रह्म न विन्दति ।
तावद् भ्रमति संसारे ह्यसारे दुरतिक्रमे ।।

(पारा० शि० १४७-१४८)

चतुर्वेदविद् विद्वान् भी जब तक ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक इस दुस्तर असार संसार में भ्रमण करता है, जन्म-मरण को प्राप्त करता है।

---

१. प्रस्तुत इस ग्रन्थ में भी पृष्ठ २६९-२९२ पर यमविषयक दो लेख संगृहीत हैं। अतः पाठक इन्हें देखें।

चतुर्थ अध्याय

वेदाङ्गकल्प

४.१. पशुयागमीमांसा *

परमात्मा ने भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए इस दृश्य चराचर व जड़-चेतन जगत् की सर्जना की है।[1] जड़जगत् तो साधन के रूप में चेतनजगत् के लिए उत्पन्न है। चेतन अर्थात् जीवात्मा को अपने कर्मफल को भोगते हुए अपवर्ग को सिद्ध करना है। अपवर्ग (मोक्ष) की सिद्धि ज्ञान से होती है। ज्ञान की सिद्धि ईश्वरप्रदत्त वेद (श्रव्य) और ईश्वरसृष्ट चराचर जगत् (दृश्य) से होती है। क्योंकि ये ही दो ईश्वर की रचनाएँ हैं। उपनिषदों में भी देखते हैं कि— कोई ब्रह्म की जिज्ञासा लेकर किसी ऋषि के पास जाता है तो, कोई भी ऋषि प्रश्न के उत्तर में सीधा ब्रह्म का उपदेश नहीं करता है। अपितु पिण्ड या ब्रह्माण्ड के विज्ञान का उपदेश करता है। क्योंकि इन्हीं पिण्ड-ब्रह्माण्डों के माध्यम से ब्रह्म को समझाया जा सकता है। पिण्ड का विज्ञान आध्यात्मिक है और ब्रह्माण्ड का विज्ञान आधिभौतिक एवं आधिदैविक है। इसप्रकार पिण्ड-ब्रह्माण्डों के माध्यम से ब्रह्म को समझना या समझाना साक्षात्कृतधर्मा ब्रह्मविद् ऋषि से ही सम्भव है। इस दृश्य से भिन्न ईश्वर की रचना जो श्रव्य (श्रुत्यात्मक) वेद है, उसके ज्ञान से भी ईश्वर का बोध, अपवर्ग की सिद्धि सम्भव है। वेद भी पिण्ड - ब्रह्माण्डों के विज्ञान के माध्यम से ही ईश्वर की परमसत्ता का बोध कराते हैं।[2] पर वेदों को समझने के लिए आज वेदाङ्गादि अनेकों शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता है। इस शास्त्रीय अध्ययन में तथा पिण्ड-ब्रह्माण्डों के अध्ययन में धार्मिकता का ओत-प्रोत रहना अनिवार्य है।अन्यथा शास्त्रीय पाण्डित्य शब्दजालमात्र सिद्ध होता है और पिण्ड-ब्रह्माण्डों का ज्ञान-विज्ञानमात्र सिद्ध होता है। इसे आज के पण्डितों (विद्वानों) एवं डॉक्टर, वैज्ञानिक आदि में हम प्रत्यक्षतया देख सकते हैं। जिससे अपवर्ग की सिद्धि नहीं होती है। अतः अपवर्ग की सिद्धि के लिए इन ज्ञान - विज्ञानों के साथ धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता का रहना अनिवार्य है। इस अनिवार्यता की पूर्ति के लिए ही यज्ञों का उपदेश हुआ है।[3] कहा भी गया है —

दर्शं च पौर्णमासं चाग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥[4]

(म०भा०, शान्ति० २६९.२०)।

पिण्ड-ब्रह्माण्डों के ज्ञान-विज्ञानों का समन्वय करते हुए ही यज्ञ-यागों के क्रियाकलाप निर्धारित हुए हैं —

एतस्माद्वा ओ॑द॒नात् त्रय॑स्त्रिंशतं लो॒कान् निर॑मिमीत प्र॒जाप॑तिः॥
तेषां॑ प्र॒ज्ञाना॑य य॒ज्ञम॑सृजत ॥ (अथर्व० ११.३.५२-५३)

प्रजापति परमेश्वर ने अपने इस वेदज्ञानरूपी ओदन से ही तेंतीस लोकों का निर्माण किया है।[5] इन सभी

---

* यह लेख वेदवाणी (नवम्बर-२०२२) में प्रकाशित है।

१. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (योग० २.१८)।

२. नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तै०ब्रा० ३.१२.९.७)।

३. सब मनुष्य विद्वानों के सङ्ग, योगाभ्यास और धर्म के आचरण से परमेश्वर को अवश्य जानें। ऐसा न करें तो यज्ञ आदि श्रौत, स्मार्त कर्मों (यज्ञों) को नहीं सिद्ध करा सकें और न मुक्ति पा सकें (दया०,यजु० १८.६०)। स्वामी जी के इस वचन से हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि श्रौत एवं स्मार्त यज्ञों का प्रयोजन मोक्ष है।

४. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (मीमांसा० १.१.२)।

५. वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे (मनु० १.२१)।

लोकों के ज्ञान-विज्ञान के लिए ही परमात्मा ने यज्ञों की उत्पत्ति की है।

आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों के ज्ञान को यज्ञ (की क्रियाओं एवं उसमें विनियुक्त मन्त्रों) के माध्यम से जानकर परमपद मोक्ष को प्राप्त करना ही यज्ञों का यथार्थ एवं मुख्य उद्देश्य है– **स्वर्गकामो यजेत।**[1] अतः स्पष्ट है कि यज्ञ की सभी क्रियाएँ, वस्तु (पात्र) आदि केवल प्रतीकमात्र हैं। उनसे प्रतीत्य को जानकर आध्यात्मिक आदि ज्ञानों के द्वारा आत्मा को संस्कृत अर्थात् शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल करना चाहिए –

आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजी इति? आत्मयाजीति ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते। इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति। स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्यते, एवमस्मान्मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते। स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममय आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसम्भवति (शत०ब्रा० ११.२.६.१३)। **यजमानं वा एतेन सर्वेण यज्ञक्रतुना संस्कुर्वन्ति** (ऐ०ब्रा० ६.५.५.)।

यज्ञ की एक-एक क्रिया व वस्तु के प्रतीत्य (उद्देश्य) को जानते हुए अपने आत्मा को शुद्ध-पवित्र करने के संकल्प वाला आत्मयाजी यजमान यज्ञ की अमुक-अमुक क्रिया से मेरा यह-यह अङ्ग संस्कृत होगा, इस-इस प्रकार करने से मेरा अन्तःकरण निर्मल होगा, ऐसा विचारता हुआ यज्ञ का अनुष्ठान करता है। इसप्रकार का आत्मयाजी (प्रतीत्ययाजी) ही सर्प का केंचुली से मुक्त होने के समान सभी बन्धनों से मुक्त होता है और परमपद को प्राप्त करता है। अत एव आत्मयाजी द्रव्ययाजी (प्रतीकयाजी) की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। क्योंकि आत्मयाजी यज्ञ के सभी फलों को प्राप्त करता है, अन्य नहीं। सायणाचार्य भी कहते हैं– **यज्ञं तन्वानाः=मानसयज्ञं कुर्वाणाः** (सायणः, कां० सं० ३५.१५)। **तत्र कर्मणां भावनापुरस्सरमनुष्ठाने फलविशेषो भविष्यति** (सायणः, शत०ब्रा०१०.१.१.१)। यज्ञ की क्रियाओं के मूल भावों (उद्देश्यों) को जानते हुए अनुष्ठान करने पर ही यज्ञों के अभीष्ट व विशिष्ट फल प्राप्त होते हैं। इसलिए यज्ञों के मूल उद्देश्य व प्रतीत्य को जानने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। यज्ञ की क्रियाएँ तो केवल प्रतीकमात्र हैं। प्रतीक से प्रतीत्य को जानने पर ही फल की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा यज्ञ निष्फल होकर आडम्बरमात्र सिद्ध होता है।

प्रतीक परार्थ (प्रतीत्य के लिए) होने से गौण (शेष) होता है[2], प्रतीत्य मुख्य (शेषी) होता है। प्रतीक साधनमात्र है, साधन से साध्य को सिद्ध करना चाहिए। तभी वह साधन कहलाता है, अन्यथा साधनत्व ही नष्ट हो जाता है। शतपथब्राह्मण में वर्णित विदेह राजा जनक एवं याज्ञवल्क्य का प्रसिद्ध संवाद[3] इस प्रसङ्ग में स्मर्तव्य है– हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम अग्निहोत्र (हव्यद्रव्य) को जानते हो? हाँ, सम्राट्! जानता हूँ। क्या है? दूध[4] ही

---

१. पं० ब्रा० (१६.३)। अपि च द्र० जै० ब्रा० २.२७६,२८०। स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः (म०भा०,शान्ति० २६८.१८)।

२. शेषः परार्थत्वात् (मीमांसा० ३.१.२)।

३. तद्धैतज्जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ । वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य३ इति? वेद सम्राडिति। किमिति? पय एवेति।।२।। यत्पयो न स्यात्, केन जुहुया इति? व्रीहियवाभ्यामिति। यद् व्रीहियवौ न स्याताम्,केन जुहुया इति? या अन्या ओषधय इति । यदन्या ओषधयो न स्युः, केन जुहुया इति? या आरण्या ओषधय इति। यदारण्या ओषधयो न स्युः, केन जुहुया इति? वानस्पत्येनेति। यद् वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया इति? अद्भिरिति। यदापो न स्युः, केन जुहुया इति? ।।३।। स होवाच– न वा इह तर्हि किञ्चनासीत्, अथैतद् हूयतैव– सत्यं श्रद्धायामिति (=तेज एव श्रद्धा,सत्यमाज्यम्)। वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य! धेनुशतं ददामीति होवाच।।४।। (शत०ब्रा० ११.३.१.२-४)।

४. यहाँ पयः (दूध)शब्द दूध से बनने वाले दही, मक्खन, घी आदि का उपलक्षण है। क्योंकि ये भी हव्यद्रव्य हैं।

(हव्यद्रव्य) है। यदि दूध न हो तो किससे हवन करे? व्रीहि (धान्य) या यव (जौ) से। व्रीहि-यव न हों, तो किससे हवन करें? अन्य (ग्राम्य) ओषधियों से। यदि वे भी न मिले तो किससे करे? जङ्गल की ओषधियों से। उनके न मिलने पर किससे होम करें? वनस्पतियों (विना फूल के उत्पन्न फल, धान्य आदि) से। वनस्पतियों के न मिलने पर किससे हवन करे? जल से। यदि जल भी प्राप्त न हो तो किससे हवन करे? कुछ भी न मिलने की स्थिति में भी अग्निहोत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, तो कैसे करे? श्रद्धारूपी अग्नि में सत्य का हवन करे। यही (अध्यात्म) अग्निहोत्र (का होमद्रव्य) है, इसका त्याग नहीं करना चाहिए। बहुत अच्छा, आप अग्निहोत्र को जानते हैं -----।

इस संवाद से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूध आदि सभी हव्य द्रव्य सत्य के प्रतीक हैं। जो प्रतीक होते हैं, वे गौण होते हैं। अत एव उनके विकल्प (प्रतिनिधि के रूप) में अन्यान्य का ग्रहण सम्भव हो जाता है। जो प्रतीत्य (मुख्य) होता है, उसका विकल्प नहीं होता है । वही (प्रतीत्य ही) तो जानने योग्य है। उसे जानना ही यथार्थ यज्ञ है, आत्मयज्ञ है । यहाँ यह भी विशेषतया ज्ञातव्य है कि यहाँ के हव्य द्रव्यों में मांस (पशु के हृदयादि अवयवों) का उल्लेख नहीं है । दूध से लेकर पानी तक के भौतिक एवं मेध्य पदार्थो का ही उल्लेख है, अमेध्य (अपवित्र) मांस आदि का नहीं। यदि मांस हव्य द्रव्य होता तो उसका उल्लेख अवश्य होता। इसप्रकार का निष्कर्ष यहाँ इसलिए लिखना पड़ रहा है, क्योंकि बहुत से प्रकाण्ड शब्दविद् (तात्पर्यार्थ को न जानते हुए केवल शब्दों को जानने वाले) विद्वान् वेद, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों के आधार पर यज्ञों में पशुबलि मानते हैं और सिद्ध करने का दुस्साहस भी करते हैं। इसी मान्यता की मीमांसा यहाँ संक्षेप से की जा रही है । पूर्वाग्रह को त्यागकर पशुयाग के यथार्थस्वरूप को समझने का प्रयास करे–

पशुयागमीमांसा– 'पशुयाग' शब्द को देखते ही तथाकथित पण्डित लोग स्थूल अर्थ को लेकर कहते हैं– पशु को मार (संज्ञपन) कर उसके कुछ अवयवों को यज्ञाग्नि में पकाकर उनकी आहुतियाँ देना और अवशिष्ट पश्वङ्गों (यज्ञशेष) का भक्षण (इडाभक्षण आदि) करना । इसप्रकार के पशुयाग का विधान वेदादि शास्त्रों में है या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? इत्यादि विषय तटस्थ होकर गम्भीरतया विचारने योग्य हैं।

सर्वप्रथम पशुशब्द के अर्थ को जानना होगा। क्योंकि पशु शब्द का अर्थ सर्वत्र, सर्वदा चतुष्पाद् प्राणिविशेष ही हो यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। वेदों के शब्द यौगिक होते हैं और शास्त्रों में कुछ पारिभाषिक शब्द भी होते हैं। उन्हें जाने विना तात्पर्यार्थ को जानना असंभव है। यजुर्वेद में एक मन्त्र आता है– **अग्निः पशुरा॑सीत्**[1] **तेना॑यजन्त**-------**वायुः पशुरा॑सीत् तेना॑यजन्त**------- **सूर्यः पशुरा॑सीत् तेना॑यजन्त**----- (यजु० २३.१७)। यहाँ स्पष्ट ही कहा गया है कि अग्नि, वायु, सूर्य पशु हैं। इससे ज्ञात होता है कि– **जो किसी के नियन्त्रण में रहता हुआ अपने नियत कार्य को पूर्ण करता है, उसे पशु कहते हैं।** इस अर्थ को लेकर अग्नि आदि भौतिक पदार्थो को पशु कह सकते हैं। इसी अर्थ को लेकर गाय, बैल आदि प्राणियों के लिए भी पशु शब्द प्रयुक्त होने लगा। क्योंकि गाय-बैल आदि भी मनुष्य के नियन्त्रण (पालन-पोषण आदि) में रहते हुए अपने-अपने नियत कार्यों को पूर्ण श्रद्धा-निष्ठा व समर्पणभाव से सम्पन्न करते हैं। **अब॑ध्नन् पुरु॑षं पशुम्** (यजु० ३१.१५)– यहाँ परमात्मा को भी पशु कहा गया है।[2] सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखने वाला[3], जानने

१. पशुरित्यग्निमाह (वेंकटः, ऋ० ५.७.७)। स (पशुः) यथा सर्वं भक्षयति, तथा त्वं (अग्निः) प्रौढकाष्ठादीनि क्षणमात्रेण दहसीत्यर्थः (सायणः, ऋ० ६.२.९)।

२. पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः (सायणः, कां० सं० ३५.१५)। (यद् यज्ञं तन्वानाः) जिस मानस यज्ञ को विस्तृत करते हुए (देवाः पशुं पुरुषम् अबध्नन्) विद्वान् लोग जानने योग्य परमात्मा को हृदय में बान्धते (दयानन्द, यजु० ३१.१५)।

३. पशुः पश्यतेः (निरु० ३.१६)। यदपश्यत् तस्मात् पशुः (शत० ६.२.१.१.)।

वाला एवं सभी मनुष्यों के द्वारा जानने योग्य होने से परमात्मा का नाम ''**पशु**'' है। लौकिक व्यवहार में सीधा-सरल स्वभाव के व्यक्ति को गाय या बैल; शूरवीर, पराक्रमी एवं श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए सिंह, व्याघ्र, केसरी[१] और मूर्ख के लिए गधा, उल्लू आदि प्रयोग प्रसिद्ध ही हैं। इतना ही नहीं वेदों में तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों का पशुओं की प्रवृत्तियों के साथ उपमा देखी जाती है। तद्यथा—

उलू॑कयातुं शुशुलूक॑यातुं ज॒हि श्वया॑तुमु॒त कोक॑यातुम्।
सु॒प॒र्णया॑तुमु॒त गृध्र॑यातुं दृ॒षदे॑व॒ प्र मृ॑ण॒ रक्ष॑ इन्द्र ॥ (अथर्व० ८.४.२२)

गर्भोपनिषद् में तो लोभादियों को पशु ही कहा गया है।[२] इसप्रकार पशुशब्द के अनेकानेक अर्थ वेदादि में देखे जाते हैं। पुनः कर्मकाण्ड जैसे पवित्र यज्ञों में पशुशब्द से शुद्धयाज्ञिकों[३] के द्वारा अज (बकरा) आदि अर्थ ही लेना अज्ञता का द्योतक है। क्योंकि श्रेष्ठतम यज्ञों में पशु के अमेध्य (अपवित्र, अयज्ञीय) अङ्गों (मांस) का याग करना अशास्त्रीय है। इसे ब्राह्मणकार एक आख्यान के माध्यम से कहते हैं—

पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त, तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत्, तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्----- तेऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादालब्धाद् उदक्रामत्, स गां प्राविशत्, तस्माद् गौर्मेध्योऽभवद्----- ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्माद् अविर्मेध्योऽभवद् तेऽविमालभन्त, सोऽवेरालब्धाद् उदक्रामत्, सोऽजं प्राविशत्, तस्माद् अजो मेध्योऽभवत्---तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धाद् उदक्रामत्, स इमां (पृथिवीं) प्राविशत्, तस्माद् इयं मेध्याभवद्--- त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्माद् एतेषां (मांसं) नाश्नीयात्। तमस्यामन्वगच्छन्, सोऽनु गतो व्रीहिरभवत्[४], तद्यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति----॥ स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः (ऐ०ब्रा० २.८-९; अपि च द्र०मा० शत० ब्रा० १.२.३.६,७,९)।

पहले देवों ने अपने यज्ञ में मनुष्य-पशु का आलम्भन किया है। किन्तु उससे मेध अर्थात् यज्ञ के योग्य हविर्भाग निकल गया है और वह मेध अश्व में प्रविष्ट हो गया है। इसलिए अश्व यज्ञ के लिए योग्य (मेध्य) हुआ। देवोंने अश्व का आलम्भन किया है, पर उससे भी मेध निकल गया और वह गाय में प्रविष्ट हो गया। अब गाय मेध्य हो गयी है। अतः उन्होंने गाय का आलम्भन किया है, पर उससे मेध निकल गया और अवि (भेड़) में प्रविष्ट हो गया। अब भेड़ यज्ञ के योग्य हविर्भाग बन गया है। तब उन्होंने भेड़ का आलम्भन किया, परन्तु उससे भी मेध निकल गया और अज (बकरे) में प्रविष्ट हो गया, जिससे बकरा मेध्य पशु हो गया, तो देवों ने बकरे का आलम्भन

---

१. दर्शनकेसरी, पुरुषसिंहः, पुरुषव्याघ्रः आदि। अपि च द्र० काशिका २.१.५६।

२. शरीरमिति कस्मात्? अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते, ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवन्ति— मुखे आहवनीयः, उदरे गार्हपत्यः, हृदि दक्षिणाग्निः। आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्म, **लोभादयो पशवः**, धृतिर्दीक्षा सन्तोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालम्, केशा दर्भाः, मुखमन्तर्वेदि (ग० उप० ५)। यहाँ स्पष्टतया यज्ञ (प्रतीक) का अध्यात्मस्वरूप (प्रतीत्य) प्रकट किया गया है। मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता (तै०आ० १०.६४.१) क्रोध पशु है, तप अग्नि है, दमन (नियन्त्रणगुण) शमयिता है। अर्थात् आत्मनियन्त्रणरुपी शमयिता क्रोधरुपी पशु को मारकर तपरूपी अग्नि में आहुत करता है।

३. यज्ञों का उद्देश्य, क्रियाओं का तात्पर्य, मन्त्रों का अर्थ इत्यादि को शास्त्रीय दृष्टिकोण से जाने विना केवल यज्ञों को करनेवालों को स्कन्दस्वामी एवं मीमांसक आदि शुद्धयाज्ञिक कहते हैं। जिन्हें हम इस लेख में आगे शुष्कयाज्ञिक कहेंगे।

४. स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीषुः। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहियवौ।----- स यावद् वीर्यवद्ध वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युः, तावद् वीर्यवद्धास्य हविः (मा० शत० ब्रा० ५.२.३.७)।

किया है, उसका आलम्भन करते ही मेध उससे भी निकल गया और पृथिवी में प्रविष्ट हो गया है, जिससे पृथिवी मेध्य बन गयी है। उत्क्रान्त मेध वाले मनुष्य, अश्व, गो, अवि और अज ये पांच पशु यज्ञ केलिए अयोग्य हुए अर्थात् इनसे यज्ञ नहीं करना चाहिए और न ही इनके हुतशेष अङ्गों का भक्षण ही करना चाहिए। देवों के द्वारा उस पृथिवी में मेध्य हविर्भाग का खोजे जाने पर वह मेध (अब भागने में असमर्थ होकर) व्रीहि (धान) हो गया है। अब यही व्रीहि यज्ञीय हवि है।[1] अतः इससे अर्थात् इसके आटे से पुरोडाश बनाकर किया गया यज्ञ मेध सहित पशुयाग ही होता है।

यहाँ ब्राह्मणकार ऐतरेय ऋषि ने हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि मनुष्य से लेकर अज तक के पांचों पशु[2] अमेध्य हैं, क्योंकि इनमें यज्ञ के योग्य हविर्भाग है ही नहीं। मेध का निकलना और प्रविष्ट होना आदि का कथन तो केवल आख्यानमात्र है। व्रीहिमय और यवमय पुरोडाशों को पशु मानते हुए उनमें पश्वङ्गों की कल्पना करने का भी परामर्श दिया गया है– **अत्र (पशुस्थानीये पुरोडाशे) उ सा सम्पद् यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति। यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति, यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति, यदा संयौत्यथ मांसं भवति---यदा श्रृतोऽथास्थि भवति----यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं मज्ञानं दधाति** (मा०शत०ब्रा० १.२.३.७-८)। पुरोडाश से याग करने में मानो उक्त पांच ग्राम्य पशुओं की चरितार्थता है। क्योंकि पुरोडाश के निर्माण में उसका जब आटा का रूप होता है, तब वह पशु का लोम है, जब उसमें पानी डालकर कुछ मिलाते हैं, तो वह त्वग्रूप हो जाता है, जब पूरा मिला देते हैं, तब वह मांसरूप हो जाता है, जब उसे अग्नि में पकाते हैं, तब वह अस्थिरूप वाला हो जाता है, अग्नि से उतार कर जब उस पर घी डालते हैं, तो वह मज्जारूप वाला हो जाता है। यहाँ यह भी विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए कि यज्ञ के प्रसंग में पशु और उसके अवयववाची शब्द विशेष पारिभाषिक शब्द हैं अर्थात् पशु शब्द से 'पुरोडाश' अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।[3] इसीप्रकार लोम, त्वक्, मांस आदि सभी शब्द भी पारिभाषिक शब्द हैं। पारिभाषिक शब्दों के अर्थग्रहण में प्रसिद्धार्थों का ग्रहण करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है एवं अज्ञानता का द्योतक है। इसीप्रकार पारिभाषिक शब्दों का विवरण ऐतरेय ब्राह्मण में भी मिलता है–

तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि, ये तुषाः सा त्वग्, ये फलीकरणास्तदसृग्, यत् पिष्टं किक्नसास्तन्मांसं, यत्किंचित्कं सारं तद् अस्थि। सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति (ऐ० ब्रा० २.९)। यहाँ पुरोडाश में पश्वङ्गों के कथन करने के पश्चात् ऐतरेय ऋषि कहते हैं कि – ''यह पुरोडाशयाग सभी ग्राम्य पशुओं के मेधभाग से कृत पशुयाग के समान होता

१. यहाँ व्रीहि का कथन यव आदि का उपलक्षण है। तद्यथा– एते वै पशवो यद् व्रीहयश्च यवाश्च। यद् व्रीहिमयः पुरोडाशो भवति, तेनैव पशुरालभ्यते शान्त्या अनिर्मार्गाय (मै०सं० २.३.१;४.३.६; अपि च द्र० १.६.११)। ओषधयः पशवः (मै०सं० २.५.१)। अन्नमु वै पशवः (जै०ब्रा० ३.१४१)।

२. इमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः (अथर्व० ११.२.९)। एतावन्तो (पुरुषः,अश्वः, गौः, अविः, अजश्च) वै ग्राम्याः पशवः (तै०सं० २.१.१.५)। ग्राम्य पशु आरण्य पशुओं से श्रेष्ठ होते हैं– ग्राम्या वै पशव आरण्येभ्यः पशुभ्यः श्रेयांसः (जै०ब्रा० २.३२)। श्रेष्ठ ग्राम्य पशुओं में ही यज्ञीय हविर्भाग (मेध) नहीं है, तो आरण्य पशुओं की बलि का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । अतः चतुष्पाद् पशु मात्र को यज्ञ के लिए अयोग्य (अमेध्य) जाने।

३. पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते (महा०शान्ति० २६३.४०)। पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत् पुरोडाश (मा०शत० ब्रा० १.२.३.५)। पशवो वै पुरोडाशः (तै०सं० ७.१.९.१; तै०ब्रा० १.८.६.३; तां० ब्रा० २१.१०.१०)। पशोर्वै प्रतिमा पुरोडाशः (तै०ब्रा० ३.२.८.८)।

है। अतः सभी आचार्य कहते हैं कि पुरोडाशयाग से ही यागों का अनुष्ठान करना चाहिए।'' अतः आज भी कुछ ऋत्विग्गण पशुयाग को पुरोडाश से सम्पन्न करते हैं। जिसे वे पशुपुरोडाश या पुरोडाशपशु कहते हैं। श्रौतकर्मकाण्ड के प्रामाणिक विद्वान् स्व० श्री विश्वनाथ श्रौती जी (नेल्लूरु, आन्ध्रा) 'आज्यपशु'[1] से पशुयागों का अनुष्ठान करवाते थे। उनके अनुयायी शिष्य आज भी वैसे ही करते हैं।

यज्ञों में पशुवध को अनेकों स्थानों पर क्रूरकर्म माना गया है। यथा– **तद् यत् क्रूरीकुर्वन्ति यदास्थापयन्ति०**[2] (मा०शत०ब्रा० ३. ८.२.८-११; अपि च द्र० ३.८.३.१०)। इस हिंसामय क्रूरकर्म एवं अमेध्य (आहुति के लिए अयोग्य) हृदयादि पश्वङ्गों के याग से उत्पन्न होने वाले दोष से यज्ञ को मुक्त करने हेतु ऋषियों ने नियम बनाया है कि – 'यूप में बन्धे हुए पशु को मारना नहीं है[3], अपितु पर्यग्निकरण[4] क्रिया के पश्चात् उसे खुला छोड़ना चाहिए।[5] पशु को यथेष्ट घूमने हेतु छोड़ देनेके पश्चात् पशुयाग कैसे सम्पन्न होगा? इसके समाधान में ऋषियों ने कहा है– **यद्देवताकः पशुः तद्देवताकः पुरोडाशः।**[6] पशु को जिस देवता के उद्देश्य से ग्रहण किया गया था, उसी देवता

---

१. आज्यपशु का तात्पर्य है– घड़े में घी भरकर उस घी में पश्वङ्गों की कल्पना करते हुए पशुयाग को सम्पन्न करना है। कहा भी गया है– **एतद्वै पशूनां रूपं यद् घृतम्** (का०सं० २८.४)। आचार्य यास्क ने भी **ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति** (निरु० २.५) के प्रसंग में गोदुग्ध के लिए गोशब्द के प्रयोग का कथन किया है। उसीप्रकार यहाँ गोघृत के लिए गोपशु को जानना चाहिए या घृत (आज्य) को सभी पशुओं का प्रतिनिधि जानना चाहिए। अथर्ववेद भी कहता है– **पयः॑ प॒शूनां॒ रस॑म् ओष॑धीनां॒ बृह॒स्पतिः॑ सवि॒ता मे॒ निय॑च्छात्** (अथर्व० १९.३१.५)। ईश्वर ने पशुओं का दूध और औषधियों का रस (व्रीहि आदि उत्तम अन्न) मेरे यज्ञ एवं भोजनादि के लिए नियत किया है। मन्त्रस्थ पयः शब्द आज्य आदि का उपलक्षक है। क्योंकि कहा भी गया है– **दधि॒ मधु॑ घृ॒तमापो॒ धा॒ना भ॑वन्त्ये॒तद्वै॒ प॒शू॒नां रू॒पम्** (तै०सं० २.३.२.८)।

२. आस्थापयन्ति सञ्ज्ञपयन्तीत्यर्थः (सायणः,मा०शत०ब्रा० ३.८.२.८)। आङ् + √स्था धातु का अर्थ 'सञ्ज्ञपन (मारना)' कैसे निकला? यह सायण स्वयं जाने। पशुयाग के स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही उन्होंने यह अनर्थ किया है।

३. न वा एतं मृत्यवे नयन्ति– यं (पशुं) यज्ञाय नयन्ति (मा०शत०ब्रा० ३.८.१.१०)।

४. अग्नीत् नामक ऋत्विक् आहवनीयाग्नि से कुछ अङ्गारों को लेकर पशु के चारों ओर तीन वार प्रदक्षिणा करता है। इस क्रिया को ही पर्यग्निकरण कहते हैं।

५. यत् पशून् आलभते (=स्पर्शं करोति) तेनै॒व प॒शून् अव॑रुन्धे॒ यत् पर्य॑ग्निकृतान् उत्सृजति (तै०सं० ५.१.८.३)। पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्त्ययातयामत्वाय (मै०सं० ३.१.१०)। पर्यग्निकृतानेवोदसृजत् (मा० शत० ब्रा० १३.६.२.१३; अपि च द्र० १३.२.४.३)। तान् पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्ति (तै०ब्रा० १.३.४.४; ३.९.१.३; आप०श्रौत० १८.३.१५; मी० शा० भा० ४.१.३३)। आलभते' का अर्थ कुछ विद्वान् 'मारना' करते हैं, पर उन्हें विचारना चाहिए कि मारने के बाद उत्सर्जन कैसे सम्भव होगा? खुला छोड़ा गया पशु पुनः बान्धा नहीं जाता है। सर्वथा बन्धन से मुक्त किया जाता है। आज भी पौराणिक लोग कुछ पूजा-पाठ करके देवी-देवताओं के नाम पर पशुओं को खुला छोड़ देते हैं। यह यज्ञीय उत्सर्जन का ही विकार है। छोड़ा गया वह पशु यथेष्ट घूमता है। उसे कोई भी डण्डे से पीटने का साहस तक नहीं करता, तब मारने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। लोग उसे पूजते हैं और खिलाते-पिलाते हैं।

६. यद्देवत्यः पशुर्भवति, तद्देवत्यं पुरोडाशमनुनिर्वपति, तद् यत् पुरोडाशमनुनिर्वपति सर्वेषां वा एष पशूनां मेधो यद् व्रीहियवौ। तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति, कृत्स्नं करोति। तस्मात् पुरोडाशमनुनिर्वपति (मा०शत०ब्रा० ३.८.३.१)। यहाँ के 'अनुनिर्वपति' शब्द से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि पहले पश्वङ्गों का निर्वाप कर उसके बाद तद्देवताक पुरोडाश का भी निर्वाप किया जाता है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ यह है कि देवों ने पहले निर्वाप के हेतु मनुष्य आदि पांच यज्ञीय पशुओं का ग्रहण किया था। पर उन सभी से मेध के निकलने के कारण उनको त्यागना पड़ा था। अन्त में अन्वेषण करने पर मेध व्रीहि और यव में मिला था। अत एव अब व्रीहि या यव का निर्वाप 'अनुनिर्वाप' कहलाता है, अस्तु। प्रकृतौ 'यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः' इत्यभिधानाद् (सायण, तै०सं० १.८.२१; अपि च द्र० ऐ०ब्रा० ४.२६)। निर्वपणकाले व्रीहिमयं पशुपुरोडाशं निर्वपति समानदैवतं पशुना (हि० श्रौ० ४.४.१४)। यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाश इति श्रुतेः (महादेवः, तत्रैव)। यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यश्चरुः श्रपयितव्यः (कौ० प०, का० सू० १३.१२७)।

के लिए पशु के स्थान पर पुरोडाश की आहुतियाँ देकर याग को सम्पन्न करे। परन्तु तात्पर्यार्थ से अनभिज्ञ शुष्कयाज्ञिक पश्वङ्गों के साथ-साथ पशुदेवता के लिए पुरोडाश का याग भी करते हैं। यह अज्ञानता की पराकाष्ठा है। **यदि पशु तथा पुरोडाश का सहप्रयोग अभीष्ट होता तो पुरोडाश को पशु मानने एवं उसमें पशु के अवयवों के उपचार की आवश्यकता ही नहीं थी।** स्पष्ट है पशु के उत्सर्जन के बाद उसके स्थान पर पुरोडाश का ग्रहण कर आगे के पशुयाग को सम्पन्न करना चाहिए। तभी पुरोडाश में पशुत्व और पश्वङ्गों की कल्पना सम्भव हो सकती है।

यहाँ और एक विषय विशेषतया ध्यातव्य है कि पर्यग्निकरण के पश्चात् पशु का उत्सर्जन कर उसके स्थान पर पुरोडाश को लेकर आगे का अनुष्ठान करते हैं, तो अनुष्ठाताओं के मन में यज्ञ की असम्पूर्णता की आशंका एवं यज्ञफल की अप्राप्ति का भय स्वाभाविकतया उत्पन्न होंगे। इसके समाधान के लिए ब्राह्मणकार ऋषि स्पष्ट कहते हैं– **तद् यत् पुरोडाशमनुनिर्वपति सर्वेषां वा एष पशूनां मेधो यद् व्रीहियवौ। तेनैवैनमेतन्मेधेन समर्धयति, कृत्स्नं करोति। तस्मात् पुरोडाशमनुनिर्वपति** (मा०शत०ब्रा० ३.८.३.१)। जो यह व्रीहि या यव के पशुपुरोडाश का अनुनिर्वाप किया जाता है, वह सभी पशुओं के मेध का प्रतिनिधि है। उसी मेध से इस पशुयाग को आगे बढ़ाता है और पूर्ण करता है अर्थात् किसीप्रकार की न्यूनता नहीं होती है।[1] इसलिए व्रीहिमय या यवमय पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है।[2] इतना ही नहीं महर्षि याज्ञवल्क्य की स्पष्ट घोषणा को देखिए– **स यावद् वीर्यवद्ध वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धा स्युः, तावद् वीर्यवद्धास्य हविः। हविरेव भवति – य एवमेतद् वेद। अत्रो सा सम्पद् यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति** (मा०शत०ब्रा० १.२.३.७)। पांच पशुओं के आलम्भन से जितना फल प्राप्त होता है, उतना ही फल निश्चितरूप से, निस्सन्देह इस व्रीहिमय या यवमय पुरोडाश की हवि से मिलता है। पांचों पशुओं की सम्पत्ति (श्री,फल) इस पुरोडाश की हवि में ही विद्यमान है अर्थात् पशुपुरोडाश से पशुयागसम्बन्धी सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। इन विषयों को न समझने के कारण एवं रूढिवादित्व के कारण सायण इस प्रसंग में संगतीकरण का असफल प्रयास करते हुए दीखते हैं– **पशुप्रयोगमध्ये प्रचारात् पुरोडाशानां पशुत्वम्** (सायणः, तै०सं० १.८.२१)। यहाँ तैत्तिरीयसंहिताकार स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं– **दधि मधु घृतमापो धाना भवन्त्येतद्वै पशूनां रूपम्। रूपेणैव पशून् अव रुन्धे** (तै०सं० २.३.२.८)। दही, शहद, घी, दूध और धान (व्रीहि,यव) पशु के ही रूप हैं, पशुतुल्य हैं। इसलिए मैं (याज्ञिक) इन दधि आदि पशुरूपों से ही पशुयाग करता हुआ पशु (के वध) को रोकता हूँ, पशुओं की रक्षा करता हूँ।

अभी तक के प्रतिपादन से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों में पशुओं का वध करना वेद एवं शास्त्रों से विरुद्ध कृत्य है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि पशु के हृदय आदि अवयवों को निकालकर[3] यज्ञाग्नि में पकाना और उनकी आहुति देने का जो विधान प्राप्त होता है, उसकी संगति कैसे लगेगी? उस विधान से तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि यागों में पशुवध का विधान है। इसमें किसीप्रकार का कोई सन्देह ही नहीं रहता है। इस विषय पर विचार करने से पूर्व वास्तविक पशु को जानना होगा। लेख के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि

---

१. यदि पशुयाग के साथ पशुपुरोडाश का याग करते हैं, तो न्यूनता की आशंका ही उत्पन्न नहीं होती है। पुनः उस आशंका के समाधान के लिए उक्त वचन का कथन व्यर्थ होता है। साथ में 'स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः----- सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। (ऐ०ब्रा०२.९) इत्यादि वचन भी व्यर्थ होंगे। अतः स्पष्ट है कि अङ्गयाग के साथ-साथ तद्देवताक पुरोडाश का याग करना शास्त्रविरुद्ध है।

२. सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। तस्मादाहुः (प्राचीना आचार्याः)– पुरोडाशसत्रं लोक्यम् (अनुष्ठातव्यम्) इति (ऐ०ब्रा० २.९)।

३. स (अध्वर्युः)हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति---अथ जिह्वायै----अथ वक्षस----(मा०शत०ब्रा० ३.८.३.१५,१७)।

सभी यज्ञ प्रतीक मात्र हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्वों को जानने हेतु यज्ञों की प्रक्रियाएँ (अधियज्ञ) आरम्भ हुई हैं। श्रौत दर्शपूर्णमासेष्टि और पशु-इष्टि की प्रायः सभी क्रियाएँ मानव के निर्माण में माता-पिता एवं आचार्य के कर्त्तव्य, साथ में बालक के कर्त्तव्य दिखाये गये हैं। अज्ञानी बालक ही पशुयाग का पशु है। अज्ञानी मनुष्य के लिए (विना सींग-पूँछ के) पशु का कथन तो सर्वविदित ही है।

मनुष्य आकृति से मनुष्य होने पर भी यथार्थता में मानवता ही मनुष्यपन है। जो कि आन्तरिक गुण है। मानवता रहित अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, असूया आदि-आदि गुणों वाला मनुष्य पशु, जानवर, राक्षस, नरपिशाच आदि शब्दों से जाने जाते हैं। इन सब अवगुणों का मूल कारण अज्ञान है। इस अज्ञान (पशुत्व) का नाश या वध तो होना ही चाहिए। इसमें कोई पाप नहीं है, पुण्य ही है। बालक में विद्यमान अज्ञान को समाप्त कर उसे एक ज्ञानी, विवेकी, तत्त्ववेत्ता (योगी) बनाने हेतु माता-पिता अपने बालक (यज्ञीयपशु) को आचार्यरूपी यूप में बान्धते हैं। आचार्य पहले उस बालक (पशु) का संज्ञपन (सम्यक् बोध[1], उपदेश, प्रेरणा) करता है। गुरुकुलीय ब्रह्मचारियों के नियम, कठोर शासन, व्रत, अध्ययन की तत्परता,(माता-पिता का प्यार, स्वादिष्ट भोजन, यथेष्ट खेल-कूद, नींद आदि का) त्याग, तप आदि के महत्त्व को बतलाता है । इस संज्ञपन से वह अबोध बालक (पशु) भयभीत न हो, इसके लिए उसकी माता (यजमानपत्नी) तुरन्त उसके समीप आकर प्रेममय उपदेश रूपी जल से स्पर्श करती हुई[2] याजुष मन्त्र का पाठ करती है— **वाचं॑ ते शुन्धामि प्राणं ते॑ शुन्धामि चक्षु॑स्ते शुन्धामि श्रोत्रं॑ ते शुन्धामि नाभिं॑ ते शुन्धामि मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पायुं ते॑ शुन्धामि चरित्राँ॑स्ते शुन्धामि।।** (यजु० ६.१४; द्र० शत० ३.८.२.६)।

[हे मेरे प्यारे पुत्र ! मैं तुझे मृत्युरूपी[3] आचार्य (यूप) को मरने के लिए समर्पित नहीं कर रही हूँ ।[4] अपितु मैं उन्हें समर्पित करके] तेरी वाणी को शुद्ध (संस्कारयुक्त) करती हूँ, इसीप्रकार तेरे प्राण, चक्षु , श्रोत्र, नाभि, उपस्थेन्द्रिय, गुदा [आदि सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों] को शुद्ध-पवित्र करती हुई तेरे चरित्र को भी शुद्ध बनाती हूँ, आदर्श बनाती हूँ। अन्त में कहती है— **प्रतिष्ठित्यै एव तदेनं प्रतिष्ठापयति**[5] (मा०शत०ब्रा०, वहीं)। बालक के पादों (मन) में स्थिरता स्थापित करती है। क्या संज्ञप्त (मृत) पशु में इन्द्रियों एवं चरित्र के शुद्धीकरण का कथन सम्भव है? क्या बकरे (अज) आदि पशुओं का भी कुछ चरित्र होता है? जिसे शोधा (सुधारा) जाय। इस शोधन कर्म से वह मृत पशु क्या उठ खड़ा हो जायेगा? जिसका उल्लेख इसप्रकार करते हैं— **पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति** (मा०शत०ब्रा०, वहीं)। ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यों को श्रुतिवाक्य मानने वाले शुष्कयाज्ञिकों!!! क्षणभर शुद्धमनस्क होकर विचारो कि ब्राह्मणकार ऋषि क्या कह रहें हैं।

प्राणो वै पशुः। यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति तावत् पशुः । अथ यदस्मात् प्राणोऽपक्रामति

---

१. एक बार वाक् और मन में परस्पर विवाद हुआ है कि मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ। इस विवाद में वाक् कहती है कि— **अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद् विज्ञपयामि = अहं संज्ञपयामीति** (मा०शत०ब्रा० १.४.५.१०)। इस वचन से पूर्णतया स्पष्ट है कि 'संज्ञपन' का अर्थ 'विज्ञपन' (प्रकट करना, कहना)है। **सं॒ज्ञप॑नं वो॒ मन॒सोऽथो॑ सं॒ज्ञप॑नं हृ॒दः** (अथर्व० ६.७४.२) तुम्हारे मन और हृदय का सम्यक् ज्ञान (बोध) हो।

२. अथ पशोः प्राणान् [इन्द्रियादीन्] अद्भिः पत्न्युपस्पृशति (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.४)।

३. आ॒चा॒र्यो॑ मृ॒त्युर्वरु॑णः सोम॒ ओष॑धयः पयः॑ (अथर्व० ११.५.१४)।

४. मृत्यवे [आचार्याय, तच्छासनाय वा] ह्येतं [पशुं] नयन्ति....न वा एतं मृत्यवे [मारणाय] नयन्ति यं [पशुं = बालकं] यज्ञाय [तत्त्वज्ञानाय] नयन्ति (मा०शत०ब्रा० ३.८.१.१०)।

५. तद् यत् क्रूरीकुर्वन्ति यदास्थापयन्ति० (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.८)। [आस्था = प्रतिष्ठा]।

दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते (मा०शत०ब्रा० ३.८.३.१५; अपि च द्र० का० शत० ब्रा० ४.८.३.१०)– प्राण ही पशु (जीवन) है। जब तक प्राण से जीवित होता है, तब तक ही वह पशु (जीवित प्राणी) है। जैसे ही प्राण निकल जाता है, वह सूखी लकड़ी के समान व्यर्थ (निरर्थक) होकर भूमि पर पड़ा रहता है।[1] अर्थात् प्राणवियोग (मरने) के बाद[2] उस पशु का कल्याण कुछ भी नहीं कर सकते। जो कुछ करना है उसे जीवित रखते हुए ही करना है– **जीवन् पशुस्स्वर्गं लोकं गमयितव्य इत्याहुर्न मृतस्स्वर्गं लोकं गन्तुमर्हति.......जीवन्तमेवैनं स्वर्गं लोकं गमयति ये च वै ग्राम्याः पशवो ये चारण्याः** (का०सं० ३०.९)। इस श्रुतिवाक्य में तो पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि यज्ञीयपशु को जीवित रखते हुए ही पशुयाग को सम्पन्न करना है। शतपथकार याज्ञवल्क्य ऋषि ने भी यज्ञीयपशु के वध का स्पष्ट निषेध किया है– **न वा एतं मृत्यवे नयन्ति** (मा०शत०ब्रा० ३.८.१.१०)।

स्वर्ग की कामना वाला यजमान तो स्वयं इस लोक में ही रहते हए आनन्द लेता है और अज आदि पशु को मारकर कहता है कि हमने उस पशु को मारा नहीं है, अपितु उसे स्वर्ग में पहुँचाया है। जब कि उस पशु को स्वर्ग की कोई कामना नहीं थी। विना कामना के ही उसे जबरदस्ती मारकर स्वर्ग में पहुँचाते हैं ! क्या विचित्र विडम्बना है !! जीवित रखते हुए यदि किसी पशु को स्वर्ग में पहुँचाया जा सकता है, तो वह बालक (अज्ञानी मनुष्य) ही हो सकता है। यह कार्य एक श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कर सकता है। जैसे कि हम कठोपनिषद् में देखते हैं कि वाजश्रवा ऋषि ने अपने पुत्र नचिकेता को मृत्यु (आचार्य) के पास भेजा और वहाँ नचिकेता ने लौकिक एषणाओं में न फसते हुए अर्थात् अपने पशुत्व को मारकर मृत्यु के रहस्य को जाना एवं मृत्यु के बाद की जीवनयात्रा को आत्मसात् कर अमरत्व को प्राप्त किया है।

बालक को तत्त्वदर्शी बनाने हेतु उस में विद्यमान अज्ञानरूपी पशुत्व का सम्पूर्णतया नाश (वध) करना अनिवार्य है। अत एव आचार्य सर्वप्रथम सञ्ज्ञपन (सम्यक् बोध या विशेष उपदेश) के द्वारा उसकी स्थूल इच्छाओं (पशुत्वों) का हनन करता है। इस के पश्चात् आचार्य स्वधिति से विशसन कर्म करता है अर्थात् कठोर शासन चलाता है। स्वधिति का लौकिक अर्थ 'चाकू' लेकर पशुयाजी लोग पशु के उदर के चर्म को काटते हैं, जहाँ से वपा को निकालते हैं।[3] परन्तु स्वधिति का यौगिक अर्थ इसप्रकार है– **स्वेषु=प्राणेषु इन्द्रियेषु धितिः=पोषणं भवति येन सः स्वधितिः**। जिससे इन्द्रियाँ व मन लौकिक विषयों से हटकर अध्यात्म पथ पर चलने हेतु पुष्ट या समर्थ होते हैं,उस अनुशासन को स्वधिति कहते हैं। आचार्य इस स्वधिति से बालक के भोजन पर नियन्त्रण करते हुए, प्राणायाम,व्यायामादि परिश्रमों से उसके पेट की वपा को घटाता है या बढ़ने नहीं देता है।[4] यही वपा-याग है। इसप्रकार ज्ञानाग्नि में अर्थात् ज्ञान को अर्जित करने में बालक की वपा की आहुति (बलि,भेंट) सर्वप्रथम दी जाती है। इस विशसन कर्म में मन्त्र पढ़ा जाता है – **स्वधिते मैनं हिंसीः** (यजु० ६.१५; द्र०मा०शत०ब्रा० ३.८.२.१२)। हे स्वधिते (चाकू-?)! तू इस पशु (बालक)की हिंसा मत कर। शुष्क काष्ठ के समान भूमि पर पड़े हुए मृत पशु के पेट को काटते हुए यह कहना कि 'हे चाकू! तू इस (मृत) पशु की हिंसा मत कर' कहाँ तक

१. मृत पशु पशु ही नहीं है, तो उसके अवयवों से कृत याग 'पशुयाग' कैसे कहलायेगा? अपशु को पशु के रूप में याग करना विधि के विरुद्ध होने से प्रायश्चित्तीय पाप कर्म होगा। ऐसे याग से तो पुण्य व स्वर्ग के स्थान पर पाप व नरक ही मिलेगा।

२. शुष्कयाज्ञिकों के अनुसार सञ्ज्ञपन के बाद।

३. अथ वपामुत्खिदन्ति (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.१६)।

४. इसप्रकार की हिंसा के लिए **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** वचन पूरा चरितार्थ होता है। पर किसी प्राणी को मारना(प्राणवियोग करना) तो वह हर परिस्थिति में हिंसा ही है। चाहे वह यज्ञ में हो या यज्ञ से बाहर। दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

समुचित है? मृत पशु को भी दुःख (हिंसा) होता है क्या? जिसके वारण की कामना इस मन्त्र से की जा रही है। इसे विज्ञ लोग ही विचारें। हाँ! आचार्य को पशुस्थानीय जीवित बालक पर स्वधिति (वज्ररूपी[1] कठोर शासन) को चलाते हुए यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उसका मन विद्या से न टूटे, दुःखी न हो, हिंसित (पीड़ित) न हो। इसप्रकार समझने में या मन्त्रविनियोग में कोई असामञ्जस्य नहीं रहता है।

माता-पिता ने अपने पुत्र को मृत्युरूपी आचार्य (यूप) को सम्पूर्णतया समर्पित कर दिया है, क्योंकि वे उस विद्या के उद्देश्य व मूल्य को जानते हैं। पर उस शिष्य के संज्ञपन, कठोर शासन से विशसन कर्म, वपा का उत्खिदन आदि कर्म करने के लिए शिष्य को भी अपने आप को मनसा (हृदय से), वाचा, कर्मणा आचार्य को समर्पित करना होगा। तभी आचार्य का परिश्रम एवं ज्ञान आदि फलीभूत होंगे। अत एव विधान किया गया है कि– **स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति....अथ जिह्वायै....अथ वक्षसः...अथ दोष्णः, अथ पार्श्वयोः...** (मा०शत०ब्रा० ३.८.३.१५,१७)। सर्वप्रथम शिष्य का हृदय लिया जाता है। वेदारम्भ संस्कार में आचार्य एवं शिष्य परस्पर हृदय का आलम्भन(स्पर्श) कर अपने-अपने हृदयों को एक दूसरे को समर्पित करते हैं। यह समर्पण भावनात्मक होता है[2], न कि हृदयों को काटकर परस्पर का आदान-प्रदान। हृदय के अवदान (ग्रहण व समर्पण) के पश्चात् जिह्वा को काटा जाता है। जिह्वा शब्द वागिन्द्रिय एवं रसनेन्द्रिय का बोधक है। इन दोनों इन्द्रियों के विषयों को नियन्त्रित करके उसकी चपलता, गप्प-सप्प करना[3] और रसास्वादनादि इन्द्रियदासता की कटौती की जाती है। इसप्रकार मनसा(हृदय से) एवं वाचा समर्पित होने के पश्चात् कर्मणा समर्पित कराने केलिए शिष्य के छाती, बाहु, कटि आदि अवयव लिये जाते हैं, नियन्त्रित किये जाते हैं। इसप्रकार सम्पूर्णतया समर्पित होने के पश्चात् अब उसकी स्वतन्त्रता,स्वच्छन्दता समाप्त हो जाती है। उस पर आचार्य का पूरा नियन्त्रण ठीक वैसे ही हो जाता है, जैसे सुशासक राजा का प्रजा पर, सारथी का अश्वों पर, ग्वाले का गायों पर और गड़रिये का भेड़-बकरों पर होता है। अब वह बालक आचार्य के गर्भ (नियम व व्यवस्था) में ठीक वैसे ही अवस्थित रहता है, जैसे कि माता के गर्भ में शिशु रहता है।[4]

अभी तक के प्रतिपादन से यह प्रायः पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि पशुयागों में अध्यात्मयज्ञीय मेध्य पशु ब्रह्मचारी व विद्यार्थी ही है। यही सजीव स्वर्ग में पहुँचाने योग्य द्विपाद् पशु है। यह कार्य चतुष्पाद् पशु में कभी भी सम्भव नहीं है। अब हम पशुयाग में चतुष्पाद् पशु का हनन करने वाले शुष्कयाज्ञिकों के समक्ष कुछ अनुपपत्तियों को उपस्थित करते हैं। जिन पर गम्भीरता के साथ विचार करना होगा–

१.पशु को यूप में बान्धते समय मन्त्र बोला जाता है– **ऋतस्य॑ त्वा देवहवि॒: पा॑शेन॒ प्रति॑ मुञ्चामि॒**(यजु० ६.८)। तुझ देवहवि को ऋत के बन्धन से बान्धता हूँ। अज(बकरा) अन्धानुकरण के लिए प्रसिद्ध है अर्थात् सर्वथा अज्ञानी है। ऐसे पशु का ऋत (यथार्थ ज्ञान) के बन्धन से क्या सम्बन्ध है? जरा सोचिए। हाँ!

---

१. वज्रो वा असिः [=स्वधितिः]। तथो हैनमेष वज्रोऽसिर्न हिनस्ति (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.१२)।

२. मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।। (आ०गृ० १.२१.७)

३. आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।। (वि०नी० - ८.५)

४. आ॒चा॒र्य॑ उ॒प॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिण॑ कृणु॒ते गर्भ॑म॒न्तः।
तं रात्री॑स्ति॒स्र उ॒दरे॑ बिभर्ति॒ तं जा॒तं द्रष्टु॑मभि॒संय॑न्ति दे॒वाः।। (अथर्व० ११.५.३)

देवहवि अर्थात् विद्वान् (आचार्य देव) की हवि (समर्पित) ब्रह्मचारी का यथार्थज्ञान के निमित्त बन्धन समुचित है। साथ में यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि बन्धन के लिए यहाँ 'प्रतिमुञ्चामि' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ 'मुक्त करता हूँ ' है। मुक्त होने के लिए कुछ विशेष बन्धन अनिवार्य होने के कारण यह धातु प्रायः बन्धन अर्थ में प्रयुक्त होता है। मोक्ष की अर्हता को प्राप्त कराना केवल मनुष्यों में ही सम्भव है, न कि भोगयोनि पशुओं में।

२. यूप में बान्धने के बाद पशु पर जल का सिञ्चन करते हुए यह याजुषमन्त्र पढ़ा जाता है– **अनु॑ त्वा माता म॑न्यतामनु॑ पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयू॑थ्यः** (यजु० ६.९)। पशु के संज्ञपन के लिए उस पशु के माता,पिता, सोदर(सगे) भाई एवं उसके हितैषी मण्डली के मित्र आदि सभी जन अनुमति(स्वीकृति) प्रदान करें। पशु का वध करने वाले ऋत्विग्गण या पशुयाजी यजमान क्या संज्ञपनीय पशु के माता-पिता, भाई एवं मित्रों से अनुमति लेकर ही पशु को मारते हैं? क्या यह कभी सम्भव है? क्या यह श्रुतिविरुद्ध घोर पाप नहीं है? वैदिक परम्परा के संरक्षण में संलग्न त्यागमूर्ति ऋत्विजों! अपनी विलक्षण बुद्धि को इस अज्ञान की श्रृङ्खला से कब मुक्त करेंगे? **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** (कठोप० ३.१४)।

३.संज्ञप्त पशु का जल से स्पर्श क्यों करना चाहिए? इसके कारण को बताते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं– **जीवं वै देवानां हविः, अमृतममृतानाम्....आपो वै प्राणाः। तदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति। तथैतज्जीवमेव देवानां हविर्भवति, अमृतममृतानाम्** (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.४.)। अमृत देवों की हवि जीवित एवं अमृत (न मरा हुआ) होनी चाहिए । मृत पशु की हवि क्या इस वचन के विरुद्ध नहीं है? देवों के लिए सर्वत्र प्रायः सोमपाः, आज्यपाः (द्र०यजु० २१.५८; २८.११ आदि) शब्द आते हैं। अर्थात् देव सोम, घृत आदि का भक्षण करने वाले हैं।

ये दे॒वा दि॑वि॒षदो॑ अन्तरिक्ष॒सद॑श्च॒ ये चे॒मे भूम्या॒मधि॑।
तेभ्य॒स्त्वं धु॑क्ष्व सर्व॒दा क्षीरं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ (अथर्व० १०.९.१२)

यहाँ तो अथर्ववेद स्पष्ट ही कह रहा है कि तीनों लोकों में विद्यमान देवताओं के लिए सदा दूध,घी एवं मधु का ही दोहन करो, आहुति प्रदान करो। कहीं भी देवताओं केलिए 'मांसादः' आदि का उल्लेख नहीं हुआ है। हाँ! इसके विपरीत राक्षस, पिशाचादि के लिए मांसादः, क्रव्यादः, गर्भादः, अण्डादः आदि शब्द बहुत्र प्रयुक्त हुए हैं।[1] अतः देवताओं के लिए मांस की आहुतियाँ देना सर्वथा वेदविरुद्ध होने से अक्षम्य वा जघन्य अपराध है।

४. **वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं ते॑ शुन्धामि॒....च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि** (यजु० ६.१४)। यह शोधन कर्म मृत पशु में सम्भव नहीं है, इस अनुपपत्ति का उल्लेख पहले कर चुके हैं (पृ० ३२६)।उक्त मन्त्र से जल का स्पर्श करने के पश्चात् विहित जलसेचन[2] का कारण बताते हुए शतपथकार कहते हैं कि– **ताभिः[अद्भिः] एनं [पशुं] यजमानश्च शीर्षतोऽग्रेऽनुषिञ्चतः। तत् प्राणांश्चैवास्मिंस्तत्तौ धत्तः। तच्चैनमतः समीरयतः** (मा०शत०ब्रा० ३.८.२.७)। अङ्गस्पर्श से अवशिष्ट जल से पत्नी और यजमान दोनों मिलकर पशु के शिर से लेकर आगे के सम्पूर्ण

---

१. द्र० अथर्व० ८.६.२३ आदि। यहाँ का सायणभाष्य भी देखना चाहिए।

२. जलसेचन में विनियुक्त मन्त्र– **मन॑स्त॒ आ प्या॑यतां॒ वाक्त॒ आ प्या॑यतां प्रा॒णस्त॒ आ प्या॑यतां॒ चक्षु॑स्त॒ आ प्या॑यतां॒ श्रोत्रं॑ त॒ आ प्या॑यताम्** (यजु० ६.१५)। मृत पशु के मन, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि अवयवों की वृद्धि(आप्यायन)कैसे होगी? इस मन्त्रार्थ की सङ्गति कैसे करेंगे? मृत्यु के पश्चात् तो शरीर में क्षण-प्रतिक्षण क्षीणता एवं सड़ना आदि ही बढ़ते हैं। हाँ! जीवित पशु (बालक) में आचार्य के कठोर शासन व नियमों के कारण उसके सभी अवयवों में जो क्षीणता, निर्बलता आदि आती हैं, उनकी पूर्ति करना होता है। उसे ही 'आप्यायन' कहते हैं।

शरीर पर जल का सिञ्चन करते हैं। इस सिञ्चन से वे दोनों उस पशु में प्राणों को धारण कराते हैं और उसे प्रेरित करते हैं, जिससे वह पशु उत्साह से आगे के कर्मों में प्रवृत्त हो सके। क्या यह मृत पशु में सम्भव है? मन्त्रार्थ पर विचार किये विना मृत पशु के लिए इन मन्त्रों के विनियोग से क्या ऋत्विजों का अज्ञान प्रकट नहीं होता है?

५. हृदयादि सम्पूर्ण अङ्गों के याग (त्याग,समर्पण) के पश्चात् यह यजुर्मन्त्र पढ़ा जाता है— **ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे नि दीध्यद् ऐन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः.... देवत्रा यन्तम् अवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु** (यजु० ६.२०)। इन्द्र (आत्मा) सम्बन्धी प्राण और उदान अङ्ग-प्रत्यङ्गों में दीप्त हो, धारित हो......देवों के पास जाते हुए पशु (ब्रह्मचारी) को उसके मित्र एवं माता-पिता आदि सभी हितैषी प्रसन्नता पूर्वक अनुमोदन करे। मृतपशु के हृदय, जीभ, छाती की हड्डियों, यकृत् (लिवर), दोनों वृक्क(गुर्दे, किड्नी), दो पसली, दोनों बाहु एवं कटिप्रान्तों की हड्डियाँ, आँतें, गुदाभाग, पूँछ,फेफड़े आदि अवयवों को निकालने के बाद अवशिष्ट पशु को देखकर उसे माता-पिता एवं मित्र आदि हितैषी प्रसन्नता पूर्वक अनुमोदन करे, विदाई करे कि— ठीक है, तुम अपनी रक्षा केलिए देवों (विद्वानों) के पास जाओ। इस कृत्य से तो मन्त्रों का उपहास, निन्दा ही प्रकट होती है। अज्ञानता व मूर्खता की पराकाष्ठा केलिए इससे बढ़कर उदाहरण का मिलना अत्यन्त दुर्लभ ही नहीं, अपितु असम्भव है। क्षत-विक्षत, रक्त से लिप्त उस बीभत्स पशु के शव को देखकर कोई राक्षसीभाव वाला या हिंस्र पशु ही प्रसन्न हो सकते हैं। कोई सज्जन मनुष्य, विद्वान्, पण्डित, माता-पिता आदि कभी भी प्रसन्न नहीं होंगे। हा! हन्त!! ऐसे याज्ञिकों को धिक्कार है, जो न मन्त्रार्थ को जानते और न ही यज्ञ के स्वरूप को। इसप्रकार के पचासों विसंगतियाँ हैं तथा असमाधेय प्रश्न हैं, जिनका समाधान पशुयाजी सात जन्मों में भी नहीं दे सकते, अस्तु।

अभी तक प्रस्तुत शास्त्रीय विवेचन से सम्पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों में पशुओं का हनन एवं उनके अवयवों से याग करना निश्चितरूप से वेदविरुद्ध है।अतःआलम्भन,सञ्ज्ञपन,विशसन, अवदान, हनन आदि शब्दों का पशुयाजी (हिंसावादी) लोग जो हिंसापरक अर्थ करते हैं, वह सब निरस्त हो जाता है। मूल के कटने पर वृक्ष एवं शाखा आदि सब के सब अपने आप नष्ट हो जाते हैं। अतः उन शब्दों का अर्थ प्रसंगतः यौगिक अर्थ लेकर व्याख्यान समझना चाहिए। विस्तरभय से इन शब्दों की मीमांसा हम यहाँ नहीं कर रहें हैं।

वेदों से लेकर महाभारत एवं पञ्चतन्त्र तक के ग्रन्थों में यज्ञीय पशुहिंसा का निषेध स्पष्ट शब्दों में किया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि— यज्ञों में पशुहिंसा को धूर्तों ने चलायी है। हम उन सारे वचनों को उद्धृत कर लेख के कलेवर को अनावश्यक बढ़ाना नहीं चाहते। इन सब निषेध वाक्यों के होने पर भी आज जो लोग यज्ञों में पशुओं का वध करते हैं, वे एक कल्पित श्लोक के द्वारा उन सब निषेध वाक्यों को क्षणभर में निरस्त करते हुए कहते हैं —

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्।। [१]

यज्ञों में अश्व और गाय (आदि पशुओं) के वध का निषेध केवल कलियुग के लिए है, अन्य सत्ययुग आदि में तो मान्य है। अर्थात् यज्ञों में पशुवध वेदादिशास्त्र सम्मत है। यह श्लोक सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के अन्त में भी उद्धृत है। इस श्लोक पर की गयी महर्षि दयानन्द जी की टिप्पणी को यहाँ

१. यह श्लोक पारस्करगृह्यसूत्र(१.३.३०) के गदाधर के व्याख्यान में उद्धृत है। 'आलम्भ' शब्द पर वाचस्पत्यम् में 'आदिपुराण' के नाम से एवं 'शब्दकल्पद्रुम' में 'मेघदूत, पूर्वमेघ- ४६(?)' के नाम से उद्धृत है।

उद्‌धृत करना पर्याप्त होगा—"ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं....जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके अथवा गाय को मारके होम करना ही वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय, तो त्रेता आदि में विधि आ जाय, तो इससे ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठ युग में होना सर्वथा असम्भव है। और जिस संन्यास का वेदादि में विधि है, उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है।"

यज्ञों में पशुहिंसा अवैदिक है –

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ॥

(महा० भा०, शान्ति० ३३७.४-५)

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥

(महा० भा०, शान्ति० २६५.९)

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम् – "अजैर्यष्टव्यम्" इति। अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषाः ॥

(पञ्चतन्त्रम्० ३.१०५)

यज्ञों में बीजों से याग करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजों का ही नाम अज है, अतः बकरे का वध करना उचित नहीं है, शास्त्रीय नहीं है। जहाँ कहीं भी यज्ञ में पशु का वध हो, यह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है। इस श्रेष्ठ सत्ययुग में पशु का वध कैसे किया जाता है? सुरा, मछली, मांस, आसव आदि का यज्ञों में प्रचलन धूर्तों (स्वार्थियों) ने किया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है। वेदों के तात्पर्यार्थ को न जानने वाले अज्ञानी (मूर्ख, मूढ) लोग अज का अर्थ पशु समझकर यज्ञों में पशुओं को मारने लगे अर्थात् उनके मांस से यज्ञ करने लगे। यथार्थतः 'अज' का अर्थ सात वर्ष पुराना अर्थात् अंकुरित होने में असमर्थ व्रीहि(धान) है, न कि बकरा।

४.२. श्रौतकर्मकाण्ड का महत्त्व और महर्षि दयानन्द*

जो वेद कभी सार्वभौम, सार्वकालिक, सर्वजनीन एवं सर्वविध हित करने वाला ज्ञानभण्डार माना जाता था, वही वेद मध्यकाल में केवल यज्ञ का प्रतिपादक मात्र बनकर याज्ञिकों की स्वार्थ-मुष्टियों मे बन्ध गया था और प्रतिपादन किया गया था कि "**यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः**"। अर्थात् वेद केवल यज्ञ के लिये ही प्रवृत्त हुए हैं, इनका अन्य कोई प्रयोजन नही हैं। परिणामतः वेद गडरियों के गीत कहलाये गये। ऐसी विकट परिस्थिति में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए एक ऐसा अनूठा भाष्य किया, जिससे वेद की गरिमा एवं महत्त्व जन समुदाय में पुनः प्रतिष्ठित ही नहीं हुआ, अपितु लोग जानने लगे कि वेद सर्वजन व्यवहारोपयोगी हैं और वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादक हैं। परन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि महर्षि का वह वेदभाष्य उनकी अपनी दृष्टि में एकांग ही था। क्योंकि वे वेद के याज्ञिक अर्थ व व्याख्यान को भी मानते थे जो कि सबके समक्ष नहीं आ पाया – "**तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः सः सर्वः क्रियामयोऽस्ति**" (ऋ० भा० भू, वेदविषय)।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि वे याज्ञिक व्याख्या को भी मानते, तो याज्ञिक भाष्य क्यों नहीं किया? इनका समाधान महर्षि स्वयं देते हैं कि– "कर्मकाण्डपरक व्याख्यान व विनियोग ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में व्याख्यात होने से पुनः याज्ञिक अर्थ करने से पिष्ट पेषण होकर अनृषिदोष उत्पन्न होता है" (द्र० ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय की प्रारम्भिक पंक्तियाँ)। वेदभाष्य के आर्षत्व एवं अपने ऋषित्व की रक्षा के लिए ही ऋषि ने कर्मकाण्ड परक व्याख्यान नहीं किया था। परन्तु यहाँ यह विचार करना चाहिये कि ब्राह्मणग्रन्थों में न आनुपूर्वी से वेदमन्त्रों का विनियोग ही है न ही मन्त्रों का शब्दशः व्याख्यान ही है। जैसे कि लोग व्याख्यान का स्वरूप समझते हैं। इसलिए यदि महर्षि याज्ञिक व्याख्यान कर भी देते तो भी उनका भाष्य अनार्ष व पिष्टपेषण नहीं हो सकता था। महर्षि के उक्त समाधान के पीछे यह भाव निहित प्रतीत होता है कि यदि वे याज्ञिक व्याख्यान व विनियोग का थोड़ा भी दिग्दर्शन कराते तो '**यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः** 'आदि जो विचार प्रत्येक जन मानस तक प्रचलित हो गया था, उसका निवारण नहीं कर सकते थे, न ही वेद की खोयी हुई गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित कर पाते। अत एव उन्होंने याज्ञिक व्याख्यान को सर्वथा त्यागना ही उचित समझा। परन्तु वे वेदमन्त्रों के याज्ञिक व्याख्यान को मानते अवश्य थे। यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट ज्ञात है।

यज्ञों में वेदमन्त्रों का उच्चारण क्यों करना चाहिए इसका समाधान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि – मन्त्रों के बोलने से वेद की रक्षा होती है– "**तत्पाठानुवृत्या वेदमन्त्राणां रक्षणम्**" (ऋ०भा०भू० वेदविषयविचार)। यह समाधान तभी सन्तोष जनक व उचित होगा, जब अग्निहोत्रादि में वेदों के अधिकांश मन्त्रों का विनियोग होता हो। परन्तु दो, तीन सौ मन्त्रों का विनियोग कर वेद की रक्षा का कथन करना एक उपहास जैसा ही है। परन्तु महर्षि की दृष्टि में यहाँ यज्ञ शब्द से सामान्य यज्ञ और संस्कार ही नहीं है, अपितु अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सभी यज्ञ अभिप्रेत हैं। उन यज्ञों में प्रायः सभी वेदमन्त्र विनियुक्त होते हैं। अतः महर्षि का समाधान उचित ही है। यहाँ सिद्ध होता है कि महर्षि की श्रौतसूत्रों में विहित सभी यज्ञ मान्य एवं प्रामाणिक थे। अन्यथा उक्त समाधान अनुचित ही सिद्ध होता है।

यज्ञों से वेद की रक्षा होती है, ऐसा मानने के कारण ही महर्षि ने वेद की रक्षा एवं प्रचार- प्रसार के

---

*. यह लेख वेदवाणी (जून २००७) में प्रकाशित है।

लिए जितना पुरुषार्थ किया उतना ही पुरुषार्थ यज्ञ के प्रचार-प्रसार के लिए भी किया है। वेद भी कहता है कि मानव को यावज्जीवन यज्ञ करते रहना चाहिए। यथा –

"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०.२) में कहा गया है कि हे मानव! तू सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा कर। यहाँ कर्म का तात्पर्य सभी प्रकार की क्रिया व कर्म नहीं है। यदि वैसा ही अर्थ लेंगे तो चोरी, लूट, मार आदि कर्म भी गृहीत होंगे, जो कि अतिव्याप्ति दोष है। तो यहाँ कर्म का तात्पर्य वैदिक कर्म ही गृहीत हैं। "**ओ३म् क्रतो स्मर**" (यजु० ४०.१५) यहाँ मानव (जीवात्मा) को '**क्रतु**' कह कर पुकारा गया है। जैसे परमात्मा का निज नाम '**ओ३म्**' है, वैसे ही जीवात्मा का निज नाम '**क्रतु**' है– अर्थात् जीवात्मा क्रतु नामक है। उसका स्वाभाव ही कर्म करना है। वह कर्मशील है, अकर्मण्य नहीं। गीता में भी कहा गया है कि '**अहं क्रतुः**'(गीता० ९.१६)। अर्थात् मैं (आत्मा) क्रतु नामक हूँ , कर्मशील हूँ। कौन से कर्म करने का स्वभाव वाला है? इसका समाधान उसके अग्रिम शब्दों में ही कहा गया है कि– "**अहं क्रतुरहं यज्ञः**" (गीता०९.१६) मैं (जीवात्मा) कर्मशील हूँ, क्रतुकर्तृक हूँ, '**अहं यज्ञः**' मैं (जीवात्मा) यज्ञमय हूँ, यजनशील हूँ, यज्ञकर्मानुष्ठाता हूँ। अर्थात् मानव यावज्जीवन यज्ञ करने के स्वभाव वाला है, जो कि श्रेष्ठतम कर्म है। उन्हीं श्रेष्ठतम कर्मों, यज्ञों को सौ वर्ष तक करने का आदेश वेद दे रहा है, न कि लौकिक सभी कर्म। उन कर्त्तव्य वैदिक कर्मों (यज्ञों) को सर्वाङ्गीण समझना आवश्यक है। क्योंकि '**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**'। प्रयोजन के विना मूर्ख भी कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता।

वैदिक, तान्त्रिक[1] और मिश्रित (वैदिक + तान्त्रिक) के रूप में कर्मकाण्ड त्रिधा विभक्त है। कहा भी गया है कि– "**वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः**"(भागवत, उद्धवोपदेश,२७.७), "**वैदिकस्ता-न्त्रिको मिश्रः त्रिविधा कर्मचोदना**"। मिश्रित कर्मकाण्ड ही पौराणिक कर्मकाण्ड के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। महर्षि दयानन्द ने तान्त्रिक और मिश्रित (पौराणिक) कर्मकाण्ड को अवैदिक एवं कल्पित होने से त्याज्य माना है। वैदिक कर्मकाण्ड पुनः द्विधा विभक्त है– श्रौत एवं स्मार्त। श्रुतियों में प्रतिपादित कर्म श्रौत है, जो कि सात हविर्यज्ञों तथा सात सोमयज्ञों के नाम से विख्यात हैं। स्मृतियों में वर्णित कर्मकाण्ड स्मार्त कहलाता है, जो कि सात पाकयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है। इनका विवरण निम्न प्रकार है–

सात हविर्यज्ञ– १. अग्निहोत्र, २. दर्शपूर्णमास, ३. आग्रायण, ४. चातुर्मास्य, ५. निरूढपशुबन्ध, ६. सौत्रामणि, ७. पिण्डपितृयज्ञ।

सात सोमयाग– १. अग्निष्टोम,२. उक्थ्य,३. षोडशी,४. अतिरात्र, ५. अत्यग्निष्टोम,६. वाजपेय, ७. आप्तोर्याम।

सात पाकयज्ञ– १. औपासन होम, २. वैश्वदेव, ३. पार्वण, ४. अष्टका, ५. मासिक श्राद्ध, ६. श्रावण, ७. शूलगव।[2]

इनमें से ७ हविर्यज्ञ एवं ७ सोमयज्ञों का वर्णन ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और पूर्वमीमांसादर्शन के ग्रन्थों में स्पष्टतया किया गया है। इसे महर्षि ने भी स्वीकारा है– "**अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः**

१. कतिपय तान्त्रिकग्रन्थ- प्राणतोषिणीतन्त्रम्, प्रपञ्चसारतन्त्रम्। कुछ प्रमुख तान्त्रिक कर्मकाण्ड के नाम – १. पूर्णाभिषेक महादीक्षा, २. बाह्यमातृकान्यास, ३. अन्तरमातृकान्यास, ४. विलोममातृकान्यास, ५. पीठन्यास, ६. षोढान्यास, ७. मानसपूजा, ८. सामान्यार्घ्य, ९. विशेषार्घ्य, १०. भूतशुद्धि, ११. मालाप्रतिष्ठा, १२. दशमहाविद्या, १३. तारोपासना, १४. व्यापकन्यास, १५. मुद्रा, १६. पञ्चोपचार, १७. दशोपचार, १८. अष्टादशोपचार आदि।

२. शतपथब्राह्मण(१.४.२.१०) में वर्णित पाकयज्ञ इसप्रकार हैं– १. हुत, २. प्रहुत, ३. आहुत, ४. शूलगव, ५. बलिहरण, ६. प्रत्यवरोहण, ७. अष्टका होम। गोपथब्राह्मण (१.५.२३) में इसप्रकार वर्णित हैं– १.सायंहोम, २.प्रातर्होम, ३. स्थालीपाक, ४. नव, ५. बलिवैश्वदेव, ६. पितृयज्ञ, ७. अष्टक।

करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् (ऋ० भा० भू०, प्रतिज्ञा०) । स्वामी जी के इन शब्दों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उक्त १४ श्रौतयज्ञों का वर्णन ब्राह्मणादिग्रन्थों में प्रतिपादित हैं ही, साथ में वेदों में भी प्रतिपादित हैं । अन्यत्र भी स्वामी जी ने स्पष्टतया इसे संकेतित किया है– **''अत्र चत्वारो वेदविषया सन्ति विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्''** (ऋ०भा०भू०,वेदविषयविचारः) । यहाँ संकेतित 'कर्मकाण्ड' शब्द का अभिप्राय स्वामी जी की दृष्टि में 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त' है। जिनका वर्णन यजुर्वेद में है । इन्हीं का विस्तृत व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण है । यही स्वामी जी की मनोगत मान्यता है ।

इन यज्ञों में से महर्षि दयानन्द ने अग्निहोत्र और सोलह संस्कारों का पर्याप्त प्रचार किया और दर्शपूर्णमास का प्रचलन प्रारम्भ किया तथा तद्विषयक ग्रन्थ भी लिखना चाहते थे, तदर्थ प्रयत्नशील भी थे, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में दिये गये दर्शपूर्णमासेष्टि सम्बन्धित पात्रों के चित्र एवं उनका परिचय और चरुनिर्माण की पद्धति– **''अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि, अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि''** आदि से यही स्पष्ट होता है कि महर्षि जी दर्शपूर्णमासेष्टि का प्रचलन करना चाहते थे। इतना ही नहीं उन्होंने शाहपुराधीश नाहरसिंह जी को अपनी उपस्थिति में श्रौताग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नियों) का आधान तथा नित्याग्निहोत्र और दर्शपूर्णमासेष्टि का आरम्भ भी कराया था। वह परम्परा शाहपुराधीश के कुल में निरन्तर चलती रही। इससे सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि महर्षि श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों को मानते थे और उनके प्रचलन के लिए वे प्रयत्नशील भी थे। सम्भव है उनके मन में आगे जाकर उसी राजा से सोमयाग भी कराने की इच्छा रही हो। क्योंकि वे उन यागों की परम्परा बनाये रखना चाहते थे। इसी इच्छा से वे अपने आर्योद्देश्यरत्नमाला, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्यों में यत्र-तत्र प्रसंगतः वार-वार लिखते हैं कि– **'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त'**। इन शब्दों की पुनः पुनः आवृत्ति कर, बल देने से स्पष्ट ध्वनित होता है कि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त विद्यमान सात हविर्यज्ञ और सात सोमयाग रूपी श्रौतयज्ञों का वे प्रचलन करना चाहते थे। इतना ही नहीं वे छः वेदांगो को प्रामाणिक एवं पठनीय मानते थे। जिनमें कल्प भी एक वेदांग है। जिसके अन्तर्गत– श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्बसूत्र आदि आते हैं।[1] इन्हीं में ऊपर कथित सात पाकयज्ञ और चौदह श्रौतयज्ञ वर्णित हैं।

महर्षि द्वारा वेदांग भूत कल्पसूत्रादि को प्रामाणिक एवं पठनीय मानना तथा स्वीयग्रन्थों में पुनः पुनः **''अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त''** शब्दों का प्रयोग करना और इन यज्ञों के प्रचलन हेतु विस्तृत एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने कि इच्छा रखते हुए संस्कारविधि में दर्शपूर्णमास सम्बन्धी इष्टिपात्रों के चित्र एवं उनका विवरण देना, शाहपुराधीश नाहरसिंह को श्रौताग्नियों के आधान से दीक्षित बनाना ये सभी यत्न निरूपित करते हैं कि महर्षि दर्शपूर्णमासेष्टि, सोमयागादि के पोषक थे, प्रसारक थे। परन्तु समयाभाव से महर्षि ने इनका विस्तार वा प्रसार कर नहीं पाये और ग्रन्थ लिख नहीं पाये। पर दुर्भाग्य है महर्षि के निर्वाण के पश्चात् आजतक इस विषय पर पुनः इन यज्ञों को जानने और प्रचार-प्रसार करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। अनुसन्धान की बात ही क्या कहना? विद्वद्वरेण्य श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक के विशेष प्रयत्नों से,

१. इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, अश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि......परतः प्रमाण के योग्य [हैं] (ऋ०भा०भू०, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)। आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र और कल्पसूत्र---- का पठन ३वर्ष के भीतर करें (सं०विधि वेदारम्भ पठन-पाठन-विधि)। श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र--- त्याग कर देने योग्य हैं (ऋ०भा०भू०ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यवि०)।

अध्ययन-अध्यापन वा अनुसन्धान से, यागों के निरीक्षण और प्रोत्साहन से आर्यसमाज के क्षेत्र में एतद्विषयक कार्य पुनर्जीवित हुआ। और वह प्रक्रिया उनकी गुरु-शिष्य परम्परा से आज तक निरन्तर पाणिनि महाविद्यालय, रेवली में चलती आ रही है। जिससे वहाँ के स्नातक गर्व से कहतें है कि हाँ ! हमने शास्त्रों का कुछ अध्ययन किया है, अस्तु।

यहाँ कुछ प्रश्न उठते हैं कि यह श्रौतकर्मकाण्ड एक जटिल प्रक्रिया हैं, इसको समझने की आवश्यकता ही क्या है? इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? इसके न जानने से क्या कुछ हानियाँ हैं? क्या ये प्रामाणिक हैं? क्या ये महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के अनुकूल हैं ? कुछ लोग यह भी पूछते हैं कि यदि महर्षि को श्रौतसूत्रों में वर्णित दर्शपूर्णमासेष्टि अभीष्ट होती तो अमावास्या व पूर्णिमा को दिये जाने वाली तीन-तीन विशेष आहुतियों का विधान क्यों करते?

जो लोग इन यागों व इष्टियों को महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के प्रतिकूल व अप्रामाणिक मानते हैं, उन्हें विचार करना होगा संस्कारविधि में चित्रित पात्रों का विनियोग क्या संस्कारविधि में कहीं पर होगा? यदि नहीं तो अन्यत्र कहाँ पर होगा ? ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इन शब्दों पर भी विचार करना होगा। "**वेदि अवश्य रचनी चाहिए। और वेदि के त्रिकोणि, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणितविद्या भी जानी जाती है**" ---(ऋ०भा०भू० वेदविषय) यहाँ निर्दिष्ट त्रिकोण, गोल, श्येन पक्षी आदि के तुल्य आकृति वाली वेदियों का उपयोग कहाँ पर होगा? मानना होगा कि उक्त पात्रों एवं विशिष्ट वेदियों का प्रयोग श्रौतयागों में ही होता है। जहाँ तक दोनों पक्षेष्टियों में तीन-तीन आहुतियों के विधान का प्रश्न है, वह एक सामान्य निर्देश है और पक्षेष्टि करने के संस्कार डालना वा तदनुष्ठान का बीज बोना था। यदि वे तीन-तीन आहुतियों का भी निर्देश नहीं करते तो आज कोई भी आर्य निर्दिष्ट पक्षेष्टि भी नहीं करता। अतः उन संस्कारों को डालने हेतु ही वह एक सामान्य निर्देश है। यह आशय महर्षि के इन शब्दों से भी प्रकट होता है– "इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिसके घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो, तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ २०-२२ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ ३२-३४ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिधाधान; पृष्ठ ३५-३६ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ ३५ में लिखे प्रमाणे वेदि के चारों ओर जलसेचन करके; पृष्ठ ७-१९ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण भी यथायोग्य करें। (सं०विधि, गृहाश्रमविधि, अथ पक्षेष्टिः)। यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो लोग दुर्भाग्य से प्रतिदिन यज्ञ नहीं कर पाते, तो कम से कम अग्निहोत्र के साथ तीन-तीन आहुतियों से सम्पन्न होने वाली पक्षेष्टि तो अवश्य करें। यदि यहाँ श्रौतसूत्रोक्त सम्पूर्ण दर्शपूर्णमासेष्टि का वर्णन करते तो दैनिक अग्निहोत्र न कर सकने वाले दौर्भाग्य लोग न्यूनातिन्यून तीन-तीन घण्टों में अनुष्ठित होने वाली दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि कैसे कर सकते हैं ? अत एव महर्षि ने यहाँ दैनिक अग्निहोत्र की अनिवार्यता विधान कर संक्षिप्त एवं सामान्य रूप से पक्षेष्टि का विधान किया है। इतना अभ्यास वा प्रचार हो चुकने के पश्चात् सम्पूर्ण श्रौतकर्मकाण्ड को प्रचलित करने का विचार महर्षि में थे। इसीलिये तो वे श्रौतसूत्रोक्त इष्टिपात्रों का चित्रप्रदर्शन किया और अनेकत्र "अग्निहोत्र से लेकर---" शब्दों का प्रयोग किया है, साथ में शाहपुराधीश को दीक्षा भी दी है।

इतना सिद्ध होने के पश्चात् भी यदि कोई कहे कि श्रौतसूत्रोक्त दर्शपूर्णमासादि अप्रामाणिक हैं, तो यही कहना चाहूँगा कि इन इष्टियों व यागों को समझने और करने में उनकी अपनी असमर्थता एवं अल्पज्ञता मात्र ही है। नहीं तो वे यह भी बतलावें कि महर्षि ने इनका कहीं निषेध भी किया है ? यदि महर्षि दयानन्द इन यागों व इष्टियों को अननुष्ठेय मानते तो इतने महत्त्वपूर्ण विषय के प्रतिषेध से वे नहीं चूकते। किसी भी कल्पग्रन्थ का नामोल्लेखपूर्वक निषेध न करने से और साथ में ब्राह्मणग्रन्थों का भी अध्ययन करने के विधान से एवं वेदमन्त्रों

का कर्मकाण्डपरक अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में व्याख्यात है, ऐसा स्पष्ट मानने से हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रमाणित होता है कि श्रौतसूत्रों में विहित इष्टियाँ और याग महर्षि को अभीष्ट थे। हाँ! वे उनमें विहित पशुहिंसा को अवश्य वेदविरुद्ध होने से अप्रामाणिक ही नहीं, अपितु सर्वथा त्याज्य मानते हैं और इसका तीव्र प्रतिवाद भी करते हैं।[1] इससे भी प्रतीत होता है कि पशुहनन को छोड़कर शेष क्रियाओं को तो वे वैदिक एवं प्रामाणिक ही मानते थे।

अब श्रौतकर्मकाण्ड के अध्ययन-अध्यापन, अनुसन्धान एवं अनुष्ठान आदि के अभाव से होने वाली प्रमुख हानियों का उल्लेख करते हैं—

१. वेदमन्त्रों के कर्मकाण्ड परक अर्थ को समझना अत्यन्त दुरूह है।
२. ब्राह्मणग्रन्थों को समझना तो असम्भव जैसा ही है।
३. दर्शनशास्त्रों के पठन-पाठन की परम्परा में पूर्वमीमांसा को त्याग देना एक ज्वलन्त प्रत्यक्ष निदर्शन है। आज तक पूर्वमीमांसा का अध्ययन-अध्यापन की परम्परा प्रारम्भ नहीं हो सकी। यदि यही स्थिति बनी रही तो शनैः शनैः पूर्वमीमांसा की परम्परा ही उच्छिन्न हो सकती है। जैसे कभी महाभाष्यादि उच्छिन्न हो गये थे। यदि इन यागों का आनुपूर्वी से अच्छा परिज्ञान प्राप्त किया जायेगा तो मीमांसा की दुरूहता एवं काठिन्यता समाप्त ही नहीं होगी, अपितु वह एक अत्यन्त सरल, सरस तथा रोचक शास्त्र प्रतीत होने लगेगा।
४. व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रों में अनेक स्थल सन्दिग्ध बने रहते हैं। अत एव सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के परिज्ञान एवं परित्राण के लिए श्रौतकर्मकाण्ड को जानना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, बल्कि कठोर परिश्रम एवं पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है।

वेदार्थ - वेत्ता

पदवाक्यप्रमाणज्ञो योऽभियोगपरायणः ।
श्रद्दधानस्तपस्वी च नास्पष्टं तस्य किञ्चन ॥

(नि० शलो० वा० १.५.१९०)

जो पद, वाक्य और प्रमाण को जानने वाला है, योगपरायण है, श्रद्धावान् और तपस्वी है, उसके लिए (मन्त्रार्थ का) कुछ भी अस्पष्ट नहीं रहता है।

शुश्रूषा

यथा खनन् खनित्रेण भूतले वारि विन्दति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ (या० शि० १६७)

जिस प्रकार कुद्दाल से खोदता हुआ मनुष्य भूमि में पानी को प्राप्त करता है, उसी प्रकार गुरु में निहित विद्या को शुश्रूषु प्राप्त करता है।

१. जो ब्राह्मण व सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो उसका प्रमाण न करना (सं० विधि०, वेदारम्भ पठन-पाठन-विधि)।

४.३. व्याकरण में श्रौतकर्मकाण्ड की उपयोगिता*

प्रत्येक शास्त्र में एक विशिष्ट शैली एवं कुछ विशिष्ट संज्ञा शब्द प्रयुक्त होते हैं। जब तक उस शैली तथा उन संज्ञा शब्दों को सम्यक्तया हृदयंगम नहीं किया जाता तब तक उस-उस शास्त्र में प्रवेश ही असम्भव हो जाता है,अवगति की कथा का क्या कहना। इतना ही नहीं तत्तत् शास्त्र की शैली वा संज्ञा शब्दों का प्रयोग जहाँ-कहीं भी अन्य शास्त्रों में हुआ हो, वहाँ-वहाँ सर्वत्र निश्चित ही अज्ञानता छायी रहती है। उन-उन स्थलों में ''विशेष'' शब्द द्वारा विशिष्ट ज्ञान से ही तृप्त होना पड़ता है अथवा अपनी अज्ञता वा असमर्थता प्रकट की जाती है। जैसे कि अज्ञात वस्तुओं के विषय में कहा जाता है कि 'वह एक वृक्ष-विशेष है, पक्षि-विशेष है,पर्वत-विशेष है आदि। इसलिये तत्तत् शास्त्र की अवगति के लिये उस-उस शास्त्र की शैली और तद्गत विशिष्ट संज्ञा शब्दों को समझना एक प्राथमिक अनिवार्यता है। प्रकृत प्रसंग में हम यह कहना चाहते हैं कि वैदिक वाङ्मय के परिज्ञान एवं रक्षा के लिए प्रप्रथम श्रौतकर्मकाण्ड का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अपितु प्राथमिक अनिवार्यता भी है। क्योंकि श्रौत का विषय व्याकरणादि वेदाङ्गों, मीमांसादि दर्शनों,उपनिषदों एवं ब्राह्मणों में परिव्याप्त है। श्रौत के परिज्ञान के विना इन शास्त्रों को सम्पूर्णतया समझना अत्यन्त दुष्कर है। **व्याकरण के अध्ययन में व्याकरणेतर शास्त्र का सर्वाधिक किसी का उपयोग हुआ है तो वह कल्पशास्त्र ही है, ऐसा कहेंगे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अत एव वेदाङ्गों में कल्प को द्वितीय स्थान दिया गया है।** यहाँ सभी शास्त्रों में चर्चित श्रौत- चर्चा को दिखाना तो सम्भव नहीं है। अतः यहाँ केवल व्याकरण- शास्त्र में आगत श्रौत - प्रसंगों का ही दिग्दर्शन करा रहें हैं। जिससे पाठकों को यह बोध हो जायेगा कि श्रौतकर्मकाण्ड के ज्ञान के विना सर्वशास्त्रप्रदीपक व्याकरणशास्त्र में कितना अन्धेरा है।

१. यज्ञ — यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अष्टा० ३.३.९०)। यज् - धातु से नङ् प्रत्यय होकर 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। देवों की पूजा, संगतिकरण और दान क्रियाओं को यज्ञ कहा जाता है। पुनरपि श्रौतसूत्रों में यज्ञ, याग व यजति उसे कहते हैं, जिसमें खड़े होकर वषट्कार से आहुति दी जाती है, और याज्या एवं पुरोनुवाक्या मन्त्र बोले जाते हैं। जिसमें बैठकर स्वाहाकार से आहुति दी जाती है, उसे होम वा हवन कहते हैं और तदर्थ जुहोति क्रिया का प्रयोग करते हैं, न कि यजति।[1] यहाँ यज् एवं हु धातुओं का अर्थ भेद ध्यातव्य है।

२. यजमान— पूङ्यजोः शानन् (अष्टा० ३.२.१२८)। यज धातु से शानन् प्रत्यय होकर यजमान शब्द सिद्ध होता है। अपने और लोक के कल्याण की कामना[2] से यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला यजमान कहलाता है।

३. पत्नी — पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टा० ४.१.३३)। यज्ञानुष्ठान काल में यज्ञकर्त्ता(यजमान)की स्त्री पत्नी कहलाती है। **''पत्नि वाचं यच्छ''** (का०श्रौ० ७.४.१७)।

४. सुत्वा, यज्वा— सुयजोर्ङ्वनिप् (अष्टा० ३.२.१०३)। अग्निष्टोम आदि सोमयाग किये हुए व्यक्ति 'सुत्वा' और यज्ञ किए हुए व्यक्ति 'यज्वा' कहलाते हैं।

५. यायजूकः — यजजपदशां यङः(अष्टा० ३.२.१६६)। जो पुनःपुनः यज्ञ, याग करता है, जिसका

---

*. यह लेख वेदवाणी (मई २००७) में प्रकाशित है।

१. द्र०का०श्रौ० १.२.६,७; मीमांसा० ४.२.२७,२८।

२. ध्यातव्य— यजते, यजति के अर्थ में क्रियाफलाश्रयत्व का भेद।

स्वभाव ही यज्ञ करने का है, वह व्यक्ति 'यायजूकः' कहलाता है। इज्याशीलः यायजूकः।

६. वाचंयमः— वाचि यमो व्रते (अष्टा० ३.२.४०)। यज्ञानुष्ठान काल में यजमान, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि को कुछ सीमित कालावधि तक वा कुछ विशिष्ट क्रियायें सम्पन्न होने तक वाणी का नियमन करना होता है अर्थात् मन्त्रोच्चारण के अतिरिक्त लौकिक संस्कृतभाषा का भी प्रयोग करना निषिद्ध है। ऐसे नियम का पालन करने वाला व्यक्ति, वाङ्नियन्ता "वाचंयमः" कहलाता है। नियम भंग होने पर प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है— "व्याहृत्य वैष्णवं मन्त्रं जपेत्, अध्वर्युश्च" (का०श्रौ० २.२.६,७)।

७. अग्निष्टोमयाजी— करणे यजः (अष्टा० ३.२.८५)। जिन्होंने सभी सोमयागों का प्रकृतिभूत 'अग्निष्टोम' नामक विशिष्ट याग का अनुष्ठान किया हो, वह "अग्निष्टोमयाजी" के नाम से पुकारे जाते है।

८. स्थण्डिलः, स्थण्डिलशायी— स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते (अष्टा० ४.२.१४)। "आहवनीयगृहशाय्यधो गार्हपत्यस्य वा" (का०श्रौ० २.१.१५), "०स्वपित्यधः प्राङ् दक्षिणतः" (का०श्रौ० ७.५.३४) आदि में यजमान को आहवनीयाग्नि के दक्षिणभाग में और पत्नी को गार्हपत्याग्नि के दक्षिणभाग में अग्नियों की अपेक्षया नीचे वस्त्राद्याच्छादित भूमि पर शयन करने का निर्देश है। शयनार्थ इस निर्दिष्ट स्थान को ही स्थण्डिल कहते हैं। इस प्रकार भूमि पर सोने के व्रत-अनुष्ठाता को 'स्थण्डिलः' या 'स्थण्डिलशायी' कहते हैं।

९. अलं कर्मणे = अलंकर्मीणः— अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः (अष्टा० ५.४.७)। यजमान का पुत्र वा शिष्य जब कर्म (यज्ञ) करने में समर्थ हो जाता है, उसे 'अलंकर्मीणः' कहा जाता है। यथा— "**यदस्य पुत्रो वान्तेवासी वालंकर्मीणः स्यात् स दक्षिणत आसीनो जुहुयादिति**" (बौ०श्रौ० २२.२०)।

१०. आहिताग्निः— वाहिताग्न्यादिषु (अष्टा० २.२.३७)। जो गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय संज्ञक तीन श्रौताग्नियों का तत्तदायतनों में अपने-अपने सूत्रोक्तविधि द्वारा आधान करता है, वह 'आहिताग्नि' के नाम से समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अग्निहोत्री वाजपेयी आदि नाम भी हैं।

११. आवसथिकः, आवसथिकी— आवसथात् ष्ठल् (अष्टा० ४.४.७४)। अवसथ नाम घर का है। उसमें रहने वाले अग्नि को आवसथ्याग्नि (गृह्याग्नि, शालाग्नि, औपासनाग्नि) कहते हैं। जिसका आधान विवाह या पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के समय होता है— "**आवसथ्याधानं दारकाले, दायाद्यकाल एकेषाम्**" (पा० गृह्य० १.२.१,२)। इसी अग्नि में गृहस्थ को पञ्चमहायज्ञ और सभी संस्कार करने होते हैं। इस अग्नि की विशेषता यह है कि इसमें अनुष्ठित कर्मों में ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ऋत्विक् नहीं होते, सभी कर्मों का सम्पादन यजमान स्वयं कर लेता है। इसी आवसथ्याग्नि के समीप में वस्त्राच्छादित भूमि पर सोये हुये यजमान और पत्नी क्रमशः 'आवसथिकः एवं आवसथिकी' कहलाते हैं।

यज्ञों के नाम

१२. यज्ञाख्य और दक्षिणा— तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः (अष्टा० ५.१.९४)। अग्निष्टोम नामक याग की दक्षिणा 'आग्निष्टोमिकी' कहलाती है। वैसे ही वाजपेयिकी, राजसूयकी आदि जानें।

१३. इज्या— व्रजयजोर्भावे क्यप् (अष्टा० ३.३.९८)। यज्ञ का ही अपर नाम इज्या है।

१४. स्वाहा, वौषट्, स्वधा— नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च (अष्टा० २.३.१६)। इस सूत्र में यज्ञ के तीन प्रमुख भेदों का संकेत है।

(अ) बैठकर **स्वाहाकार** के साथ जिसमें आहुति दी जाती है, उसे होम वा हवन कहते हैं। (का०श्रौ० १.२.७)

(आ) जिसमें खड़े होकर **वषट्कार** (वौषट्कार) के साथ आहुति दी जाती है, जो याज्या, पुरोनुवाक्या वाला होता है, उसे यज्ञ या याग कहते हैं। (का०श्रौ० १.२.६)

(इ) जिसमें **स्वधा** के साथ हवि का त्याग किया जाता है, उसे पिण्डपितृयज्ञ कहते हैं।

१५. अध्वर्युक्रतुः— अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् (अष्टा० २.४.४)। अध्वर्युर्वेदे यजुर्वेदे यस्य क्रतोर्विधानं सोऽध्वर्युक्रतुः। यथा— अर्काश्वमेधम्, सायाह्नातिरात्रम् आदि। यहाँ ऋत्विक् विशेष अध्वर्यु का उल्लेख है और गौणवृत्त्या यजुर्वेद को भी अध्वर्यु कहा गया है। यतोहि अध्वर्यु यजुर्वेदी होता है।

'क्रतु' शब्द यज्ञपर्यायवाची होता हुआ भी सोमयाग के लिए रूढ़ है। इसी अर्थ में यहाँ क्रतुशब्द प्रयुक्त है। अत एव 'दर्शपूर्णमासौ' में एकवद्भाव नहीं होता। क्योंकि ये इष्टवाची हैं, न कि सोमयाग वाची हैं।

१६. क्रतुः तथा यज्ञः— क्रतुयज्ञेभ्यश्च (अष्टा० ४.३.६८)। यज्ञ एक व्यापक शब्द है। जिसके अन्तर्गत दर्शपूर्णमासादि इष्टियाँ, अग्निष्टोमादि सोमयाग, पञ्चौदनादि विशिष्ट स्थालीपाक और नवयज्ञ जैसे सामान्य होमों का भी ग्रहण होता है। और क्रतुशब्द यज्ञ का पर्यायवाची है। पुनरपि सोमयागादि के लिए क्रतुशब्द रूढ़ होने[1] से भेदप्रदर्शनार्थ पृथक्-पृथक् पाठ किया है। जिससे सोमयाग (क्रतु) से भिन्न यज्ञवाचकों से भी ठक्प्रत्यय हो सके। यथा— पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः आदि।

क्रतु चार प्रकार के होते हैं — १.एकाह, २.साद्यस्क्र, ३.अहीन ४. सत्त्र। एक दिन में सम्पद्यमान सोमयाग को एकाह कहते हैं। यद्यपि इसके अनुष्ठान के लिये संकल्प से अवभृथेष्टि तक पांच दिन अपेक्षित हैं। परन्तु अन्तिम (पञ्चम) दिन में ही सोम का सवन होने के कारण इसे एकाह कहते हैं। यदि इन पञ्चदिवसीय सम्पूर्ण कर्म एक ही दिन में किया जाता है तो, उसे 'साद्यस्क्र' सोमयाग कहते हैं। दो दिन से ग्यारह दिन तक अनुष्ठीयमान याग को 'अहीन' कहते हैं। बारह दिवसों में अनुष्ठित याग को 'अहीन' और 'सत्त्र' कहते हैं। तेरह दिनों से लेकर अनेकों वर्षों तक चलने वाले याग 'सत्त्र' कहलाते हैं।[2] बारह दिनों से सौ दिन तक सम्पन्न होने वाले सत्र 'रात्रिसत्र' कहाते हैं और सौ से अधिक दिनों तक किये जाने वाले सत्रों को 'अयनसत्र' कहते हैं।

१७. अहीनः—अह्नः खः क्रतौ (वा० ४.२.४२) अह्नां समूहः अहीनः क्रतुः। दिनों की अवधि से अहीनों के नाम होते हैं। जैसे— एकाह, दशाह आदि।

१८. अहीनों का नामकरण— यजमान के नाम और दिनों की संख्या से अहीन क्रतुओं का नामकरण होता है। यथा— द्विगौ क्रतौ (अष्टा० ६.२.९७)— गर्गत्रिरात्रः (गर्ग कुल में तीन दिन का सोमयाग), चरकत्रिरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्रः।

१९. अग्निष्टोमादि नामकरण— अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः, ज्योतिरायुषः स्तोमः (अष्टा० ८.३.८२,८३)— अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम। अग्निष्टोम सब क्रतुओं की प्रकृति है। ज्योतिष्टोमादि उसके विकृति याग हैं।

२०. राजसूयः — राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः (अष्टा० ३.१.११४)। राज्ञा सोतव्यः, राजा वेह सूयत इति राजसूयः क्रतुः। यह अग्निष्टोम की विकृति है।

२१. तुरायणः— पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति (अष्टा० ५.१.७१) यह द्वादशाह की विकृति है और संवत्सरपर्यन्त अनुष्ठेय सत्र है। यह समृद्धि की कामना से किया जाता है— ''सर्वामृद्धिमृध्नोति य एतदुपैति'' (ला०श्रौ०, अग्निस्वामी भाष्य— १०.२०.१)।

२२. कुण्डपाय्यः— क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ (अष्टा० ३.१.१३०)। कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोमः इति कुण्डपाय्यः क्रतुः। यह भी द्वादशाह सत्र की विकृति है और एक वर्ष पर्यन्त अनुष्ठातव्य है।

---

१. क्रतुशब्दः सोमयज्ञेषु रूढः (का० २.४.४)।

२. अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् (वा०पस्पशाह्निक), दीर्घसत्त्राणि वर्षशतिकानि वर्षसाहस्रिकाणि च (म०भा०, पस्प०)।

सञ्चीयतेऽस्मिन् सोम इति सञ्चाय्यः क्रतुः। जिसमें सोम का संग्रह किया जाता है, वह सञ्चाय्य क्रतु कहलाता है।

२३. **दीर्घसत्त्राणि**— देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् (अष्टा० ७.३.१)। दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि वार्षसाहस्रिकाणि च, न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते (म०भा०, पस्प०)।

२४. **सुत्या**— संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः (अष्टा० ३.३.९९)। सोम के अभिषव अर्थात् सोमरस के निचोड़ने को सुत्या कहते हैं और जिस दिन रस निकाल कर उसका याग एवं पान किया जाता है, उस दिन को भी सुत्या कहते हैं। इस सुत्यादिवस की अपेक्षा से ही सोमयागों के एकाह आदि नामकरण होते हैं।

२५. **सोमसुत्**— सोमे सुञः (अष्टा० ३.२.९०)। सोम का अभिषव करने वाला सोमसुत् कहलाता है।

२६. **सुत्वा**— सुयजोर्ङ्वनिप् (अष्टा० ३.२.१०३)। जिसने सोम का अभिषव कर लिया हो अर्थात् सोमयाग कर लिया हो, वह 'सुत्वा' कहलाता है।

२७. **सोम्यः**— सोममर्हति यः (अष्टा० ४.४.१३७) सोममर्हतीति सोम्यः। अर्थात् सोमयाग करने के योग्य पुरुष को 'सोम्य' कहते हैं। याग करने की योग्यता के विषय में पतञ्जलि कहते हैं कि— **"एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं पिबेत्"** (म०भा० ४.१.९३)।

"यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥(मनु० ११.७)
जातपुत्रः कृष्णकेशः श्रौताग्निमादधीत

२८. **सुन्वन्**— सुञो यज्ञसंयोगे (अष्टा० ३.२.१३२)। सोमाभिषव ऋत्विजों के द्वारा सम्पद्यमान होने पर भी यजमान ही 'सुन्वन्' कहलाता है। यतोहि उसीका यज्ञ के साथ संयोग अर्थात् प्रधानकर्तृत्व रहता है।

द्वादशाह आदि दीर्घसत्रों में १७ से २५ तक ऋत्विक् होते हैं। उनमें सभी के सभी ऋत्विक् होते हैं और यजमान भी। अतः वहाँ वे सभी 'सुन्वन्तः' कहलाते हैं। क्योंकि वे सभी याग के प्रधानकर्त्ता बन जाते हैं— **"सर्वे सुन्वन्तः, सर्वे यजमानाः सत्रिण उच्यन्ते"** (का० ३.२.१३२)।

अग्न्याख्या (अग्नियों के नाम)

२९. **अग्निः**— अग्नौ चेः (अष्टा० ३.२.९१)। अग्निमचैषीत् इति अग्निचित्। लोक में अग्नि शब्द आग अर्थ में प्रसिद्ध है, पर श्रौतादि ग्रन्थों में इष्टका (ईंट) अर्थ में भी पर्याप्त प्रयोग है। यथा— "य एवं विद्वानग्निं चिनुते (तै०सं० ५.५.२.१)। प्रकृत प्रसंग के 'अग्निचित्' उदाहरण में भी 'अग्नि' का अर्थ आग न होकर 'इष्टका' ही है।

३०. **श्येनचित्, कङ्कचित्**— कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (अष्टा० ३.२.९२)। श्येन इव चीयत अग्निरिति श्येनचित्। उड़ते हुए श्येनपक्षी की छाया के समान आकार में अग्नि (इष्टकाओं) का चयन किया गया हो वह श्येनचित् कहलाता है। कंकपक्षी की आकृति में अग्नियों (इष्टकाओं) का चयन किया जाय, उसे 'कङ्कचित्' कहते हैं।

३१. **हव्यवाहनः**— हव्येऽनन्तःपादम् (अष्टा० ३.२.६६)। देवतानां समीपे हव्यं वहतीति हव्यवाहनोऽग्निः। देवताओं के समीप हविषों को ले जाने वाले अग्नि को 'हव्यवाहनः' कहते हैं। देवता सम्बन्धित आहुतियाँ स्वाहाकार और वषट्कार से दी जातीं हैं— नमःस्वस्तिस्वाहा० (अष्टा० २.३.१६)।

३२. **कव्यवाहनः**— कूयते हीयते पितृभ्यो यदन्नम् तत् कव्यम्। पितृणां समीपे कव्यं वहतीति

कव्यवाहनोऽग्निः। "**कव्यवाहनः पितृणाम्**" (तै०सं० २.५.८.६) पितरों के समीप में कव्यसंज्ञक हवियों को ले जाने वाला अग्नि 'कव्यवाहनः' कहलाता है। इस कव्यवाहनाग्नि में स्वधाकार से आहुति दी जाती है— नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं० (अष्टा० २.३.१६)।

३३. चित्यः, अग्निचित्यः— चित्याग्निचित्ये च (अष्टा० ३.१.१३२)। चीयतेऽसौ इति चित्योऽग्निः अर्थात् श्रौतयागार्थ उपयुक्त अग्नि ही 'चित्यः' कहलाता है। अग्निचयनमेव अग्निचित्या।

३४. गार्हपत्यः— गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (अष्टा० ४.४.९०)। यजमान ही गृहपति है। वह गृहपति अरणिमन्थन कर जिस आयतन (यज्ञकुण्ड) में अग्नि की स्थापना करता है, वह वृत्ताकार में विद्यमान आयतन और अग्नि दोनों ही 'गार्हपत्य' कहलाते हैं। श्रौताग्नियों में गार्हपत्याग्नि ही सर्वप्रथम अरणिमन्थन द्वारा स्थापित किया जाता है और इसी में से कुछ अग्नि का उद्धरण करके आहवनीयादि श्रौताग्नियाँ स्थापित किये जाते हैं। अर्थात् गार्हपत्याग्नि ही सभी अग्नियों का कारण है। और इस अग्नि की यह भी विशेषता है कि यजमान (गृहपति) द्वारा विशेष प्रयत्न करके नित्य प्रज्वलित रखा जाता है, उपशमन होने पर प्रायश्चित्त करके पुनराधान करना होता है। इसीलिए यही एक अग्नि गृहपति के साथ संयुक्त है, विशेष सम्बन्धित है।

ऐतरेय ब्राह्मण (५.२५) में कहा गया है कि— एक अग्निविशेष अर्थात् आदित्य ही गृहपति है। क्योंकि वह ऋतुरूपी गृहों का पति है। और जो यजमान उस गृहपति (आदित्य) को जानता है, वह भी गृहपति कहलाता है।

३५. आनाय्यः— आनाय्योऽनित्ये (अष्टा० ३.१.१२७) आनाय्यो दक्षिणाग्निः, रूढिरेषा। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि इन तीनों श्रौताग्नियों को सदा प्रज्वलित रखना होता है। पुनरपि "अपवृक्ते कर्मणि लौकिकः सम्पद्यते" (बौ०श्रौ० २.७.३१) नियमानुसार आहवनीय और दक्षिणाग्नि याग के समाप्त होते ही लौकिक बन जाते हैं, अतः उनके वैदिकत्त्व की सिद्धि के लिए जब जब याग किया जाता है, तब तब आहवनीय का प्रणयन गार्हपत्य से एवं दक्षिणाग्नि का गार्हपत्य, वैश्यकुल वा भ्राष्ट्र आदि से पुनरानयन होता है। पुनः पुनः आधान (आनयन) के कारण ये दोनों अग्नियाँ अनित्य होते हैं। परन्तु रूढित्वेन अनित्यार्थ में 'आनाय्य' शब्द केवल 'दक्षिणाग्नि' के लिए ही प्रयोग होता है। अत एव दक्षिणाग्नि के लिए ही प्रकृत सूत्र में 'आनाय्य' शब्द निपातित है।

३६. परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य — अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः (अष्टा० ३.१.१३१)। ये तीनों चितिविशेषों के नाम हैं। ग्रामकामनावान् पुरुष 'परिचाय्य' नामक चिति का चयन करता है— "**परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामो ग्राम्येव भवति**" (तै०सं० ५.४.११.३)। यह एक वृत्ताकार की चिति विशेष है।

उपचाय्य — यह भी एक विशिष्ट आकार की चिति विशेष है।

समूह्य — पशुकामना वाले 'समूह्य' संज्ञक चिति विशेष का चयन करते हैं— "**समूह्यं चिन्वीत पशुकामः**" (तै०सं० ५.४.११.७)।

३७. द्विस्तावा वेदिः, त्रिस्तावा वेदिः— आहवनीय और गार्हपत्य के मध्य में उनकी एक मेखला के समान ऊँचाई वाला जो आयतन बनाया जाता है, उसे 'वेदि' कहते हैं। इसमें बर्हि का आच्छादन कर इष्टि या याग के पात्र और हवि रखी जातीं हैं। दर्शपूर्णमास (प्रकृति) इष्टि में इसकी लम्बाई ९६ अंगुल, पूर्व में ४८ अंगुल चौड़ाई तथा पश्चिम में ६४ अंगुल चौड़ाई होती है। यह समद्विभुज समलम्ब चतुर्भुज के आकार की होती है, परन्तु इसकी भुजाएँ सरल रेखाओं से न बनाकर वृत्तखण्डों से बनाते हैं। इसका पश्चिम भाग अधिक चौड़ा एवं पूर्व भाग कुछ कम चौड़ा होता है। इसकी लम्बाई, पूर्व और पश्चिम भुजाओं का अनुपात क्रमशः इस प्रकार होगा $१:\frac{१}{२}:\frac{२}{३}$। कुछ विकृति इष्टियों में यह वेदी दुगुनी और तिगुनी भी होती है, उन्ही वेदियों को क्रमशः द्विस्तावा

वेदिः त्रिस्तावा वेदिः कहते हैं।

३८. अवस्करः– पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्करादु वुन् (अष्टा० ४.३.२८)। कूड़ा-कचरा के प्रक्षेपण स्थान को 'अवस्कर' कहते हैं। अवस्करे जातः अवस्करकः।

३९. पवित्रम्– प्रादेश (१२ अंगुल व २२.८ से.मी.) परिमाणवाले, परन्तु नखछिन्न न हों और छिद्ररहित, मन्त्रों से संस्कारित, प्रोक्षणादि कार्यों में उपयुक्त दर्भद्वय 'पवित्र' कहलाते हैं।

पुवः संज्ञायाम् (३.२.१८५)– दर्भः पवित्रम्, बर्हिष्पवित्रम्।

४०. द्वन्द्वम्– द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु (अष्टा० ८.१.१५)। द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (का०८.१.१५)।

अध्वर्यु अथवा यजमान आहवनीय के पश्चिम में या उत्तर में दो-दो पात्र रखता है। प्रथम पक्ष में पश्चिम से पूर्व की ओर उत्तर को अग्रभाग करके रखे जाते हैं और द्वितीय पक्ष में दक्षिण से उत्तर की ओर पूर्व को अग्रभाग करके रखे जाते हैं। वे द्वन्द्वपात्र निम्न प्रकार हैं–

१) शूर्प-अग्निहोत्रहवणी, २) स्फ्य-कपाल, ३) शम्या-कृष्णाजिन, ४) उलूखल-मुसल, ५) दृषद्-उपल, ६) शकट वा पात्री-व्रीहि वा यव, ७) तीन पवित्रछेदन-दो पवित्र, ८) उपवेश-संयवन उदक का पात्र, ९) आज्यस्थाली-आज्य, १०) वेद के लिए कुश मुष्टि-दक्षिणार्थ अन्वाहार्य तण्डुल, ११) वेदि तृण-अभ्रि, १२) इध्म-बर्हि, १३) स्रुव-जुहु, १४) उपभृत्-ध्रुवा, १५) दो प्राशित्र हरण, १६) शृतावदान-पुरोडाशपात्री, १७) योक्त्र यून-कुशा, १८) परिधियाँ-कुशास्तीर्ण होतृषदन, १९) इडापात्री-षडवत्त, २०) अन्तर्धान कट-पूर्णपात्र।

यहाँ 'पात्र' का तात्पर्य साधनमात्र अभिप्रेत है। 'पीयतेऽनेनेति पात्रम्' अभिप्रेत नहीं है, अपितु 'पान्ति रक्षन्ति हविरादिकं यैरिति तत् पात्रम्' अभीष्ट है। जिससे शूर्पादि भी पात्रसंज्ञक हो जाते हैं।

४१. सान्नाय्यम्– पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु (अष्टा० ३.१.१२९)। इन्द्र देवताक दधि और दूध को सम्मिश्रण कर महेन्द्र देवता के लिए हवि दी जाती है। इसे ही 'सान्नाय्यं हविः' कहते हैं।

४२. सामिधेनी– 'सामिधेनीरन्वाह' ऐसा अध्वर्यु द्वारा प्रेषित होता आचमन करके वेदि की उत्तर श्रोणी पर खड़े होकर, हृदयदेश में दोनों हाथों को मिलाकर नमन करते हुये प्राङ्मुख होकर "प्रवोवाजा०" (ऋ० ३.२७.१-११) इत्यादि मन्त्रों का मन्द्रस्वर से पाठ करता है। प्रत्येक मन्त्र के निश्चित स्थान पर अध्वर्यु एक-एक पलाश-समित् का आहवनीयाग्नि में होम करता है। अतः **"याभिर्ऋग्भिः समिधः आधीयन्ते ताः सामिधेन्यः"**। निर्वचन के आधार पर वे मन्त्र 'सामिधेनी' कहलाते हैं। वे दर्शपूर्णमास में पन्द्रह होते हैं और आग्रायण आदि विकृति इष्टियों में सत्रह होते हैं।

४३. धाय्या– सामिधेनी मन्त्र यथार्थतः ग्यारह ही होते हैं। इनमें चतुर्थ मन्त्र (समिध्य मानोऽध्वरेग्नि०) और ग्यारहवाँ मन्त्र (अग्निं यन्तुमप्तुर०) क्रमशः समिध्यमानवती एवं समिद्धवती ऋचाएँ कहलाती हैं। प्रथम तथा अन्तिम ऋचा को तीन-तीन वार आवृत्ति कर (बोलकर) ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं को पन्द्रह ऋचाएँ बना दिये जाते हैं। कुछ विकृति इष्टियों में इक्कीस सामिधेनी ऋचाओ का पाठ करना होता है। तो अन्यत्र से छः ऋचाएँ लेकर समिध्यमानवती एवं समिद्धवती के बीच सम्मिश्रण कर इक्कीस की संख्या पूर्त्ति की जाती है। इन्ही सम्मिश्रित ऋचाओं को 'धाय्या' कहते हैं।

"धाय्या सामिधेनी। धेयमन्यत्।" (का० ३.१.१२९) "समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण विकृतिषु प्रक्षिप्यमाणा०" (पद० ३.१.१२९)।

४४. ऋत्विक्– ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च (अष्टा० ३.२.५९)। शास्त्रनिर्दिष्ट ऋतुकालों

में यज्ञ कराने वाला याजक (पुरोहित) 'ऋत्विक्' कहलाता है।

४५. **आर्त्विजीनः**—यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अष्टा० ५.१.७०)। ऋत्विक्कर्मार्हतीति आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्। आर्त्विजीनो ब्राह्मणः। "यो वा इमां पदशः स्वरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनः" (म०भा० पस्पशा०) जो वेदमन्त्रों को शुद्धोच्चारण करने वाला है, वह 'आर्त्विजीन' कहलाता है।

सोमयागादि श्रौतयज्ञों में ऋत्विजों के चार गण होते हैं, और प्रत्येक गण मे चार चार ऋत्विक् होते हैं। कुल १६ ऋत्विक् होते हैं। उनके नाम आदि निम्न प्रकार हैं—

१. अध्वर्युगण—

१.१. अध्वर्यु—अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् (अष्टा० २.४.४)।

१.२. प्रतिप्रस्थाता-प्रतिप्रस्थात्रीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३४)।

१.३. नेष्टा— अप्तृन्......नेष्टृत्वष्टृ........(अष्टा० ६.४.११)।

१.४. उन्नेता—

२. होतृगण—

२.१. होता— अप्तृन् ....होतृ.....(अष्टा० ६.४.११)।

२.२. मैत्रावरुण (प्रशास्ता)— अप्तृन् ......प्रशास्तृणाम् (अष्टा० ६.४.११)।
मैत्रावरुणीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३५)।

२.३. अच्छावाक-अच्छावाकीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३४)।

२.४. ग्रावस्तुत् — भ्राजभास......ग्रावस्तुवः क्विप् (अष्टा० ३.२.१७७)।

३. उद्गातृगण—

३.१. उद्गाता—

३.२. प्रस्तोता—

३.३. प्रतिहर्त्ता—

३.४. सुब्रह्मण्य— न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः (अष्टा० १.२.३७)।

४. ब्रह्मगण—

४.१. ब्रह्मा— ब्रह्मणस्त्वः (अष्टा० ५.१.१३५)— ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम्।

४.२. ब्राह्मणाच्छंसी— ब्राह्मणाच्छंसीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३४)।

४.३. आग्नीध्र— अग्नीत्प्रेषणे परस्य च (अष्टा० ८.२.९२)। आग्नीध्रीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३४)।
अग्नीधः शरणे रञ् भं च (वा० ४.३.१२०)। आग्नीध्रसाधारणादञ् (वा० ५.४.२५)।

४.४. पोता— अप्तृन् ...पोतृप्रशास्तृणाम् (अष्टा० ६.४.११)। पोत्रीयम्— होत्राभ्यश्छः (अष्टा० ५.१.१३४)।

४६. **मन्त्रकरणम्**— "मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आ०श्रौ० १.१.२१) जिनसे कर्म किया जाता है, वे मन्त्र कहलाते हैं। "उपान्मन्त्रकरणे" (अष्टा० १.३.२५) देवताओं को आवाहन के लिए निश्चित मन्त्रों का पाठ करना 'मन्त्रकरण' कहलाता है।

४७. **निहव, अभिहव**— ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु (अष्टा० ३.३.७२)। देवताओं के आहवान को निहव या अभिहव कहते हैं।

४८. **न्यूङ्ख**— होता सोमयाग के प्रातःसवन में प्रातरनुवाक संज्ञक शास्त्र का पाठ करता है। इसके कुछ विशिष्ट मन्त्र ही 'न्यूङ्ख' कहलाते हैं। इन न्यूङ्ख मन्त्रों में दो-दो अर्धर्च होते हैं। प्रत्येक अर्धर्च के प्रथम अच् को छोड़कर दूसरे अच् के स्थान पर प्लुत-उदात्त— ओकार का उच्चारण करते हैं। तत्पश्चात् पांच अर्ध ओकार पढ़े

जाते हैं। पुनः प्लुत ओकार और पांच अर्ध ओकार, पुनः प्लुत ओकार और तीन अर्ध ओकार पढ़े जाते हैं। इसीप्रकार द्वितीय अर्धर्च में पढ़ा जाता है। प्रत्येक अर्धर्च में तीन प्लुत ओकार तथा तेरह अर्ध ओकार पढ़े जाते हैं। कुल सोलह ओकारों का पाठ होता है। इन्हें ही 'न्यूङ्ख' कहते हैं। नीचे लिखित मन्त्र से न्यूङ्ख का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा—

आपो३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ३
ओ ओ ओ रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायो३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ३
ओ ओ ओ स्थः स्वपत्यस्य पत्नी। सरस्वती तद् गृणते वयो
धो३ मा३ पो३। (ऋ०१०.३०.१२)

यागप्रक्रिया

श्रौतयज्ञों में प्रत्येक याग (आहुति) की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। जिसका उल्लेख अष्टाध्यायी के सूत्रों में भी है —

४९. **प्रैष**— ब्रूहिप्रेष्य० (अष्टा० ८.२.९१)। अध्वर्यु द्वारा होता और अग्नीत् को दिये जाने वाले प्रेरित वचनों (आज्ञाओं) को ही 'प्रैष' कहते हैं। अनुपद ही इनका सोदाहरण स्पष्टीकरण दिया जाएगा।

पाशुक यागों में 'प्रैषप्रैष' भी होता है। अर्थात् प्रैष के लिए प्रैष दिया जाता है। सामान्यतया अध्वर्यु ही होता को पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र बोलने के लिये क्रमशः 'अनुब्रूहि' और 'यज' शब्दों से प्रैष देता है। परन्तु पशुयागों में ये ही प्रैष होता को मैत्रावरुण देता है और इन प्रैषों को देने के लिए अध्वर्यु ''प्रे३ष्य'' शब्द से मैत्रावरुण को प्रैष देता है। जैसे— अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य। यही प्रैषप्रैष (प्रैष के लिए प्रैष) या प्रेष्य कहलाता है।

ब्रूहिप्रेष्य० (८.२.९१) सूत्र में 'ब्रूहि' शब्द होता को दिये जाने वाला प्रैष है और 'प्रेष्य' शब्द मैत्रावरुण को दिये जाने वाला प्रैषप्रैष है।

५०. **पुरोनुवाक्या-प्रैष**— निर्दिष्ट देवता की स्तुति वा आवहन के लिए अध्वर्यु द्वारा प्रथम वार होता को जो प्रैष दिया जाता है, वह 'पुरोनुवाक्या-प्रैष' कहलाता है। यथा— अग्नयेऽनुब्रूहि।

५१. **पुरोनुवाक्या**— अध्वर्यु के उक्त प्रैष को सुनकर प्रथम वार होता के द्वारा जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह ''पुरोनुवाक्या'' कहलाती है। 'पुरः = यागात् पूर्वं देवतामनुकूलयितुं स्मर्तुम् आह्वातुं या ऋग् उच्यते सा पुरोऽनुवाक्या'। जैसे —

ओ३म् अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वतो३म् ॥ (ऋ० ८.४४.१६)

यहाँ ''प्रणवष्टेः'' (अष्टा० ८.२.८९) सूत्र से पुरोनुवाक्या के टिभाग को (ही) प्रणवादेश होता है।[1] **''उत्तमस्य च छन्दोमानस्थोर्ध्वमादिव्यञ्जनात् स्थाने ओकारः प्लुतस्त्रिमात्रः शुद्धः। मकारान्तो वा। तं प्रणव इत्याचक्षते। अवसाने मकारान्तं सर्वेष्वृग्गणेषु स पुरोनुवाक्येषु''**।(शांखायन श्रौ० १.१.१९,२०;१.२.१,२)

५२. **अग्नीत्प्रैष**— अग्नीत्प्रेषणे परस्य च (अष्टा० ८.२.९२)। यह द्वितीय प्रैष है, जो कि अध्वर्यु द्वारा आग्नीध्र (अग्नीत्) को दिया जाता है। यह प्रेषण इस प्रकार होता है—

१. यज्ञों में सभी मन्त्रों के टि भाग में (मन्त्रान्त में) प्लुत ओंकार का उच्चारण करना अशास्त्रीय है।

ओ३श्रा३वय। आ३श्रा३वय।

५३. प्रत्याश्रवण— अध्वर्यु के प्रैष को सुनकर अग्नीत् जो उत्तर देता है, वही 'प्रत्याश्रवण' कहाता है। वह उत्तर इसप्रकार होता है— अस्तु श्रौ३षट्। यहाँ ''ब्रूहिप्रेष्यश्रौषट्०'' (अष्टा० ८.२.९१) से प्लुत होता है।

५४. याज्याप्रैष— याज्या मन्त्र पढ़ने हेतु अध्वर्यु द्वारा होता को दिये जाने वाला द्वितीय प्रैष ही 'याज्याप्रैष' है। यह अध्वर्यु का तृतीय प्रैष है। यह प्रैष ''अग्निं यज'' के रूप में होता है।
यहाँ 'यज' शब्द को प्लुत नहीं होता। कुछ याज्ञिक इसे भी प्लुत बोलते हैं, वह कहीं विहित न होने से अशुद्ध है।

५५. याज्या— अपने द्वितीय प्रैष को सुनकर होता जो ऋचा बोलता है, उसे याज्या कहते हैं। इज्यतेऽनयेति याज्या। इस याज्या के आदि में 'ये यजामहे' शब्द जोड़े जाते हैं और अन्त में 'वौषट्' शब्द जोड़ा जाता है। यह याज्या इस प्रकार होगी—

ये३यजामहेऽग्निं भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रानियुद्भिः सचसे शिवाभिः।

दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहँ३ वौ३षट्।

यहाँ ''ये यज्ञकर्मणि''(अष्टा० ८.२.८८) सूत्र से याज्य से पूर्व संयुक्त आगूर्त (अभिगूर्त) वाक्य के 'ये' शब्द को प्लुत हुआ है। ''याज्यान्तः''(अष्टा० ८.२.९०) सूत्र से याज्या के टिभाग को प्लुत हो गया और ''ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः'' (अष्टा० ८.२.९१) से 'वौषट्' शब्द के आदि को प्लुत हुआ है।

५६. सप्तदशाक्षरप्रजापतिः— आ श्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम् यजेति द्व्यक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कार एष वै सप्तदशः प्रजापतिः (तै०सं० १.६.११.१; अपि च द्रष्टव्य महाभाष्य ४.४.१४०)।

४- आश्रावयेति चतुरक्षरम्।

४- अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्।

२- यजेति द्व्यक्षरम्।

५- ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्।

२- द्व्यक्षरो वषट्कारः।

१७- एष वै सप्तदश प्रजापतिः।

५७. प्रयाज— प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा० ७.३.६२)।

प्र=प्रधानयागात् पूर्वम् इज्यते यैरिति प्रयाजाः। वे प्रयाज पाँच होते हैं— १.समिधो यजति, २. तनूनपातं यजति, ३. बर्हिर्यजति, ४. इडो यजति, ५. स्वाहाकारं यजति। इनके देवता क्रमशः— १. समित्, २. तनूनपात् अथवा नराशंस, ३. इड, ४. बर्हि, ५. स्वाहा।

विभक्तिं कुर्वन्ति। याज्ञिकाः पठन्ति- प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् (म०भा०, पस्प०)।

५८. अनुयाज— प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा० ७.३.६२)। अनु= पश्चात् प्रधानयागानन्तरम् इज्यते यैरिति अनुयाजाः। ये तीन होते हैं। पञ्च प्रयाजाः त्रयः अनुयाजाः।

पञ्चम अध्याय

वेदाङ्ग व्याकरण

५.१. यति और यतिबोध*

विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। जो कि छन्दोबद्ध है– "**गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कम्**" (ऋ० १.१६४.२४)[१] छन्द के विषय में स्वयं ऋग्वेद कहता है कि– "**अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः**" (ऋ० १.१६४.२४)। अर्थात् वेदवाणी गायत्री आदि सात छन्दों से प्रतिमान (निर्माण)किया जाता है। इसके अनुसार ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने कहा है कि– "**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**"(ऋ०सर्वा० २.६)। अक्षरों के परिमाण विशेष को छन्द कहा जाता है। उसी छन्द के कुछ पारिभाषिक शब्द हैं– अक्षर, गण, पाद, यति, लय, राग, गान, ताल, स्वर आदि। जिनसे बद्ध होकर छन्द सहृदयों के सम्मोहक बनकर अमरत्व को प्राप्त करते हैं। पर नियमानुसार छन्दोबद्धता होने पर भी विस्वरता और यति, लय आदि के दोष आ जाने से छन्द अरुचि के विषय बन जाते हैं। अरुचि का तात्पर्य छन्दस्त्व की हानि है। क्योंकि कहा जाता है कि '**छन्दयति प्रीणाति रोचत इति छन्दः**'[२] अस्तु।

सम्प्रति विवेचनीय विषय केवल यति है। जो कि छन्दःशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में से एक है। आचार्यों ने इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया है– **यतिर्विच्छेदः**(पि०सू० ६.१)। **यतिः पदच्छेदः** (छ०वि० १.४०)। **यतिर्विच्छेदसंहिता** (वृ०र० १.१२)। **नियतः पादविच्छेदो यतिरित्यभिधीयते** (ना०शा० १५.९०)।

श्लोकेषु नियतस्थाने पदच्छेदं यतिं विदुः (का०आ०)।

यतिश्छन्दोऽधिरूढानां शब्दानां या विधारणा (का०आ० ४.२४)।

इन सभी लक्षणों का तात्पर्य है कि छन्दोबद्ध मन्त्र वा श्लोकों के उच्चारण में नियत स्थान पर अर्थ की संग्राह्यता एवं हृद्यता के लिए और माधुर्यता या श्रव्यता के लिए किये जाने वाला विच्छेद वा विराम ही 'यति' कहलाता है। "**विच्छेदः पाठवेगस्य यतिः। पठतो मध्येऽन्ते वा यो विलम्बः सा यतिः**" (छ०भा० ६.१)। अर्थात् पाठवेग को अपेक्षाकृत अधिक रोकने को ही यति कहते हैं। नियमतः वर्णों के मध्य में अर्धमात्रा का व्यवधान और पदों के मध्य में एकमात्रा का व्यवधान होना चाहिए। श्लोकादि को पढ़ते समय उक्त नियतकाल से अधिक काल का व्यवधान करने , विलम्ब से बोलने को ही यति[३] कहते हैं– "**द्रुतं पठन् यथाशास्त्रं मध्येऽन्तेऽथ विलम्बते**" (छ०वि० ६.१)। इसके वाचक अन्य पर्यायवाची शब्द हैं– विश्राम,विच्छेद,विराम,विरति आदि। इसे कुछ आचार्य ऐच्छिक मानते हैं। यथा– **यतिर्जिह्वेष्टविश्रामस्थानं कविभिरुच्यते** (छ०मी० १.१२)। **यतिश्छन्दोग्रन्थविख्याते जिह्वाया विश्रामस्थाने, उच्चारणकालविच्छेदे** (वाच०)। इन वचनों से यह द्योतित होता है कि यदि जिह्वा (उच्चारण) का असौविध्य न हो तो यति की आवश्यकता भी नहीं है। अर्थात् वे आचार्य यति को अनिवार्य नहीं मानते। यति की अनिवार्यता को मानने वाले आचार्य हैं– पिङ्गल, वसिष्ठ, कौण्डिन्य, कपिल और कम्बलमुनि एवं अनिवार्यता को न मानने वाले आचार्य हैं– भरत, कोहल, माण्डव्य अश्वतर, सैतव आदि।[४]

यति के प्रयोजन– यति के विधान तीन उद्देश्यों से किया जाता है।

---

*. यह लेख वेदवाणी (अप्रैल २०१०) में प्रकाशित है।

१. अर्कम् = ऋग्वेदम्, प्रतिमिमीते = रचयति (दयानन्दः)।

२. रसो वै छन्दांसि (शत० ७.३.१.३७)।

३. अंग्रेजी में इसे pause (पाज) और caesura (सिज्यूरा) कहते हैं।

४. वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गलवसिष्ठकौण्डिन्यकपिलकम्बलमुनयः।
नेच्छन्ति भरतकोहलमाण्डव्याश्वतरसैतवाद्याः केचित् ॥ (छ०अ० १.१३)

१. छन्द की लयबद्धता के लिए।
२. उच्चारण के सौविध्य के लिए।
३. संगत (अविसंगत) अर्थ के लिए।

यति के नियम– **यतिः सर्वत्र पदान्ते श्लोकार्धे तु विशेषतः। समुद्रादिपदान्ते च व्यक्ताव्यक्तविभक्तिके ॥ क्वचित्तु पदमध्येऽपि समुद्रादौ यतिर्भवेत्** । (छ०शा० ६.१ पर हलायुधभट्टविरचित मृतसंजीवनी में उद्धृत)

पादान्त एव केचिच्च पादमध्येऽपि केचन। यतिं वदन्ति तत्रापि विशेषः स्फुटमुच्यते।। (मन्दारमरन्द) अर्थात् यति पाद के अन्त में तथा मध्य में भी होती है। छन्दों के पादों में अक्षर नियत होते हैं। उन पादों के मध्य में भी नियत संख्याक अक्षरों पर यति होती है। चाहे वह सविभक्तिक हो या निर्विभक्तिक। यथा मन्दाक्रान्ता नामक छन्द के पाद में चौथे, छठे एवं सातवें अक्षर पर यति होती है – ''**मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ त्गौ ग् समुद्रर्तुस्वराः**'' (छ०शा० ७,१९)'उदाहरण' – ज्ञानोद्रेकात् (४) विघटिततमो (६) ग्रन्थयःसत्त्वनिष्ठाः (७)''(वे०सं० १.२३)। कहीं-कहीं यति पदमध्य में भी होती है। जब पदमध्य में होती है, तब वह निर्विभक्तिक ही होती है। यतिनियम के विषय में पिङ्गलछन्दोविचितिकार कहते हैं –

अर्धे पादेऽस्य भागे च ह्यन्ते च स्याद् यतिस्त्रिषु। त्रिधा यतिश्च शब्दान्तसमासपदमध्यजा।। इसके अनुसार यति शब्दान्त में एवं समास और पद के मध्य में होती है।

यति के विभाग– यति द्विधा विभक्त है। १. स्वर यति या लय यति, २. अर्थ यति या पूर्णक यति। वाक्य, पाद, पद आदि के मध्य में होने वाला विच्छेद (उच्चारणगति की विलम्बता)ही स्वर यति या लय यति कहलाती है। अर्थ की दृष्टि से जहाँ विराम होता है, वह अर्थ यति या पूर्णक यति कहाती है। जो कि पाद आदि के अन्त में होती है।

यति की आवश्यकता है – व्यवहार में अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पदों और पदसमुदायों(वाक्यों) को तदनुकूल लय तथा यति के साथ बोला जाता है, बोलना भी चाहिए। अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे किसी दुकान में देशीय घी बिकता हो, वहाँ व्यापारी ने एक वाक्य लिखवाया हो कि '' यहाँ पर-देशीय घी मिलता है ''। अब कोई व्यक्ति तदनुकूल यति के साथ उस वाक्य (यहाँ पर-देशीय घी मिलता है) को पढ़ता है तो उस वाक्य के अभीष्ट अर्थ को जान पायेगा। अन्यथा यदि उसे 'यहाँ-परदेशीय घी मिलता है' के रूप में पढ़ता है तो सर्वथा विपरीत अर्थ बुद्धिगत होता है। इसीप्रकार 'उस परमेश्वर से - पहले आकाश उत्पन्न हुआ', 'उस परमेश्वर से पहले - आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि वाक्यों में जानें। ऐसे ही शब्दों के अन्दर भी देखा जा सकता है कि यति भेद से अर्थभेद हो जाता है। यथा– **नयज्ञ**–नय-ज्ञ (= नीतिज्ञ), न-यज्ञ (= अयज्ञ)। **विभाषा**– विभा-षा (= विकल्प), वि - भाषा (= विदेशी भाषा)। **नापता**– नाप - ता (= मापता), ना - पता (= जिसका पता नहीं)

उचित यति का प्रयोग न करने से लोक व्यवहार में किस प्रकार का अनर्थ हो जाता है लिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो गया ही होगा। वैसे ही लौकिक एवं वैदिक छन्दों में भी उचित यति के अभाव में छन्दस्त्व की हानि होती है, ऐसा पूर्व में ही लिख चुके हैं। अतः प्रत्येक क्षेत्र में 'यति' का परिज्ञान आवश्यक है।

यतिनिर्णय की दुष्करता– यति का प्रयोग जब सन्धिरहित स्थलों मे करना हो तो तब कोई कठिनाई नहीं है। पर जब ससन्धि स्थलों में यति का प्रयोग वा निर्देश करना हो तो तब उसके निर्णय पर कठिनाई होती है। इसीलिये ऐसे स्थलों पर यतिनिर्णयार्थ विचार करने के लिए आचार्यों को विवश होना पड़ा। ''**पूर्वान्तवत्**

स्वरः सन्धौ क्वचिदेव परादिवत्। द्रष्टव्यो यतिचिन्तायां यणादेशः परादिवत्'' (हलायुध० ६.१)।। **''पादान्तस्य शब्दस्य उत्तरपदाद्येन यणादेशसन्धिः स्यात्। स च परस्य पादस्यादिः स्यात्, न पूर्वस्यान्तः। तद्यथा– तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देहि। अन्यस्तु सन्धिः- ---पादस्यान्तः स्यात्, नोत्तरस्यादिः''** (छ०भा० ६.१) इनका तात्पर्य यह है कि यणसन्धि परभाग का आदिवत् होता है। यथा– जीर्णानि + अन्यानि = जीर्णा-न्यन्यानि। शेष सभी स्वरसन्धियों का एकादेश पूर्वभाग का अन्तवत् माना जाता है। इसके लिये हलायुध ने उदाहरण दिया है कि – **दिक्काला-द्यनवच्छिन्ना-नन्तचिन्मात्रमूर्तये** (६.१) **यस्याः कर्णावतं सो-त्पल**०(७.२३)

यतिबोध की समीक्षा– यहाँ **'यतिबोध'** का तात्पर्य 'पाणिनि महाविद्यालय'(रेवली) के स्नातक और हमारे सहाध्यायी श्री आचार्य धर्मेश जी भारद्वाज द्वारा सम्पादित एवं 'रामलाल कपूर ट्रष्ट ' द्वारा प्रकाशित ''अष्टाध्यायी सूत्रपाठः'' से है। अष्टाध्ययी सूत्रों को कण्ठस्थ करने तथा कराने वाले के सामने सूत्रों का शुद्ध-शुद्ध यति (उचितविच्छेद) का निर्देश वा निर्णय करने की कठिनाई सदा ही बनी रहती है और सभी इस कठिनाई का अनुभव भी करते हैं। ऐसी परिस्थिति में सभी अपने-अपने विवेक के आधार पर विच्छेद करते, कराते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ विद्वानों ने आंशिकरूप से यतिनिर्देश के साथ सूत्रपाठ को प्रकाशित भी किये हैं।[१] पर अभी तक कोई निश्चित सिद्धान्त वा नियम नहीं बन पाये। अथवा ऐसा कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया, जिसके आधार पर सर्वत्र सभी लोग सूत्रों को एक जैसा कण्ठस्थ कर सकें और शुद्ध परम्परा प्रचलित हो सके। यह प्रसन्नता की बात है कि श्री धर्मेश जी भारद्वाज ने सर्वप्रथम यतिबोध के साथ द्विरंगी सुन्दर सूत्रपाठ का सम्पादन किया है। यह अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। पर यह यतिनिर्णय स्वनिर्मित[२] (स्वकल्पित) नियमों के आधार पर न करके यदि शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर कर लिये होते तो ''**सोने में सुरभि**'' वाली बात होती। इतना ही नहीं छात्रजगत् का महान् उपकार सिद्ध होता और अपनी पवित्र भावना को पूर्ण करने में सफल भी हो जाते, अस्तु।

यतिदोष (अनुचित यति) से किस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है, यह सोदाहरण पूर्व में लिख चुके हैं। वही परिस्थिति अष्टाध्यायी के सूत्रों में भी होती है।[३] जैसे– प्रायः सभी विद्यार्थी ''**ससजुषो रुः**'' (८.२.६६) सूत्र को **'सस-जुषो रुः'** के रूप में उच्चारण करते हैं। जो कि नितान्त अशुद्ध है। यतोहि वह सूत्र न 'सस' शब्द को कुछ कार्य करता है और न ही 'जुष्' को। वह तो पदान्त 'स्' को एवं 'सजुष्' के ष् को रुत्व करता है। अतः उसका उच्चारण **'स-सजुषो रुः'** के रूप में ही होना चाहिए, अन्यथा सूत्र निरर्थक हो जाता है।[४] इसीलिए शास्त्रीय नियमों के आधार पर यति का बोध होना अनिवार्य है। **'यतिबोध'** में शास्त्रीय नियमों पर आधृत निर्णीत सिद्धान्तों के अभाव के कारण यतिनिर्देश में एकरूपता नहीं आ पायी है। बहुत्र अनुचित यति

१. गोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी', गोपालदत्त पाण्डेय, शंकरदेव पाठक आदि।।

२. द्र० यतिबोध (भूमिका) पृ० ङ-ज।

३. अनुबन्ध अनेकान्त होते हैं इस पक्ष में भाष्यकार ने विचार करते हुए कहा है कि ''वुञ्छण्''(४.२.७९) यहाँ ञित्त्व पूर्व (वु) का एवं पर (छण्) का दोनों का अवयव बन सकता है। जो कि एक दोष है। इसके परिहार के रूप में व्यवसित (विच्छिन्न, सयति) पाठ को माना है। जिससे कि कालव्यवधान (=यति) से सन्देह की निवृत्ति हो सके– ''अनेकान्तत्वे त्वानन्तर्यस्योभयापेक्षस्य विरोधाभावाद् व्यवसितपाठ एव कर्त्तव्यः''(प्रदीपः)। इससे स्पष्ट है कि भाष्यकारादि सभी आचार्य निर्भ्रान्तता के लिए सूत्रपाठ में यति को चाहते हैं। (म०भा० १.३.९, पृ० १३७-१३८)।।

४. ऐसे ही 'लोकसर्वलोकाट् ठञ्'(५.१.४३) का भी गलत उच्चारण (यति) किया जाता है (लोकसर्व-लोकाट् ठञ्)। इसका Æb G€ç;m <Âç‍b- सर्वलोकाट् ठञ्' के रूप में करना चाहिए। अपि च 'ऋषभोपानहोर्ञ्यः (५.१.१४)' का उच्चारण 'ऋषभो-पानहोर्-ञ्यः' के रूप में होना चाहिए। पर प्रायः 'ऋष-भोपा-नहोर्यः' किया जाता है।

का भी निर्देश किया गया है। विशेषकर यति की आवश्यकता वहाँ होती है, जहाँ धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि का अनेक सन्धियों के साथ निर्देश किया गया हो। पर ऐसे स्थलों पर यतिबोधयिता निश्चित सिद्धान्तों के अभाव में कठिनाई की अनुभूति करते हुए यति का निर्देश करना ही त्याग दिया है। अनेकत्र तो भूल से भी यतिनिर्देश छूट गया है (इन सभी के उदाहरण अग्रिम शीर्षक में देखें)।

यथार्थ यतिबोध— यतिनिर्देश के तीन प्रयोजन पहले लिख चुके हैं। उनमें प्रथम प्रयोजन अर्थात् 'छन्द की लयबद्धता' इस समय प्रासंगिक अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के लिए महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि इस समय का सूत्रपाठ छन्दोबद्ध नहीं है। अवशिष्ट दो प्रयोजन अर्थात् 'उच्चारण का सौविध्य' एवं 'संगत (अविसंगत) अर्थ' अष्टाध्यायी के लिए अवश्य महत्त्व रखते हैं। अतः अब हम पूर्व में चर्चित शास्त्रीय नियमों के आधार पर संगत अर्थ के साथ-साथ उच्चारण का सौविध्य के लिए यतिनिर्देश का दिग्दर्शन करते हैं।

उससे पूर्व हम पाठकों का ध्यान इस ओर पुनः एक बार आकृष्ट करना चाहते हैं कि 'यति' का अर्थ पदविच्छेद नहीं है, अपितु उच्चारणगति की विलम्बता मात्र है। यति के द्वारा पदविच्छेद नहीं किया जाता और न ही संहितात्त्व को नष्ट किया जाता है।

स्वरसन्धियों को देखने से पूर्व हलन्त शब्दों को देखते हैं। **'अज्झीनं परेण संयोज्यम्'** के अनुसार जब हलन्त शब्द अजादि पद के साथ मिलता है। पूर्वपदान्तभूत हल् परपदादिभूत अच् के साथ ही बोला जाता है।[1] क्योंकि अच् प्रधान एवं अनुकार्य होता है और हल् गौण तथा अनुकर्त्ता होता है। सदा गौण ही प्रधान का अनुकरण किया करता है। उदाहरण— **''निपात एकाजनाङ्''**(१.१.१४) सूत्र का उच्चारण '०एका-जनाङ्' ही करना चाहिए। जब कि **'यतिबोध'** में बताया गया कि **'०एकाज-नाङ्'**। इसमें एक दोष यह है कि नियम के विरुद्ध प्रधानभूत अच् को गौणभूत हल् का अनुकरण कराया गया है। दूसरा दोष यह है कि इसमें छात्र को 'नाङ्' शब्द से नञर्थ (निषेध) का बोध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण 'यतिबोध' इस दोष से दूषित है। इसका परिमार्जन इस प्रकार से करें— ०व्यवस्थाया-मसंज्ञायाम् (१.१.३३)।[2] स्व-मज्ञातिधनाख्यायाम् (१.१.३४)। सु-डनपुंसकस्य (१.१.४२)। उ-दुपधाद्भावादि० (१.२.२१)। ०उदात्त-मर्धह्रस्वम् (१.२.३२)। अर्थव-दधातु-रप्रत्ययः० (१.२.४५)। ०संहिताया-मनुदात्तानाम् (१.२.३९)। यथासंख्य-मनुदेशः० (१.३.१०)। जात्याख्याया-मेकस्मिन् बहुवचन-मन्यतरस्याम् (१.२.५८)। ०सम्प्रदान-मन्यतरस्याम् (१.४.४४) इत्यादि।

यह नियम केवल हलन्त एवं अजादि के मध्य में ही लगता है। यदि हलन्त पद हलादि के साथ संयुक्त होता है तो वहाँ हलों का 'संयोग' बनता है। ऐसी स्थिति में प्रातिशाख्यकार कहते हैं कि संयोग का आदिभूत हल् पूर्वपद का अवयव बनता है और शेष पर का अवयव।[3] इस नियम के अनुसार 'संयोग' स्थलों पर यति का प्रदर्शन **'यतिबोध'** में प्रायः ठीक ही किया गया है। तद्यथा— ०बहिर्- योगोपसंव्यानयोः (१.१.३५)। कृन्-मेजन्तः (१.१.३८)। ०तोसुन्-कसुनः (१.१.३९)। अनेकाल्-शित्-सर्वस्य (१.१.५४) इत्यादि।

अब स्वरसन्धि स्थलों को देखते हैं। इनके विषय में पहले सप्रमाण बताया गया है कि सभी स्वरसन्धियों में केवल यण्सन्धि अर्थात् तज्ञन्य व्यञ्जनों का संयोग पूरा ही बाद वाले पद का आदिवत् होता है। शेष सभी स्वरसन्धियों का एकादेश पूर्वपद के अन्तवत् होते हैं। बस इस कसौटी पर एकैकशः **'यतिबोध'** को परखते हैं।

---

१. उक्तञ्च ''स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य (ऋ०प्रा०१.२३) अर्थात् दो स्वरों के मध्य में विद्यमान व्यञ्जन बाद वाले स्वर के अङ्ग होते हैं।

२. इस लेख में उदाहृत सूत्रों में केवल अभीष्ट स्थल पर ही प्रायः यतिनिर्देश दिखाया गया है और सन्दिग्ध स्थल ही विचारे गये हैं।

३. द्र० ऋ०प्रा० १.२५, वा०प्रा० १.१०२, तै०प्रा० २१.४।

यण्सन्धि– 'यज्ञकर्मणि + अजपन्यूङ्ख० = यज्ञकर्म-ण्यजपन्यूङ्खसामसु' के रूप में यहाँ यति होनी चाहिए। इससे नञर्थबोध की हानि नहीं होती और व्यञ्जन स्वर के अनुकरण करने वाले होंगे। **'यतिबोध'** में इसके विपरीत यति का निर्देश किया गया है– ''यज्ञकर्मण्य-जप०''। यण्-प्रदेशों में सर्वत्र यही त्रुटि हुई है। उनके शोधन के लिए और कुछ उदाहरण नीचे देते हैं–

०विम-त्युपमन्त्रणेषु वदः (१.३.४७)। ०कर्-त्रभिप्राये० (१.३.७२)। अभि-प्र-त्यतिभ्यः क्षिपः(१.३.८०)। न पा-द-म्याङ्-यमा-ङ्यस० (१.३.८९)। स्वादि-ष्वसर्वनामस्थाने (१.४.१७)। ग्राम्यपशुसङ्घे-ष्वतरुणेषु स्त्री (१.२.७३)। वञ्चि-लुञ्-च्यृतश्च (१.२.२४)। नोनयति-ध्वनय-त्येलय-त्यर्दयतिभ्यः (३.१.५१) इत्यादि।

'यतिबोध' में कुछ सूत्रों का यतिबोध नहीं कराया नहीं गया। तद्यथा– प्र -त्याङ्भ्यां श्रुवः(१.३.५९)। तस्मा-दि-त्युत्तरस्य (१.१.६६) इत्यादि।

यदि पूर्वपद एकाच्क हो और उस अच् के स्थान पर भी यणादेश हुआ हो तो सम्पूर्ण पूर्वपद को उत्तरपद के साथ ही बोलना चाहिए। यथा– रलो व्युपधाद्० (१.२.२६)। यू स्त्र्याख्यौ नदी (१.४.३)।

सवर्णदीर्घैकादेशसन्धि– यहाँ से आगे की सभी सन्धियाँ पूर्वपद के अन्तवत् होती हैं। **'यतिबोध'** में सवर्णदीर्घसन्धि के स्थलों पर यति के निर्देश करने में एकरूपता नहीं है। इसका कारण शास्त्रीय निश्चित सिद्धान्त का बोध न होना और पूर्वाभ्यासवशात् स्वकल्पित नियम हैं।

उचित यतिबोध	अनुचित यतिबोध
मुखनासिका-वचनो० (१.१.८)।	०सवर्णानु-स्वारदीर्घः० (१.१.५७)।
पूर्व-परा-वरो-त्तरा-परा-धराणि०(१.१.३३)।	गन्धनाव-क्षेपणसेवन० (१.३.३२)।
स्वमज्ञातिधना-ख्यायाम्(१.१.३४)।	अपेतापोढ-मुक्त० (२.१.३७)।
०चा-पूर्वनिपाते(१.२.४४)।	०समानाधि-करणेन(२.१.४८)। इत्यादि
लुब्योगा-प्रख्यानात्(१.२.५४) इत्यादि।	

अनुचित यतिबोधों का उचित यति इस प्रकार होनी चाहिए –

०सवर्णा-नुस्वारदीर्घः(१.१.५७)।	(अथवा) ०सवर्णा-नु-स्वारदीर्घः०(१.१.५७)।
गन्धना-वक्षेपणसेवन०(१.३.३२)।	(अथवा) गन्धना-व-क्षेपणसेवन०(१.३.३२)।
अपेता-पोढ-मुक्त०(२.१.३७)।	
०समाना-धिकरणेन(२.१.४८)।	

पूर्वरूपैकादेशसन्धि – इस सन्धि के स्थलों पर भी **'यतिबोध'** में एकरूपता का अभाव है। कारण पूर्ववत् जाने।

उचित यतिबोध	अनुचित यतिबोध
हलोऽ-नन्तराः०(१.१.७)।	०वचनोऽनु-नासिकः(१.१.८)।
०कुटादिभ्योऽ-ञ्णिन्ङित्(१.२.१)।	उपदेशेऽजनु-नासिक०(१.३.२)।
०तदभावेऽ-दर्शनं स्यात्(१.२.५५)।	क्रीडोऽनु-सम्परि०(१.३.२१)।
आङो दोऽ-नास्य विहरणे(१.३.२०)।	ध्रुवमपायेऽपा-दानम्(१.४.२४)।
उदोऽ-नूर्ध्वकर्मणि(१.३.२४)। इत्यादि	विरामोऽव-सानम्(१.४.१०९)। इत्यादि।

अनुचित यतिबोधों का उचित यति निम्नानुसार होनी चाहिए—

०वचनोऽ-नुनासिकः(१.१.८)। (अथवा) ०वचनोऽ-नु-नासिकः(१.१.८)।
उपदेशेऽ-जनुनासिक०(१.३.२)। (अथवा) उपदेशेऽ-जनु-नासिक०(१.३.२)।
क्रीडोऽ-नु-सम्-परि०(१.३.२१)।
ध्रुवमपायेऽ-पादानम्(१.४.२४)।
विरामोऽ-वसानम्(१.२.१०९)।

कुछ स्थानों पर यतिनिर्देश भूल से छूट भी गया है। यथा— अचोऽ-न्त्यादि टि(१.१.६३)। अलोऽ-न्त्यात्पूर्व०(१.१.६४)। ०प्रत्ययेऽङ्गम्(१.४.१३) इत्यादि।

अयादिसन्धि— अयादिसन्धि के स्थलों पर यति का प्रदर्शन **'यतिबोध'** में प्रायः अशुद्ध ही है। इसके लिए उद्धृत सूत्रों के साथ **'यतिबोध'** की तुलना करें।

०स्येता-[1]वनार्षे(१.१.१६)। अणा-वकर्मकाच्०(१.१.८८)। नेयङुवङ्स्थाना-वस्त्री(१.४.४)। ०पाणा-वुपयमने(१.४.७६) जीविकोपनिषदा-वौपम्ये(१.४.७८)। इत्यादि कुत्रचित् यतिनिर्देश विस्मृत भी हुआ है। यथा— लिङ्सिचा-वात्मनेपदेषु (१.२.११) आदि।

गुणवृद्ध्येकादेशसन्धि— गुणैकादेश एवं वृद्ध्येकादेश सन्धियों पर भी असाधु यति का ही प्रदर्शन हुआ है। एतदर्थ निम्न यतियुक्त सूत्रों के साथ **'यतिबोध'** की तुलना करें। पूर्वपरावरदक्षिणो-त्तरा०(१.१.३३)। ०बहिर्योगो-पसंव्यानयोः(१.१.३५)। विभाषो-पयमने(१.२.१६)। नो-पधात्-थफा-न्ताद्वा(१.२.२३)। कालो-पसर्जने च तुल्यम्(१.२.५७)। मिथ्यो-पपदात् कृञोऽभ्यासे(१.३.७१)। द्व्येकयोर्-द्विवचनै-कवचने(१.४.२२)। पूर्वा-परा-धरो-त्तर-मेकदेशिनै-काधिकरणे (२.२.१) इत्यादि। कहीं-कहीं यति छूट भी गयी है। यथा- आदि-रन्त्येन सहे-ता (१.१.७०) आदि।

विसर्गसन्धि— विसर्गसन्धि के स्थलों पर भी अनुचित यति का निर्देश किया गया है। उदाहृत सूत्रों के साथ **'यतिबोध'** की तुलना करें। स्थाघ्वो-रिच्च(१.२.४८)। ०कर्मणो-रन्यतरस्याम् (१.२.२१)। देवब्रह्मणो-रनुदात्तः (१.२.३८)। गोस्त्रियो-रुपसर्जनस्य (१.२.४८)। छन्दसि पुनर्वस्वो-रेकवचनम् (१.२.६१) इत्यादि।

यहाँ भी **''स्वरान्ते व्यञ्जनान्युत्तरस्य''** (ऋ०प्रा० १.२३) नियम ही लगेगा। पर विसर्ग के बाद व्यञ्जन हो तो नियमतः विसर्ग का जो भी विकृत (हल्) होगा, वह संयोग का आदिभूत होने से पूर्वपद का अवयव माना जायेगा। यह नियम सप्रमाण पहले ही बता चुके हैं।

त्यक्त यति का उदाहरण— आदि-रन्त्येन सहे-ता (१.१.७०) आदि।

अब उदाहरण के रूप में कुछ और सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जहाँ कठिनाई के कारण या तो यति का निर्देश किया नहीं गया है अथवा किया भी है तो वह उचित नहीं है। एतदर्थ तुलना करें—

नपुंसक-मनपुंसकेनै-कवच्-चा-स्या-न्यतरस्याम् (१.२.६९)। स-मु-दाङ्भ्यो यमो-ग्रन्थे[2] (१.३.७५)।

२. क्रुध-द्रुहे-र्ष्या-सूया-र्थानां-यं-प्रति कोपः (१.२.३७)। उपा-न्व-ध्याङ्-वसः (१.४.४८) आदि।

---

१. यहाँ 'अय्' आदि आदेशों के अन्त में विद्यमान यकार, वकार बाद वाले स्वर के अवयव बनते हैं। क्योंकि पूर्व में ही बता चुके हैं कि 'दो स्वरो के मध्य में विद्यमान व्यञ्जन बाद वाले स्वर के अङ्ग होते हैं'(द्र० ऋ०प्रा० १.२३)।

२. यहाँ ''स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य''(ऋ०प्रा० १.२३) के नियम से 'सम्' का 'म्' एवं 'उद्' का 'द्' वर्ण उत्तर स्वर के अवयव बन गये हैं।

इसी प्रकार उक्त नियमों के द्वारा सभी कठिन स्थलों पर उचित यति का निर्णय कर लेना चाहिए।

वैयाकरणों के विचारार्थ दो सूत्र – च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६.४.१९) इस सूत्र का विचार प्रारम्भ करते हुए भाष्यकार ने सर्वप्रथम यह प्रश्न किया है कि 'ऊट्' टित् होने से वकार के आदि में क्यों नहीं होता ? अन्ततः समाधान देते हैं कि यह 'टित्' नहीं है, ठित् है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भाष्यकार का प्रश्नोत्तर 'ऊठ्' का 'ऊट्' (ऊड्) पाठ को लेकर किया गया है। जैसा कि सूत्र में स्पष्ट सुनायी (दिखायी) दे रहा है। आगे चलकर भाष्यकार पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि 'ऊट्' टित् न होकर ठित् है तो "**धौतः पटः**" में "**एत्येधत्यूट्सु**" (६.१.८६) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं हो पायेगा ? क्योंकि सूत्र में टित् है, ठित् नहीं है, तात्पर्य यह है कि ठित् ऊठ् का सूत्र द्वारा ग्रहण न होने से वृद्धि भी नहीं हो पायेगी। इस प्रश्न से और अग्रिम प्रश्नोत्तर से हस्तामलकवत् स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि सूत्रपाठ में टित् ही होना चाहिए, न कि ठित्। '**एत्येधत्यूठ्सु**' यह पाठ भाष्याशय के अनुकूल नहीं है। इतना ही नहीं '**वाह ऊट्**'(६.४.१३२) सूत्र में भी पाठ टित् ही होना चाहिए, न कि ठित् पाठ (ऊठ्)। इस सूत्र की ये भाष्य पंक्तियाँ विशेषतः ध्यातव्य हैं– "**ऊडादिः कस्मान्न भवति, आदिष्टिद् भवतीत्यादिः प्राप्नोति**" (म०भा० ६.४.१३२)। "**यद्यपि 'च्छ्वोः शूड्' इत्यत्रास्य (ऊटः) ठित्वं प्रतिपादितं तथापि यथाश्रुतं (पाठं) गृहीत्वा प्रश्नः**" (प्रदीपः – तत्रैव)। "**यथाश्रुताष्टाध्यायीपाठेन टित्वेऽपि दोषो नावतरतीति** ०"(उद्योतः)। **ऊठष्ठित्करणम् 'एत्येधत्यूट्सु' इति विशेषणार्थम्** (का० ६.४.१९), एवं ब्रुवता '**एत्येधत्यट्सु**' इति ठकारस्य चर्त्त्वेन निर्देश इत्युक्तं भवति (पद० तत्रैव)। '**वाह ऊट्' इत्ययमपि ठिदेव (काशिका-तत्रैव), अत्रापि ठकारस्याश्रवणं जस्त्वचर्त्वाभ्याम्** (पदमञ्जरी)। स्पष्ट है कि '**एत्येधत्यूट्सु**', '**वाह ऊट्**' सूत्रों में टित्पाठ ही भाष्यानुकूल है और भाष्यकार के समय तक टित्पाठ ही प्रचलित रहा है। और खर के पर रहने पर एवं पदान्त में ठकार का चर्त्व पाठ न्याय्य[1] भी है। पुनरपि सभी संस्करणों में ठित्पाठ का ही आदर क्यों है? जहाँ तक मेरा स्मरण है 'श्रीमद्दयानन्दवेदविद्यालय' (गौतमनगर, दिल्ली) से प्रकाशित अष्टाध्यायी में उभयत्र टित् पाठ ही रखा गया है। जो कि उचित ही है।

सुख किसे मिलता है ?

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता० २.६६)

जिसका मन एकाग्र नहीं है, समाहित नहीं है, उसकी बुद्धि (ज्ञान,विवेक) सम्यक्तया कार्य नहीं करती, न ही कोई सत्कर्म ही हो पाता है, न ही कोई शुभ संकल्प उत्पन्न होते हैं। सत्कर्म किये विना शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है। विना शान्ति के सुख कदापि नहीं मिलता है।

---

१. खरि च, वावसाने(८.४.५४,५५)।

५.२. महाभाष्य का ज्योतिष विषयक एक प्रसंग*

महर्षि पाणिनि विरचित अष्टाध्यायी सम्पूर्ण संसार के लिए एक अपूर्व एवं अमूल्य ज्ञाननिधि है। मानव मस्तिष्क के द्वारा आविष्कृत विद्याओं में अग्रगण्य है। ऐसी अष्टाध्यायी के ऊपर महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा, जो कि व्याकरणशास्त्र के लिए विशाल आकर ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से गूढ़तम विषयों को समझने व समझाने का सामर्थ्य एवं किसी भी विषय पर तर्कपूर्ण तथा युक्तिबद्ध विवेचन करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है और यह ग्रन्थरत्न बुद्धि को सूक्ष्मतम बनाने का अनुपम साधन भी है। इसमें व्याकरणशास्त्र का सूक्ष्मतम विवेचन तो किया ही गया है, वह उसका प्रधान विषय भी है, पर उसके साथ में दर्शनशास्त्र के तत्त्व, व्याकरणेतर शिक्षादि वेदाङ्गों एवं उपवेदों की महत्त्वपूर्ण सामग्री की भी कोई कमी नहीं है। यहां केवल वेदाङ्ग ज्योतिष से सम्बद्ध एक प्रसंग सविवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अष्टाध्यायी के समासप्रकरण में एक सूत्र है– "**अत्यन्तसंयोगे च**"(२.१.२८)। इसका अर्थ यह है कि–'अत्यन्तसंयोग अर्थात् सम्पूर्णसंयोग अर्थ का बोध हो रहा हो तो कालवाची द्वितीया-विभक्त्यन्त शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है'। जैसे कि– '**मुहूर्त्तसुखम्**', यहाँ मुहूर्त्त और सुख दो शब्द मिलकर एक शब्द के रूप में परिवर्तित हुए हैं, इसे ही समास कहा जाता है। समास होने पर इन दो शब्दों के अर्थ से अतिरिक्त एक नया अर्थ भी निकलता है, यही समास का प्रयोजन है। वह नया अर्थ यह है कि– 'मुहूर्त्तभर सुख' अर्थात् सम्पूर्ण मुहूर्त्त (४८ मिनट) में सुख व्याप्त रहा है, उसमें एक भी क्षण सुख रहित नहीं है। इसप्रकार के प्रयुक्त शब्दों से अतिरिक्त नया अर्थ प्रकट होना, यह समास का ही माहात्म्य है। इसी नये अर्थ में पाणिनि ने समास का विधान किया है। इसीप्रकार '**सर्वरात्रशोभना**' (सम्पूर्ण रात अच्छी है) आदि शब्दों में समझना चाहिए। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार लिखते हैं कि प्रकृतसूत्र (२.१.२८) से पूर्व '**कालाः** (क्तेन)' (२.१.२७) सूत्र अनावश्यक है, क्योंकि उससे सिद्ध होने वाले "**अहरतिसृता मुहूर्त्ताः, रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः**" आदि शब्द '**अत्यन्तसंयोगे च**' इस प्रकृतसूत्र से ही सिद्ध हो जायेंगे। इसका समाधान देते हुए लिखते हैं कि– यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृत सूत्र अत्यन्तसंयोग अर्थ में ही समास करता है, जहाँ अत्यन्तसंयोग अर्थ विद्यमान न हो, वहाँ भी समास सिद्ध हो, उसके लिए पूर्वसूत्र 'कालाः' अत्यन्त आवश्यक है। जैसे कि– '**अहर्गताः**' (दिन में लीन मुहूर्त्त), '**रात्रिगताः**' (रात में लीन मुहूर्त्त) उदाहरणों में देखा जाता है। क्योंकि छह मुहूर्त्त गतिशील हैं, वे कभी (उत्तरायण के) दिन में होते हैं और कभी (दक्षिणायन की) रात में होते हैं– "**षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः। ते कदाचिद् अहर्गच्छन्ति, कदाचिद् रात्रिम्**"(म०भा० २.१.२८)। अर्थात् इन छह मुहूर्त्तों का दिन-रात के साथ सदा अत्यन्तसंयोग नहीं रहता। वहां भी समास सिद्ध हो, इसके लिए '**कालाः**' सूत्र सप्रयोजन बनाया गया है। पर कौन से छह मुहूर्त्त गमनागमनशील हैं? वे कौन से दिन में व कौनसी रात में आते-जाते हैं? ऐसा क्यों होता है? कैसे होता है? इसका स्पष्टीकरण यहां नहीं मिलता। जब तक इन विषयों को समझा नहीं जायेगा, तब तक महाभाष्य के समाधान एवं उदाहरणों को पूर्णतया समझपाना असम्भव है। इसका पूरी प्रक्रिया के साथ स्पष्टीकरण हमें ज्योतिष के ग्रन्थों में मिलता है, इसे यहाँ जिज्ञासुओं के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है–

हम सब दिन-रात को घटते-बढ़ते हुए प्रत्यक्षतः देखते हैं कि सायन मकर संक्रान्ति (२२ दिसम्बर) को

*. यह लेख वेदवाणी (अगस्त २०१७) और आर्षज्योति (जनवरी- २०२१) में प्रकाशित है।

सबसे छोटा दिन होता है[१] और रात सबसे बड़ी होती है, उसके (=उत्तरायणारम्भ के) पश्चात् दिन-प्रतिदिन क्रमशः दिन का मान बढ़ता जाता है एवं रात छोटी होती जाती है। इसप्रकार छह मास के उपरान्त सायन कर्क संक्रान्ति (२१ जून) को सबसे बड़ा दिन होता है और रात सबसे छोटी होती है। दिनवृद्धि का संकेत हमें ऋग्वेद में भी मिलता है— "**सोम राजन् प्र ण आयूँषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि**"(ऋ० ८.४८.७) हे सोम राजन्! परमात्मन्! (नः आयूंषि प्रतारीः) हमारी आयु को वैसे ही बढ़ाईये (सूर्यः वासराणि अहानि इव) जैसे सूर्य वसानेवाले व जगत् को आच्छादित करने वाले दिनों को बढ़ाता है। दिन-रात के वृद्धि-ह्रासों का स्पष्ट उल्लेख वेदांगज्योतिष (याजुष एवं आर्च ज्योतिष) में मिलता है—

घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
दक्षिणेतौ विपर्यासः षण्मुहूर्त्त्ययनेन तु॥ (वे०ज्यो०, याजुष० ८, आर्च० ७)

सूर्य के उत्तरायण में प्रवेश करने पर दिन का मान प्रस्थभर का काल[२] बढ़ता और उतना ही काल (एक प्रस्थ) रात का मान घट जाता है। और सूर्य के दक्षिणायन में प्रवेश करने पर विपरीत अर्थात् दिन का ह्रास तथा रात की वृद्धि होती है। इसप्रकार दिन-रातों का यह वृद्धिकाल अयन के अन्त तक अर्थात् छह मास में छह मुहूर्त्त का हो जाता है। यहां प्रस्थ से मुहूर्त्त तक के कालखण्डों को जानना होगा। वह इस प्रकार है—

खार्येका षोडशभिर्द्रोणैश्चतुराढको भवेद् द्रोणः।
प्रस्थैश्चतुर्भिराढक एकः प्रस्थश्चतुः कुडवः॥ (पाटी० ६)

१६ द्रोण की १ खारी, ४ आढक का १ द्रोण, ४ प्रस्थ का १ आढक और ४ कुडव का १ प्रस्थ होता है। इसे ही भास्कराचार्य ने अन्यप्रकार से व्यक्त किया है—

द्रोणस्तु खार्याः खलु षोडशांशः स्यादाढको द्रोणचतुर्थभागः।
प्रस्थश्चतुर्थांश इहाढकस्य प्रस्थाङ्घ्रिराद्यैः कुडवः प्रदिष्टः॥ (लीला० ८)

$\frac{१}{१६}$ खारी = १द्रोण, $\frac{१}{४}$ द्रोण = १ आढक, $\frac{१}{४}$ आढक = १ प्रस्थ, $\frac{१}{४}$ प्रस्थ = १ कुडव।

पलानि पञ्चाशदपां धृतानि तदाढकम् (याजुष वे०ज्या० २४)

इसके अनुसार ५० पल का १ आढक होता है।[३]

उक्त परिमाणों की परस्पर तुलना का निष्कर्ष इसप्रकार है—

१ आढक = $\frac{१}{४}$ द्रोण $\Rightarrow$ ४ आढक = १ द्रोण = २०० पल = १६ प्रस्थ = ६४ कुडव

$\frac{१}{४}$ आढक = १ प्रस्थ $\Rightarrow$ ४ प्रस्थ = १ आढक = ५० पल = १६ कुडव

१ प्रस्थ = $\frac{५० पल}{४}$ = १२$\frac{१}{२}$ पल = ४ कुडव = $\frac{४}{६१}$ घड़ी[४]

$\frac{१}{४}$ प्रस्थ = १ कुडव $\Rightarrow$ ४ कुडव = १ प्रस्थ = १२$\frac{१}{२}$ पल

१ कुडव = $\frac{१ प्रस्थ}{४}$ = १२$\frac{१}{२}$ ÷ ४ = ३$\frac{१}{८}$ पल

३ कुडव = ३×३$\frac{१}{८}$ पल = ९$\frac{३}{८}$ पल

.........द्रोणमतः प्रमेयम्।
त्रिभिर्विहीनं कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत् प्रमाणम्॥ (याजुष वे०ज्यो० २४)

---

१. संक्रान्ति पर्व २२ दिसम्बर को ही मनाना ज्योतिषशास्त्र और खगोलविज्ञान से सम्मत है, न कि १४-जनवरी।

२. घटीपात्र या घटीयन्त्र नामक पात्रविशेष, जिसके नियत छिद्र के द्वारा प्रस्थभर जल टपकने में जितना समय लगता

३. इन परिमाणों का उल्लेख बहुत्र मिलता है। यथा— चरक० कल्प० १२.८७-९६, सुश्रुत० चिकित्सा० ३१.७, शा०सं०, १.१.३२-३३, मनु० ८.१३२-१३६, या०स्मृ० १.३६२-३६३ आदि।

४. घड़ी का उल्लेख आगे आयेगा, इसके दूसरे नाम हैं— घटी, घटिका, नाडिका।

अर्थात् १ नाडिका = १ द्रोण- ३ कुडव (६४ कुडव - ३ कुडव)
= २०० पल - ९$\frac{३}{८}$ पल (६१ कुडव)

१ नाडिका (घटी, घटिका) = १९०$\frac{५}{८}$ पल = ६१ कुडव

१ प्रस्थ में १२$\frac{१}{२}$ पल होते हैं, इसे पहले ही कह चुके हैं, इन्हें नाडिका के पलों में भाग देने से नाडिका के प्रस्थ ज्ञात होंगे–

१ नाडिका = १९०$\frac{५}{८}$ पल ÷ १२$\frac{१}{२}$ पल = $\frac{६१}{४}$ प्रस्थ

एक मुहूर्त में दो नाडिकाएँ (घटिकाएँ) होती हैं, अतः १ मुहूर्त्त=२ नाडिका=२×$\frac{६१}{४}$ = $\frac{६१}{२}$ प्रस्थ हैं। स्पष्ट है कि एक मुहूर्त्त में $\frac{६१}{२}$ प्रस्थ होते हैं। उत्तरायण के आरम्भ दिन से प्रत्येक दिन एक प्रस्थ (=१२$\frac{१}{२}$ पल) भर दिन की वृद्धि होती है। एक सौर मास में ३०.५ दिन होते हैं ।[१] अर्थात् एक मास में ३०.५ प्रस्थ परिमित दिन की वृद्धि होगी। एक अयन में अर्थात् छह मासों में ३०.५×६= १८३ प्रस्थ परिमित दिन की वृद्धि होगी। एक मुहूर्त्त में $\frac{६१}{२}$ प्रस्थ होते हैं, यह सिद्ध हो चुका है। इसलिए १८३ प्रस्थों को $\frac{६१}{२}$ प्रस्थों से भाग देने पर छह मासों में होने वाली दिन की वृद्धि मुहूर्त्तों में प्राप्त होगी–

१८३ प्रस्थ ÷ $\frac{६१}{२}$ = ६ मुहूर्त्त (=१२ नाडिका)[२]। अर्थात् एक अयन में ६ मुहूर्त्त परिमित दिन की वृद्धि होती है और ६ मुहूर्त्त परिमित ही रात का ह्रास होता है। वैसे ही दक्षिणायन के आरम्भ से प्रत्येक दिन १ प्रस्थ (१२$\frac{१}{२}$ पल) परिमित रात की वृद्धि होती हुई दक्षिणायन के अन्त तक ६ मुहूर्त्त परिमित रात की वृद्धि होती है एवं दिन का ह्रास होता है।

एक दिन (२४ घण्टे) में ३० मुहूर्त्त होते हैं अर्थात् दिन के १५ एवं रात के १५ मुहूर्त्त होते हैं। यह एक सामान्य कथन है, क्योंकि दिन-रात के ये १५-१५ मुहूर्त्त वर्षभर के सभी दिनों में नहीं रहते। कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित है कि– **"द्विनाडिको मुहूर्त्तः। पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसो रात्रिश्च चैत्रे मास्याश्वयुजे च मासि भवतः। ततः परं त्रिभिर्मुहूर्त्तैरन्यतरः षण्मासं वर्धते ह्रसते च"** (कौ०अ० २.३६.-२०.८)। चैत्र एवं आश्विन मासों (के आरम्भ) में रात-दिन समान होते हैं अर्थात् १५-१५ मुहूर्त्तों के होते हैं । दक्षिणायन के अन्त में सायन मकर संक्रान्ति (२२ दिसम्बर) का दिन सबसे छोटा होता है, उसके पश्चात् (उत्तरायण के आरम्भ से) प्रस्थ परिमाण के काल की वृद्धि होती हुई चैत्रारम्भ तक तीन माह में रात-दिन समान होते हैं, उसके पश्चात् तीन माह और वृद्धि होती हुई उत्तरायण के अन्त (२१ जून) तक सबसे बड़ा दिन होता है। अर्थात् दिन-रातों का १५-१५ मुहूर्त्तों का समान परिमाण वर्ष में दो ही दिन रहता है। इसप्रकार उत्तरायण के अन्तिम दिन में १२ मुहूर्त्त+३ मुहूर्त्त+(दक्षिणायन की रात सम्बन्धी) ३ मुहूर्त्त = १८ मुहूर्त्त होते हैं, तो रात में (१५-३=) १२ मुहूर्त्त होते हैं। इसी प्रकार दक्षिणायन

---

१. एक सौरवर्ष में ३६६ दिन स्वीकृत हैं, तो एक मास में (३६६÷१२=) ३०.५ दिन होगें।

२. १८३ ÷ $\frac{६१}{२}$ =१८३ ×$\frac{२}{६१}$ = $\frac{३६६}{६१}$ = ६ मुहूर्त्त ।

१ घटिका= $\frac{६१}{४}$ प्रस्थ = १५$\frac{१}{४}$ प्रस्थ

१ मुहूर्त = २ घटिका = $\frac{६१}{२}$ प्रस्थ = ३०$\frac{१}{२}$ प्रस्थ = ४८ मिनट

१ प्रस्थ = १. ५७३ मिनट

१ मास में दिन की वृद्धि ... ३०.५ प्रस्थ = १.५७३ मि.× ३०.५ दिन
= ४७.९७६५ मिनट (= ४८ मिनट = एक मुहूर्त)

६ मास में दिन की वृद्धि.... = ४७.९७६५×६
= २८७.८५९ मिनट
= २८८ मिनट (लगभग) (= ४ घण्टे ४८ मिनट = ६ मुहूर्त)

की अन्तिम रात में (१२मु०+३ मु०+(उत्तरायण के दिन सम्बन्धी) ३ मुहूर्त = १८ मुहूर्त होते हैं, तो दिन में (१५-३=) १२ मुहूर्त्त होते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य विषय है कि दिन-रातों के १२-१२ मुहूर्त्त तो वर्ष भर में निश्चित रहते हैं अर्थात् इनका वर्षभर के प्रत्येक दिन के साथ अत्यन्तसंयोग है। शेष ३-३ (छह) मुहूर्त्त तो क्रमशः घटते-बढ़ते हुए कभी दिन में रहते हैं और कभी रात में। इसी का उल्लेख करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि—

''**षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः, ते कदाचिद् अहर्गच्छन्ति, कदाचिद् रात्रिं गच्छन्ति**'' (म०भा०२.१.२८)।

इसे आधुनिक कालगणना के अनुसार दर्शाते हैं— एक मुहूर्त में ४८ मिनट होते हैं। ६ मुहूर्त्तों में (६×४८ मि.=) २८८ मिनट होते हैं अर्थात् (२८८÷६०=)४.८ घण्टे (=४ घण्टे ४८ मिनट) होते हैं। दिन-रात के ठीक १२-१२ घण्टे समानरूप से वर्ष में दो ही दिन रहते हैं। उत्तरायण के अन्तिम दिन का मान ९घं० ३६मि० + २घं० २४मि० + २घं० २४मि०= १४ घण्टे २४ मिनट होता है और रात का मान (१२घं०-२घं० २४मि०=) ९ घण्टे ३६ मिनट होता है। इसीप्रकार दक्षिणायन की अन्तिम रात का मान १४ घण्टे २४ मिनट एवं दिन का मान ९घं० ३६मि० का होता है। अर्थात् वर्षभर प्रतिदिन का नियत (=अत्यन्तसंयुक्त) काल का मान ९घं० ३६मि० है, पर ४घं० ४८मि० काल चराचर है। यह कालखण्ड कभी उत्तरायण के दिन में होता है, कभी दक्षिणायन की रात में। यही महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का आशय है।

यहां यह भी विशेषतया ध्यान देने योग्य विषय है कि— यह वृद्धि और ह्रास का कथन पृथिवी के उत्तर-दक्षिण गोलार्धों के लिए ही है। क्योंकि विषुववृत्तस्थ (भूमध्यरेखास्थ) देशों में सदा समान दिन-रात होते हैं और वसन्तविषुव एवं शरदविषुव के समय अर्थात् अयनान्त व अयनारम्भ के दिनों में उत्तर-दक्षिण के गोलार्धों में भी समान दिन-रात होते हैं। उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुवों पर तो छह मास दिन और छह मास रात होती है।

यह टिप्पणी पृष्ठ ३६४ की है—

१. प्रभवादि ६० संवत्सरों के नाम इसप्रकार हैं—

१. प्रभव (३५)	१६. चित्रभानु (५०)	३१. हेमलम्बी (५)	४६. परिधावी (२०)
२. विभव (३६)	१७. सुभानु (५१)	३२. विलम्बी (६)	४७. प्रमादी (२१)
३. शुक्ल (३७)	१८. तारण (५२)	३३. विकारी (७)	४८. आनन्द (२२)
४. प्रमोद (३८)	१९. पार्थिव (५३)	३४. शार्वरी (८)	४९. राक्षस (२३)
५. प्रजापति (३९)	२०. व्यय (५४)	३५. प्लव (९)	५०. अनल (नल) (२४)
६. अंगिरा (४०)	२१. सर्वजित् (५५)	३६. शुभकृत् (१०)	५१. पिंगल (२५)
७. श्रीमुख (४१)	२२. सर्वधारी (५६)	३७. शोभन (११)	५२. कालयुक्त (२६)
८. भाव (४२)	२३. विरोधी (५७)	३८. क्रोधी (१२)	५३. सिद्धार्थ (२७)
९. युवा (४३)	२४. विकृति (५८)	३९. विश्वावसु (१३)	५४. रौद्र (२८)
१०. धाता (४४)	२५. खर (५९)	४०. पराभाव (१४)	५५. दुर्मति (२९)
११. ईश्वर (४५)	२६. नन्दन (६०)	४१. प्लवंग (१५)	५६. दुंदुभि (३०)
१२. बहुधान्य (४६)	२७. विजय (१)	४२. कीलक (१६)	५७. रुधिरोद्गारी (३१)
१३. प्रमाथी (४७)	२८. जय (२)	४३. सौम्य (१७)	५८. रक्ताक्षी (३२)
१४. विक्रम (४८)	२९. मन्मथ (३)	४४. साधारण (१८)	५९. क्रोधन (३३)
१५. वृष (४९)	३०. दुर्मुख (४)	४५. विरोधकृत् (१९)	६०. क्षय (३४)

(यह क्रम बार्हस्पत्यमान के अनुसार है। अन्यमत के अनुसार ''२७.विजय'' से क्रम आरम्भ होता है)

षष्ठ अध्याय

वेदाङ्ग ज्योतिष

६.१. संकल्प और सृष्टि की कालगणना*

देशकाल की परिस्थितियों सहित अपने मनोगत पवित्र भावनाओं को व्यक्त करना ही संकल्प कहलाता है। यह दैनिक अग्निहोत्रादि से पूर्व प्रतिदिन पढ़ा जाता है। उसका अर्थ यहाँ लिखा जा रहा है—

ब्राह्मदिन व ब्राह्ममास

शुक्लपक्ष– १. श्वेत(वराह)कल्प, २. नीललोहित, ३. वामदेव, ४. रथन्तर, ५. रौरव, ६. प्राण, ७. बृहत्कल्प, ८. कन्दर्प, ९. सत्य, १०. ईशान, ११. ध्यान, १२. सारस्वत, १३. उदान , १४. गरुड़, १५. कौर्म (ब्राह्म पूर्णिमा)।

कृष्णपक्ष– १६. नरसिंह, १७. समान, १८. आग्नेय, १९. सोमकल्प, २०. मानव, २१.पुमान्, २२. वैकुण्ठ, २३. लक्ष्मीकल्प, २४. सावित्रीकल्प, २५. घोर, २६. वाराह, २७. वैराज, २८.गौरीकल्प, २९. माहेश्वर, ३०. पितृकल्प (ब्राह्म अमावास्या)।

इस समय "**श्वेतवराहकल्प**" नामक ब्राह्मदिन चल रहा है।

ब्राह्म (सृष्टि) कालगणना (मानवीय संवत्सरों में)—

ब्राह्मदिन (सृष्टिकाल) –	४,३२,००,००,००० वर्ष (१,००० चतुर्युग)
ब्राह्मरात्रि (प्रलयकाल) –	४,३२,००,००,००० वर्ष (१,००० चतुर्यग)
ब्राह्म अहोरात्र (सम्पूर्णदिन)	८,६४,००,००,००० वर्ष
ब्राह्ममास (ब्राह्म अहोरात्र×३०) -	२,५९,२०,००,००,०००
ब्राह्म संवत्सर (ब्राह्ममास×१२ या ब्राह्म अहोरात्र×३६० }	३१,१०,४०,००,००,००
ब्राह्म शत संवत्सर –	३१,१०,४०,००,००,००,०००

[ब्राह्मसंवत्सर× १००/ब्राह्म अहोरात्र×३६,०००]

इस सृष्टि के छत्तीस हजार (३६,०००) वार उत्पन्न होकर नष्ट होने के काल को परान्त काल कहते हैं। मुक्तात्मा परान्तकाल अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००,००० (३१ नील, १० खरब, ४० अरब) वर्षों तक परब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। उसके बाद वह मुक्तात्मा पुनः जन्म लेता है।[1]

---

*. यह लेख वेदवाणी (मई २०१५) में प्रकाशित है। इस लेख में पर्याप्त संवर्धन किया गया है।

१. ब्राह्मेन मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकालः (प्र०भा० ८; सृष्टिसंहार०, पृ०१२१-१२२)।
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।। (मु०उ० ३.२.६; तै०आ०१०.१०.२२)

ब्राह्म अहोरात्र में आठ प्रहर होते हैं। उनमें से चार प्रहर दिन में और चार प्रहर रात्रि में रहते हैं।

ब्राह्मदिन (सृष्टिकाल)	=४,३२,००,००,००० वर्ष
एक प्रहर का काल = ब्राह्मदिन ÷ ४	=१,०८,००,००,००० वर्ष
पूर्वाह्ण के दो प्रहरों का काल	=२,१६,००,००,००० वर्ष
अपराह्ण के दो प्रहरों का काल	=२,१६,००,००,००० वर्ष

वर्तमान सृष्टिसंवत्सर (सन्धिसहित)	= १,९७,२९,४९,११६ वर्ष
वर्तमान सृष्टिसंवत्सर (सन्धिरहित)	= १,९६,०८,५३,११६ वर्ष
इन दोनों का भेद (७ सन्धियों का काल)	= १,२०,९६,००० वर्ष
ब्राह्मदिन के प्रथम प्रहर का काल	= १,०८,००,००,००० वर्ष
ब्राह्मदिन के द्वितीय प्रहर का अर्धभाग	= ५४,००,००,००० वर्ष
ब्राह्मदिन के डेढ़ प्रहर का काल	= १,६२,००,००,००० वर्ष

यहाँ विशेषतः ध्यातव्य है कि— वर्तमान सृष्टिसंवत्सर चाहे वह सन्धि सहित हो या सन्धि रहित दोनों ही ब्राह्मदिन के आद्य दो प्रहरों के काल से कम और डेढ़ प्रहर के काल से अधिक हैं। स्पष्ट है कि सृष्टि उत्पन्न होकर अभी तक ब्राह्मदिन के आद्य डेढ़ प्रहर पूरा व्यतीत होकर दूसरे प्रहर का उत्तरार्ध चल रहा है।

आजकल संकल्प का पाठ इस प्रकार प्रचलित है—

"ओ३म् तत्सद् अद्य ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्धे श्वेतवराहकल्पे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे..." अथवा **"ओ३म् तत्सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्धे वैवस्वते मन्वन्तरे..."**

इस प्रकार के पाठों में कुछ विचारणीय एवं संशोधनीय विषय हैं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करते हैं —

१. प्रथम पाठ में 'अद्य' (=आज) शब्द का पाठ अप्रासंगिक एवं अनर्थक है। संस्कार विधि में महर्षि दयानन्द ने सृष्टिकाल का निर्देश न कर अत्यन्त संक्षिप्त संकल्प का निर्देश किया है। वह इस प्रकार है— **"अहमद्य उक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे"**। महर्षि ने यहाँ सृष्टिकाल के स्थान पर उसका सांकेतिक व उपलक्षक 'अद्य'(=आज) पद का प्रयोग किया है। अतः वह सार्थक है। पर 'अद्य' का उच्चारण करने के पश्चात् पुनः सृष्टिकाल का वर्णन करना अप्रासंगिक होता है। हाँ, पहिले सृष्टिकाल का वर्णन कर बाद में 'अद्य अमुक वासरे, अमुक तिथौ' आदि का पाठ कर सकते हैं, पर पूर्व में कदापि नहीं।

२. **"ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्धे"** का अर्थ यह है कि 'ब्रह्म सम्बन्धी दूसरे प्रहरार्ध में'। यह दूसरा प्रहर दिन का है या रात्रि का यह यहाँ स्पष्ट नहीं होता। अतः इस पाठ में दिन वाचक शब्द का पाठ होना चाहिए। पहिले यह कहा जा चुका है कि इस समय ब्राह्ममास का प्रथमदिवस 'श्वेतवराहकल्प' चल रहा है। अतः स्पष्टीकरण हेतु संकल्प का पाठ ऐसा होना चाहिए— **"ब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने"**।

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते (छां०उप० ८.१५.१)।

यावद्ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत्तत्रैव तिष्ठति प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः (शां०भा०, छां० उप० ८.१५.१)।

एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते (छां० उप० ४.१५.६)।

ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति। तेषामिह [= अस्मिन् कल्पे] न पुनरावृत्तिरस्ति (मा०शत०ब्रा० १४.६.१.१८)। परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सरान् अनेकान् वसन्ति [= न अनन्तान्]। ..... यदि हि नावर्तन्त एव, इहग्रहणमनर्थकमेव स्यात् .... तस्मात् अस्मात् कल्पादूर्ध्वम् आवृत्तिर्गम्यते (शां० भा०, बृ०उप० ६.२.१५)।

यद्यपि ब्राह्मरात्रि (प्रलयकाल) में संकल्प का पाठ असम्भव है, पुनरपि काल विभाजन का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

३. ''**द्वितीयप्रहरार्धे**'' इस पाठ में 'अर्ध' शब्द का अर्थ 'मध्यकाल' ग्रहण करेंगे तो वह काल अर्थात् दूसरे प्रहर का अर्धभाग (१,६२,००,००,००० वर्ष) तो बहुत पहले ही बीत चुका है। बीते हुए काल को वर्तमान के रूप में वर्णन करना अज्ञानता का प्रतीक है। यदि 'अर्ध' शब्द का अर्थ मध्यभाग न लेकर भागमात्र लेंगे तो एक नया संदेह उत्पन्न होता है कि वह भाग दूसरे प्रहर का पूर्वार्ध है? या उत्तरार्ध? अतः निस्सन्देहता के लिए ''**द्वितीयप्रहरोत्तरार्धे**'' अथवा ''**द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे**'' इस प्रकार का पाठ करना चाहिए।

४. ''**द्वितीयप्रहरार्धे श्वेतवराहकल्पे**'' इस पाठ में और एक दोष यह है कि इस वाक्य का 'दूसरे प्रहरार्ध में श्वेतवराहकल्प में' ऐसा अर्थ निकलता है। दिन में प्रहर होते हैं, न कि प्रहर में दिन। अतः '**श्वेतवराहकल्पे द्वितीयप्रहरोत्तरार्धे**' का पाठ करना ही निर्दुष्ट है।

अब संकल्प के प्रथमखण्ड का शुद्धपाठ इस प्रकार जानें—

''ओ३म् तत्सत् श्रीब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे''। इस का अर्थ है— उस सत्स्वरूप परब्रह्म सम्बन्धी श्वेतवराहकल्प नामक प्रथम दिवस के दिन सम्बन्धी द्वितीयप्रहर के उत्तरार्ध में'। अब इसके आगे के पाठ ''**सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे**'' के विवरण को दिखाते हैं—

युग और मन्वन्तरों का विभाग

चार युग होते हैं। उनके नाम और कालपरिमाण इसप्रकार है—

कृतयुग(सत्युग)	— १७,२८,००० वर्ष= कलियुग×४
त्रेतायुग	— १२,९६,००० वर्ष= कलियुग×३
द्वापरयुग	— ८,६४,००० वर्ष= कलियुग×२
कलियुग	— ४,३२,००० वर्ष= कलियुग×१
एक चतुर्यग	— ४३,२०,००० वर्ष= कलियुग×१०
ब्राह्मदिन(सृष्टिकाल)	— ४,३२,००,००,०००वर्ष= कलियुग×१०,००० = चतुर्यग × १,०००

७१ चतुर्युगों को मिलाकर एक मन्वन्तर कहा जाता है। तो एक मन्वन्तर का काल= ७१×४३,२०,०००=३०,६७,२०,००० वर्ष का होता है। पूरे १४ मन्वन्तर होते हैं। उनमें आरम्भ के सात मन्वन्तर ब्राह्मदिन के पूर्वाह्न में होते हैं, तो शेष सात मन्वन्तर अपराह्न में होते हैं। उनके नाम नीचे दिये जाते हैं— **ब्राह्मदिन के पूर्वाह्णस्थ मन्वन्तर**— १.स्वायम्भुव, २.स्वारोचिष, ३.औत्तम, ४.तामस, ५.रैवत, ६.चाक्षुष, ७.वैवस्वत

ब्राह्मदिन के अपराह्णस्थ मन्वन्तर— ८.सावर्णि/सूर्य सावर्णि, ९.दक्ष सावर्णि, १०.ब्रह्म/बृहत्सावर्णि, 11.‡ª|Ì çÄum| 12.»ü Ì çÄum|»üoÞ, 13.t ÆÌ çÄum|ºç¦®, 14.F‹üÌ çÄum|§ç¦®/§ç¦ÃÑb[1]।

---

१. द्र०— ब्रह्माण्ड० २.३६.२-४, ४.१.१-११६; म०पु० ९.१-३९; वि०पु० ३.१.३-३.२.४५; ह०पु० १.७.१-७, १.७.६०-९०; स्क०पु० प्रभासखण्ड १.१०५.३९,४०।

सन्धि या सन्ध्या का काल

सन्धि का अर्थ है जोड़। दिन-रात एवं रात- दिनों के मध्य में एक-एक सन्धि होती है। जिन्हें सन्ध्याकाल कहते हैं। मास के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के मध्य में भी सन्धियाँ होती हैं। जिन्हें पूर्णिमा तथा अमावास्या कहते हैं। इन सन्धिकालों में प्रकृति में कुछ परिवर्तन होते हैं। इनका दुष्प्रभाव शिशु, वृद्ध, निर्बल और व्याधिग्रस्त व्यक्तियों में स्पष्ट दीखता है। इन दुष्प्रभावों के परिहार के लिए इन सन्धियों पर क्रमशः नित्याग्निहोत्र आदि तथा पूर्णमासेष्टि, दर्शेष्टि आदि याग किये जाते हैं। उक्त सन्धियों का कालपरिमाण एवं दुष्प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्वल्प होता है। परन्तु ऋतुओं के मध्य में होने वाली सन्धियों का कालपरिमाण और दुष्प्रभाव सभी के लिए प्रायः प्रत्यक्ष है एवं अनुभवगम्य है। क्योंकि ये सन्धियाँ पूर्वसन्धियों की अपेक्षा कालपरिमाणतः अधिक होती हैं और अधिक दुष्प्रभावी होती हैं। इन दुष्प्रभावों के निवारण के लिए इन ऋतुसन्धियों में भी कुछ विशेष यज्ञ-याग किये जाते हैं[1] और साथ में चिकित्सा, आहार-विहार आदि में भी परिवर्तन किया जाता है। स्वस्थ रहने के लिए ऐसा करना भी चाहिए। इसीप्रकार अयन, संवत्सर आदि के मध्य में भी संन्धियाँ होती हैं। कालपरिमाण की वृद्धि से सन्धिकाल का परिणाम एवं उसका दुष्प्रभाव भी बढ़ता जाता है। इसप्रकार यह सन्धिकाल बढ़ता हुआ मन्वन्तरों के मध्य में होने वाली सन्धियों का कालपरिमाण एक सत्युग (१७,२८,००० वर्ष) के समान होता है। **इन सन्धिकालों में बीभत्स अवान्तर (आंशिक) प्रलय होता है। इस प्रलय के कारण इन्हें पृथक् करके गिना जाता है।** इन आंशिक प्रलयों के पश्चात् पुनः सामान्य स्थिति आ जाती है। १४ मन्वन्तरों के मध्य में १४ सन्धियाँ होती हैं। **१४-१४ मन्वन्तरों के समूहों के मध्य में भी एक-एक सन्धि होती है।** जो कि सत्युग के समान ही कालपरिमाण वाला होता है। इस एक सन्धि को मिलाकर मन्वन्तरों के मध्य में होने वाली सम्पूर्ण १५ सन्धियाँ ज्योतिष के ग्रन्थों में स्वीकृत हैं। क्योंकि प्रलयान्त अर्थात् सृष्ट्यादि में भी एक सन्धि होती है। जो कि सृष्टिकाल (४,३२,००,००,०००) के अन्तर्गत ही होता है। तद्यथा– अहोरात्र के विभागों में दिन के कालमान में ही सूर्योदय एवं सूर्यास्त के काल को सन्ध्याकाल (सन्धि) कहते हैं। इसप्रकार का विभाग रात्रिकाल में नहीं किया जाता है। इसीप्रकार व्यवहारातीत होने से एवं अनावश्यक होने से प्रलयकाल का विभाग नहीं किया जाता है। सृष्टि के काल को मन्वन्तर तथा सन्धियों में विभाजित किया गया है। सन्धियों को मानने एवं पृथक् गणना करने का कारण पूर्व में बताया गया है। १४ मन्वन्तरों में १४ सन्धियाँ होती हैं। १४वें मन्वन्तर के पश्चाद्भावी १४वीं सन्धि प्रलयादि में होती है। उसके पश्चात् प्रलय का काल (४,३२,००,००,०००) समाप्त होते ही सृष्ट्यादि में एक पन्द्रहवीं सन्धि होती है। जिसे कल्पसन्धि कह सकते हैं। इसे प्रथम सन्धि के रूप में परिगणन करना चाहिए। इसके साथ १४ मन्वन्तर एवं १४ सन्धियों को मिलाकर सृष्टि का काल ४,३२,००,००,००० माना जाता है।

ब्राह्मदिन के पूर्वाह्न में अर्थात् आरम्भिक सात मन्वन्तरों में साढ़े सात सन्धियाँ होती हैं। सातवें एवं आठवें मन्वन्तरों के बीच का जो सन्धिकाल है, वही ब्राह्मदिन का मध्याह्न है। इन सन्धिकालों में जलप्लवनादि आंशिक प्रलय होते हैं। इस प्रकार १४ मन्वन्तरों और १५ सन्धिकालों को मिलाकर एक ब्राह्मदिन

१. इन सन्धियों में इष्टियाँ और सोमयाग आदि किये जाते हैं। तद्यथा - वसन्ते वैश्वदेवेन यजते, प्रावृषि वरुणप्रघासैः, शरदि साकमेधैरिति विज्ञायते (आपस्तम्बीय श्रौतप्रयोगः, चातुर्मास्यानामनुष्ठानविषयः)। ब्राह्मणो वसन्त आदधीत.... क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत... वैश्यो वर्षास्वादधीत (शत०ब्रा० २.१.३.५)।

(४,३२,००,००,००० वर्ष या १००० चतुर्युग) पूरा होता है। इसे इसप्रकार जानें–

१४ मन्वन्तरों का काल–	१४×३०,६७,२०,०००	= ४,२९,४०,८०,०००वर्ष
१५ सन्धियों का काल–	१५× १७,२८,०००	= २,५९,२०,०००वर्ष
ब्राह्मदिन (सृष्टि) का काल –		= ४,३२,००,००,०००वर्ष

इसे चतुर्युगों में देखें–

१४ मन्वन्तर (१४×७१ चतुर्युग)	= ९९४ चतुर्युग
१५ सन्धियाँ (१५×१ सत्युग)	= ६ चतुर्युग
ब्राह्मदिन (सृष्टि) का काल	=१००० चतुर्युग

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि १५ सन्धियों के काल को स्वीकार किये विना केवल १४ मन्वन्तरों के काल से सृष्टिकाल (अर्थात् ४,३२,००,००,००० वर्षों या १,००० चतुर्युगों) को पूर्ण करना असम्भव है। अतः सन्धिरहित सृष्टिकाल (१,९६,०८,५३,११७ वर्षो) को मानना अशास्त्रीय एवं अवैज्ञानिक है।

सम्प्रति ब्राह्म प्रथम दिन के सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। अतः पहले प्रदर्शित संकल्पपाठ में ''सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे'' अंश को जोड़ने से संकल्प का पाठ इस प्रकार होगा–

''ओ३म् तत्सत्श्रीब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे''। इसके पश्चात् ''अष्टाविंशतितमे कलियुगे'' का जो पाठ किया जाता है, इसके अर्थ को लिखते हैं। इस समय २८वाँ कलियुग चल रहा है अर्थात् २७ कलियुग (चतुर्युग) व्यतीत हो चुके हैं। अर्थात् सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर के ७१ चतुर्युगों में से २७ चतुर्युग बीत कर २८वाँ चतुर्युग चल रहा है। अतः वर्तमान काल इस मन्वन्तर के पूर्वार्द्ध में है। इसलिए स्पष्टीकरण के लिए ''**सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे**'' के बाद ''**तत्पूर्वार्द्धे**'' को भी जोड़ना चाहिए।

सृष्ट्यादि से अभी तक व्यतीत काल की गणना –

अभी तक ६ मन्वन्तरों का काल पूरा बीत चुका है, उसका काल–

६ मन्वन्तर×७१ चतुर्युग	= ४२६ व्यतीत चतुर्युग
	= ४२६×४३,२०,००० वर्ष
व्यतीत ६ मन्वन्तरों का पूरा काल	= १,८४,०३,२०,००० वर्ष
व्यतीत ७ सन्धियों का काल	= १,२०,९६,००० वर्ष (७×१७,२८,०००–सत्युग)

इस समय सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर के अन्तर्गत अष्टाविंशतितम (२८वाँ) कलियुग चल रहा है अर्थात् २७ कलियुग अथवा २७ चतुर्युग बीत चुके हैं। अतः इसका काल इस प्रकार है–

२७×४३,२०,००० वर्ष	= ११,६६,४०,००० वर्ष
२८ वें कलियुग में व्यतीत काल–	
सत्युग	= १७,२८,००० वर्ष
त्रेतायुग	= १२,९६,००० वर्ष
द्वापरयुग	= ८,६४,००० वर्ष
व्यतीत वर्तमान कलियुग	= ५,११६ वर्ष

(२०७२ वि०सं०, मार्च– ३०,२०१५ ईस्वी तक)

व्यतीत सम्पूर्ण सृष्टि काल	= १,९७,२९,४९,११६ वर्ष

हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि कलियुग में ४,३२,००० वर्ष होते हैं। उसे ४ से विभक्त करने पर

कलियुग के एक चरण व पाद का बोध होगा— ४,३२,००० ÷ ४= १,०८,००० वर्ष। अर्थात् अभी तक कलियुग का प्रथम चरण ही चल रहा है। अतः ''**अष्टाविंशतितमे कलियुगे**'' पाठ के बाद ''**कलिप्रथमचरणे**'' का पाठ किया जाता है। अभी तक कलियुग के ५,११६ वर्ष व्यतीत होकर इस समय ५,११७ वाँ वर्ष चल रहा है। अतः ''**कलिप्रथमचरणे**'' पाठ के बाद ''**पञ्चसहस्रसप्तदश-उत्तर-शततमे कलियुगाब्दे**'' का पाठ करना चाहिए।

'' ओ३म् तत्सत्श्रीब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे तत्पूर्वार्द्धे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे पञ्चसहस्रसप्तदश-उत्तर-शततमे कलियुगाब्दे''। अभी तक सृष्ट्योत्पत्ति से लेकर वर्तमान संवत्सर तक व्यतीत काल को संज्ञाशब्दों से व्यक्त किया गया है। उसे ही अब संख्यावाचक शब्दों में स्पष्ट करते हैं—

''एकवृन्द-सप्तनवतिकोटि-एकोनत्रिंशल्लक्ष-एकोनपञ्चाशत्सहस्र-सप्तदशोत्तर-शततमे सृष्टिसंवत्सरे'' इसका अर्थ यह है कि '१अरब, ९७ करोड़, २९ लाख, ४९ हजार, ११७ वें सृष्टि संवत्सर में' इसके बाद प्रसिद्ध भारतीय संवत्सरों को भी पढ़ने की परम्परा चली आ रही है। वह इस प्रकार है— ''त्रिसप्तति-उत्तर-द्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे, द्विनवति-उत्तर शततमे दयानन्दाब्दे'' अर्थात् २०७३ वाँ विक्रम संवत्सर और १९२ वाँ दयानन्द संवत्सर चल रहा है। इसके बाद संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वासर, नक्षत्र आदि को बोला जाता है। इससे कालसम्बन्धी पूरी गणना अर्थात् सृष्ट्यादि से लेकर वर्तमान के काल तक का कथन पूरा हो जाता है। यहाँ तक का संकल्प का पाठ इसप्रकार है—

ओ३म् तत्सत्श्रीब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे तत्पूर्वार्द्धे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे पञ्चसहस्र-सप्तदश- उत्तर-शततमे कलियुगाब्दे एकवृन्द-सप्तनवतिकोटि-एकोनत्रिंशल्लक्ष-एकोनपञ्चाशत्सहस्र-सप्तदशोत्तरशततमे सृष्टिसंवत्सरे, त्रिसप्तति-उत्तर-द्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे, द्विनवति-उत्तर-शततमे दयानन्दाब्दे प्रभवादिषष्टिसंवत्सराणां[1] मध्ये स्वस्तिश्री.........नामक संवत्सरे, ...अयने, ...ऋतौ, ...मासे, ...पक्षे, ...तिथौ, ...नक्षत्रे प्रातःकाले/ सायंकाले।

काल के परिगणन के पश्चात् देश का कथन करना होता है अर्थात् यजमान पूरे भूगोल में कहाँ बैठा है? इसे भूगोल से लेकर अपने वर्तमान स्थान तक का कथन संक्षेप से कहता है। सम्पूर्ण भूमण्डल सात द्वीप और सात समुद्रों से युक्त है। इसे शास्त्रों में अनेकत्र ''सप्तद्वीपा वसुमती'' कहा जाता है। सम्पूर्ण भूगोल को पूर्व एवं पश्चिम के रूप में दो विभाग किया जाता है। पूर्वी गोलार्ध में जम्बूद्वीप है, शेष छः द्वीप पश्चिमी गोलार्ध में हैं—

भूमेरर्धं क्षारसिन्धोरुदक्स्थं जम्बूद्वीपं प्राहुराचार्यवर्याः।
अर्धेऽन्यस्मिन् द्वीपषट्कस्य याम्ये क्षारक्षीराद्यम्बुधीनां निवेशः।।

(सि०शि०, गोलाध्याय०, भुवनकोश-२१)

इन द्वीपादियों का विवरण वर्तमान नामों के साथ अग्रिम तालिका में प्रस्तुत कर रहें हैं। उससे पूरा विषय स्पष्ट हो जायेगा। इस विवरण से विदेशों में विद्यमान यजमान, ऋत्विजादियों को भी संकल्पपाठ करने में पूर्ण लाभ होगा। आगे प्रस्तुत किया गया विवरण 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्रकाशित 'अश्वमेध महायज्ञः एक सांस्कृतिक विश्लेषण' (लेखिका - डॉ० मितला देवी) पुस्तक से संगृहीत है.....

१. यहाँ की टिप्पणी को पृष्ठ ३५७ में देखें।

सातद्वीप और उनके समुद्र

जम्बूद्वीप	**शाकद्वीप**	**कुशद्वीप**	**क्रौचद्वीप**	**शाल्मलीद्वीप**	**प्लक्षद्वीप**	**पुष्करद्वीप**
[यूरेशिया (यूरोप+एशिया) EURASIA]	[आस्ट्रेलिया AUSTRALIA]	[दक्षिणी अमेरिका SOUTH AMERICA]	[उत्तरी अमेरिका NORTH AMERICA]	[ग्रीनलैण्ड GREENLAND]	[अण्टार्कटिका AUNTARCATICA]	[अफ्रीका AFRICA]
लवणसमुद्र	**दुग्धसमुद्र**	**घृतसमुद्र**	**दधिसमुद्र**	**सुरासमुद्र**	**इक्षुरससमुद्र**	**जलसमुद्र**
[इण्डियन ओशन INDIAN SEA]	(क्षीरसागर) [ह्वाइट WHITE]	(सर्पिसमुद्र) [हडसन HUDSON]	(दधिमण्डसमुद्र) [अण्टार्कटिक ANTARCTIC]	[अट्लाण्टिक ATLANTIC]	[सीमोर SIMOR]	(स्वादूदक) [स्म सागर MEDITERRANEAN SEA]

जम्बूद्वीप के उपद्वीप – १. स्वर्णप्रस्थ, २. चन्द्रशुक्ल, ३. आवर्तन, ४. नारमणक, ५. मन्दरहरिण, ६. पाञ्चजन्य, ७. सिंघल, ८. लंका

भारतवर्ष के उपद्वीप – १. इन्द्रद्वीप, २. नागद्वीप, ३. सौम्य, ४. गान्धर्व, ५. वारुण, ६. कसेरुमान्, ७. गभस्तिमान्, ८. ताम्रपर्ण, ९. सिंहल

उपद्वीपों की पहचान —

(क) स्वर्णप्रस्थ

इसके अन्तर्गत सात स्थान हैं —

१. बोर्नियो, २. जावा द्वीपसंघ, ३. सुमात्रा, ४. सिंहपुर, ५. पीनाङ्ग, ६. निकोबार, ७. अण्डमान।

यह भारतीय उपद्वीप संघ ही जम्बूद्वीप का स्वर्णप्राचुर्य उपलब्धि के कारण स्वर्णप्रस्थ है। स्थिति— उत्तरी अक्षान्तर १०°-१६° उत्तर-पूर्व देशान्तर १०°-२५°।

(ख) चन्द्रशुक्ल

फिलीपाइन द्वीपसंघ, वेदवर्णित पणिसमूह द्वारा गन्धर्वराज चन्द्र को भेंट किये जाने से चन्द्रशुक्ल नामकरण हुआ। स्थिति— उत्तरी अक्षांश १०°-१८°, उत्तर-पूर्व देशान्तर ३०°।

(ग) आवर्तन

वर्तानिया ब्रिटेन, इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड आदि। स्थिति— उत्तरी अक्षांश ५१°-५८°। उज्ञयिनी से पश्चिम देशान्तर ७५°-८०°।

(घ) नारमणक

नार्वे स्वीडन। स्थिति— उत्तरी अक्षांश ५९°-७०°, उज्ञयिनी से पश्चिम देशान्तर ४५°-७०°।

(ङ) मन्दरहरिण

नोवाया जैमलिया। स्थिति— उत्तरी अक्षांश ७१°-७८°, उत्तर— पश्चिम देशान्तर २३°।

(च) पांचजन्य

जापान द्वीपसंघ— १. संघालियन, २. जेसो, ३. निफोन, ४. सिकोप, ५. क्यूसू। स्थिति पांचजनसमुदायात्मक उत्तरी अक्षांश ५५°-३०°, उत्तर-पूर्व देशान्तर ४०°।

(छ) सिंघल

सिलोन। स्थिति— उत्तरी अक्षांश ६°-८°, उत्तर-पूर्व देशान्तर ५°।

(ज) लंकाद्वीप

लक्के द्वीप मालद्वीप। स्थिति— उत्तरी अक्षांश १°-१२°, उत्तर-पश्चिम देशान्तर ५°।

भारतवर्ष के उपद्वीप —

नामानि	पर्य्यायाः	भाषानामानि	आङ्ग्लनामानि
१. इन्द्रद्वीप	इन्द्रद्युम्न	इन्द्रदमन	अण्डमान
२. नागद्वीप	—	निकोबार	नीकोबार
३. सौम्य	सोमात्रा	सुमात्रा	यवद्वीप बलिद्वीप
४. गन्धर्व	—	फीलीपाइनद्वीपसंघ	लम्बकसुम्बाफलोरीन प्रभृति
५. वारुण	—	वोर्नियो	बूनाई - बूनी
६. कशेरुमान्	कसेरु	सेलेवीस	—
७. गभस्तिमान्	—	मलूका	—
८. ताम्रपर्ण	ताम्रपर्णी	टापूरोवेनसीलोन	सीलोन-सरन्
९. सिंहल	कुमारी,कुमारिका	भरतखण्ड	—

जम्बूदीप के वर्ष एवं पर्वत

[उत्तर]
उत्तरकुरुवर्ष (श्रृंगीपर्वत / श्रृंगवान् पर्वत)
हिरण्यवर्ष (श्वेतपर्वत)
रम्यकवर्ष (नीलपर्वत)

केतुमालवर्ष (गन्धमादन पर्वत)
[पश्चिम]

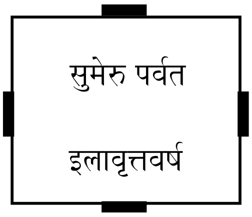

भद्राश्ववर्ष (माल्यवान् पर्वत)
[पूर्व]

हरिवर्ष (निषधवर्ष पर्वत)
|
किंपुरुषवर्ष (हेमकूटपर्वत)
|
भारतवर्ष (हिमालयपर्वत)
[दक्षिण]

यजमान– ओ३म् आ वसोः सदने सीद।

ऋत्विक्– ओ३म् सीदामि।

यजमान– ओ३म् तत्सत्श्रीब्रह्मणः श्वेतवराहकल्पनामके प्रथमदिवसे तद्दिने द्वितीयप्रहरे तदुत्तरार्धे सप्तमे वैवस्वते मन्वन्तरे तत्पूर्वार्धे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे पञ्चसहस्र-सप्तदश - उत्तर-शततमे कलियुगाब्दे एकवृन्द-सप्तनवतिकोटि-एकोनत्रिंशल्लक्ष-एकोनपञ्चाशत्सहस्र-सप्तदशोत्तरशततमे सृष्टिसंवत्सरे, त्रिसप्तति-उत्तर-द्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे, त्रिनवति-उत्तर-शततमे दयानन्दाब्दे प्रभवादिषष्टिसंवत्सराणां मध्ये स्वस्तिश्री ....नामक संवत्सरे, ...अयने, ...ऋतौ, ...मासे, ...पक्षे, ...तिथौ, ...वासरे........नक्षत्रे प्रातःकाले/सायंकाले भूर्लोके जम्बूद्वीपे सुमेरोर्दक्षिणदिग्भागे आर्यावर्ते भारतवर्षे ब्रह्मादिदयानन्दमहर्षिभिः सेविते पुण्यभूमौ.........प्रदेशे...... नगरे, ...ग्रामे, स्वशोभनगृहे यज्ञमण्डपे.........गोत्रोत्पन्नः श्रीमताम् .... महोदयानां पौत्रः, श्रीमताम्........महोदयानां पुत्रः,.......नामाहं श्रीमत्या.........नाम्न्या धर्मपत्न्या सहितः धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-चतुर्विध-फल-पुरुषार्थ-अवाप्त्यर्थं, सर्वभूतानां सुख-शान्ति-आयुः-आरोग्य-ऐश्वर्य-अभिवृद्ध्यर्थम्, वैदिकधर्म-प्राचुर्यार्थं च इमं.......बृहद्यज्ञं/संस्कारं कारयितुं भवन्तं वृणे।

ऋत्विक् – ओं वृतोऽस्मि

६.२. नववर्ष का हर्ष कब, कैसे और क्यों?*

जनवरी -१ का आगमन होते ही छोटे-बड़े, प्रबुद्ध-सामान्य, स्त्री-पुरुष आदि सभी हर्ष-उल्लास के साथ नये वर्ष के स्वागत की तैयारी करते हैं। नये वर्ष की शुभकामनाओं को ज्ञापित करने हेतु चारों ओर बैनर, बोर्ड आदि लगाये जाते हैं। रंगोली, रंगबिरंग के लाईट, फूल-माला आदि से अलंकरण किये जाते हैं। रात भर जाग कर पुराने वर्ष का अन्तिम क्षण बीतकर नये वर्ष का आदि क्षण उपस्थित होते ही आबालवृद्ध सभी जन नाच-गान, आतिशबाजी, बैण्ड-बाजा आदि ध्वनियों से सभी दिशाओं को गूँजायमान करते हुए नये वर्ष का बड़ा स्वागत करते हैं और अपरिमित आनन्द का अनुभव करते हैं।

हे भारत माता के मानस वीर सपूतों! क्या यह जनवरी-१ नये वर्ष का आरम्भ है? क्या इसी दिन नये वर्ष का आरम्भ होता है? एक बार गम्भीरता से अपनी अन्तरात्मा में विचार करना। इस समय प्रचलित कालेन्द्र[१] (कालेन्दर – कैलेन्डर)= कालान्तर ईसा से सम्बन्धित है, यह सर्वविदित है। क्या ईसा से पूर्व अपने भारतदेश का चरित्र, परम्परा, संस्कृति नहीं थी? यदि थी तो ईसा से पूर्व के लोग किस दिन नये वर्ष को मनाते रहे होंगे? यह विचार करना होगा, आत्ममन्थन करना होगा। हम यहाँ केवल प्रमुख विषयों के साथ दिग्दर्शन करा रहे हैं। सुधी पाठक वृन्द स्वयं विचार कर निर्णय लें और तथ्य (सत्य) को सबके सामने प्रस्तुत करें।

यूरोप देशों में पहले ओलम्पियन संवत्सर प्रचलित था। वही संवत्सर ईसा से ७५३ वर्ष पूर्व रोमनों का राज्य स्थापित होने के पश्चात् रोमनों के प्रथम राजा रोमलुस् के काल में रोमन संवत्सर के रूप में परिवर्तित हो गया। कालदर्शक को रोमन में 'अल्बन' कहते थे। तब उस अल्बन में केवल दस मास (मार्च से दिसम्बर तक) और ३०४ दिन ही थे। उन मासों के नाम रोंमन देवताओं और महाराजाओं के नाम से रखे गये थे। जैसे कि 'मार्स' इस रोमन युद्ध देवता के नाम से 'मार्च' मास, अट्लस देवता की कुमारियाँ ''मलिका मई और मलिका जौन'' के नामों से क्रमशः 'मई', 'जून' मासों के नाम रखे गये। रोमन सम्राट् 'जूलियस सीजर' एवं उनके पौत्र 'आगस्टस सीजर' के नामों से 'जुलाई'और 'अगस्त' मास प्रचलित किये गये। इस प्रकार प्रथम मास मार्च से छटे मास अगस्त तक के मासों का नामकरण सम्पन्न हुआ। उनके पश्चात् के मास क्रम-बोधक शब्दों से प्रसिद्ध किये गये। जैसे कि सप्तम (सातवें) मास का नाम सेप्टम्बर (September), अष्टम (आठवें) मास का नाम अक्टोबर (October), नवम (नौवें) मास का नाम नवम्बर (November), दशम (दसवें) मास का नाम दिसम्बर (December) रखा गया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सेप्टम्बर आदि शब्द सप्तमादि संस्कृत शब्दों के विकृत रूप हैं। सप्तम अम्बर(=सातवाँ आकाश) से सेप्टम्बर बना, वैसे ही अष्टम अम्बर (=आठवाँ आकाश) से अक्टोबर, नवम अम्बर (=नौवाँ आकाश) से नवम्बर और दशम अम्बर से दिसम्बर (दशम्बर) शब्द बना। सप्तमाम्बर आदि शब्द आकाशस्थ नक्षत्रादियों की विशेष अवस्थाओं के बोधक हैं।

ये मार्च आदि दस मास ही ५३ वर्षों तक व्यवहृत होते रहें हैं। ईसा से ७०० वर्ष पूर्व रोमनों का द्वितीय राजा ''नूमा पोम्पिलियस (Numa Pompilius)'' ने 'जोनस' नामक रोमन देवता के नाम से जनवरी (January) मास आरम्भ किया, साथ में फिब्रवरी (February) मास को भी आरम्भ किया, जिसका अर्थ है

*. यह लेख वेदवाणी (दिसम्बर २०१४), महर्षि दयानन्द स्मृति प्रकाश (दिसम्बर २०१४), टंकारा समाचार (जनवरी २०१५), वैदिक सार्वदेशिक (जनवरी २०१५), वैदिक पथ (फरवरी २०१५) में प्रकाशित है।

१. Calender को लेटिन भाषा में Kalendarium कहते हैं।

'प्रायश्चित्त मास'। पांचवाँ रोमन सम्राट् 'एत्रुस्कान् ताक्विनियूस् प्रिस्कियूस्' (Etruscan Tarquinius Priscius, 616-579 ईसा पूर्व) ने रोमन रिपब्लिकन् कैलेण्डर मुद्रित किया था, जिसमें जनवरी को प्रथम स्थान दिया गया था। इन दो मासों को दसवें मास दिसम्बर के बाद जोड़ा जाता तो बुद्धिमत्ता का परिचायक होता। परन्तु इन्हे आदि में जोड़ने से सातवाँ मास सेप्टम्बर नौवाँ मास हो गया, वैसे ही आठवाँ मास अक्टूबर दसवाँ, नौवाँ मास नवम्बर ग्यारहवाँ एवं दसवाँ मास दिसम्बर बारहवाँ मास हो गया। जिससे सेप्टम्बर (सप्तम अम्बर=सातवाँ आकाश) आदि का अर्थ निरर्थक सिद्ध हुए। अंग्रेजी में 'मार्च' का अर्थ है— 'गमन-आगमन' अर्थात् पुराना संवत्सर व्यतीत होकर नया संवत्सर आ गया है। यह अर्थ भी जनवरी, फरवरी मासों को आदि में जोड़ने से व्यर्थ हो गया। अज्ञानता एवं अविवेकता के लिए यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। साथ में यहाँ यह भी विचार करना होगा कि फरवरी मास में २८ या २९ही दिन क्यों? काल गणना में यदि कहीं कम-ज्यादा हो जाता है तो, न्यूनता रह जाती है तो उसकी पूर्ति अन्त में की जानी चाहिए, फरवरी मास यदि अन्त में रहता तो संवत्सर भर की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए २८ या २९ दिन रखे गये हैं, ऐसा समझ में आता और फरवरी का अर्थ (प्रायश्चित्त) भी सार्थक होता। पर संवत्सर के बीच में अर्थात् दूसरे मास में न्यूनता की पूर्ति (Adjustment) करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? इससे स्पष्ट है कि जनवरी एवं फरवरी दोनों मास दिसम्बर के बाद ही जोड़ने योग्य हैं, न कि मार्च के आदि में।

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार नया संवत्सर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा[१] को आरम्भ होता है। जो कि मार्च के अन्त में या अप्रैल[२] के आदि में आता रहता है। इससे ज्ञात होता है कि मार्च-२५ से वर्ष को आरम्भ करने की रोमन परम्परा एवं भारतीय परम्परा में अत्यन्त समानता है। मार्च- २५ से संवत्सर को आरम्भ करना भारतीय संस्कृति का अनुकरण होता है। अतः अपने क्रैस्तव सम्प्रदाय को वैदिक संस्कृति से अलग करने के दुरुद्देश्य से रोमन सम्राट् नूमा पोम्पिलियस् ने जनवरी और फरवरी मासों को मार्च से पूर्व जोड़ा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई समुचित कारण नहीं है। उससे रोमन संवत्सर ३०४ दिन के स्थान पर (३०४+३१+२८=) ३६३ दिन में रूपान्तरित हो गया। इनमें कुछ मास ३० दिन, कुछ ३१ दिन तथा फरवरी मास २८ या २९ दिन के रूप में विभक्त हैं। जूलियस् सीजर और आगस्ट्स् सीजर के नामों वाले जुलाई एवं अगस्त मासों को क्रमशः ३१-३१ दिन के रूप विभक्त किये गये। इस प्रकार यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि संवत्सर का आद्य दिन, मासों का विभाग, परिमाण, नाम एवं क्रम ये सब स्वार्थवश वा अन्य दुरुद्देश्य के कारण अपने मतोन्माद से समाज पर बलात् थोपे गये हैं।

रोमन कैलैण्डर के बारह महिनों के नाम व परिमाण इस प्रकार थे—

Januarius (31)	३. Maius (31)	७. September (30)
Februarius (28/29)	४. Junius (30)	८. October (31)
१. Martius (31)	५. Quinctilis (31)	९. November (30)
२. Aprilis (30)	६. Sextilis (30)	१०. December (30)

---

१. दक्षिणभारत की अपेक्षा उत्तरभारत में पन्द्रह दिन पहिले ही मासों का आरम्भ होता है, क्योंकि दक्षिण में मास अमान्त होते हैं, तो उत्तर में पूर्णिमान्त। इसलिए पन्द्रह दिन का अन्तर आता है। पुनरपि नया वर्ष दोनों भागों में एक ही दिन मनाया जाता है।

२. अप्रैल (April) शब्द लैटिन भाषा के Aperaria (अपेरारिया) से बना है। जिसका अर्थ है 'खोलना'। इस मास में प्रकृति अपना मूँह खोलती है। वृक्षादि खिलते हैं।

ईसा से ४४ वर्ष पूर्व जूलियस् सीजर् (Julius Caesar) के सम्मान में Quinctilis मास के नाम को Julius (July) के रूप में परिवर्तित किया गया । ईसा से ८ वर्ष पूर्व सम्राट् अगस्टस् सीजर ने स्वयं ही Sexitilis मास के नाम को अपने नाम से अर्थात् Augustus (August) नाम से प्रसिद्ध कर दिया। पहले Sextilis मास में तीस ही दिन थे, पर अपने नामवाला मास जूलियस् सीजर के नाम से प्रसिद्ध मास Julius (July) के समान रहना चाहिए, ऐसा विचार कर तीस दिन के बदले में August को एकत्तीस दिन का बना दिया। इस एक दिन के आधिक्य को फिब्रवरी मास में एक दिन घटाकर २९ दिन के बदले में २८ दिन कर दिया इस कैलेण्डर के कुछ दोषों को दूर कर 'पोप ग्रेगरी(१३)' ने एक विनूतन कैलेण्डर को प्रकाशित किया। यही कैलेण्डर सन् १५८२ से कुछ प्रमुख देशों में अपनाया गया। यह ग्रेगारियन् कैलेण्डर किस-किस देश में कब-कब अपनाया गया था, इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है–

संवत्सर (ईस्वी सन्)	देशों के नाम
१५८२	– फ्रान्स, इटली, लक्सेम्बर्ग, पुर्तगाल, स्पेन।
१५८३	– स्विट्जर्लेण्ड, प्रशिया, हॉलैण्ड आदि।
१५८४	– जर्मन (रोमन कैथोलिक), बेल्जियम और नेदर्लेण्ड के कुछ प्रान्तों में
१५८७	– हांगरी।
१६९९-१७००	– डेन्मार्क, डच्, जर्मन प्रोटेस्टण्ट।
१७७६	– जर्मनी।
१७५२	– ब्रिटेन, अमेरिका।
१७५३	– स्वेड़ेन।
१८७३,१८७५	– जापान, मिस्र।
१९१२-१९१७	– अल्बानिया, बुल्गारिया, चीन, एस्तोनिया, लातविया, लिथुआनिया, रोमानिया, तुर्कि, युगोस्लाविया।
१९१७	– सोवियत रूस, ग्रीस।

भूगोल और खगोल के विज्ञान से, प्राकृतिक घटनाओं से, सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रों की स्थितियों से ग्रेगारियन कैलेण्डर के मासों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दीखता है। इसलिए जनवरी और फरवरी मासों को मार्च से पूर्व जोड़ने पर भी जनवरी-१ को संवत्सरादि के रूप में लोगों ने नहीं स्वीकारा। मार्च–२५ को ही संवत्सरादि अर्थात् नये वर्ष के रूप में मानते हुए आये हैं। जिसे वे लोग 'ईड्स ऑफ मार्च' (Ides of march) कहते थे। सन् १५८२ से जनवरी-१ नये वर्ष के रूप में व्यवहार में आया, उससे पूर्व नहीं।

जनवरी -१ को नये वर्ष के रूप में मनाने की पद्धति को अंग्रेजियों ने भारत में भी सन् १७५२ में आरम्भ करवाया। भारतीय परम्परा को नष्ट करने के लिए बहुत से षड्यन्त्र करने पर भी वित्तसंवत्सर (Financial Year) और शिक्षा संवत्सर (Educational Year) आज तक अप्रैल-१ से ही आरम्भ होते हैं। इन्हे बदल नहीं पाये। ये दोनों ही संवत्सर भारतीय नये संवत्सर के अनुकूल हैं, साथ में वैज्ञानिक और बुद्धिसंगत है। पर अप्रैल-१ को मूर्खदिवस (Foolish day) के रूप में प्रचलन कराया गया। इसका कारण यह है कि - सन् १५८२ में फ्रांस के दसवाँ राजा 'चार्ल्स' ने अपने देश में जनवरी–१ को संवत्सरादि के रूप में घोषणा की, पर वहाँ की जनता राजाज्ञा को स्वीकार न कर अप्रैल–१ को ही नया संवत्सर मनाती रही । इससे क्रुद्ध चार्ल्स ने राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले सभी को मूर्ख घोषित किया। उसके बाद धीरे-धीरे वहाँ की जनता को जनवरी-१ को ही

संवत्सरादि के रूप में मानना पड़ा। इस सफलता को देखकर, पुनः भविष्य में कोई भी अप्रैल–१ को नया वर्ष न मनावें, इस उद्देश्य से चार्ल्स ने अप्रैल–१ को मूर्खदिवस के रूप में घोषणा करवाई। भारतीय इस सच्चाई को न जानते हुए जन्मान्धों के समान भेड़ चाल से उनका अनुकरण करते जा रहे हैं और विना किसी राजाज्ञा के ही खुशी से, आनन्द से एक दूसरे को अप्रैल–फूल (मूर्ख) बनाते जा रहे हैं। ऐसा दृष्टान्त संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। प्रत्येक मनुष्य व समाज अपने-आप को बुद्धिमान्, मेधावी तथा महान् मानता है, मूर्ख व हीन नहीं। **एक दूसरे को परस्पर ज्ञानादि का आदान-प्रदान करना ही उत्तम समाज का लक्षण है। पर परस्पर मूर्ख कहना व बनाना बुद्धिमानों का व्यवहार नहीं है।** अतः इस प्रकार की बुद्धिहीनता के व्यवहारों को त्यागकर अप्रैल–१ के बदले में जनवरी-१ को Foolish day के रूप में मनाकर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दें।

जनवरी–१ की आधी रात को शीत अपने चरम सीमा पर रहती है। सर्वत्र उसका ही प्रकोप दिखाई देता है। पौधे, वृक्ष, वनस्पति, लता-गुल्म आदि सभी रसहीन होकर मुरझा जाते हैं। फूलों का विकास कहीं भी नहीं दीखता। पशु-पक्षियों को तो शीत मृत्यु सदृश दिखाई देती है। ऐसे विशादकर, दुःखमय समय में नया वर्ष मनाना क्या उचित है? सुधी पाठक स्वयं विचार करें।

दिन का प्रारम्भ आधी रात को नहीं, अपितु सूर्योदय से ३ घण्टे पूर्व (3 A.M.) होता है। उसी समय पशु-पक्षी आदि जागकर अपने-अपने मधुर ध्वनियों से सभी दिशाओं को मनोहर एवं श्रव्य बनाते हैं। वह दृश्य अवर्णनीय होता है। उसी समय ऋषि, मुनि, योगी आदि भी जागकर ध्यान-मग्न हो जाते हैं, ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इसलिए उस समय को ब्रह्ममुहूर्त कहते हैं। किसान भी उसी समय निद्रा को त्यागकर खेती के कार्यों में लग जाते हैं। उसी समय सम्पूर्ण संसार में सक्रियता, क्रियाशीलता दिखाई देती है। रात को मुरझे हुए पत्ते और फूलों में भी उसी समय विकास आरम्भ होता है। प्राणियों के शरीरों में भी उसी समय एक विशिष्ट चैतन्य का संचार होता है। मनुष्यों के शरीरों में भी सक्रियता, रक्त का संचार, हृदय की गति बढ़ती है। इसलिए हृदय के रोगियों को प्रायः इसी समय हृदयाघात होता है। हम सुनते आये हैं और आयुर्वेदादि शास्त्र भी कहते हैं कि सभी मनुष्यों को इसी ब्रह्ममुहूर्त में जागना चाहिए। क्योंकि इस दिव्य मुहूर्त में सोने वाले की आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो जाती है एवं आलसीपन बढ़ जाता है। इस प्रकार यह जड़ जगत्, पशु-पक्षी, मनुष्यों का अनुभव एवं शास्त्र यह प्रकट कर रहें कि ब्रह्ममुहूर्त से दिन आरम्भ होता है। पर इसके विपरीत आधी रात को दिन का आरम्भ वा संवत्सर का आरम्भ मानना क्या अज्ञानता का प्रतीक नहीं है? मेधा सम्पन्न भारतीयों को पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण कर पशु-पक्षियों से हीन अज्ञानियों के जैसा व्यवहार करना शोभा नहीं देता। **अग्नि व दीपकों को प्रज्वलित कर प्रकाश से प्रसन्न होकर अलौकिक आनन्दानुभूति करने की संस्कृति है हमारी।** पर दीपकों को बुझाकर अन्धकार से प्रीति करने की सभ्यता है पाश्चात्यों की। चारों ओर घनघोर अन्धकार से आच्छादित आधी रात को मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी आदि भी गहरी नींद में रहते हैं। कहीं भी चेतनता, क्रियाशीलता नहीं दीखती। ऐसे समय में वर्ष व दिन का आरम्भ मानना अज्ञान एवं अविवेकता है, विज्ञान के विरुद्ध है। एक सूर्योदय (ब्रह्ममुहूर्त) से दूसरे सूर्योदय के बीच के समय को ज्योतिष शास्त्र में सावन दिन कहते हैं। मध्यरात्रि से दिन आरम्भ होने का वर्णन किसी भी शास्त्र में नहीं है। अतः भारतमाता के हे वीर सपूतों! जागो, सचेत हो जाओ, विचार करो।

६.३. यथार्थ नूतनसंवत्सर*

पूर्व लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि– जनवरी - १ किसी भी परिस्थिति में संवत्सर का पहला दिन नहीं हो सकता। पुनः नया वर्ष कब प्रारम्भ होता है? इस प्रश्न के समाधान को जानने से पूर्व कुछ अन्य प्रश्नों पर विचार करते हैं। दिन वा सूर्योदय सदा नये-नये ही आते हैं, कभी भी पुराने नहीं आते। कल का सूर्योदय आज के सूर्योदय से भिन्न ही था और आज का सूर्योदय भविष्य में पुनः कभी नहीं आयेगा। प्रत्येक सूर्योदय भूतभविष्य से अतीत नव-नूतन ही उदित होते हैं। जब प्रतिदिन या प्रत्येक सूर्योदय नया है, तो पुनः 'नया वर्ष' का अर्थ क्या है? वर्षभर में एक ही दिन नया आता है, शेष सब पुराने आते हैं, ऐसा अर्थ तो हो नहीं सकता। संवत्सर के प्रत्येक दिन या सूर्योदय को पुराना समझने वाला व्यक्ति एक दिन या सूर्योदय को नया कैसे समझ सकता है? इस प्रकार के प्रश्न करने वाले लोगों का अभाव नहीं है। इन प्रश्न कर्ताओं से यदि यह पूछा जाय कि आपका जन्म दिन क्या है? तो वह वर्ष के किसी एक दिन को अपना जन्म दिन बताएगा। अर्थात् वह दिन उस व्यक्ति का पहला दिन है, उसी दिन वह नये वर्ष में प्रवेश करेगा। वह उसका नया वर्ष है, उसकी अवस्था (आयु) में एक नई संख्या जुड़ जायेगी। उसी प्रकार नया वर्ष का अर्थ है सृष्टि का जन्मदिन, उसी दिन से नया वर्ष आरम्भ होता है।

जब सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ था, तब चारों ओर हरे भरे एवं पुष्पित वृक्ष-वनस्पति आदि, विविध पक्षियों के मनोरञ्जक ध्वनियाँ और प्रकाशमान सूर्यादि नक्षत्रों से देदीप्यमान आकाश इत्यादि से, आकर्षक तथा आह्लादजनक विचित्र स्थितियाँ थीं। उस समय उत्पन्न मानव किस प्रकार की आनन्दानुभूति प्राप्त किये होंगे? कल्पना करके देखें। उस प्रकार के मानव एवं सृष्टि के जन्म दिन का स्मरण करना ही नया संवत्सर है। उसी दिन से सृष्टि का नया दिन आरम्भ होता है।

यह सृष्टि उत्पन्न होकर अभी तक (२०७१ विक्रम संवत्, मार्च-२०१४ तक) १,९७,२९,४९,११५ वर्ष बीत गये। इस परिगणना में कुछ लोगों को सन्देह होता है कि इतने सुदीर्घ कालगणना को मानवों ने कैसे याद रखा है? इसका समाधान अत्यन्त सरल है। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार अपने जन्म दिन और अवस्था (Age) को बार-बार स्मरण करते हुए, दूसरों को बताते हुए याद रखता है, उसी प्रकार सृष्टि का काल भी याद रखा गया है। वैदिक संस्कृति एवं भारतीय परम्परा में हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने कुछ अद्‌भुत पद्धतियों को इस समाज में प्रवेश कराया है। तद्यथा– कोई भी व्यक्ति गुरुओं को, विद्वानों को वा अन्य पूज्यों को अभिवादन करते समय अपने गोत्र, वंश, पिता आदि का नाम उच्चारण करते हुए अपनी विद्यापरम्परा अर्थात् अपने वेद, शाखा, सूत्रादि को ज्ञापित करता था। यह परम्परा आज भी ब्राह्मणों में प्रचलित है। इससे गोत्रादि का विस्मरण नहीं होता। जो इस परम्परा को नहीं अपनाये, वे अपने गोत्र को भूलकर पर्वत, नदी, नगर, वृक्ष आदि के नामों को या निरर्थक शब्दों को अपने गोत्र के रूप में चला रहे हैं। सम्प्रति आधुनिक प्रभाव से ब्राह्मण भी उस परम्परा को त्यागते जा रहे हैं,अस्तु। इसी प्रकार सृष्टि का काल विस्मृत न हो, इस उद्देश्य से हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रतिदिन किये जाने वाले संध्या, यज्ञ, पर्वयज्ञादियों को प्रारम्भ करने से पूर्व संकल्प पाठ करने की परम्परा को प्रचलित कराया। इस संकल्प में यजमान या पुरोहित सृष्टि के आरम्भ से लेकर यज्ञानुष्ठान के समय तक के सम्पूर्ण काल की गणना

*. यह लेख ''वेदवाणी'' (जनवरी २०१५), ''गुरुकुल दर्शन'' (मार्च २०१६), ''वैदिक पथ'' (अप्रैल - २०१६) में प्रकाशित है।

संस्कृतभाषा में करते हैं, साथ में ब्रह्माण्ड से लेकर यज्ञानुष्ठान के स्थल तक अर्थात् ब्रह्माण्ड, भूलोक, द्वीप, देश, प्रदेश, पर्वत वा नदियों के प्रान्तों का नाम, नगर, ग्राम, घर, स्थान आदि का भी उल्लेख करता है। तत्पश्चात् अपने मनोगत शुभकामनाओं को अभिव्यक्त करता है। यही संकल्प है। यह परम्परा आज भी धार्मिक कृत्यों में सुरक्षित चल रही है। इस प्रकार की परम्पराएँ भारतदेश को छोड़कर अन्यत्र मिलना असम्भव है। इस प्रकार की परम्परा से आगत वा ज्ञात सृष्टिकाल को आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं।

इस नववर्ष (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा) तक सृष्टि में सर्वत्र हमें नूतनत्व दिखाई देता है। वृक्ष, वनस्पति आदि में पत्ते झड़कर नये-नये पत्ते, फूल, फल आदि विकसित होकर हरितमय मनोरम दृश्य दिखाई देता है। ऐसे वातावरण में मोर भी विकसित पंखों से नृत्य करने लगते हैं। वसन्त ऋतु में अर्थात् चैत्र-वैशाख मासों में मधुमक्खियां भी छत्तों में शहद को भरकर रखती हैं। इसीलिए इन मासों के नाम वैदिक काल में मधु-माधव प्रसिद्ध हुए ।[१] इस वसन्त ऋतु के आरम्भ होते ही कोयल भी अपने मधुर ध्वनियों से लोगों को आकर्षित करती हैं और नववर्ष का स्वागत करती हैं। कोयल के इस मनोरञ्जक ध्वनियों को उद्दिष्ट कर किसी कवि ने कहा कि –

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तकाले सम्प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः ।।

देखने में कौवा और कोयल दोनों ही काले दीखते हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है। पर वसंत ऋतु का आगमन होते ही अपने-अपने स्वरों से कौवा कौवे के रूप में और कोयल कोयल के रूप में पहचाने जाते हैं।

वसन्त ऋतु प्रविष्ट होते ही सभी प्राणियों में भी नूतनशक्ति सञ्चित होती है। वर्षाकाल और शीतकाल के बीच में शरद् ऋतु आती है, वह एक सन्धिकाल है। इस ऋतुसन्धि में अर्थात् भाद्रपद, आश्वयुज मासों में मनुष्यों को विविध व्याधियाँ एवं रोगों का संक्रमण होता है। विशेषकर निर्बल व्यक्तियों पर अधिक दुष्प्रभाव पड़ता है। इसी ऋतुसन्धि में अधिकांश लोग मृत्यु के ग्रास बनते हैं। इसलिए व्याधियों का शिकार न होता हुआ जो शरद् ऋतु को बिताता है, वह अपने आपको बड़े सौभाग्यशाली मानता है और मृत्यु को जीतने जैसा प्रसन्न होता है। अत एव सभी मनुष्य वेदमन्त्रों के माध्यम से भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि – हे ईश्वर! हम शरद् ऋतु में पूर्ण स्वस्थ रहें– ''**पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम् ,श्रृणुयाम शरदः शतम्**''..... (यजु० ३६.२४)। इस मन्त्र का भाव यह है कि हमारे सभी इन्द्रिय एवं शरीर सौ शरद् ऋतुओं तक पूर्ण स्वस्थ तथा बलशाली हों, सुखयुक्त हों और हम सौ शरद् ऋतुओं से भी अधिक जीने वाले हों । महर्षि दयानन्द ने भी लिखा है कि–''**हे मनुष्यों! जो शरद् ऋतु में उपयोगी पदार्थ हैं, उनको यथायोग्य शुद्ध करके सेवन करो**''(यजु० १४.१६)। ''**जो लोग अच्छे पथ्य करने हारे शरद् ऋतु में रोगरहित होते हैं, वे लक्ष्मी (ऐश्वर्य) को प्राप्त होते हैं**'' (यजु० २१.२६)।

कठोपनिषद् में भी हम देखते हैं– जब नचिकेता तीसरे वर के रूप में मृत्यु का रहस्य पूछते हैं, तब यमाचार्य अनेक प्रलोभनों को दिखाते हुए कहते हैं कि– ''**स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि.... नचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षीः**'' (कठो० १.१.२३,२५)

हे नचिकेत! तुम जितने शरद् ऋतुओं तक जीना चाहते हो, उतने शरद् ऋतुओं तक जीवित रहने हेतु दीर्घ जीवन को माँगो, पर मृत्यु के रहस्य को मत पूछो। इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र शरद् ऋतु एक भयावह के रूप में दीखता है। पर इस प्रकार का मृत्युभय या अस्वस्थता का भय वसन्त ऋतु की सन्धि में अर्थात् फाल्गुन-चैत्र मासों की सन्धिवेला में नहीं दीखता। बल्कि इसके विपरीत वसन्त के आरम्भ से सभी के शरीर में

१. मध्वस्मिन्नस्ति मधुर्मास इति (म०भा० ७.१.७७)। मध्वस्मिन्नस्ति....माधवः मासः (म०भा० ४.४.१२८)।

नूतन चैतन्य प्रसन्नता आदि ही दीखती हैं।

वसन्त ऋतु के आरम्भ होते ही वातावरण, आकाशादि अत्यन्त निर्मल होते हैं एवं अपरिमित आह्लादकर होते हैं। इस ऋतु में सूर्य भूमध्य रेखा पर पहुँचता है। इससे वातावरण में समान शीतोष्ण होते हैं, भूमण्डल पर सभी मनुष्यों को सूर्य का दर्शन होता है। दिन-रात समान होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति में नूतनत्व दिखाई देता है। इसी नूतनत्व का अनुकरण करते हुए प्राचीन काल में सभी मनुष्य इस दिन को संवत्सर के आदि दिन के रूप में, एक पर्व के रूप में मनाया करते थे। वह परम्परा आन्ध्रप्रदेश एवं तेलंगाणा में 'युगादि'(=युग का आदि दिन) के रूप में, जम्मु-कश्मीर में 'नवरेह' के रूप में, महाराष्ट्र में 'गुडिपड्वा' के रूप में, असम में 'रोंगली' के रूप में, केरल में 'विशुदिन' के रूप में मनाते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न नामों से उस पर्व को मनाते हुए आ रहें हैं। इतना ही नहीं ईरान, ईराक देशों में भी 'नौरोज' (नया दिन, संवत्सर का आद्य दिन) के रूप में वहां के लोग नयावर्ष मनाते हैं। इस प्रकार वसन्त ऋतु प्रारम्भ होने के दिन अर्थात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन नये वर्ष (संवत्सरादि) को मनाना सर्वमान्य ही नहीं अपितु प्रकृति, सूर्य-चन्द्रादि की स्थितियों के अनुकूल है, वैज्ञानिक है एवं युक्तियुक्त है।

वेदादि में भी वसन्त ऋतु से ही संवत्सर (कालगणना) आरम्भ होने का उपदेश है— "**मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारादावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू** (तै०सं० ४.४.११.१, १.४.१४, अपि च द्र० यजु० १३.२५;१४.६,१५,१६,२७; १५.५७)।" यहां स्पष्टरूप से वसन्तादि छः ऋतुओं का वर्णन है और प्रत्येक ऋतु दो-दो मासों में विभाजित हैं। स्पष्ट है कि वर्ष वसन्त ऋतु से व मधु मास से आरम्भ होता है। यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदों में ही बारह मास एवं छः ऋतुओं का वर्णन है। पाश्चात्यों के समान दस मासों से बारह मासों का विकास नहीं हुआ।

वैदिक काल के मधु,माधव आदि जो मासों के नाम हैं, वे कालान्तर में नक्षत्रों के नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन नाक्षत्रिक नामों के विषय में महर्षि पाणिनि ने स्वविरचित अष्टाध्यायी में वर्णन किया कि— "**सास्मिन् पौर्णमासीति**"(४.२.२०) अर्थात् पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्र से युक्त होगा उसी नक्षत्र के नाम से मास का नाम होगा। तद्यथा— पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र से युक्त होने पर उस मास का नाम चैत्र होता है। विशाखा नक्षत्र से युक्त होने पर मास का नाम वैशाख होता है। वैसे ही ज्येष्ठ नक्षत्र से ज्येष्ठ मास, (उत्तर) आषाढा नक्षत्र से आषाढ मास, श्रवण नक्षत्र से श्रावण मास, (उत्तर) भाद्रपद नक्षत्र से भाद्रपद मास, अश्विनी नक्षत्र से आश्विन (आश्वयुज) मास, कृत्तिका नक्षत्र से कार्त्तिक मास, मृगशिरा नक्षत्र से मार्गशीर्ष मास, पुष्य नक्षत्र से पौष मास, मघा नक्षत्र से माघ मास, फाल्गुन नक्षत्र से फाल्गुन मास का नामकरण होता है। इस प्रकार मासों के नामों से ही आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति का बोध होता है। यह हमारे पूर्वजों के खगोलशास्त्रीय ज्ञान का परिचायक है।

मासों के वैदिक नाम और इस समय प्रचलित नाक्षत्रिक नामों को ऋतुओं के साथ इस प्रकार जानें—

वैदिक नाम	नाक्षत्रिक नाम	ऋतु	अयन
मधु,माधव	चैत्र,वैशाख	वसन्त	उत्तरायण
शुक्र,शुचि	ज्येष्ठ,आषाढ	ग्रीष्म	उत्तरायण
नभस्,नभस्य	श्रावण,भाद्रपद	वर्षा	दक्षिणायन
इष,ऊर्ज	आश्विन,कार्तिक	शरद्	दक्षिणायन
सहस्,सहस्य	मार्गशीर्ष,पौष	हेमन्त	दक्षिणायण
तपस्,तपस्य	माघ, फाल्गुन	शिशिर	उत्तरायण

इस प्रकार संवत्सर को मास एवं ऋतुओं में विभक्त किया जाता है—"**द्वे रूपे संवत्सरस्य मासा अन्यद् ऋतवो**"(का० सं० ३४.७)। ऋतुओं का क्रम वसन्त से ही आरम्भ होता है ऐसा स्पष्ट वर्णन वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र उपलब्ध होता है। यथा– "**मुखं वा एतदृतूनां यद् वसन्तः**" (तै० ब्रा० १.१.२.६,७) ऋतुओं में वसन्त मुख सदृश है, प्रथम स्थानीय है।[१] अतः वसन्त ऋतु के आरम्भ से अर्थात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन ही नया वर्ष मानना वेदादि शास्त्रों और भारतीय परम्परा से अनुमोदित है। हम सब अंग्रेजी कैलेण्डर के दास वा अभ्यस्त होने पर भी विवाह, जन्मदिन, अक्षराभ्यास, गृहप्रवेश, व्यापारादि शुभ कार्यों को आरम्भ करते समय भारतीय पंचांग का ही आश्रय लेते हैं, अंग्रेजी कैलेण्डर का नहीं। यही है भारतीय संस्कृति का अमरत्व।

सूर्य और भूमि के बीच में जब चन्द्रमा आ जाता है, तब ये तीनों एक ही रेखा पर रहते हैं। इसी स्थिति को अमावास्या कहते हैं। चन्द्रमा की गति अधिक होने के कारण वह सूर्य की अपेक्षा से आगे चला जाता है। इसप्रकार सूर्य-चन्द्रमाओं के बीच में १२° अंशों (डिग्रियों) की दूरी का अन्तर पड़ जाता है। वही अन्तर एक तिथि (दिन) कहलाता है। इस प्रकार उनकी बीच की दूरी १२°,२४°,३६°,.....अंश बढ़ते-बढ़ते पुनः एक रेखा पर आने के लिए अर्थात् उनका एक वृत्त पूरा होने के लिए (३६०°÷१२°=) ३०तिथियाँ (दिन) बनतीं हैं, अर्थात् एक मास पूरा हो जाता है।[२] इसप्रकार एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक एक मास (३०दिन) पूरा हो जाता है।[३] वेदमन्त्र के माध्यम से यह वर्णन किया जा चुका है कि एक वर्ष में बारह मास होते हैं। अर्थात् एक वर्ष में (१२ मास×३०दिन) ३६० दिन होते हैं। इसका भी वर्णन वेदमन्त्रों में है। यथा– "**ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः...**"(अथर्व० १.१.१)। यहाँ 'त्रिषप्ताः' शब्द का अर्थ इस प्रकार है–

१. तीन से सात तक की विषमसंख्याओं का योग–	३+५+७=१५
२. तीन बार सात	३×७=२१ (+)
	३६
३. तीन और सात का योग	३+७=१० (×)
	३६×१०=३६०

इसप्रकार सृष्ट्यादि में ही वेद ने बताया है कि एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। और एक मन्त्र को देखें–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥ (ऋ० १.१६४.४८)

संवत्सर रूपी कालचक्र में बारह मास रूपी परिधियाँ, तीन प्रमुख (ग्रीष्म,वर्षा,शरद्) ऋतुरूपी नाभियाँ और ३६० दिन रूपी आरें होते हैं, जो कि अत्यन्त चलायमान हैं।

इसीप्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संवत्सर में ३६० दिन होने का स्पष्ट वर्णन है– **त्रीणि च ह वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहोरात्राणि** (गो० ब्रा० १.१.५.५)।

शास्त्रों में काल की परिगणना मानवीय एवं ब्राह्म वर्षों में की जाती है। ब्राह्मवर्ष के विषय में यहाँ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सृष्टि की स्थिति एवं प्रलय के काल को मिलाकर एक ब्राह्मदिवस कहते हैं। इसका परिमाण मानवीय गणना में ८,६४,००,००,००० वर्ष रहता है। ऐसे तीस दिनों का एक ब्राह्ममास होता है। बारह ब्राह्ममासों का एक ब्राह्मवर्ष होता है। ऐसे सौ ब्राह्मवर्षों को मिलाकर उसे परान्त काल कहते हैं।

१. अन्यत्र द्रष्टव्य स्थल– तां०म० ब्रा० ५.९.११, कौ० ब्रा० ५.१, शांखा० ब्रा० १९.३ आदि।
२. यह वर्णन अमान्त पक्ष का है, उसी प्रकार पूर्णिमान्त पक्ष में भी समझा जा सकता है।
३. षष्टिर्मास्यहोरात्राणि (शत० ६.२.२.३५) एकमास में साठ दिन-रात होते हैं अर्थात् तीस दिन होते हैं।

एक ब्राह्मवर्ष में (१२×३०=३६०) तीन सौ साठ ब्राह्मदिन रहते हैं। परान्तकाल में (३६०×१००=३६,०००) छत्तीस हजार ब्राह्मदिन रहते हैं। इसे ही शास्त्रों में मोक्षकाल माना गया है। मुक्तात्मा परान्तकाल तक अर्थात् छत्तीस हजार बार इस सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय होने तक परमात्मा के आनन्द का अनुभव कर पुनः जन्म लेता है, अस्तु। यहाँ विशेषतः ध्यातव्य है कि ब्राह्मवर्ष में भी ३६० ही दिन होते हैं, ऐसा हमारे शास्त्र एवं ऋषि-मुनियों ने स्वीकारा है।

भारतीय गणितपद्धति में कालगणना दो प्रकार से की जाती है— १. सौरमान, २.चान्द्रमान। चन्द्रमा का भूमि के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए २९.५ दिन लगते हैं। यह चान्द्रमास कहलाता है। बारह चान्द्रमासों का एक चान्द्रवर्ष होता है, जिसमें २९.५×१२=३५४ दिन होते हैं। पर सौरमान के अनुसार भूमि को सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करने के लिए ३६५.२५ दिन अपेक्षित हैं। इस प्रकार चान्द्रवर्ष एवं सौरवर्ष में ११.२५ दिनों का अन्तर होता है। इस अन्तर को प्रत्येक ३२ मासों के बाद चान्द्रवर्ष को १३ मासों का मानकर किया जाता है। इसी तेरहवें मास को अधिकमास, अधिमास, मलमास आदि कहते हैं। इसप्रकार वर्ष में १२ मास या कभी-कभी १३ मास होते हैं। इसका भी स्पष्ट उल्लेख हमारे ऋषि-मुनियों ने किया– ''**द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः**'' (शत० २.२.३.२७)। चन्द्रमा से मास बनने के कारण उसे ''**मासकृत्**'' (ऋ० १.१०५.१८) कहते हैं।

इसप्रकार भारतीय कालगणना सूर्य चन्द्रादियों पर आश्रित है। हमारा कालान्तर (कैलेण्डर) खगोलविज्ञान से सम्बन्धित है। प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाला परिज्ञान कभी भी असत्य नहीं हो सकता। जैसे कि— सूर्यग्रहण सदा अमावास्या के दिन ही होता है, चन्द्रग्रहण पूर्णिमा के दिन ही होता है। इसप्रकार देखें तो आधुनिक विज्ञान के विना प्राकृतिक विज्ञान को जानने वाला व्यक्ति कालान्तर (कैलेण्डर) के विना ही चन्द्रमा को देखकर मास, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, पूर्णिमा, अमावास्या, अष्टमी आदि तिथियों को जान लेता है। पर आधुनिक विज्ञान को जानने वाला कैलेण्डर के विना कुछ भी नहीं जान सकता।

अभी तक हमने प्रमाण एवं युक्तियों से जान लिया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन नये वर्ष को मनाना ही युक्तियुक्त है। अब इस वर्ष की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है—

१. **चैत्रे मासि जगद् ब्रह्म ससर्ज प्रथमेऽहनि।**
शुक्लपक्षे समग्रे तु सदा सूर्योदये सति ॥ (हेमाद्रि)

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के प्रथम सूर्योदय तक परमेश्वर ने सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण कर मानवों को उत्पन्न किया था। अत एव इसे सृष्टिसंवत्सर और मानव संवत्सर कहते हैं।

२. इसी दिन मनावों के कल्याण निमित्त परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नाम के चार ऋषियों के अन्तःकरण में वेदज्ञान प्रकाशित किया। इसलिए इसे वेदसंवत्सर भी कहते हैं।

३. इसी दिन कलियुग संवत्सर आरम्भ होता है।

४. इसी दिन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ था। इसीलिए युधिष्ठिर संवत्सर भी इसी दिन आरम्भ होता है।

५. अत्यन्त पराक्रमी, धर्मात्मा और न्यायप्रिय विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध संवत्सर भी इसी दिन आरम्भ होता है।

६. शालिवाहन ने हुणों को पराजित कर दक्षिण भारत में एक अच्छा धार्मिक राज्य स्थापित किया था। तब से शालिवाहन शक संवत् भी आरम्भ हुआ था। यह संवत्सर भी इसी दिन आरम्भ होता है।

७. महर्षि दयानन्द ने वैदिक धर्म एवं प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए और मानव समाज की उन्नति

के लिए इसी दिन आर्यसमाज की स्थापना की थी।

८. इस नये वर्ष के समीप में ही अर्थात् चैत्र शुक्ल नवमी के दिन मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ था।

नये वर्ष के दिव्य सन्देश

इस नये वर्ष के दिव्य सन्देशों को ग्रहण कर उनसे प्रेरित होकर हम इस पर्व को महदानन्द से मनाने के लिए इसप्रकार प्रयास करें—

१. यह सृष्टि का उत्पत्ति का दिन है। उत्पत्ति के समय यह जिस प्रकार अत्यन्त निर्मल, शुद्ध-पवित्र, सभी प्राणियों के लिए स्वास्थ्यदायक एवं मनोहर था, उसी प्रकार बनाये रखने के लिए, सुरक्षित रखने के लिए हम सब कटिबद्ध हों। वातावरण के प्रदूषण को समाप्त करने हेतु वृक्षादि की रक्षा करते हुए उनकी वृद्धि करें तथा प्रतिदिन यज्ञ-यागों का अनुष्ठान करें।

२. यह मानव संवत्सर है। सभी मनुष्य एक भगवान् की संतानें हैं । इसलिए हम सब जाति, मत, देश लिंगादि भेदों को भुलाकर एवं ईर्ष्या, द्वेष, असूयादि दोषों को त्यागकर परस्पर अत्यन्त प्रीति, प्रेम, अनुरागादि से मिलजुलकर रहें और अपनी मानवता को प्रदर्शित करें। ''**वसुधैव कुटुम्बकम्**'' सम्पूर्ण जगत् ही एक परिवार है इस पवित्र भावना से वर्तें।

३. यह वेदोत्पत्ति का संवत्सर है। वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृति भूमण्डल पर जब तक परिव्याप्त थी, तब तक सभी मनुष्य सर्वविध सुख-शान्ति से पूर्ण सन्तृप्त थे। अतः हम आज भी विभिन्न समयों में स्वार्थवश स्थापित व प्रचलित साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं विभेदों को त्यागकर भगवत्प्रदत्त दिव्य वेदज्ञान को प्राप्तकर, उसका अनुसरण कर ऋषि-मुनियों के समान और श्रीराम, श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों के समान सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जिससे एक दिव्यमानवसमाज का निर्माण होगा।

४. यह श्रीराम, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, शालिवाहन जैसे धर्मपारायण महाराजों के धर्मराज्य का स्थापनादिवस है। अतः हम सब अधर्म, अन्याय, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अविनीति जैसी नीच भावनाओं से सन्तप्त राजनीति को भस्मकर, धर्मराज्य की स्थापना के लिए आगे बढ़ें एवं दृढ़ संकल्प लें। ''**धर्मो रक्षति रक्षितः**''(गीता) यदि हम धर्म की रक्षा करते हैं, तो धर्म हमारी रक्षा करता है। ''**यतो धर्मस्ततो जयः**''(गीता) जहाँ धर्म है, वहीं विजय और सुख-शान्तियाँ होती हैं।

५. यह आर्यसमाज का स्थापनादिवस है। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, समाज का अर्थ मानवता युक्त मनुष्यों का समुदाय। आर्यसमाज का अर्थ है कि उत्तमोत्तम, श्रेष्ठ मनुष्यों का समाज। ''**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'' (ऋ० ९.६३.५) इस विश्व में व्याप्त अज्ञान-अन्धकार एवं दुष्टशक्तियों का विनाश कर पूरे विश्व को आर्य बनावें, एक दिव्य मनुष्यों के समाज का निर्माण करें। स्वार्थ, अज्ञान, भूत-प्रेत, यन्त्र-तन्त्र, अन्धविश्वास आदि को समूल नष्ट कर सभी मनुष्यों को ज्ञानी व विवेकी बनावें।

सप्तम अध्याय

दर्शनशास्त्र

७.१. दर्शनशास्त्र : एक विवेचन*

सर्गारम्भ में इस धरती पर मानव ने जैसे ही जन्म लिया, आखें खोली हैं, वैसे ही उसके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि– मैं कौन हूँ? यह संसार क्या है? मेरा जन्म क्यों हुआ? इससे पूर्व मैं कहाँ था? अब कहाँ आया हूँ? मुझे यहाँ किसने भेजा है? अर्थात् मुझे किसने उत्पन्न किया? यह भूमि क्या वस्तु है? यह कहाँ टिकी हुई है? यह सुन्दर आकाश क्या वस्तु है? ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र क्या हैं? ये आकाश में निराधार कैसे घूम रहें हैं? सृष्टि किसने की है? कैसे की है? क्यों की है? ये सुख-दुःख क्या हैं? इनका क्या कारण हैं? इनसे कैसे मुक्ति होगी? इस प्रकार के अनेकों विचित्र एवं जिज्ञासापूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुए और इन प्रश्नों के समाधान के लिए प्रयत्न भी उसी समय से प्रारम्भ हुआ है। जैसे कि वेद में भी देखा जाता है–

"**को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः**"। (ऋ० १०.१२९.६)

अर्थात् कौन जानता है? कौन उपदेश करता है? हमारा जन्म कैसे हुआ? यह सृष्टि कैसे बनी? इन्हीं प्रश्नों, जिज्ञासाओं के परिणाम स्वरूप आज आधुनिक विज्ञान विकसित हुआ है। पर प्राचीन ऋषियों ने भौतिक उन्नति से सन्तुष्ट न होकर वा भौतिक उन्नति में मानव का कल्याण न देखकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म गूढ़तम तत्त्वों को सतत साधना तथा ईश्वरोपासना से जाने हैं। उसी यथार्थ ज्ञान का नाम '**दर्शन**' है। दर्शन के पर्यायवाची के रूप में '**फिलासफी**' शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द ग्रीक व यूनानी भाषा के '**फाईलस**' (प्रेम, अनुराग, इच्छा)एवं '**सोफिया**' (ज्ञान) पदों के योग से बनता है। जिससे 'फिलासफी' शब्द का अर्थ ज्ञानानुराग, ज्ञान की इच्छा, जिज्ञासा आदि जाना जाता है। यह अर्थ दर्शन शब्द के व्यापक अर्थ में भी निहित है।

दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ– दृशिर् प्रेक्षणे(धातु०भ्वा० ७१५) धातु से '**करणाधिकरणयोश्च**' (अष्टा० ३.३.११३) सूत्र से करण कारक में ल्युट् प्रत्यय होकर दर्शन शब्द बनता है। जिसका अर्थ है कि '**दृश्यते ज्ञायते विचार्यते तत्त्वज्ञानं तत्त्वस्वरूपं वानेनेति दर्शनम्**"। अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय,जाना जाय, सद्-असद् वस्तु का विचार किया जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का अर्थ है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है या मिथ्या? जड़ है या चेतन? संसार क्या वस्तु है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह नित्य है या अनित्य? संसार के अन्दर रहकर उत्तम एवं सुखपूर्वक जीवन बिताने का क्या साधन है? इत्यादि समस्त विषय दर्शन शब्द के वाच्य हैं, दर्शनशास्त्रगम्य हैं, यही दर्शन-शास्त्रों का उद्देश्य वा प्रयोजन भी है। करणकारक में व्युत्पन्न दर्शन शब्द से यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि '**दृश्यते प्रत्यक्षीक्रियते तत्त्वज्ञानं तत्त्वस्वरूपं वानेनेति दर्शनम्**' अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का ज्ञान कल्पना के आधार पर नहीं, अपितु साक्षात् प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है, वह '**दर्शन**' कहलाता है। दर्शन वह ज्ञान है, जो ऋषियों के द्वारा साधना एवं योगबल से प्रत्यक्षतः जाना गया था और आज भी उसी प्रकार जाना जा सकता है।[१] उस जानने की विधि वा उपायों को बतलाने वाले ग्रन्थ ही 'दर्शनशास्त्र' है। कहा भी गया है–

---

*. यह लेख वेदवाणी (मार्च २०१०), आर्षज्योति (अगस्त २०१३) में प्रकाशित है।

१. एक बार एक व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द जी से पूछा– "भगवान् पातञ्जल शास्त्र का विभूतिपाद क्या सत्य है?" ऋषि दयानन्द जी ने उत्तर दिया– "आप यों ही सन्देह करते हैं। **योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध शास्त्र है।** यदि आप तीन मास तक मेरे पास निवास करें और मेरे अनुकूल योग क्रियायें साधें, तो आप इस शास्त्र की सिद्धियों का साक्षात् स्वयं कर लेंगे।"

"**श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्त्वा च सततं ध्येयम् एते दर्शनहेतवः**"॥

श्रुतिवाक्यों से तत्त्वज्ञान को सुनना चाहिए और उस श्रुत विषय का मनन, चिन्तन करना चाहिए, तत्पश्चात् उस का ध्यान (निश्चय) करना चाहिए। ये सभी अर्थात् श्रवण, मनन एवं ध्यान ये ही दर्शन के, तत्त्वज्ञान के, प्रत्यक्षीकरण के हेतु हैं।

यदि ल्युट् प्रत्यय 'भाव' अर्थ में (ल्युट् च – अष्टा० ३.३.११५) किया जाय तो दर्शन शब्द का अर्थ निकलता है कि '**दृष्टिरिति दर्शनम्**'। अर्थात् दृष्टि, ईक्षण को ही '**दर्शन**' कहते हैं। जैसे कि लोक में प्रयोग किया जाता है कि '**ममेयं दृष्टिः**'। प्रकृत प्रसङ्ग में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वद्रष्टा, साक्षात्कृतधर्मा ऋषि, मुनियों की दृष्टि है। उन ऋषियों (कर्ता) के भेद से दृष्टिभेद होकर भिन्न-भिन्न दर्शन प्रणीत हुए। यह अनिवार्य नहीं है कि एक वस्तु का दर्शन सभी को समान रूप से हो। अतः दृष्टिभेद से दर्शनभेद भी होना स्वाभाविक ही है। 'दर्शन' शब्द का अर्थ तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की 'दृष्टि' के साथ 'ज्ञान' भी ले सकते हैं। अर्थात् ऋषियों का प्रत्यक्षीकृत 'ज्ञान' ही 'दर्शन' पद का अभिधेय है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में 'ज्ञान' के अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यथा– '**तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते**' (२.२४) वह अज्ञान बन्धन का कारण है, जो कि ज्ञान से निवृत्त होता है। अपि च '**परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते**'(३.५५) यथार्थतः ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है।

दर्शन शब्द में ल्युट् प्रत्यय यदि कर्मकारक[1] में हो जाय, तो '**दृश्यते यत् तद् दर्शनम्**' अर्थ प्रकट होता है। जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब दर्शनपदवाच्य होता है। देखने वाला द्रष्टा है, भोक्ता है और दिखाई देने वाला दृश्य 'दर्शन' कहलाता है, भोग्य कहलाता है। योगदर्शन में 'बुद्धि' के अर्थ में भी 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है–'**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता**' (योग० २.६)। यहाँ कहा गया है कि दृक्=द्रष्टा, आत्मा को एवं दर्शन = बुद्धि को एकही समझना अर्थात् जड़ और चेतन को एक ही समझना 'अस्मिता' नामक क्लेश कहलाता है। यहां बुद्धि को आत्मा (द्रष्टा) से भिन्न भोग्य निखिल जड़ जगत् का उपलक्षक मानें, तो हमारे उपरितन कथन की ही पुष्टि होती है। 'दर्शन' शब्द के साथ 'शास्त्र' शब्द का भी प्रयोग होता है (दर्शनशास्त्र)। और 'शास्त्र' का लक्षण किया गया है कि –

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ (हितो०, प्रस्ता० १०)

जो अनेकानेक संशयों का निवारण (समाधान) करता हो एवं परोक्ष विषयों, परोक्षभूत तत्त्वों का प्रत्यक्ष कराने वाला, बोध कराने वाला शास्त्र कहलाता है, जो सभी का अर्थात् चक्षुष्मान् तथा चक्षुर्विहीन सभी प्रकार के मनुष्यों का नयन (नेत्र) होता है। जिसके पास ऐसा शास्त्रीय ज्ञाननेत्र नहीं है वह चक्षुष्मान् होता हुआ भी अन्धा ही होता है। स्पष्ट है कि 'दर्शन' एवं 'शास्त्र' शब्दों के अर्थ में पूर्ण साम्यता है।

यहां यह भी विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा कि चक्षुष्मान् को भी अन्धा क्यों और कैसे कहा गया है? इसके लिए हमें 'नयन' वा 'नेत्र' शब्दों पर विचार करना होगा। ये दोनों शब्द '**णीञ् (नी) प्रापणे**' धातु से बनते हैं। जो मन को वा मन के द्वारा आत्मा को विषयों की ओर ले जाते हैं, उन्हें **नेत्र या नयन** कहते हैं। और 'विषय' शब्द '**षिञ् बन्धने**' धातु से बनता है। जो मन आदि को बांध लेते हैं, बन्धन के कारण बनते हैं, वे '**विषय**'[2] कहलाते हैं। वे हैं– रूप, रस, गन्ध,स्पर्श आदि। इन विषयों के बन्धन में डालनेवाला या उनकी ओर सर्वप्रथम प्रबलरूप से ले जाने वाला, आकर्षित होने वाला इन्द्रिय चक्षु (आँख) ही है, अत एव चक्षुओं को नेत्र

१. 'अकर्त्तरि च कारके०' इत्यस्यानुवृत्तेः 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यनेन कर्मणि ल्युट् (तत्त्वालोकटीका, म०भा० १.१.५७, पृ० ४५०)।

२. विषस्य विषयाणां हि दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥ (भ०सु० ७५१)

या नयन कहते हैं। संसार में एक ओर आकर्षित करने वाले, बन्धन के हेतुभूत विषय हैं, दूसरी ओर आकर्षित होने वाला, मन आदि के बन्धन का कारणभूत नेत्रेन्द्रिय। जब किसी यात्रिक को यात्रा में नेत्र सहायक न हों, उनमें धुंधलाहट हो तो, उसे उपनेत्र (चश्में) की आवश्यकता होती है। वैसे ही संसार की यात्रा के, जीवन की यात्रा के यात्रिक को भी अपने लक्ष्य तक पहुंचने में ये चर्मचक्षु सहायक के स्थान पर बन्धन के कारण बनते हैं तो, उसे भी किसी उपनेत्र, उपनयन की आवश्यकता होती है। वह उपनयन है तत्त्वबोधक ज्ञाननेत्र ।[1] जिसके विना मनुष्य अपने लक्ष्य (मोक्ष) की ओर अग्रसर न होकर अन्धे के समान पथभ्रष्ट हो जाता है, भटकता फिरता है। इसलिये नीतिकारों ने उसे अन्धा कहा है। अतः मनुष्य को अपने गम्यस्थान तक पहुंचने के लिए विवेकशील एवं तत्त्वबोधक ज्ञान नेत्रों की प्राप्ति के उपाय करने होंगे। उन उपायों को बतलाने वाले ग्रन्थ ही 'दर्शनशास्त्र' हैं।

कहा भी गया है कि – **यदाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।**
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥

अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस सुख (मोक्ष) को सिद्ध करने वाले मार्ग को दिखलाने वाला साधन ही 'दर्शन' कहलाता है। इस प्रकार के दर्शनशास्त्रों के तत्त्वज्ञान को जो व्यक्ति प्राप्त कर लेता है वह मुक्त हो जाता है– **ज्ञानान्मुक्तिः** (सांख्य० ३.२३)। अपि च–

सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ (मनु० ६.७४)

जो व्यक्ति भलीभांति दर्शनशास्त्रों के तत्त्वज्ञान से सुसम्पन्न होता है, वह कर्मबन्धनों से, जन्ममरण से मुक्त हो जाता है। उससे विहीन व्यक्ति संसार में, जन्ममरणचक्र में अन्धे के समान भ्रमण करता रहता है।

दर्शनशास्त्रों का विभाग– दर्शनशास्त्रों को आस्तिक, नास्तिक विभाग के द्वारा द्विधा विभक्त किया जाता है। पर आस्तिकत्व एवं नास्तिकत्व का मानदण्ड क्या है? इनका लक्षण क्या है? यह विशेषतः विचारणीय विषय है। इन शब्दों को व्युत्पन्न करते हुए महामुनि पाणिनि कहते हैं कि '**अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः**' (अष्टा० ४.४.६०)। अर्थात् जो अस्तित्वबुद्धि वाला है, वह आस्तिक है और जो नास्तित्व मति वाला है, वह नास्तिक है। पर यह लक्षण पूर्ण नहीं है, क्योंकि ये लक्षण यह अपेक्षा रखते हैं कि आस्तिक को किस वस्तु के अस्तित्त्व को मानना होगा, और नास्तिक को किस वस्तुको न मानना होगा? इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए यहां अपेक्षित अर्थ के अभिधायक शब्दों का अध्याहार करना होगा और अध्याहार कर्ता के अधीन होता है ।[2] इसीलिए आस्तिकत्व, नास्तिकत्व को लेकर आचार्यों में बड़ा मतभेद है। कोई भी अपने को नास्तिक मानने के लिए तैयार नहीं होते, सभी अपने को आस्तिक ही मानते हैं । उसके लिए अपनी अनुकूलता को देखते हुए ही अध्याहर्तव्य शब्दों का चयन करते हैं। यदि पाणिनि के लक्षण में 'पदार्थ' शब्द का अध्याहार किया जाय तो संसार का कोई भी व्यक्ति नास्तिक नहीं होगा। क्योंकि सभी के सभी किसी न किसी पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले ही होते हैं। संसार में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जो किसी भी पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानता हो।

उक्त अतिव्याप्तिदोष के निवारण के लिए पाणिनि के लक्षण में कुछ शब्दों का अध्याहार करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने अध्याहार के साथ लक्षण निम्न प्रकार से बनाये हैं –

१. **अस्ति जगतः किमपि सत्कारणमिति मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्ति जगतः किमपि सत्कारणमिति**

---

१. तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथापरम्। न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतो न शक्यते॥ (वि०पु० ६.६.३);
अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्। यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे विवेकजम्॥ (वि०पु० ६.५.६२);

२. कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि। (म०भा० १.१.५७)।
कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम् (म०भा० ४.१.९०)।

मतिर्यस्य स नास्तिकः।। अर्थात् जगत् के सत्कारण को मानने वाला आस्तिक एवं न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। इस प्रकार से भी प्रायः सभी अर्थात् भारतीय और पाश्चात्य दर्शन भी आस्तिक कहलायेंगे। अतः यह लक्षण उचित नहीं है।

२. **परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः। परलोको नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।।** (काशिका, प्रदीप, सिद्धान्तकौमुदि आदि)। **अस्ति वेदोदितो लोको मतिर्येषां त आस्तिकाः। नास्ति वेदोदितो लोको मतिर्येषां त एव ते।।** (आर्यविद्यासुधाकरः)

इस लक्षण के अनुसार परलोक को मानने वाला आस्तिक है और न मानने वाला नास्तिक है। इससे भी अतिव्याप्ति दोष की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि जैन, बौद्ध आदि भी कर्मफल सिद्धान्त को मानते हुए परलोक (पुनर्जन्म,मोक्ष आदि) को मानते हैं। अतः वे भी आस्तिक के रूप में परिगणित होंगे। अतः यह भी उचित लक्षण नहीं है।

३. महर्षि मनु के अनुसार नास्तिक वह है, जो वेद की निन्दा करता है– **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (मनु०२.११)। इस वचन के आधार पर कहा जाता है कि– **वेदः प्रामाणिकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः। वेदः प्रामाणिको नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।।** इससे वेद को प्रामाणिक मानने वाले न्याय, वैशेषिक आदि छः शास्त्र आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। तथा वेद को प्रामाणिक न मानने वाले जैन, बौद्ध आदि के दर्शन नास्तिक कहलाते हैं।

तृतीय लक्षण के द्वारा अतिव्याप्ति दोष का वैदिक दृष्टि से परिहार अवश्य हुआ है। पर जिन्हें नास्तिक कहा गया है, वे तो अपने को नास्तिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः उनकी दृष्टि से लक्षण अब भी निर्दोष नहीं है। फलतः लक्षणीकरण का प्रयत्न अभी पर्यवसित (समाप्त) नहीं होता है। जहाँ वैदिक लोग कहते हैं कि **'ईश्वरोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः,' यथा न्याय वैशेषिकादयः। 'ईश्वरोऽनास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः'। यथा बौद्धजैनादयः।** अर्थात् ईश्वर को मानने वाले न्याय, वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन हैं, तथा न मानने वाले बौद्ध, जैन आदि के दर्शन नास्तिक हैं वहां दूसरे लोग कहते हैं कि– **'ईश्वराभावोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः' यथा – बौद्धजैनादयः। ईश्वराभावो नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः। यथा – न्यायवैशेषिकादयः।** तात्पर्य है कि– ईश्वर के अभाव को माननेवाले बौद्ध, जैन आदि आस्तिक कहलाते हैं एवं ईश्वर के अभाव को न मानने वाले न्याय, वैशेषिक आदि नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। 'ईश्वर के अभाव को मानने वाला आस्तिक कहलाता है' इस लक्षण के आधार पर 'हरिभद्र सूरि' ने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में लिखा है कि बौद्ध नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य, जैन, जैमिनीय, लोकायत (चार्वाक) ये सभी दर्शन आस्तिक हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी शास्त्र ईश्वर के अभाव को माननेवाले हैं, शेष अवशिष्ट सभी दर्शन (योग, वेदान्त आदि) नास्तिक शास्त्र हैं (द्र०क्षीर तरंगिणी पृ० १२६-१२७)। इसप्रकार अध्याह्रियमाण शब्द का अध्याहर्ता के अधीन होने से आस्तिकत्व एवं नास्तिकत्व का लक्षण इदमित्थमतया बतलाना दुष्कर ही है। अतः दर्शनशास्त्रों को आस्तिक-नास्तिक के रूप में विभाजित न कर वैदिक-अवैदिक अथवा आर्ष[१]-अनार्ष के रूप में विभक्त करना ही अपेक्षाकृत उत्तम है।

१. ऋषिः= वेदः, तत्सम्बन्धी आर्षः, वैदिक इति यावत्।

अष्टम अध्याय

आर्षविद्या का महत्व एवं आवश्यकता

८.१. विश्वव्यापी सभी समस्याओं का समाधान — वैदिक विद्याविधान : महर्षि देव दयानन्द का विज्ञापन *

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिषु बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥ (मनु० १.९६)

चराचर जगत् में जीवधारी (प्राणी) श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में वेदवेत्ता, ब्रह्मविद् सर्वश्रेष्ठ है। इस जगत् में मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी के रूप में जन्मा है। पर इसका ज्ञान स्वाभाविक न होकर, नैमित्तिक है अर्थात् उसे माता, पिता, गुरु आदि से ही ज्ञान प्राप्त होता है, अन्यथा वह पशुपक्षियों से भी अधिक अधम प्राणी सिद्ध होता है। अतः मनुष्य को ज्ञान, विद्या, कलादि की अत्यन्त आवश्यकता होती है। **मनुष्य को मनुष्यश्रेणी में स्थापित करने वाला प्रमुख साधन ही विद्या व ज्ञान कहलाता है।** महर्षि दयानन्द ने भी कहा है कि "**जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उस को शिक्षा कहते हैं**" (स्वमन्तव्या०)।"**जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है**" (आर्योद्देश्य०)। पर सम्प्रति प्रचलित विद्याविधान से तो विपरीत दुष्परिणाम ही दृग्गोचर हो रहें हैं। इस आधुनिक विद्या में सहृदयता रहित मनुष्यरूपी यन्त्रों के निर्माण की शक्ति अवश्य है, पर वह मानवीय संस्कारोपेत मनुष्य के निर्माण में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ है। वैयक्तिक जीवन से लेकर देश एवं विश्वभर के क्षेत्रों में सर्वत्र स्वार्थ, अनाचार, अत्याचार, अधर्म, अन्याय, अवनीति, अकर्मण्यता, विषयलोलुपता, दुराचार, भ्रष्टाचार, जातिवाद आदि से बीभत्स दुःस्थिति बनी हुई है। माता-पिता, अध्यापक और विद्यार्थी सभी लोग आधुनिक विद्या से केवल धन की ही आशा करते हैं। उसके लिए सभी अपने-अपने मनो-अश्वों को चहूँ दिशाओं में दौड़ाते हैं। पर आज का मनुष्य यह समझ नहीं पा रहा है कि धनादि ऐश्वर्य अपने साध्य नहीं हैं, न ही वे शाश्वत सम्पत्ति हैं। आदर्श एवं संस्कारादि विहीन आधुनिक शिक्षा से मनुष्य पथभ्रष्ट होकर नरपिशाच बनता जा रहा है। तत्परिणामतः रक्षक ही भक्षक के रूप में, प्राणदाता (डाक्टर) प्राणान्तक के रूप में, उपकारक अपकारक के रूप में, निर्माता नाशक के रूप में, आचार्य अनाचारी के रूप में, विद्यार्थी अविनीत के रूप में, नागरिक अनागरिक के रूप में परिणत होते जा रहें हैं।

आक्रामक अंग्रेजियों की कुटिलनीति के कारण ही वेद और ऋषि, मुनि आदि महापुरुषों से विभूषित एवं सर्वविधसुखशान्तियों से सम्पन्न विश्वगुरु भारत आज अत्यधिक विषम एवं विपत्कर परिस्थितियों से आक्रान्त है। परिणामों पर विचार किये विना किया गया कार्य सर्वथा निष्फल और दुष्फल होता है, इसके लिए यह एक बहुत बड़ा उदाहरण है। अब भी भारतीय सचेत होकर धर्म, मानवता, विश्वभ्रातृत्व, संस्कृति, सभ्यता आदि को विनष्ट करनेवाले इन भयानक विषम परिस्थियों को समूल विनाश करने के लिए वेदों की ओर लौटें और सनातन वैदिक संस्कृति तथा पुरातन आर्षपरम्परा के अनुकूल विद्याविधान को अपनायें, जिससे इस देश का पूर्व दिव्य वैभव पुनः देखा जा सकता है।

---

*. यह लेख वेदवाणी (जून-जुलाई २०१२), दयानन्द सन्देश (मई २०१२), परोपकारी (प्रथम, मार्च २०१२), तपोभूमि (जुलाई - अगस्त २०१२), आर्ष-ज्योति (अगस्त २०२०) में प्रकाशित है।

गुरुकुल-विद्याविधान की विशेषता और महत्त्व

''सा विद्या या विमुक्तये''– जिससे समस्त दुःख समाप्त होकर शाश्वत सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है, वही विद्या कहलाती है। यह अलौकिक वेदविद्या केवल गुरुकुलों में ही दी जाती है।

''मनुर्भव, देवो भव, ऋषिर्भव''– दया, प्रेम आदि मानवताधर्म से युक्त मनुष्य का निर्माण करना गुरुकुलविद्या की विशेषता है। जिससे एक दिव्य मानव का भी निर्माण होता है–**''अथ ये ब्राह्मणाः (ब्रह्मजिज्ञासवः) शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः''**(शत०ब्रा० २.४.३.१४) और गुरुकुलीय विद्या से आत्मविद् योगी, ऋषि, मुनि भी बन सकते हैं। वेदविद्या के अध्ययन से प्राप्त प्रयोजनों का वर्णन करते हुए ऋग्वेद स्वयं कहता है कि **''अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्''** (ऋ० १०.१२५.५)। यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है कि देव और मनुष्यों द्वारा सेवित वेद के पढ़ने से मनुष्य ब्रह्मतेजोयुक्त, चतुर्वेदविद्याविभूषित, सुमेधासम्पन्न ऋषित्वादि दिव्यगुणापन्न बन जाता है।

''मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव''(तै० उप० १.११.२) – गुरुकुलीय विद्या का विद्यार्थी माता, पिता और गुरु के महदुपकारों को पहचान कर जीवनभर उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक होता है एवं उनके उपदेशों और आदेशों का अनुकरण करता हुआ उनके सदृश दिव्यगुणान्वित होता है।

''सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्''(तै०उप० १.११.१,३)
– सत्य ही बोलो, धर्म का ही आचरण करो, प्रमादरहित होकर निरन्तर वेदादि सत्यशास्त्रों का स्वाध्याय एवं प्रवचनों का अनुष्ठान करो, किसी भी परिस्थिति में दान की प्रवृत्ति का त्याग मत करो इत्यादि धार्मिक, नैतिक और आत्मिक संस्कारों से गुरुकुलीय विद्यार्थी संस्कारित होता है।

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०.१९१.२)– परस्पर का व्यवहार, संवाद, मनोविचार आदि सभी का एक हो। इस प्रकार के आदर्श व्यवहारों से गुरुकुलीय विद्यार्थी प्रशिक्षित होते हैं।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ (अथर्व० ८.४.२२)

अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, मात्सर्य, काम, इन्द्रियदौर्बल्य, अहंकार, लोभ आदि आसुरीभावों को विनष्ट कर यम (अहिंसा, सत्य,अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच,सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) आदि दैवीभावनाएँ विद्यार्थियों को हृदयंगम कराये जाते हैं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ (शा०प० २७३)

अपना-पराया, मेरा-तेरा आदि स्वार्थ की भावनाएँ अल्पबुद्धि वालों में ही उत्पन्न होती हैं। उदार व्यक्ति और ज्ञानी तो सम्पूर्ण विश्व के प्रति अपने परिवार की भावना रखता है। इत्यादि नीतिवाक्य गुरुकुलीय विद्यार्थियों के मनों में अंकुरार्पित किये जाते हैं।

''सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्''(मनु० ५.१०६) धर्मानुसार धनाद्यैश्वर्यों को प्राप्त करना ही सभी पवित्रताओं में सर्वोत्तम पवित्रता है। **''अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्। अनुसृत्य सतां मार्गं यत् स्वल्पमपि तद् बहु''**(शा०प० ३०७)। दूसरों को दुःख दिये विना, दुष्टों की खुशामदि (चापलूसीपन) के विना, सन्मार्ग पर चलते हुए धर्मपूर्वक अर्जित थोड़ा भी धन बहुत हो जाता है, सुखदायक हो जाता है। इसप्रकार के पवित्र विचारों से, अपरिग्रहत्व व कुम्भीधान्यत्व से वेद का विद्यार्थी प्रबुद्ध किया जाता है।

आर्षग्रन्थों के अध्ययन से होने वाले एक प्रमुख प्रयोजन का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं– ''**महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इसप्रकार का होता है। क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी। जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सके। जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना**'' (सत्यार्थ०, तृ०समु०)।

आधुनिक विद्यालयों में विद्यार्थियों को बहुत से ऐसे विषय पढ़ाये जाते हैं, जो उनके जीवन में कभी भी, किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार से उपयोग में नहीं आ सकते। यह सब केवल विद्यार्थियों को भार मात्र है, पर गुरुकुलों की आर्षपद्धति में अनावश्यक व निरर्थक विषय कभी भी पढ़ाये नहीं जाते। अध्यापित प्रत्येक विषय विद्यार्थी के जीवन में एक अमूल्य ज्ञाननिधि एवं परम उपयोगी ही सिद्ध होता है।

अधुनातन विद्यालयों में अंग्रेजों के द्वारा प्रकल्पित तथा आधारहीन मिथ्या इतिहास पढ़ाया जाता है। इतना ही नहीं आक्रामकों के दुश्चरित्र को पढ़ाकर विद्यार्थियों का मनोबल गिराया जाता है। पर गुरुकुलों में यथार्थ इतिहास, ऋषि, मुनि, महापुरुषों का आदर्श चरित्र और भारतदेश की आजादी के लिए अपने प्राणों का बलिदान दिये हुए महान् योद्धाओं का चरित्र पढ़ाया जाता है। जिससे गुरुकुलीय विद्यार्थी परम देशभक्त बन जाते हैं।

''**समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि**''(अथर्व० ३.३०.६)– गुरुकुलों में जात्यादिभेद के विना धनवानों एवं निर्धनों के बालकों को सबको समान नियम, रहन-सहन, वेष-भूषा, भोजन, अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन आदि का अधिकार रहता है।

गुरुकुलों में स्वास्थ्यप्रद एवं पुष्टिदायक, सात्विक भोजन ही दिया जाता है और वैदिक संस्कृति तथा भारतीय सभ्यता के अनुकूल वेष-भूषा, भाषा, आचार-विचार ही व्यवहृत होते हैं। गुरुकुलीय विद्यार्थियों को शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल प्रदान किये जाते हैं। जिससे वे स्वस्थ, क्रियाशील और मेधावी हो जाते हैं। अनेकों विषम-परिस्थियों एवं विघ्नों के उपस्थित होने पर भी धैर्य से उनका सामना करते हुए अग्रसर होते हैं, पर कभी भी आत्महत्या के लिए तैयार नहीं होते। इतना ही नहीं वे धनादि साधनों के अभाव में भी केवल मानसिक संकल्पशक्ति के द्वारा अनेकों महत्कार्यों को सिद्ध करने का सामर्थ्य रखते हैं।

नियमित दिनचर्या, गुरुकुलसेवा, गोसेवा, अतिथिसेवा आदि के द्वारा विद्यार्थी विनम्र एवं निरभिमानी बन जाते हैं।

गुरुकुलों में विद्याबोध के साथ अध्यापन का प्रशिक्षण (Teacher Training),व्यवस्था-प्रबन्धन (Management), नेतृत्व, वक्तृत्व, लेखन आदि कलाओं का भी प्रशिक्षण दिया जाता है।

आर्षविद्या के अध्ययन से आत्माभ्युदय, मोक्षसम्प्राप्ति के साथ देशसमृद्धि, सामाजिक सुख-शान्ति भी सिद्ध होती हैं।

गुरुकुलों में धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक प्रशिक्षण अनिवार्य होता है। सहशिक्षा विवर्जित है। आसन, प्राणायाम, व्यायाम, ध्यान, सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि दैनिक अनिवार्य नित्यकर्मों के प्रमुख अंग होते हैं। गुरु के साथ शिष्य का सम्बन्ध माता-पिता के सम्बन्ध के सदृश ही होता है।

गुरुकुल का प्रशिक्षण व्यापारदृष्ट्या धनार्जन के लिए नहीं होता अपितु इहलौकिक, पारलौकिक सुखों को प्राप्त कराने के लिए होता है।

आचारवान् आचार्यों के द्वारा आदर्शभूत आचरण का अभ्यास कराया जाता है।

विद्यार्थियों को विद्या का बोध सरल, सहज और सुबोध पद्धति से कराया जाता है। जिससे वे उन्नतश्रेणी

में उत्तीर्ण हो जातें हैं। अधीत सभी विषयों की परीक्षायें ली जातीं हैं।

अध्यापन संस्कृत और हिन्दी आदि मातृभाषाओं में होता है।

अंग्रेजी, कम्प्यूटर आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है।

सत्यासत्य, धर्माधर्म, उचितानुचित, विश्वसनीयाविश्वसनीय, वैदिकावैदिक, ईश्वरानीश्वर, आत्मानात्मा, ज्ञानाज्ञान आदि अनेकों विषयों के परिज्ञान से विद्यार्थियों का विवेक विकसित किया जाता है।

प्राथमिक प्रशिक्षण में शुद्ध उच्चारण, सुलेख, संस्कृतभाषा का प्रवेश, सस्वर वेदपाठ, मातापिता, गुरु, अतिथि,विद्वान्, बन्धुमित्र आदि के साथ करणीय यथायोग्य व्यवहार जैसे मधुरभाषण, आदर-सत्कार, आचारानाचार, श्रद्धा-भक्ति आदि का अभ्यास कराया जाता है।

गुरुकुल और महर्षि दयानन्द सरस्वती

मैकाले के विद्याविधान के कारण भारतीयों में एक ऐसी हीन दृष्टि उत्पन्न हो गयी कि – पाश्चात्य सभ्यता, विद्या, चिकित्सा, चरित्र ही महान् हैं, पर वेद, वैदिक परम्परा, संस्कृति, धार्मिकता, मानवता, देशभक्ति, स्वभाषा, नैतिकता आदि महान् नहीं हैं, ये सब असभ्यता के द्योतक हैं। यह इस देश का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। इतना ही नहीं वेदमाता और भारतमाता के सभी मानसपुत्र अपने वैभवोपेत अतीत से, दैवीभाषा संस्कृत से, मानवमात्र के लिए कल्याणप्रद वैदिक संस्कृति से और ऋषि-मुनियों की प्राचीन परम्परा से सर्वथा विपरीत दिशा में बहते जा रहे हैं। आज डाक्टर, इञ्जनीयर, वकील, अधिकारी, नेता आदि बनना सरल है, पर मानव बनना असम्भव जैसा हो गया है। इस शोचनीय विषम परिस्थिति का समाधान केवल वैदिक मार्ग में ही है। अत एव महर्षि देव दयानन्द ने कहा था कि– "हे मनुष्यों ! वेदों की ओर लौटो ।" केवल कहना ही नहीं, अपितु उन्होंने वैदिकमार्ग को प्रशस्त करने के लिए चार वेद गुरुकुलों की स्थापना भी की थी। पर उस समय वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानने वालों में महर्षि दयानन्द अकेले ही थे। वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल कोई अध्यापक व आचार्य के न मिलने के कारण और जो मिले भी थे, वे स्वामी जी के वैदिक नियमों में कटिबद्ध न होने के कारण गुरुकुलों को निरस्त करना पड़ा। पुनरपि स्वामी जी का वह प्रयत्न प्रशंसनीय ही नहीं, अपितु अभूतपूर्व है। क्योंकि वे स्वयं वैदिकधर्म के प्रचारार्थ प्रवचन, शास्त्रार्थ, उत्तर-प्रत्युत्तर, शंका-समाधान, वेदभाष्यादि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन, गोरक्षण आदि बृहद् कार्यों को एकसाथ करते हुए वैदिकआर्ष परम्परा की रक्षा के लिए गुरुकुलों को स्थापित करना, अध्यापकादि के वेतन का और गुरुकुल की व्यवस्था के लिए आर्थिक प्रबन्ध करना कोई सामान्य विषय नहीं है। इतना ही नहीं उस समय यह भारत अंग्रेजों के आधीन था। वे अपने विद्याविधान को भारत में प्रवेश कराने में चारों ओर पूरे प्रयत्नशील थे और वेद गड़रियों,जंगलियों के गीत हैं, संस्कृतभाषा मृतभाषा है इत्यादि अपप्रचार के षड्यन्त्र भी चल रहे थे। स्वामी जी के सामने उस समय यह भी विषम परिस्थिति थी कि येन केन प्रकारेण आर्षग्रन्थों को पढ़ाने वाले विद्वानों की व्यवस्था करने पर भी उन ग्रन्थों को पढ़ने वाले कोई छात्र उत्साह से सामने नहीं आते थे। क्योंकि उस समय के सभी छात्र सिद्धान्तकौमुदी, पुराण आदि अनार्ष ग्रन्थों को पढ़ने में ही रुचि रखते थे और उस समय के जनमानस में यह भ्रम उत्पन्न किया गया था कि ब्राह्मणेतर लोगों को एवं स्त्रियों को वेदादि शास्त्र और संस्कृतभाषा पढ़नी नहीं चाहिए, पढ़ने से पाप लगता है इत्यादि। पाठ्यग्रन्थों का उपलब्ध होना उस समय अत्यन्त दुर्लभ था। इसप्रकार के अनेकों विषम परिस्थितियों में विविध कार्यों में संलग्न रहते हुए भी आर्ष परम्परा की रक्षा के लिए महर्षि के द्वारा प्रयत्न किया जाना किसी महान् उद्देश्य की ओर संकेत है। उनके मस्तिष्क में वह महान् उद्देश्य क्या था? यह उन्हीं के शब्दों में आगे जानें –

महर्षि देव दयानन्द का विज्ञापन

इससे मेरा यह विज्ञापन है आर्यावर्त देश का राजा अंगरेज बहादुर से कि संस्कृतविद्या की ऋषि-मुनियों की रीति से प्रवृत्ति करावें। इससे राजा और प्रजा को अनन्त सुख लाभ होगा और जितने आर्यावर्त वासी सज्जन लोग हैं, उनसे भी मेरा यह कहना है कि इस **सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार अवश्य करें, ऋषि मुनियों की रीति से अत्यन्त आनन्द होगा और जो संस्कृत विद्या लुप्त हो जाएगी, तो सब मनुष्यों की बहुत हानि होगी इसमें कुछ सन्देह नहीं।**

सो यह ठीक-ठीक निश्चय हृदय में भया कि वेद और सनातन ऋषि-मुनियों के शास्त्र सत्य हैं, क्योंकि इनमें कोई असम्भव वा अयुक्त कथा नहीं है। जो कुछ है उन शास्त्रों में सत्य पदार्थविद्या और सब मनुष्यों के वास्ते हितोपदेश है और इनके पढ़े विना मनुष्य को सत्य-सत्य ज्ञान कभी न होगा। इसलिए इनको अवश्य सब मनुष्यों को पढ़ना चाहिए और जिन (ग्रन्थों) को (सत्यार्थप्रकाश आदि में) दूर छोड़ने को कहा कि इनको न पढ़ें , न पढ़ावें, न इनको देखें। क्योंकि इनको देखने से वा सुनने से मनुष्य की बुद्धि बिगड़ जाती है। इसलिए इन ग्रन्थों को संसार में रहने भी न दें, तो बहुत उपकार होगा।

विशेष करके आर्यावर्तवासी मनुष्य जब तक सनातन संस्कृत विद्या न पढ़ेंगे, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग, एक परमेश्वर की उपासना न करेंगे, परस्पर विद्याग्रहण और श्रेष्ठ-व्यवहारों को न करेंगे, परस्पर हित और उपकार न करेंगे, पाषाणादिक मूर्त्तिपूजन, हठ, दुराग्रह, आलस्य, अत्यन्त विषयसेवा, खुशामदी धूर्तपुरुषों का सङ्ग, मिथ्याविद्या और दुष्ट व्यवहारों को न छोड़ेंगे, मिथ्या धननाश और बाल्यावस्था में विवाह के त्याग, ब्रह्मचर्याश्रम से शरीर और विद्याग्रहण जब तक न करेंगे और शरीर, बुद्धि, विद्या धर्मादिकों की रक्षा और उन्नति न करेंगे, तब तक इनको सुखलाभ होना बहुत कठिन है।

आर्यावर्त देश पर मुझ का बहुत पश्चात्ताप है, क्योंकि इस देश में प्रथम बहुत सुखों और विद्याओं की उन्नति थी। बहुत ऋषि-मुनि, बड़े-बड़े विद्वान् इस देश में भये थे, जिनके अच्छे-अच्छे काम और अच्छे-अच्छे विद्यापुस्तक अब तक चले आते हैं और अच्छे-अच्छे राजधर्म के चलाने वाले राजा भी हुए हैं, जिन्होंने कभी पक्षपात का कोई कार्य नहीं किया, किन्तु सदा धर्म न्याय में ही प्रवृत्त भये हैं। सो देश इस वक्त ऐसा बिगड़ा है कि इतना बिगाड़ कोई देश में देखने में नहीं आता है। सो हमारी प्रार्थना सब आर्यावर्तवासी राजा और प्रजा से है कि उक्त बुरे कामों को छोड़ के अच्छे कामों में प्रवृत्त होवें और जो कोई अन्यदेशीय राजा आर्यावर्त में है, उससे भी मेरी प्रार्थना यह है कि इस देश में **सनातन ऋषि-मुनियों के किये उक्त ग्रन्थ और ऋषि-मुनियों द्वारा की गई वेदों की व्याख्या, उसी रीति से वेदों का यथावत् अर्थज्ञान और उनमें उक्त जो व्यवहारों के नियम, उनकी प्रवृत्ति यथावत् करावें। इसी से ही यह देश सुधरेगा, अन्यथा नहीं। और भी यह है– सत्यविद्या और सत्य व्यवहार सब देशों में प्रवृत्त होना चाहिए।** परन्तु आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है, जो कि उक्त प्रकार से प्रथम कही, उसी से इस देश का कल्याण होगा, अन्य देशभाषा से नहीं। अन्य देशभाषा तो जितना प्रयोजन, उतनी ही पढ़नी चाहिए। और विद्यास्थान में संस्कृत ही रखना चाहिए।

सो मैं परमेश्वर से अत्यन्त प्रार्थना करता हूँ कि हे परमेश्वर, हे सच्चिदानन्द अनन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव, हे न्यायकारिन्, हे सर्वशक्तिमन्, हे अज, हे अन्तर्यामिन्, हे सर्वजगदुत्पादक, हे सर्वजगद्धारक, हे करुणानिधे! सब जगत् के ऊपर ऐसी कृपा करें जिससे कि सम्पूर्णविद्या का लाभ वेदादिक सत्यशास्त्रों का ऋषि-मुनियों की रीति से हो। (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र-विज्ञापन– ६,पूर्णसंख्या ११)।

मेरा पूर्णविश्वास है कि **यदि देश में सभ्यता का सूर्य चमके और वेदों का सत्यज्ञान फैले तो अज्ञानी भारत का अन्धकार जिसने जनता को ऐसी अधोगति में डाल दिया है, एक दिन अवश्य दूर हो जायेगा** ।(ऋ०द०स० के पत्र-विज्ञापन २६,पूर्ण० ४६)।

वेद और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान के विना किसी को संस्कृत विद्या का यथार्थ फल नहीं हो सकता। और इसके विना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है।

(ऋ०द०स० के पत्र-विज्ञापन १८,पूर्ण० ८९)।

अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है। मतलबी पण्डित लोगों ने नये-नये श्लोक बनवाकर लोगों के मनों में भ्रम डाल दिया है, यह बड़े ही दुःख की बात है। इसलिए ऐसा हो कि **स्थान-स्थान पर वेदशालाएँ (गुरुकुल) हों, उनमें वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवायी जावें अर्थात ् वेदाध्ययन के हर प्रकार से उत्तेजना मिले, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए** (पूना प्रवचन,तृतीय दिन)।

हमारे भरतखण्ड देश से वेदों का बहुत-सा धर्म लुप्त हो गया है और रहा-सहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जा रहा है। सदाचार और सच्चाई से हम लोग दूर होते जा रहें हैं, तभी तो हम सबकी दुर्दशा हो रही है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? सनातन आर्षग्रन्थ वेदादि को छोड़कर पुराणों में लिपट रहे हैं और उनकी कल्पित और असम्भव गाथाओं को अपना धर्म समझ रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो असाध्य नहीं है। **वेद और ६ दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए और पढ़े-लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए** (पूना प्रवचन, १४वाँ प्रवचन)।

प्रत्येक सभासदों को न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त हो, उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय (गुरुकुल) तथा आर्यप्रकाश पत्र, इन तीनों के प्रचार के लिए प्रीतिपूर्वक शतांश देवें। अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का व्यय इन तीन विषयों में ही हो, अन्यत्र व्यय नहीं किया जाय (ऋ०द०स० के पत्र और विज्ञापन, भाग-२,पृ० ९११)।

जब तक कन्या, पुत्र आठ वर्ष के हों तब तक माता-पिता उनको अच्छी शिक्षा देवें। इस के पीछे ब्रह्मचर्य धारण करा के विद्या पढ़ने के लिए अपने घर से बहुत दूर आप्त विद्वान् पुरुषों और आप्त विदुषी स्त्रियों की पाठशालाओं में भेज देवें। वहाँ पाठशाला में जितने धन का खर्च करना उचित हो, उतना करें। क्योंकि सन्तानों को विद्यादान के विना कोई उपकार वा धर्म नहीं बन सकता। इसलिए इस का निरन्तर अनुष्ठान किया करें (यजुर्वेदभाष्य ११.५८)।

८.२ वर्तमान में आर्षविद्या की आवश्यकता *

'आर्षविद्या ' इस शब्दप्रयोग से ज्ञात होता है कि सम्प्रति कोई अनार्षविद्या प्रचलित है, जिसके परिप्रेक्ष में आर्षविद्या की आवश्यकता का विचार हमें करना है। प्रथम तो ध्यातव्य विषय यह है कि जो विद्या है, वह अनार्ष नहीं हो सकती जो अनार्ष है, वह विद्या नहीं हो सकती अर्थात् जो अनार्ष है, वह अविद्या, अज्ञान ही हो सकती है। क्योंकि ऋषि का अर्थ है वेद या वेद के साक्षात्कृतधर्मा मन्त्रद्रष्टा। इन दोनों से सम्बन्धित विद्या ही आर्षविद्या है। जो कि मानव को मानवता, नैतिकता, आत्मोन्नति प्रदान करने वाली है। यही सच्ची विद्या है, जो कि विद्या कहने का योग्य है। कहा भी गया है– "**सा विद्या या विमुक्तये**"। तथा च "**विद्ययाऽमृतमश्नुते**" (यजु० ४०.१४), "**विद्यया विन्दतेऽमृतम्**" (केनोप०२.४)। स्पष्ट है कि जो परम लक्ष्यभूत मोक्ष का साधनभूत ज्ञान है, वही विद्या है। ऐसी विद्या में आर्ष-अनार्ष आदि का विभाग कैसे सम्भव है ? इस विभाग की शोचनीय परिस्थिति इसलिए उपस्थित हुई है कि विद्या का लक्ष्य वा उद्देश्य मानवता, नैतिकता, मोक्ष आदि न होकर केवल अर्थ (धन) मात्र रह गया है। अत्यन्त तुच्छ या गौणभूत साधन (अर्थ) ही परम लक्ष्य बन गया है जिस विद्या का, वही आज प्रचलित है। इस तुच्छ साधन से सम्बन्धित होने से ही हम विद्या को अनार्षविद्या या अविद्या कहने के लिए अथवा आर्ष-अनार्ष विभाग में विभक्त करने के लिए विवश हैं। मानव मात्र का परम लक्ष्यभूत मोक्ष की प्राप्ति के लिए विद्या की आवश्यकता सदा से रही है और रहेगी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए परमात्मा ने सर्गारम्भ में मानव समाज को वेदविद्या (आर्षविद्या) दी थी। अतः इस आर्षविद्या की अपेक्षा तो आज भी है एवं आगे भी रहेगी। जब तक मानव जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता। परन्तु सम्प्रति विचारणीय जो आर्ष तथा अनार्षविद्या का विषय है, उसका तात्पर्य मोक्षकरी वेदविद्या एवं अर्थकरी आधुनिक विद्या के विधि-विधान से है।

मानव समाज का निर्माण करने वाले माता, पिता, आचार्य, शासक एवं शिक्षा-विशेषज्ञों को तथा शिक्षार्थियों को विचार कर लेना चाहिए कि शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य क्या है? क्या अर्थ-प्राप्ति मात्र शिक्षा का लक्ष्य है? यदि ऐसा ही है तो ध्यातव्य है– पुराणों की कथाएँ बताती हैं कि लक्ष्मी का वाहन उल्लू पक्षी है, अर्थात् लक्ष्मी सदा उल्लू के ऊपर ही सवार होकर विचरती है। इसका भाव यही समझ में आता है कि जिन लोगों के मस्तिष्क में (ऊपर) अर्थ (लक्ष्मी) मात्र ही परम लक्ष्य बना हुआ है (सवार बनी हुई है), वे लक्ष्मी के वाहक ही माने जा सकते हैं। वे उस दिवान्ध पक्षी के समान[1] विवेकज्ञानरूपी प्रकाश को देख नहीं पाते। इसलिए सम्भवतः पाश्चात्य सभ्यता के लोग दीपकों को जलाने के स्थान पर बुझाते हैं। इसप्रकार के लोग धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, गम्य-अगम्य, नैतिकता-अनैतिकता, मानवता-दानवता आदि का विश्लेषण नहीं कर पाते। इसके विपरीत जो लोग उक्त विषयों के विश्लेषणशील होते हैं, वे तो साक्षात् सरस्वती के वाहनभूत नीर-क्षीर-विवेकी हंस ही होते हैं। ऐसे हंस सदृश विवेकियों के मस्तिष्क में (ऊपर) तो केवल सरस्वती (विद्या) मात्र ही सदा आ विराजती है, न कि लक्ष्मी। हम भारतीय वैदिक व आर्य लोग तो सरस्वती के पुत्र हैं, हमारी संस्कृति, सभ्यता का आधार ही सरस्वती (विद्या) की उपासना (साधना) है। जिन

---

*. यह लेख वेदवाणी (अप्रैल २००८) में प्रकाशित है ।

१. कनक कनक सौगुनी, मादकता अधिकाय । एके खायत बौराय है दूजे पावन बौराय ।।१ ।।
दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति। विवेकहीनो मूढस्तु दिवा नक्तं न पश्यति ।।२।।

लोगों को सुखकरी विद्या, शान्तिदायक ज्ञान की जिज्ञासा होती है, वे भारत के गुरुजनों की सन्निधि को प्राप्त करते हैं और जिन लोगों को अर्थकरी विद्या वा अर्थ मात्र की पिपासा होती है, वे भारत को छोड़कर विदेशों मे जाया करते हैं। हंसों के स्थान पर दिवान्ध पक्षी और दिवान्ध पक्षियों के स्थान पर हंस नहीं रह सकते, अस्तु।

विद्या वा शिक्षा का मूल उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करके अर्थ का अर्जन करना मात्र नहीं है, अपितु उसके साथ-साथ व्यक्तित्व का विकास, दूरदर्शिता, नैतिकता, मानवता, संस्कार आदि की उपलब्धि भी है। व्यक्ति, समाज और देश की समृद्धि में एवं संस्कृति की रक्षा में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इतना ही नहीं गुरु-शिष्य, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, राजा-प्रजा आदि सम्बन्धों के बीच में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। जो इस भूमिका को निभा नहीं सकती वह शिक्षा शिक्षा नहीं है, वह विद्या विद्या नहीं है। उस भूमिका को निभा सकने वाली विद्या तो केवल आर्षविद्या ही है। अतः आज के परिवेश में अर्थकरी विद्या परमावश्यक होने पर भी उसके साथ-साथ में धर्म, संस्कार, संस्कृति, नैतिकता, मानवता आदि को सिखाने वाली शिक्षा (वैदिकशिक्षा) का पूर्णतः न सही अंशतः तो समावेश किया ही जा सकता है। पाठ्यांशों में धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि विषयों एवं महापुरुषों के आदर्शमय जीवनियों के अभाव से बिगड़ती हुई युवापीढ़ी निदर्शन के रूप में सब के समक्ष प्रत्यक्ष है। इस पतन वा परिवर्तन का कारण क्या आर्षविद्या की उपेक्षा नहीं है? समाज के पतन का मूल कारण शिक्षा-पद्धति ही हुआ करती है। अत एव महर्षि दयानन्द ने कहा था कि " **महाभारत से पहले इस देश में सब विद्या ठीक-ठीक प्रचरित थीं। परन्तु पीछे से पढ़ने-पढ़ाने के ग्रन्थ और रीति बिल्कुल बदल गयी। तब से अब तक वही अशुद्ध प्रणाली प्रचालित है**" (पत्र-विज्ञापन, भाग–१, पृष्ठ० १०४)। महर्षि के ये शब्द आज भी पूर्ण प्रासंगिक हैं। दूषित विद्यापद्धति से होने वाले दुष्परिणामों के निवारण हेतु महर्षि ने जो समाधान सुझाया है, वह भी आज पूर्ण प्रासंगिक एवं व्यवहर्तव्य है। वे लिखते हैं कि "**मेरा यह विज्ञापन है आर्यावर्त्त देश का राजा अंगरेज बहादुर से कि संस्कृतविद्या की ऋषि-मुनियों की रीति से (अर्थात् परंपरागत आर्षपद्धति से) प्रवृत्ति करावें। इससे राजा और प्रजा को अनन्त सुखलाभ होगा और जितने आर्यावर्त्तवासी सज्जन लोग हैं, उनसे भी मेरा यह कहना है कि इस सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार अवश्य करें, ऋषिमुनियों की रीति से अत्यन्त आनन्द होगा और जो संस्कृतविद्या लुप्त हो जाएगी, तो सब मनुष्यों की बहुत हानि होगी, इसमें कुछ सन्देह नहीं**" (पत्र और विज्ञापन, भाग–१, पृ० ३५-३६)। तथा च "**आर्यावर्त्तवासी मनुष्य जब तक सनातन संस्कृत विद्या न पढ़ेगे..तब तक इनको सुखलाभ होना बहुत कठिन है**" (वही, पृ० ४०-४१)।

आर्ष विद्या या संस्कार विहीन अद्यतन नव युवा की जीवन शैली से सभी सुपरिचित हैं, अतः उसकी चर्चा की आवश्यकता नहीं है। आज Timepass friendship चलता है अर्थात् बाग-बगीचों में जो कोई एकाकी बैठा हो, उसके साथ बातचीत करने वाला कोई मित्र व साथी न हो तो सीमित समय के लिए एक मित्र को खरीदा जाता है और वह क्रीत व्यक्ति मित्रता का अभिनय करके समय के समाप्त होने पर मित्रता को छोड़कर चला जाता है। इससे बढ़कर विडम्बना क्या होगी? वेद कहता है– "**मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षन्ताम्। मि॒त्रस्या॒हं चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षे। मि॒त्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ समी॑क्षामहे**" (यजु०३६.१८)। कहाँ वेद की यह आदर्शभूत शिक्षा एवं संस्कृति और कहाँ आज का Timepass friendship? यह उन्नति है या अवनति? आज शुद्ध वैदिक ब्राह्मण-परिवार में जन्मा युवक यदि परम्परागत वेशभूषा का धारण करता हो, शिखाधारण आदि सांस्कृतिक चिह्न रखता हो एवं कर्मकाण्ड ही उसकी वृत्ति हो तो उसका विवाह होना अत्यन्त दुष्कर है। एतदर्थ अनेकों निदर्शन हैं। क्या यह सांस्कृतिक पतन नहीं है? **सांस्कृतिक पतन से व्यक्ति, देश और जाति का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।** क्या यह आर्षविद्या के अवमूल्यन का दुष्परिणाम नहीं

है? अस्तित्व को ही दांव पर लगाने वाली अर्थकरी विद्या को भी विद्या कहा जाय तो इससे बढ़कर आश्चर्य इस संसार में और क्या हो सकता है? जिस विद्या से मुक्ति एवं स्वतन्त्रता के स्थान पर बन्धन और पराधीनता प्राप्त हो तो वह विद्या कैसी विद्या है? परिणामों के विपरीत निकलने पर साधनों की न्यूनता को परखा जाता है, जैसे कि रोगों के उपचार में औषधियों को परखा जाता है। अर्थकरी विद्या व भौतिक विद्या का विकास होने पर भी मानव समाज में भयानक विषम परिस्थितियाँ बनती जा रही हैं, तो उपचार में कुछ न्यूनता है। उस न्यूनता का पूरक आर्षविद्या ही है। पूना में प्रवचन देते हुए महर्षि दयानन्द ने भी कहा था कि–''**यदि मुझ से कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है।** वेद और छह दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों (आर्षग्रन्थों) के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए और पढ़े-लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए''(उपदेश-मञ्जरी, उपदेश–१३, पृ० ८९)।

प्राचीन काल में बालक आठ वर्ष तक माता-पिता के संरक्षण में व्यवहार, सभ्यता, विनय, धार्मिकता आदि के शिक्षण के साथ-साथ विद्या का शुभारम्भ करता था, पुनः तदनन्तर गुरुओं की सन्निधि में भी उनके आचार-विचार व्यवहारों से व्यावहारिक कुशलताओं के साथ-साथ शास्त्रीय अध्ययन करता था। परन्तु आज ठीक विपरीत विचित्र परिस्थिति बनी हुई है कि आज का बालक घर में कुछ देखता है, विद्यालय में कुछ और ही पढ़ता है और बाह्य संसार में कुछ और ही अनुभव प्राप्त करता है। घर, समाज और विद्यालय के शिक्षण की इन विषमताओं के परिणामस्वरूप आज का युवक न घर का और न समाज का अवयव बन पाता, अपितु वह एक अपनी नई दुनिया बनाकर स्वच्छन्द जीवन बिताता और वह न जीवन के मूल्य को समझता और न माता-पिता एवं आचार्य के सम्बन्धों को जानता, न ही समाज के प्रति अपना कर्तव्य। अतः इन सभी विषमताओं को दूर कर सामञ्जस्य को संस्थापित करने वाली विद्या तो आर्षविद्या ही है। आर्षविद्या राष्ट्र वा समाज का आत्मा है। अतः उसके विना राष्ट्र निर्जीव होता है।

आज के वैज्ञानिक युग में विविध प्रकार के उत्तमोत्तम बीजों का निर्माण किया जाता है, जिनसे शीघ्रातिशीघ्र अधिक से अधिक फसल, फल-फूल प्राप्त हों। पर आश्चर्य है कि राष्ट्र व समाज के बीजभूत इकाई के निर्माण में निष्क्रियता है। जिसप्रकार उत्तम दृढ़ बीज से उत्पन्न वृक्ष मजबूत जड़ों से युक्त होकर वायु के प्रचण्ड झकोरों को सहने में पूर्ण समर्थ होता है, वह टूटेगा पर उखड़ेगा नहीं। वैसे ही बीजरूप आर्षविद्या से उत्पन्न व्यक्ति मजबूत संस्कारों (जड़ों) से युक्त होकर हरप्रकार के पाश्चात्य आक्रमणों एवं उनकी सभ्यता के प्रचण्ड झकोरों को सहने में पूर्ण समर्थ होगा, वह टूट सकता है, मर सकता है, पर जाति व देश की संस्कृति से उखड़ेगा नहीं। इसके लिये इतिहास साक्षी है। इसलिए आज आधुनिक विद्या के साथ-साथ आर्षविद्या व तत्संस्कार देने की महती आवश्यकता है। आज के परिवेश में आर्षविद्या के विना आधुनिक विद्या अन्धी है और आधुनिक विद्या के विना आर्षविद्या लंगड़ी है। अतः अन्धपंगुवत् दोनों को मिलाकर चलाने की आवश्यकता है। आज समाज को डॉक्टर, इञ्जनीयर, वैज्ञानिक आदि की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक मानवता, नैतिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता से युक्त मानव की आवश्यकता है। अतः उनके पाठ्यांशों में इस प्रकार के अंश नहीं होने चाहिए, जो अपनी वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता के विरुद्ध हो। आज के पाठ्यांशों में बहुत कुछ विरुद्ध विषय पढ़ाये जातें हैं। जैसे चरित्रभ्रष्ट आक्रान्ताओं के आक्रमण व उनका परिपालन ही आज के इतिहास का प्रमुख अंश है। वैदिक समाज और संस्कृति के आधारभूत आर्यों को आक्रन्ता बताना, वेदों में इतिहास, विकासवाद इत्यादि। इन विषयों को निकाल कर इस देश के आदर्श राजा, महाराजाओं का इतिहास एवं आक्रान्ताओं के साथ लोहा लेने वाले

राजाओं और क्रान्तिकारों की वीरता तथा साहस, वेदों का महत्व, आर्षग्रन्थों अर्थात् ऋषि-मुनियों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचार आदि का सन्निवेश किया जाना चाहिए। यह एक दिग्दर्शन मात्र है।

वेदाध्ययन परमधर्म है

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ (मनु ० ३.७५)

मनुष्य को चाहिए कि वह वेदादि आर्षग्रन्थों का स्वध्याय नित्य किया करें और अग्निहोत्र आदि दैवी कर्म भी अवश्य करें। इससे मनुष्य इस जीवन या संसार में चराचर जगत् का कल्याण करता है।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् । (मनु ० ६.८)

वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने तथा सुनने-सुनाने में नित्य तत्पर रहना चाहिए।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।
(तै०उप०, शिक्षा० ११.१)

वेदादि सत्यशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने व उपदेश करने आदि में कभी प्रमाद (आलस्य) नहीं करना चाहिए।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनु ० ४.१४७)

द्विज को सदा अधिकतम समय लगाकर, आलस्यरहित होकर वेद का ही वार-वार अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि उसका यही परम धर्म (कर्तव्य) है, शेष कर्तव्य तो सब गौण हैं।

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ (मनु ० ४.१७)

वेदादि शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के विरोधी (विघ्नकारी) सभी व्यवहारों एवं पदार्थों को त्यागना चाहिए। क्योंकि सभी विघ्नों का सामना करते हुए पढ़ता-पढ़ाता हुआ रहने में ही व्यक्ति के जीवन की कृत-कृत्यता (चरितार्थता) है।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ (मनु० २.१०५)

वेद के पठन-पाठन में और प्रतिदिन करने योग्य सन्ध्योपासना एवं अग्निहोत्र में अनध्याय या अवकाश का आग्रह नहीं करना चाहिए अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में अवश्य करना चाहिए।

८.३. महर्षि दयानन्द के द्वारा निर्दिष्ट आर्षविद्या का स्वरूप और उसका परिरक्षण*

आर्षशब्द का अर्थ है– ऋषिसम्बन्धी।[1] ऋषिशब्द का मुख्यार्थ ईश्वर ही होता है।[2] जैसे कि महर्षि दयानन्द जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद-विषय में "**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम्...**" (निरु० ७.१) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि– "ऋषिः=सर्वदृग् ईश्वरः"। सर्वत्र, सब कुछ देखने, जानने वाला सर्वद्रष्टा (ऋषि) ईश्वर को छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता है– "**नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा**" (बृ० उप० ३.७.२३)। ईश्वर के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग वेदमन्त्रों में भी हुआ है। तद्यथा– "**य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒द् ऋषि॒ र्होता॒न्यसी॑दत् पि॒ता नः॑**" (ऋ० १०.८१.१; यजुः० १७. १७; तै० सं० ४.६.२१; मै० सं० २.१०.२; काठ० सं० १८.१)। इस ऋषि से सम्बन्धित ज्ञान या वेद ही आर्ष शब्द का अर्थ है। ऋषि (ईश्वर) को जानने या प्राप्त करने के लिये तत्सम्बन्धी वेद (आर्ष) को जानने (पढ़ने व पढ़ाने) को ही आर्ष-विद्या की परम्परा कहते हैं। अर्थात् आर्षविद्या का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। ईश्वर (ऋषि) के साक्षात्कार (दर्शन) का कारण होने से वेद के लिए भी गौणार्थ में ऋषि शब्द का प्रयोग होता है।[2] यथा– "**ऋषि॑ चोद॑नः**" (ऋ० ८.५१.३)= **ऋषीणां मन्त्राणां चोदनः प्रेरकः** (द्र०– सायणभाष्य)। इस ऋषि (वेद) के सम्बन्धी अर्थात् वेदार्थ को समझने व समझाने के लिए उपयोगी शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, छह वेदाङ्ग, छह दर्शन आदि साहित्य आर्ष (वैदिक) कहलाता है। इस प्रकार वेद एवं वेदार्थ के लिए विरचित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित ज्ञान ही 'आर्षविद्या' कहाता है। इस सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा सृष्टि के आदिकाल से, ऋषि-मुनियों के युग से आज तक जो चलती आ रही है, उसे ही आर्ष-परम्परा कहते हैं।

आर्षपाठविधि का विधान– उक्त सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के पठन-पाठन का विधान ऋषि-मुनियों ने किया है और इस पठन-पाठन को परमधर्म (परम-कर्तव्य) कहा है। तद्यथा–

१. **द्वे विद्ये वेदितव्ये** (ज्ञातव्ये, पठितव्ये) **इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा– ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा– यया तदक्षरमधिगम्यते** (मु०उ० १.१.४,५)। यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्पूर्ण आर्ष वाङ्मय (अपरा विद्या) का अध्ययन करें और उसका लक्ष्य परा विद्या (क्रियात्मक व व्यावहारिक योगाभ्यास, अध्यात्मविद्या) को कहा है। परा विद्या का लक्ष्य ईश्वर (अक्षर) को कहा है।

२. **ब्राह्मणेन** (ब्रह्मजिज्ञासुना)[3] **निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** (म०भा०, पस्प०)।

३. **उपलब्धौ** (ज्ञाने) **यत्नः क्रियताम्** (पठ्यताम्)। **महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा**

---

*. यह लेख वेदवाणी (दिसम्बर-जनवरी २०२१-२२), आर्षज्योति (जून २०२३) में प्रकाशित हुआ है।

१. ऋषि+अण्=आर्ष–'तस्येदम्' (अष्टा० ४.३.१२०)।

२. इसके लिए लेखक का "ऋषिमीमांसा" (वेदवाणी, नवम्बर-२०१८; आर्षज्योति, अप्रैल, मई–२०२०) शीर्षक का लेख विशेषतया द्रष्टव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह लेख पृ०१-८ पर है।

३. य एतदक्षरं (ब्रह्म) गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः (बृ०उप०३.८.१०)। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति.... विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो (=ब्रह्मविद्) भवति (बृ०उप०४.४.२३)।

वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः (म०भा०, पस्प०)।

४. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ मनु० २.१४०

५. .... एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताश्चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा विंशतिः भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम् (ऋ०भा०भू०, ग्रन्थप्रामाण्या०)।

६. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है (आर्यसमाज का तीसरा नियम)।

प्रथम एवं द्वितीय विधिवाक्य में शिक्षादि वेदाङ्गों का कथन अन्य आर्षग्रन्थों का उपलक्षण समझना चाहिए। वैसे ही छठे विधिवाक्य में भी वेदाङ्गादियों के साथ ही वेद के अध्ययन आदि का कथन अभिप्रेत है। इसप्रकार सम्मिलित विधान के अतिरिक्त एक-एक शास्त्र के अध्ययन का भी विधान प्राप्त होता है। जैसे कि–

१. यद्यपि पुत्र! बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

२. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् (म०भा०,पस्प०)।

३. इदम् (निरुक्तशास्त्रम्) अन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते ....तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च (निरु० १.१५)।

४. यो ह वाविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते पापीयान् भवति..... तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात् (आ०ब्रा० १.१.६) इत्यादि।

आर्षपाठविधि की परम्परा– षडङ्गों के साथ वेद के अध्ययन करने की परम्परा ऋषि-मुनियों के काल से महाभारत के युद्ध तक पूर्णतया चलती रही है। तद्यथा–

१. सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् (रामा०, अयो० १.२०)।

२. नाषडङ्गविदत्रासीत्० (रामा०, बाल० ६.१५,१४.२१)।

३. षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्। (रामा०, सुन्दर० १८.२)

४. वेदं षडङ्गं वेदाहं...(म०भा०,द्रोण० ७.१)।

५. योऽधीते चतुरो वेदान् (म०भा०,वन० ५८.७०)।

६. स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखामधीते स कल्पानधीते, (बृहज्जाबालोपनिषद्० ८.५)।

षडङ्ग का कथन वेदार्थ के उपयोगी अन्य शास्त्रों का उपलक्षक है। अतः पूर्व में वर्णित शाखा, ब्राह्मणादि सभी शास्त्रों का अध्ययन करने से वेदार्थ को जानने में सुगमता होती है और प्राशस्त्य भी होता है।[1] इस विषय में निरुक्त

१. न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति (निरु० १३.१२)। यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ (मनु० ४.२०)

के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है– **''त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति** (दुर्गः, निरु० २.८)। वेद के मन्त्रों में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, अधियज्ञ आदि महान् गूढ अर्थ निहित होते हैं। अतः मन्त्रों के अर्थ की इयत्ता नहीं कर सकते कि–बस इन मन्त्रों का यही अर्थ है। जिसप्रकार अश्वारोही व्यक्ति की कुशलता से अश्व (घोड़े) कुशल और कुशलतर गति करते हैं, उसी प्रकार वक्ता (वेदार्थावबोधक विद्वान्)के वैशिष्ट्य (कुशलता, वेदाङ्गादि शास्त्रों में अप्रतिहतगति) से वेदार्थ में भी उतना ही वैशिष्ट्य (वेदार्थ की यथार्थता, तात्पर्य, स्पष्टता, गूढार्थ की अवगति आदि) हृदयगत होता है। इस प्रकार षडङ्ग आदि शास्त्रों से लेकर वेदार्थ तक प्रखर प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियों को प्राचीनकाल में 'ऋषि' की उपाधि दी जाती थी– **''चतुर्वेदाद् ऋषिः [इत्यभिधीयते]''** (बौ० गृ०-१.७.७)।[१] समाज में षडङ्गविद् वेदवेत्ताओं का बड़ा आदर, सम्मान होता था, साथ में उनका कथन व व्यवहार प्रामाणिक हो जाता था। उनकी वाणी व लेख आर्षकोटि[२] में आ जाता था। महर्षि मनु ने भी कहा है–

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (मनु० १२.१००)

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य और सब के ऊपर वर्त्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्यावाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशीलजनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिए (दया०, सत्यार्थ० ७)।

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्को नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावराः॥ (मनु० १२.१११)

राज्य की धर्मपरिषद् में न्यूनातिन्यून ये दस विद्वान् होने चाहिएं– (१-३) ऋग्वेदादि तीन वेदों के विद्वान्, (४) कार्यकारण भाव को या कारणाकारण को जानने वाला विद्वान्, (५) न्यायशास्त्रविद्, (६) निरुक्त [आदि वेदाङ्गों] का ज्ञाता, (७) धर्मशास्त्रवेत्ता और (८-१०) ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ। तथा च–

वर्णानामयमिदं भविष्यतीति षडङ्गविदस्तत्तथाऽधीमहे (गो० ब्रा० १.१.२७)। वर्णों में यह वर्ण इस रूप वाला प्रामाणिक होगा, ऐसा षडङ्गविद् विद्वान् कहते हैं, उसे हम प्रामाणिक मानकर वैसे ही पढ़ते हैं।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता, आयुक्ताः, अलूक्षा, धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः (तै०उप०, शिक्षा० ११.४)। यदि कर्म या व्यवहार आदि विषयों में सन्देह व धर्मसंकट उत्पन्न हों, वहाँ षडङ्गादि शास्त्रों के परिज्ञाता वेदविद्वान् जैसा निर्णय या व्यवहार करते हैं, वहाँ तुम (सन्दिग्ध) लोग भी वैसे ही व्यवहार करना (परन्तु धर्मभ्रष्ट नहीं होना चाहिए)।

---

१. ऋषिः= मन्त्रार्थद्रष्टा विद्वान् विद्याप्रकाशकः (दया०, ऋ० १.६६.२); अध्यापकोऽध्येता वा (दया०, ऋ० १.१०६.६)। ऋषयः= वेदार्थविदो विद्वांसः (दया०,ऋ० १.१६२.७)। ऋषिम्= वेदपारगाध्यापकम् (दया०, ऋ० १.११७.३)। जो विद्वानों के समीप से उत्तम ज्ञान को पाके ऋषि होते हैं, वे सब को विज्ञान देने से पुष्ट करते हैं (दया०, यजुः० २५.३०)। जो मनुष्य बहुत विद्वानों से अति उत्तम विद्वान् को स्वीकार कर, वेदादिशास्त्रों की विद्या को पढ़कर महर्षि होवें, वे दूसरों को पढ़ा सकें (दया०, यजुः० २१.६१)।

२. ''छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति; आर्षत्वात् साधुः'' इत्यादि वाक्यों से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

पङ्क्तिपावनः षडङ्गविज्ज्येष्ठसामिकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निः स्नातको मन्त्रब्राह्मणविद् धर्मज्ञो ब्रह्मदेयानुसन्तान इति (गौ०ध० २.६.२९; अपि च द्र०– बौ० धर्म० २.८.२; वा० ध० ३.१९)। षडङ्गविद् वेदज्ञ विद्वान् आदि पङ्क्ति-भोजन में सम्पूर्ण पङ्क्ति को पवित्र करने वाले होते हैं।

उद्धृत इन उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में षडङ्गादि शास्त्रों सहित वेदों के अध्ययन करने वाले विद्वान् का समाज में कितना आदर होता था और उनकी प्रामाणिकता प्रायः सर्वथा मान्य थी। परन्तु यह आदर और प्रामाणिकता आदि वेदादि शास्त्रों के अनुकूल आचारवान् विद्वानों की ही थी, न कि आचारहीनों की–

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।।
आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः।।

(वा०ध० ६.३-४)

इस प्रकार सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों की पठनपाठन - परम्परा से यह आर्यावर्त पूर्ण वैभवोपेत था और विश्वगुरु था। यदि वह परम्परा आज भी विधिवत् प्रचलित हो तो यह देश पुनः विश्वगुरु बन सकता है, ऐसा महर्षि दयानन्द का दृढ़ विश्वास था, उनका एक दिव्य स्वप्न था। इसके लिए उन्होंने यथासम्भव पूर्ण प्रयास किया और वह प्रयास आगे चलता रहे, इसके लिए उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थों में आर्षपाठविधि का पाठ्यक्रम भी प्रस्तुत कर उसे प्रचलित करने हेतु आर्षगुरुकुलों को चलाने का कार्य भावी आर्यों को सौंपा। उनके द्वारा लिखित पठनीय आर्षग्रन्थ इसप्रकार हैं–

शिक्षा– पाणिनीय शिक्षा (सूत्रात्मक)।
व्याकरण– अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादि-कोष, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, महाभाष्य।
निरुक्त–निघण्टु, निरुक्त, अव्ययार्थ (आप्त-मुनिकृत)।
छन्दःशास्त्र–पिङ्गलछन्दःसूत्र (पिङ्गल-भाष्यसहित)।
कल्पसूत्र–कल्पसूत्र, आश्वलायन श्रौत-गृह्य, मानवकल्पसूत्र आदि।
ज्योतिष–सूर्यसिद्धान्त आदि, अङ्क-बीज-रेखागणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भविद्या (वसिष्ठ आदि कृत)।
साहित्य– मनुस्मृति, वाल्मीकि-रामायण, महाभारत (विदुरनीति), काव्यालङ्कारसूत्र।
दर्शनशास्त्र–न्याय (वात्स्यायन-भाष्य), वैशेषिक (गौतमप्रशस्तपाद-भाष्य), सांख्य (भागुरि-भाष्य), योग (व्यासभाष्य), पूर्वमीमांसा (व्यास-भाष्य), वेदान्त (बौधायन-भाष्य)।
उपनिषद्–ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।
वेद के पाठ–पद-क्रम (चारों वेदों के), गान (साम)।
उपवेद–चरक, सुश्रुत्, निघण्टु (धन्वन्तरि-कृत), धनुर्वेद (अङ्गिरा आदि कृत), गान्धर्ववेद (नारदसंहिता आदि), अर्थवेद (विश्वकर्मा-त्वष्टा-देवज्ञ-मयकृत चार संहिताएँ)।
ब्राह्मण, वेद– ऐतरेय-ऋग्वेद, शतपथ-यजुर्वेद, साम-सामवेद, गोपथ-अथर्ववेद।

इस पाठ्यक्रम के साथ विविध कलाओं का प्रशिक्षण हो, ऐसा भी स्वामी जी चाहते थे। आर्यावर्त के वैभव के पुनर्दर्शन के लिए, वेद की प्रतिष्ठा के लिए, सम्पूर्ण मानवजाति (विश्व) के सुख, समृद्धि, कल्याण के लिए स्वामी दयानन्द का एक दिव्य स्वप्न था, कि उक्त आर्षपाठ्यक्रम यथावत् प्रचलित हो। आज तक एक भी ऐसा आर्षविद्या का केन्द्र स्थापित नहीं हो पाया है, जहाँ स्वामी जी के द्वारा निर्दिष्ट सभी शास्त्रों का पठन-पाठन हो और सभी कलाओं का प्रशिक्षण होता हो। इस ओर सभी को संगठित होकर तीव्र प्रयत्न करने की महती आवश्यकता है।

आज आर्षपाठविधि के स्थान पर प्रायः अर्थकरी विद्या का पाठ्यक्रम ही प्रचलित है। इसे ही गुरुकुलीय विद्या समझकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मेरा अभिप्राय इस शिक्षाप्रणाली के विरोध में नहीं है। आज प्रत्येक क्षेत्र में आर्यसंस्कारों से संस्कारित विद्वान् आदि का होना अनिवार्य है। उसके लिए सर्वकारीय मान्यता प्राप्त गुरुकुलों को चलाना भी अनिवार्य है। परन्तु उससे कई गुणा अधिक विशुद्ध आर्ष पाठ्यक्रम को चलाने वाले आर्षगुरुकुलों की भी महती आवश्यकता है। इस आवश्यकता की ओर उपेक्षा-भाव रखना अक्षम्य अपराध है, घोर पाप है। क्योंकि इस उपेक्षाभाव से वैदिक-वाङ्मय की सुरक्षा, विद्वत्ता की परम्परा, ऋषि-मुनियों की आर्षपरम्परा, स्वामी दयानन्द के दिव्य स्वप्न आदि सब के सब अन्धकारमय भविष्य के गर्भ में विलीन हो जायेंगे। साथ में यह भी विशेषतया ध्यातव्य है कि–जिसप्रकार आधुनिक शिक्षाप्रणाली में प्राथमिक-विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक के विद्यालयों के नाम से ही ज्ञात होता है कि उसमें क्या-क्या पढ़ाया जाता है और उसका स्तर क्या है? क्या उसी प्रकार गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली में उस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती है? आजकल गुरुकुल दो प्रकार से चल रहे हैं– १. सर्वकारीय- परीक्षा-पद्धति से, २. विना सर्वकारीयपरीक्षा के आर्षशैली से। इनके अवान्तर विभाग भी हो सकते हैं। इनमें सबके लिए प्रायः आर्षगुरुकुल, वैदिक गुरुकुल, दयानन्द आर्षगुरुकुल आदि शब्दों का प्रयोग होता है, चाहे गुरुकुल का प्रकार व स्तर कुछ भी हो। क्या यह आर्ष, वैदिक आदि शब्दों का अवमूल्यन नहीं है, इनका दुरुपयोग नहीं है, क्या इसमें छलावा नहीं झलकता, आजकल तो आवासीय सरकारी स्कूल भी गुरुकुल के रूप से व्यवहृत हो रहे हैं। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है?

पूर्वकाल की अपेक्षा पढ़ने, पढ़ाने वालों में रुचि, जिज्ञासा, सामर्थ्य आदि का ह्रास होता जा रहा है। इसमें आधुनिकता, आजीविका आदि अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु आर्षपरम्परा एवं वैदिक-वाङ्मय की सुरक्षा का प्रश्न तो प्राथमिकतया और अनिवार्यतया विचारणीय बनता ही है। पठन-पाठन के अभाव में अनेकों शास्त्र अनेकों बार लुप्त हुए हैं। इसे सभी विद्वान् भली-भांति जानते हैं और वे अपने प्रवचनों में इसका उल्लेख भी करते हैं। वे ही विद्वान् व्यवहार में आर्षपरम्परा के प्रति उपेक्षा-भाव दिखाते हैं। मैं सभी विद्वानों से विनम्रतापूर्वक एवं आग्रहपूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे अपने कर्तव्यों पर पुनः आत्ममन्थन करें। आज की विषम परिस्थितियों के बहाने क्या आर्षग्रन्थों को भविष्य के गर्भ में विलुप्त होने के लिए छोड़ दिया जाय? विषम परिस्थितियों या आलस्य, प्रमाद, स्वार्थ आदि के कारण ही शास्त्रों की परम्परा लुप्त हो जाती है। इसी ओर संकेत करते हुए महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि कहते हैं– "**वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति...**" (म०भा०पस्प०)। गुरुकुलों में कुछ आंशिक विद्या का ग्रहण कर प्रवक्ता, याज्ञिक, प्रचारक बन जाते हैं। समाज में ऐसे व्यक्तियों की भी आवश्यकता है। सबके अपने-अपने कारण हो सकते हैं। परन्तु शास्त्र की सुरक्षा का प्रश्न तो गम्भीरतया विचारने के योग्य है। ऐसे संकट का समाधान भी ऋषियों के वचनों में ही खोजना चाहिए।[1] इस धर्मसंकट के समाधान को सुझाते हुए हमारे ऋषियों ने कहा है–

१. **सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः** (मनु०४.१७)। वेदाध्ययन और वैदिक परम्परा के विघ्न-बाधाओं एवं धनाद्यैश्वर्यों की सभी दुराशाओं का परित्याग करना चाहिए।

२. **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** (म०भा०, पस्प०)।

३. **स्वाध्यायान्मा प्रमदः....... सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्... स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्** (तै०उप० ११.१)।

४. **यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसञ्च**

१. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः...... यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः (तै०उप०, शिक्षा० ११.४)।

अक्षयञ्च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (शत० ब्रा० ११.५.६.१)। धन-धान्य आदि से परिपूर्ण पृथिवी के दान से जो पुण्य की प्राप्ति होती है, उससे तीन गुणा या उससे भी अधिक अक्षय पुण्य को वह प्राप्त करता है, जो प्रतिदिन वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करता है। इसलिए सब भौतिक आशाओं को त्यागकर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

५. **वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।**
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। (मनु० १२.१०२)

६. **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।**
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। (मनु० २.१६८)

ये सभी वचन केवल परवचन के लिए नहीं हैं, अपितु प्रवचन (आचरण, व्यवहार) के लिए हैं। वैदिक (आर्ष) ग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा की रक्षा का विषय चर्चा में आते ही वित्तैषणा आदि तीन एषणायें विघ्न-बाधाओं के रूप में सामने उपस्थित होती हैं। परिणामतः कामचलाऊ अध्ययन-अध्यापन किया, कराया जाता है। ऐसी प्रवृत्ति वाले को उद्दिष्ट करके ही महाभारत में कहा गया है कि– **बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** (म० भा० १.१.२६७-२६८) अल्पाधीतविद्या से विभूषित व्यक्ति अपने को पण्डित, विद्वान् आदि मानते हुए वेद और वेद की परम्परा का विघातक होता है। इत्यादि इन सभी विषयों को मन में आलोडित करके, महर्षि देव दयानन्द के उद्देश्यों और स्वप्नों को साकार करने हेतु विद्वद्वरेण्य पदवाक्यप्रमाणज्ञ, वैदिक विद्वान्, वेद और स्वामी दयानन्द के अनन्य परमभक्त, आर्षपरम्परा के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को आहुत करने वाले, राष्ट्रियपण्डित सम्मान्य श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने सौ वर्ष पूर्व विरजानन्द आश्रम की स्थापना की थी। और उसमें यावज्जीवन अधिकतम आर्षग्रन्थों को पढ़ाकर गणमान्य विद्वानों का निर्माण किया है। उनके पश्चात् वैदिक विद्वान् राष्ट्रिय पण्डित श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी तथा गुरुवर राष्ट्रिय पण्डित आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी ने उस शास्त्रपरम्परा को पुष्पित एवं पल्लवित किया है। इन तीनों ही विद्वानों ने सभी एषणाओं से मुक्त होकर अपने आपको आर्षपरम्परा के लिए सम्पूर्णतया समर्पित किया। इन सभी विद्वानों ने केवल पठन-पाठन ही नहीं अपितु अनेकों शोधपूर्ण एवं मौलिक वैदिकग्रन्थों का प्रणयन किया और अनुपलब्ध वैदिक वाङ्मय को प्रामाणिकतया प्रकाशित कर विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। विरजानन्दाश्रम में निवास करने वाले जिज्ञासु छात्रों को सभी शास्त्रों को पढ़ाते ही थे, इसके अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोध (Ph.d.) करने वाले शोधार्थियों का भी पूर्ण मार्गदर्शन करते थे और अपेक्षित विषयों को पढ़ाते भी थे। [विरजानन्द आश्रम (पाणिनि महाविद्यालय, रेवली) में यह परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चल रही है]। ये तीनों ही विद्वान् पठन-पाठन, अनुसन्धान एवं लेखन के अतिरिक्त अन्य किसी दुनियाँ में कभी रहे ही नहीं। वे सदा उक्त कार्यों में ही दिन-प्रतिदिन नये-नये उत्साह से प्रवृत्त होते रहे हैं। उनके उत्साहित कार्यों को देखकर गीता के ये शब्द स्मृतिपथ में आ जाते हैं–

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। (गीता० ७.२)
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। (गीता० ९.१)

इतना ही नहीं महर्षि दयानन्द के द्वारा व्याख्यात आचार्य की परिभाषा में इन तीनों ही आचार्यों की जीवनियाँ पूर्णतया चरितार्थ होती हैं–

"**आचार्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, छल-कपट-रहित, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे**" (दया०, सं० विधि०,उपनयन०)।

मनु के वचन से इस लेख को समाप्त करते हैं–

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।। मनु० ४.१४७।।

आलस्य, प्रमाद, स्वार्थ आदि से रहित होकर षडङ्गादि शास्त्रों के साथ निःस्वार्थ भावना से नित्य वेद का ही अभ्यास (पठन-पाठन) करें।

स्वाध्याय और तप

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।। (मनु ० २.१६५)

प्रत्येक द्विज को शास्त्रविहित ब्रह्मचर्यादि तप और व्रतों का पालन करते हुए अङ्ग, उपाङ्ग एवं उपनिषदादि के अध्यात्मविद्या के साथ सभी वेदों को पढ़ना चाहिए, जानना चाहिए ।

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।। (मनु ० २.१६६)

द्विजोत्तम ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता को सभी कालो में यावज्जीवन नाना तपों को तपते हुए वेद का ही अध्ययन करना चाहिए, मनन-चिन्तन करना चाहिए । यही ब्राह्मण का इस संसार में परम तप कहा जाता है।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ।। (मनु ० २.१६७)

जो द्विज माला धारण करके अर्थात् गृहस्थी होकर भी प्रतिदिन नियमित यथाशक्ति अधिकाधिक प्रयत्न-पूर्वक वेदों का अध्ययन करता है, तो वह निश्चय ही चोटी से पैरों तक अर्थात् पूर्णरूप से तप ही कर रहा है, ऐसा माना जाता है ।

यदि ह वा अप्यभ्यक्त अलङ्कृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीत आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते । (शत०ब्रा० ११.५.७.४)

यदि कोई व्यक्ति सुगन्धित द्रव्यों को लगाकर सम्यक्तया अलङ्कृत सुखदायक बिस्तर पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, तो भी वह चोटी से पैर के नाखूनों के अग्रभाग तक तप कर रहा है, ऐसा कहा जाता है ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। (गीता० १७.१५)

मन को उद्विग्न (दुःखी) न करने वाली सत्य, प्रिय और हितकारक वाणी का बोलना तथा सतत स्वाध्याय करना वाचिक तप कहलाते हैं ।

उद्धृत प्रमाणों की वर्णानुक्रमसूची

अ

अ उ इत्यर्धचतस्रो मात्रा० २०४
अं आं इत्यनुस्वारौ २१४ टि०-१
अं इत्यनुस्वारः २१४
अः इति विसर्जनीयः २१३
अकम्पितान् ३१५
अकर्त्तरि च कारके० ३८० टि०-१
अकार उच्चारणार्थो० २१०,२७१ टि०-१
अकारसहितादेव स्वरूपा० २१३ टि०-१
अकारस्य इकारेण उकारेण २१६ टि०-६
अकारस्य विवृतोपदेशः० २६१
अकारादिना वर्णसमाम्नायेन० २७४
अकारार्धमैकारौकारयोरादिः० २१७
अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः २१३ टि०-३,२१३, २७८
अकृत्वा परसन्तापमगत्वा० ३८५
अक्षरं न क्षरं विद्यात् ० २१६
अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धि ० २१६
अक्षराश्रयाः २१० टि०-१
अक्षरेण मिमीते सप्त० १२,३२,३४७
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् ० ७०
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण यो ० २१७ टि०-४
अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि० ३३३
अग्नये पवमानायाष्टाकपालं ० ४७
अग्निं चिनोति, अग्निमारोहन्ति ५१
अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त ० ३२१
अग्निमीळे० ४८ टि०-३
अग्निमीळे इति द्वौ गकारौ० २७० २८५
अग्निमीळे पुरोहितम्० ३३
अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् ० २२
अग्निर्ऋषिः २
अग्निर्देवता वातो देवता० ४६,४८, १२३ टि०-२
अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु ० १८०
अग्निर्माणवकः, सिंहो बालकः ५१
अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः ० ३४४
अग्निर्वा पुरोहितः ६३ टि०-८
अग्निर्हि गायत्री १४ टि०-११
अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ३४३, ३४४
अग्नीधः शरणे रञ् भं च ३४३
अग्नेर्गायत्र्यभवत् ० १२
अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ३३९
अग्ने सम्राड् अजैकपाद ० १९८
अग्नौ चेः ३४०
अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ३४१
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं ० १८२
अङ्गिरोभिर्देवेभिर्देवतया ० १९ टि०-२६
अङ्गोपाङ्गोपवेदानामेवं ० ७५, ७६
अङ्ग्यते ज्ञायते वेदार्थ० २०३
अच अपसर्गात्तः १४१ टि०-३
अचो रहोभ्यां द्वे २७५ टि०-२,२८६
अज्झीनं परेण संयोज्यम् ३५०
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास १२०
अञ्चिघृसिभ्यः क्तः १४६ टि०-१, १५० टि०-६,
अडादीनां व्यवस्थार्थं० १४८ टि०-१,
अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः २११,२६९,२७३, २८२
अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य ० २१९
अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः २६१
अत एव च नित्यत्वम् ५६ टि०-१०
अतः कथमपि न विग्रहादि ० ४४ टि०-८
अतिथिः अभ्येति तिथिषु ० १५६
अतिथिर्येन सन्तुष्ट ० ४३
अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देष्वेव ० १३९ टि०-४
अतिशयित आश्रम० ११४ टि०-४

अतिष्ठन् मनुजेन्द्राणां ० २५२
अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ० २३२
अत्यन्तसंयोगे च ३५४, ३५४
अत्र उ सा सम्पद् यदाहुः ० ३२३
अत्र चतुर्थीषष्ठ्यष्टमी ० ५९
अत्र प्रमाणानि १०५
अत्र वागाश्रय आस्यं ० १९५
अथ चतुरक्षराणामुदाहरणम् ० २८७
अथ जगती २०
अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु ० १३६, १५१
अथ त्रिष्टुप् २०
अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं ० २९४
अथ परिव्राड् विवर्णवासा ० ११५
अथ पशोः प्राणान् ० ३२६ टि०-२
अथ बाह्यः प्रयत्नः २५२
अथ बृहती १७
अथ भैषज्यानि ७९
अथ मुखग्रहणं किमर्थम् ? २७२ टि०-२, २८९ टि०-४
अथ यः पङ्क्तिः पञ्चपदां ० १९ टि०-१३
अथ यदतः परो दिवो ० २६
अथ यदि ते कर्मवि ० ३९६,३९८ टि०-१
अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पय ० ५८
अथ येन पुरुषं दहन्ति स ० ७ टि०-१
अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो ० ३८५
अथ वपामुत्खिदन्ति ० ३२७ टि०-३
अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि ० १९९ टि०-५,२०६
अथ ह वै वैखानसा ० ११३ टि०-१
अथागणान्ताः परस्मै ० १५० टि०-५
अथानन्त्याश्चत्वारस्ते ० २७६
अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके ० १३७
अथानुष्टुप् वागेव सा ० १६ टि०-८
अथापि...ताद्धितेन कृत्स्न ० १५३
अथापि द्विवर्णलोपः ० १४४
अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः ० १५०
अथापि प्रकृतय एवैकेषु ० १५१
अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो ० १४९
अथापि वर्णलोपो भवति ० १४३
अथापि वर्णोपजनः ० १४७
अथापि समुच्चयार्थे भवति ० १६६
अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ ० १३५
अथाप्यन्तलोपो भवति ० १४२
अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति ० १४६
अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादि ० १४२
अथाप्यादिविपर्ययो भवति ० १४५
अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति ० १४५
अथाप्युपधालोपो भवति ० १४३
अथाप्युपधाविकारो भवति ० १४३
अथायोगवाहाः। ≍क इति ० २७५
अद्य अस्मिन् द्यवि १५९
अ॒द्य मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धाना ० ९९
अ॒धः प॑श्यस्व॒ मोपरि॑ ० १००
अ॒धा॒यि॒ ३५
अधिकरणं वर्णानां स्थान ० २०८ टि०-१०
अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं २०२ टि०-३
अध्यापनेन नितरां ० १८९ टि०-७
अध्वरं कामयत इति ० १६८,१७२
अध्वरमधीते वेद इति ० १६९,१७२
अध्वरस्य नेता इति अध्वर्युः १६८,१७२
अध्वरं युनक्तीति अध्वर्युः १६८,१७२ १७४ टि०-१
अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् ३३९,३४३
अध्वर्युर् अध्वरयुः ० १६६
अध्वर्युः अध्वरस्य नेता १५७
अनः = शकटमिव ६५
अनचि च २७५ टि०-२,२८०, २८५,२८६,२९२
अनन्तमव्ययं कविम् ९ टि०-१,
अनन्ता हि दोषा ० २२८
अनन्त्यश्च भवेत् ० २७५
अनन्त्यान्त्यसंयोगे ० २७५
अनादिनिधना नित्या ० ५८

अनादिमव्यवच्छिन्नां	५६ टि०-१०
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ०	८५
अनु त्वा माता मन्य ०	३२९
अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं ०	३५
अनुदात्तं पदमेकवर्जम्	३०८ टि०-३, ३११
अनुदात्तं सर्वमपादादौ ०	३५ टि०-१, ३१५ टि०-३३
अनुदात्तः परः शेषः स ०	२३१ टि०-२
अनुदात्तादुदात्तश्चेत्स्वरितो ०	३००
अनुदात्तादुदात्तश्चेदनुदात्त ०	३००
अनुदात्तोपदेशवनति ०	१४२ टि०-२
अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो ०	३००
अनु = पश्चात् मुखस्य ०	२११
अनु पश्चाद् अर्थात् अन्य ०	२१४
अनुप्रदानात् संसर्गात् ०	२६३
अनुप्रदीयते अनेन वर्ण इति ०	२२५ टि०-१
अनुप्रदीयते = उपादीयते ०	२२५
अनुष्टुप् कुहूः	१७ टि०-७
अनुष्टुप् छन्दस्तदायुर्मित्रो ०	१७ टि०-८
अनुष्टुप्छन्द इन्द्रियम् ०	२९
अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः ०	१७ टि०-९
अनुष्टुबनुस्तोभनात्	१६ टि०-७
अनुष्टुबायतनानि ०	१७ टि०-१०
अनुष्टुबुदीची	१७ टि०-११
अनुष्टुबेव सर्वम्	१७ टि०-१४
अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः	१७ टि०-२
अनुष्टुब् वै प्रजापतेः स्वं ०	१७ टि०-१
अनुष्टुभा = अनुष्टुप् ०	१७ टि०-१८
अनुष्टुभा प्रतिष्ठा ०	१७ टि०-१९
अनुष्टुभा वै वाचा ०	१७ टि०-३
अनुष्टुभेन = अनुष्टुब्विहिता ०	१७ टि०-१८
अनुष्ठेयं बादरायणः ०	११४
अनुस्वारयमा नासिक्याः	२१५, २१५, २६३, २६५, २७०, ३१६, २७३ टि०-३, २८५ टि०-५, २८९ टि०-४,
अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ०	२७३, टि०-२
अनुस्वारस्य वेदे शलि रेफे ०	२१४, २६३
अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च	२८८
अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः	२८९ टि०-१
अनुस्वारो विसर्गश्च ०	२७०, २७४ २७६ टि०-२
अनुस्वारो व्यञ्जनञ्चाक्षराङ्गम्	२१६
अनुस्वारो व्यञ्जनं वा ०	२८९ टि०-१
अनूपा अनुवपन्ति लोकान् ०	१४९
अनेकसंशयोच्छेदि ०	३८०
अनेकान्तत्वे त्वानन्तर्य ०	३४९ टि०-३
अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर	२८३ टि०
अनेकार्था धातवः	५३, १७३
अनो वायुरनितेःअपि ०	६५
अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु ०	२७५
अन्तरिक्षदेवत्यो हि प्राणः	२४ टि०-१
अन्तरेणापि निमित्तशब्दं ०	५१ टि०-२
अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन	८३
अन्तस्थवर्णकारो वायु ०	२१२
अन्तस्था द्विप्रभेदाः ०	२१२, २१२, २१३
अन्धं तम इवाज्ञानं	३८१ टि०-१
अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न ०	२९४
अन्धेन नीयमानो यथान्धः	१०९
अन्नमु वाऽआयुः	५१
अन्नमु वै पशवः	३२३ टि०-१
अन्नरसभोजिनी देवता ०	४२
अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं ०	५९
अन्या वामन्यामप्येति	६० टि०-३
अन्वग्भवति व्यञ्जनम्	२१०, २८८ टि०-४, २८९
अन्वग्भवतीति अनुगच्छती ०	१५७ टि०-२, २१० टि०-२
अन्वर्थत्वं महासंज्ञाः	२९५, टि०-२
अन्ववसर्गो गात्राणां ०	२९८

अन्ववसर्गो मार्दव खस्येति ०	२२१,२९८
अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते ०	१६५, १६७
अन्वैति	३७ टि०-२, ३८
अपञ्चमात्पदे नित्यं पञ्चमेषु ०	२७५
अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं ०	२७५
अपर आह—साक्षादेव गायत्री ०	२८
अपरिसमाप्ता ह्युणादय इति ०	१४० टि०-१
अपवृक्ते कर्मणि लौकिकः ०	३४१
अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ ०	२२३ टि०-७
अपि वा, असुरत्वम् ०	१४४
अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् ०	४३ टि०-१
अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्ता ०	१३५
अप्तृन् ...पोतृप्रशास्तृणाम् ०	३४३ (४)
अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् ०	३३९ टि०-२
अप्लुतवदुपस्थिते	२
अबध्नन् पुरुषं पशुम्	३२१
अबोध्यग्निः समिधा ०	११०
अभिनिहितप्रश्लिष्टजात्य ०	२३१
अभिनिहिते च	३१२ टि०-२८
अभि वाणीर्ऋषीणां सप्त ०	१२ टि०-१, ३२ टि०-२, १९२ टि०-३
अभी३दमेकमेको अस्मि	२३२
अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं	२२९ टि०-८
अमर्त्या---मरणधर्मरहिता	७२ टि०-२
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः	२८ टि०-१
अमृतमायुः	५१
अमृतेनैवाऽऽयुरात्मन् ०	५१
अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं ०	९८
अयं निजः परो वेति ०	९९, ३८५
अयं मध्यमो बृहती	१८ टि०-९
अयं वै लोकोऽगायत्री	१४ टि०-५
अय पय गतौ शतर्युपसर्गस्य ०	१५८
अयमपि पादान्तज्ञाने ०	३६
अयमपि वर्णागमो विधीयते	२८७
अयमु ᳲजिरुपध्मानीयोपधः ०	२१४
अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ०	२८६ टि०-१,२८९
अर्चन्त्यर्कमर्किणः	२७७,
अर्थः अर्त्तेः	६९ टि०-१४
अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः	१७७ टि०-४
अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं ०	६ टि०-१
अर्थनित्यः परीक्षेत	१३९ टि०-१, १४७ टि०-३, १७७ टि०-३, १६०,१८०
अर्थनिमित्तक एव शब्दः	१९१
अर्थपरिज्ञानफला हि वाक् ०	१९४ टि०-१
अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा ०	५० टि०-२
अर्थप्राधान्येनानादृत्य	१४८ टि०-४
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं	२०३ टि०-२
अर्थवादाः स्वार्थप्रतिपादने ०	५० टि०-३
अर्थवेदोऽन्नपानादिप्रदान ०	७५
अर्थात् पदं साभिधेयं	१४८ टि०-४
अर्थान्तरे च यद् वृत्तं ०	१६८,१७४
अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु ०	२०३
अर्थाभिधानार्थश्च मन्त्रप्रयोगः	२९
अर्थावबोधनार्थं भविष्यति	१ टि०-५, ४१ टि०-१
अर्थावबोधे निरपेक्षतया ०	१३५,१३६ टि०-१, १८३
अर्थो नित्यः परीक्षेत ०	१४७ टि०-३, १९४ टि०-१, २०३ टि०-२
अर्थो हि प्रधानः, तद्गुणः ०	१३४ टि०-२, १७७ टि०-३
अर्थो हि प्रधानं, तद्गुणः ०	१३४ टि०-२, १३७ टि०-३, १४८ टि०-४,१७९
अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य ०	२१७
अर्धमासाः परूंषि ते ०	१२८
अर्धमासाः पर्वाणि	१२२ टि०-२
अर्धमासे देवा इज्यन्ते	१२३

अर्धे पादेऽस्य भागे ० ३४८
अलाबुवीणानिर्घोषो ० २१४
अलाय्यस्य परशुर्ननाश ३४
अल्पप्राणमहाप्राणयोः ० ३०६,३०६
अल्पप्राणा इतरे सर्वे २२६
अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् २९४
अवकीर्यते इत्यवकरः ० ५२ टि०-७
अवग्रहो यदा नीचप्रोच्च २२३ टि०-६
अवधूताश्रमो देवि कलौ ० १०३
अवन्ति जगत् स्वोदकेन ६६
अवसं पथ्यदनम् - अवते ० १६०
अविकृष्टान् ३१५
अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे ० ३
अविदित्वा ऋषिं छन्दो ० ११,५७ टि०-५
अविद्यमाने सामान्ये ० १३९, १६०, १४७ टि०-२
अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु ० २६९, २७३
अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य २०८ टि०-३ २७४ टि०-१
अशक्त्यज्याप्रमेयं च ० ५६ टि०-११
अशरीरं यमं विद्यात् २७६ टि०-२
अशरीरमिति स्वर ० २७०, ३१६, २७६ टि०-३,
अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेया ० २७०
अश्मा जागतम् २९
अश्वपत्यादिभ्यश्च १६७, १७१
अश्वालम्भं गवालम्भं ० ३३०
अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालं ० ३३८
अष्टा ऊष्माणः २८३
अष्टाक्षरा गायत्री १४ टि०-३
अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती २० टि०-२४
अष्टाविंशतिरेव धननामानि १८३
अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक् १६,१६ टि०-१
अष्टौ वसवोऽष्टाक्षरा ० १४ टि०-३
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः १९९ टि०-२, २०९ टि०-१
असंख्येयप्रमाणानि वृत्ता ० १३ टि०-२
असतश्च विवक्षा भवति ५२ टि०-९
असन्दिग्धान् स्वरान् ० २३०, ३१५
असर्वेषु सर्ववचन १०४
असावुत्तमः त्रिष्टुप् २० टि०-१६
असुरघ्ने....यतये ११२ टि०-२
असुरत्वम् आदिलुप्तम् १४४
असौ (द्यौः) जगती २१ टि०-५
अस्ति किञ्चिदुच्चारण ३०३ टि०-३
अस्ति जगतः किमपि ३८१
अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः ३८१
अस्ति वेदोदितो लोको ३८२
अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो ० ३४,३७ टि०-२
अस्मासु भद्रा द्रविणानि ७०
अस्मिन् एवार्थे... इत्याकारः ७ टि०-२
अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् १४७
अस्यतेस्थुक् १४७
अस्य योगः अयोगः ० २७४
अहं क्रतुरहं यज्ञः ३३३
अहं न्य१न्यं सहसा २३१
अहं ब्रह्मास्मि ५२
अहं राष्ट्री संगमनी २०५ टि०-३
अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि ३२६ टि०-१
अहमेव स्वयमिदं वदामि ३८५
अहरतिसृता मुहूर्त्ताः ३५४
अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या ० ११६
अह्नः खः क्रतौ ३३९

आ

आकाशवायुप्रभवः २५०, २५२
आकाशवायुप्रभवः शरीरात् ० १९१, २५५
आकृतिग्रहणात् सिद्धम् ० २६० टि०-५
आक्षिप्तं स्वरितम् २९५
आक्षिप्तः स्वरितः २२२,३०२ टि०-२
आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं २२२ टि०-२,३०२
आगमा अपि षष्ठी ० २८८ टि०-६

आग्नीध्रसाधारणादञ् ३४३
आचारहीनं न पुनन्ति वेदा ० ३९७
आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य ० ३९७
आचार्य उपनयमानो ३२८ टि०-४
आचार्यो/ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी ० १११
आचार्यो मृत्युर्वरुणः ० ३२६ टि०-३
आच्छादयति दारिद्र्यं ६९ टि०-२०
आज्येन वै देवाः सर्वान् ० १२६ टि०-२
आढ्यमिदं नगरम् ५२ टि०-५
आ तेन यातं मनसो ० ११९
आत्मयाजी श्रेयान् ० ३२०
आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि ७२ टि०-१
आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि ७२ टि०-१
आत्मानमात्मनः आश्रमाद् ० ११५
आत्मा पुरुषो यजमानः ० ४७
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् ० १९१,२५०, २३५ टि०-३
आदितः सन्दिग्धे १५
आदित्यो वाव पुरोहितः ६३
आदिमत्तादोषो वेदस्य ० ४३ टि०-७
आदिव्यापत्तिः १४५ टि०-१
आदेच उपदेशेऽशिति १४१ टि०-३
आनाय्योऽनित्ये ३४१
आनाय्यो दक्षिणाग्निः ० ३४१
०आनुनासिक्यभेदाच्च..... २१२
आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः २१२
आनुपूर्व्याद् यथाक्रमं ० २८३ टि०-१ २८८ टि०-१
आनुपूर्व्याद्यमानेतान् ० २८७
आनुष्टुभः पुरुष १७ टि०-४
आपो३ ओ ओ ओ ओ ० ३४४
आपो वा अनुष्टुप् १७ टि०-१५
आप्तोपदेशसामर्थ्या ० ५१ टि०-१
आभ्यन्तरत्वं पुनरेषां ० २५३ टि०-२
आयाममार्दवाभिघाताः ३०३
आयामादीनामन्ववसर्गादीनां० ३१० टि०-१५
आयामो गात्राणां निग्रहः २९८
आयामो दारुण्यमणुता ० २२०,२९७ टि०-१, ३००, ३०५ ३०७ टि०-१
आयामो नाम वायुनिमित्त ० २२१ टि०-१, २९७, २९७ टि०-१
आयुर्वेदोऽथर्ववेदश्च धनुर्वेद ० ७५
आयुर्वै गायत्रम् ५१
आयुर्वै घृतम् ५१
आयुषः पालकं वेदमुपवेद ० ७८
आत्त्वीं इमे इति रेफो द्वौ ० २८५
आर्त्विज्यं करिष्यन् वाचि ० २९४
आर्थपत्याच्च ४२ टि०-३
आर्य ईश्वरपुत्रः ९८
आर्षं छन्दश्च दैवत्यं ० १ टि०-५
आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य ० १५२
आलस्यं मदमोहौ च ० ३२८ टि०-३
आवसथात् ष्ठल् ३३८
आवसथ्याधानं दारकाले ० ३३८
आशु अतति, आशु गच्छति ६९ टि०-१७
आश्रमादाश्रममुपनीय ० १०२
आ श्रावयेति चतुरक्षरम्, ४७, ३४५
आस्थापयन्ति सञ्ज्ञपयन्तीत्यर्थः ३२४ टि०-२
आहवनीयगृहशाय्यधो ० ३३८
आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति १२३
आहुतिभिरेव देवान् हुतादः ४२, १२३

इ

इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् १५० टि०-४
इतः प्रदानाद्धि देवा ० १२३
इतः प्रदाना वै वृष्टिरितो ० १२३ टि०-३
इतरे च २८९
इतरेषां तु नादः २२६
इति द्विषष्टिः पदानि १८४
इति नानान्वयोपायैर्नैरुक्ते ० १५४
इति यमसंज्ञका वर्णा ० २६९,२८०

इति विहितयोरीषत् ० २७४ टि०-२
इति श्रीमंचिभट्टविरचितं ० २०० टि०-५
इति स्कन्दस्वामिकृतायां ० १८३
इति स्वरं प्रत्यङ्गत्व ० २८८
इदं तु ते गुह्यतमं ० ३९९
इदं वचनम् २८४ टि०-४
इदम् अन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ ० ३९५
इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत ० ५० टि०-१, २०५ टि०-५
इदमपि सूत्रं गणान्तरेषु ० २८४ टि०-४
इदमुच्चनीचमनवस्थित ० २९८, ३०७ टि०-२
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो ० ४९ टि०-१, १९४ टि०-२
इन्द्रः ...जघान वृत्रं यतिर्न ० ११२
इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि ० ७०, ११८
इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् १६३
इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या ० ४२, ४४
इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः २
इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः ० १०८ टि०-१, १०८
इमं यवमष्टायोगैः ७०
इमां मे अग्ने समिधं ० ११९
इमावैचौ समाहारवर्णौ ० २१६ टि०-६,२१७
इमे पञ्च पशवो विभक्ता ३२३ टि०-२
इमेऽयोगवाहा न क्वचिदु ० २६९,२७३
इमे वै लोका गायत्री १४ टि०-२
इयं (पृथिवी) वानुष्टुप् १७ टि०-१६
इयं (पृथिवी) वै जगती २१ टि०-५
इयक्षसि ३५
इषे त्वोर्जे त्वा ० २२३, २७१
इष्यत एव चतुर्मात्रः ० २००,२१८ टि०-४, २२२ टि०-३
इह खल्वायुर्वेदं ० ७८
इह खल्वायुर्वेद नाम ० ८३
इह त्रिविधा व्यवस्था ० १३७ टि०-२
इहैव स्तम् १०३

ई

ईशानमस्य जगतः ० ४२
ईशा वास्यं ० ४९
ईश्वराभावोऽस्तीति ० ३८२
ईश्वरोऽस्तीति मतिर्यस्य ० ३८२
ईषति गतिकर्मा १५४
ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः २१२, २१२ टि०-५
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः २१२

उ

उच्चनीचमनवस्थित ० २९९
उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ ० २९४, २९४
उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः ० २९५ टि०-३
उच्चैरित्यधिकरणशक्ति ० २९५ टि०-७
उच्चैरित्यस्याधिकरण ० २९५ टि०-८
उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स ० २९७ टि०-१
उच्चैरुदात्तः XVII, २२०, २९४, २९५, २९६ (४), २९७, ३०४, ३०५, ३०७ ३०७, ३०७ टि०-२
उच्चैरुपलभ्यमान उदात्तः ० २९४
उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच् ० २९४, २९५
उत त्वः पश्यन्न ददर्श ० २०२ टि०-९, १९४
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे ० २०३
उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था ० ९८
उत्तमविद्यादानः ६३ टि०-२
उत्तमस्य च छन्दोमान ० ३४४
उत्तरास्तु सुभेषजे ७९
उत्तरैश्चावसितैः २१५
उत्तरोऽनुस्वारः पूर्वस्यांगं २००
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य ० ३२९
उदकात्मन् ओषधयः ८४
उदात्तं त्वेवमाख्यातम ० १३६ टि०-२
उदात्तं भ्रुवि पातेन ० ३००
उदात्तत्वादीनामज्धर्मतया ० २९५ टि०-५
उदात्तत्वानुदात्तत्व लक्षणवर्ण ० ३०९ टि०-१४
उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ ० २९५

उदात्तपूर्वं नियतं ० २२३ टि०-३
उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं ० ३११ टि०-२४
उदात्तश्चानुदात्तश्च ० २९७,३०२ टि०-१
उदात्तसमः शेषः २३१ टि०-२
उदात्तस्योर्ध्वगमनं ० २२२ टि०-१
उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ३०८ टि०९
उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः २२३ टि०-२,२९६
३०८ टि०-४
उदात्तादिशब्दाः स्वरे ० २९५
उदात्तानुदात्तत्वे च ० ३०९ टि०-१४
उदात्तानुदात्तयोर्योगे स्वरितः ० ३१३ टि०-३०
उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् ० २९५
उदात्तानुदात्तसमाहारो ० २९५,३०९ टि०-१४
उदात्तोच्चारणे तस्य देहदैर्घ्यं ० २९७ टि०-३
उदात्तो वाल्मीकेः २००
उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः २२३ टि०-६
उदानः कण्ठस्थानीय ० २३५ टि०-२
उदानस्य पुनः स्थानं ० २३५ टि०-२
उदानो हृत्कण्ठतालु ० २३५ टि०-२
उदीचि दिक् शरदृतु ० १७ टि०-११
उद्यानं ते पुरुष नावयानम् ० ९८
उद्यास्यन् प्रव्रजिष्यन् ११४
उपदेशो द्विविधः ० २७३ टि०-१
उपध्मानेन जन्यत्वाद् ० २१३ टि०-१
उपनीतमात्रो व्रतानुचारी ३
उपनीय तु यः शिष्यं ० ३९५
उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा ० ११८
उपलब्धौ यत्नः ० ३९४
उपवेदः – आयुर्वेदो धनुर्वेदो ० ८०
उप समीपे यो वासो ० १२५
उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे १६४ टि०-१
उपांशु दष्टं त्वरितं ० २२८
उपान्मन्त्रकरणे ३४३
उपायाः शिक्षमाणानां ० १४८ टि०-१
उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः २१४
उभयकरणरहितः प्रचयः ० ३१३ टि०-३०
उभयमिदं गुणेषूक्तम् ० २६१
उभयवान् स्वरितः २८५ टि०-१,२९५
उभये त्वक्षराणि २१५ टि०-४
उरः कण्ठः शिर इति ३०३
उरः कण्ठः शिरश्चैव ० ३०१
उरः स्थानमुदानस्य २३५ टि०-२
उर्मिभिः पिन्वमाने ६६
उर्वशीति पदनामसु १८४
उर्वी सुभगां विपाश ० ६० टि०-५
उलूकयातुं शुशुलूकयातुं ० ३२२,३८५
उषासानक्ता वय्येव ७३ टि०-५
उष्णिक् छन्दः तच्चक्षुः, पूषा ० १६
उष्णिक् छन्दः सविता ० १६ टि०-२
उष्णिग् उत्स्नानात् ० १५
उष्णिहम् = उष्णिहा ० १६ टि०-३
उष्मा=वायुः, तत्प्रधानवर्णा ० २१२ टि०-२

ऊ

ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः २१८, २५८
ऊडादिः कस्मान्न भवति ० ३५३
ऊर्दरम् उद्दीर्णं भवति १५५
ऊर्ध्वभागनिष्पत्तेरप्रत्यक्ष ० २९६ टि०-६
ऊर्ध्वम् आत्तमिति चात ० २२० टि०-२
२९५ टि०-११
ऊर्ध्वया त्वा दिशा ० १९ टि०-२७
ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षा ० २३५ टि०-३
ऊर्ध्वावयवस्य चावयव्य ० २९५ टि०-९
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता ० ३४
ऊष्मप्रकृतिकात् स्पर्शात् ० २८० टि०-३
ऊष्मवायुप्रधाना वर्णा ० २१२
ऊष्मस्वरवर्णकारो० २०८,२१०,२१२
ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगाद् ० २१२ टि०-२
ऊष्माऽघोषो हारितस्य ० २००

ऋ

ऋ ≍क्कौ जिह्वामूले २९० टि०-२
ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः ७९
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् ० ८० टि०-१

ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक ०	५६ टि०-९
ऋचं वाचं प्र पंद्ये मनो यजुः ०	१८८
ऋचं साम यदप्राक्षं ०	७७
ऋचः सामानि च्छन्दांसि ०	७९
ऋचः सामानि भेषजा ०	८२
ऋचि त्रेरुत्तरपदादि ०	१४४
ऋचि साम गायति	४० टि०-१
ऋच्यध्यूढं साम गायति	४० टि०-१
ऋजीषम् अपार्जितं भवति	१४९, टि०-१
ऋतवंस्तऽऋतुथा पर्वं ०	१२८, १३०
ऋतस्यं त्वा देवहविः पाशेन ०	३२८
ऋतस्यं पथा प्रेत	१००
ऋतस्य पन्थामनुं पश्य ०	१००
ऋतावृधौ	३५
ऋतुकालाभिगामी स्यात् ०	१२४
ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः	११५ टि०-२
ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति ०	१२७, १२९
ऋत्विक्कर्मार्हतीति आर्त्विजीनं ०	३४३
ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णि ०	३४२
ऋषति ज्ञानाति ०	२ टि०-२
ऋषभोपानहोर्ज्यः	३४९ टि०-४
ऋषयः=अतीन्द्रियार्थस्य ०	२ टि०-१०
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुष ०	१०६
ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच्छन्दस्तु ०	१, ६ टि०-१, १०
ऋषिः कुत्सो भवति	६४
ऋषिः=यः परोक्षं पश्यति ०	२ टि०-१०
ऋषिः वेदमन्त्रः	२
ऋषिचोदनः	२, ३९४
ऋषिचोदितम्	२
ऋषिच्छन्दोदैवतादि ज्ञानं ०	१ टि०-५, ११
ऋषिद्विषे	५
ऋषिम्=वेदमन्त्रार्थद्रष्टारं	२ टि०-१०
ऋषिर्दर्शनात्	२
ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत्	२ टि०-७
ऋषिर्वेदः, स एव ०	२ टि०-७
ऋषिर्वेदे वशिष्ठादौ ०	१
ऋषिर्हि पूर्वजा ०	२ टि०-४
ऋषिषु प्रविष्टाम्	५६ टि०-६, २०२ टि०-२
ऋषिस्तु ...ज्ञानवृद्धे	२ टि०-१०
ऋषिस्तु वेदे भृग्वादौ ०	१
ऋषीणां नामधेयानि याश्च ०	५८
ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्या ०	५३ टि०-१
ऌ	
ऌति ऌ वा	२७४ टि०-२
ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति	२२०
ए	
एकं सद् विप्रा बहुधा ०	४९ टि०-१, १७१ टि०-३
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं ०	२८८ टि०-७
एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो ०	२१८
एकंया प्रतिधापिंबत् साकं ०	४१
एंकविंशतिधाम्नी वांअनुष्टुप्	१७ टि०-१३
एकस्मिंस्ताल्वादिके ०	२२० टि०-२, २९९
एकस्मिन् पदे उदात्तपूर्वं ०	३११ टि०-२४
एकंहायना मनुष्यां वाचं ०	१८९ टि०-८
एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः ०	२२१, २९५, ३०९ टि०-१२
एकाक्षरा वै वाक्	२५५ टि०-१
एकांदश रुद्रा एकांदशाक्षरा ०	२० टि०-५
एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् ०	१७०
एचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्	२१७
एतच्च ऋति ऋ वा	२७४ टि०-२
एतदप्यनैकान्तिकम् ०	२९८
एतद्वै परं चापरं च ब्रह्म ०	४५
एतद्वै पशूनां रूपं यद् घृतम्	१५३ टि०-१, ३२४ टि०-१
एतद्वै सत्यकाम परं ०	४५
एतमेव प्रव्रजिनो लोक ०	११४
एतस्माद्वा ओदनात् ०	३१९
एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य ०	१५१ टि०-१
एतायामोपंगव्यन्त इन्द्रम्	३७

एतावन्तो वै ग्राम्याः ० ३२३ टि०-२
एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो ० ६
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं ० ३६० टि०
एते पञ्चषष्टिवर्णा ० २८२
एते वदन्ति शतवत् ० ४३, १९४
एते वै कवयः यद् ऋषयः ० ९
एते वै पशवो यद् व्रीहयश्च ० ३२३ टि०-१
एते वै विप्रा यद् ऋषयः ३ टि०-२
एतैश्छन्दांसि वर्तन्ते ० ३३
एतौ च संवृतविवृतत्वरूपा ० २२५
एत्येधत्यूट्सु ३५३
एनं प्राप्य दुरात्मानं क्षयं क्षत्रं ० १३५ टि०-२
एफस्तु रस्य २१३ टि०-२
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो ११६
एवं चत्वारो वेदाः ० ३९५
एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात् ० १५३
एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते ० २९८
एवं तावदपूर्वमंगीकृत्यैव ० ४४ टि०-५
एवं मूर्तानाममूर्तानां ० ४७ टि०-२
एवं य एव वेदा अस्मिन् ० ५६ टि०-१०
एवं विंशतिर्यमाः बह्वृ ० २७२, २८१
एवं व्याकरणेऽपि लक्षण ० १४७
एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति ० ३४०
एवमर्थं यो वेद जानाति ० ३१ टि०-१
एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां ० २ टि०-१
एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् १५१
एष क्रमो वर्णानाम् २०८
एष वै कृत्स्न आत्मा यद् ० १८ टि०-१०
एषां .... आभ्यन्तरत्वं २५३
एषोऽन्तःप्रयत्नः २५२
एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा ८४

ऐ

ऐ औ च्। ह य व र ट् ० २१२ टि०-६
ऐकागारिकट् चौरे १६८ टि०-२
ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे ० ३३०

ओ

ॐ प्राक् प्रपद्ये विभुं भक्त्या ० १९९
ओंकारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतो ० १९६, २०४
ओघः, मेघः, नाधः ० १४६
ओजो वै वीर्यं बृहत् १९ टि०-२
ओ३म् क्रतो स्मर ३३३
ओ३म् तत्सत्श्रीब्रह्मणः ० ३६४
ओषधयः पशवः ३२३ टि०-२

औ

औष्णिहो वै पुरुषः १६

क

कः पुनः प्रक्रमः उरः ० XVII
कः पुनरसौ प्रक्रम इति ० ३०१
ᳵक इति जिह्वामूलीयः २१३
ककारद्वय-यम-मकाराः ० २८७
ककारादिः कमिष्यन्ते ० २०१
ककारादीनामेव प्रथमादिसंज्ञा ० २८४ टि०-४
कखचछ...पफाः..कुँ, खुँ... २८४
कखत ᳵपफत ᳶपूर्वः ० २१३ टि०-४
कखौ चछौ टठौ तथौ ० २८४
कघटितो वर्गः कादिर्वर्गो ० २११ टि०-२
कचटतपाः कुः खछठथफाः ० २८० टि०-१
कथं तर्हीमे शब्दाः ० १४० टि०-३
कथं ह तत्र त्वं हनो ० ८४
ᳵक ᳶपयोः कपकारौ ० २७० टि०-३
कपवर्गपरश्चाग्निवेश्य ० २००
करणमपि २०९
करणम्=आभ्यन्तरप्रयत्नः २५७
करणाधिकरणयोश्च ३७९
करणे यजः ३३८
कर्तरि चर्षिदेवतयोः २
कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधा ० ४८
कर्मणि गुणभूता देवता ४३ टि०-१
कर्मणि देवताप्रीति विधान ० ४३ टि०-५
कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ३४०
कर्मविरोधिजनान् सालावृकी ० १०८

कर्मवेषाद् यत् १५१ टि०-६
कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ४७
कल्प्यो हि वाक्यशेषो ० ३८१ टि०-२
कल्याणवर्णरूपः कल्याण ० १५२
कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्वयः ० २९० टि०-२
कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वा ० २९० टि०-२,२१५
कविर्मनीषी ० ९ टि०-१
कवेरिदं कर्म वा काव्यम् ९
कव्यवाहनः पितृणाम् ३४१
कव्यानि = कवेः क्रान्तदर्शिनः ० ७ टि०-४
काकः कृष्णः पिकः कृष्णः ० ३७३
काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् ५२ टि०-३
काठकाख्ये चरणे वासःशब्दाद् ० २००
का तर्हि फलस्य गतिः ० ४३ टि०-३
कादयो मावसानाः स्पर्शाः २१०
कान्तां ध्यायन्नास्ते देवदत्तः ४५
कामचारश्च वतिनिर्देशे ० ३८१ टि०-२
कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गत ० ८१ टि०-१
कारेण च २०८
कालाः ३५४
कालेन यावता पाणिः पर्येति ० २१८
कालो विवारसंवारौ ० २५८ टि०-२, २६०, २६० टि०-१, २९६ टि०-३
काव्यं छंन्दो० ९
काव्यस्यात्मा ध्वनिः ५२ टि०-१०
किं पुनरास्यम्? लौकिक ० २६० टि०-२
किं पुनरिदं दीर्घयोर्ग्रहण ० २६३
किं पुनरिदं विवृतस्यो ० २६१
किं स्थानमित्युभावोष्ठौ ० २०४
किं स्थानानुप्रदानकरणं ० २०४
किञ्चित्सामान्यविशेष ० १४८ टि०-२
किमियमेकश्रुतिरुदात्ता ० ३१३ टि०-३०
कुँ इति खुँ इति गुँ इति ० २७९
कुँ खुँ गुँ घुँ इति च ते ० २७९
कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः २७९, २८२
कुँ खुँ गुँ घुँ इत्यनन्त्यान्त्य ० २७५
कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येते ० २७९
कुचर इति चरति कर्म ० १६५
कुप्वोः ≍क ≍पौ च २७३ टि०-२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि ० ३३३
कुशिकस्य सूनुः बृहती ० ६० टि०-५, ६४ टि०-१
कुशिको राजा बभूव ० ६४, ६४
कुष्णन्त्याकर्षन्तीति ० ६२ टि०-२
कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा ० ८५
कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ३७७
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो ० ११७
कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च १४६ टि०-२
कृत्यल्युटो बहुलम् २१० टि०-२, ३८० टि०-१
कृत्स्नदेहचरो व्यानो रस ० २३५ टि०-१
कृष्णेन रागेण युक्तः १६२
केकया ईदृशास्तादृशा इति ० ५८
केकयान् आचष्टे इति ० ५८ टि०-२
केचन यतयः सर्वकर्म ० १०८
केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो ० ५३
कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं ० १६५
कोअद्धा वेद क इह ० ३७९
को नु मर्याः १५४
को विकारी कतिमात्रः २०४
क्ँ ख्ँ ग्ँ घ्ँ इत्यादयो ० २७९
क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति ० १३५ टि०-४
क्रंशतेरौषसः प्रकाशः ० ६४ टि०-५
क्रतुयज्ञेभ्यश्च ३३९
क्रतुशब्दः सोमयज्ञेषु ० ३३९ टि०-१
क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ ३३९
क्रियत इति करणम् ० २५७
क्रोशतेः शब्दकर्मणः ० ६४
क्षतात् पापात् त्रायते ६९ टि०-१९
क्षत्रं वा अनुष्टुप् १७ टि०-१२
क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् ६९ टि०-१९

क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत्त्रिष्टुप् ० २० टि०-१२
क्षत्राय॑ त्वमव॑सि न त्वम् ० ३६
क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्य ० २०० टि०-६
क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयो ० ३१३ टि०-३०
क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः अभिनिहिते ० ३१२ टि०-२८

ख

खट् फट् जहि। छिन्धी ० २२८
खरि च ३५३ टि०-१
खार्येका षोडशभिर्द्रोणै ० ३५५

ग

गङ्गायां गावश्चरन्ति ५१
गच्छति पुरः शरीरं ० २५३ टि०-४
ग॒णाना॑ं त्वा ग॒णप॑तिं ० ९
गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं ० १०
गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा ० ११२
गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः १५९
गमहनजनखनघसां ० १४३ टि०-२
गम्यते प्राप्यते पुण्येन ० ६९ टि०-७
गलबिलस्य विकासाद् विवारः २२५
गलबिलस्य संकोचात् संवारः २२५
गाः शब्दान् धारयतीति ० १८९ टि०-४
गात्राणि पर्वशः अङ्गानि ० १२२
गाधा भवतेत्यपि द्विवद् ० ६० टि०-५
गाय॒त्रं चक्षुः १५ टि०-१०
गायत्रं पौष्कलमाग्रेयम् १४ टि०-१२
गायत्रं वै व्रतस्य शिरः, तद्धि ० १४ टि०-९
गायत्रचितं चिन्वीत ब्रह्मवर्चस ० २९
गायत्रछन्दा वै ब्राह्मणः १५ टि०-१
गायत्रमेतदहर्भवति २९
गायत्राः पशवः १५ टि०-९
गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः ० १५ टि०-६
गायत्री छन्दसाम् १४ टि०-९
गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता ० १४ टि०-९, १४ टि०-११
गाय॒त्री व॑सू॒नाम् १५ टि०-२
गायत्री वा इदं सर्वं ० २६, २७
गायत्री वै प्राची दिक् १५ टि०-५
गायत्री वै प्रातःसवन ० १४ टि०-२
गायत्रीषु पुरुषकामायो ० १५
गायत्रीषु स्तुवन्ति प्रतिष्ठायै ० १५
गायत्री सर्वाणि छन्दांस्यपियन्ति १४ टि०-९
गायत्रेण प्रति मिमीत ० ३४७
गा॒य॒त्र्यु॑१ष्णिग॑नु॒ष्टुब्बृ॑ह॒ती १२
गायन्ति देवाः किल गीतकानि ० १२१
गिरौ डश्छन्दसि १६८ टि०-१
गीती शीघ्री शिरःकम्पी ० २३४
गुणत्वे देवताश्रुतिः ४३ टि०-१
गुणालङ्काररीतिरसोपेतः ० ९
गुणालङ्कारसङ्गतावदुष्टौ ० ९
गु॒रुर्भा॒रो ल॒घुर्भ॑व १९६
गुरोश्च हलः १४७
गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः ३४१
गृहाश्रमाधीना एव सर्व ० ११५
गोभिः श्रीणीत मत्सरम् १५३ टि०-१
गोर्धामैतत् प्रचक्षते १९३
गोऽश्वमेव हि बृहती १८ टि०-१५
गौर्न पर्व॒ वि र॑दा ० १९५
ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं ० २२९
ग्राम्या वै पशव आरण्येभ्यः ० ३२३ टि०-२
ग्री॒ष्मेण॑ ऋ॒तुना॑ दे॒वा रु॒द्राः ० १२९, १२७

घ

घञपोश्च १८१ टि०-१
घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाहास ० ३५५
घृ॒तेन॒ सीता॒ मधु॑ना॒ सम॑क्ता ० ७०
घोषो घुष्यतेः १९६

ङ

ङञणनमाः स्वस्थाननासिका ० २०८, २०९

च

चक्षिङः ख्याञ् ० १४९ टि०-१
चतस्रः संहिताश्चक्रे ० ५६ टि०-८
चतुरुत्तरैरेव छन्दोभिरेतव्यम् ० १२ टि०-२

चतुर्णां पञ्चमैर्योगे ०	२७५
चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः ०	२८३
चतुर्थाश्रमं प्राप्तानां येषां ०	१०९
चतुर्दशैव स्तेननामानि	१८३
चतुर्धा३ह्येतस्या एकादशैका ०	२० टि०-४
	२० टि०-२५
	२८ टि०-४
चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' ०	५१
चतुर्विंशतिर्गायत्र्या अक्षराणि ०	१४ टि०-४
चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री ०	१४ टि०-४
चतुर्वेदाद् ऋषिः	३, ३९६
चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुग् ०	२० टि०-१
चतुष्पदा त्रिष्टुप्	२० टि०-३
चत्वारश्च यमा इति वर्णान्तर ०	२८३,२८५ टि०-२
चत्वारश्च यमाः स्मृताः ते ०	२८३
चत्वारस्तु यमाः स्मृताः ०	२८३
चत्वारस्तु यमा प्रोक्ता अव्यक्ताः ०	२७९ टि०-२,
	२८३
चत्वारिंशदक्षरा पंक्तिः	१९ टि०-८
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य ०	१९३
चत्वारो यमाः	२८३
चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति	२७९
चन्दयत्याह्लादयति ०	११
चन्देरादेश्च छः	११
चर्षणिरिति पदनामसु	१८४
चारायणीं महाशिक्षां प्रवक्ष्या ०	१९९
चाषरुततुल्यकाल एकमात्रः ०	२१९
चाषस्तु वदते मात्रां	२१८,२१९,२१९
चित्याग्निचित्ये च	३४१
चिदसि मनासि धीरसि ०	१९१
चैत्रे मासि जगद् ब्रह्म ०	३७६
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः	३१९ टि०-४
चौरादिकस्य स्वार्थे णिजभावे ०	११ टि०-४
च्छ्वोः शूडनुनासिके च	३५३
च्यवन ऋषिर्भवति	६४

छ

छन्दः पादौ तु वेदस्य ०	३२, १०
छन्दयति प्रीणाति रोचत ०	३४७
छदयन्ति बलवन्तं प्राणवन्तं ०	११
छन्दसि च	१५१ टि०-५
छन्दांसि छादनात्	७९
छन्दांसि देव्यः	२९ टि०-१
छन्दांसि वै देविकाः	२९ टि०-१
छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदक ०	२९
छन्दोऽभिधानान्नेति चेत् न ०	२७
छन्दोभिर्वै देवाः सुवर्गं ०	१०
छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं ०	१०
छन्दोभ्योऽन्विष्य तत्वार्थान् ०	१४८ टि०-३
छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति ०	३९६ टि०-२
छन्दोविचित्यां सकलस्तत् ०	१०
छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति ०	१०

ज

जगती =एतच्छन्दोऽभिहितम् ०	२१ टि०-१९
जगती गततमं छन्दः	२० टि०-२७
जगती छन्दा वै वैश्यः	२१ टि०-१५
जगती प्रतीची	२१ टि०-११
जगतीम् =एतच्छन्दोऽभिहितां ०	२१ टि०-१९
जगती वै छन्दसां परमं ०	२१ टि०-६
जगती सर्वाणि छन्दांसि	२१ टि०-७
जगत्यां प्रस्तुतायां श्रोत्रेण ०	२१ टि०-८
जगत्येव यशः	२१ टि०-१३
जगत्यैवास्मै पशून् परिगृह्णाति ०	२१ टि०-१४
जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र ०	४२,४३, ४३
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् ०	७६
जन्माद्यस्य यतः	२७ टि०-१
जलमग्निं वा। ईमिति ०	१८४
जागतं श्रोत्रम्	२९
जागताः पशवः	२९
जागता वै पशवः	२१ टि०-१४
जागतो वैश्यः	२९

जागतो हि होता २९
जातपुत्रः कृष्णकेशः ३४०
जातिदेशकालसमयान ० १२५
जातिलक्षणदेशैरन्यता० २५४ टि०-२
जातो जायते सुदिनत्वे ० ११७
जात्योऽभिनिहितश्चैव ० २३१
जिह्वया=यथा हन्वोर्मध्ये ० १९५
जिह्वा देवानाममृतस्य ० १९५
जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ० १९५
जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणा ० २१२ टि०-४
जिह्वामूलीयो जिह्व्यः २१३
जिह्वामूलेन जन्यत्वाद् ० २१३
जिह्वाया अग्रे मधु मे ० १००
जिह्वायाः=चलनस्वभावं १९५
जीवं वै देवानां हविः ० ३२९
जीवन् पशुस्स्वर्गं लोकं ३२७
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं ० ३९९
ज्ञानान्मुक्तिः ३८१
ज्येष्ठ्यं वै गायत्री १४ टि०-९
ज्योतिरायुषः स्तोमः ३३९
ज्योतिर्वै गायत्री १४ टि०-९
ज्योतिश्चरणाभिधानात् २७
ज्योतिष्टोमाद्यकृत्वा प्रकारा ० १०८

झ

झरो झरि सवर्णे ० १४१ टि०-३
झलां जश् झशि २१४

त

त इमे यमाः २१५
त इह तद्गुणेऽचि परिभाष्यन्ते २९६
त एते वक्तुरभिप्राय ३९६
तं खल्विममक्षरसमाम्नाय ० २१६ टि०-१
तं गीर्भिर्वाचमीङ्खयं पुनानं ० १९०
तच्चादर्शनं बन्धकारणं ० ३८०
तच्छायानुकारिणो हि ते, न ० २७८ टि०-१
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरा ० ३१२
तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभिमत ० २५५
तत्पाठानुवृत्या वेदमन्त्राणां ० ३३२
तत्पुरुषमेधानन्तरं संन्यास ० ११४ टि०-३
तत्प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात् ० ५२ टि०-२, १२६
तत्प्रत्यक्षामनीशानां देवता ० ४४ टि०-४
तत्र ऋग्वेदस्यार्थशास्त्र ० ७९
तत्र कर्मणां भावनापुरस्सर ० ३२०
तत्र चेत् प्रष्टारः स्युश्चतुर्णाम् ० ७८, ८२
तत्र जातः १६७ टि०-७
तत्र द्वितीयो विषयः ० ३३२
तत्र नामाख्यातजानीति ० ५८ टि०-३
तत्र नैकः पन्थाः शक्य ० ३०४ टि०-३
तत्र पूर्वं स्पृष्टतादयश्चत्वारः ० २५३
तत्र भवः १६७ टि०-६
तत्र यः समाने स्थाने ० ३०६
तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी ० २९६
तत्र यमा नाम वर्गेष्वादि ० २६९, २७६
तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो ० ८०
तत्र स्थानं तावत् २०९
तत्र स्पर्शयमवर्णकारो ० २०८, २११, २१५
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ० १८३
तत्राभ्यन्तरश्चतुर्धा – स्पृष्टता ० २५०, २५३
तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने ० १ टि०-५
५७ टि०-५
तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां ० २०९
तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य ० २९९
तत्रोभयधर्मयोगादुभय ० २८८ टि०-८
तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः ० १६२
तत्सादृश्यात् ताच्छब्द्यम् ५२, १६२
तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम् ५१
तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्यम् ५१,१२३
तथा च परिव्राजकाश्च ० १०६ टि०-२
तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय ० १९०
तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य ० २२१
तदासाद्य दशग्रीवः ० १०६

तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम् ० ४८ टि०-२
तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य ० १३९,२०३ टि०-१
०तदिन्द्रो ह वै विखानाः ० ११३ टि०-४
तदीक्षणाय स्वाध्याय ० ३८१ टि०-१
तदुच्यते वासिष्ठशिक्षायां ० २००
तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं ० १३५ टि०-२
तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति ० १५८
तदेनं निरुच्यमानं प्रकाशं ० १३५ टि०-१
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायु ० २ टि०-९
४९ टि०-१
१९४ टि०-२
तद्धितनिर्देशेन वा देवता ० ४५ टि०-२
तद्धितेन चतुर्थ्या वा ० ४५ टि०-१
तद्धैतज्जनको वैदेहो ० ३२० टि०-३
तद् यत् क्रूरीकुर्वन्ति यदा ० ३२४, ३२६
तद् यत् पुरोडाशमनु ० ३२५
तद्यत्र स्वरादनन्तरान्त ० १४८
तद् यथेदं पशवो युक्ता ० ११ टि०-२
तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं ४९
तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ० २ टि०-१०,
५४ टि०-३
तद्यान्येतानि चत्वारि ० १३६, १८२
तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ ० १३७, १७९
तद्योगात् ताच्छब्द्यम् १६२
तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ५६ टि०-१७
तद्वाव स तर्ह्यकामयत ० ११३ टि०-४
तनूनपादिति तनूंऽनपात् २२३
तनोति विस्तारयति ० ६९ टि०-९
तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ० ११४
तपश्चासाधारणो धर्मो ० ११४ टि०-१
तपसा रक्षसो दहः १११ टि०-१
तरति शोकमात्मवित् ११५ टि०-२
तस्मात् सूक्तभाजो हविर्भाज ० ४६
तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं ० १३९ टि०-२
तस्मादर्थविधाः सर्वाः ० ५०
तस्मादियं व्याकृता वाक् २०४
तस्मादुच्चश्रुतीनि ३०८ टि०-१०
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः ० ७९
तस्मान्न सम्प्रयच्छन्ति ४४ टि०-६
तस्य एतानि पर्वाणि ० १२२ टि०-२
तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ३३८
तस्य=नादस्य स्थानगुणधर्मा ० २५५
तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया ० १८३
तस्य निवासः १६७ टि०-३
तस्य प्राणे च या शक्तिर्या ० २५५
तस्य यानि किंशारूणि ० ३२३
तस्य यानि व्यञ्जनानि ० १९६
तस्य समूहः १६७ टि०-२
तस्य हि नित्यमेव प्रशस्तं ० ६३ टि०-१
तस्य हि स्पर्धार्हो जवो वेगः ० ६२ टि०-४
तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् २२२,३०२ टि०-४
३१० टि०-१९
तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्ता ० २३१ टि०-१
३१० टि०-२०
तस्यापत्यम् १६७ टि०-१
तस्येदम् १६७ टि०-४
तस्योदात्ततरोदात्तादर्ध ० २३१ टि०-१
३१० टि०-२०
तात्पर्यं चात्र ऐश्वर्यं देवता ० ६
तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ५१
तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ५१
ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम् ४५ ५१
ताद्धितेनकृत्स्नवन्निगमा ० ३२४ टि०-१
ता नद्यः सप्त सप्त भूत्वा ६५ टि०-५
तानि चेत् समानकर्माणि ० १३९ टि०-३,१६५
तानि ह वा एतानि त्रीण्य ० १५९ टि०-१
तानीमानि छन्दांस्यब्रुवन्नियं ० १४ टि०-९
तान् पर्यग्निकृतान् ० ३२४ टि०-५
तान्यवयवप्रत्यवयव ० १३५
तान्यस्मा अच्छदयंस्तानि ० ११
तान्येतानि त्रीणि प्रकरणानि ० १८३
ताभिः एनं यजमानश्च ० ३२९

ताम् एव सरहस्यां वच्मि ०	७९
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं ०	३०६
ताल्वादिषूर्ध्वदेशे उच्चारणेन ०	२२० टि०-२
ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति	२२५ टि०-१
ता वा एता बृहत्यो यत् ०	१८ टि०-१
तावानस्य महिमा ततो ०	२७
तासां पापिष्ठा निरितः ०	७० टि०-१
तिस्वरितम्	३०९ टि०-१३
तिरोऽन्तर्दधाति	१९५ टि०-२
तिरोऽन्तर्धौ	१९५ टि०-२
तिल्यशिक्यकाश्मर्य ०	३०९ टि०-१३
तिस्रो वृद्धम्	२१९
तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परम्मृदु ०	३१२
तीर्यास्म इति प्राप्ते	१६३
तीव्रार्थतरमुदात्तम् ०	४१ टि०-१, २९४, ३०५, ३०८ टि०-८
तुल्यत्वे पि गानत्व ०	२५४ टि०-२
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्	२६२ टि०-१
तृपन् मरुतः ०	३५
तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया ०	४२
ते च विसर्जनीय जिह्वामूलीयो ०	२७४ टि०-२
तेजो वै गायत्री	१४ टि०-१०
ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः ०	३६० टि०
ते देवा अब्रुवन्–मेदं प्रजापते ०	१३८, १७६
तेन प्रोक्तम्	१६७ टि०-५
तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं ०	४१
ते पूर्वस्य स्वरं न भजन्ते	२७७
ते ब्रुवन् स्वर्गं लोकं गत्वा ०	१८ टि०-३
तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरण ०	२५७
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो ०	२३०, ३१५
तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा ०	२०४
तेऽवर्धन्त	२३१
तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्	५८
तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ०	२५५
तेषामृग् यत्रार्थवशेन ०	३४
तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवा ०	१९०
तेऽसुरा हेलयो हेलय इति ०	१९०
तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरो ०	३१२ टि०-२८
तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ ०	२८
तौ श्वासनादावनुप्रदाना ०	२२५
त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दः	९ टि०-२
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञो ०	११४, १२६
त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः ०	२८२
त्रिंशत्, मैनंहिंसीः ०	२१५
त्रिंशद् धाम वि राजति ०	XVI, १९२
त्रितः तीर्णतमो मेधया	५८
त्रिधा बद्धः = त्रिषु स्थानेषु ०	१९३
त्रिपदा गायत्री	१४ टि०-१
त्रिभिर्विहीनं कुडवैस्तु ०	३५५
त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत ०	१५८
त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था ०	१३७ टि०-२
त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं ०	७२ टि०-१
त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः ०	२६
त्रिष्टुग् राका	२० टि०-२२
त्रिष्टुप् = एतच्छन्दोऽभिहितं	२० टि०-२३
त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः	२० टि०-२०
त्रिष्टुब्दक्षिणा	२० टि०-१४
त्रीणि च ह वै शतानि ०	३७५
त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा ०	१०६
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्को नैरुक्ता ०	३९६
त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः	२९
त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः	२० टि०-१७
त्रैष्टुभो हि वायुः	२० टि०-१८
त्रैस्वर्योपनयेन च	२२१ (२), २२४
त्वं भिषग् भेषजस्यासि ०	८३
त्वन् माह्यर्वाङ् ततो विश्वङ् ०	२०१ टि०-२
त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ०	२ टि०-४
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ०	७२
त्वामीळते अजिरं दूत्याय	११९
त्वामौ द्वितीयायाः	३१५ टि०-३३

द

दक्षिणाकाले यत् स्वं तत् ०	१०४

दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् ० १९९, २९९
दक्षिणो हस्तः – दक्षते ० १६२
दण्डादिभ्यो यत् १५१ टि०-५
दण्ड्यः पुरुष दण्डमर्हतीति ० १५१
दधि मधु घृतमापो धाना ० ३२४ टि०-१, ३२५
दमूना दममना वा, दानमना ० १६०
दमेरूनसिः इति ० १५० टि०-२
दर्शं च पौर्णमासं चाग्निहोत्रं ० ३१९
दश स्थानानि वर्णानां ० १९९ टि०-१
दश हस्त्या अंगुलयो दश ० १६
दशाक्षरा विराट् २८ टि०-४
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना ० ३४९
दिग् हस्तप्रकृतिः (दक्षिणा) १६२
दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः १६७ टि०-८
दिवा पश्यति नोलूकः काको ० ३९० टि०-१
दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तम् १९०
दीयते हि तत्र पितृदेव १२२
दीर्घं द्राघतेः १९६ टि०-१
दीर्घसत्राणि वर्षशतिकानि ० ३३९ टि०-२, ३४०
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः ० ५४ टि०-५
दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ७३
दुरवधारणत्वादुपदिष्टो ० २६१
दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा ० १९०, २०५, २९४
दूरत्वे विवृतता २२४
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ३८०
दृते दृंह मा मित्रस्य मा ० ९९
दृश्यते ज्ञायते विचार्यते ० ३७९
दृश्यते प्रत्यक्षीक्रियते तत्त्वज्ञानं ० ३७९
दृश्यते यत् तद् दर्शनम् ० ३८०
दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् ० १८८
दृष्टिरितिदर्शनम् ३८०
देवतां प्रति गुणभुते ० ४१ टि०-५
देवतापरिचारकाणां तु ततो ० ४४ टि०-७
देवतायाश्च यज्ञसाधनभावो ० ४६ टि०-३
देवता वा प्रयोजयेद् ० ४१ टि०-६
देवतासम्बन्धिनः शब्दस्यैव ० ४५ टि०-५
देवत्तं ब्रह्म गायत १ टि०-२
देवपुरा वा एषा यदुष्णिहः ० १६
देवस्य पश्य काव्यं न ममार ० ५६ टि०-१९
देवा असुरान् हत्वा ० ११
देवान् अस्मिन् प्रीणन्तीति ० १२३
देविकाशिंशपादित्यवाड् ३४०
देवीस्तिस्रो विसर्गस्तु हुकार ० २७१
देवेभ्योऽर्धमासे वषट्कुर्वन्ति १२३ टि०-१
देवो...दीपनाद्वा द्योतनाद्वा० ४८ टि०-१
देवो वः सविता चात्र ० २७९
देहि मे ददामि ते नि मे ० ७३
दोषनिवृत्तये संज्ञा क्रियते ० २८४ टि०-६
द्यावापृथिवीभ्याꣳस्वाहा २१५
द्युतेरिसिन्नादेश्च जः १४५ टि०-२
द्रविणस्युः ६७
द्रव्यदेवते तु सिद्धत्वेन ० ४२ टि०-८
द्रुतं पठन् यथाशास्त्रं ० ३४७
द्रोणमतः प्रमेयम् ३५५
द्रोणस्तु खार्याः खलु ० ३५५
द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि ० ३४२
द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचन ० ३४२
द्वयोश्चास्य स्वरयोर्म० २६४, २७८ टि०-२
द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् १६ टि०-४
द्वात्रिंशदङ्गुलो भवति ० १६ टि०-५
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं ० ३७५
द्वादश वा वै त्रयोदश ० ३७६
द्वादशादित्या द्वादशाक्षरा ० २० टि०-२६
द्विगौ क्रतौ ३३९
द्विधातुजं रूपम्, हिनोतेः ० १५८
द्विनाडिको मुहूर्तः। पञ्चदश ० ३५६
द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि २१७
द्विविधो योगः, लक्षणयोग ० २७३ टि०-१
द्विषतो वधाय २०२
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म ० १
द्वे रूपे संवत्सरस्य मासा ० ३७५
द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह ० १ टि०-१, ३९४

ध

धनं कस्मात्? धिनोतीति ० ६९ टि०-२
धनं द्रविणमुच्यते यदेन ० ६९ टि०-१५
धनुरा तंनोमि ब्रह्मद्विषे १९४
धनुर्वेदो भवत्यत्र परिपन्थि० ७६
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं ० ५६ टि०-१७
धर्मभेदात् संज्ञाव्यवस्था ० ११४
धर्मेण वेदाध्ययनं वेदाङ्गानां० १८७
धर्मो रक्षति रक्षितः ३७७
धातुजं धातुजाज्ञातं समस्ता० १५३
धातुशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा ० २९२ टि०-४
धातूपसर्गावयवगुणशब्दं ० १५३
धामानि त्रयाणि भवन्ति ० १९३ टि०-१
धाय्या सामिधेनी। धेयमन्यत् ३४२
धैर्येण शब्दविद्याऽध्यापक ० १८४
ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा ० १०४
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं ० १०५

न

न करालो न लम्बोष्ठो ० २२८
न किञ्चित् पदं नाम रूपेण० १८०
न क्षरन्तीत्यक्षराणि ० २०१,२१६
न खलु विसर्जनीयादीनां ० २८६ टि०-४
न च देवता फलेन सम्बध्नाति० ४४ टि०-५
न च निरुक्तादृतेऽन्यदङ्गमन्यद्० १३५ टि०-५
न च परिगृहीतं देवतयेति ० ४४ टि०-३
न च मधुकरीवदन्नरसभोजिन्यो ० ४४ टि०-३
न चापवादविषये उत्सर्गो ० १०६ टि०-१
न चेत् उदात्तं वोच्यते ० २३१ टि०-३
न चैव वायुसंयोग एव ० २६२ टि०-५
न तस्यं प्रतिमा अस्ति० २ टि०-५,४९
न त्वत्राग्निशब्दोऽर्थप्रत्यायनार्थ० ४६ टि०-३
नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत् ५९ टि०-३
नदीहीनमिमं देशं दृष्ट्वा ० २०२ टि०-९
न देवता नाम जात्या काचित् ४४ टि०-१
नद्यः कस्मान्नदना इमा ० ६५
ननु कथं वर्णसमाम्नाय ० २५९ टि०-१
ननु चैङः सस्थानतरावर्ध ० २६१ टि०-१
न पापत्वाय रंसिषम् ७०
नपुंसके भावे क्तः १३५ टि०-४
न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ५४ टि०-२
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् २२८ टि०-४
नमः स्रवद्भ्य इत्येतद् ० ६०
नमःस्वस्तिस्वाहा ० ३३८,३४०,३४१
न्यङ्क्वादीनां च १४६ टि०-४
(न) रोचत उपाके ३५
(न) रोचत स्वधावः ३५
न लोकवदिह भवितव्यम् ४२ टि०-६
न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि ० १३, ३२
न वा एतं मृत्यवे नयन्ति ० ३२४ टि०-३,३२७
न वायुं हमसंयोगे ० १९९
न विद्यते घोषः यस्मिन् ० २२६
न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टो ० २०२ टि०-९
न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभि १४१ टि०-२
न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य ० ३४३
(न) स्तनयन्ति ३५
नहि किञ्चित् पदं नाम ० १४८ टि०-४,१७९
न हि तदाकारानुकारि ० २७८ टि०-१
न हि मुख्यसम्भवे गौण ० ५ टि०-२
न हि वयमिन्द्ररूपं प्रत्यक्ष ० ४४ टि०-२
न हि वा अपुरोहितस्य ० ६३ टि०-६
नहो धः १४६ टि०-५
न ह्यक्षरसंनिवेशनमात्राया ० २७
न ह्यतिथिः प्रीयमाणोऽपि ० ४३ टि०-६
न ह्येकेनाक्षरेणान्यच्छन्दा ० १३, ३३
न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषे ० ३, ५४ टि०-२, ३९५ टि०-१
नाक्षराच्छन्दो व्येत्येकस्मान्न ० १३, ३३
नात्र श्रुतिकृतमुच्चैस्त्वम् ० ३०६ टि०-१
नादः स्थानान्तरेषु ० १७१ टि०-२
नादधर्मविशेष उच्चैस्त्वं ० ३०६ टि०-१
नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च २२६ टि०-२, २२६,२२६

नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुं ० १३५
नानुस्वारविसर्गजिह्वामूलीय ० २७७ टि०-१०
नान्यः पन्था॑ विद्यते॒ऽय॑नाय ५४ टि०-२२
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा ० ३९४,२ टि०-३
नाभ्याहन्यान्न निर्हन्यान्न ० २२८
नाम क्रियते निष्पद्यते ० १५० टि०-१
नाम च धातुजमाह निरुक्ते ० ५८ टि०-३
१३६ टि०-३
१३८ टि०-१
नाम रूपं च भूतानां कर्मणा ० ५८
नामानि सर्वाणि सामान्येना ० ५८ टि०-३
नामान्याख्यातजानीति ० १३६
नामास्य गुणतो जज्ञे वसतेः ० ५८
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् १ टि०-४,
१५४ टि०-१,
३१९ टि०-२
नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय ० १६६ टि०-१
नाषडङ्गविदत्रासीत्० २०४,३९५
नास॑दासी॒न्नो सदा॑सीत्० २ टि०-५
नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते ० २११
नासिकामूलेन यमाः २९०
नासिकायां यमानुस्वार ० २७३ टि०-३
नासिक्ययमानुस्वारान् २७३ टि०-३
नासिक्याः वर्णा आगमत्वेन ० २८८ टि०-१
नासिक्या यमाः परस्वरं ० २७७ टि०-१
नास्तिको वेदनिन्दकः ३८२
नास्ति वेदात् परं शास्त्रम् ५६ टि०-१२
निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन ० १३७ टि०-५
निगमशब्दो वेदवाची ० १८२
निघण्टवः कस्मात् ? निगमा ० १७६,१८२ टि०-३
निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः ० ५६ टि०-१८
निण्यम्=निर्णामम् ६ टि०-४
नित्येषु च शब्देषु कूटस्थै ० १४८ टि०-१
नि त्वा॑ दधे॒ वर॒ आ पृ॑थि॒व्या ० ११८
नि=निश्चयो दीयतेऽनेनेति ० ६० टि०-१
निपात एकाजनाङ् ३५०
निपाता आद्युदात्ता भवन्ति ३१५ टि०-३४
निमेषो मात्राकालः स्याद् ० २१७
नियतः पादविच्छेदो ० ३४७
नियमोऽयं जपे होमे ० ११
निरुक्तं तु व्याकरणस्यैव १३९ टि०-५
२०३ टि०-१
निरुक्तं वेदार्थाधिगमोपायः १३५
निरुक्तं पदभञ्जनम् १३५
निर्देश इतिना २०८
निर्दोषं गुणालङ्कारलक्षण ० ९
निर्नामधेयम् ६ टि०-४
निर्म॒ज्ञान॒ं न पर्वणो जभार १२६
निमेषो मात्राकालः स्याद् ० २१७
निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानम् १३६
निर्वचनं प्रकृतिप्रत्यय ० १३६
निर्वचने पदानामवयवार्थाः १३५
निर्वपणकाले व्रीहिमय ० ३२४ टि०-६
निर्विविच्य निर्धार्य वचनं ० १३५
निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे ० ३००
नीचं सोमं विजानीयात् ० ३०५
नीचैरनुदात्तः २२१,२९४,२९७,
३०८,३१० टि०-२३
नीचै रुपलभ्यमानो योऽच् ० २९४
नू इत्था २२३
नूनं व्याकरणं कृत्स्नम् ० २०४
नेदं यदिदमुपासते ५२ टि०-११
नोधा ऋषिर्भवति ६४
नैकपदानि निर्ब्रूयात् १३६,१६५ टि०-१
न्यङ्क्वादीनां च १४६ टि०-४

प

पंक्तिरूर्ध्वा (दिक्) १९ टि०-११
पंक्तिर्वा अन्नम् १९ टि०-२०
पु॒ङ्क्तिश्छ॑न्द॒स्तत्पु॑रु॒षः ० १९ टि०-१४
पंक्तिश्छन्दो मरुतो देवता ० १९ टि०-१५
ᳲ प इत्युपध्मानीयः २१३
पकारवर्गोपहिताच्च ० २११,२८९

पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति ३०४
पङ्क्तिपावनः षडङ्गविज्ज्येष्ठ ० ३९७
पङ्क्त्यै = पङ्क्तिछन्दोऽर्थाय १९ टि०-२५
पञ्च ते पञ्चवर्गा २११ टि०-१
पञ्चपदा पंक्तिः १९ टि०-९
पञ्चविंश आत्मा पञ्चविंशः० ४७
पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति ० १८९
पतति गच्छति जन्मजन्मान्तर ० १८९ टि०-२
पत्नि वाचं यच्छ ३३७
पत्यते ऐश्वर्यकर्मा १४५ टि०-७
पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ३३७
पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रम ० २६८
पदमध्ये विद्यमानाः पञ्चम ० २७६
पदयोरन्तरे काल एकमात्रा ० २२८ टि०-१
पदविवृत्त्यां पादविवृत्तः २२३ टि०-४
पदस्य ३५ टि०-१
पदात् ३५ टि०-१
पदानि च अक्षराणि च ० २२८ टि०-५
पदाभेदेन पादानां विभागो ० ३६
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णे ० १४८ टि०-१
२७८ टि०-१
पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति ३२६
पन्था अन्तरिक्षम् १८३
पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा १६१
पयः पशूनां रसम् ओषधीनां ० १५३ टि०-१
३२४ टि०-१
पयसा पिन्वमानाः ६६
परः सन्निकर्षः संहिता २१६ टि०-५
परमहंस्यरूपं चतुर्थाश्रमं ० १०८
परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं ० ३८०
परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य ० ३८२
परश्चासौ आत्मा च...परमात्मा १६१ टि०-१
परावतः प्रकृष्टाः समाः ० ३६० टि०
परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामो ० ३४१
परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषय ० १९२ टि०-२
परोक्षप्रिया वै देवाः ० ५३
पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्त्य ० ३२४ टि०-५
पर्यग्निकृतानेवोदसृजत् ३२४ टि०-५
पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा ० १२२
पर्ववान् पर्वतः १२२ टि०-१
पर्वाणि सुख्याय विव्ये १२२
पर्वाणि सन्ति यस्य सः १२२
पलानि पञ्चाशदपां धृतानि ० ३५५
पशवो गायत्री १५ टि०-९
पशवो जगती २१ टि०-१४
पशवो वसु ७१ टि०-३
पशवो वा उष्णिक् १६
पशवो वै पुरोडाशः ३२३ टि०-३
पशुः पश्यतेः ३२१ टि०-३
पशुप्रयोगमध्ये प्रचारात् ० ३२५
पशुम् अबध्नन् विराट् ० ३२१ टि०-२
पशुरित्यग्निमाह ३२१ टि०-१
पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत् ० ३२३ टि०-३
पशोर्वै प्रतिमा पुरोडाशः ३२३ टि०-३
पश्चात् पुरस्तादधरादुदक्तात् ० ९
पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं ० १९१ टि०-४
पश्येम शरदः शतम् जीवेम ० ३७३
पांङ्क्तमन्नम् १९ टि०-२०
पाङ्क्तः प्रजापतिः १९ टि०-१६
पाङ्क्ताः पशवः १९ टि०-२१
पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पंचधा ० १९ टि०-२२
पाङ्क्तो यज्ञः १९ टि०-१७
पाठमात्रपरान्नित्यं द्विजातींश्चार्थ ० २०२ टि०-९
पाणेरिज्यादेश्च वः १६० टि०-१
पाथोऽन्तरिक्षम्, पथा ० १६१
पादादावनुदात्तं तु ० ३५
पादान्त एव केचिच्च पाद ० ३४८
पादान्तस्य शब्दस्य उत्तर ० ३४९
पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षर ० ३३
पाप्मा वै वृत्रः ११२ टि०-३
पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या ० ३४२
पारायणतुरायणचान्द्रायणं ० ३३९

पारावारघातिनीम्	१६१
पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु ०	१५१
पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम् ०	३०४ टि०-२
पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो ०	६२
पिजवनः=सम्पदा ०	६२ टि०-४
पितरश्चोपासते	२३०,३१५
पिता दुहितुर्गर्भमाधात्	५०,५९
पिता मात्रा	११२ टि०-१
पिपर्तीति पर्व,ग्रन्थिर्वा	१२२,१२६
पिबा सोममभि यमुग्र तर्दः	३३
पुंसो वा एतद् रूपं यद् ०	२१ टि०-१६
पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्य ०	११७
पुत्रः पुरु त्रायत इत्यविभक्तिको ०	१४४
पुनरेहि वाचस्पते देवेन ०	१८८
पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि	७०
पुनर्हृदि न्यसेन्नीचमिति शास्त्र ०	३००
पुरस्ताद्धितकारी	६३ टि०-५
पुरस्ताद् मनुष्या वा ऋषि ०	३
पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त ०	३२२
पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ०	४१
पुरुषसूक्तस्य नारायण ऋषिः ०	११४ टि०-२
पुरोडाशसत्रं लोक्यम् ०	३२५ टि०-२
पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां ०	३२३ टि०-३
पुरोहितः पुर एनं दधति	६३ टि०-४
पूङ्यजोः शानन्	३३७
पूर्णां तितीर्षुः सरितं रमध्वमिति ०	६१
पूर्णाहुत्या जुहोति	१०३
पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति ०	१०३
पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते	१०६ टि०-१
पूर्वस्याङ्गं भवन्त्येते	२८८
पूर्वान्तवत् स्वरः सन्धौ ०	३४८
पूर्वापरीभूतं भावमाख्याते ०	१३६ टि०-२
पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषा ०	३४२
पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च ०	१९६
पूर्वौ नातिविवर्तयेत्	२३२, ३१५
पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश०	२२
पृच्छामि वाचः परमं व्योम ०	१८९
पृणातेः पर्वशब्दः, पृणातिश्च ०	१२२ टि०-४
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्ण ०	१७१ टि०-१, २५४ टि०-३, २५५ टि०-६
पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम ०	११०
पृथिव्या रूपं स्पर्शा अन्तरिक्ष ०	२०४
पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्	१३९
पैजवनः पिजवनस्य ०	६२
पैजवनस्य=क्षमाशीलस्य ०	६३ टि०-३
पैजवनस्य=वेगयुक्तस्य	६३ टि०-७
प्रकर्षेण वन्यते व्युक्षिप्यत ०	३१२
प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः	१०६ टि०-१
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं ०	३१९ टि०-१
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी ०	२२७
प्रजननं जगती	२१ टि०-१६
० प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण ०	२५
प्रजापतिर्यज्ञः	५१
प्रजापतिर्यज्ञमसृजत	५१
प्रजापतिर्वैखानसः	११३ टि०-१
प्रजापतिर्ह्येकादशिनी	२० टि०-८
प्रणवष्टेः	३४४,३४५,३४५
प्रतिभानस्य नानात्वान्न ०	२७२ टि०-१, २८३ टि०
प्रतिष्ठा वै पंक्तिः	१९ टि०-२४
प्रतिष्ठित्यै एव तदेनं ०	३२६
प्रत्तम्, अवत्तम् इति ०	१४१
प्रत्नं नि पाति काव्यम्	९ टि०-२
प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्	३५
प्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते ०	१६९ टि०-४
प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्	२८४
प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ ०	२११
प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थो ०	२८४
प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य	१३६ टि०-२
प्रथमे पृथिव्यादिलोकदि ०	१८२
प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या	२११

प्र देवमच्छा मधुमन्तु ० ३३
प्र दैवोदासो अग्निर्देवं ० ११०
प्रधानमर्थः शब्दो हि ० १३४ टि०-२, १४८ टि०-४, १७७ टि०-३, १७९
प्रपतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः ० ७० टि०-१
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि १२६
प्रयत्नप्रेरितो वायुर्यदोर्ध्व ० २९६ टि०-४
प्रयत्नविशेषजनितो वर्ण ० २३८ टि०-१
प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे ३४५, ३४५
प्रयोगजानि सर्वाणि प्रायशा ० १३ टि०-२
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दो ० ११५, ३३३
प्रवादास्तत्र दृश्यन्ते ० ६० टि०-५
प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः ३१२ टि०-२८
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि ० ६५
प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो ० ९
प्रसिद्धपरिमाणवस्त्वन्तर ० २६० टि०-३
प्र सृत्वरीणामति ६५ टि०-१०
प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै ० २०५, २९४
प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेना ० ४७ टि०-३
प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः २५१
प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धे ० ११२
प्राजापत्यमेतच्छन्दो यदनुष्टुप् १७ टि०-१
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या० ५६ टि०-१०
प्राण एव गायत्री १५ टि०-३
प्राणं देवा अनुप्राणन्ति ० २५ टि०-१
प्राणा अपाना इह ते ० ८३
प्राणा वा अनुष्टुप् १७ टि०-१७
प्राणा वा एकादशिनीः ० २० टि०-७
प्राणे हीमानि सर्वाणि २५ टि०-१
प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च २५ टि०-१
प्राणो वा आयुः ५१
प्राणो वै गन्धर्वः १८९ टि०-४
प्राणो वै गायत्री १५ टि०-३
प्राणो वै पशुः। यावद्ध्येव ० ३२६
प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ० २५ टि०-१
प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन ० ३०६
प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः ० १९९ टि०-६
प्रातिशाख्यादिशास्त्राणि २०१ टि०-३
प्रायेण चोणादिषु परोक्षवृत्तयः ० १३८ टि०-१
प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते ० ३३
प्रायो नैघण्टुकस्त्वासां प्रयोगा ० ५९ टि०-४
प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः २६०
प्रावहन् सृत्वरीणामासां ० ६५ टि०-१०
प्रियस्थिरस्फिरोरु ० १४९ टि०-१
प्रीतिर्हि स्वर्गः ४१ टि०-२
प्रेति च वा एति च गायत्र्यै ० १५ टि०-४

फ

फलिपाटिनमिमनिजनां ० १४६ टि०-७

ब

बन्धेर्ब्रधिबुधी च १५७
बहवो हि शब्दा एकार्था ० १७०
बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि ५२
बालः...बलो वा प्रतिषेध ० १६३
बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः ० १३८ टि०-१
बाह्यत्वं पुनरेषां विवार ० २५३ टि०-३
बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः २६०
बिठम् अन्तरिक्षम् १८३
बिन्दत्यवयवीभवतीति बिन्दुः ० १४५ टि०-५
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं ० ३९९
बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवाह १८३
बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ५६ टि०-१६
बुध्नमन्तरिक्षम् – बद्धा ० १५७
बुभुक्षितः किन्न करोति ० ६९
बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः १८ टि०-२
बृहती स्वर्गो लोकः १८ टि०-४
बृहती हि संवत्सरः १८ टि०-१७
बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि ० १८ टि०-११
बृहत्यां वा असावादित्यः ० १८ टि०-५
बृहत्या वै देवाः स्वर्गं लोक ० १८ टि०-१३
बृहत्यु ह वा इमान् सर्वान् ० १८ टि०-२
बृहत्यै =बृहतीछन्दोऽर्थाय १९ टि०-६

बृहस्पतिरुष्टाक्षरयानुष्टुभ ० १६ टि०-६
बृहस्पतिरुष्टाक्षरेण गायत्री ० १४ टि०-३
बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् ५६ टि०-५, २०२ टि०-१
ब्रवीतेः शब्दार्थात् १५८
ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ० ५६ टि०-९
ब्रह्मकृतो विपश्चिते पनस्यवे ५६ टि०-९
ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् २० टि०-१२
ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षु ० ११३ टि०-२
ब्रह्मणः सायुज्यमृषयो ० ५४ टि०-१
ब्रह्मणस्त्वः ३४३
ब्रह्म पाङ्क्तम् १९ टि०-२३
ब्रह्मवर्चसं वै गायत्री १४ टि०-७
ब्रह्मवर्चसं वै चतुश्चत्वारिंशः २० टि०-२
ब्रह्म वा ऋक् १ टि०-२
ब्रह्मविद् आप्नोति परम् ११५ टि०-२
ब्रह्म वै गायत्री १४ टि०-७
ब्रह्म वै मन्त्रः १ टि०-२
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम १८९
ब्रह्मैव प्रथममसृजत् ० ५६ टि०-५
ब्राह्मणाः परिव्राजका ० ११४
ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः ० XIII, १८७, ३९४, ३९८, २०२ टि०-८
ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ० ३ टि०-१
ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम् ० १०५
ब्राह्मणो वसन्त आदधीत ० ३६२ टि०-१
ब्राह्मेन मानेन वर्षशतान्ते ० ३५९ टि०-१
ब्रूहिप्रेष्य ० ३४४

भ

भजते सुखानि येन भगः ६९ टि०-४
भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः ६९ टि०-४
भयं चास्य न विद्येत नदी ६३
भरद्वाजस्य वा एतदार्षेयं ० १९ टि०-७
भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ० १२५
भर्ग इति भासयतीमाल्लो ० १५८ टि०-१
भवति हि प्रायोवृत्या ० ७८ टि०-१
भवति हि सादृश्यादतस्मिन्नपि ० १६२
भवद् रमयतीति वा भद्रम् १४४
भाजनवद् वा भद्रम् १४४
भिन्नाविजियजी धातू नियतौ ० १४८ टि०-१, १४९
भुज्यते तद्वद्भिः भुज्यन्ते ० ६९ टि०-८
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं ० ५६ टि०-७, ६८ टि०-१
भूतं भव्यायोपदिश्यते ४२
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः ० ३८४
भूमेरर्धं क्षारसिन्धोरुदक्स्थं ० ३६४
भूम्यां पर्वतमूर्धनि २५२
भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति XIII
भेषजं वा अथर्वाणि ७९, ८२
भेषजं वै देवानामथर्वाणः ० ७९
भो भिषक्! आयुः किम्? ७८
भ्राजभास..ग्रावस्तुवः क्विप् ३४३
भ्रातृव्यस्य वधाय ० २०२

म

[मंह्यते]दीयतेऽर्थिभ्यः ६९ टि०-१२
मकारे व्यञ्जनमित्याहुः १९५ टि०-३
मघमिति धननामधेयं ० ६९ टि०-१२
मञ्चाः क्रोशन्ति ० ५१
मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति १५८, १७९
मत्वेत्यादि मतेः सिवेश्च ० १५८
मधुरं चापि नाव्यक्तं सुव्यक्तं ० २२७
मधुश्च माधवश्च वासन्ति ० ३७४
मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी ० १९२ टि०-१
मध्ये यमः पूर्वगुणः २७६ टि०-४
मध्वस्मिन्नस्ति मधुर्मास इति ३७३ टि०-१
मध्वस्मिन्नस्ति..माधवः मासः ३७३ टि०-१
मनः कायाग्निमाहन्ति स ० २००
मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं ० १८९ टि०-३
मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ ० १९१
मनसैव वाग् धृता १८९ टि०-३, १९१
मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ ० ३२९ टि०-२
मनुर्भव ९८, ३८५

मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा ० १७८
मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु ० ५५ टि०-१
मनेर्धश्छन्दसि १४६ टि०-७
मनो बृहती १९ टि०-४
मनोऽभिहतः कायाग्नि ० २५२
मनोरपत्यं मानुषः मनुष्यो वा १७७
मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च १७७ टि०-२
मनो वै गायत्रम् १५ टि०-७
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि १००
मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो ० १ टि०-५, ५७ टि०-५
मन्त्रा नानाप्रकाराः स्युर्दृष्टा ० ५७ टि०-२
मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽपि ० ३
मन्त्राश्च कर्मकरणाः ३४३
मन्दाक्रान्ता म्भौ न्तौ त्गौ ० ३४८
मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः ० ३२२ टि०-२
मम व्रते हृदयं ते दधामि मम ० ३२८ टि०-२
ममेयमस्तु १०४
मया पत्या प्रजावति सं ० १०४
मय्येवास्तु मयि श्रुतम् १८८
महता प्रयत्नेन शब्दमुच्चरन्ति ० २५२ टि०-१
महत्याः संज्ञायाः करण एतत् ० २९५ टि०-१०
महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः ० ५० टि०-४
महाभाग्याद् देवताया एक ० ४९ टि०-१
मातृतमां सिन्धुम् ६० टि०-५
मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ० ३८५
मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति ० ६६
मात्राकालिकत्वादिकमपि ० २६० टि०-४
मात्राभिः= सूक्ष्मावयवैः १९६
मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणु ० २१९
मा त्वां वोचन्नराधसं जनासः ७०
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु ० २२७
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य ० ३६
मासो देवता, संवत्सरो देवता ४६
मित्रस्यं मा चक्षुंषा ३९१
मित्रो नवाक्षरया बृहतीमुदजय १८ टि०-६
मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत ० २२
मुखं गायत्री १४ टि०-९
मुखं वा एतदृतूनां यद् वसन्तः ३७५
मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः २११,२२८ टि०-६, २८५ टि०-४
मुख्यार्थता च न्याय्या, न ० ५ टि०-१
मुनयो वातरशनाः पिशङ्गां ० ११३
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय ० ११३
मूर्तौ घनः १४५ टि०-३
मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ ० २११
मूर्ध्नि प्रतिहते वर्णोत्पत्तेः ० २५३
मृत्यवे ह्येतं नयन्ति..न वा ० ३२६ टि०-४
मेधा मतौ धीयते १५५
मौनानीहानिलायामा दण्डा ० १०६

य

य आलोचनमात्रेण मन्त्रार्थ ० ४१ टि०-३
य इदं पठते नित्यं ० १९९
य इदानीमुभयगुणः स ० ३०२
य इन्द्रः यतयस्त्वा भृगवो ० ११३
य इमा विश्वा भुवनानि ० २, ३९४
य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं ० ३१५
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा ० ३९४ टि०-३
य एव एतस्मिन् मण्डले ० २६ टि०-३
य एवं विद्वानग्निं चिनुते ३४०
य एव हि श्रुतस्यर्थस्योत्सर्गे ० ४६ टि०-२
य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः० ७६
य एवोदात्त इत्युक्तः स एव ० ३०८ टि०-१०
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि ० २०५ टि०-२
यं यजमानः पुरः पूर्वं ० ६३ टि०-४
यः पृणाति स ह देवेषु ० १२४
यः शब्दादेवावगम्यते, स ० २ टि०-८
यच्च वृत्वा अतिष्ठन् तद् ० १३८ टि०-२
यजजपदशां यङः ३३७
यज देवपूजायाम् इति स्मरण ० ४३ टि०-४
यजमानं वा एतेन सर्वेण ० ३२०
यजमानच्छन्दसमेषोष्णिक् १६

यजमानो वै पंक्तिः	१९ टि०-१८
यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्	३३७
यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्	७७
यजुषां वायुर्देवतं तदेव ०	२० टि०-१८
यज्ञं तन्वानाः=मानसयज्ञं	३२०
यज्ञं ब्रूमो यजमानम् ऋचः ०	७९
यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्	२२३
यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ	३४३
यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः	३३२,३३२
यज्ञो वा आयुः	५१
य्यज्ञेन य्यज्ञमयजन्तः०	२७१,२७९
यततेऽसौ यतिः, नियमधारी ०	११४ टि०-५
यतये=यतमानाय संन्यासिने	११४ टि०-५
यतिः पदच्छेदः	३४७
यतिः सर्वत्र पदान्ते श्लोकार्धे ०	३४८
यतिर्जिह्वेष्टविश्रामस्थानं ०	३४७
यतिर्विच्छेदः	३४७
यतिर्विच्छेदसंहिता	३४७
यतिवेषधरानसुराञ्शस्त्रेण ०	१०८
यतिश्छन्दोग्रन्थविख्याते ०	३४७
यतिश्छन्दोऽधिरूढानां ०	३४७
यतीन्=एतत्संज्ञकान् यज्ञ ०	१०७
यतो धर्मस्ततो जयः	३७७
यतोऽभ्युदय निःश्रेयस ०	१२६
यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया ०	५,४१,३९४
यत्तु कैयटेन प्रक्रमः स्थान ०	३००
यत् पशून् आलभते तेनैव ०	३२४ टि०-५
यत् प्राणा ऋतावागते ०	१२३ टि०-४
यत्र ऋषयः प्रथमजाः ऋचः ०	४ टि०-१
यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन ०	२९०
यत्र वर्णोच्चारणाय करणं ०	२०८,२९०
यत्रोष्माविकृतेः स्पर्शा ०	२७५
यत्रौषधीः समग्मत राजानः	८३
यत् समदधुस्तत् सन्धेः ०	२१६ टि०-५
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नाना	५८
यथा खरश्चन्दनभारवाही	१३४,२०२ टि०-९
यथा तत्र ह्रस्वाऽनुस्वारः ०	२१७
यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः	२११
यथा द्रव्यस्य विधेयं प्रति ०	४३ टि०-१
यथा धनुष्याऽऽवितते शरे ०	२९९
यथा पशुर्भारवाही न तस्य ०	२०२ टि०-९
यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे ०	७० टि०-३
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्या ०	५८
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं ०	XIII टि०-३, ३९५ टि०-१
यथार्थं यथाशयं यथाभिप्रायं०	१४१
यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ०	१४१
यथालोकं च शब्दार्थावधारणं ०	५० टि०-५
यथा वाणी तथा पाणी ०	२९९
यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् ०	२२७
यथाश्रुताष्टाध्यायीपाठेन ०	३५३
यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात् ०	२२७
यथा स्वरेण सर्वाणि ०	१९६, २०४
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च	१६३
यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः	३२, ३४७
यदग्ने स्यामहं त्वं – त्वं वा ०	३४, ३५
यदङ्ग त्वा	६० टि०-५
यदद्य कर्हि कर्हि	२७० टि०-१,२७७
यदपश्यत् तस्मात् पशुः	३२१ टि०-३
यदपि स्मृत्युपचारान्यार्थ ०	४४
यदयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टा ०	२१५
यदष्टाकपालो भवति ०	२९
यदष्टौ कृत्वा उपभृति ०	२१ टि०-१०
यदस्य पुत्रो वान्तेवासी ०	३३८
यदस्यै वाचो बृहत्यै पति ०	१८ टि०-७
यदा चर्मवदाकाशं ०	१२०
यदा दीर्घाः स्युः	२२०
यदा दूरेण स्पृशति	२२५
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण ०	१२३ टि०-४
यदाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिक ०	३८१
यदा मन्दः प्रयत्नो भवति ०	२९७
यदा सामीप्येन स्पृशति ०	२२४

यदि तूदात्तं स्वरितं वा परं ० २३१ टि०-४, ३१० टि०-२१
यदिमा वाजयन्नहमोषधी ० ८५
यदेवादस्सोममाहरत् तस्मात् ० १४ टि०-८
यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं ० १२८, १८९
यदैन्द्रं तत् त्रिष्टुभो रूपम् २० टि०-११
यद् अहरेव विरजेत्तदहरेव ० १०७
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव ० १९४
यद्देवताकः पशुः तद्देवताकः ० ३२४
यद्देवत्यः पशुर्भवति, तद्देवत्यं ० ३२४ टि०-६
यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः ३२४ टि०-६, ३२४ टि०-६
यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यश्चरुः ० ३२४ टि०-६
यद् देवा अकुर्वन् तत् १००
यद्धि फलं ददाति तत्प्रयोजकम् ४३ टि०-२
यद्धोतारं वृणीते जगतीं तद् ० २१ टि०-९
यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं ० ८२
यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये ० ५६ टि०-७, ६८ टि०-१
यद्यद् आचरति श्रेष्ठस्त ० १००
यद्यपि 'छ्वोः शूड् ० ३५३
यद्यपि पुत्र! बहु नाधीषे ० २०५, २३३, ३९५
यद् वाणी गच्छति स्थानं ० ३०३
यद् व्यञ्जनञ्च यस्याङ्गं ० २९२
यद्वेदेष्वभिहितं तत्सत्यम् ५६ टि०-२३
यद्वै तद् ब्रह्म ० २७
यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् ७२ टि०-१
यन्महानृषिर्देवजा देवजूतो ० ६२
यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य ० १९३
यमं दण्डहस्तमालिखन्ति ० ४२ टि०-४
यमः पूर्वगुणः २८८
यमः प्रकृत्यैव सदृक् २७०, २७१, २७६, २८०, २८० टि०-१, २८१, २९१, ३१६
यमश्च २८८
यमसंज्ञका वर्णा विंशति ० २८२
यमाः प्रकृत्यैव सदृक् २६९
यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः ० २८३
यमानुस्वारनासिक्यानां ० २१४ टि०-२, २७३ टि०-३
यमान्नासिक्या स्वरभक्ति ० २९२
यमाश्चत्वारः प्रथमयम ० २८३, २८३
यमाश्चत्वारो नासिकामूलेन ० २९० टि०-५
यमाश्च नासिक्यजिह्वा ० २१३, २१५, २९० टि०-१
यमाश्चानुस्वारश्च पञ्चमाश्च ० २९०
०यमास्तत्र जानीयाच्च ० २८३
यमे २८६, २९२, २८७ टि०-२
यमोच्चारण आस्यप्रयत्नः ० २९१ टि०-२
यमोच्चारणेन समानकाला ० २७० टि०-२, २९१ टि०-२
यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः २७६ टि०-४, २८० टि०-४
यमो नाम वर्गपञ्चमे परे ० २७६
यमो यमी वा यच्छतीति ० ५८
०यमौ च तृतीयचतुर्थौ ० २१५
०यमौ च प्रथमद्वितीयौ ० २१५, २८२
यम्यन्त आस्यध्वनिनिरोधेन ० २७५
ययौ वो दूरादनसा रथेन ६५
यश्चकार स निष्करत् ० ८३
यश्छन्दसां वेद विशेषमेतं ० ३२
यश्छिन्नगमनोऽश्वः स छागः ० १५८
यष्टिकां भोजय, यष्टीः ० ५१
यस्तन्न वेद किमृचा ० १९४
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्म ० ९९
यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्र ० ११५
यस्माद्दचो अपातक्षन् यजु ० ४ टि०-१
यस्माद् यमा नासिकास्थाना ० २६९, २८०, २९१ टि०-३
यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणा ० २९६
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः ५६ टि०-४

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं ० ३४०
यस्य नव ता बृहतीम् १८ टि०-६
यस्य यमापत्तिरुच्यते ० २७६ टि०-४
यस्य यां प्रति तादर्थ्यम् ० ४५
यस्य वाक्यं स ऋषिः, या ० ५९ टि०-६
यस्य सप्त ता उष्णिहम् ० १६ टि०-१
यस्याः कर्णावतं सोत्पल० ३४९
यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं ० ६ टि०-२
यस्येति च २६०
यस्यै देवतायै वषट् कुर्यात् ० ४५
यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा ० २९ टि०-२
यस्यै......ध्यायेदिति देवता ० ४५ टि०-४
यह्व्यः (=नद्यः) द्विधातुजं ० १५८
या आपो॑ दि॒व्या उ॒त ७१ टि०-१
या ओष॑धीः॒ पूर्वा॑ः जा॒ताः ० ५६ टि०-१,८४
या कुहूः सानुष्टुप् १७ टि०-७
यागो नाम देवपूजा ४१ टि०-४ ,४३
याज्ञिकाः पठन्ति–प्रयाजाः ० १४१ टि०-२
याज्यान्तः ३४५
या तेनोच्यते सा देवता ४१
यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि ० २९२ टि०-३
याभिर्ऋग्भिः समिधः ० ३४२
या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूर ० ७० टि०-१
या यस्य श्रूयते सा तस्य ० ४५ टि०-३
या राका सा त्रिष्टुप् २० टि०-२२
यावतामेव धातूनां लिङ्गं ० १५३
याव॑तीषु मनु॒ष्या भेष॒जं ० ८३
यावद्ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत्तत्रैव ० ३६० टि०
यावद्वै पुरुषः प्राणिति, न ० २३४ टि०-६
यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं ० ३९८
युद्धशस्त्रास्त्रव्यूहादिरचना ० ७७
यूयं तु यथा पूर्वमिषयन्तीः ० ६६
यू स्त्र्याख्यौ नदी २६३
ये चे॒ह पि॒त॒रो ये च॒ नेह ० १११
ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा ० ३७५
येऽथर्वाणस्तद् भेषजम् ७९
ये दे॒वा दि॑वि॒षदो॑ अन्तरिक्ष ० ३२९
येन क्रियन्ते निर्वृत्यन्ते वर्णाः ० २०९
येन स्पर्शयति तत् करणम् २०९,२९० टि०-४
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य ० २०६
ये३यजामहेऽग्निं भुवो ० ३४५
ये यज्ञकर्मणि ३४५
ये विद्वांसस्ते कवयः ९ टि०-३
येषु तु धातोरक्षरमात्र ० १६६
यो अ॒ग्निः क्र॑व्य॒वाह॑नः ० ७
योगवाहत्वं चेत्थम्–योगेन ० २७४
यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद् ० २ टि०-२
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च ० २ टि०-२
योऽधीते चतुरो वेदान् ३९५
योऽधीत्य विधिवद् विप्रो वेदार्थं ० २०२ टि०-९
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र ० ३९९
योनिः साम्नामाधारभूता ४० टि०-२
यो मन्यते स मनुः १७७ टि०-६
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते ० १५४
यो वा इमां पदशः स्वरशो ० २९४
यो वा॒चः विवा॑चो मृ॒ध्रवा॑चः ० १९४
यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ० ३ टि०-२
यो वै तां वाचं वेद यस्या ० २५५
ये वै ब्राह्मणा शुश्रूवाँस्ते ० १९०
यो वै स प्राणः, एषा सा ० १५ टि०-३
यो ह वाविदितार्षेयच्छन्दो ० १ टि०-५,११, ४१ टि०-१, ५७ टि०-५,३९५
यो हि यमनुगच्छति स तद्वत् ० २१० टि०-३

र

र एफेन च १ टि०-२,२०८, २१३ टि०-२
रक्षार्थं वेदानामध्येय ० १४२ टि०-१,३९५
रथः रमणीयः सुखकर आदित्यः ६५
रथो रंहतेर्गतिकर्मणः ६४
रमणीयं किरणम् ६५ टि०-३
रमणीयं सूर्यलोकम् ६५ टि०-४

रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः ० ९
रमं॑न्तां पुण्या॑ ल॒क्ष्मीर्याः ० ७० टि०-१
रयिरिति धननाम ६९ टि०-११
रसवद्वाचा वदति य एवं वेद ३१
रसो वै छन्दांसि ३४७ टि०-२
राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्य ० ३३९
राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ० १५२
रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः ३५४
रादिफः २१३
राध्नुवन्ति साधयन्ति एतेन ० ६९ टि०-५
रिच्यत अवतिष्ठते प्रयतः ० ६९ टि०-१८
रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादि ० २१३
रीतिरात्मा काव्यस्य ९ टि०-५
(रीयते) दीयतेऽर्थिभ्य इति ६९ टि०-११
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः ० ५०, १७९
रूपसामान्यादर्थसामान्य ० १३७ टि०-३, १४८ टि०-४, १७९,२०३ टि०-३
रूपसामान्याद्वा ० १६९,टि०-३, १७३,टि०-१
रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम् २६२,टि०-३
रेक्ण इति धननाम रिच्यते ० ६९ टि०-१८
रेफपरश्च हकारः २००
रेफाद् स्वरोपहिताद् व्यञ्जनो ० २७७ टि०-४
रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् २१३
रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति २१२,२१३

ल

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छा ० २५५
लिङ्गं धातुं विभक्तिञ्च सन्न ० १४१ टि०-२
लिट्यन्यतरस्याम् १८१ टि०-१
लेशो नाम लुप्तवदुच्चारणम् २१९
लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव ० २९५
लोकसर्वलोकाट् ठञ् ३४९ टि०-४
लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते २८६

व

वक्तुरिच्छा तात्पर्यम् ६
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि ० ५३
वक्षःसु रुक्मा रभसासो ० ७२ टि०-४
वक्षणा वक्षन्ति क्रुध्यन्तीव ० ६६
वज्र॑ एका॒द॒शिनी॒ २० टि०-६
वज्रस्त्रिष्टुप्। वज्रो यूपः ० २९ टि०-३
वज्रो वा असिः तथो ० ३२८ टि०-१
वणिक् पण्यं नेनेक्ति १६०
वनी॑वानो॒ मम॑ दू॒तास॒ इन्द्र॑ ० १९१
वने न वायो न्यधायि चाकन् १३६ टि०-२
वम्रो वैखानसः ११३ टि०-१
वयम् = द्वयोर्बहुवचनं ० ६१ टि०-१
वर्गाणां तृतीयचतुर्थाः..... २११,२८२,२८७
वर्गाणां... नादानुप्रदाना ० २२५
वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः ० २११, २८२,२८७
वर्गाणां..श्वासानुप्रदाना ० २२५
वर्गाणां ..हकारानुस्वारौ ० २१५
वर्गाणाम् ० २११
वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्था ० २८० टि०-२
वर्गान्ता यत्र दृश्यन्ते शषसैः ० २८० टि०-२
वर्गान्त्येऽनन्त्यात्परे तयो ० २७६
वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमे ० २६९,२७६
वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे ० २६९,२७६
वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः २११
वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या २०८
वर्णम्=वरणं प्रार्थनाम् ० १९५
वर्णशब्देन स्वर व्यञ्जनात्मको ० २०७
वर्णस्य वर्णयोर्लोपो बहूनां ० १५३
वर्णाः पदं प्रयोगार्हान ० १६९ टि०-४
वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ ० १३५, १४७
वर्णानामयमिदं भविष्यतीति ० ३९६
वर्णा यस्मिन् समाम्नाये ० २०८
वर्णास्त्रिषष्टिः २५९
०वर्णास्त्रिषष्टिः चतुष्षष्टि ० २७३ टि०-३
वर्णेषु ये वर्णैकदेशा वर्णा ० ३०९
वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न ० २७८
वर्णोच्चारणकालपरिमाप ० २१७

वर्णोपलब्धिकालभेदाद् ०	२१८ टि०-३
वर्ण्यन्ते वर्णनीयविषया ०	२०७
वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति ०	२०७
वर्धन्तेऽनेन धर्मादयः बृंहकं ०	६९ टि०-१०
वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे ०	१२७, १२९
वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघू ०	३३
वर्ष्म वै बृहत्	१९ टि०-३
वसन्तेनऽऋतुना देवा ०	१२७, १२९
वसन्ते वैश्वदेवेन यजते ०	३६२ टि०-१
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ०	१२६
वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदश ०	२२
वसानस्तार्प्यम्	७३
वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधा ०	११९
वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत	१९०
वसुधैव कुटुम्बकम्	३७७
वस्ते आच्छादयति तिरोभाव ०	६९ टि०-३
वहन्ति जलानि यास्ताः	६६
वहेर्धश्च	१४६ टि०-६
वाक्प्राणयोर्यश्च होमः	२३४
वाक्यं रसात्मकं काव्यम्	९
वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने ०	१८७ टि०-१
वाक् हृदये [प्रतिष्ठिता]	१९१ टि०-१
वागनुष्टुप्	१६ टि०-८
वागेवासौ प्रथमानुष्टुप्	१६ टि०-८
वाग्घि शस्त्रम्	१९० टि०-१
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य ०	५० टि०-१
	२०५ टि०-५
वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्	१८८
वाग् वै वसिष्ठा	१९०
वाग्वै समुद्रः, न वै वाक् ०	१०, १९१ टि०-३
वाङ्मयानीह शास्त्राणि ०	२०५ टि०-४
वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते ०	३२६, ३२९
वाचम् अनुष्टुभा	१७ टि०-२
वाचा विरूप नित्यया	५६ टि०-१०
वाचा हीदं सर्वं कृतम्	२०५ टि०-४
वाचा ह्यपूतममेध्यं वदन्ति ०	२२८ टि०-४
वाचि यमो व्रते	३३८
वाच्यवाचकसम्बन्धो नाचार्यै ०	५४ टि०-४
वाजपेयेन स्वाराज्यकामो ०	७७ टि०-२
वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गलवसिष्ठ ०	३४७ टि०-४
वाणीः सप्तद्वारावकीर्णा वाचः	१९२ टि०-३
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः	XIV
वानप्रस्थसंन्यासभेदः किमर्थ	१०७
वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां ०	११३
वानप्रस्थोऽपि चतुर्विधः	११३ टि०-२
वानप्रस्थो वैखानसशास्त्र ०	११३ टि०-३
वामजानुनि तद्धस्तभ्रमणं ०	२१८
वायव स्थः	२७९
वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वाद् ०	२१३
वाय्वादयो भगान्ताः स्यु ०	१८३
वावसाने	३५३ टि०-१
वा विकल्पोपमयोः	१६६
वाशब्दः समुच्चयार्थे	१६६
वाशब्दश्चार्थे	१६६
वासःशब्दात् प्रतीयमानो ०	२००
वासश्शब्दाद् अनुस्वारः ०	२००
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः ०	७३
वा स्याद् विकल्पोपमयो ०	१६६
वाह ऊट्	३५३
वाह ऊट्' इत्ययमपि ठिदेव ०	३५३
वाहिताग्न्यादिषु	३३८
विखननाद् वैखानसः	११३ टि०-५
विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासे ०	१५३
विच्छदो यम	२७५ टि०-३
विच्छिनत्ति आस्यध्वनिमिति ०	२७६
विच्छेदः पाठवेगस्य यतिः ०	३४७
विज्ञेया नित्यनासिक्या ०	२९०
वित्तमूलमर्थः	६९ टि०-१६
विद्ययाऽमृतमश्नुते	३९०
विद्यया विन्दतेऽमृतम्	३९०
विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं ०	३०५
विद्याधर्मसत्याऽन्वितां वाणीम्	१९३

विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं ० ७८
विधिः= विधानम्, तदङ्गानां ० ३०० टि०-४
विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः ० ४७ टि०-१
विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगा ० ८०
विन्दन्त्येतत् लभ्यते वानेन ० ६९ टि०-६
विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ ६० टि०-३
विपाट्छुतुद्र्यौ इतराभिः ० ६० टि०-३
विपाड् विपाटनाद्वा, विपाश ० ६६
विप्राः कवयो वचोभिरेकं ० १७१ टि०-३
विभक्तिं कुर्वन्ति। याज्ञिकाः ० ३४५
विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् ० २६३
विराण्मित्रावरुणयोरभि ० १२
विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् असति ० ५७ टि०-१
विवारभेदात् २२४
विवारयति विकासयति आस्य ० २२४ टि०-६
विवारयतीति, स चाभ्यन्तर ० २२४ टि०-६
विविधं खननाद् वेदार्थ ० ११३ टि०-५
विविधरूपेण सर्जनीय ० २१३
०विवृतकण्ठाः २२५
विवृतकरण इकारः ईषत्स्पृष्ट ० २५७
विवृतकरणाः स्वराः २१०,२२५, २३० टि०-२
विवृतकरणा वा २२५
विवृतत्वादीनां श्रोत्रेन्द्रिय ० २६१
०विवृतत्वाद् विवारः २२५
विवृते श्वासः २२५
विवृतोऽघोषः २२६
विव्यास वेदान् यस्मात् स ० ५८
विशेषवाचिनस्त्वन्ये सामान्ये ० १५३
विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं ० ३४
विश्वजिति सर्वस्वं ददाति १०४
विश्वस्य ह वै मित्रं ० ६२ टि०-१
विश्वामित्रः सर्वमित्रः ० ६२
विश्वामित्रः सर्वमित्रो ६२
विश्वामित्र ऋषिः सुदासः ० ६३
विश्वामित्राय=विश्वं सर्वं ६२ टि०-१
विश्वा सनानि जठरेषु ० ४१
विश्वेऽअमृतस्य पुत्राः ९८
विश्वेदेवा अनुष्टुभं समभरन् १७ टि०-५
विश्वे देवा देवतोष्णिहा ० १६
विश्वेषां देवानामनुष्टुप् १७ टि०-५
विषस्य विषयाणां हि दृश्यते ० ३८० टि०-२
विष्णुर्वै यज्ञः ५२ टि०-१
विसर्गश्चाग्नेरित्यादौ हेकार ० २७१
विसर्जनीयजिह्वामूलीय ० २७४
विसर्जनीयस्य सः २७३ टि०-२
विसर्जनीयादीनां वर्णत्वा ० २८६ टि०-३
विस्वरं विरसं चैव ० २३३
वुञ्छण् ३४९ टि०-३
वेदं च वेदाङ्गानि च २०४
वेदं षडङ्गं वेदाहं ० ३९५
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः XIII
वेदः प्रामाणिकोऽस्तीति ० ३८२
वेदः चक्षुः सनातनम् ५६ टि०-१५
वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्ति १३४ टि०-१,१९४ २०२ टि०-६
वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो ० ३९८
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकाल ० XIII,५६ टि०-२०, २०२ टि०-७,४००
वेदविरुद्धनियमोपेतान् यतीन् १०८
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् ० ३१९ टि०-५
वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र ० ५६ टि०-२१,३९९
वेदशास्त्राविरोधी च ० ३, ५५, १४८ टि०-४
वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य ० २०२ टि०-९
वेदाः प्रमाणं लोकानाम् ५६ टि०-१७
वेदाङ्गानि षट् २०४
वेदात् षडङ्गानुद्धृत्य ० XVI,१८७ टि०-२, २०४,
वेदादिशास्त्रसंस्कृतां वाणीम् १९३
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ० ११५,३५९ टि०-२
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ५६ टि०-१३

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो ० ७६
वेदो ब्रह्म १ टि०-२
वैखानसा वा ऋषय इन्द्रस्य ० ११३ टि०-४
वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं ० १२४
वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति ० ३३३, ३३३
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ३२७ टि०-४
वैद्यकशास्त्र-मूलार्थविधायका ० ८२
वैयाकरणानां चैके ५९ टि०-२
वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैका ० १६८
वैश्यं तु स्वरितं विद्याद् ० ३०५
वैश्यो जगतीछन्दः २१ टि०-१५
व्यज्यते स्वरसाहाय्यमादायो ० २१०,२८९
व्यञ्जनं कादि, अथ व्यञ्जनानि ० २८९
व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् २१० टि०-४,२९२
व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् ० २१०,२९२ टि०-३
व्यञ्जनान्तं पदं पूर्वं तद् वर्णं ० १९९ टि०-३
व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र ० २९२
व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्था ० १९५, २१०
व्यतिगमनं व्यत्ययो ० १६३
व्यत्ययो बहुलम् १४१ टि०-२
व्याख्यानतो विशेषप्रति ० २५२
व्यानो नाम वायुः सर्वशरीरगः ० २३५ टि०-१
व्यानो नाम विश्वग्गमन ० २३५ टि०-१
व्यामिश्रः स्वरितः २९५
व्याहृत्य वैष्णवं मन्त्रं जपेत् ० ३३८
व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु ० ३६
व्यूहैः सम्पत्समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णे ० ३६ टि०-२
व्रजयजोर्भावे क्यप् ३३८

श

शं नः खनित्रिमा आपः ० ७१ टि०-१
शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान ० ५०
शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तम ० २३३
शतं वैखानसाः ११३ टि०-१
शब्द एव हविषा सम्बध्यते ४७ टि०-१
शब्दः प्रकृतिः सर्ववर्णानाम् ० १७१ टि०-२,२५५
शब्दः प्रकृतिस्सर्ववर्णानाम् २०८
शब्दप्रमाणका वयम् ० ४८
शब्दप्रयोगेच्छोत्पन्नयत्ना ० २५३
शब्दब्रह्म ५२
शब्दब्रह्मणि निष्णातः ० २०५ टि०-१
शब्दमात्रं देवता ४५ टि०-६
शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः ० १५३
शब्दसाधुत्वे हि प्रयोग ० ५० टि०-५, १४८ टि०-४,१८०
शब्दस्य उच्चैःकराणि ० २२१ टि०-२
शब्दस्य नीचैःकराणि = शब्दं ० २२१ टि०-५
शब्दादिभिः सूक्ष्मैर्व्यवहारा ० ११६
शब्दार्थयोरेकात्मत्वेयर्थांशस्यै ० १३४, टि०-२, १७७ टि०-३
शब्दार्थस्य परिज्ञाने लोक ० ५०
शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य ० २२८ टि०-३
शब्देष्वेवाश्रिता शक्ति ० २०५ टि०-४
शमी कर्माणि १२८,१३०
शम्ब इति वज्रनाम १८३
शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शार्द्यान ० २९
शरीरमिति कस्मात्? अग्नयो ० ३२२ टि०-२
० शषसविसर्जनीय ० २१३,२१३,२१४
शादय ऊष्माणः २१२
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः ३९४ टि०-३
शारदेनं ऋतुनां देवाऽएंक ० १२७, १२९
शिक्षां व्याख्यास्यामः २०४
शिक्षा कल्पो व्याकरणं ० २०४
शिक्ष्यन्ते वर्णा यया शिक्ष्यते ० २०८
शुक्लगुणः शुक्लः,कृष्णगुणः ० २८५, टि०-१
शुक्लमुच्चं विजानीयात् ० ३०५
शुतुद्री शुद्राविणीं क्षिप्र ० ६६
शुद्धस्वरद्वयसन्धिजन्यं एक ० २१६
शुश्रुवांसो हि कवयः ९ टि०-३
शृस्वृस्निहित्रप्यसि० १४५ टि०-४
शेषः परार्थत्वात् ३२० टि०-२
शेषाः स्वस्थानकरणाः २०९,२०९ टि०-२, २९०

शेषो व्यञ्जनानि २८९
शैशिरेण॑ऽऋतुना॑ देवास्त्रय ० १२८, १३०
श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ० १८८
श्रीनिवासाध्वरीन्द्रेण चतुष्कुल ० २०१ टि-१
श्रीर्वै बृहज्ज्यैष्ठ्यम् १८ टि-१६
श्रीर्वै बृहती १८ टि-१६
श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेदः ० २६२
श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति ० २७०, २९१
श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान ० ५९, १०२
श्रुतिश्चापि न भिद्यते ० २६२
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तादि ० ७७
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् ० ५६ टि०-२१
श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेः ३३
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म ० ५६ टि-२१
श्रेष्ठा दासाः सेवका दानानि ० ६३ टि-२
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो ० ३८०
श्रोता हि वक्तृगतानाया ० २९८ टि-३
श्रोत्रं पंक्तिः १९ टि-१९
श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः २६२ टि-६
श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति ५२
श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः ० २६२
श्लोकेषु नियतस्थाने पदच्छेदं ० ३४७
श्वघ्नी कितवो भवति ० १३७ टि-४
श्वासानुप्रदाना अघोषाः २२५, २२६, २२६ टि०-३

ष

षट्त्रिंशदक्षराः १८ टि०-१
षड्गवं भवति द्वादशगवं ० ७० टि०-४
षड्गवेन॑ कृषति ७०
षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे २०४
षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवर ० ३९५
षडङ्गो वेदोऽध्येयः २०४
षडेव नवनामानि १८३
षड्योगं सीरमनु ० ७०
षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः। ते ० XVIII, ३५४, ३५७
षष्टिर्मास्यहोरात्राणि ३७५ टि०-३

स

सं ग॑च्छध्वं सं व॑दध्वं सं वो ० ९८ टि०-२, ९९, ३८५
संज्ञप॑नं वो मनसोऽथो॑ ० ३२६ टि०-१
संज्ञायां समजनिषदनिपत ० ३४०
संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ० १३८ टि०-१
संन्यासः षड्विधो भवति ० १०७ टि०-२
सं पूषन् विदुषा॑ नय यो ० १८७
संयोगवाहा एवैते निजस्वर ० २७४
संयोगविभागानां चाप्रत्यक्ष ० २६२ टि०-२, २९६ टि०-५
संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च ० २५४
संवत्सरं श॑शयाना ब्राह्मणा ० १८९
संवत्सरवेलायां प्रजा वाचं ० १८९ टि०-८
संवत्सरो अभवत् ,सर्वत्सरो ० १२६ टि०-१
संवत्सरो वै गा॑यत्री १४ टि०-४
संवर्जनात् संग्रहणात् ० २८ टि०-२
संवादेषु च सर्वेषु स ऋषि ० ५९ टि०-६
संवृतः कलो ध्मात एणीकृता ० २३०
संवृतकण्ठाः २२५
संवृतत्वात् संवारो नाम ० २२५
संवृतस्त्वकारः २२४, २३० टि०-३
संवृते कण्ठे नादः क्रियते १९६, २२६
संवृते गलबिलेऽव्यक्तः शब्दो ० २२६ टि०-१
संवृतो घोषवान् २२६
स इमां पृथिवीं प्रविवेश ० ३२२ टि०-४
स उ एव मखः,स विष्णुः ० १३८ टि०-२
स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते ० ३९५
स एवेदानीं प्राणो नाम वायुः ० XVII, २५०, २५२, २५२
सक्तु॑मिव तित॑उना पुनन्तो ० १९३
स खल्वेवं वर्तयन् यावदा ० ३६० टि०
स च ऋषिभिर्मन्त्रार्थ ० १८३
सचन्ति ये ते सचास्तान् ० १८४
सञ्चीयतेऽस्मिन् सोम ० ३४०

सतां मुदं सम्प्रति पारिशिक्षा ० २०१ टि०-६
स तें जानाति सुमतिं ० ११९
सतोऽप्यविवक्षा भवति ० ५२ टि०-८
सत्यं प्रसिद्धा एव ते कुत्र ० २९६ टि०-१
सत्यं वद, धर्मं चर स्वाध्याय ० ३८५
सत्यानृते वा अनुष्टुप् १७ टि०-६
सत्यापपाश० १५९
सत्वरजस्तमोगुणानां ० १६८
सं देवान् सृष्ट्वामनस्यतेव ० १७८ टि०-१
स धाता स विधर्ता ० ४९ टि०-१
स नः पितेव सूनवेऽग्ने ० ३७
सन्त्येके श्रुतिपाठमात्रजरठाः ० ३१
सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति २१७, २२०
सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार ० २१७
स पर्यगाच्छुक्र ० ४९
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो ० १२५
सप्त छन्दांसि चतुरुत्तरा ० १२
सप्तपुत्रम् = सप्तमपुत्रं १६ टि०-१
सप्त वाणीः १२ टि०-१
सप्त सिन्धवः काकुदम् ० १९२
सप्तस्वरप्रयोगो हि साम ० ७६
सप्त स्वरा भवन्ति – उदात्तः ० ३१४ टि०-३१
सप्त हस्तासः १२ टि०-१
स ब्रह्मा स शिवः स इन्द्रः ० १७१ टि०-३
समं स्वरं पठेन्नित्यं मार्गं ० १९९, २९९
समवृत्त्या स्वरितः २९५
समाख्या यौगिकः शब्दः ५९
समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे ० २७५
समानयमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम् ० २९४
समानस्थानकरणा नासिक्यौ ० २९०
समानस्थाने मूर्ध्नि आसन्ने ० २९६ टि०-२, २९७ टि०-१
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः ० ९९, ३८६
समानी व आकूतिः समाना ० १००
समानृधे पर्वभिर्वावृधानः १२५
समाने प्रक्रमे..उरः,कण्ठः,शिर ० २९८
समाने स्थाने हृदयासन्ने ० २२१ टि०-४
समानो मन्त्रः समितिः समानी ० ९९
समाम्नायः समाम्नातः स ० १८२ टि०-१,१८३
समाम्नायशब्देनात्र गवादि ० १८३ टि०-१
समाहारः स्वरितः २२१,२८५ टि०-१, २९५,३०९,३१२
समिध्यमानवतीं समिद्ध ० ३४२
समीपावस्थानमात्रे संवृतता २२४
समुच्चयार्थीयो वाशब्दः १६६
समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता ० ५२ टि०-४
समुद्रः कस्मात्? समुद्रवन्त्य ० ६५
समूह्यं चिन्वीत पशुकामः ३४१
सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ९९
सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे २
सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्म ० ३८१
सम्यक् स्रवन्ति सरितो ० १९०
सम्राड् वाजपेयेन ७७ टि०-२
सम्=सम्यक् कृतिः=करणं ० ९८
सम्=सहभावः,आम्नायः ० २०८
स यथा सर्वं भक्षयति ० ३२१ टि०-१
स यावद् वीर्यवद्ध वा ० ३२५
सरस्वत्या अग्रजिह्वम् १९५
सर्वं वै पूर्णं स्वाहा २१५, २६४
सर्वः ओदनो भुक्तः सर्वे ० १०४
सर्वः प्रवण इत्येके ३१२
सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव २८९
सर्वज्ञः (ईश्वरः) ५
सर्वज्ञानमयो हि सः ५६ टि०-३, ७५
सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः ० ३१२
सर्वत्वमाधिकारिकम् १०३
सर्वधातुभ्योऽसुन् १५० टि०-३
सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ १४३ टि०-४
सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके २०८
सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् ० ३९५
सर्ववेदपारिषदं हीद शास्त्रम् ३०४
सर्वशब्दो यमादीनां ० २८९ टि०-२

सर्वसाधनसुखसम्पादयिता ६३ टि०-५
सर्वसुखप्रापिकया क्रियया ० १८५
सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि १०५ टि०-१
सर्वस्यैव हि स मित्रं सर्वमेव ० ६२ टि०-१
सर्वाणि भूतानि मनो गतिश्च ० २१, ३२ टि०-१
सर्वाणीति गार्ग्यः ५९ टि०-१
सर्वा दाशतयीष्वेताः ७९
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्वि ० २१३, २१५
सर्वान् परित्यजेदर्थान् ० ३९८
सर्वामृद्धिमृध्नोति य एतदुपैति ३३९
सर्वार्थानां व्याकरणाद् ० २०४
सर्वेषां तु नामानि कर्माणि ५८
सर्वेषां वा एष पशूनां ० ३२५ टि०-२
सर्वेषामेव वेदानामुपवेदा ० ८०
सर्वेषामेव शौचानामर्थ ० ३८५
सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य ० १४८ टि०-१, २८८ टि०-७, ३०९ टि०-१५
सर्वे सुन्वन्तः, सर्वे यजमानाः ० ३४०
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ० ४६
सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा १०५ टि०-१
सवनः प्रक्रमः। मूलस्थानात् ० ३०१
सवनक्रमेणोरः कण्ठभ्रूमध्यानि ३०३
स वा एष आत्मा हृदि ० २०४
स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते ० ३२५ टि०-१
स वा एष ब्राह्मणस्य चैव ० ७७ टि०-२
स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति ० ७७ टि०-२
स॒वि॒ता पं॑क्त्याक्षरया॒क्ष॑रपं॑क्ति ० १९ टि०-१०
सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो ० २१५
ससजुषो रुः ३४९
सस्थानेन द्वितीयाः २११
सहचरण-स्थान-तादर्थ्य ० ५१, १६२
स॒हस्र॑धारः पवते समु॒द्रो ० १९०
स॒हस्र॑धारे॒ वित॑ते प॒वित्र आ ० १९३
सहाद्यैर्व्यञ्जनैः २१५
स हि साध्वेव क्रियतामिति ० ६४ टि०-२
स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति--अथ ० ३२५ टि०-३, ३२८
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं ० ९८ टि०-१
साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म २८
सादृश्याच्च परशब्दः परत्र ० १६२
साधकतमं करणं २०९ टि०-३
साधुविक्रोशयितार्थानाम् ६४
साधुषु ब्राह्मणेषु विक्रोशयिता ० ६४ टि०-३
सा नो॑ भू॒तस्य॑ भव्य॑स्य॒ पत्नी ७०
सा प्र॑थ॒मा संस्कृ॑तिर्वि॒श्ववा॑रा १२१, ९८
साम॑ गायत १९७
साम॑ गायसि १९७
साम॑भिः स्तु॒यमा॑नाः १९७
सामवेदादिदं गीतं सञ्जग्राह ० ७६ टि०-१
सामान्यवाचिनः शब्दाः ० १५३
सामान्येनोपदेशश्च शास्त्रे ० १४० टि०-३
सा मा॒ शान्ति॑रेधि ३१५
सामिधेनीरन्वाह ३४२
साम्प्रतिकजनान्दुरवबोध ० २०१ टि०-८
साम्राज्यं बृहत्यामेव १८ टि०-१२
सा वा एषा पशव एव ० १८ टि०-१४
सा विद्या या विमुक्तये ३८५, ३९०
सास्माके॑भि॒रेत॒री न शू॒षैः ३७
सास्मिन् पौर्णमासीति ३७४
सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृभिः ६९ टि०-१३
सिद्धमेतत्। कथम्? समाने २९८
सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ४५ टि०-७, १७७
सिध्यति, अपाणिनीयं तु ० २६२, २६५
सिध्यत्येवम्, अपाणिनीयं तु ० ३०४ टि०-४
सिन्धुः स्यन्दनात् ६५, १९२ टि०-४
सिन्धुः स्रवणाद् १९२ टि०-४
सु॒खं रथ॑म् ६५ टि०-२
सुखप्राप्तिः। सीमिति ० १८५
सुञो यज्ञसंयोगे ३४०
सुदाः कल्याणदानः ६३
सुदासम्=शोभना दासाः ० ६३ टि०-२
सुदासे=यः सुष्ठु ददाति ० ६३ टि०-१

सुदास्तराय	६३
सुदेवो असि वरुण यस्य ०	XVI, १९२
सुप आत्मनः क्यच्	१५९
सुपर्णं विप्राः कवयो वचो ०	९, ४९ टि०-१
सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा ०	१४१ टि०-२
सुपाराः रथादीनां तीरात्	६६
सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां ०	१४१ टि०-२
सुमतिं विश्वजन्याम् ०	५६ टि०-१४
सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः०	८०
सुयजोङ्वनिप्	३३७, ३४०
सुवर्णं गायत्रम्	१५ टि०-८
सुशिक्षितां वाणीम्	१९३
सुष्ठु दातारं सेवकं	६३ टि०-२
सुष्ठु पात्रेभ्यो ददाति	६३ टि०-१
सूक्ष्मबीजरूपा व्रीह्यः ०	७९ टि०-२
सूर्यदेव बुधेन्द्रस्य ०	२०० टि०-४
सूर्यरश्मिप्रतीकाशात् कणिका ०	२१७
सूर्यस्य दुहिता	६४ टि०-४
सूर्या सूर्यस्य पत्नी	६४ टि०-४
सूर्यो देवता बृहती छन्दः	१८ टि०-८
सृक्किणी स्थानमेकेषाम्	२०९
सृजेरसुञ्च	१४५ टि०-८
सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म ०	१७१ टि०-३
सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानु ०	१२०
सेनापत्यं च राज्यं च ०	३९६
सैषा चतुष्पदा षड्विधा ०	२७
सैषा छन्दोवयवभूता ०	१८२ टि०-२
सैषा त्रयी विद्या यज्ञः	१२
सैषा विराडन्नादी	२८
०सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना ०	१७१ टि०-१ २५७ टि०-३
सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति ०	१५ टि०-११
सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि	२८८
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो ०	२५२
सोममर्हति यः	३४०
सोम राजन् प्र ण आयूँषि ०	३५५
सोमे सुञः	३४०
सोमो मीढ्वान् पवते ०	२
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न ०	८३
सौ च	१४३ टि०-४
सौम्यो वै ब्राह्मणो देवतया ०	१५ टि०-१
स्थण्डिलाच्छयितरि व्रत	३३८
स्थपतिः प्रकृतिः प्रोक्तः ०	८१
स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षक ०	८१
स्थाणुम्=वृक्षम् ०	१३४ टि०-३
स्थाणुरयं भारहारः किलाभू ०	१३४, १९४, २०२ टि०-९
स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णा ०	१७१ टि०-१, १९२,२०९,२५५, २५६,२५९
०स्थानाभिघाताद् ध्वनि ०	२६३
स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र ०	१३५
स्थिरः सन् रथ इत्युक्तः ०	६५ टि०-१
स्नेहानुप्रदानसामान्याद् रात्रि ०	१६२
स्पर्शात् परे पञ्चमास्तु ०	२७५
स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरा ०	२७०, २७५
स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वार ०	२७५, २७६
स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च ०	२११
स्पर्शानामुत्तमैः स्पर्शैः	२७६
स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः ०	२१५,२७५,२८३
स्पर्शोष्मणोर्वा स्वरस्पर्शया ०	२१२
स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः	२०९,२११,२५७
स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात् स्पर्शाः	२११
स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ०	१५३
स्वधिते मैनं हिंसीः	३२७
०स्वपित्यधः प्राङ् दक्षिणतः	३३८
स्वयं च जीव शरदो ०	३७३
स्वयं राजन्त इति स्वराः	२०९
स्वर उच्चः स्वरो नीचः	२९२
स्वर एव स्वारः तं स्वारम् ०	२१४,२७४
स्वरणम्=यः स्वरति ०	१९४
स्वरन्ति घोषं विततमृतायवः	१९६

स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः २२३ टि०-१
स्वर=शब्दय १९५
स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वयं तु ३००
स्वर- स्वरेण= उदात्ता ० १९५
स्वराज्यं छन्दसां बृहती १८ टि०-१२
स्वराणामुदात्तादीनामविभागो ० ३१३ टि०-३०
स्वरात् परं विसर्ज्यः त्याज्यो ० २१३
स्वरात् संयोगपूर्वस्य ० २८५
स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते ० २८६,२९२
स्वराद् भ्रष्टो न वेदफल ० १ टि०-५
स्वरा द्वाविंशतिर्यमाः ० २८३
स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं ० २६६ टि०-१
स्वरान्तरं तु विवृत्तिः २२३ टि०-१
स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य ३५० टि०-१, ३५२,३५२ टि०-२
स्वरान् हस्तेन विन्यस्येद् ० २०० टि०-१
स्वरितं नातिनिर्हण्यात् २३२, ३१५
स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं ० ३०८ टि०-११
स्वरितात् परमनुदात्तमु ० ३०८ टि०-१०
स्वरितात् संहितायाम ० ३०८ टि०-६
स्वरितादनुदात्तस्य उदात्त ० ३०८ टि०-१०
स्वरितादनुदात्तानां परेषां ० ३०८ टि०-१०
स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन ० ३०९ टि०-१७
स्वरूपैश्चत्वार एव २८३
स्वरैरपि २०८
स्वरैरुदात्तादिधर्मैस्तन्त्री ० ७७ टि०-१
स्वरोऽक्षरम् २१६
स्वर्गकामो यजेत ३२०
स्वर्गकामो यजेतेति सततं ० ३२० टि०-१
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं ० ३२
स्वर्ग्यो धर्मो ह्येषां निरुच्यते १३५ टि०-३
स्वर्यते शब्यत उच्चार्यते ० २०९
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो ० २२७
स्व-स्व-स्थानस्य उत्=उच्चैः ० २९५
स्वाध्यायान्मा प्रमदः..सत्यान्न ० ३९८
स्वान् इति किमर्थमुच्यते? ० २८३
स्वान्तध्वान्तप्रसूतं दुरित ० ११५
स्वाराज्यं गच्छति य एतेन ० ७७ टि०-२
स्वाराज्यमेव बृहत्यभ्यसृज्यत ० १८ टि०-१२
स्वारोदात्तपरश्चेत् स्यात् तदा ० ३११ टि०-२४
स्वेषु=प्राणेषु इन्द्रियेषु धितिः ० ३२७

ह

हकारेण चतुर्थाः २११
हकारो नैव मन्तव्य इति ० २७१, २७८
हरो यत्र नियुज्येते हकारः ० २०० टि०-२
हर्षादुत्पन्नो महाध्वनिः १९६
हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् २१३
हव्येऽनन्तःपादम् ३४०
हसतीति हस्तः २०३
हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेद २९४ टि०-२
हस्ते ते ३०३
हस्तेन ते २९९
हस्ते वज्रं भरति ४२ टि०-४
हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने १७८ टि०-४,२०३
हार्दिकीं वाचं वदेमेत्यध्येयं ० १९१
हिमेन= उदकेन ग्रीष्मान्ते १५४
हिमेनाग्निम् १५४
हिर॑ण्यञ्च॒ मेऽय॑श्च मे ० ७२
हुँ इति नासिक्यः २७३ टि०-३
हु॒वे तु॒राणा॑म् ३५
हृदयसमीपे दक्षिणहस्तेना ० २९९
हृदयस्थमणु विद्यात् कण्ठे ० २१८ टि०-१
हृ॒दि॒स्पृशो॒ मन॑सा व॒च्यमा॑ना १९१
हृद्देशेनोच्चार्यमाणोऽजनुदात्तः० ३०५
हृद्यनुदात्तः, मूर्धन्युदात्तः ० २९९
हेतुर्लिङ्गौषधस्कन्धैरायु ० ७५
हे॒मन्ते॒न॑ऽऋ॒तुना॑ दे॒वास्त्रि॑णवे ० १२८, १३०
होतव्यमग्निहोत्रं न होतव्य ० ४६ टि०-१
होत्राभ्यश्छः ३४३ (५)
ह्रस्वत्रिगुणकालो वायसरुत ० २१९
ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च ० २२०
ह्रस्वद्विगुणकालो मयूररुत ० २१९
ह्रस्व-स्वरात् स्वराभिन्न ० २००
ह्रस्वात् परो नाद इह ० २०१
ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम् २८९
ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविष ३४३

लेखक का परिचय

आचार्य उदयन मीमांसक

(संस्थापक एवं अध्यक्ष : निगम-नीडम्)

जन्मस्थान : भार्गवपुरम् (हुस्नाबाद), करिनगर, तेलंगाणा
जन्म : १६-०७-१९७०
माता : श्रीमती स्वराज्यलक्ष्मी जी
पिता : श्री लक्ष्मीनारायण जी
आचार्य : आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी

शास्त्रीयाध्ययन : आचार्य स्वदेश जी (मथुरा) से व्याकरण का शुभारम्भ। आचार्य वेदपाल, सुनीथ जी (तिलोरा), अजमेर) से काशिका पर्यन्त अध्ययन। आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी (पाणिनि महाविद्यालय, रेवली, सोनीपत) से शिक्षा, व्याकरण आदि सभी वेदाङ्ग एवं वेदोपाङ्ग (दर्शन) के साथ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्ययन। आचार्य वासुदेव रामचन्द्र पराञ्जपे जी (मैसूर) से शाबर भाष्यसहित पूर्वमीमांसा दर्शन, पण्डितरत्न म. म. के. एस्, वरदाचार्य जी (मैसूर) से नव्यन्याय (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) का अध्ययन किया।

अध्यापन : तेलंगाणा में निगम-नीडम् (साङ्गोपाङ्गवेदमहाविद्यालय) की स्थापना कर सन् २००४ से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

लेखनकार्य : शिक्षा-शास्त्रम्, पाणिनीय शिक्षा, निरुक्तनिर्वचनानि, यास्कीय निर्वचनानि (मूल), नैरुक्त मन्त्रसंहिता (मूल), शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा (प्रथमभाग), हितोपदेशः, गोदानविधिः, वैदिक पर्वपद्धति-नववर्षेष्टि, नया वर्ष कब? एवं अनेकों शोधलेख। इसी प्रकार तेलुगुभाषा में भी अभी तक सात पुस्तकें प्रकाशित हैं और अन्य प्रकाशनाधीन हैं।

दूरभाष : ६२८१२५०३७९

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्ति नगर, दिल्ली - ११०००७ (भारत)
दूरभाष : ४७०१५१६८